सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान

HINDI VERSION OF
INTRODUCTION TO THEORETICAL LINGUISTICS

लेखक
जोन लियोन्स
प्राचार्य, सामान्य भाषाविज्ञान,
एडिनबरा विश्वविद्यालय

अनुवादक
सत्यकाम वर्मा
रीडर, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

मुंशीराम मनोहरलाल • नई दिल्ली

सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान

सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान

HINDI VERSION OF

INTRODUCTION TO THEORETICAL LINGUISTICS

लेखक

जोन लियोन्स

आचार्य, सामान्य भाषाविज्ञान,

एडिनबरा विश्वविद्यालय

अनुवादक

सत्यकाम वर्मा

रीडर, संस्कृत-विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय

मुंशीराम मनोहरलाल • नई दिल्ली

मुंशीराम मनोहरलाल
पोस्ट बॉक्स ५७१५
५४ रानी झांसी रोड, नई दिल्ली ११००५५
दुकान : नई सड़क, दिल्ली ११०००६

प्रथम संस्करण, नवम्बर १९७२

श्री देवेन्द्र जैन द्वारा अमर प्रिंटिंग प्रेस, विजयनगर, दिल्ली-११०००९
से मुद्रित एवं मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली के हितार्थ प्रकाशित।

विषय-सूची

पूर्वभूमिका

इस पुस्तक को लिखने में मेरा प्रयोजन यह रहा है कि आधुनिक भाषाविज्ञान की प्रमुखतम प्रवृत्तियों की सापेक्षत: एक स्वत:पूर्ण परिचायिका प्रस्तुत की जासके। यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक प्रमुखत: भाषाविज्ञान के छात्रों केलिए लिखीगई है, फिर भी मुझे आशा है कि यह मनोविज्ञान, नृवंशविज्ञान, समाजविज्ञान, जीवविज्ञान, कम्प्यूटर-विज्ञान, तथा उन अनेक विषयों के छात्रों केलिए भी उपयोगी सिद्ध होगी, जिनका सम्बन्ध विविध रूप में मानवी भाषा के विश्लेषण के साथ है। साथ ही यह साहित्य और मानविकी के विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी, जिनके साथ भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध बहुत पुराना है। मैं यह भी चाहूँगा कि यह पुस्तक उस सामान्य पाठक की रुचि का विषय भी बने, जो आधुनिक भाषाविज्ञान के विषय में यत्किंचित सीखना चाहता है।

यह पुस्तिका इस दृष्टि से 'परिचायिका' कही जासकती है कि यह प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में किसी पूर्वतर प्रशिक्षण की पूर्वकल्पना लेकर नहीं चली। परन्तु इसमें यह अवश्य मानकर बढ़ागया है कि वे पाठक प्रतीकों और सूत्रों (नियमों) को समझने केलिए कुछ प्रातिभ प्रयत्न करने को अवश्य उद्यत रहेंगे, विशेषकर जिनकी शैक्षणिक पृष्ठभूमि मेरे ही समान गणित और विज्ञान की अपेक्षा 'मानविकी' में अधिक है। विज्ञानों और 'मानविकी' के पृथक्करण के कारण भाषाविज्ञान के समान हानि अन्य कम ही विषयों को उठानीपड़ी है। और यह अलगाव अबतक भी हमारे अधिकांश विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में यथावत् रखा जारहा है। 'हानि' इसलिए कि समकालीन भाषाविज्ञान लगभग एकसाथ और एकसमान रूप में ही भाषा के प्रति 'मानविकी' की विशिष्टतर परम्परागत पहुँच, तथा औपचारिक तर्कशास्त्र, कम्प्यूटर-विज्ञान और स्वचालन-सिद्धान्त के क्षेत्र में हुई प्रगति से सम्बद्ध नव-विकसित 'वैज्ञानिक पहुँच', पर आधारित है। 'सांख्यिक' की अपेक्षा 'साहित्यिक' बुद्धि के पाठक सम्भवत: इस पुस्तक के कुछ खण्डों में आए रहस्य-मय प्रतीकों और सूत्रों के विस्तार से निरुत्साहित होंगे। परन्तु वे इस तथ्य से स्वयं को उत्साहित भी अनुभव करसकते हैं कि भाषा के सूक्ष्म अर्थभेदों के प्रातिभ समी-क्षण एवं कदाचित् ऐतिहासिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि सम्बन्धी अपने ज्ञान के कारण सम्भवत: वे अपने 'सांख्यिक' बन्धुओं की अपेक्षा अधिक लाभपूर्ण स्थिति में हैं। मुझे विश्वास है कि एक-दूसरे के क्षेत्र में इस तरह के यदा-कदा प्रवेश से दोनों ही प्रकार के पाठक लाभ उठाएंगे।

प्रत्येक पाठ्यपुस्तक को वरणात्मक होना पड़ता है। अत: प्रस्तुत पुस्तक के परिक्षेत्र और मुख्य बल के विषय में भी मुझे कुछ कहना है। मैंने इसकी व्यापकता को भाषाविज्ञान के इन सर्वस्वीकृत सर्वाधिक केन्द्रीय विषयों तक ही सीमित रखा

है : ध्वनिविज्ञान और ध्वनिप्रक्रिया, व्याकरण और अर्थविज्ञान। शैलीविज्ञान के विषय में मैंने कुछ भी नहीं कहा; जबकि बालकों द्वारा भाषा के अधिगमन, समाज में भाषा के आचरण, या भाषाओं के ऐतिहासिक विकास के विषय में मैंने बहुत कम ही कहा है। भाषाओं के अध्यापन, वाक्-चिकित्सा, भाषा-प्रायोजन, यान्त्रिक अनुवाद और सूचनोपलब्धि आदि में भाषाविज्ञान के वास्तविक या शक्य विनियोग के विषय में भी मैंने कुछ नहीं कहा है। जानबूझकर मैंने ध्वनिविज्ञान और ध्वनिप्रक्रिया को कम ही स्थान दिया है, जबकि उनकी तुलना में भाषाविज्ञान की अधिकांश पुस्तकों की अपेक्षा अर्थविज्ञान को मैंने अधिक स्थान दिया है। साथ ही, मैं अधिकांश भाषाविदों की अपेक्षा परम्परागत व्याकरण के प्रति अधिक सहानुभूतिमय रहा हूं।

जहांतक वाक्यविज्ञान का सम्बन्ध है, मैंने प्रजनक, विशेषकर रचनान्तरक, दृष्टिकोण को अपनाया है। शोम्स्की के रचनान्तरक व्याकरण की प्रणाली का मैंने पर्याप्त पूर्ण विवरण दिया है, क्योंकि वर्त्तमान में यह सर्वाधिक परिचित और सर्वाधिक समृद्धतम प्रणाली है। साथ ही, मैंने इस पुस्तक के अन्तिम अध्यायों में, पाठक को सतर्क करतेहुए, अपने कुछ प्रयोगात्मक सुझाव भी दिए हैं। हो सकता है इस पुस्तक में इधर-उधर मैंने कुछ ज्यादती भी की हो; पर ऐसा जानबूझकर नहीं किया है।

मेरा यह दायित्व रहजाता है कि इस पुस्तक के लिखने में जिन भी लोगों ने मुझे सर्वाधिक प्रत्यक्ष रूप में सहायता दी है, उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन करूँ। जब प्रथमतः मैं भाषाविज्ञान की ओर रुचिवान् हुआ, तब मेरा यह अननुमेय सौभाग्य था कि मैं इन चार उत्साहप्रद शिक्षकों के व्यक्तिगत निरीक्षण के अधीन रहा : डब्ल्यू.सिडने ऐँलेन, सी. ई. बैज़ेल, एफ़. डब्ल्यू. हाउसहोल्डर और आर. एच्. रौबिन्स। इस पुस्तक में ऐसा बहुत कुछ है, जिसे मैंने सर्वप्रथम उनसे ही अधिगत किया; यद्यपि असन्दिग्ध रूप में वे मेरे अब के अनेक दृष्टिकोणों से असहमत भी होंगे ही। मेरी कामना है कि वे इसे अपने शिष्य की श्रद्धांजलि के रूप में ग्रहण करें। भाषाविज्ञान के मेरे दृष्टिकोणों को प्रभावित करनेवाले मेरे अन्य मित्रों और सहयोगियों की संख्या अत्यधिक होने के कारण उन सबका यहाँ उल्लेख करना असम्भव ही है। मुझे आशा है कि वे भी इस पुस्तक से कुछ मात्रा तक सन्तुष्ट होंगे और इसकी कमियों के प्रति वे सहिष्णु भी होंगे। इस पुस्तक का अधिकांश भाग सैण्ड्रा मौर्टन और मार्गरेट रैम्ज़े ने टाइप किया है। मेरे सहयोगी ई. के. ब्राउन और ई. सी. फुज ने तथा मेरी सहधर्मिणी ने इसके प्रूफ़ पढ़ने में सहायता की है। उन सब की इस अमूल्य सहायता के प्रति भी मैं अपना आभार प्रदर्शितकरता हूं। अन्त में, अपनी पत्नी और पुत्रियों द्वारा इस पुस्तक के लेखन के दौरान प्रदर्शित धैर्य और समझ के प्रति भी मुझे आभार प्रगट करना ही चाहिए।

प्रथम जनवरी, १९६८; एडिनबरा —जोन लियोन्स

अनुवादक का वक्तव्य

सन् १९६४ में दिल्ली में हुई 'अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद् महासभा' के विविध अधिवेशनों में पढ़ेगए मेरे कुछ शोधपत्रों को सुनने के बाद एक प्रसिद्ध प्रकाशक ने मुझसे जब भाषाविज्ञान की एक 'अनोखी' पुस्तक लिखने को कहा, तब मेरे सामने भाषाविज्ञान की परम्परागत रूपरेखा ही स्थूल रूप में विद्यमान थी। मैं समझता था कि उन्हीं विषयों पर प्राचीन भारतीय चिन्तन को भी समवेत करलेने पर एक नई सरणि सामने आसकेगी। पुस्तक का कार्य एक वर्ष के ही भीतर आधे से अधिक पूरा भी होगया। उस समय तक मेरा शोध-प्रबन्ध 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' के रूप में भाषाविदों का ध्यान भी आकृष्ट करचुका था। पर, अर्थविज्ञान का अध्याय आरम्भ करते ही मुझे रुकजाना पड़ा। लगा कि इस क्षेत्र में बहुत कुछ नए सिरे से कहने की आवश्यकता है।

उन्हीं दिनों हॉकेट और ग्लीसन की पुस्तकों का पुनरवलोकन भी किया। उधर कुछ गणितज्ञ और वैज्ञानिक अमरीकी भाषाविदों के कार्य भी देखने को मिले। तब लगा कि कुछ भी लिखने से पहले और अधिक अध्ययन करना चाहिए। इसी बीच अन्य प्रबन्धों और ग्रन्थों के लेखन और प्रकाशन में व्यस्तता के कारण कार्य कुछ धीमी गति अपनाता गया। तब अचानक एक दिन गतवर्ष प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशक सुर्वश्री मुंशीराम मनोहरलाल के प्रकाशनाधिकारी श्री देवेन्द्र जैन ने प्रो० जोन लियोन्स की प्रस्तुत पुस्तक को दिखाकर इसके अनुवाद का भार मुझे सौंपने की उत्सुकता दिखाई। पुस्तक के सिंहावलोकनमात्र से ही मुझे लगा कि जिस रूपरेखा की खोज में मैं था, मानो वह अचानक ही एकत्र मिलगई है। अतः अपनी पुस्तक-रचना की इच्छा को कुछ और समय केलिए दबाकर मैं इस कार्य में जुटगया। मुझे लगा कि अंग्रेजी का पाठक यदि इससे लाभान्वित होकर नई दिशा को पासकता है, तब हिन्दी-भाषी अधिकांश विद्यार्थियों को भी अपनी ही शब्दावली और अपनी ही भाषा में ऐसे ग्रन्थ को समझने और अधिगत करने से वंचित नहीं रखना चाहिए। अन्तर यही है कि अंग्रेजी में लिखा पाकर यह विज्ञान जितना ही पराया सा अनुभव होता है, प्रस्तुत हिन्दी-अनुवाद को पढ़कर वह उतना ही भारतीय-सा प्रतीत होगा। यही मेरी इच्छा भी थी।

कारण यह कि इस पुस्तक में प्रायः वे सभी विषय अन्तर्गृहीत होगए हैं, जिनकी चर्चा स्थूलतः या सूक्ष्मतः आज के भाषाविद् करते हैं। यथासम्भव रूप में इस में तत्तद्विषयक सभी पक्षों का उल्लेख, संक्षेप में ही सही, हो अवश्य गया है। और, प्रायः ही इनमें से अधिकांश विषयों पर प्राचीन भारतीय भाषाविदों ने खूब खुल कर लिखा है। परिणामतः इस विषय की एक सुसम्बद्ध शब्दावली हमारे कोष में सुरक्षित है। आवश्यकता है कि हम उसे वर्त्तमान विवरण में भी अपनालें। प्रायः

ही भारतीय विद्यार्थी उसमें से अधिकांश शब्दावली से परिचित भी हैं। उस शब्दावली में विषय को प्रस्तुत करते ही यह विषय पराया या बाह्य प्रतीत न होकर अपना ही प्रतीत होने लगता है। प्रस्तुत अनुवाद स्वयं इस बात का प्रमाण है।

इस अनुवाद की रचना में 'राष्ट्रीय शब्दावली आयोग' की रचित शब्दावली से सहायता लेनी अनिवार्य ही थी। किन्तु उसमें अनेक स्थान पर हेर-फेर भी करना पड़ा है। ऐसा लगता है कि 'भाषाविज्ञान-शब्दावली' के अधिकांश निर्माताओं ने संस्कृत की एतद्विषयक शब्दावली को आधुनिकता की दृष्टि से अपूर्ण और असमर्थ पाया। यही कारण है कि संस्कृत के सुव्यवस्थित और सुप्रतिष्ठित अनेक संज्ञाशब्दों को भी उन्होंने निराकृत करना उचित समझा। कुछ प्रमुखतम उदाहरणों के रूप में **आख्यात, ईप्सित-अनीप्सित** एवं **प्राप्य-विकार्य-आदि कर्म, स्फोट**, आदि को लिया जा सकता है। **वर्ण-स्वनिम, कारक-विभक्ति, प्रातिपदिक-अंग, क्रिया-आख्यात**, आदि के विषय में प्रदर्शित विभ्रम को भी निदर्शनार्थ लिया जासकता है। अंग्रेज़ी के '**केस**' का 'कारक और विभक्ति' में, और '**स्टेम**' और '**बेस**' का 'प्रातिपदिक और अंग' के समानार्थक रूप में, एवं 'वर्ण' का लिपि-चिन्ह के लिए प्रयोग भारतीय परम्परा के प्रति अस्पष्टता को ही निर्देशित करते हैं। कहीं अधिक अच्छा होता कि इसप्रकार की शब्दावली के अनुवाद से पहले भारतीय वैयाकरणिक और भाषाविज्ञानात्मक शब्दावली का कोष तैयार करलिया जाता। तब कदाचित् बहुत से विभ्रम अनर्थकारी सिद्ध न होते। यही कारण है कि 'आख्यात-क्रिया', 'प्रातिपदिक-अंग' और 'कारक-विभक्ति' जैसे विभिन्न सम्प्रत्ययों को भी एक मानकर शब्दावली का निर्माण कियागया है। आशा है कालान्तर में इस ओर अधिक ध्यानदिया जाएगा।

कहा जासकता है कि कुछ जगह मैंने भी लेट्, लङ्, लुङ्, आदि संज्ञाओं का प्रयोग करके स्वच्छन्दता का परिचय दिया है। पर ऐसा मैंने भारतीय छात्रों को ध्यान में रखकर ही किया है। '**टेन्स**' को 'काल' और 'लकार', एवं '**मूड**' को 'भाव', कहतेहुए मेरा अभीप्सित यही रहा है कि हमारे छात्र अपनी धरोहर से भी परिचित होसकें। '**कर्म**' की चर्चा में 'निर्वर्त्य' जैसे प्रचलित शब्द का उपयोग न करके 'परिणामजन्य' जैसे शब्द का प्रयोग, किसी विभ्रम के कारण नहीं, सुविधाजनकता के कारण कियागया है। आशा है कि पाठक और छात्र इस अनुवाद को पढ़तेहुए इस निवेदन को ध्यान में रखेंगे। इस अनुवाद के प्रकाशन की पूर्णता होने तक कई अन्य भी भारतीय दार्शनिक-वैज्ञानिक शब्द सामने आए हैं, जिन्हें समुचित रूप में यहाँ स्थान दिया जासकता था। नैयायिकों का 'कृति' शब्द ऐसा ही है, जिसे 'साधकता' के स्थान पर सरलता से प्रयोग किया जासकता था। पर इस प्रकार के सुधार भविष्य केलिए छोड़देने में ही श्रेय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की उपयोगिता के विषय में अधिक न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त है कि अगर हम भी भाषाविज्ञान के अध्यापन की रटी-पिटी पद्धति को त्यागकर इस प्रकार के नए ग्रन्थों को अध्यापन में स्थान देसकें, तब विद्यार्थियों को

भाषाविज्ञान एक 'बाह्य' विषय प्रतीत न होगा। प्रत्युत वे इसे अत्यधिक रुचिकर पाएंगे। प्रस्तुत पुस्तक को मैं 'आदर्श' इस दृष्टि से कहसकता हूं कि इसमें 'गागर में सागर' भरने का प्रयास कियागया है।

अनुवाद-पद्धति के विषय में एक बात का स्पष्टीकरण और आवश्यक है। प्रथम तो यह कि जहाँ भी इससे मूल विषय को समझने में सरलता हुई है, मैंने अंग्रेज़ी उदाहरणों का भी हिन्दी-अनुवाद करदिया है। किन्तु जहां अनुवाद करने से मूल विषय में अन्तर आने की आशंका थी, वहां विदेशी प्रयोगों को यथावत् छोड़दिया है। यथावत् विदेशी प्रयोगों में भी जहाँ लिपि को मूल रूप में रखने से ही प्रयोजन सिद्ध होता था, केवल वहीं पर लिपि को यथावत् प्रयोग कियागया है; अन्यथा जहां भी सम्भव और उचित था, रोमन की अपेक्षा देवनागरी लिपि में ही विदेशी उदाहरणों का रूपान्तरण करदिया गया है। बहुत से आलोचकों को यह बात अच्छी प्रतीत नहीं होगी। परन्तु सबको कोई भी सन्तुष्ट नहीं करसकता।

अतः अपनी ज्ञान-सीमा और त्रुटियों को, एवं प्रस्तुत ग्रन्थ की गरिमा को, ध्यान में रखते हुए मुझे विज्ञ पाठकों से यही निवेदन करना है हंस की भांति वे भी अपने नीर-क्षीर-विवेक का परिचय दें, और यदि सम्भव हो तो मुझे मेरी कमियों से परिचित कराएं। अगले संस्करणों में मैं ऐसी समस्त कमियों को निराकृत करने का यत्न करूँगा। आशा है पाठकों का सहयोग मुझे इस दिशा में उत्साहित करता रहेगा।

अन्त में प्रकाशकों को धन्यवाद देना है। उन्होंने अपनी ओर से यथाशीघ्र ही पुस्तक को प्रस्तुत करने का यत्न किया है। प्रेस की कठिनाइयों पर प्रकाशक विजय पा भी नहीं सकता। मुद्रण में भी अनेक त्रुटियां रहगई हैं। उन सब का दोष-विवेचन करने से कुछ लाभ न होगा। प्रूफ़-रीडिङ् ध्यान से करने पर भी अनेक भूलें पाई जाएंगी। इन सबके लिए मुझे ही नतमस्तक होकर दोष स्वीकारकरना चाहिए। आशा है पाठक इस विषय में भी अपनी उदार-हृदयता का परिचय देंगे। क्योंकि अनेकविध बाधाओं और कठिनाइयों के रहते भी यह कार्य सम्पन्न होसका, यही एक बड़ी उपलब्धि मानी जासकती है।

—सत्यकामवर्मा

९ए/६३, पश्चिमी विस्तार क्षेत्र,
करौलबाग, नई दिल्ली-५
गांधी जयन्ती-दिवस, १९७२

प्रतीक और संकेत

* तारक चिन्ह : (१) 'पुनर्निर्मित शब्द', पृ० ३३
(२) अव्याकरणात्मक या अस्वीकार्य अभिव्यक्तियां, १४८

( ) कोष्ठक : अर्थात्मक योजक ('चिह्नक'), ४७३

{ } लता कोष्ठक : (१) रूपांश, १६०
(२) श्रेणी-सम्बन्ध दिखाने के लिए, ८१

[ ] वर्ग-कोष्ठक : (१) ध्वनिवैज्ञानिक लिप्यन्तरण, ६४
(२) व्याकरणात्मक अभिलक्षण, १७२

/ / तिर्यक्-समान्तर : (१) अभिव्यक्ति-अवयव, ६४
(२) वर्णात्मक लिप्यन्तरण, १०६

\+ योग चिन्ह : (१) शृंखलन,—६६, २१५
(२) द्विचर परिवर्त्ती का भावात्मक मूल्य, १२८

— ऋण चिन्ह : द्विचर परिवर्त्ती का अभावात्मक मूल्य, १२८

< '-से कम', ६७,

> '-से अधिक', ६७,

= तुल्यता-चिन्ह : (१) 'तुल्य है', ८१
(२) निर्देश की एकरूपता, ३६१

≠ 'तुल्य नहीं है,' ८१

∈ ई-चिन्ह : श्रेणीसदस्यता, १६७, ३६१

→ वाण-चिन्ह : 'कालक्रमिक रूप में इसमें विकसित होता है,' ३३

⊂ समावेश चिन्ह : '—में समाविष्ट है', ३६१

⊃ समावेश चिन्ह : 'स्वयं में समाविष्ट करता है', ४४६

≡ समतुल्यता-चिन्ह : उभयमुखी समतुल्यता, ४५१

१

भाषा-विज्ञान : भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन

१. १ विषय-प्रवेश

१. १. १ भाषाविज्ञान की परिभाषा

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को 'भाषाविज्ञान' कहा जा सकता है। इस परिभाषा से निश्चय ही पाठक को इस विषय के आधारभूत सिद्धान्तों का विनिश्चयात्मक परिचय ठीक से नहीं मिल पाता। इसे अधिक पूर्णता से समझाने के लिए हमें 'वैज्ञानिक' शब्द से अभिप्रेत सभी बातों को पूरी तरह स्पष्ट करना होगा। इस स्थल पर इतना कहना ही पर्याप्त रहेगा कि 'भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन' का अभिप्राय है : नियन्त्रित और तत्त्वतः परीक्ष्य निष्कर्षों के माध्यम से भाषा का अन्वेषण-परीक्षण। इस कार्य में भाषा-संरचना से सम्बद्ध किसी सामान्य सिद्धान्त की संगति रहना अनिवार्य है।

१. १. २ भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली

कभी-कभी यह कहा जाता है कि आधुनिक भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली अनावश्यक रूप से जटिल है। पर इस आलोचना से हमें अटक कर नहीं रह जाना चाहिए। हर विज्ञान की अपनी तकनीकी शब्दावली होती है। यह इसलिए कि सामान्य जन बद्धमूल विज्ञानों को पूर्ण आस्था के साथ ग्रहण करता है, और वह उनके द्वारा अपनी शब्दावली घड़ पाने के अधिकार पर आपत्ति नहीं करता। ये पारिभाषिक शब्द भाषाविदों के अपने अध्ययनकार्य के बीच जन्म लेते हैं, और उन लोगों के लिए सहज बोधगम्य होते हैं, जो पूर्वाग्रह से मुक्त होकर सहानुभूति के साथ इन विषयों को समझना चाहते हैं। यह तथ्य स्मर्त्तव्य है कि **शब्द, वर्ण, अक्षर, वाक्य, संज्ञा, क्रिया** आदि ऐसे अधिकांश शब्द, जिन्हें अभाषाविद् सामान्य जन भाषा-सम्बन्धी वार्तालाप के प्रसंग में प्रयुक्त करते हैं, कभी परम्परागत व्याकरण की पारिभाषिक संज्ञाओं के रूप में ही आरम्भ हुए थे, और वे भाषाविज्ञान की आधुनिकतर संज्ञाओं की अपेक्षा अपने प्रसंग में किसी तरह कम 'तात्त्विक' नहीं हैं। यदि आज का भाषाविद् सामान्य जनों की परिचित शब्दावली से भिन्न या उनसे व्यतिरिक्त शब्दावली का प्रयोग करना चाहता है, तो इसके दो

कारण हैं। **प्रथम** यह कि परम्परागत व्याकरण को इस शब्दावली के सामान्य या अतकनीकी प्रयोग ने उसे वैज्ञानिक उद्देश्यों के लिए पर्याप्त समर्थ नहीं रहने दिया है। **द्वितीय** यह कि वर्त्तमान भाषा-सम्बन्धी अध्ययन कुछ क्षेत्रों में, भाषा-संरचना-विषयक किसी सामान्य सिद्धान्त से सम्बद्ध अपनी खोज में, परम्परागत व्याकरण की अपेक्षा आगे निकल गया है। इस ग्रन्थ में प्रयुक्त पारिभाषिक संज्ञाओं को यथा-स्थल ही समाविष्ट किया जाएगा, और सामान्य प्रचलन वाली परम्परागत संज्ञाओं के सन्दर्भ में उन्हें यथासम्भव पूरी तरह समझाया जाएगा। हम देखेंगे कि विशिष्ट शब्दावली के प्रयोग से भाषा-विचार के प्रसंग में बहुत-सी अस्पष्टता और सम्भावित भ्रमों को बचाया जा सकता है।

१. १. ३ भाषा के प्रति वस्तुगत दृष्टिकोण

भाषाशास्त्रीय अध्ययन में नवप्रवृत्त व्यक्ति भाषा के वस्तुगत विचार के लिए सहज ही उद्यत नहीं होता। कारण यह कि भाषा को प्रायः हम एक सहज उपलब्धि के रूप में स्वीकार करते हैं, जिससे कि हम बचपन से ही व्यावहारिक और अविचारित रूप में परिचित रहे हैं। और प्रायः यह देखा जाता है कि बहुपरिचित वस्तुओं पर नए सिरे से विचार करने के लिए विशिष्ट यत्न अपेक्षित होता है। भाषा के वस्तुगत परीक्षण में बाधा केवल उससे हमारे प्रतिभागत अथवा व्यावहारिक परिचय के ही कारण उपस्थित नहीं होती। बल्कि भाषा के साथ बहुत से सामाजिक एवं राष्ट्रीय पूर्वाग्रह भी आबद्ध हो जाते हैं, तथा सामान्यतः विद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले परम्परागत व्याकरण के विकृत उपस्थापन (अध्यापन) से अनेक लोकप्रिय भ्रम भी उत्पन्न हो जाते हैं। यद्यपि किसी के मन को इन पूर्वाग्रहों और भ्रमों से मुक्त करना वास्तव में एक कठिन कार्य है, फिर भी यह एक आवश्यक एवं सुफलदायक प्रमुख कर्त्तव्य है।

१. १. ४ भाषाविज्ञान का इतिहास

भाषाशास्त्रीय अध्ययन में प्रथम प्रवेश पाने वाले विद्यार्थी अथवा सामान्य जन के लिए इस शास्त्र के इतिहास का ज्ञान निश्चय ही सर्वाधिक सहायक हो सकता है। भाषाविषयक ऐसे बहुत से विचार, जिन्हें भाषाविद् या तो सर्वथा निराकृत करता है या शंका की दृष्टि से देखता है, उनके इतिहास से परिचित किसी भी व्यक्ति को कदाचित् ही स्वतःपूर्ण प्रतीत होंगे। यह तथ्य केवल विद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले व्याकरण पर ही लागू नहीं होता, बल्कि उन अधिकांश बातों पर भी लागू होता है जो प्रथम दृष्टि में बहुधा सीधी-सी आम-समझ की प्रतीत होती हैं। इसीलिए भाषाविचार के प्रसंग में इस प्रकार की 'आम-समझ' के सम्बन्ध में **ब्लूमफील्ड** को कहना पड़ा : " 'आम-समझ' के रूप में मान्य ये बातें वास्तव में अत्यधिक बुद्धिमत्तापूर्ण हैं, और इनका उद्गम भी निकट अतीत में प्राचीन और मध्ययुगीन दार्शनिकों के निष्कर्षों से ही हुआ खोजा जा सकता है।" ब्लूमफील्ड

द्वारा संकेतित प्राचीन और मध्ययुग के दार्शनिकों के निष्कर्षों पर आधारित इस प्रकार की 'आम-समझ' का एक उदाहरण सामान्यतः स्थापित इस विश्वास के रूप में दिया जा सकता है कि सभी भाषाएँ एक ही से **पदभेद** पर आश्रित होती हैं। '**पदभेद**' से यहाँ अभिप्राय आमतौर पर माने जाने वाले संज्ञा-क्रियादि पदभेदों से है। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस 'पद-भेद' की परम्परागत मान्यता और व्याकरण-शास्त्र द्वारा स्वीकृत इनकी मानक परिभाषाओं से यह तथ्य उद्‌घाटित होता है कि किस प्रकार प्राचीन और मध्ययुगीन प्रयत्नों में **व्याकरण, न्याय** और **अध्यात्म** के विभाजनों को एकत्र समवेत करने का प्रयास किया गया था। अन्य सामान्य विश्वासों का उद्‌गम दार्शनिक निष्कर्षों से उतना नहीं खोजा जा सकता, जितना कि लिखित ग्रन्थराशि के व्याकरण द्वारा छानबीन के प्रयासों से; विशेषकर विशिष्ट लेखकों द्वारा ग्रीक और लातीना में लिखे गए ग्रन्थों की व्याख्या के प्रसंग में। किन्तु भाषा-विज्ञान का इतिहास आज केवल उस सीमा तक ही रुचिकर नहीं है, जहाँ तक यह हमें भाषा के सम्बन्ध में सामान्यतः मान्य भ्रमों से मुक्ति पाने में समर्थ करता है। किसी भी अन्य विज्ञान की भाँति भाषाविज्ञान भी अतीत के बल पर निर्मित होता है। और यह सब परम्परागत सिद्धान्तों के प्रतिवाद और निराकरण के द्वारा ही नहीं होता, बल्कि उनके विकास और सुधार के द्वारा भी सम्भव होता है। इसलिए वर्त्तमान भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों और उसकी धारणाओं को समझने में सहायता पहुँचाने के रूप में इस विषय के इतिहास के ज्ञान का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रूप में हाथ रहता है। इस ग्रन्थ में यह बात पूरी तरह निर्दशित की जाएगी। इस बात पर यहाँ बल देने का प्रयोजन इसलिए आ पड़ा, क्योंकि हाल के बहुत से भाषाविज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थों में पिछले कुछ दशकों में भाषा के वैज्ञानिक अनुसन्धान में की गई महती प्रगति की चर्चा करते हुए इस बात पर नितान्त ही बल नहीं दिया गया है कि भाषाविषयक पाश्चात्य सिद्धान्तों के आरम्भिक काल से अब तक के विकास में एक निरन्तरता या सान्तत्य विद्यमान है।

यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि आज जिसे 'परम्परागत व्याकरण' के रूप में पुकारा जाता है (और हम इस नाम का प्रयोग करेंगे भी), वह उससे कहीं अधिक सम्पन्नतर और विविधतामय है, जितना कि आधुनिक भाषावैज्ञानिक ग्रन्थों में आए इसके आकस्मिक निर्देशों से ज्ञात होता है। पाश्चात्य भाषाविषयक विचार का अधिकांश प्राचीनतर इतिहास अस्पष्ट एवं विवादास्पद है। मुख्यतः इस कारण कि उसके अधिकांश मूल स्रोत विलुप्त हो चुके हैं। जो कुछ भी अवशिष्ट हैं, उससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि प्लेटो और बुद्धिवादियों से लेकर मध्ययुगीन अध्यापनवादियों तक विकास की एक अनवरत धारा खोजी जा सकती है, तब भी यह कहा जा सकता है कि इस सब दौरान व्यक्तिगत रूप में ऐसे अनेक वैयाकरण हुए, जो मौलिक चिन्तन में पर्याप्त समर्थ थे। 'परम्परागत व्याकरण' का सुनिश्चिततर और व्यापकतर इतिहास लिखा जाना अभी शेष है। यद्यपि भाषाविज्ञान के

इतिहास की आगे दी गई रूपरेखा अनिवार्यतः संक्षिप्त है, और उसे देने का प्रयोजन इस विषय की वर्त्तमान स्थिति का परिचय देनामात्र है, तथापि यथासम्भव हमारा प्रयत्न यह होगा कि भाषाविषयक अतीत-अध्ययन के विकास को हम उस युग की सामाजिक दशा और दार्शनिक विचार धारा से सन्नद्ध करके देख सकें।

१. २ परम्परागत व्याकरण

१. २. १ परम्परागत व्याकरण के दार्शनिक स्रोत

अन्य बहुत-सी पाश्चात्य शिक्षात्मक परम्पराओं की भांति परम्परागत **व्याकरण** का आरम्भ भी ग्रीस में पांचवी सदी ईसवीं पूर्व से हुआ। आरम्भ से ही ग्रीक लोगों के लिए 'व्याकरण' भी 'दर्शन' का ही अंग रहा। कहा जा सकता है कि यह ज्ञान भी अपने चारों ओर के संसार और अपनी सामाजिक संस्थाओं की प्रकृति के प्रति उनकी सामान्य जिज्ञासा का ही एक अंगमात्र था।

१. २. २ प्रकृति और रूढ़ि

ग्रीक दार्शनिकों ने इस विषय पर पर्याप्त विवाद किया कि भाषा 'प्रकृति' से शासित होती है या 'रूढ़ि' से? उनकी दार्शनिक प्राक्कल्पनाओं में 'प्रकृति' और 'रूढ़ि' का यह विरोध एक सामान्य विषय था। किसी भी संस्था को 'प्राकृतिक' कहने का अर्थ यह स्वीकार करना था कि उसका उद्भव मानवेतर किन्हीं नित्य और अपरिवर्त्ती सिद्धान्तों के अधीन हुआ है, और इसीलिए वह अकाट्य या अलंघ्य है। इसके विपरीत, उसे 'रूढ़िगत' कहने का अर्थ यह स्वीकार करना था कि उसकी उपलब्धि केवल परम्परा और प्रथा के परिणाम रूप में हुई है। अर्थात्, वह समाज के सदस्यों के बीच पारस्परिक समझौते या सामाजिक आबन्ध का परिणाम है। समझौता या आबन्ध इस रूप में कि इसे मनुष्यों ने बनाया है और वे ही इसे तोड़ भी सकते हैं।

भाषा के क्षेत्र में 'प्रकृति' और 'रूढ़ि' के इस प्रश्न को इस रूप में परिवर्त्तित कर दिया गया कि, **'क्या शब्द के रूप और अर्थ में परस्पर कोई सम्बन्ध है भी या नहीं?' क्रैटिलुस** जैसे कट्टर 'प्रकृतिवादी' भी, जिसके विचारों को प्लेटो ने अपनी तद्विषयक चर्चा में उद्धृत किया है, यह मानते थे कि सभी शब्द अपने द्वारा इंगित वस्तुओं को प्रकृति से ही संकेतित करने में समर्थ होते हैं। उनका कहना था कि यद्यपि यह बात सामान्य व्यक्ति के लिए सदा स्पष्ट होनी सम्भव नहीं है, फिर भी 'आकार' के पीछे छिपी 'वास्तविकता' को पहचानने वाला दार्शनिक इस बात को सिद्ध कर सकता है। इसप्रकार सचेत और सुविचारित **'निरुक्ति-प्रक्रिया'** का आरम्भ हुआ। इस प्रक्रिया का अंग्रेजी पर्याय 'एटिमोलौजी' मूल ग्रीक शब्द **'एतिमो'** से बना है, जिसका

अर्थ होता है '**सत्य**' या '**वास्तविक**'! इस पर्याय से निर्वचन-विद्या का दार्शनिक उद्भव स्पष्ट है। शब्द के मूल को खोजने और, इस प्रकार, उसके 'सच्चे' अर्थ को पाने का अर्थ था 'प्रकृति' के सत्यों को उद्घाटित करना।

ऐसे बहुत से उपाय पहचाने गए, जिनसे शब्द का रूप 'प्रकृतितः' उसके अर्थ के लिए उपयुक्त हो सकता है। सर्वप्रथम **आः, हाय, खटखट, हुड़दंग,** आदि हिन्दी के उदाहरणशब्दों के ग्रीक पर्यायों को '**अनुकरणात्मक**' रूप में पहचाना गया, जो किसी अंश तक अपने से निर्दिष्ट ध्वनियों का अनुकरण करते थे। इससे मिलती-जुलती, किन्तु भिन्न, एक अन्य श्रेणी उन शब्दों की थी(**हिन्दी—कौआ, कहू, पपीहा,** आदि; अं०—**कुक्कू, पीविट्**, आदि), जिनका जन्म तो ध्वनि के 'अनुकरण' पर ही हुआ था, पर जिनसे संकेत, ध्वनि का नहीं, उसे करने वाले मूल या प्राणी का होता था। इन दोनों ही उदाहरणों से शब्द के **रूप** और उससे संकेतित **वस्तु** के बीच 'प्रकृतिगत' संबंध स्पष्ट ही है। उक्त दोनों प्रकार के शब्दों के लिए पारिभाषिक संज्ञा '**ओनोमातोपोइआ**'(ग्रीक)का प्रयोग अब तक इसी अर्थ में किया जाता है। इसका हिन्दी में सही अर्थानुवाद '**संज्ञा-सृजन**' होता है। किन्तु इसे उन अनुकरणमूलक शब्दों के लिए रूढ़ कर दिया गया, जो किसी ध्वनि के आधार पर बने थे। यही बात ग्रीक'प्रकृतिवादियों' द्वारा मान्य इस तथ्य को सामने लाती है कि मूलतः ऐसे शब्द ही उन आधारभूत '**संज्ञाओं**' के रूप में रहे होंगे, जिनसे आगे चलकर भाषा का विकास हुआ। शब्द और अर्थ के बीच का आधारभूत सम्बन्ध '**संज्ञाकरण**' के रूप में है। और मूलतः शब्द उन वस्तुओं के प्रति 'अनुकरणात्मक' ही रहे होंगे, जिनके नामों के रूप में उनका प्रचलन हुआ। इस मत के अनुसार 'ध्वनिमूलक' शब्द सम्पूर्ण शब्दराशि के 'केन्द्रबिन्दु' के रूप में होते हैं।

पर सापेक्ष दृष्टि से इस प्रकार के शब्दों की संख्या बहुत कम है। अतः बहुत से उन अन्य शब्दों को भी 'प्राकृतिक' मूल का सिद्ध किया गया, जिनकी एक या अधिक ध्वनियों से इस प्रकार का इंगित मिल सकता था। कुछ ध्वनियों को **मृदु, खर, तरल, पुंलिंगी,** आदि के रूप में वर्गीकृत किया गया; क्योंकि उन्हें कुछ भौतिक गुणों या क्रियाओं को ध्वनित करने वाली या 'अनुकारिणी' माना गया था। उदाहरणार्थ, प्रकृतिवादियों की पद्धति पर चलकर कहा जा सकता है कि '**ल्**' एक **तरल** ध्वनि है। उनके अनुसार इसी कारण **लाल, प्लव** आदि शब्दों में एक ऐसी ध्वनि विद्यमान है, जो उनके अर्थ से 'प्राकृतिक' रूप में सम्बद्ध है। किसी शब्द की निर्मात्री ध्वनियों और उस के अर्थ के बीच इस प्रकार के सम्बन्ध को बताने वाली आधुनिक पारिभाषिक संज्ञा '**ध्वनिप्रतीकवाद**' है। किन्तु इसका औचित्य वहीं तक है, जहां तक इस प्रवृत्ति को भाषा का एक अभिलक्षण मानने पर बल दिया जाता है।

'**ध्वनिमूलकता**' और '**ध्वनिप्रतीकवाद**' का पूरा लाभ उठाकर भी ग्रीक नैरुक्तों के सामने ऐसे अनेक शब्द बच गए थे, जिसकी व्याख्या वांछनीय थी। इसी प्रसंग में उन्होंने उन बहुत से सिद्धान्तों का सहारा लिया, जिनके सहारे शब्द एक-

दूसरे से उद्भूत या सम्बद्ध होते माने जा सकते हैं। इन्हें ही निर्वचन के परम्परागत सिद्धान्तों के रूप में निबद्ध कर दिया गया। यहां हम, इन की गहराई में न जाकर, इतना ही कहेंगे कि इन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है। **प्रथम**—किसी शब्द का अर्थ उसके **मुख्य** और **गौण** प्रयोग के बीच किसी 'प्राकृतिक' सम्बन्ध के आधार पर अधिक व्यापक बनाया जा सकता है। यथा, नदी का **'मुख'**, बोतल की **'ग्रीवा'**, आदि। ये **'मैटाफ़र'** (रूपक) के उदाहरण हैं। इस **'मैटाफ़र'** संज्ञा को, अनेक तत्सदृश संज्ञाओं के समान, बाद में ग्रीक विद्वानों ने **व्याकरणग्रन्थों** और **रीतिग्रन्थों** में भी प्रयुक्त किया। **द्वितीय**—किसी नए शब्द का निर्माण किसी अन्य शब्द में कोई ध्वनि जोड़कर, घटाकर, बदलकर, या अदला-बदली करके भी किया जा सकता है, यदि उन शब्दों के अर्थों में परस्पर किसी प्रकार का 'प्राकृतिक' सम्बन्ध विद्यमान हो। प्रकृतिवादियों को अपनी मूल स्थापना को सही सिद्ध करने के लिए शब्द के आकार पर आश्रित इस द्वितीय वर्ग के सिद्धान्तों का बहुत ही उन्मुक्त और अनियन्त्रित प्रयोग करना पड़ा। तभी वे यह दावा कर सके कि 'प्राकृतिक' मूल के प्राथमिक वर्ग से ही सब शब्दों का निर्माण सिद्ध किया जा सकता है।

१. २. ३ सादृश्य और वैषम्यवादी

अगली कई सदियों तक 'प्रकृतिवादियों' और 'रूढ़िवादियों' में यह विवाद चलता रहा, और भाषा के उद्गम और शब्दों और अर्थों के बीच सम्बन्धों के विषय में की जाने वाली हर प्राक्कल्पना पर यह छाया रहा। व्याकरण-सिद्धान्तों के विकास में इसकी प्रमुखता यह रही कि इसने 'निरुक्तिपरक' खोज-बीन को बढ़ावा दिया, जिससे शब्दों के पारस्परिक सम्बन्धों को वर्गीकृत करने की विद्वानों की अभिरुचि को प्रोत्साहन और संवर्धन मिला। इससे शुभ हुआ या अशुभ, इसने व्याकरण के अध्ययन को सामान्य दार्शनिक जिज्ञासा के ढाँचे में गृहीत अवश्य कर लिया।

कुछ कारणों से, जिनकी विवेचना यहां सावसर नहीं होगी, 'प्रकृतिवादियों' और 'रूढ़िवादियों' के बीच विवाद पर्याप्त बाद में—ईसा-पूर्व दूसरी शती में—एक नए रूप में विकसित हुआ। इसका विषय रहा : **'भाषा किस सीमा तक नियमित कही जा सकती है।'** अंग्रेज़ी की भांति ग्रीक में भी एक ओर जहां भाषा में 'नियमित' प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं, वहां दूसरी ओर इस प्रवृत्ति के अनेक अपवाद भी मिलते हैं। हिन्दी में इस **'नियमित'** प्रवृत्ति के उदाहरण इस प्रकार दिए जा सकते हैं : **बात=बातें, गाय=गायें, बहू=बहुएं,** आदि (अंग्रेज़ी में : **बॉय्=बॉय्ज़, काऊ=काऊज़्,** आदि)। भाषा में 'नियमितता' का यह एक प्रकार है, जिस पर परम्परागत व्याकरण के प्रतिष्ठापकों ने विचार किया था। कुछ अन्य प्रकारों की चर्चा हम आगे करेंगे। नियमितता और अनियमितता के लिए इन संज्ञाओं के अर्थों में प्रयुक्त ग्रीक शब्द हैं : 'अनालोगी' और 'अनोमाली' (जिनके हिन्दी पर्याय सामान्यतः 'सादृश्य' और 'वैषम्य' माने जाते है)। जो लोग भाषा

को वस्तुतः विधिवत् और नियमित मानते थे, वे 'एनालौजिस्ट' या सादृश्यवादी कहलाए; जब कि इसके विपरीत विचार रखने वालों को 'एनोमैलिस्ट' या 'वैषम्यवादी' कहा गया।

यह अवधेय है कि 'सादृश्य' शब्द का प्रयोग यहां विशेष रूप से गणित के शब्द 'समानुपात' के अर्थ में किया जा रहा है, जिसके अनुसार हम, उदाहरणार्थ, कहते हैं कि ६ : ३ के बीच का अनुपात ४ : २ और २ : १ आदि के बीच अनुपात के बराबर है। समानुपात का वाचक अंग्रेज़ी शब्द 'प्रपोशन' ग्रीक शब्द 'अनालोजिया' के लैटिन अनुवाद से बना है। 'सादृश्य' पर आश्रित तर्क का प्रयोग **प्लेटो** एवं अरस्तू तथा उनके अनुयायियों ने वैज्ञानिक अध्ययन में व्यापक रूप से किया। ऊपर दिए **बात : बातें** के अनुपात के आधार हम तद्गत 'सादृश्य' का आश्रय लेकर सहस्रों अन्य शब्द रच सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हमारे पास 'गाय' या 'गायें' में से कोई एक शब्द हो, तब हम दूसरे को निम्न विधि से पासकते हैं :

बात : बातें = गाय : क्ष; या, बात : बातें = क्ष : गायें।

सादृश्यवादियों ने उन विविध आदर्शों को स्थापित करने में भरपूर यत्न किया, जिनके आधार पर भाषा के नियमित शब्दों को वर्गीकृत किया जासकता था। (परम्परागत ग्रीकमूलक संज्ञा 'पैराडाइम' वस्तुतः 'प्रतिमान' या 'उदाहरण' का ग्रीक रूपान्तर है।) 'वैषम्यवादी' इस बात से तो निषेध नहीं करते थे कि भाषा के शब्दों की रचना में नियमितताएं विद्यमान हैं; किन्तु वे अनियमित शब्दों के ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते थे, जिनकी रचना में सादृश्यमूलक युक्तिक्रम सर्वथा असमर्थ ठहरता है : यथा, अंग्रेज़ी के **चाइल्ड : चिल्ड्रन** में। वे सादृश्य के उन बहुविध भेदों की ओर भी ध्यान आकृष्ट करते थे, जिनकी उपलब्धि एक ही श्रेणी के विविध शब्दों में होती है।(यह बात **ग्रीक, लैटिन, संस्कृत** और **हिन्दी** के विषय में, अंग्रेज़ी की अपेक्षा, अधिक लागू होती है।) उन्होंने इस तथ्य की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया कि शब्द की **आकृति** और **अर्थ** में सम्बन्ध भी बहुधा 'विषम' (अनियमित) होता है। यथा, **'थेबेस'** और **'एथेन्स'** ग्रीक में बहुवचनान्त नगर-नाम हैं, यद्यपि उनसे संकेत एकाकी नगरों का ही होता है। इसी प्रकार 'बच्चा' के पर्यायवाची ग्रीक शब्द **'पाइदियोन'** तथा जर्मन शब्द **'किण्ड'** आदि **'नपुंसकलिंग'** हैं, जबकि बच्चा 'पुम्' या स्त्री में से कोई भी हो सकता है। इस प्रकार के वैषम्यों के अन्य अनेक उदाहरण अन्य विश्व-भाषाओं में से दिए जा सकते हैं। इस 'वैषम्य' का दूसरा उदाहरण **'समानार्थकता'** (एक ही अर्थ को वहन करने वाले अनेक शब्द) और **'अनेकार्थकता'** (एक ही शब्द-रूप से अभिव्यक्त अनेक अर्थ) के अस्तित्व के रूप में दिया गया। यदि भाषा वास्तव में ही मानवीय 'रूढ़ि' से उद्भूत हुई होतीं, तब इस प्रकार की विविध अनियमितताओं की उपलब्धि की आशा न रहती। तब यदि वे होतीं भी, तो भी उन्हें सुधारा जा सकता। अतः वैषम्यवादियों के अनुसार, 'प्रकृति' की परिणामभूता भाषा का

विवेचन, रूप-सादृश्य पर आधारित ढाँचों में बंधकर, केवल कुछ अंशों तक ही किया जासकता है। और यह कि हमें किसी भाषा के 'प्रयोग' पर समुचित ध्यान देना ही होगा; चाहे प्रयोग से सम्बद्ध कोई विशिष्ट तथ्य कितना ही 'अयुक्तिसंगत' दिखाई दे।

ग्रीक सादृश्यवादियों और वैषम्यवादियों के बीच इस विवाद का अन्तिम निर्णय कभी न हो पाया। इस तथ्य से हमें आश्चर्य न होना चाहिए। **प्रथम** बात यह कि व्याकरण के **'वर्णनात्मक'** और **'विधायक'** रूप के बीच विभेद स्पष्ट रूप में नहीं किया गया था (अर्थात्, व्याकरण के उस रूप के बीच जिसमें यह वर्णन किया जाता है कि लोग वास्तव में **कैसे बोलते हैं**, तथा उस रूप के बीच जिसमें यह विधान किया जाता कि कि उन्हें **कैसे बोलना या लिखना चाहिए** : इसकी अधिक चर्चा १. ४. ३ में बाद में होगी)। परिणामतः सादृश्यवादी भाषा की प्रकृति के सम्बन्ध में अपने विचारों को बदलने की अपेक्षा उसमें प्रकट 'अनियमितताओं' को 'सुधारने' का यत्न करते थे। **द्वितीय** और अधिक मुख्य बात यह कि 'अनियमितताओं' का निर्णय किन्हीं ऐसी **'नियमितताओं'** की तुलना में ही होसकता था, जिनसे वे भिन्नता लिए हों। और जो बात एक दृष्टिकोण से 'अनियमित' ठहरती है, वही दूसरी दृष्टि से 'नियमित' भी ठहरती है। अतः भाषा की 'नियमित' अथवा 'अनियमित' प्रकृति के विनिश्चय से पूर्व एक अन्य प्रश्न का उत्तर पाना अनिवार्य होजाता है : **वास्तव में भाषा के 'नियमित' प्ररूप कौन से हैं ?** अतः 'सादृश्यवादियों' और 'वैषम्यवादियों' के बीच का यह विवाद, जैसा कि बहुधा समझा जाता है, सर्वथा निरर्थक नहीं था; और न ही इसका उद्‌गम उन दोनों पक्षों के अनुयायियों द्वारा इस सुस्पष्ट सत्य को न मानने के दुराग्रह से ही हुआ था कि भाषा में 'नियमितताएं' और 'अनियमितताएं' दोनों ही समान रूप से उपलब्ध होती हैं। अधिकतम हम यही कह सकते हैं कि यह विवाद इन बातों पर था कि भाषा की 'नियमितता' का क्या अर्थ है, तथा कितनी मात्रा तक प्रत्यक्ष 'अनियमितता' को अधिक विश्लेषण के द्वारा, अन्य वैकल्पिक ढांचों की दृष्टि से, दिखाया जा सकता है ?

इन दोनों मतवादियों के बीच हुए विवाद का इतिहास पर्याप्त अस्पष्ट है। इसके आरम्भिक विकास का परिचय हमें केवल कुछ अंशों, अथवा परवर्त्ती लेखकों की कृतियों में आए उद्धरणों और टिप्पणियों, के माध्यम से मिलता है। और यह अधिक सम्भव है कि परवर्त्ती लेखकों ने, विशेषकर प्रथम शती ईसापूर्व के रोमन वैयाकरण **वार्रो** ने, दोनों पक्षों के बीच के विवाद को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया हो। उक्त दोनों ही पक्षों की सैद्धान्तिक उद्‌घोषणाएं भले ही कुछ भी रही हों, उन दोनों ने ही यह स्वीकार किया कि भाषा में अनेक नियमितताएं पाई जाती हैं, तथा दोनों ने ही व्याकरण को एक 'प्रणाली' का रूप देने में अपना योगदान दिया। प्रायः वैषम्यवादी कहे जाने वाले स्टोइक विद्वानों ने ही अपने निरुक्त-सम्बन्धी अनुसन्धान के बीच परम्परागत व्याकरण की नींव डाली। और सिकन्दरियावासी

नियमिततावादियों ने इसका परवर्त्ती निर्माण किया। स्टोइक और सिकन्दरियाई विचारकों के बीच पाए जाने वाले मतभेदों की व्याख्या उनके प्रयोजन और उद्देश्य की भिन्नता के प्रकाश में की जा सकती है। स्टोइक विद्वान् मुख्यतः **तर्कशास्त्र** और **अलंकारशास्त्र** के विमर्श-प्रसंग में **'भाषा के उद्गम'** की समस्या में रुचि ले रहे थे; जबकि सिकन्दरियाई विद्वानों की रुचि **'साहित्य-समीक्षा'** की ओर प्रवृत्त थी। फिर, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, सिकन्दरियाई विद्वान् प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों के पाठ-संशोधन का कार्य कर रहे थे। जहां भी उन्हें 'प्रयोग' का लिखित प्रमाण उपलब्ध न हुआ, वहीं उन्होंने उसकी कमी पूरी करने के लिए 'सादृश्य' के उक्त नियम का आश्रय लिया। वर्तमान समय में ज्ञात 'परम्परागत व्याकरण' के निबन्धन में उत्तरदायी परवर्त्ती वैयाकरणों ने 'सादृश्य' और 'प्रयोग' (वैषम्य) दोनों को ही समान रूप से सैद्धान्तिक नियमों के रूप में स्वीकार कर लिया। परन्तु इससे समस्या का वास्तविक समाधान न हो सका। क्योंकि, एक ओर तो, भाषा की नियमितता की खोज में प्रायः ही पदों और वाक्यों में सम्बन्ध स्थापित करने वाले अन्य वैकल्पिक उपाय सामने आने लगे, जबकि, दूसरी ओर, यह प्रश्न अब तक भी अनिर्णीत है कि किसके 'प्रयोग' को 'सही' स्वीकार किया जाए? जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कि वर्त्तमान भाषा-विज्ञान इन प्रश्नों को सुलझाने की दिशा में कुछ सीमा तक ही सफलता का दावा कर सकता है; किन्तु इन्हें विनिश्चयात्मक रूप में सुलझाने का दावा वह नहीं कर सकता। 'सादृश्यवादियों' और 'वैषम्यवादियों' के बीच का यह विवाद आज तक भी अनिर्णीत ही है।

१. २. ४ सिकन्दरिया युग

ईसापूर्व तीसरी शती में **सिकन्दरिया** के ग्रीक उपनिवेश में एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना के साथ ही यह नगर साहित्यिक और भाषाविषयक गहन अनुसन्धान का केन्द्र बन गया। प्राचीन लेखकों की पाण्डुलिपियां, विशेषकर **होमर** की कविता के पाठों से युक्त कृतियां, तब तक असह्य रूप से पाठभ्रष्ट हो चुकी थीं। ईसापूर्व तीसरी और दूसरी शताब्दी के सिकन्दरियाई विद्वानों ने, उसी ग्रन्थ की अनेक पाण्डुलिपियों का मिलान करके, उनका सही-सही पाठ-निर्णय करना चाहा। साथ ही, उन्होंने वास्तविक और अवास्तविक ग्रन्थों का भी निर्णय करना चाहा। क्योंकि तत्कालीन ग्रीक भाषा से उन आदर्श पुस्तकों की भाषा अनेक दृष्टियों से भिन्न थी, अतः उस समय उन पुस्तकों पर टीकाएं एवं व्याकरण-ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी; जिनमें पूर्वतर ग्रीक कवियों के पाठकों के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को ध्यान में रखा गया। अतीत के उन महान् साहित्यिक ग्रन्थों के इस अनुशीलन ने इस विश्वास को जन्म दिया कि जिस भाषा में वे कृतियां लिखी गई थीं, सिकन्दरिया एवं ग्रीक केन्द्रों की तत्कालीन जन-भाषा की अपेक्षा वह मूलतः अधिक 'शुद्ध' एवं अधिक 'सही' थी। इसलिए इन ग्रीक विद्वानों द्वारा लिखे गए व्याकरणों के दो प्रयोजन थे: उन्होंने आदर्श लेखकों की भाषा की स्थापना और व्याख्या करने

के उद्देश्य को अज्ञानी और निरक्षर लोगों के द्वारा सम्भाव्य भ्रष्टता से ग्रीक भाषा को बचाए रखने की **इच्छा** के साथ संयुक्त कर दिया। इस आदर्शवाद से प्रेरित भाषा के अध्ययन में **दो भयानक भ्रान्तियां** भी समन्वित हो गईं। इनमें से **प्रथम** का सम्बन्ध भाषा के लिखित और बोलचाल के रूपों से है, जबकि **दूसरी** का सम्बन्ध **भाषा-विकास की विधि** से है। इन दोनों को उस भ्रान्ति के रूप में देखा जा सकता है, जिसे हम भाषा के अध्ययन में 'आदर्शात्मक या श्रेण्य भ्रान्ति' कह सकते हैं।

ग्रीक भाषाविद् आरम्भ से ही मुख्यतः **लिखित भाषा** तक सीमित रहे। उन्होंने भाषा के अध्ययन को **'ग्रामर'** का जो नाम दिया, वह स्वयं इस सत्य का साक्षी है; क्योंकि उसके मूलगत शब्द का अर्थ है—**'लिखने की कला'। वर्ण-ध्वनियों** और उनके लिए प्रयुक्त **लिपि-चिह्नों** के बीच विभेद करने का कोई सुसंगत प्रयास नहीं किया गया। जहाँ तक बोली जाने वाली और लिखित भाषा में अन्तर पहचानने का प्रश्न है, सदा ही बोलचाल की भाषा को लिखित भाषा पर आश्रित, एवं उससे विनिःसृत, मानने की प्रवृत्ति रही। सिकन्दरियावासी विद्वानों की साहित्यिक व्यग्रता ने इसी प्रवृत्ति को दृढ़ किया।

इन विद्वानों की पहुँच में दूसरा भ्रम यह अन्तर्हित था कि पांचवी सदी ईसापूर्व के एट्टिक लेखकों की भाषा उस समय की जनभाषा की अपेक्षा अधिक 'सही' (साधु) थी; तथा सामान्यतः यह भी कि **'साधुता'** (शुद्धता) की रक्षा शिष्ट-प्रयोग (शिक्षितों के प्रयोग) के द्वारा होती है, जबकि अशिष्टप्रयोग (अशिक्षितों का प्रयोग) उसे **'भ्रष्ट'** या **'असाधु'** कर देता है। आगामी दो सहस्राब्दियों तक यही पूर्वाग्रह बिना प्रतिवाद के बढ़ता-पलता रहा। इस को मिटाना इसलिए और भी कठिन हो गया है, क्योंकि उनकी अभिव्यंजक **'शुद्धता'** और **'साधुता'** जैसी संज्ञाओं को प्रायः 'निरपेक्ष' मान लिया गया है। पर यह स्पष्टतः जान लेना चाहिए कि इन शब्दों का यदि कोई अर्थ सम्भव है ही, तो वह किसी निश्चित आदर्श की तुलना में ही हो सकता है। अतः इस कथन को, कि प्लेटो की भाषा सिकन्दरिया के किसी अशिक्षित श्रमिक की भाषा की अपेक्षा अधिक 'शुद्ध' है, **'असत्य'** कहने की अपेक्षा **'निरर्थक'** या **'पुनरावृत्तिमात्र'** कहना अधिक उचित है। हम इस विषय पर, विशेषकर भाषा के **लिखित और बोलचाल** रूपों के पारस्परिक सम्बन्ध पर, विस्तृत विचार इसी अध्याय के अन्त में, १.४.२ में, करेंगे।

१.२.५ ग्रीक व्याकरण

अब हम ग्रीक विद्वानों द्वारा किए गए अपनी भाषा के व्याकरणात्मक विश्लेषण के कुछ मुख्यतर विशिष्ट लक्षणों पर दृष्टिपात करेंगे। अपने विद्यालय-काल से ही जो लोग ग्रीक भाषा के परम्परागत विवरण में प्रयुक्त व्याकरणात्मक शब्दावली से परिचित रहे हैं, उन्हें यह प्रतीत होगा कि केवल इन्हीं कोटियों की पहचान भाषा के विश्लेषण में प्रवृत्त किसी भी व्यक्ति के लिए अनिवार्य होती

है। किन्तु ग्रीक वैयाकरणों और उनके ज्ञान के इतिहास का स्थूलतम अध्ययन भी इस बात को स्पष्ट कर देगा कि यह बात सत्य नहीं है। ग्रीक व्याकरण की विद्यालयीय पुस्तकों में दिया गया विशिष्ट विश्लेषण स्वतः इतना अस्पष्ट था कि इसे अधिक स्पष्ट बनाने में चौथी शती ईसा-पूर्व से दूसरी शती ईसा-उत्तर तक छह शतियां बीत गईं। फिर, केवल यही विश्लेषण **शक्य** नहीं था; न ही यह कदाचित् **श्रेष्ठ** भी था। कुछ भी हो, यह कहना युक्ति-संगत नहीं होगा कि ग्रीक के जिस व्याकरण को 'आदर्श व्याकरण' के रूप में भावी सन्ततियों ने पाया, उसकी अपेक्षा उससे किञ्चित् भिन्न व्याख्या करने वाले ग्रीक वैयाकरणों के तरीके किसी निम्न स्तर के थे। आगे दिए जाने वाले परम्परागत व्याकरण के ऐतिहासिक विकास के संक्षिप्त विवरण में ग्रीक वैयाकरणों तथा उनके उत्तराधिकारियों द्वारा मान्य विविध विभाजनों की चर्चा हम विस्तार के साथ तब तक नहीं करेंगे, जब तक परवर्त्ती अध्यायों में उसके लिए पृष्ठभूमि तैयार नहीं हो जाती।

पाँचवीं शती ईसापूर्व के पाण्डित्यवादियों में प्राचीनतम और मुख्यतम विद्वान् **प्रोतागोरस** को ही यह श्रेय दिया जाना चाहिए कि उसने **'तीन लिंगों'** को पृथक्-पृथक् पहचाना। **नाम** (संज्ञा) और **आख्यात** (क्रिया) में सर्वप्रथम भेद को स्पष्ट करने वाला प्रथम विद्वान्, हमारी समझ में, **प्लेटो** (४२९—३४७ ई० पू०) था। यहाँ यह अवधेय है कि प्लेटो ने 'नाम' और 'आख्यात' को जिस रूप में पहचाना था, वे परवर्त्ती विश्लेषण द्वारा स्वीकृत और हमारी विद्यालयीय पुस्तकों की आधारभूता इसी नाम की दोनों कोटियों के साथ सर्वथा समरूप नहीं थे। प्लेटो के अनुसार **'नाम'** उसे कहते हैं जो वाक्य में विधेय के (कर्त्ता) के रूप में कार्य करता है; जबकि **'आख्यात'** या **'क्रिया'** उस पद को कहते हैं जो विधेय में कथित **कार्य** (एक्शन) या **गुण** (क्वालिटी) को व्यक्त करता है। मोटे तौर पर, किसी भी विधेय (विधान) का **'कर्त्ता'** (सब्जेक्ट) उस वस्तु का **नाम** बताता है, **जिस के विषय में कुछ कहा जा रहा होता है;** जबकि **'विधेय'** वाक्य का वह भाग है, जो 'कर्त्ता' द्वारा नामांकित **उस वस्तु के विषय में कोई बात बताता है** (देखें, ८.१.२)।

प्लेटो के उक्त मत में दो बातें अवधेय हैं। **प्रथम** यह कि 'नाम' और 'आख्यात' के रूप में दो मुख्य व्याकरणात्मक कोटियों की परिभाषा वहां **तार्किक आधार** पर की गई है : अर्थात्, कथन के घटकों के रूप में। **द्वितीय** यह कि आज हम जिन्हें **'क्रिया'** और **'विशेषण'** के रूप में जानते हैं, उसमें उन दोनों का ही समावेश **'आख्यात'** के अन्तर्गत किया गया है। जब परवर्त्ती ग्रीक वैयाकरणों ने इस विभाजन को पलटा, तब भी उन्होंने **'नाम'**, **'आख्यात'** और **'विशेषण'** (अथवा **संज्ञा-क्रिया-विशेषण**) के रूप में तीन परिचित विभाग नहीं अपनाए; बल्कि उन्होंने एक नया द्विसूत्री वर्गीकरण किया, जिसके अनुसार **'नाम'** और **'विशेषण'** के रूप में ज्ञात विभाग एक सूत्र में आबद्ध कर दिए गए। आरम्भ में उन शब्दों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया, जो इन दोनों मुख्य कोटियों से बाहर पड़ते थे।

नाम, आख्यात और **विशेषण** के रूप में **त्रिसूत्री** वर्गीकरण मध्ययुग में ही सम्भव हो सका। **अरस्तू** (३८४-३२२ ई० पू०) ने 'नाम' और 'आख्यात' के बीच अन्तर प्लेटो के अनुकरण पर ही स्वीकार किया, यद्यपि उन्होंने **समुच्चयात्मक निपातों** (कंजक्शन्स) के नाम से एक भिन्न कोटि को भी पहचाना, जिसके द्वारा **'नाम'** और **'आख्यात'** में अन्तर्गृहीत न हो सकने वाले शेष सभी शब्दों को परिगणित कर लिया गया। उसने अपने पूर्वाचार्यों द्वारा स्थापित **'तीन लिंगों'** के विभाजन को भी स्वीकार कर लिया; लेकिन उसने यह भी देखा कि वहुत सी **वस्तुओं** (**'थिङ्'** या वस्तु के द्वारा प्रोतागोरस ने तृतीय 'लिंग' को सूचित किया था) के नाम व्याकरण की दृष्टि से ग्रीक भाषा में या तो **'पुंलिंग'** हैं या **'स्त्रीलिंग'**। इसीलिए उसने उस तीसरे लिंग की वाचिका संज्ञा **'माध्यमिक'** या **'इण्टरमीजिएट'** स्वीकार की। (वाद में, दोनों में न सम्मिलित हो सकने वाले 'लिंग' को **'नेतर'** (अं० **नाइदर**) के रूप में कहा गया, जिसका लैटिन अनुवाद **'नेउतर'** (अं० **'न्यूटर'**) के रूप में हमें उपलब्ध हुआ।) इससे भी बढ़कर जो उल्लेखनीय बात अरस्तू ने की, वह थी ग्रीक **'आख्यात'** में **'काल'** या 'लकार' की पहचान। अर्थात्, उसने पहचाना कि 'आख्यात' की आकृति में पाये जाने वाले कुछ विधिवत् अन्तरों को 'वर्त्तमान' और 'भूत' जैसी लकारात्मक धारणाओं के साथ संगत किया जा सकता है। प्लेटो से अधिक स्पष्ट होने पर भी, इस विषय में उनका उपदेश पर्याप्त अस्पष्ट है।

ग्रीक दर्शन के अनेक वाद-प्रवर्त्तकों में से 'स्टोइक' विद्वान् ही ऐसे थे, जिन्होंने भाषा की ओर सर्वाधिक ध्यान दिया। इसका कारण उनका यह विश्वास था कि सद्व्यवहार का सम्बन्ध 'प्रकृति के साथ एकस्वर होकर रहने में ही है', और यह कि ''ज्ञान' की संगति 'प्रकृति' की वास्तविक वस्तुओं के साथ हमारे विचारों (भावों) की समरूपता में ही सम्भव हो पाती है; क्योंकि विचार या तो इन 'वस्तुओं' के ही प्रतिविम्ब हैं, या वैसे होने चाहिएँ'। अतः स्टोइक दर्शन के लिए भाषा **केन्द्रीय** वस्तु थी; विशेषतः दर्शन के उस भाग के लिए, जिसे उन्होंने 'लॉजिक' या 'तर्कशास्त्र' नाम दिया। इस शास्त्र में **ज्ञानमीमांसा, अलंकारशास्त्र** और **व्याकरण** का भी अन्तर्भाव हो जाता था। उन्होंने जो सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख मौलिक भेद किया, वह था **'रूप'** और **'अर्थ'** के बीच : 'वह जो संकेतित करता है' (**रूप**) तथा 'वह जो संकेतित होता है' (**अर्थ**)। परन्तु ये विद्वान् भाषा को 'प्रकृति' का सीधा प्रत्यंकन (रिफ़्लेक्शन) नहीं मानते थे। अधिकांशतः वे 'वैषम्यवादी' थे। उनका बल शब्दों और द्रव्यों के बीच **अनुकारिता की कमी** तथा भाषा की **'अतर्क-संगतता'** पर अधिक था। इस 'वाद' के आरम्भिक अनुयायियों ने **चार पदभेदों** को स्पष्टतः पहचान लिया था : **संज्ञा, क्रिया, समुच्चयबोधक** और **आदिनिपात**; जबकि परवर्त्ती विद्वानों ने इन्हें **'पांच'** माना : **'जातिवाचक संज्ञा'** और **'व्यक्ति-वाचक संज्ञा'** को पृथक्-पृथक् मानकर। **'विशेषण'** को **'संज्ञा'** (नाम) के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया। जिसे आज हम **रूपविधान**—उदाहरणार्थ, (सं०) **रामः-**

रामौ-रामाः, (हि०) **लड़का-लड़के,** (सं०) **गच्छति-गच्छतः-गच्छन्ति,** या (अं०) **सिङ्, सैङ्, सङ्,** आदि के बीच पारस्परिक सम्बन्ध—के रूप में जानते हैं, उसका अत्यधिक विकास स्टोइक विद्वानों द्वारा ही किया गया था। यह श्रेय भी उन्हीं को जाता है कि 'विभक्ति' को उन्होंने वह अर्थ प्रदान किया, जो तब से आज तक उसी भावना में अक्षुण्ण चला आता है। सर्वप्रथम उन्होंने ही इसके **'ऊर्ध्व'** (अपराइट्) और **'तिर्यक्'** (ऑब्लाक) के रूप में दो भेद किए। **'ऊर्ध्व'** उन्होंने उसे कहा, जिसे आज हम 'प्रथमा' या 'निर्देशिका' विभक्ति (**नौमिनेटिव केस**) के रूप में जानते हैं। इससे भिन्न रूपों को उन्होंने 'तिर्यक्' या 'ऑब्लीक' के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने यह भी पहचाना कि ग्रीक क्रियाओं के रूप-विनिश्चय में **'लकार'** के अतिरिक्त एक अन्य घटक भी महत्त्वपूर्ण है। यह है, विचाराधीन **'रूप'** द्वारा क्रिया की **पूर्णता** या **अपूर्णता** की अभिव्यक्ति। उन्होंने **'कर्तृवाच्य'**, (ऐक्टिव) और **'कर्मवाच्य'** (पैस्सिव) तथा **'सकर्मक'** (ट्रांज़िटिव) और **'अकर्मक'** (इन्ट्रांज़िटिव) क्रियारूपों के बीच भेद को भी पहचान लिया था।

पूर्वोक्त सिकन्दरियाई विद्वानों ने स्टोइक वैयाकरणों के कार्य को आगे बढ़ाया। 'परम्परागत व्याकरण' का अद्यतन रूप सिकन्दरिया में ही स्थिर हुआ था। अधिकांश स्टोइक विद्वानों से भिन्न ये विद्वान् **'सादृश्यवादी'** थे। भाषा में 'नियमितताओं' की उनकी खोज की परिणति निश्चित विभक्ति-रूपों को स्थिर करने के रूप में हुई। ईसा-पूर्व दूसरी शती के अन्त में होने वाले विद्वान् **डायोनीसियस थ्रैक्स** का व्याकरण, हमारे ज्ञान के अनुसार, पश्चिम में प्रकाशित होने वाला सर्वप्रथम व्यापक और पद्धतिबद्ध व्याकरण था। स्टोइक विद्वानों द्वारा पहचाने गए चार 'पदभेदों' के अतिरिक्त, इस विद्वान् ने **'क्रियाविशेषण'**, **'कृदन्त'** (इसे उन्होंने 'पार्टिसिपल' कहा, क्योंकि इसमें उन्होंने **'संज्ञा'** और **'क्रिया'** दोनों के लक्षणों का सम्मिश्रण पाया), **'सर्वनाम'** और **'कर्मप्रवचनीय'** (विभक्तिस्थानीय निपात) को भी मान्यता प्रदान की। उसने सभी ग्रीक शब्दों को **विभक्ति, लिंग, वचन, लकार** (काल), **वाच्य** और **भावदशा**, के विभाजन में वर्गीकृत करना चाहा (तु० अध्याय-७)। उसने **वाक्यविन्यास** पर विस्तृत और स्पष्ट विचार नहीं किया, जिसके सिद्धान्तों के आधार पर शब्द 'वाक्य' के रूप में संहत होते हैं। ग्रीक व्याकरण का यह अंश लगभग तीन शती बाद, ईसा-उत्तर द्वितीय शती में, अपोलोनिउस द्युस्कोलुस द्वारा वर्णित हुआ; यद्यपि यह वर्णन कुछ कम पद्धतिबद्ध रूप में ही हुआ।

१. २. ६ रोम युग

अब तक हमने संक्षेप में व्याकरण के विकास का अवलोकन किया है। **लैटिन** के वैयाकरणों के विषय में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। यह बात सर्वविदित ही है कि कला और साहित्य-सम्बन्धी रोमन विद्वत्ता के हर क्षेत्र में ग्रीक प्रभाव सर्वप्रमुख रहा। ईसापूर्व दूसरी शती में, बल्कि कुछ क्षेत्रों में उससे भी पूर्व,

रोम के शासकों ने उत्साहपूर्वक ग्रीक संस्कृति एवं शिक्षण-पद्धति को अपना लिया था। उनके बालकों को लैटिन के साथ-साथ, ग्रीक के बोलने, पढ़ने और लिखने की योग्यता पानी होती थी; तथा बहुधा वे अपनी शिक्षा की पूर्णता के लिए ग्रीस के किसी न किसी महान् दार्शनिक या काव्यशास्त्रीय अध्ययन-केन्द्र में जाते थे। अतः यह बात तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है कि लैटिन वैयाकरण अपने ग्रीक आदर्शों पर पूर्णतया आश्रित थे। ईसापूर्व प्रथम शती के रोमन विद्वान् **वार्रो** के व्याकरण पर सिकन्दरियाई एवं स्टोइक विद्वानों का प्रभाव पूरी तरह देखा जा सकता है। ग्रीस की ही भांति रोम में भी व्याकरण का अध्ययन दर्शन, साहित्य-समीक्षा एवं काव्यशास्त्र की छाया में, उनका सहायक बनकर, बढ़ा। **'सादृश्य'** और **'वैषम्य'** के बीच का विवाद उसी तरह यहां भी जारी रहा और, व्याकरण के अन्य विचार-स्थलों की भांति, भाषा-सम्बन्धी विचार का प्रमुख विषय बना। **सीज़र** तक ने **'सादृश्यवाद पर'** नाम से एक व्याकरण-ग्रन्थ लिखा, जिसे उसने चिचेरो (Cicero) के नाम समर्पित किया था, तथा अपने गॉल-अभियानों के बीच पूरा किया था।

रोम के विद्वानों का यह अनुकरण केवल ग्रीक विद्वानों की भाषा-सम्बन्धी सामान्य धारणाओं तक ही सीमित न रहकर विस्तृत विचार-स्थलों तक में लक्षित होता है। डायोनीसियस थ्रैक्स के व्याकरण की भांति लैटिन का व्याकरण भी **तीन-खण्डों** पर आधारित रहा। **प्रथम खण्ड** में शुद्ध वाक् की प्रयोग-कला एवं कवियों के भाव-ग्रहण को व्याकरण का 'क्षेत्र' बताया जाता था, तथा उसमें वर्णचिन्हों और अक्षरों का विवेचन होता था। **द्वितीय खण्ड में पदभेदों** का वर्णन होता था, तथा लकार, लिंग, वचन, विभक्ति आदि के द्वारा उन पदों में आए परिवर्त्तनों का भी कुछ दूर तक वर्णन रहता था। **अन्तिम खण्ड** में अच्छी और बुरी **'शैली'**, सामान्य **'दोषों'** और **'अशिष्ट प्रयोगों'** के प्रति चेतावनी एवं अनुमत **'अलङ्कारों'** के उदाहरणों का समावेश रहता था।

पदभेदों के प्रसङ्ग में लैटिन वैयाकरणों ने ग्रीक से केवल वहीं अन्तर प्रदर्शित किया, जहाँ उन दोनों भाषाओं की विविधता के कारण ऐसा करना अनिवार्य हो गया। ग्रीक और लैटिन भाषाओं की अत्यधिक संरचनागत समता के कारण निस्सन्देह इस मत को प्रवर्धन मिला कि पदभेद, विभक्ति, वचन, लकार, आदि ग्रीक विद्वानों द्वारा स्पष्टीकृत व्याकरणात्मक कोटियाँ, विश्वभाषाओं में उपलब्धि की दृष्टि से, समान और अनिवार्य थीं। मध्ययुगीन वैयाकरणों ने भी इसी मत को अधिक स्पष्टता के साथ अपनाया।

लैटिन व्याकरण के परवर्त्ती युग को, जिसके प्रमुख प्रवक्ता ४०० ई०उ० के **दोनातुस** और ५०० ई०उ० के **प्रिश्चियन** थे, सिकन्दरिया-युग की भांति **'श्रेण्यवादी युग'** कहा जा सकता है। इन दोनों विद्वानों के व्याकरण अध्यापन की दृष्टि से ही लिखे गये थे, और सत्रहवीं शती तक इसी रूप में प्रयुक्त भी होते रहे। इनमें भी, अपने समय की भाषा की विवेचना न होकर, चिचेरो और विर्जिल जैसे 'श्रेष्ठ लेखकों'

की भाषा की विवेचना की गई; और इस प्रकार भाषासम्बन्धी विवरण के प्रति उस प्रवृत्ति को स्थायी बना दिया गया, जिसे हमने **'श्रेण्य भ्रान्ति'** के नाम से कहा है।

१. २. ७ मध्य युग

यूरोप में मध्ययुग का प्रधान लक्षण रहा, शिक्षा-प्रणाली में लैटिन का प्रमुख स्थान। व्यावहारिक या लेखनात्मक सारी वैयक्तिक प्रगति का एकमात्र आधार लैटिन के गम्भीर ज्ञान पर निर्भर था। कारण यह कि लैटिन केवल साहित्य और धर्मग्रन्थों की ही भाषा नहीं रही, बल्कि कूटनीति, विद्वत्ता और संस्कृति की दृष्टि से भी यह विश्वात्मक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। अब, क्योंकि व्यावहारिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों से लैटिन जैसी विदेशी भाषा को विद्यालयों में सीखना आवश्यक हो गया, छात्रों को इस पर अधिकार प्राप्त करने में सहायता देने के लिए बहुत बड़ी संख्या में ग्रन्थ लिखे जाने लगे। ऐसे अधिकांश ग्रन्थ दोनातुस और प्रिश्चियन के उक्त व्याकरणों पर ही आधारित थे। फिर, लैटिन केवल विदेशी भाषा ही नहीं थी, बल्कि एकमात्र 'लिखित भाषा' भी रह गई थी। जहाँ तक इसके बोले जाने का प्रश्न है, हर देश में इसके उच्चारण का अपना भिन्न तरीका विकसित हो गया था। इस सत्य ने उस परम्परागत धारणा को और भी पुष्ट किया, जिसके अनुसार 'लिखित' भाषा की प्रमुखता स्वीकार की जाती है।

मध्ययुगीन वैयाकरणों ने लैटिन के अपने व्याकरण-विश्लेषण में बहुविध प्रगति की, जिसके अधिकांश परिणाम तथाकथित 'परम्परागत व्याकरण' के अंग बन चुके हैं। परवर्त्ती मध्ययुग के लैटिन वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत व्याकरण-विश्लेषण के तथ्यों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रमुख वे दार्शनिक 'मान्यताएं थीं, जिन्हें उन्होंने भाषा के अध्ययन का अंग बना दिया था।

तेरहवीं शती में विद्वत्ता के हर क्षेत्र में बहुमुखी विकास हुआ। यह युग उन महान् विद्वानों का था, जिन्होंने अरस्तू और अन्य ग्रीक दार्शनिकों के नव अधिगत ग्रन्थों से अत्यधिक प्रभावित होकर व्याकरणसमेत सभी विज्ञानों को ऐसे कुछ प्रमेयों के रूप में संक्षिप्त और ग्रथित कर देना चाहा, जिनकी सत्यता प्राथमिक सिद्धान्तों के आधार पर सप्रमाण सिद्ध की जा सकती थी। स्टोइक विद्वानों की भांति ये दार्शनिक भी भाषा को वास्तविकता की संरचना के विश्लेषण का एक साधन मान कर उस के अध्ययन में रुचि ले रहे थे। इसीलिए उनका बल 'अर्थ' या 'संकेत' पर अधिक था, जिसे वे अत्यधिक प्रमुखता देते थे। वास्तव में **'दे मोदिस सिग्नियफिकान्दी'** (अर्थ-संकेत के प्रकार) के नाम से इतने अधिक ग्रन्थ लिखे गए कि उस युग के वैयाकरणों को सामूहिक रूप में **'मोदिस्ताए'** (प्रकारवादी) कहा जाने लगा। विज्ञान के सार्वभौम और अपरिवर्त्ती कारणों को खोजने-सम्बन्धी पाण्डित्यवादी आदर्शों से उत्साहित होकर उन्होंने जानबूझकर **न्याय, मीमांसा** एवं **अध्यात्म** की कोटियों से ही व्याकरण की कोटियों के व्युत्पादन का यत्न किया। दूसरे शब्दों में, उनका प्रयास था कि इन

चारों शास्त्रों को किन्हीं एक ही सामान्य सिद्धान्तों से निकलता सिद्ध किया जाए। यह अवधेय है कि अपने इस प्रयास में वे यह मानकर प्रवृत्त हुए कि **दोनातुस** और **प्रिश्चियन** के ग्रन्थों में उपलभ्य व्याकरणात्मक कोटियां ही सामान्य रूप में विहित थीं। दोनातुस और प्रिश्चियन के सम्बन्ध में उनकी आपत्ति, जो उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट रूप में व्यक्त की, यह नहीं थी कि उन्होंने लैटिन व्याकरण के सत्यों को सही रूप में प्रस्तुत नहीं किया था, बल्कि यह थी कि उन्होंने इनको वैज्ञानिकता के साथ स्पष्ट नहीं किया था। अर्थात्, उन्हें अपने मूल **'हेतुओं'** से निकलता नहीं दिखाया था।

यह काम वैज्ञानिक या 'प्रतिफलनवादी' व्याकरण के ही जिम्मे रहा कि वह उन सिद्धान्तों को खोजे, जिनके द्वारा एक ओर तो शब्द 'संकेत' के रूप में मानवी प्रतिभा से सम्बद्ध है, दूसरी ओर वह उस वस्तु से भी सम्बद्ध है जिसका 'प्रतिनिधित्व' या 'संकेत' वह करता है। यह मान लिया गया कि ये सिद्धान्त सार्वभौम एवं स्थिर हैं; अन्यथा भाषा वास्तविक ज्ञान का वाहन कैसे बन सकती है? इन 'प्रतिफलनवादी' वैयाकरणों की दृष्टि में शब्द अपने द्वारा संकेतित वस्तु की प्रकृति का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि वह उसका प्रतिनिधित्व उसके अस्तित्व के एक विशिष्ट प्रकार—किसी **द्रव्य, क्रिया** या **गुण**—के रूप में, विशिष्ट पदभेदों का रूप धारण करके करता है। अतः व्याकरण **पदभेदों** एवं उनके विशिष्ट 'संकेतन-प्रकारों' के सम्बन्ध में एक 'दार्शनिक सिद्धान्त' मात्र है। (यहां 'स्पैकुलेटिव' (प्रतिफलनात्मक) शब्द अवधेय है। इसे, 'परिकाल्पनिक' के वर्तमान अर्थ में न लेकर, इसकी मूल भावना 'दर्पण' (लैटिन 'स्पैकुलम्') के अर्थ में लेना चाहिए। अर्थात्, इसके अनुसार भाषा भौतिक विश्व की 'घटनाओं' के पीछे छिपी 'वास्तविकता' का **'प्रतिफलन'** देने वाला दर्पण है। इसी भावना में व्याकरण को 'स्पैकुलेटिव' कहा गया। स्टोइक विद्वानों ने भी इसी रूपक का प्रयोग किया है।)

यह कहना अधिक सरल है कि इन पाण्डित्यवादी वैयाकरणों द्वारा अपनाया गया परिभाषा का तरीका बड़ा गोलमाल है, और उनके व्याकरण-सम्बन्धी विचार स्पष्टतः असत्य हैं। हमारी अपेक्षा निश्चय ही वे यह मान लेने को अधिक तैयार थे कि संकेतन के प्रकार निश्चय ही 'जीवन' और 'समझ' के प्रकारों के समरूप है। किन्तु इससे पहले, कि आज की प्रवृत्ति के अनुकरण पर हम भी उनके भाषासम्बन्धी प्रतिफलनों को विचार के अयोग्य कह कर निराकृत करें, यह विचार करना अधिक सावसर होगा कि कहीं तत्कालीन 'पारिभाषिक शब्दावली' ही तो हमें 'अस्वीकार्य' या 'संकुचित' (अव्यापक) प्रतीति नहीं होती? अधोलिखित प्रकार के वक्तव्यों को प्रायः ही स्पष्टतः व्यर्थ और विचार के अयोग्य घोषित कर दिया जाता है: "सब भाषाओं के व्याकरण तत्त्वतः समान ही हैं, **यद्यपि संयोगवश वे भिन्न भी हो सकते हैं"। या, "जो एक भाषा में व्याकरण को जान लेता है, वह अन्यों में भी इसको तत्त्व रूप में जान ही लेता है। यदि वह अन्य भाषाओं को बोल नहीं पाता, या उसके प्रयोक्ताओं को समझ नहीं पाता, तो ऐसा शब्दों और उनकी रूपात्मक भिन्नता**

के कारण होता है। यह भिन्नता व्याकरण के लिए संयोग का ही विषय है।"

इनमें से प्रथम उद्धरण रोजर बेकन (१२१४-९२ ई०) का है और द्वितीय उसी काल के किसी अज्ञात विद्वान् का ! विदेशी भाषाओं के अपने ज्ञान के आधार पर हम इन वक्तव्यों को तुरन्त ही अस्वीकार्य घोषित करना चाहेंगे। हम घोषित कर देते हैं कि निश्चय ही फ्रेंच और अंग्रेज़ी, अथवा रूसी और अंग्रेज़ी, के बीच उपलभ्य व्याकरणात्मक विभेद केवल 'विभक्तिपरक' या गौण नहीं हैं; और व्याकरण के सार्वभौमिकता-सम्बन्धी पाण्डित्यवादी दृष्टिकोण को हम लैटिन की उस विशिष्ट स्थिति का परिणाम कह देते हैं, जो सम्पूर्ण मध्ययुग में व्याप्त रही। इसके अतिरिक्त उन जन-भाषाओं की निम्नतर स्थिति को भी हम इसका एक कारण कह देते हैं, जो या तो लैटिन से ही विनिःसृत हुई थीं, या उससे अत्यधिक प्रभावित हुई थीं। निस्सन्देह लैटिन की लाभान्वित स्थिति 'सार्वभौम व्याकरण' के विकास का एक प्रमुख कारण रही। किन्तु 'पुनर्जागरण' के समय, जनभाषाओं एवं उनके साहित्यिक प्रयोग का आरम्भ होने पर भी, 'सार्वभौम व्याकरण' की इस धारणा को त्यागा नहीं गया। यदि इन्हीं उक्तियों में से 'सत्त्व' (द्रव्य) और 'संयोग' (विभक्ति) जैसे आध्यात्मिक शब्द हटा लिये जाएं, तब इनका सामान्य अभिप्राय इस रूप में रह जाता है : **"सभी भाषाओं के शब्द एक ही से संप्रत्ययों को लिए होते हैं, और सभी भाषाएं एक से पद-भेद और अन्य व्याकरणात्मक विभागों से युक्त होती हैं।"** यह मत सत्य भी हो सकता है और असत्य भी। हम इस पर यथावसर विचार करेंगे (अध्याय ७ और ८)। जिन शब्दों में यह मत यहां प्रस्तुत किया गया है, सम्भव है उन बहुत से विद्वानों को भी यह इस रूप में ग्राह्य लगे, जो पाण्डित्यवाद के बन्धनों से अपनी मुक्ति की घोषणा तारस्वर से करते हैं।

१. २. ८ पुनर्जागरण और उसके बाद

पुनर्जागरण काल के विद्वानों ने निश्चय ही यह समझ लिया था कि वे पाण्डित्यवादी परम्परा से अपना कतई सम्बन्ध-विच्छेद कर रहे हैं। पेट्रार्क तथा उसके अनुयायियों ने विद्यालयों की भाषा की, उसके जंगलीपन के कारण, हंसी उड़ाई, तथा चिचेरो के प्रयोगों को लैटिन की उत्तम शैली का अपना आदर्श स्वीकार किया। चिचेरो से ही उन्होंने 'मानवतावादी' आदर्श को भी ग्रहण किया। 'मानवतावाद' को 'सभ्यता' के अर्थ में, तथा 'जंगलीपन' के विरोध में, स्वीकार किया गया। श्रेण्य प्राचीनता के साहित्य को सभी 'सभ्य' मूल्यों का स्रोत स्वीकार करते हुए, उन्होंने अपनी सारी शक्ति उन आदर्श लेखकों की कृतियों के संचय और प्रकाशन में लगा दी। पन्द्रहवीं शती में मुद्रणविधि के प्रकाश में आने के साथ यह बात और भी बल पकड़ गई। मुद्रण के आविष्कार ने संशुद्ध पाठों के वितरण को व्यापक और शीघ्रतर रूप में सम्भव कर दिया। एक बार फिर साहित्य को समझने में और उत्तम लैटिन लिखने में सहायक बनकर व्याकरण सामने आया। स्वयं ऐरासमुस ने

१५१३ ई० में दोनातुस पर आधारित 'लैटिन वाक्यरचना' (लैटिन सिण्टेक्स) को प्रकाशित किया। ग्रीक का भी गहन अध्ययन होने लगा, और बाद में हिब्रू का भी ! इस प्रकार 'मानवतावादी' ही थे, जिन्होंने भावी पीढ़ियों के विद्वानों को तीन विभिन्न संस्कृतियों की भाषाएँ और साहित्यरचना विरासत में दी।

यूरोप की प्रादेशिक जनभाषाओं ने विद्वानों का ध्यान 'पुनर्जागरण' से भी पहले से ही अपनी ओर खींचना आरम्भ कर दिया था। आज सातवीं शती का **'आयरी भाषा का व्याकरण'**, बारहवीं शती का **'आइसलैण्डी भाषा का व्याकरण'**, तेरहवीं शती का **'प्रोवेंसाल भाषा का व्याकरण'**, ऐल्फ़िक का लैटिन और ऐंग्लो-सैक्सन भाषा का तुलनात्मक व्याकरण, एवं दसवीं शती तक के बास्क-भाषा-संबंधी निष्कर्ष, आदि हमें उपलभ्य हैं। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शती में भ्रमणार्थी अंग्रेजों के लिए फ्रेंच की अनेक व्याकरण-पुस्तिकाएं लिखी गई थीं। पुनर्जागरण की चेतना के साथ ही, जिसका भाषा के क्षेत्र में प्रवेश दान्ते की **'दे वुल्गारी एलोक्वेन्तिया'** (ग्रामीण बोलियां) के साथ हुआ, जनभाषाओं के प्रति रुचि अतिशय रूप में बढ़ी, तथा अत्यधिक संख्या में उनके व्याकरण भी लिखे गए। सत्य तो यह है कि सभी श्रेण्य धारणाएं यूरोप की आधुनिक भाषाओं पर भी लागू की गईं। तब भी 'भाषा' से अभिप्राय 'साहित्यिक भाषा' से ही लिया जाता रहा; तथा 'साहित्य' को जब विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शैक्षणिक अध्ययन का विषय बनाया गया, तब भी उस का अभिप्राय मान्य शैली और विधा में लिखने वाले उत्कृष्ट लेखकों की कृतियों से ही लिया जाता रहा : यथा क्रमशः **वर्जिल** की महाकाव्य-शैली, **होमर** की शैली एवं **सोफ़ोक्लेस** की शैली में लिखने वाले **दान्ते, मिल्टन** एवं **रेसीन** आदि। यह सत्य है कि आजकल साहित्य के प्रति अधिक सन्तोषपूर्ण शैक्षणिक दृष्टिकोण विकसित हो गया है, तथा अब लेखकों को सिकन्दरियाई या पुनर्जागरणी मानदण्डों के आधार पर वर्गीकृत नहीं किया जाता। इस पर भी हमारे विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के भाषा-विभागों में व्याकरण का अध्ययन अब तक तत्त्वतः उसी 'श्रेण्यवादी' परम्परा में चला आ रहा है।

'प्रतिफलनात्मक' व्याकरण के आदर्शों को फ्रांस में 'पोर रोयाल्' के अध्यापकों द्वारा सत्रहवीं शती में पुनरुज्जीवन मिला। सन् १६६० में उन्होंने अपने **"सामान्य और तर्कसंगत व्याकरण"** का प्रकाशन किया, जिसका लक्ष्य यह सिद्ध करना था कि भाषा की संरचना तर्क से जन्म लेती है, तथा विविध मानवी भाषाएं किसी सामान्यतर तर्कसंगत और बुद्धिपरक पद्धति की ही विविध अभिव्यक्तियां हैं। इस व्याकरण का फ्रांस में और बाहर भी अत्यधिक प्रभाव पड़ा, और बाद में 'प्रबोधन-काल' में तो इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ प्रकाश में आए। इन सभी बुद्धिपरक या तर्कसंगत व्याकरणों को 'श्रेण्यवादी परम्परा' की सीमा के भीतर रहकर ही चलना पड़ा, और इसीलिए वे भाषासम्बन्धी कोई नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत न कर सके।

भाषा-सम्बन्धी अध्ययन में श्रेण्यवादी परम्परा के चलते रहने का उन

परिभाषाओं से बढ़कर और कौनसा ज्वलन्त प्रमाण हो सकता है, जो फ्रेंच अकादमी के शब्दकोष और व्याकरण के १९३२ के अत्याधुनिक संस्करणों तक में पाई जाती हैं। यह अकादमी, १६३२ में रिशेलिऊ द्वारा स्थापित होने के समय से ही, फ्रेंच भाषा के व्याकरण और शब्दकोष की आधिकारिक स्थापना में व्यापृत रही है। इनमें **व्याकरण** की परिभाषा **'शुद्धता से बोलने और लिखने की कला'** के रूप में की गई है। इसका उद्देश्य भाषा के विविध अवयवों को जोड़ने वाले 'सम्बन्धों' को पहचानना है; फिर भले ही वे 'प्राकृतिक' हों या 'रूढ़िगत'! **'वैयाकरण का कार्य'** बताया गया है: "अच्छे प्रयोगों का वर्णन", अर्थात् उन शिक्षित लोगों और लेखकों की भाषा का वर्णन जो **'शुद्ध'** फ्रेंच में लिखते हैं; तथा इस 'अच्छे प्रयोग' वाली **'शब्दराशि'** की विदेशी शब्दों, पारिभाषिक संज्ञाओं और बोलियों से, एवं व्यवसाय, उद्योग, क्रीडा, विज्ञापन, आदि की शंकास्पद आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए निरन्तर घड़ी जा रही जंगली शब्दराशि जैसे **असाधुता के सभी कारणों** से, रक्षा करना। साथ ही, व्याकरण के नियमों के विषय में कहा गया: 'ये यादृच्छिक न होकर मानव-मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों से व्युत्पन्न होते हैं।'

अंग्रेज़ी भाषा के आधिकारिक प्रयोगों को स्थिर करने का उत्तरदायी कोई ऐसा शासकीय संगठन नहीं है। कुछ भी हो, आंग्लभाषी देशों में भी फ्रेंच अकादमी द्वारा अभिव्यक्त उक्त विचार, जिनका उद्गम ग्रीस और सिकन्दरिया में खोजा जा सकता है, फ्रांस की अपेक्षा कम मान्य और कम प्रचलित नहीं हैं।

श्रेण्य और पाण्डित्यवादी वैयाकरणों के वास्तविक अनुयायी वे नहीं हैं जो आदर्श व्याकरण के समग्र ढांचे को ज्यों-का-त्यों बनाए रखना चाहते हैं, बल्कि वे हैं जो भाषा की प्रकृति और उसके कार्य के सम्बन्ध में अधुनातम वैज्ञानिक विचारणा के प्रकाश में उन्मुक्त, किन्तु आलोचक, गवेषणा करते रहते हैं, तथा इस विषय में भाषाओं और संस्कृतियों से सम्बद्ध सम्प्रति उपलभ्य व्यापकतर ज्ञान की सहायता लेते हैं। जैसा कि हम इस पुस्तक में यथावसर पाएंगे, भाषा की संरचना के सम्बन्ध में श्रेण्य वैयाकरणों द्वारा प्राप्त बहुत-सी अन्तर्दृष्टियां बहुत मूल्यवान् और उद्घाटक हैं; यद्यपि सामान्यतर और अनुभवगम्य शब्दावली में उनकी व्याख्या पुनः करने की आवश्यकता अब भी बनी हुई है।

१. २. ६ ग्रीक-रोमीय परम्परा का व्यापकतर प्रभाव

इस खण्ड में 'परम्परागत व्याकरण' शब्द को प्रथानुसार भाषात्मक विश्लेषण एवं भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों की उस परम्परा को सूचित करने के लिए प्रयोग किया गया है, जिसका उद्गम ग्रीस में हुआ, जिसका विकास रोम और मध्ययुगीन यूरोप में हुआ, तथा जिसका प्रयोग जनभाषाओं के अध्ययन के हेतु 'पुनर्जागरण' और उसके बाद के काल में हुआ। इसे हम सुविधा के लिए **'भाषात्मक विश्लेषण की ग्रीक-रोमीय परम्परा'** कह सकते हैं। पुनर्जागरण से भी पूर्व, इस परम्परा

का प्रभाव कुछ-यूरोपीय भाषाओं के विवरणों पर भी पड़ा। दायोनीसियस थ्रैक्स के व्याकरण का अनुवाद आर्मीनिया की भाषा में पांचवीं शती में हुआ, और उसके कुछ समय बाद सीरिया की भाषा में ! क्रमशः अरब वैयाकरणों ने सीरिया का आश्रय लिया । बाद में वे स्पेन में इस ग्रीक-रोमीय परम्परा के प्रत्यक्ष सम्पर्क में भी आए। इन अरब वैयाकरणों का प्रभाव हिब्रू के वैयाकरणों पर पड़ा । अतः यह स्वाभाविक ही था कि 'पुनर्जागरणकाल' में यूरोपीय विद्वानों के ध्यानाकर्षण से पूर्व ही **आर्मीनिया, सीरिया, अरबी** एवं **हिब्रू** भाषाओं के देशज व्याकरण ग्रीक-रोमीय परम्परा से प्रभावित हो चुके थे ।

१. २. १० भारतीय परम्परा

आगामी खण्ड में 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' के युग पर विचार में प्रवृत्त होने से पूर्व व्याकरणात्मक विश्लेषण की एक अन्य परम्परा पर भी हमें ध्यान देना चाहिए, जिसका पर्याप्त प्रभाव आधुनिक भाषाशास्त्र के विकास पर पड़ा है : यह है **भारतीय परम्परा ।**

भारतीय परम्परा उक्त ग्रीक-रोमीय परम्परा से केवल स्वतन्त्र ही नहीं है, बल्कि वह **प्राचीनतर, विविध अभिव्यंजनामय** और कुछ क्षेत्रों की अपनी उपलब्धियों में **उत्कृष्टतर** भी है । भारतीय वैयाकरणों में 'श्रेष्ठतम' के रूप में स्वीकृत **पाणिनि** (चतुर्थ शती ईसापूर्व ?) ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों का बड़ी संख्या में उल्लेख किया है; और ऐसा माना जासकता है कि वह स्वयं एक ऐसी परम्परा में कार्य कर रहे थे, जिसका आरम्भ उनसे कई सदी पूर्व हो चुका था । जहां तक भारतीय व्याकरण की विविधता और व्यापकता का प्रश्न है : व्याकरण-सिद्धान्तों के क्षेत्र में भारतीय परम्परा में लगभग बारह भिन्न-भिन्न व्याकरण-सम्प्रदाय स्वीकार किये गए हैं, जिनमें से अधिकांश कुछ मात्रा तक पाणिनि पर ही आश्रित हैं । इसके अतिरिक्त लगभग सहस्राधिक व्याकरण ग्रन्थ व्यक्तिशः सुरक्षित हैं ।

यद्यपि भारतीय और ग्रीक-रोमीय व्याकरण, हमारी समझ में, एक-दूसरे पर अनाश्रित रह कर विकसित हुए, फिर भी उनके उद्भव और विकास में हमें समानता के अनेक स्थल दिखाई देते हैं । ग्रीस की ही भांति भारत में भी भाषा की 'प्राकृतिक' और 'रूढ़' स्थिति को लेकर विवाद चला था । सिकन्दरिया के विद्वानों ने जिस प्रकार अतीत के आदर्श ग्रन्थों के विचार-प्रसंग में शब्दावलियों और टीकाओं की रचना ऐसे शब्दों या प्रयोगों की व्याख्या के लिए की थी, जिनका प्रचलन समकालीन ग्रीस की भाषा में नहीं रह गया था, भारतीय वैयाकरणों ने भी सदियों पूर्व रची गई आर्यों की उन पवित्र धर्मपुस्तकों से सम्बद्ध शब्दावलियों और टीकाओं की रचना की; जिनमें प्राचीनतम वेद-मन्त्र हैं । यह भी कहा जाता है कि संस्कृत में भी 'नाम' और 'आख्यात' के बीच वही विभेद स्वीकार किया गया, जो प्लेटो ने ग्रीक में स्वीकार किया था; अर्थात् **कर्त्ता** और **विधेय** के बीच स्वीकृत विभेद के रूप में ।

(संस्कृत वैयाकरणों ने दो अन्य पदभेदों को भी पहचान लिया था, जिन्हें हम 'उपसर्ग' और 'निपात' के रूप में कह सकते हैं।)

दो दृष्टियों से भारतीय भाषाध्ययन पश्चिम के परम्परागत व्याकरण की अपेक्षा उत्कृष्टतर कहा जासकता है : प्रथम 'ध्वनिविज्ञान' (फ़ोनेटिक्स) की दृष्टि से, और द्वितीय शब्दों की आन्तरिक रचना के अध्ययन की दृष्टि से। भारतीय व्याकरण का उद्भव इस आवश्यकता से हुआ दीखता है कि वेदों के पाठ के साथ-साथ उनके उच्चारण को भी यथापूर्व सुरक्षित रखा जा सके; क्यों कि आर्य-कर्मकाण्ड में उनका शुद्ध और पूर्ण पाठ, उनकी प्रभावकता की दृष्टि से, अनिवार्य माना गया है। वाणी की ध्वनियों का भारतीय वर्गीकरण उससे अधिक विस्तृत, शुद्धतर एवं निरीक्षण और प्रयोग पर अधिक दृढ़ता के साथ आधारित है, जितना यूरोप में या अन्यत्र कहीं भी, उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण से पूर्व तक, होना सम्भव हुआ था। इसी समय, पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों के आविष्कार एवं अनुवाद के कारण, यूरोप का ध्वनि-विज्ञान उनसे अत्यधिक प्रभावित हुआ। शब्द-विश्लेषण करते हुए भारतीय वैयाकरण, धर्मपुस्तकों की भाषा को संरक्षित करने के अपने मूल उद्देश्य के लिए, आवश्यकता से अधिक सीमा तक दूर निकल गए। और वास्तव में पाणिनि का व्याकरण केवल वैदिक भाषा के प्रति ही अर्पित नहीं है; बल्कि यह अपने समय की भाषा के प्रति भी अर्पित है।

जहां तक, शब्द-संरचनासम्बन्धी अपने स्वीकृत प्रमुख उद्देश्य की तुलना में, इसकी व्यापक सम्पूर्णता का सम्बन्ध है, तथा जहां तक इसकी आन्तरिक संगति एवं वक्तव्य-लघुता का सम्बन्ध है, संस्कृत के पाणिनीय व्याकरण को बहुधा आज तक लिखे गए किसी भी भाषा के किसी भी व्याकरण की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट घोषित किया गया है। इस व्याकरण का मुख्य भाग, जो अत्यधिक पारिभाषिक है तथा जिसकी व्याख्या केवल पाणिनि के अनुयायियों की टीकाओं के सहारे ही समझी जासकती है, लगभग चार हज़ार सूत्रों (नियमों) से बना है, जिनमें से कुछ तो अत्यन्त लघु हैं। इसके अंगरूप में 'धातुपाठगणपाठादि' का भी विधान है, जिनका संकेत सूत्रों में जगह-जगह पर विद्यमान है। इसके सूत्र एक ऐसे क्रम में व्यवस्थित हैं, जिससे किसी भी परवर्त्ती सूत्र का क्षेत्र अपने पूर्ववर्त्ती सूत्रों के द्वारा निश्चित या प्रतिबद्ध होता है। 'लघु संज्ञाओं' और प्रतीकों के द्वारा और भी संक्षेप बरता गया है।

जसा कि हम अगले ही खण्ड में देखेंगे, पश्चिम के विद्वानों द्वारा संस्कृत का आविष्कार उन्नीसवीं शती में होने वाले 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' के विकास में एक प्रमुख निमित्त बना। इसका महत्त्व केवल इतना ही नहीं है कि इससे संस्कृत भाषा का परिचय मिला, बल्कि यह भी कि हमें इससे संस्कृत की व्याकरणात्मक परम्परा के सम्पर्क में आना मिला। उन्नीसवीं शती के भाषा-सम्बन्धी अध्ययन के ऐसे अनेक पहलू हैं, जिन्हें स्पष्टतः भारतीय व्याकरण के सैद्धान्तिक या व्यावहारिक

पक्ष से लिया गया है। बल्कि कुछ अत्याधुनिक भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों तक में सुस्पष्टता, सम्बद्धता और लघुता के त्रिसूत्री सिद्धान्तों का प्रभाव पहले से भी अधिक स्पष्ट रूप में देखा जासकता है।

१. ३ तुलनात्मक भाषाविज्ञान

१. ३. १ भाषा-परिवार

यह एक सुविदित तथ्य है कि भिन्न-भिन्न भाषाएं भिन्न-भिन्न मात्रा में एक-दूसरे के समरूप प्रतीत होती हैं। बहुत सामान्य रूप में हम यह कह सकते हैं कि भाषाओं के बीच यह समानता दो प्रकार की होसकती है: **शब्दराशि-सम्बन्धी** और **व्याकरणात्मक संरचनासम्बन्धी**। उदाहरणार्थ, यदि हम **अंग्रेजी** और **जर्मन** भाषा की तुलना करें, तब हम पाएंगे कि इन भाषाओं की दैनिक प्रयोग में आनेवाली शब्दावली के हर अंश में इस प्रकार के अनेक शब्द हैं, जो आकृति एवं अर्थ की दृष्टि से तत्सम हैं: यथा, son : Sohn; mother : Mutter ; brother : Bruder ; six : sechs ; seven : sieben ; have : habe ; must : muss ; can : kann ; आदि !

अंग्रेज़ी और रूसी के बीच शब्दराशिगत समता के उदाहरण पर्याप्त कम हैं। किन्तु, आधुनिक अन्तरराष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दावली को छोड़कर **अंग्रेज़ी एवं तुर्की** तथा **अंग्रेज़ी एवं चीनी** भाषा के बीच तो ऐसे साम्य के उदाहरण बिल्कुल ही नगण्य मिलेंगे। फिर, जिन भाषाओं का हमने उल्लेख किया है, उनमें शब्दराशिगत समता की मात्रा व्याकरणगत समता की मात्रा से समर्थित या अनुगत होती है। रूसी और अंग्रेज़ी की अपेक्षा जर्मन और अंग्रेज़ी भाषाएं व्याकरणात्मक संरचना की दृष्टि से अधिक तत्सम हैं। अंग्रेज़ी और तुर्की एवं अंग्रेजी और चीनी के बीच ऐसी समता है ही नहीं। ये तथ्य अनुभव और निरीक्षण के विषय हैं, तथा किसी भी भाषा की सामान्य परीक्षा में प्रवृत्त, या उसे सीखने के इच्छुक, किसी भी व्यक्ति के सामने तत्काल ही स्पष्ट हो जाते हैं। इन तथ्यों को यह कह कर प्रकट किया जाता है: **अंग्रेज़ी और जर्मन** परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं; **अंग्रेज़ी और रूसी** में कुछ दूर का सम्बन्ध है; तथा **अंग्रेज़ी और तुर्की** अथवा **अंग्रेज़ी और चीनी**, जहां तक हम कह सकते हैं, एक-दूसरे से नितान्त असम्बद्ध हैं।

भाषावैज्ञानिक प्रथा के अनुसार इस प्रसंग में **'सम्बन्ध'** शब्द का प्रयोग भाषाओं के बीच ऐतिहासिक या जन्मगत सम्बन्ध की सूचना के लिए किया जा रहा है। किन्हीं दो भाषाओं को परस्पर सम्बन्धित कहने का अर्थ यह बताना है कि उनका विकास किसी एक ही पूर्वतर भाषा से हुआ है। इसीको एक अन्य रूप में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि वे भाषाओं के किसी एक ही परिवार से

सम्बद्ध हैं। यूरोप की अधिकांश, और एशिया की अनेक, भाषाएँ 'भारत-यूरोपीय' या 'भारोपीय' नाम से विख्यात परिवार से सम्बद्ध हैं। इस व्यापकतर परिवार के अन्तर्गत अनेक शाखाएँ या उप-परिवार हैं। यथा, **जर्मन परिवार :** जर्मन, अंग्रेजी, डच, स्वीडी, आदि भाषाओं से मिलकर बना हुआ; **रोमानी या लातीनी परिवार :** फ्रेंच, इतालवी, स्पेनी, आदि से बना; **ग्रीक-परिवार; भारत-ईरानी :** मध्ययुगीन एवं आधुनिक वंशज भाषाओं समेत संस्कृत एवं फ़ारसी से बना; **केल्टिक-परिवार :** आयरी, स्कॉटी, वेल्सीय, ब्रेटन, आदि से बना; इत्यादि। व्यक्तिगत भाषाओं की तो बात ही क्या, यह सूची विशिष्ट शाखाओं तक की दृष्टि से नितान्त अपूर्ण है। पर इससे पाठक को भारत-यूरोपीय परिवार की व्यापकता और विस्तार का कुछ आभास हो जाएगा। कुछ अन्य प्रमुख भाषा-परिवार हैं : **सैमेटिक** या सामी (हिब्रू, अरबी, आदि), **फिन्नो-उग्री** (फिन्नी, हंगरीय, आदि), **बन्तू** (स्वाहिली, किकुयू, जूलू, आदि), **अल्ताइक** (तुर्की, आदि), **चीनी-तिब्बती** (चीनी, तिब्बती, आदि), तथा **अल्गोंक्विनी** (अनेक अमरीकी आदिम भाषाओं समेत)।

उन्नीसवीं शती के भाषाविज्ञानियों की सबसे प्रमुख उपलब्धि यह थी कि उन्होंने उन सिद्धान्तों और विधियों को स्थापित किया, जिनसे उक्त तथा अन्य भाषापरिवारों का निर्माण हो सका। इससे भी बड़ी उपलब्धि उनकी यह थी कि उन्होंने भाषागत परिवर्तन एवं भाषात्मक सम्बन्धों के विषय में सामान्य सिद्धान्त विकसित किए। 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' (कम्पेरेटिव फ़िलोलौजी) संज्ञा, जिसे कि हम भाषाविज्ञान के इस काल के लिए तथा इसके विशिष्ट लक्ष्यों एवं विधियों को सूचित करने के लिए प्रयोग करेंगे, एक ऐसी संज्ञा है, जिसने 'तुलनात्मक व्याकरण' जैसी पुरानी और कम सन्तोषप्रद संज्ञा का स्थान उन्नीसवीं शती में ही ले लिया था, तथा जो आज के भाषाविदों द्वारा स्वतः कम प्रयुक्त होकर भी (क्योंकि वे इसे 'तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान' (कम्पेरेटिव एण्ड जनरल लिंग्विस्टिक्स) कहना अधिक पसन्द करते हैं), भाषाविषयक ग्रन्थों में प्रायशः प्रयुक्त मिलती है, तथा कई अन्य अनुपयुक्त 'संज्ञाओं' की भांति विश्वविद्यालयीय पीठों, विभागों एवं निर्धारित पाठ्यक्रमों के नाम में भी स्थायित्व ग्रहण कर चुकी है। मुख्य अवधेय बात यह है कि '**फ़िलोलौजी**' या भाषाविज्ञान का इस सन्दर्भ में पाठालोचन और साहित्यिक पाण्डित्य के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। वे दोनों अध्ययन की सर्वथा भिन्न शाखाएँ हैं। उनके लिए भी 'फ़िलोलौजी' या 'भाषाविज्ञान' संज्ञा का प्रयोग किया जाता है; यद्यपि यूरोप की तुलना में इनका इस अर्थ में प्रयोग ब्रिटेन और अमरीका में प्रायः कम ही होता है।

१. ३. २ 'वैज्ञानिक' भाषाविज्ञान

प्रायः ही यह कहा जाता है कि उन्नीसवीं सदी में यूरोप में भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का आरम्भ हुआ। यह बात सत्य भी है, यदि हम 'वैज्ञानिक' शब्द

का वही अर्थ लें जिसमें वह आज समझा जाता है। यह प्रक्रिया उन्नीसवीं शती के मध्य से आरम्भ हुई, जब भाषा-विषयक तथ्यों की सावधानतापूर्वक वस्तुपरक छानबीन होने लगी और उनकी व्याख्या आगमात्मक प्राक्कल्पनाओं की सीमाओं में की जाने लगी। यह नहीं भूलना चाहिए कि 'विज्ञान' के प्रति यह धारणा अत्याधुनिक उपलब्धि है। 'पोर रोयाल्' के पाण्डित्यवादियों और उनके दार्शनिक उत्तराधिकारियों का परिकल्पनात्मक व्याकरण, निश्चित ज्ञान के सम्बन्ध में उनकी अपनी धारणा के अनुसार, 'वैज्ञानिक' कहा जासकता है। भाषाओं के स्वरूप के औचित्य के विषय में उनका सकारण निदर्शन उन सिद्धान्तों पर आश्रित था, जिन्हें वे सार्वभौम रूप से उचित समझते थे। भाषासम्बन्धी प्रश्नों पर इस दृष्टिकोण वाली विचारपद्धति में एवं तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अत्यन्त सफल युग को जन्म देने वाली विचारपद्धति में अन्तर इस बात में नहीं था कि परवर्त्ती विचारपद्धति 'तथ्यों' के प्रति अधिक आदरवान् और उनके निरीक्षण एवं संग्रह में अधिक सतर्क थी (यह तो परिणाम था, न कि कारण); बल्कि उनमें अन्तर इस बात में था कि अठारहवीं शती के अन्त तक 'पूर्वस्थापित' एवं तथाकथित 'तर्कसंगत' व्याख्याओं के प्रति एक सामान्य असन्तोष विकसित हो चुका था तथा ऐतिहासिक युक्तिक्रम को प्राथमिकता दी जाने लगी थी।

१. ३. ३ विकासवादी दृष्टिकोण

ऐतिहासिक दृष्टिकोण को अपनाने में परिणत होने वाला यह दृष्टि-परिपरिवर्त्तन केवल भाषाध्ययन के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा। 'पूर्वस्थापित युक्तिक्रम' का उपसंहार सर्वप्रथम तथाकथित 'प्राकृतिक विज्ञानों' के सम्बन्ध में हुआ। तब इस प्रवृत्ति का प्रसार 'मानवीय' संस्थाओं तक हो गया। यह देखा गया कि विधि, प्रथा, धार्मिक रिवाज़, आर्थिक एवं सामाजिक वर्ग और भाषा, आदि सभी संस्थाएँ निरन्तर परिवर्त्तनशील हैं। तब इन संस्थाओं के किसी विशिष्ट काल की स्थिति की, किन्हीं 'निरपेक्ष सिद्धान्तों' के आधार पर, व्याख्या करने की पद्धति को असन्तोष की दृष्टि से देखा जाने लगा। बल्कि यह माना जाने लगा कि उनका विकास परिवर्त्तित हो रही बाह्य परिस्थितियों को अपनाते हुए, अपने से पूर्व किसी भिन्न स्थिति से, हुआ है। इतिहास के सम्बन्ध में सामान्य ईसाई परम्परा की **'ईश्वरेच्छा-सम्बन्धी धारणा'** का प्रतिवाद अधिकाधिक होने लगा, और उसका स्थान मानवीय प्रगति के सम्बन्ध में **विकासवादी** एवं **धर्मनिरपेक्ष** सिद्धान्तों ने ले लिया।

१. ३. ४ भाषाओं का व्यापकतर दायरा

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि 'पुनर्जागरण' ने ग्रीक, लैटिन और हिब्रू के अध्ययन को अधिक सघन करने के अतिरिक्त यूरोप की समकालीन भाषाओं के प्रति भी पहले से कहीं अधिक रुचि को काफ़ी पहले ही जागृत कर दिया था।

सोलहवीं शती से ही शब्दकोषों और निदर्शक पाठों के संग्रह, अधिकाधिक भाषाओं के दृष्टान्तों को लिए हुए, प्रकाशित होने लगे। इनमें, सीमित रूप में ही सही, मध्यपूर्व और दूरपूर्व की भाषाओं के साथ-साथ आदिम अमरीकी भाषाओं के भी निदर्शन अन्तर्हित होते थे। भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण की दिशा में अनेक प्रयास किए गए थे। किन्तु इनमें से अधिकांश इस पूर्वाग्रह से प्रेरित थे कि क्योंकि 'हिब्रू' ईसाइयों के 'ओल्ड टेस्टामैण्ट' (प्राचीन धर्मादेश) की भाषा है, अतः वही एकमात्र ऐसा स्रोत है, जिससे विश्व की अन्य समस्त भाषाएँ निकली हैं।

१. ३. ५ स्वच्छन्दतावाद

भाषा के अध्ययन के प्रसंग में विशिष्ट महत्त्व की बात थी, अठारहवीं शती के अन्त पर विकसित होने वाली **स्वच्छन्दतावाद** की नवीन भावना, विशेषकर जर्मनी में; जिसका आरम्भ पूर्वयुग के श्रेण्यवाद और प्रतिबद्ध बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। इस आन्दोलन के नेताओं ने इस दृष्टि का परित्याग कर दिया कि साहित्यिक उत्कृष्टता के प्रतिमान श्रेण्य-परम्परा ने सदा के लिए स्थापित कर दिए हैं। जर्मनी की प्राचीनता के प्रति उनकी रुचि ने गॉथिक, प्राचीन उच्च जर्मन, प्राचीन नॉर्स, आदि प्राचीनतर जर्मन भाषाओं की पाठ्यपुस्तकों और शब्दावलियों के निर्माण में परिणति पाई। हेर्डेर (१७४४-१८०३) ने स्थापना की कि भाषा और राष्ट्रीय चरित्र के बीच एक आन्तरिक सम्बन्ध होता है। उनके अनुसरण पर प्रख्यात राजनीतिज्ञ और बहुमुखी प्रतिभाशाली विद्वान् **विल्हेल्म फ़ॉन हम्बोल्ट** (१७६७-१८३५) ने यह कहकर इस धारणा को अधिक सुनिश्चित रूप दिया कि प्रत्येक भाषा की अपनी विशिष्ट संरचना होती है, जोकि अपने प्रयोक्ता जनगण की विचार एवं अभिव्यक्ति की पद्धति को प्रतिफलित भी करती है तथा उसे दिशानिर्देश भी देती है। राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय चरित्र के बीच विद्यमान सम्बन्ध के इस विश्वास ने, जोकि जर्मनी में दृढ़ता से जम गया, बाद में उन बहुत-सी भ्रामक और अतिवादी परिकल्पनाओं को जन्म दिया, जिनमें **'राष्ट्र'** और **'भाषा'** से सम्बन्धित धारणाएँ नितान्त उलझ गई थीं; विशेषकर **'आर्य'** शब्द के सम्बन्ध में। हम जिस युग की चर्चा कर रहे हैं, उसमें इस धारणा ने केवल जर्मन भाषा में प्राचीनतर अवस्थाओं के प्रति ही रुचि जागृत नहीं की, बल्कि स्वयं भाषात्मक विविधता के सम्बन्ध में अधिक सामान्य उत्साह एवं 'असभ्यतम' भाषाओं समेत सभी विश्वभाषाओं के सम्बन्ध में उनकी अपनी ही सीमाओं के भीतर विचार में प्रवृत्त होने की उत्सुकता भी जागृत की। यह केवल संयोग की ही बात नहीं है कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान के जनकों में जर्मन विद्वानों का स्थान सर्वोच्च है।

१. ३. ६ संस्कृत का आविष्कार

अठारहवीं शती के अन्त पर यह सत्य अनावृत हुआ कि भारत की प्राचीन एवं पवित्र भाषा **संस्कृत** ग्रीक, लैटिन तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं से सम्बद्ध

है। इस सत्य को कई विद्वानों ने परस्पर अनाश्रित रूप में अनावृत किया। इनमें से सर्वाधिक प्रभावसम्पन्न थे ब्रिटिश पुरातत्त्वविद् **सर विलियम जोन्स**, जिन्होंने सन् १७८६ में अपनी वह घोषणा की थी, जो अब सर्वप्रसिद्ध हो चुकी है : जिसके अनुसार ग्रीक और लैटिन के साथ संस्कृत की "**सुदृढ़ समानता धातुमूलों और व्याकरणात्मक रूपों में इतनी अधिक है कि उसे संयोग की ही बात नहीं माना जा सकता। यह समानता इतनी सबल है कि कोई भी भाषाविद् उन्हें ऐसे किसी एक ही मूल से उद्भूत माने बिना उनकी परीक्षा में प्रवृत्त नहीं हो सकता, जो कदाचित् अब विद्यमान नहीं रहा।**" श्रेण्य पद्धति में प्रशिक्षित पाश्चात्य विद्वानों के मस्तिष्क में इस अनावरण ने कितनी उत्तेजना और आश्चर्य की भावनामिश्रित चकाचौंध भर दी होगी, इसकी कल्पना कठिन नहीं है। ग्रीक और लैटिन में विद्यमान समताओं से वे बहुत पहले से परिचित थे। साथ ही वे सुदृढ़ और स्थायी राजनैतिक और सांस्कृतिक बन्धनों से भी परिचित थे, जिन्होंने ग्रीस और रोम को एकीभूत कर रखा था। उन्होंने सम्भवतः दोनों भाषाओं की समानताओं का हेतु भी इन्हीं बन्धनों को मानकर सन्तोष कर लिया था। अठारहवीं शती के अन्त तक विद्वानों के लिए विविध संरचना वाली भाषाओं के सम्बन्ध में ऐसी पर्याप्त सूचना उपलब्ध हो गई, जिससे वे तत्काल ही यह अनुभव कर सकें कि यूरोप की श्रेण्य अपिवा आदर्श भाषाओं और संस्कृत के बीच पाई गई समानताएँ इतनी चमत्कारी हैं कि उनकी व्याख्या की आवश्यकता अनिवार्य है।

१. ३. ७ भारत-यूरोपीय (भारोपीय) भाषाओं का महत्त्व

भारोपीय भाषाओं के क्षेत्र में हुए अनावरणों से एक बार विद्वानों की कल्पना के प्रबुद्ध हो जाने एवं तथाकथित 'तुलना के सुदृढ़ सिद्धान्तों' के विकास के कारण उनकी स्थायी रुचि जग जाने के बाद यह स्वाभाविक ही था कि वे अपना ध्यान अन्य भाषापरिवारों के विनिर्धारण में भी लगाते; जिनमें से कुछ को हमने ऊपर गिनाया है। इस पर भी, भाषाओं के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन में भारोपीय परिवार का सदा ही प्रमुख और गौरवपूर्ण स्थान रहा है, और रहेगा भी। ऐसा भारोपीय भाषाओं की किसी अन्तर्निहित या स्वगत विशेषता के कारण नहीं है। इसका कारण यह है कि इस परिवार की बहुत सी भाषाओं में अतिप्राचीन लिखित सामग्री विद्यमान है। यह प्राचीनता सैकड़ों से लेकर हज़ारों वर्षों तक व्याप्त है। क्योंकि सम्बद्ध भाषाएँ अधिकांशतः किसी एक ही प्राचीन भाषा से विनिःसृत विविध रूप हैं, अतः हम जितना ही प्राचीनता की ओर जाएँगे तुलनीय भाषाओं में अन्तर उतना ही कम होता हुआ पाएँगे। यद्यपि भारोपीय परिवार के भाषावैज्ञानिक सम्बन्ध आधुनिक बोलचाल की भाषाओं के साक्ष्य के आधार पर भी प्रदर्शित किए जा सकते हैं, तब भी इनके सम्बन्धों का विस्तृत विवरण प्राचीन पाठों की सहायता के बिना देपाना निश्चय ही सम्भव नहीं है।

१. ३. ८ आगत शब्द

अब तक का हमारा वक्तव्य यह आभास दे सकता है कि मानों शब्दराशि और व्याकरण में समता की एक निश्चित मात्रा—संयोगवश प्राप्त मात्रा से कहीं अधिक—ही भाषाओं के सम्बन्ध का पर्याप्त प्रमाण है। कदाचित् ऐसा मानना अत्यधिक भोलेपन का परिचायक होगा; क्योंकि इसमें उस प्रक्रिया का कोई उल्लेख नहीं है, जिसे कदाचित् भ्रमवशात् पारिभाषिक रूप में **'आदान'** कहा जाता है। यह एक सुविदित तथ्य है कि भौगोलिक या सांस्कृतिक सम्पर्क वाली भाषाएं प्रायः उन्मुक्तता से एक-दूसरे से शब्द 'उधार' लेती हैं; क्योंकि शब्दों की यह प्रवृत्ति होती है कि वे भौगोलिक और भाषागत सीमाओं को, अपने द्वारा संकेतित वस्तु या प्रथा के साथ-साथ, पार कर जाते हैं। अतः यह सम्भव है कि शब्दावली की अधिकांश समानता परस्पर आदान-प्रदान के कारण, अथवा किसी तीसरी भाषा से उन दोनों के समान आदान के कारण, भी हो। इस दृष्टिकोण की पुष्टि आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में लैटिन और ग्रीक मूल से आई विस्तृत शब्दराशि की उपलब्धि से हो सकती है। (यह अवधेय है कि यदि **'आगत'** के अन्तर्गत उन शब्दों को भी गृहीत किया जासकता है, जिन्हें, प्रत्यक्षतः श्रेण्य ग्रीक या लैटिन से न लेकर, जानबूझकर उन दोनों के अंशों के मिश्रण से अभी हाल वर्षों में ही घड़ा गया है; तब हमें कहना होगा कि **टेलीफ़ोन, टेलीविजन, ऑटोमोबाइल, सिनेमा,** आदि नवीन आविष्कारों के नाम तथा अधिकांश वैज्ञानिक शब्दावली अप्रत्यक्षतः ग्रीक और लैटिन से ही आगत है।) विविध आधुनिक यूरोपीय भाषाओं के शब्दों के बीच अनेक स्पष्टतर समानताओं की व्याख्या श्रेण्य भाषाओं से हुए इस 'आदान' के माध्यम से ही की जासकती है। फिर, इन भाषाओं में आपसी आदान-प्रदान भी विविध मात्रा में और विविध कालों में होता रहा है; तथा आज भी हो रहा है।

सम्बद्ध भाषाओं एवं यूरोपीय संस्कृति के सामान्य विकास के अपने ज्ञान के कारण हमें आधुनिक यूरोपीय भाषाओं की शब्दराशि में पाए जाने वाले ऐसे अधिकांश 'आगत' शब्दों को पहचानने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। वैसे यह स्पष्ट है कि यदि हम 'आगत शब्दों' को पहचानने में समर्थ न होते, और अपनी गणना में उनका ध्यान न रखते, तब विचारणीय भाषाओं के आपसी सम्बन्ध-सूत्रों को हम अतिरंजित रूप में मान बैठते। तुलनात्मक भाषाविज्ञान के जन्मदाता इस बात से तो भली-भांति परिचित थे कि शब्द एक भाषा से दूसरी भाषा में आसानी से पहुँच जाते हैं; किन्तु इन्हें शेष शब्दावली से पृथक् करके पहचानने का कोई सुनिश्चित तरीका उन्हें ज्ञात न था। इसी कारण वे भाषागत सम्बन्धों के साक्ष्य के रूप में व्याकरणात्मक समानताओं पर अधिक विश्वास करते थे। शब्दगत साम्य की दुहाई देने में भी वे अत्यन्त सतर्क थे। उनका बल उन शब्दों की समानता खोजने पर ही था, जो सम्बद्ध भाषाओं की मूलागत शब्दराशि में पाए जाते हैं। अर्थात्, ऐसे नितान्त अनिवार्य शब्द, जो बहुत आरम्भ में ही सीखलिए जाते हैं और निरन्तर

प्रयुक्त किये जाते हैं। अब हम यह भी जानते हैं कि किसी भाषा का व्याकरण अन्य किसी ऐसी भाषा के व्याकरण से प्रभावित होसकता है, जिसके सम्पर्क में यह आई हो ! और, यद्यपि इस बात से निषेध नहीं किया जासकता कि तथाकथित 'सांस्कृतिक' शब्द अन्य शब्दों की अपेक्षा शीघ्र ही आदान-प्रदान का विषय बन जाते हैं, फिर भी यह सन्देहास्पद है कि ऐसी किसी विशिष्ट शब्दराशि को इतना 'मूलागत' स्वीकार किया जासकता हैं कि उसका स्थान 'आगत' शब्द न ले सकते हों ! लेकिन यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। क्योंकि जिन भाषाओं का, तुलनात्मक दृष्टिकोण से, अत्यधिक सफलता के साथ परीक्षण होचुका है, उनके सम्बन्ध में '**समानता**'की इस अस्पष्ट धारणा का स्थान '**पद्धतिबद्ध अनुकारिता**' ने ले लिया है, जिसकी अधिक सूक्ष्म व्याख्या अभी अपेक्षित है।

१. ३. ९ 'ग्रिम'-नियम

विविध भाषाओं के तुल्यरूप शब्दों की ध्वनियों के बीच '**पद्धतिबद्ध अनुकारिता**' के उदाहरण अत्यन्त आरम्भिक तुलनात्मक भाषाविज्ञानियों द्वारा भी पाए गए थे। उदाहरणार्थ, सन् १८२२ में, **रैस्मस रैस्क** नाम के डेनिश विद्वान् के अनुकरण पर चलते हुए, **याकोब ग्रिम** ने पाया कि जर्मन वर्ग की भाषाओं में प्रायः निम्न बातें पाई जाती हैं :

(१) ग्रीक, लैटिन, आदि अन्य भारोपीय भाषाओं के '**प्**' के स्थान पर इनमें '**फ़्**' पाया जाता है ;

(२) उक्त भाषाओं के '**ब्**' के स्थान पर इनमें '**प्**' पाया जाता है ;

(३) उक्त भाषाओं की '**ट्**' (त्) ध्वनि के स्थान पर '**ठ्**' (थ्) ध्वनि पाई जाती है ;

(४) अन्यों की '**द्**' ('ड्') के स्थान पर '**त्**' ('ट्') ध्वनि पाई जाती है।... इत्यादि।

ये तथा इसी प्रकार के अन्य परिवर्त्तन, निम्न (आंशिक एवं सरलीकृत) तालिका के अनुसार, गॉथिक (पर्याप्त अभिलेखसामग्री से युक्त सर्वप्राचीन जर्मन), लैटिन, ग्रीक और संस्कृत के बीच पाए जाते हैं :

तालिका-१

गॉथिक	फ़्	प्	ब्	थ्	त्	द्	ह्	क्	ग्
लैटिन	प्	ब्	फ़्	त्	द्	त्	क् (च्)	ग्	ह्
ग्रीक	प्	ब्	फ्	त्	द्	थ्	क्	ग्	ख्
संस्कृत	प्	ब्	भ्	त्	द्	ध्	श्	ज्	ह्

(यहां गॉथिक के **'थ्'** पर ध्यान देना चहिए। इसका उच्चारण अंग्रेजी के 'थिंक' आदि शब्दों में होने वाले **'थ्'** के अल्पप्राण और अघोष संघर्षी उच्चारण की भांति होता है। इसके विपरीत ग्रीक और संस्कृत की फ्, भ्, थ् और ध् ध्वनियां महाप्राण स्पर्श ध्वनियां हैं। संघर्षी और महाप्राण स्पश ध्वनियों में भेद के लिए देखें, ३. २. ६।) अनुकारी ध्वनिपरिवर्त्तनों को प्रतिबिम्बित करने वाले कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

गॉथिक	—	फ़ोतुस्	तैहुन्
लैटिन	—	पेदिस	देकेम्
ग्रीक	—	पोदोस्	देका
संस्कृत	—	पादः	दश

ग्रिम ने इस प्रकार की अनुकारिताओं में हुए ध्वनिपरिवर्त्तन का सम्बन्ध जर्मन के प्रागैतिहासिक काल में खोज निकाला, जबकि मूल भारोपीय महाप्राण व्यंजन **घ्, ध्, भ्** जर्मन में अल्पप्राण **ग्, द्, ब्** बन गए; मूल भारोपीय के सघोष व्यंजन **ग्, द्, ब्** जर्मन में अघोष **क्, त्, प्** के रूप में बदले; और मूल अल्पप्राण व्यंजन **क्, त्, प्,** महाप्राण ध्वनियों **ह्, थ्, फ्** में बदले। यहां यह ध्यान देना चाहिए कि यहां दी गई अनुकारिताओं की रचना उस कथन के यथावत् अनुरूप नहीं है, जिसे ग्रिम ने जर्मन भाषा के 'ध्वनि-परिवर्त्तन' के सम्बन्ध में कहा था। इनमें ग्रिम द्वारा प्रयुक्त परम्परागत व्याकरण की शब्दावली के स्थान पर 'सघोष' और 'अघोष' जैसी आधुनिक परिभाषाओं का प्रयोग किया गया है (देखें, ३. २. ६)। इससे भी अधिक मुख्य बात यह कि इसमें मूल भारोपीय एवं परवर्त्ती जर्मन 'महाप्राण' ध्वनियों में ध्वन्यात्मक दृष्टि से अन्तर स्पष्ट किया गया है। फिर, इनमें **'उच्च जर्मन ध्वनि परिवर्त्तन'** को छोड़ ही दिया गया है, जिसे ग्रिम ने उक्त 'ध्वनिपरिवर्त्तन' के ही कई सदी के अन्तर से दुबारा घटित होने के रूप में प्रस्तुत किया था। हमारी यह सूत्र-रचना इसलिए भी अपूर्ण है, कि यह केवल आंशिक रूप में ही गॉथिक और अन्य भाषाओं के बीच की अनुकारिता को प्रदर्शित करती है। फिर भी, यह उस नियम को सार रूप में अवश्य प्रस्तुत कर देती है, जो बाद में ध्वनि-नियमों में सर्वप्रसिद्ध 'ग्रिम-नियम' के नाम से विख्यात हुआ; और जो हमारे वर्त्तमान उद्देश्य के लिए पर्याप्त भी है।

ग्रिम और उसके समकालीन विद्वानों ने देखा कि उक्त तालिका में निर्दिष्ट अनुकारिताओं की सामान्य प्रवृत्ति के अनेक अपवाद भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, उन्होंने देखा कि यद्यपि **'ब्रदर'** (अं०) शब्द व्यंजनों के विकास की दृष्टि से पूर्णतः 'नियमित' पाया जाता है (गॉथिक : **ब्रोथार,** लैटिन : **फ़्रातेर;** ब्=फ़्; थ्=त्), 'फादर' शब्द के विषय में यह बात अंशतः ही सत्य बैठती है (गॉ० : **फादार,** लै० :

पातेर; फ्=प्, किन्तु द्=त्)। किन्तु उन्हें इन अपवादों से कोई अड़चन अनुभव नहीं हुई, क्योंकि उनकी दृष्टि में परिवर्त्तन 'नियमित' नहीं थे। स्वयं ग्रिम के शब्दों में : **"यह ध्वनि-परिवर्त्तन अधिकांश स्थलों पर सही उतरता है; किन्तु हर व्यक्तिगत उदाहरण में यह पूर्णतः अनुकृत नहीं होता। कुछ शब्द अपने प्राचीनतर रूप में ही अपरिवर्तित रहते हैं। नवीकरण की धारा उनकी बगल से ही निकल जाती है।"**

१. ३. १० नव वैयाकरण

उनसे लगभग पचास वर्ष बाद विद्वानों के एक वर्ग ने एक नितान्त भिन्न नियम घोषित किया। ये लोग स्वयं को क्रान्तिकारी समझते थे, तथा अपने विरोधियों द्वारा तिरस्कारपूर्वक रखे गए अपने नाम—'युवा वैयाकरण'—से हर्ष अनुभव करते थे। यह नियम **विल्हेल्म शेरर** (१८७५) के शब्दों में इस प्रकार है : **"सप्रमाण भाषावैज्ञानिक इतिहास में हम जिन ध्वनि-परिवर्त्तनों को घटित होता पाते हैं, वे ऐसे स्थिर नियमों के अनुसार ही घटित होते हैं, जिनमें तब तक कोई गड़बड़ नहीं मिलती, जब तक कि ऐसा किन्हीं दूसरे नियमों की अनुकूलता के कारण न हो!"** यह दावा, कि सभी प्रकार के ध्वनि-परिवर्त्तन निरपवाद नियम से परिचालित होते हैं, अत्यन्त विवादास्पद था। किन्तु अब यह, ग्रिम के काल की अपेक्षा, अधिक तर्कसंगत प्रतीत होने लगा। सन् १८२० और १८७० के बीच, भारोपीय भाषाओं की विविध शाखाओं में होने वाले आपसी **ध्वनि-परिवर्त्तनों** के सम्बन्ध में, अत्यधिक मात्रा में अनुसन्धानकार्य होचुका था। इस काल के अन्तिम छोर पर ऐसे अनेक चमत्कारी उद्घाटन हुए थे, जिन्होंने ऐसी बहुत-सी तथाकथित 'अनियमितताओं' की व्याख्या करदी थी, जिन्हें पूर्वतर विद्वानों ने खोज निकाला था।

१. ३. ११ वेर्नर-नियम तथा अन्य 'ध्वनि-नियम'

डेन्मार्क के विद्वान् कार्ल वेर्नर ने १८७५ में एक विशिष्ट प्रभावशाली निबन्ध प्रकाशित किया, जिसमें वह यह दिखाने में समर्थ हुआ कि गॉथिक के **'द्'** के लैटिन में **'त्'** में पलटने (उदा० **फादार** (गॉ०)=**पातेर** (लै०) में जैसी अनुकारिता यद्यपि 'ग्रिम-नियम' की परिभाषा में 'अपवाद' ठहरती है, किन्तु यदि इस नियम का सुधार संस्कृत के अनुकारी शब्दों में पाए जाने वाले 'उदात्त स्वर' पर ध्यान देते हुए कर दिया जाए, तब ये अनुकारिताएं भी 'नियमित' बन जाएंगी (निम्न तालिका में स्वरों का अंकन पाश्चात्य विधि के रूप में प्रदर्शित किया गया है) :

तालिका-२

संस्कृत	भ्रा́तर्	पितर्́
गॉथिक	ब्रो́थार्	फ़ादा́र
लैटिन	फ्रा́तेर्	पा́तेर्

वेर्नर की धारणा यह थी कि संस्कृत ने अपने से पूर्व की भारोपीय भाषा के शब्दस्वर को मूल रूप में सुरक्षित रखा है, और जर्मन ध्वनिपरिवर्त्तन तब हुआ जब किसी प्रागैतिहासिक युग में ही यह स्वर बदल कर जर्मन में शब्द के आदि-स्वर में निहित नहीं हुआ था। इसी पूर्वधारणा के अनुसार, 'द्' की ऐसी स्थिति की व्याख्या इस नियम के अनुसार की जासकती है : **"ग्रिम-नियम के अनुसार आने वाले अघोष महाप्राण (फ़्, थ्, ह्) वैसे ही बने रहे (गॉ० के 'ब्रोथार' की भांति), यदि उनसे पूर्ववर्त्ती स्वर उदात्त हो। किन्तु यदि वह उदात्त न हो, तब उनका स्थान घोष ध्वनियों (ग्, द्, ब्) ने ले लिया (यथा, 'फ़ादार' गॉ० में)।"** यहाँ यह कह देना भी अभीष्ट है कि अंग्रेज़ी के 'फ़ादर' और 'ब्रदर' के मध्यवर्त्ती व्यंजनों का 'द्' के रूप में एकीभाव अंग्रेज़ी की किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों के कारण हो गया है। पुरानी अंग्रेज़ी में, आज की जर्मन **'फ़ाटेर : ब्रूडेर'** की भांति, यह अन्तर सुरक्षित था; यद्यपि उनका ध्वन्यात्मक परिवर्त्तन 'उच्च जर्मन ध्वनि-परिवर्त्तन' के परिणाम-स्वरूप हुआ, जिसका सम्बन्ध केवल जर्मन भाषा से ही है और जो अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक कहा जा सकता है।

'वेर्नर-नियम' के अतिरिक्त, लगभग उसी काल में, कुछ अन्य भी प्रमुख ध्वनि-नियम स्थापित हुए, जिनके द्वारा भारोपीय भाषाओं के बीच पाई जाने वाली इन सामान्य समताओं की राह में आने वाली कुछ विषमतर अड़चनों का समाधान किया गया। इन सब 'ध्वनि-नियमों' का सामान्य प्रभाव यह हुआ कि विद्वानों को भारोपीय परिवार की विविध शाखाओं का विकास-क्रम अधिक स्पष्ट हुआ और ध्वनि-परिवर्त्तन की नियमितता के सिद्धान्त में उनका विश्वास अधिक दृढ़ हुआ। यद्यपि इस सिद्धान्त का आरम्भ में, जब इसे युवा-वैयाकरणों ने घोषित किया था, व्यापक और उग्रतर विरोध हुआ था; फिर भी उन्नीसवीं शती के अन्त तक इसे भाषाविदों ने बहुमत से स्वीकार कर लिया था।

प्रणालीविज्ञान (मेथोडोलॉजी) की दृष्टि से ध्वनि-परिवर्त्तन की नियमितता के इस सिद्धान्त का अत्यधिक महत्त्व था। अपने द्वारा स्थापित नियमों के अपवादों पर ही उनका ध्यान केन्द्रित रहने के कारण, उन विद्वानों को या तो इन नियमों की अधिक सूक्ष्म व्याख्या (जैसी व्याख्या 'वेर्नर-नियम' ने 'ग्रिम-नियम' के सम्बन्ध में की) करने पर विवश होना पड़ा, या फिर इन नियमों की अनुकूलता में विकसित न होने वाले उन शब्दों का सन्तोषजनक सहेतुक विवेचन प्रस्तुत करने पर विवश होना पड़ा, जिन्हें सामान्यतः नियमानुकूल विकसित होना चाहिए था।

१. ३. १२ 'आगत' द्वारा अपवादों की व्याख्या

इन ध्वनि-नियमों में से बहुतों के अपवादों की व्याख्या **'आगत-शब्दों'** के रूप में की जा सकती है, जिनका आगमन उस सम्बद्ध नियम का कार्य हो चुकने के बाद किसी अन्य पडौसी भाषा या बोली से हुआ था, जिसका उल्लंघन करते वे प्रतीत

होते हैं। इसका एक उदाहरण लैटिन के **'रूफ़ूस'** (लाल) शब्द को लिया जासकता है, जिसमें लैटिन के सम्बद्ध ध्वनि-नियम के अनुसार अपेक्षित **'ब'** के स्थान पर **'फ़'** प्रयुक्त मिलता है। इसके विपरीत लैटिन का ही, इसी **'लाल'** के अर्थ में, एक दूसरा शब्द **'रूबेर'** है, जिसमें नियमानुकूल **'ब'** ही पाया जाता है (इसके अन्तिम व्यंजन की भिन्नता की विवेचना यहाँ अपेक्षित नहीं है)। इस प्रकार के **द्वैध** विकास और उसमें अन्तर की उचिततर व्याख्या यही हो सकती है कि लैटिन ने **'रूफ़ुस'** शब्द किसी ऐसी निकट-सम्बद्ध पड़ौसी बोली से ग्रहण किया है, अन्य प्रमाणों के आधार पर जिसके विषय में हम यह जानते हैं कि उसमें **'फ़'** का परिवर्त्तन एक नियमित प्रक्रिया है।

१. ३. १३ सादृश्य का कार्य

अपने स्थापित ध्वनि-नियमों के अपवादों की व्याख्या के लिए इन युवा वैयाकरणों ने जिस दूसरे निमित्त को प्रस्तुत किया, उसे उन्होंने 'सादृश्य' नाम दिया। यह बात तो बहुत पहले से ही स्वीकार की जा रही थी कि प्रायः ही भाषा का विकास उस प्रवृत्ति से प्रभावित रहता है, जिसके आधार पर नए शब्दों की रचना पहले से प्रचलित सामान्यतर और नियमिततर रूपों के ढाँचे के 'सदृश' या उसके 'अनुरूप' की जाती है। उदाहरणार्थ, इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर बालकों द्वारा प्रयुक्त फ़्लाइड (flied), गोड (goed), टूथ्स (tooths), आदि शब्दों को लिया जा सकता है, जिनके अन्यथा शुद्ध रूप फ़्ल्यू (flew), वेण्ट (went) और टीथ (teeth), आदि माने जाते हैं। क्योंकि इस प्रवृत्ति के कारण भाषा में शब्दों के 'असाधु' रूपों का प्रवेश होता माना गया, अतः एक अवनत और अशिक्षित युग में इसे भाषा में बढ़ती 'असाधुता' या 'भ्रष्टता' का कारण भी माना गया। और यह भी माना गया कि जिस प्रकार अध्यापक बच्चों की सादृश्यमूलक 'असाधु' शब्दरचनाओं को 'शुद्ध' करते हैं, उसी प्रकार वैयाकरणों को भी 'भ्रान्त सादृश्य' पर आधारित प्रौढ़ प्रयोक्ताओं के प्रयोगों को 'शुद्ध' करना चाहिए; अन्यथा उनका प्रयोग व्यापकतर होता जाएगा। उन्नीसवीं शती में यूरोप की जनभाषाओं के ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक विकास के अध्ययन पर जो अधिकाधिक ध्यान दिया गया, उसके प्रसंग में यह अनुभव किया जाने लगा कि भाषा-विकास के सभी युगों में 'सादृश्य' या 'नियमित अनुरूपता' को विकास का एक बड़ा निमित्त कहा जा सकता है। इसे केवल ह्रास और भ्रष्टता के युग की देन ही नहीं माना जा सकता।

ध्वनि-नियमों के अपवाद शब्दों की व्याख्या करने वाले शक्तिशाली घटक के रूप में 'सादृश्य' का प्रभाव लैटिन की संज्ञाओं की किसी विशिष्ट श्रेणी के उदाहरण से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हम ग्रीक शब्द **'गेनोस्'**, लैटिन **'जेनुस्'** एवं संस्कृत **'जनस्'** (जिनका अर्थ 'परिवार', 'जाति', आदि के रूप हैं) के प्रथम एवं पंचमी के एकवचनात्मक रूपों को ले सकते हैं। ये हैं : ग्री० =

गेनोस्, गेनोउस्; लै० = **जेनेरिस्**; एवं सं० **जनस्** (**जनः**), **जनसस्** (जनसः) ! इनमें स्पष्ट हुई अनुकारिताओं (तथा अन्यों) के आधार पर मूल भारोपीय की पुंनर्निमित मूल ध्वनि '**स्**' के परवर्त्ती विकास के सम्बन्ध में निम्न ध्वनि-नियम बनाए जासकते हैं:

(१) **संस्कृत** में 'मूल' ***स्** उक्त उदाहरणों में प्रायः सभी जगह सुरक्षित है;

(२) **ग्रीक** में इसकी स्थिति निम्न रही है :

(क) व्यंजनों के बीच तथा पद के अन्त में यह सुरक्षित है,

(ख) शब्दारम्भ में यह 'ह्' में परिवर्त्तित हो गया है : ग्री० = **हेप्ता**, लै० = **सेप्तेम्**, सं० = **सप्त**, अं० = **सेवन्**, आदि में; तथा

(ग) दो स्वरों के बीच में आने पर लुप्त हो जाता है : ***गेनेसोस् → गेनेओस् → गेनोउस्** ;

(३) **लैटिन** में यह—

(क) व्यजनों के आदि या अन्त में संयुक्त स्थिति में एवं पद के आदि या अन्त में आने की स्थिति में यह यथावत् सुरक्षित है, और

(ख) स्वरों के बीच में आने पर यह '**र्**' में परिर्वातित होता है : तभी ***जेनेसिस् → जेनेरिस्** बना ।

इसलिए ग्राक और लैटिन के इस शब्द के रूप अपने विकास-क्रम में 'नियमित' हैं। यहां तारांकित चिन्हों को, तुलनात्मक भाषाविज्ञानियों की परम्परा में, उन ध्वनियों को सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया है, जो विद्यमान अभिलेखों से प्रमाणित उपलभ्य ध्वनियों से भिन्न रूप में 'पुनःकल्पित' की गई हैं। यद्यपि इन उदाहरणों की चर्चा हमने केवल मूल भारोपीय ***स्** के विचार के लिए की है, किन्तु भारोपीय के अन्य व्यंजनों एवं स्वरों में पाए जाने वाले परिवर्त्तनों की दृष्टि से भी ये उदाहरण 'नियमित' ही कहे जासकते हैं। ग्रीक और लैटिन दोनों में ही ध्वनि-नियमों के अपवाद पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, लैटिन में 'सम्मान' के वाचक शब्द के प्रथमा-एकवचन के रूप में हम श्रेण्य लेखकों के प्रयोगों मे विवधिता पाते हैं : सामान्यतः पूर्वतर लेखकों ने '**ओनोस्**' (honos) का प्रयोग किया है, जबकि परवर्त्ती लेखकों ने '**ओनोर**' (honor) का प्रयोग किया है। किन्तु इसी शब्द के अन्य रूप **ओनोरिस्, ओनोरेम्**, आदि के सम्बन्ध में वे सब एकमत हैं। अतः ऊपर कहे नियमों के प्रकाश में **ओनोरिस्** और **ओनोरेम्** (मूलतः **होनोसिस्** ओर ***होनोसेम्**') आदि रूप यथावत् 'नियमित' हैं। यही बात '**ओनोस्**' के विषय में है। इसमें मूल ***स्** ध्वनि सुरक्षित है। उधर लैटिन में ऐसे अनेकों 'नाम' हैं, जिनका विकास मूल भारोपीय ***र्** से ही हुआ है : **कुल्तोर, कुल्तोरिस्, कुल्तोरेँम्**, आदि । अतः '**ओनोर**' शब्द रूप को '**ओनोस्**' के स्थान पर आया 'सादृश्यमूलक स्थानी' कहा जा सकता है। इसके कारण ही '**ओनोर : ओनोरिस्**' में वही नियमितता पाई जाती है, जो 'कुल्तोर : कुल्तोरिस्' में ! लैटिन के इस प्रकार के शब्दों की बड़ी श्रेणी में से यह तो केवल एक उदाहरण है (तुलनीय : **आमोर** = प्यार ; **लाबोर** = श्रम; **तिमोर** =

भय; आदि)। इनकी तुलना में लैटिन में कुछ ऐसे एकाच् (मोनोसिल्लेबिक) 'नाम' भी हैं : **फ़्लोस्=फ़्लोरिस्** (फूल), **मोस्=मोरिस्** (प्रथा), आदि, जिनमें प्रथमा के एकवचन में 'नियमित' ***स्** सुरक्षित रहा है। (लैटिन जानने वाले पाठकों के लिए यह निवेदन है कि यहां ये उच्चारण कुछ सरलीकृत रूप में ही दिये गए हैं। अन्तिम 'ओ' की दीर्घता का संकेत छोड़ दिया गया है। यहां भी 'सादृश्य' ही हेतु है।)

युवा वैयाकरणों और उनके अनुयायियों द्वारा स्थापित कुछ नियम तो असाधारण रूप में संकुचित क्षेत्र पर लागू होते हैं। 'सादृश्य' के अनेक अप्रशस्त उदाहरण भी प्रस्तुत किये गए। और, बहुधा ही शब्द-रूपों को 'आगत' घोषित कर दिया गया; बिना यह संकेत दिए कि उन्हें किस बोली से लिया गया है। इस बीच आठ दशकों से भी अधिक समय में ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में हुए अनुसन्धान के प्रकाश में कहा जा सकता है कि युवा वैयाकरणों ने **ध्वनि-नियम, आदान** और **सादृश्य** के बीच कुछ अनावश्यक सूक्ष्मता के साथ विभेद किया है। कुछ ध्वनिपरिवर्त्तनों का आधार उस शब्द या उन शब्दों में भी तो खोजा जा सकता है, जिन्हें किसी पड़ौसी बोली से ग्रहण किया गया हो; और तब 'सादृश्य' के आधार पर यह 'परिवर्त्तन' एक व्यापकतर शब्द-श्रेणी में व्याप्त हो गया हो। ऐसा सम्पन्न होने के बाद, इसे भी किसी सामान्य 'नियम' के आधार पर 'सूक्ष्मता' के साथ समझाना सम्भव होसकता है। ऐसा सम्भव होने पर भी यह सत्य नहीं है कि विचाराधीन परिवर्त्तन किसी ऐसे 'नियम' के अनुसार ही हुआ है, जो कि भाषा पर 'बाहर से' प्रभाव डाल रहा है (अर्थात्, ऐसा किसी 'बाह्य नियम' का परिणाम नहीं है)।

१.३.१४ उन्नीसवीं शती के भाषाविज्ञान का प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण

उन्नीसवीं शती के प्रमुख विचारों में से एक था 'विकासवाद', जो किसी भी तरह नया विचार नहीं कहा जासकता। यही वह विचार था, जिसे स्वच्छन्दतावादियों ने श्रेण्य परम्परा के मुकाबिले में बहुत उत्साहपूर्वक अपनाया था। १८५९ में डार्विन के **'जीवजातियों की उत्पत्ति'** नामक ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद, तथा **'प्राकृतिक चुनाव'** के सिद्धान्त द्वारा **'प्रयोजन या अभिकल्प की धारणा'** का स्थान लेने के बाद, विकासवादाश्रित जीवविज्ञान ने 'प्राकृतिक विज्ञानों' द्वारा व्यापक रूप में मान्यता ग्रहण कर रहे 'यान्त्रिकतावादी' अथवा 'प्रत्यक्षवादी' दृष्टिकोण को अपनाने की ही सम्भावना प्रस्तुत नहीं की, बल्कि 'विकास' सम्बन्धी सारी ही धारणा को जैसे एक सुदृढ़ आधार भी दे दिया। उन्नीसवीं शती के भाषावैज्ञानिक विचारों के ऐसे अनेक विशिष्ट लक्षण हैं, जिन्हें विकासवादी जीवविज्ञान का परिणाम कहा जा सकता है। इस बात की चर्चा यहां अपेक्षित नहीं है। बल देने योग्य बात तो यह है कि जीवविज्ञान के क्षेत्र में प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण की स्पष्ट प्रतीत होने वाली सफलता ने लगभग सभी सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में 'विकास नियमों' की

खोज को बढ़ावा दिया। 'यथार्थ' विज्ञानों के सुदृढ़ समझे जानेवाले प्रत्यक्षवादी सिद्धान्तों के आधार पर भाषा-परिवर्त्तन के सिद्धान्त की रचना के अपने प्रयास में लगकर इन युवा-भाषावैज्ञानिकों ने वास्तव में अपने समय के समाजविज्ञानियों के पथ का अनुकरणमात्र ही किया। वर्त्तमानकाल का भाषाविज्ञान सामान्य विज्ञान के प्रत्यक्षात्मक विचारों के साथ प्रतिबद्ध नहीं है; और जैसा कि हम देखेंगे यह भाषाओं के 'विकास' के प्रति भी अनावश्यक रूप से चिन्तित नहीं है।

१. ३. १५ तुलनात्मक भाषाविज्ञान और सामान्य भाषाविज्ञान

सामान्य भाषाविज्ञान की एक शाखा के रूप में 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' को एक व्याख्याकारी विज्ञान कहा जा सकता है। इसका कार्य इस स्पष्ट सत्य की व्याख्या करना है कि भाषाएँ परिवर्त्तित होती रहती हैं तथा विविध भाषाएँ परस्पर कम या अधिक मात्रा में एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध भी होती हैं। भाषाओं में होने वाले परिवर्त्तन एवं उनमें परस्पर सम्बन्ध की भिन्न-भिन्न मात्रा को कुछ प्राक्कल्पनाओं के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। इन प्राक्कल्पनाओं में अन्य वैज्ञानिक प्राक्-कल्पनाओं की भाँति, नए तथ्यों के अनावरण होने पर या उन तथ्यों पर नए दृष्टिकोण को अपनाने अथवा उनके प्रणालीबद्ध करने पर, सुधार भी किया जा सकता है। 'भारोपीय'-सम्बन्धी प्राक्कल्पना को इन्हीं दोनों कारणों से लगातार सुधारा जाता रहा है। इसी प्रकार, उन्नीसवीं सदी के अनेक विद्वानों द्वारा 'विकास' की जो व्याख्या की गई थी, आज हम उससे भिन्न रूप में उसकी व्याख्या करते हैं। आज हम **ध्वनि-नियम, पुनःरचना, सादृश्य,** आदि संज्ञाओं को कुछ भिन्न रूप में ग्रहण करते हैं। हम अपने से पूर्वतर विद्वानों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता के साथ पहचान सकते हैं कि भाषा में परिवर्त्तन केवल 'काल' के ही कारण नहीं आता, बल्कि इसे लाने में सामाजिक और भौगोलिक परिस्थितियों का भी उतना ही हाथ होता है। और हम यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि कालान्तर में भाषाएँ कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में **केन्द्राभिसारी** भी बन सकती है और **केन्द्रापसारी** भी। किन्तु, इनमें से कोई भी सुझाव तुलनात्मक भाषाविज्ञान के पूर्ववर्त्ती निष्कर्षों या पद्धति को पूर्णतः पंगु बनाने में समर्थ नहीं है।

क्योंकि इस पुस्तक में हमारा मुख्य विषय भाषाविज्ञान का इतिहास-कथन नहीं है, अतः हमें उन्नीसवीं-बीसवीं शती में प्रस्तुत किये गए तुलनात्मक प्रणाली के सिद्धान्तों के विस्तृत स्पष्टीकरण में अधिक श्रम करने की आवश्यकता नहीं है। इस खण्ड का उपसंहार हम उन मुख्य प्रकारों के स्पष्टीकरण के साथ करेंगे, जिनमें **तुलनात्मक भाषाविज्ञान** ने वर्त्तमान **सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान** की लाक्षणिक धारणाओं और प्रवृत्तियों के निर्माण में योग दिया है।

भाषाओं के 'विकास' के सम्बन्ध में उन्नीसवीं शती के चिन्तन का सर्वप्रमुख और सर्वाधिक प्रभाव इस अनुभूति के रूप में पड़ा कि अतीत के अभिलेखों और

लिखित पुस्तकों में प्रयुक्त शब्दरूपों और प्रयोगों की व्याख्या तत्कालीन जनप्रयुक्त भाषा में होने वाले प्रामाणिक या पुनर्गठित अनुकारी परिवर्त्तनों के आधार पर 'ध्वनि-नियमों' की सीमा में की जा सकती है। आरम्भिकतम तुलनात्मक भाषा-विज्ञानियों को यह श्रेण्य दृष्टिकोण उत्तराधिकार में मिला था कि **लिखित भाषा अपने समय की बोलचाल की भाषा से कुछ सीमा तक पूर्वतर स्थिति की होती है।** अतः वे ध्वनिपरिवर्त्तनों की व्याख्या लिखित रूप में होने वाले वर्ण-परिवर्त्तनों के प्रकाश में करते रहे। किन्तु, शीघ्र ही इस सत्य को पहचान लिया गया कि भाषा-विकास के किसी भी प्रणाली-बद्ध विवरण में इस सिद्धान्त को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप में मान लिया जाना चाहिए कि वर्णमाला-क्रम में आने वाले वर्ण-चिह्न बोल-चाल की भाषा की अनुकारी ध्वनियों के प्रतीकमात्र होते हैं। जैसा कि हम अगले खण्ड में पाएँगे, आधुनिक भाषाविज्ञान की एक प्रमुखतम धारणा यह है कि भाषा का प्राथमिक माध्यम **ध्वनि** है, **लेखन** नहीं। तुलनात्मक भाषाविज्ञान ने ध्वनिविज्ञान के विकास को अत्यन्त सशक्त गति दी (और इस पर भारतीय वैयाकरणों के सिद्धान्तों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा; दे० १. २. १०), जिसके कारण क्रमशः सामान्यतर और अधिक सन्तोषप्रद 'ध्वनि-नियमों' का निर्माण सम्भव हो सका।

उन्नीसवीं शती के मध्य से आरम्भ होकर क्रमशः विकसित होनेवाली 'भाषाओं' और 'बोलियों' के पारस्परिक-सम्बन्धविषयक अधिक शुद्ध धारणाओं को भी कम महत्त्व नहीं दिया जा सकता। यूरोप की श्रेण्य और वर्त्तमान भाषाओं के सघन अध्ययन ने इस तथ्य को पर्याप्त स्पष्ट कर दिया कि विभिन्न प्रादेशिक 'बोलियां' कम या अधिक रूप में स्वतन्त्र रहकर ही विकसित हुई हैं। उन्हें आदर्श साहित्यिक भाषाओं के विकृत रूप नहीं कहा जा सकता (जैसा कि तब तक समझा जाता था)। वे पूर्णतः प्रणालीबद्ध हैं। व्याकरणात्मक संरचना, उच्चारण एवं शब्दावली से सम्बद्ध उनकी अपनी 'नियमितताएँ' हैं। और, जिन प्रसंगों में वे प्रयुक्त होती हैं, उनमें वे पारस्परिक आदान-प्रदान के साधन के रूप में पूर्णतः उपयुक्त हैं। वास्तव में यह स्पष्ट हो गया कि 'भाषाओं' और निकट-सम्बद्ध 'बोलियों' में पाए जाने वाले अन्तर, भाषात्मक न होकर, राजनैतिक और सांस्कृतिक प्रकृति के होते हैं। यदि शुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए, तो परम्परागत रूप में **लैटिन, अंग्रेजी, फ्रेंच,** आदि तथाकथित **श्रेण्य भाषाएँ** केवल 'बोलियाँ' ही हैं, जो ऐतिहासिक घटनाचक्र के कारण राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्व ग्रहण कर गई हैं। उदाहरणार्थ, इस दृष्टिकोण के अनुसार यह एक भाषात्मक 'संयोग' ही था कि रोम और उसके आस-पास की **बोली** रोम-साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ फैलती गई और एक **भाषा** बन गई, जिसे हम **'लैटिन'** के नाम से पुकारते हैं। लैटिन की अपनी संरचना में इस विकास को सूचित करने वाली कोई विशेष बात नहीं है। निःसंदेह किसी विशिष्ट 'बोली' के साहित्य, प्रशासन, दर्शन तथा अन्य अनेक प्रयोजनों

और व्यापारों में प्रयोग का परिणाम यह होता है कि इस 'बोली' की शब्दावली उन समस्त आवश्यक विभेदों के साथ अत्यधिक व्यापक हो जाती है, जिनके द्वारा यह अपने नए रूप में सन्तोषजनक ढंग से कार्य कर सकती है। इस विषय में तथ्य कुछ भिन्न है। यह किसी विशेष जाति की भाषा द्वारा उपलब्ध महत्त्व का **परिणाम** होता है, **कारण** नहीं। सामान्यतः विविध देशों की **आदर्श भाषाओं** का जन्म उन **बोलियों** से ही हुआ है, जो वहाँ के समाज के सबल वर्गों अथवा प्रशासक श्रेणियों द्वारा बोली जाती थीं।

'**बोली-विज्ञान**' या '**बोली-भूगोल**' नाम से ज्ञात भाषाविज्ञान की शाखा के अधीन प्रादेशिक 'बोलियों' के अनुसन्धान के फलस्वरूप एक अन्य बात यह स्पष्ट हुई कि एक ही या पड़ोसी भाषाओं की विविध 'बोलियों' के बीच कोई सूक्ष्म विभेदक रेखा खींचपाना असम्भव है। विश्व के उन भागों में, जहाँ राजनैतिक सीमाओं में प्रायः ही परिवर्त्तन होते रहते हैं, अथवा जहाँ व्यापार और आदान-प्रदान के मुख्य मार्ग राजनैतिक सीमाओं को लांघ जाते हैं, किसी भाषा-विशेष से सम्बद्ध समझी जाने वाली 'बोलियां' किसी अन्य भाषा की 'बोली' जैसी प्रतीति दे सकती हैं। उदाहरणार्थ, जर्मनी और हॉलैण्ड की सीमा के दोनों ओर बोली जानेवाली कई ऐसी बोलियां हैं, जिनका सम्बन्ध आदर्श 'डच' या आदर्श 'जर्मन' दोनों से समान रूप से 'निकटता' या 'दूरी' का है। यदि हम यह अनुभव करते हैं कि निश्चय ही उसका सम्बन्ध किसी एक भाषा-विशेष के साथ ही होना चाहिए, तब हम निश्चय ही **भाषा** और **बोली**-सम्बन्धी परम्परागत दृष्टि के बन्दी बन जाएंगे। यहाँ यह और कह देना अभीष्ट है कि इस प्रकार के प्रश्नों पर किए गए निर्णय प्रायः ही राष्ट्रीय या राजनैतिक पूर्वाग्रहों से प्रभावित होते हैं।

'सब भाषाओं का व्याकरणात्मक ढांचा एक ही है' (दे० १. २. ७)—यह धारणा भी अब भाषाविदों द्वारा सामान्यतः स्वीकृत नहीं रही। इस की अस्वीकृति का एक कारण तो उन्नीसवीं शती के तुलनात्मक भाषावैज्ञानिकों द्वारा यह प्रदर्शित करना है कि सभी भाषाओं में सतत परिवर्त्तन होते रहते हैं: विशेष रूप से उनकी यह स्थापना कि भाषावैज्ञानिक दृष्टि से **श्रेण्य लैटिन** या **ग्रीक** सतत विकास की प्रक्रिया में एक **चरणमात्र** थीं। तथा यह कि उनकी व्याकरणात्मक संरचना का हेतु किसी पूर्ववर्त्ती व्याकरणात्मक विभेद की प्रणाली के विस्तार या संकोच में खोजा जा सकता है। यह भी अनुभव किया गया कि विविध भाषाओं, अथवा एक ही भाषा के विविध क्रमिक चरणों, की व्याकरणात्मक संरचना में पर्याप्त अन्तर हो सकता है। इस मान्यता पर भी बल देना असम्भव हो गया कि व्याकरणात्मक कोटियों का परम्परागत ढाँचा किसी भी मानवी भाषा के कार्यान्वियन के लिए अनिवार्य है। इस परिणाम की पुष्टि उनसे कहीं अधिक व्यापक भाषाओं की छानबीन से हुई, जो उन पूर्ववर्त्ती विद्वानों के लिए गम्य रहीं, जिनकी यह स्थापना थी कि परम्परागत व्याकरणात्मक सिद्धान्त सार्वभौम रूप से सत्य हैं। जैसा कि हम देखेंगे,

वर्तमान भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त परम्परागत व्याकरण के सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक सामान्य धारणाओं पर आधारित हैं।

१. ३. १६ सादृश्य और संरचना

पाठक को यह विरोधाभास प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगा कि जहां प्राचीन भाषाविदों ने 'सादृश्य' को भाषा की नियमितता का एक सिद्धान्त माना था, वहां उन्नीसवीं शती उत्तरार्ध के भाषावैज्ञानिकों ने उसे भाषा के विकास का सबसे बड़ा अवरोध बताया (दे० १.२.३)। अब इस विरोधाभास को सुलझाया जा सकता है। उन्नीसवीं शती के अधिकांश भाषाविदों की भांति यदि हमारा भी मुख्य ध्येय भाषा-परिवर्तन का सिद्धान्त निश्चित करना हो, तब हम कदाचित् इस सत्य को दृष्टि से ओझल कर बैठेंगे कि उत्तरोत्तर पीढ़ियों के प्रयोगों में पाई जाने वाले विभेदों और समानताओं का सहेतुक विवेचन ही हमें अभीष्ट होता है। यदि अंग्रेज़ी सीखने वाला कोई बालक **'केम'** (came) की जगह **'कम्ड'** (comed) का एवं **'टीथ'** (teeth) के स्थान पर **'टूथ्स'** (tooths) का प्रयोग करता है, तब सम्भवतः उसका कारण यह होता है कि वह अंग्रेज़ी क्रियाओं के **'भूतकाल'** और उसकी संज्ञाओं के **'बहुवचन'** बनाने के सामान्य सिद्धान्त को समझ चुका होता है। अर्थात्, वह भाषा की कुछ नियमितताओं-नियमों को समझ चुका होता है। यदि बालक ने नियमित रूपों की रचना के ऐसे नियमों को समझने में सफलता न पाई होती, तब वह तोते की तरह केवल उन्हीं शब्दों को यथावत् दोहरानेमात्र में ही समर्थ होता, जिन्हें वह अपने चारों ओर पहले से ही प्रयुक्त होता पाता रहा है। **'वह भाषा को जानता है'**, यह बात हम तब तक नहीं कह सकते, जब तक वह ऐसे नये वचनों के बनाने में समर्थ न होजाए, जिन्हें भाषा के अन्य प्रयोक्ता भी 'सामान्य' मानते हों तथा समझलेते हों।

मुख्य बात यह है कि भाषा अनेक भिन्न-भिन्न स्तरों पर ढली या गठित होती है। इस प्रश्न पर हम अगले अध्याय में अधिक विचार करेंगे। हर भाषा के कुछ नियमित सिद्धान्त होते हैं, जिनके आधार पर ध्वनियां मिलकर शब्दों का निर्माण करती हैं। अथवा, जिनके आधार पर विविध ध्वनियां शब्द या वाक्य की विविध दशाओं में विविध रूप से उच्चरित होती हैं। इसके साथ ही शब्दों और वाक्यों की रचना में, उनके व्याकरणात्मक कार्य की दृष्टि से, अनेक नियमितताएं भी होती हैं। जहां तक उच्चारण का प्रश्न है, अंग्रेज़ी शब्द **'केम'** (came) के रूप में कोई विसंगति नहीं है : तुल०—**लेम** (lame), **मेम** (maim), **गेम** (game), **सेम** (same), आदि ! इसमें जो बात अनियमित है, वह है इसका **'कम'** के साथ (**लव=लव्ड, जम्प=जम्प्ड,** आदि को ध्यान में रखते हुए) सम्बन्ध। क्योंकि **'केम'** जैसे रूप व्याकरणात्मक रचनाओं के नियमित ढांचे से बाहर के ठहरते हैं, अतः एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास जाते हुए स्वभावतः उन्हें 'नियमित' करने का प्रयास किया जाता है। इतनी बात तो 'युवा वैयाकरणों'

को भी स्पष्ट हो चुकी थी। किन्तु, उन्होंने **'ध्वनियों'** के रूप में भाषा के प्रकाशन के **भौतिक** पक्ष और व्याकरणात्मक संरचना के **'मनोवैज्ञानिक'** पक्षों के बीच एक बहुत स्पष्ट विभेदक रेखा खींच दी थी। परिणामतः, उनकी यह धारणा बन गई थी कि केवल **भौतिक** पक्ष ही नियमित विकास के 'नियमों' से परिचालित होता है। अब हम यह बात जानते हैं कि शब्द या वाक्य की रचना के लिए ध्वनियां जिस प्रकार से परस्पर संयुक्त होती हैं, उसकी व्याख्या केवलमात्र, या प्राथमिक रूप में, इन ध्वनियों की 'भौतिक' प्रकृति की परिभाषा में ही नहीं की जासकती। 'सादृश्य' का नियम किसी विशिष्ट भाषा में नियमित ध्वनिसमूहों की रूप-रचना के विषय से उतना ही सम्बद्ध है, जितना कि वह व्याकरणात्मक **'रूपावलियों'** की रचना से सम्बद्ध है (दे० १. २. ३)। बालक के लिए इनमें से जितना प्रथम को सीखना आवश्यक है, उतना ही दूसरे को सीखना भी आवश्यक है।

भाषा में परिवर्त्तन को हम **सादृश्यों** और **वैषम्यों** की एक प्रणाली द्वारा दूसरी प्रणाली से स्थानान्तरण के रूप में भी देख सकते हैं। ये परिवर्त्तन 'आदान' जैसे 'बाह्य' कारणों से भी होसकते हैं, और **संरचनात्मक दबाव** जैसे 'आन्तरिक' कारणों के परिणाम रूप में भी। यहां 'संरचनात्मक दबाव' का अर्थ है : भाषा के ढांचे की अनुरूपता में लाकर 'अनियमितताओं' को 'नियमित' या 'नियमानुकूल' करना। क्योंकि ये परिवर्त्तन भाषा-प्रणाली के विविध स्तरों में एक ही समय में घटित होने सम्भव हैं, अतः इनका परिणाम अनिवार्य रूप से 'अनियमितता' के क्रमिक निवारण के रूप में ही नहीं होता। उदाहरणार्थ, प्रागैतिहासिक लैटिन में दो स्वरों के मध्यवर्त्ती ***स्** का 'र्' में रूपान्तरण एक नियमित विकास का ही अंग था (दे० १. ३. १३)। आरम्भ में सम्भवतः यह परिवर्त्तन एक-दो शब्दों में ही हुआ होगा; किन्तु बाद में 'सादृश्य' या 'नियमितता' के आधार पर व्यापक रूप धारण कर गया। यह परिवर्त्तन सभी शब्दों में चाहे एक ही समय में हुआ या नहीं, इसका परिणाम यह अवश्य हुआ कि ध्वनियों के अनुमत संघात के स्तर पर एक नई प्रणाली स्थापित हुई (दो स्वरों के बीच में **'स्'** न आसकने के रूप में)। किन्तु ध्वनियों के स्तर पर आने वाली इस 'नियमितता' ने व्याकरणात्मक दृष्टि से कुछ विसंगतियां या अनियमितताएं भी उत्पन्न करदीं : यथा—**'कुल्तोर : कुल्तोरिस्'** की तुलना में **'ओनोस : ओनोरिस'**। इन अनियमितताओं को भी बाद में **संरचनात्मक दबाव** द्वारा व्याकरणात्मक स्तर पर, **'ओनोर : ओनोरिस'** के रूप में, नियमित कर लिया गया। भाषा के विविध स्तरों पर होने वाले ये परिवर्त्तन प्रणालीगत रूप में क्योंकि एक ही प्रावस्था में नहीं होते, अतः भाषाएं कभी भी विसंगति या अनियमितता से रहित सन्तुलन प्राप्त नहीं कर पातीं। एक ही प्रावस्था में इन परिवर्त्तनों के घटित न होने के दो कारण हो सकते हैं : सम्भव है कि 'नियमितता' के परस्पर विरोधी कुछ नियम एक ही समय में कार्य कर रहे हों और यह कि कुछ विशिष्ट बहुप्रचलित रूप—(अं०) **केम**, **वेण्ट** आदि—नियमानुकूलता

के प्रतिरोधी होते हैं। ये सभी बातें यहां सोदाहरण नहीं कही गईं। पर कदाचित् इस बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त कह दिया गया है कि 'अनियमितताओं' का जन्म कभी-कभी पूर्वतर 'नियमितताओं' से भी होता है (भले ही यह बात कितने ही विरोधाभास से भरी दिखाई दे); और यह भी कि **सादृश्य, ढांचा** या **'संरचना'** वह सर्वोच्च सिद्धान्त है, जिसके बिना भाषा को ऐसे रूप में नहीं सीखा जासकता कि उसके द्वारा वे बातें भी कही जासकें, जिन्हें आज तक नहीं कहा गया। संरचना या 'प्रतिरूपण' के विविध स्तरों की मान्यता हमें भाषाविज्ञान के तीसरे क्रमिक काल में ले आती है: **बीसवीं शती के 'संरचनात्मक भाषाविज्ञान' के युग में।**

१. ४ आधुनिक भाषाविज्ञान

१. ४. १ फर्दिनां दे सौस्यूर

यदि आधुनिक भाषाविज्ञान का जनक किसी एक ही व्यक्ति को कहना हो, तो वह व्यक्ति है महान् स्विस विद्वान् **फर्दिनां दे सौस्यूर**, जिनके (मरणोपरान्त विद्यार्थियों को लिखाए नोट्स के आधार पर पुनर्गठित) व्याख्यानों का प्रकाशन सन् १९१५ में **'कूर दे लिंग्विस्तीक जेनेराल'** (सामान्य भाषाविज्ञान का पाठ्यक्रम) के नाम से हुआ। आज भाषाविज्ञान के क्षेत्र में बहुत से 'वाद' पहचाने जासकते हैं; किन्तु उनमें से प्रायः हर-एक किसी न किसी रूप में उनके इस ग्रन्थ से प्रभावित है। इनमें से बहुत से 'ग्रन्थों' के निर्देश का अवसर हम अगले अध्यायों में पाएंगे; फिर भी पिछले पचास वर्षों में भाषाविज्ञान के विकास में उनके योग के मूल्यांकन का कोई सामान्य प्रयास हम नहीं करेंगे। सच तो यह है कि इस खण्ड में हम काल-क्रम के नियम का सर्वथा त्याग कर रहे हैं। इसके स्थान पर हम केवल कुछ उन सर्वप्रमुख लक्षणों को ही गिनाएंगे, जो आधुनिक भाषाविज्ञान को पूर्वतर युगों के भाषाध्ययन से भिन्न सिद्ध करते हैं।

१. ४. २ बोलचाल की भाषा की प्राथमिकता

जैसा कि हम अनुच्छेद १. २. ४ और १. २. ८ में पहले ही देख आए हैं, परम्परानुगामी व्याकरण यह मान कर चलता था कि बोलचाल की भाषा, आदर्श लिखित भाषा की अपेक्षा, निम्नतर है तथा एक दृष्टि से उस पर आश्रित भी है। इस दृष्टि के सजग विरोध में समकालीन भाषाविज्ञानी मानता है (यद्यपि कुछ प्रमुख शर्तों के साथ, जिन्हें हम इसी प्रसंग में बताएंगे) कि बोलचाल की भाषा ही प्राथमिक है, तथा **लेखन** 'वाणी' को एक अन्य माध्यम द्वारा प्रतिनिधित्व देने का एक उपायमात्र है।

लिखित भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषा की प्राथमिकता के इस सिद्धान्त का अर्थ है कि भाषा के लिखित रूप की अपेक्षा 'वाणी या बोली' अधिक प्राचीन और व्यापक है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि 'वाणी' को 'लेखन' की अपेक्षा प्राचीनतर 'सिद्ध' नहीं किया जासकता। पर यह तभी सत्य होसकता है, यदि हम 'सिद्ध करने' का अर्थ उससे कहीं अधिक पूर्णता तक लें, जितना कि ऐतिहासिक तथ्यों के सम्बन्ध में लेना आवश्यक है। हम किसी भी ऐसी लेखन-प्रणाली को नहीं जानते, जिसका अस्तित्व छह या सात हज़ार वर्ष से अधिक पुराना हो! दूसरी ओर, ऐसी किसी मनुष्य-जाति से हम परिचित नहीं, जिसका कार्य 'वाणी' के प्रयोग के बिना चल पाया हो। ऐसी भी सैंकड़ों भाषाएँ हैं, जिनका किसी भी लेखनप्रणाली से तब तक कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा, जब तक अपने समय में किन्हीं धर्मप्रचारकों या भाषाविदों ने ही उसे 'लिखना' आरम्भ नहीं किया। अतः यह कल्पना उचित एवं तर्कसंगत ही प्रतीत होती है कि 'वाणी' का आविर्भाव मानव-समाज के आविर्भाव के साथ-साथ ही हुआ।

'वाणी' और 'लेखन' की सापेक्ष प्राचीनता के महत्त्व का प्रश्न उतना मुख्य नहीं है। इन दोनों के बीच विद्यमान सम्बन्ध को समझने के लिए कहीं अधिक तर्कसंगत यह तथ्य है कि लिखने की सभी प्रणालियां स्पष्टतः बोली जाने वाली भाषा की इकाइयों पर ही आधारित होती हैं। (कुछ मामलों में हमें किसी भाषा के पूर्वतर रूप, या उससे सम्बद्ध किसी अन्य भाषा के उस पूर्वतर रूप पर भी विचार करना अवश्यक हो जाता है, जिसकी लेखन-प्रणाली को 'उधार' के रूप में विचाराधीन भाषा द्वारा अपनाया गया है। किन्तु इससे उक्त सिद्धान्त का औचित्य समाप्त नहीं होता।) बोलचाल की भाषा के विवरण में भाषाविद् के सामने सामान्यतः यह स्थिति आती है कि उसे, अन्य बहुतसी इकाइयों के साथ तीन प्रकार की 'इकाइयां' स्वीकार करनी ही चाहिएँ : **ध्वनियां, एकाच् (अक्षर या सिल्लेबल्स), और शब्द** (वर्ड्स)! सामान्यतः प्रयोग में व्यवहृत सभी लेखनप्रणालियां इनमें से एक या दूसरी इकाई को आधार मानकर चलती हैं। यह स्वीकार करने के बाद कि किसी बोलचाल की भाषा में ये तीनों स्तर विद्यमान होते हैं, लेखन की उक्त तीनों प्रणालियों का इन तीनों भिन्न-भिन्न स्तरों से आविर्भाव दिखाना सरल होजाता है। यद्यपि कोई विशिष्ट ध्वनि-संकेत-माला, या कोई लिपि-माला, किसी विशिष्ट भाषावर्ग के लिए अन्यों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होसकती है; फिर भी बोली जानेवाली विविध भाषाओं और उनकी लेखनप्रणाली के बीच कोई सहसम्बन्ध विद्यमान नहीं होता। सन् १९२६ में अरबी के स्थान पर 'रोमन' लिपि अपनाने पर भी बोलचाल की तुर्की भाषा में कोई अन्तर नहीं आया। और, चीन के वर्त्तमान शासकों द्वारा, चीनी भाषा की परम्परागत भावचित्रात्मक लिपि-प्रणाली के स्थान पर, 'ध्वनिपरक' लिपि चालू करने के प्रस्ताव में भाषा में किसी भी अन्तर को समाविष्ट करने की कोई भावना निहित नहीं है।

कई बार ध्वनि-परिवर्त्तन या भिन्न अक्षरविन्यास-प्रणाली वाली किसी अन्य भाषा से उधार लेने के कारण तथा अन्य ऐतिहासिक कारणों से कुछ शब्दों को हम लिखित रूप में अलग-अलग पहचान लेते हैं, यद्यपि उच्चरित रूप में उनमें ऐसा भेद सम्भव नहीं होपाता। इस प्रकार के **'समध्वनि'** कहे जाने वाले अंग्रेज़ी शब्दों के उदाहरण **'ग्रेट'** और **'मीट'** शब्द लिये जासकते हैं, जिन्हें दो भिन्न-भिन्न रूपों में लिखा जाता है : great : grate, meet : meat। इसके विपरीत, ऐसे भी शब्द होते हैं, जिनका लिखित रूप एक होने पर भी उन्हें दो भिन्न रूपों में उच्चारित किया जाता है। इन्हें हम **'समचित्र'** कह सकते हैं। अंग्रेज़ी में इसके उदाहरण 'read' और 'lead' लिए जासकते हैं, जिन्हें दो भिन्न रूपों में—'रीड्' और 'रॅड्' एवं 'लीड्' और 'लॅड्' के रूप में—उच्चारित किया जाता है। इस लेखन प्रणाली का, किसी भाषा के लिए तथा साहित्य एवं प्रशासन के लिए, जितना ही दीर्घतर प्रयोग होगा, उसके अक्षरविन्यास और उच्चारण में तब तक उतना ही अन्तर आते जाना सम्भव है, जब तक कि समय-समय पर इस अन्तर को लिपि-सुधार द्वारा दूर करने का प्रयास न किया जाए। लेखन-प्रणालियां अपने सम्पूर्ण इतिहास में अत्यधिक 'अनुदार' रही हैं। यह बात अंशतः उस श्रेण्य दृष्टिकोण की व्यापकता का परिणाम भी कही जासकती है, जिसके अनुसार भाषापरिवर्त्तन को 'भ्रष्टता' माना जाता है (दे० १. २. ४)। और इसे वर्त्तमान युग में अक्षर-विन्यास को मानक रूप देने के प्रयास के द्वारा भी अत्यधिक बल मिला है।

उक्त **समध्वनि** और **समचित्र** शब्दों के विकास द्वारा प्रदर्शित विविधता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कई अन्य अन्तर भी भाषा के लिखित और उच्चरित रूप में मिलते हैं। किसी भी लेखन-प्रणाली में प्रयुक्त विविध प्रकार की **तारता** (पिच्) या **बल** (स्ट्रेस) का प्रतिनिधित्व पूर्ण रूप में नहीं पाया जाता। विराम-चिन्हों अथवा प्रश्नवाचक या विस्मयादिबोधक चिन्हों के वाक्यात्मक विविधता के लिए किये गए प्रयोग का प्रचलन, एवं किसी शब्द पर भरपूर बल देने के हेतु उसे **तिर्यक्** (इटैलिक) या किसी अन्य विशिष्ट रूप में लिखने का अर्थ अधिक से अधिक यही लिया जासकता है कि इनके द्वारा लिपि की पूर्वोक्त कमियों को दूर करने का अधूरा प्रयास किया जाता है। फिर, उन विशिष्ट परिस्थितियों में, जिनमें लिखित भाषा का व्यवहार होता है, लेखक और पाठक का परस्पर साम्मुख्य नहीं होता। अतः बोलते समय जो बात हाव-भाव के द्वारा साथ-ही-साथ प्रकाशित कर दी जाती है, उसे भी लिखते समय शब्दरूप में ही प्रकट करना पड़ता है। इस प्रकार के अनेक अन्तरों की भाषा के लिखित और प्रयुक्त रूपों में बहुधा उपलब्धि इस सत्य को स्पष्ट करती है कि लिखित भाषा को प्रयुक्त भाषा का दूसरे माध्यम में रूपान्तरणमात्र ही नहीं माना जासकता।

किन्हीं विशिष्ट भाषाओं के विषय में लिखित रूप की अपेक्षा भाषा के व्यवहृत रूप की प्रधानता का सिद्धान्त कुछ और भी प्रतिबन्धों (शर्तों) पर आधारित

होता है। साक्षर समाज में, विशेषकर अपने अतीत के लेखों के ज्ञान और महत्त्व से परिचित या शिक्षित समाज में, भाषा के लिखित और प्रयुक्त रूप भिन्न-भिन्न गति से विकसित हो सकते हैं; तथा शब्दावली और व्याकरण की दृष्टि से एक-दूसरे से वे पर्याप्त दूर जासकते हैं। वर्त्तमान फ्रेंच इसका आश्चर्यजनक उदाहरण कही जासकती है। उसमें केवल व्याकरणात्मक दृष्टि से असम्बद्ध शब्दों में **समध्वनितामात्र** (यथा, cou (ग्रीवा), coup (ध्यान) और cout (मूल्य) का समध्वनिक उच्चारण '**कू**' ही है) ही नहीं पाई जाती, बल्कि व्याकरण-संगत अनेक सम्बद्ध शब्द भी (यथा, एक ही 'नाम' या 'आख्यात' के एकवचन और बहुवचन के रूप), अक्षरविन्यास की लिपिगत विविधता होने पर भी, उच्चारण करने पर तनिक भी पृथक् रूप में पहचाने नहीं जा सकते (उदा० il pense=वह सोचता है, तथा ils pensent=वे सोचते हैं, में '**इल्**' उच्चारण उभयत्र समान है)। परिणामतः अनेक फ्रेंच वाक्य ऐसे हैं, जो प्रसंग से बाहर और उच्चारण के समय अस्पष्ट प्रतीत होते हैं, यद्यपि लिखित रूप में वे पूर्णतः स्पष्ट होते हैं: यथा, il vient toujours a sept heures (वह सदा सात बजे आता है) और il vient toujours a cette heure (वह सदा सात बजे आता है) का उच्चारण एक सा है: **'इल् वियाँ तुज़ूख़ अॅ सेॅत् यूर'**। इस समध्वनिता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कुछ **क्रियारूप फ्रेंच** भाषा के बोले जानेवाले रूप में से सर्वथा लुप्त होगये हैं: यथा, **सामान्य भूतकाल** (उदा० donna : 'दोना'=दिया, और repondit : रेपॉन्दी =उत्तर दिया, आदि) तथा **लेद्‌मूलक भूत** (उदा०—quil donnat : 'किल् दोना'='कि उसे देना चाहिए', आदि)! बालक इन्हें सीखते अवश्य हैं, किन्तु केवल लिखित रूप में इनके प्रयोग के लिए ही।

व्याकरणात्मक संरचना के इन विभेदों के अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसी अभिव्यक्तियां है, जिन्हें यदि वार्तालाप में प्रयोग कियाजाए, तब उन्हें 'किताबी प्रयोग' ही कहा जाएगा। कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनका प्रयोग नहीं होता (हां, जब तक उनका प्रयोग किसी नाटक या उपन्यास में आए किसी वार्तालाप में ही न हो)। दूसरे शब्दों में, **लिखित** और **प्रयुक्त फ्रेंच** (लिखित और प्रयुक्त अंग्रेज़ी की अपेक्षा कुछ अधिक मात्रा में ही) शिक्षित फ्रांसीसियों द्वारा दो सर्वथा पृथक् भाषाओं के रूप में सीखी जाती हैं। चीनी भाषा के इन दोनों रूपों में तो और भी अधिक विभेद पाया जाता है; क्योंकि मन्दारिन और कैण्टनी आदि 'बोलियों' को यद्यपि प्रचलन की दृष्टि से स्वतन्त्र अनुभव किया जाता है, फिर भी 'लिपि' सब के लिए अनिवार्यतः एक ही है। इस प्रकार इन दोनों बोलियों के शिक्षित प्रयोक्ता भी परस्पर एक दूसरे से लिखित माध्यम से व्यवहार कर सकते हैं; यद्यपि बोलने पर वे ऐसा करने में समर्थ नहीं भी रह सकते।

यद्यपि इस प्रकार के सत्य 'वाक्प्रयुक्त' भाषा की प्राथमिकता के सिद्धान्त में सुधार की आवश्यकता जताते हैं, पर उसे सर्वथा त्यागने पर बाध्य नहीं करते।

क्योंकि, ऐसा कदाचित् ही घटित होता है कि लिखित भाषा उस 'वाक्प्रयुक्त' भाषा से विच्छिन्न होकर सर्वथा स्वतन्त्र रूप ग्रहण कर जाए, जिससे मूल रूप में इसका जन्म हुआ होता है। यह बात उस लैटिन के साथ भी निश्चय ही घटित हुई, जिसका प्रयोग सदियों तक यूरोप में धर्म, प्रशासन और विद्वत्ता के क्षेत्र में निरन्तर होता रहा। कैथोलिक चर्च द्वारा अब तक भी इसका प्रयोग होता है। मध्ययुगीन और पुनर्जागरणकालीन यूरोपीय विद्वानों, धर्मप्रचारकों और कूटनीतिज्ञों द्वारा प्रयुक्त **लैटिन** एक **मृत** भाषा ही थी। क्योंकि यद्यपि वे इसे बचपन में सीखते अवश्य थे, किन्तु इसका प्रयोग वे, दैनन्दिन व्यवहार में सर्वथा न करके, केवल किन्हीं सीमित एवं विशिष्ट उद्देश्यों और प्रयोजनों के लिए ही करते थे। फिर, वस्तुतः यह एक अपरिवर्त्ती लिखित भाषामात्र थी, जिसका आधार अनेक सदी पूर्व बोली जाने वाली 'जीवित' लैटिन थी। जिन अवसरों पर इसे इन परवर्त्ती युगों में बोलचाल के लिए व्यवहृत किया भी जाता था, उस समय प्राचीन लिखित ग्रन्थों पर ही आश्रित रहकर ऐसा करना होता था। हम देख ही चुके हैं कि लैटिन की इस विशिष्ट स्थिति ने ही मध्ययुगीन एवं पुनर्जागरणकालीन विद्वानों की इस श्रेण्य धारणा की पुष्टि को आधार प्रदान किया, कि **'लिखित भाषा ही प्राथमिक होती है'** (दे० १. २. ७)। इस प्रकार की **'मृत भाषाओं'** के अन्य उदाहरण **संस्कृत, बाइजैण्टी ग्रीक**, तथा **प्राचीन चर्च-स्लैवोनी** भाषाओं के रूप में लिए जासकते हैं, जिनका प्रयोग धर्म और विद्वत्ता के क्षेत्र में होता ही रहा।

लिखित और व्यवहृत भाषारूपों के बीच सम्बन्ध की चर्चा करते हुए (जैसा कि हम देख चुके हैं, ये सम्बन्ध 'सरल' नहीं हैं, और विभिन्न भाषाओं में विभिन्न प्रकार से व्यक्त होते हैं) हमने उन विविध 'बोलियों' के विषय में कुछ भी नहीं कहा, उक्त दोनों भाषारूपों के विचार-प्रसंग में जिन्हें पहचानना नितान्त आवश्यक है। लिखित भाषा की प्राथमिकता पर बल देते हुए, परम्परानुगामी वैयाकरण का ध्यान निस्संदेह साहित्यिक भाषा की ओर ही रहता था (विशेषकर **तार, पत्रकारिता, पत्रों के समाचार-शीर्षक**, या **जन-सूचना**, आदि की भाषा की अपेक्षा), और वह इस बात को कहने के लिए भी व्यग्र रहता था कि, **'साहित्यिक भाषा** ही भाषा का **भद्रतम** और **शुद्धतम** रूप है'। अब हम इसी **प्रश्न** की चर्चा को ले सकते हैं। व्यवहार-भाषा की प्राथमिकता के सिद्धान्त की बात हम अगले अध्याय में, २. २. ६ में, देखेंगे।

१. ४. ३ भाषाविज्ञान वर्णनात्मक विज्ञान है, अनुशासनात्मक नहीं

परम्परानुगामी वैयाकरण का झुकाव इस धारणा को मानने की ओर रहता था कि न केवल साहित्यिक भाषा व्यवहार-भाषा की अपेक्षा अधिक मूलागत या आधारभूत ही है, बल्कि उसका 'साहित्यिक रूप', उसके अन्य किसी भी लिखित या व्यवहृत रूप की अपेक्षा, अधिक **शुद्ध** और **साधु** भी होता है। और यह भी कि

वैयाकरण के नाते उसका यह कर्त्तव्य है कि वह भाषा के इस 'रूप' की 'भ्रष्टता' से रक्षा करे। इस विषय में अनेक विभिन्न बातें विचारणीय हैं। किन्तु उन सब पर ही वर्णनात्मक और अनुशासनात्मक भाषाविज्ञान के बीच विभेद प्रदर्शित करने के प्रसंग में अत्यन्त सरलता से विचार किया जा सकता है।

सर्वप्रथम विचारणीय प्रश्न है—**'शुद्धता'** और **'साधुता'** का ! यह तो स्पष्ट ही है कि भाषा की शुद्धता और साधुता के कोई भी प्रतिमान निरपेक्ष नहीं हैं। इन संज्ञाओं की व्याख्या पहले से ही चुने किन्हीं मानों या आदर्शों की अपेक्षा में ही की जा सकती है। हम कह सकते हैं कि अमुक विदेशी ने अमुक प्रयोग में त्रुटि की है; क्योंकि उसने ऐसा प्रयोग किया है जिसे देशीय जन कभी न करते। यदि हम चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि अंग्रेज़ी की अमुक शाखा का अमुक प्रयोग 'त्रुटित' या 'व्याकरणविरुद्ध' है, क्योंकि वह आदर्श अंग्रेज़ी के प्रतिरूपों की समता में नहीं है। पर यहाँ हम यह भी मानकर चल रहे हैं कि उस व्यक्ति को उस विशिष्ट परिस्थिति में **आदर्श अंग्रेज़ी** बोलनी चाहिए थी। यह कहना, कि कोई शब्द केवल इसलिए **साधु** या **असाधु** है कि वह 'आदर्श' माने जाने वाले किसी अन्य रूप से (आन्तरिक या बाह्य रूप में) समरूप या भिन्न है, केवल पुनरुक्तिमात्र ही है। सामाजिक या धार्मिक रूप में भिन्न बना हुआ भाषा का प्रत्येक रूप 'शुद्धता' या 'साधुता' के अपने ही अन्तर्हित प्रतिमानों पर आधारित होता है। एक बार यह बात अनुभव करने और मान लेने पर, भाषा के अधिक सन्तोषपूर्ण वर्णन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। यह प्रश्न कुछ भिन्न प्रकार का है कि, 'एक ही सामाजिक वर्ग की या एक ही प्रदेश की भाषा को व्यापकतर प्रयोग के लिए 'आदर्श' के रूप में (यथा,—साहित्यिक भाषा के आधार के रूप में) स्वीकार किया जाए या नहीं ?' भाषावैज्ञानिक का प्रमुख कार्य इस बात का **वर्णन करना** है कि लोग वास्तव में किस प्रकार अपनी भाषा को बोलते या लिखते हैं, यह **विधान करना** नहीं कि उन्हें किस प्रकार बोलना या लिखना चाहिए। दूसरे शब्दों में, **भाषाविज्ञान प्रमुखतः वर्णनात्मक है, अनुशासनात्मक या आचारात्मक नहीं।**

दूसरा विचारणीय प्रश्न इस धारणा के सम्बन्ध में यह है कि भाषा में परिवर्तन का अर्थ उसमें 'भ्रष्टता' आने से है या नहीं ? सभी भाषाएँ अनवरत रूप में परिवर्त्तनशील होती हैं। यह एक अनुभूतिपरक तथ्य है, जिसकी व्याख्या अनेक घटकों की दृष्टि से की जा सकती है। जैसा कि हम पिछले खण्ड में देख चुके हैं, इनमें से कुछ घटक अब कम या अधिक अच्छी तरह समझ लिये गए हैं। न ही यह बात शोकास्पद है कि भाषाएँ अब की भाँति इसी तरह अनेक रूप में परिवर्त्तित होती रहें। यह माना जा सकता है कि प्रकृतिवशात् सब भाषाएँ अपनी प्रयोक्ता-जातियों की भिन्न-भिन्न और बहुमुखी सामाजिक आवश्यकताओं को निबाहने में प्रभावकारी और सक्षम संचारप्रणाली के रूप में काम करती हैं। अब क्योंकि ये आवश्यकताएँ परिवर्त्तनशील हैं, अतः भाषाओं को भी नई परिस्थितियों के योग्य

परिवर्त्तन ग्रहण करना होता है। यदि नए शब्दों की आवश्यकता होती है, तब उन्हें अपनी शब्दावली में अपना लिया जाता है। फिर भले ही, यह अन्यत्र से 'उधार' लेकर हो, या अपने ही विद्यमान तत्त्वों के संयोग के द्वारा भाषा के उत्पादक स्रोतों से नवनिर्मित करके। कई नए विभेद स्थापित हो जाते हैं, जबकि कई पुराने विभेद मिट भी जाते हैं। इन मिटने वाले विभेदों को अब किंचित् भिन्न उपायों से प्रकट किया जाने लगता है। इस बात से इनकार करते हुए, कि भाषा में परिवर्त्तन बुरे ही होते हैं, हम निश्चय ही यह नहीं कहना चाहते कि वे अच्छाई ही लिए होते हैं। हम तो महज यह कहना चाहते हैं कि भाषा-परिवर्त्तन के मूल्यांकन का कोई भी आदर्श उस भाषा को प्रयोग करने वाले समाज द्वारा स्वयंस्वीकृत विविध उत्तर-दायित्वों को पहचानने पर आधारित होना चाहिए।

इस बात पर अधिक बल देने की आवश्यकता है कि **वर्णन** और **अनुशासन** में अन्तर करते हुए भाषाविद् यह कभी नहीं कहना चाहता कि भाषा के विधायक अध्ययन का कोई महत्त्व नहीं है। इस बात से निषेध नहीं किया जा रहा कि किन्हीं अन्य भाषाओं के स्थान पर किसी एक भाषा-विशेष की व्यापक स्वीकृति को प्रोत्साहित करने के पीछे कुछ उचित सांस्कृतिक, सामाजिक या राजनैतिक कारण स्थित हो सकते हैं। विशेष रूप से, अपेक्षाकृत अधिक समरूप साहित्यिक प्रतिमान अपनाने से होने वाले प्रशासनिक और शैक्षणिक लाभ स्पष्ट ही हैं। फिर भी, दो बातों की अनुभूति होना बहुत महत्त्वपूर्ण है : **प्रथम** यह कि साहित्यिक-प्रतिमान स्वयं में परिवर्त्तनशील हैं, और **द्वितीय** यह कि अपने उद्गम की दृष्टि से 'साहित्यिक प्रतिमान' सामान्यतः सामाजिक और प्रादेशिक दृष्टि से किसी दृढ़निश्चयी जन-वर्ग की 'बोली' पर आधारित होते हैं। अतः वह भाषा किसी भी दृष्टि से (भले ही भाषाविद् कैसे भी उसे समझाए) किसी अन्य वर्ग या प्रदेश की भाषा या बोली की अपेक्षा अधिक 'साधु' या अधिक 'शुद्ध' नहीं कही जा सकती। यह साहित्यिक प्रतिमान बनी भाषा यदि पढ़ने-लिखने की दृष्टि से अधिक सम्पन्न शब्दावली से युक्त होती है, तो यह इस कारण कि साहित्य के रूप में हम अपने प्रतिनिधि के माध्यम से वर्त्तमान और अतीत की अन्यान्य जातियों के जीवन में प्रवेश कर पाते हैं, और उनके विविधतामय अनुभवों के भागीदार बन पाते हैं।

परम्परागत व्याकरण के साहित्यिक पक्षपात को अवमानित करते हुए, आधुनिक भाषाविद् इस बात पर बल देना चाहता है कि भाषा का प्रयोग अनेक प्रयोजनों से होता है। अतः इन कार्यों के सम्बन्ध में इसकी उपयोगिता उन मानों के आधार पर नहीं जाँची जानी जाहिए, जो एकमात्र या प्रमुखतः साहित्यिक भाषा पर ही लागू होते हैं। भाषाविद् यह नहीं कहना चाहता कि हमारे विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में उन साहित्यिक प्रयोजनों के अध्ययन को भी स्थान मिलना चाहिए, जिनके लिए भाषा को नियोजित किया जाता है। साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए तो वह सर्वथा ही उत्सुक नहीं है। इस बात को भाषा-

विज्ञान के आलोचकों ने प्रायः ही ग़लत रूप में समझा है।

१. ४. ४ भाषाविद् की रुचि सभी भाषाओं में होती है

यह सिद्धान्त उपरिकथित सिद्धान्त का साधारणीकरणमात्र है। अब भी आम-तौर पर सामान्य जन 'आदिम' भाषाओं के बारे में बात करते मिलेंगे, और यह कहते पाए जाएँगे कि, **'ऐसे भी लोग हैं, जिनकी भाषा में केवल कुछ-सौ ही शब्द हैं; वहाँ शेष वक्तव्य हाव-भावों के द्वारा ही व्यक्त किया जाता है।'** सत्य यह है कि भाषा कितनी भी आदिमतम हो, और उसके बोलने वाले कितने ही 'पिछड़े' अथवा 'असभ्य' हों, अधिक छानबीन करने पर वह व्यवहार की एक जटिल और अत्यधिक विकसित प्रणाली के रूप में सिद्ध होती है। फिर, सत्य तो यह भी है कि समाज की विकास-प्रक्रिया में होने वाले सांस्कृतिक विकास के विविध चरणों और उन चरणों में बोली जानेवाली भाषा के 'प्रकार' के बीच कोई सहसम्बन्ध सर्वथा विद्यमान नहीं है। यदि उन्नीसवीं शती की भाषा-विकास-सम्बन्धी इन धारणाओं में सत्य का कुछ अंश भी विद्यमान है, कि भाषा सदा जटिलता से सरलता की ओर विकसित होती है **अथवा** वह सदा सरलता से जटिलता की ओर विकसित होती है, तो इस सत्य की उपलब्धि या पुष्टि विश्व में आज बोली जानेवाली सहस्रों भाषाओं में से एक के भी अध्ययन से तो सम्भव नहीं हुई है। आज के अधिकांश भाषाविद् भाषा के उद्गम और विकास के सम्बन्ध में सामान्य शब्दों में परिकल्पनाएँ व्यक्त करने से बचे रहते हैं। उन्होंने जान लिया है कि सभी भाषाओं का समान आधार पर अध्ययन करना अधिक फलप्रद है। अब तक इस प्रकार के अध्ययन के परिणामों से मानवता के सुदूर अतीत में घटित भाषा के उद्गम और विकास के साधारण प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा है।

किसी भी विशिष्ट विषय के अध्ययन या उस पर संतोषप्रद चर्चा करने के लिए किसी दूसरी भाषा को, या किसी विशिष्ट शब्दावली को, सीखना आवश्यक हो सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति **ग्रीक दर्शन या श्रेण्य दर्शन** का अध्ययन करना चाहता है, तब उसे ग्रीक या **मध्ययुगीन लैटिन** का अध्ययन करना अनिवार्य हो जाता है (अथवा, उसमें कम-से-कम उसकी आधारभूत शब्दावली के महत्त्व को टीकाओं या भाष्यों के मनोयोग और प्रतिभापूर्ण अध्ययन के द्वारा समझने की योग्यता तो होनी ही चाहिए; और यह भी भाषाओं को अंशतः सीखने का एक अप्रत्यक्ष तरीका ही है)। तब वह पाएगा कि ग्रीक दार्शनिकों द्वारा विचारे गए प्रश्नों पर तबतक कोई समर्थ विचार करना असम्भव है, जबतक उन्हीं की शब्दावली का प्रयोग न किया जाए। इस प्रकार यह कहा जासकता है कि उसकी अपनी भाषा (आधुनिक अंग्रेज़ी आदि) ग्रीक या लैटिन की अपेक्षा अधिक 'हीनतर' या 'निर्धन' ठहरती है; क्योंकि वह इस विशिष्ट क्षेत्र में उसे आवश्यक प्रतिपत्ति के उपाय प्रदान नहीं करती। यह बात इस धारणा के विपरीत जाती प्रतीत हो सकती है कि सभी भाषाएं, अपने-

अपने जातीय क्षेत्र की आवश्यकताओं को पूरा करने में व्यवहार की योग्य और सूक्ष्म प्रणालियां होती हैं। किन्तु विरोध का केवल यह आभासमात्र है। सार्वभौम लक्षणों के वर्गीकरण के समय ढूंढे जाने वाले विभेदों की संख्या सिद्धान्ततः अनन्त हो सकती है। उनमें से उस जाति के शब्दकोश में तो वे ही लक्षण स्थान पा सकेंगे, जो उसके जीवन के लिए महत्त्व रखते होंगे। साधारण बोलचाल की अंग्रेज़ी के सामान्य शब्दों में हम प्राचीन दर्शन की कुछ धारणाओं को व्यक्त करपाने में समर्थ शब्दावली नहीं पा सकते। यह सत्य इस बात का प्रत्यंकनमात्र है कि हममें से अधिकांशजन प्राचीन दर्शन की समस्याओं पर विचार ही नहीं करते। यदि हम करते होते, तो इसके लिए शब्दावली भी रची गई होती। यदि हम उस समस्त विस्तृत शब्दावली को **अंग्रेज़ी** की शब्दावली कहना चाहें, जिसे विभिन्न उपवर्गों ने भौतिकी, गणित, आदि के विशिष्ट प्रयोजनों की दृष्टि से रचा है, तो यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम 'अंग्रेज़ी' की व्याख्या या परिभाषा क्या करते हैं। इस विषय में बाद में हम और अधिक कहेंगे। यहाँ तो स्मर्त्तव्य बात यही है कि कोई भी भाषा किसी भी अन्य की अपेक्षा आन्तरिक दृष्टि से अधिक 'सम्पन्न' नहीं होती। प्रत्येक भाषा अपने प्रयोक्ताओं के विशिष्ट प्रयोजनों के अनुकूल बन जाती है।

सिद्धान्ततः भाषाविद् की सब भाषाओं के प्रति चिन्तना उसके अपने विषय के स्वतःघोषित लक्ष्य से प्रसूत होती है। यह लक्ष्य है : **मानवीय भाषा की संरचना के किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त का निर्माण।** भाषा के सभी उल्लिखित या पहचाने गए प्रयोग आधारभूत 'सामग्री' का काम देते हैं, जिसे सामान्य सिद्धान्त द्वारा प्रणालीबद्ध या व्याख्यात किया जा सकता है।

१. ४. ५ समकालिक वर्णन की प्राथमिकता

धारणा और शब्दावली की दृष्टि से जिन अनेक विभेदों को **दे सौस्यूर** ने भाषाविज्ञान में प्रचलित किया, उनमें से एक प्रमुखतम विभेद है भाषा के 'समकालिक' और 'कालक्रमिक' अध्ययन का। (बहुधा इन दोनों में अन्तर को 'ऐतिहासिक' और 'वर्णनात्मक' अध्ययन के अन्तर के रूप में भी स्पष्ट किया जाता है। 'वर्णनात्मक' शब्द का यह प्रयोग उसके उस अर्थ से भिन्न भावना में किया जाता है, जिसमें उसे 'अनुशासनात्मक' की तुलना में प्रयोग किया गया है (दे० १. ४. ३)। इसी कारण सौस्यूर द्वारा प्रयुक्त संज्ञाओं का प्रयोग अधिक वांछनीय है।) किसी भाषा के 'कालक्रमिक अध्ययन' का अर्थ उसके ऐतिहासिक (अर्थात् कालानुसारी) विकास के वर्णन से है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी के कालक्रमिक अध्ययन का अर्थ हो सकता है : उसके प्राचीनतम उल्लेखकाल से लेकर आजतक की, अथवा इससे अधिक सीमित व्यवधान की, उसकी विकास-प्रक्रिया का अध्ययन। इसके विपरीत, समकालिक अध्ययन का अर्थ है : परिभाषा की किसी एक विशिष्ट 'स्थिति' का वर्णन (अर्थात्, काल की दृष्टि से एक विशिष्ट समय की उस भाषा की स्थिति का अध्ययन)। यह जान

लेना अत्यावश्यक है कि 'समकालिक अध्ययन' की सीमा केवल आधुनिक व्यवहृत भाषा तक ही सीमित नहीं होती। हम ऐसा अध्ययन उन भाषाओं का भी कर सकते हैं, जिन्हें हम पहले 'मृत' कह आए हैं; यदि उनके सम्बन्ध में पर्याप्त अध्ययन-सामग्री हम तक पहुँच पाए उल्लेखों में सुरक्षित है। निश्चय ही किसी आधुनिक व्यवहृत भाषा की अपेक्षा ऐसी 'मृत' भाषा का वर्णन पूर्णता की दृष्टि से कुछ 'कम' या 'हीन' होगा, क्योंकि उस भाषा के विषय में कुछ कथनों के औचित्य की परीक्षा जन-प्रयोग की साक्षी पर अधिक नहीं की जा सकती। परन्तु कुछ ऐसी भी 'मृत' भाषाएं हैं, जिनके अधिक पूर्ण समकालिक अध्ययन के योग्य सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलभ्य है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, उन्नीसवीं शती के 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' का मुख्य लक्ष्य **कालक्रमिक** अध्ययन ही था (दे० १. ३. १)। **समकालीन** वर्णन की प्राथमिकता का सिद्धान्त, जोकि बीसवीं शती के अधिकांश भाषात्मक अध्ययन का विशिष्ट लक्षण रहा है, इस बात को आधार मान कर चलता है कि किसी विशिष्ट कालात्मक 'स्थिति' के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विचार सर्वथा असम्बद्ध ठहरता है। इस सिद्धान्त का विनियोग सौस्यूर द्वारा प्रयुक्त एक प्रसिद्ध उपमा से स्पष्ट किया जा सकता है, जिसका प्रयोग उन्होंने विविध सैद्धान्तिक बातों को कहने के लिए किया था। इस उपमा में भाषा की तुलना **शतरंज के खेल** से की गई है।

इस खेल में 'चौपड़' की स्थिति निरन्तर बदलती रहती है। किन्तु किसी एक चाल के तुरन्त बाद की स्थिति का वर्णन उस क्षण में विविध स्थलों पर स्थित मोहरों के आधार पर किया जासकता है। इस वर्णन में इस बात का कोई महत्त्व नहीं रह जाता कि यह स्थिति खेलने वालों की किन-किन चालों के परिणाम से (संख्या, प्रकृति और चाल के क्रम की दृष्टि से) प्राप्त हुई है। इस का समकालीन वर्णन पूर्वतर चालों की चर्चा बिना किये ही किया जासकता है। सौस्यूर का कहना था कि यही बात भाषा के साथ भी होती है। सभी भाषाएं निरन्तर परिवर्त्तनशील होती हैं। और जिसप्रकार किसी विशिष्ट काल में शतरंज-फलक या चौपड़ के मोहरों की स्थिति का वर्णन बिना उन चालों की योजनाओं के वर्णन के ही किया जा सकता है जिनसे उसकी यह स्थिति बनी है; उसी प्रकार भाषा की उत्तरोत्तर, या सामाजिक अथवा भौगौलिक दृष्टि से परिसीमित, स्थितियों का वर्णन भी एक दूसरे पर अनाश्रित रहकर ही किया जासकता है।

एक उदाहरण से इसमें अन्तर्हित अनेक बातों को स्पष्ट किया जासकता है। श्रेण्य युग तक की लैटिन में, विभक्ति-चिह्नों के आधार पर, छह विभक्तियां तक पाई जाती हैं (दे० ७. ४. २ में तालिका-६)। ये विविध विभक्तियां वाक्य में शब्दों के बीच पाए जानेवाले विविध 'सम्बन्धों' को व्यक्त करती हैं। परवर्त्ती लैटिन में 'कर्मप्रवचनीय-निपातों' के बढ़ते प्रयोग और ध्वनिपरिवर्त्तनों के कारण इन

विभक्ति-प्रत्ययों के बीच विभेद मिटता गया, जिसके परिणामरूप उस प्रणाली का विकास हुआ, जिसमें 'प्रथमा' या 'निर्देशिका' तथा 'द्वितीया' या 'तिर्यक्' (ऑब्लीक) के रूप में दो ही विभक्तियों का **संज्ञाओं की विभेदिका** के रूप में प्रयोग विहित रह गया। इनमें से **प्रथमा** का प्रयोग वाक्य के **कर्त्ता** के लिए और **द्वितीया** का किसी 'सकर्मक क्रिया' अथवा 'कर्मप्रवचनीय' के **'कर्म'** के लिए होता था। यह स्थिति प्राचीन फ्रेंच में भी पाई जाती है। किन्तु, इन दोनों विभक्तियों का अन्तर हर 'नाम' और 'विशेषण' के रूपों में उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः प्राचीनतम फ्रेंच के नामशब्दों को निम्न तीन श्रेणियों में बांटा जासकता है :

वचन	विभक्ति	१	२	३
एक	**प्रथमा**	murs (**म्यूख**)	porte (**पोर्त**)	chantre (**शान्त्र**)
	द्वितीया	mur (,,)	porte (,,)	chanteur (**शान्त्पूख**)
बहु	**प्रथमा**	mur (,,)	portes (,,)	chanteurs (,,)
	द्वितीया	murs (,,)	portes (,,)	chanteurs (,,)

(**तृतीय श्रेणी** के शब्दों की प्रथमा के एकवचन की रूप-भिन्नता का कारण लैटिन के उदात्त और अनुदात्त स्वरों के ऐतिहासिक विकास में अन्तर्हित है : 'chantre' (शान्त्र) लैटिन के 'cantor' एवं 'chanteur' लैटिन के 'cantorem' से विकसित हुआ है।) यदि हम इन तीनों श्रेणियों की परस्पर तुलना करें, तो हम पाएंगे कि **प्रथम श्रेणी** में 'स्' (s) के अन्त्य प्रत्यय के आधार पर हम विभक्ति या वचन का स्वतन्त्र निर्णय नहीं कर सकते। यह तो अन्य शब्दों के साथ संयोग या रचना के प्रसंग में ही सम्भव है कि हम उसके वचन या विभक्ति को पहचान सकें (यथा, 'murs' में)। **द्वितीय श्रेणी** के शब्दों में 'स्' (s) के प्रयोग से केवल यही पता चलता है कि वह बहुवचन के लिए प्रयोग होता है ; विभक्ति की पहचान के लिए मूल शब्द—porte (पोर्त्)—के **'रूप'** में कोई अन्तर नहीं आया है। ग्यारहवीं शती के बीच फ्रेंच के समस्त नामशब्दों और विशेषणशब्दों के 'रूपों' को द्वितीय श्रेणी के रूपों के ढांचे पर ढाल दिया गया। परिणाम यह कि 'प्रथमा' और 'द्वितीया' के बीच विभेद बिल्कुल ही मिट गया, और 'स्' का चिन्ह केवल बहुवचन के निर्देश का सूचक रह गया। तृतीय श्रेणी के शब्दों में प्रथमा और द्वितीया के एकवचन के रूपों का अन्तर कुछ और समय तक चलता रहा : chantre : chanteur, maire : majeur, pastre : pasteur, आदि। पर बाद में व्याकरणात्मक विभेद का यह रूप भी मिट गया; यद्यपि कुछ उदाहरणों में फ्रेंच में इन दोनों रूपों को 'उभय' रूप में स्वीकार किया गया है। अर्थात्, दोनों को एक ही अर्थ व्यक्त करने वाले **दो शब्द** स्वीकार किया गया है। जब fils (फिल्=पुत्र), Georges

(जॉर्ज), तथा Louis (लुई) जैसे नाम शब्दों में ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयुक्त प्रथमा के एकवचन की सूचक 'स्' (s) ध्वनि को बचा लिया गया, तब बिना 'स्' ध्वनि के उनके शब्द-रूप की तुलनात्मक स्थिति न बची। पुरानी फ्रेंच में fils (फिल्) : fil (फिल्) दोनों प्रयोग एकवचन में ही उपलब्ध होते थे। दोनों युगों के मध्य होने वाले इस परिवर्तन का परिणाम उस प्रणाली के विकास के रूप में सामने आया, जो अब भी फ्रेंच की लेखनविधि में सुरक्षित है, और जिसमें 'स्' ध्वनि का प्रयोग नाम-शब्दों और विशेषणों के बहुवचनान्त प्रयोग की सूचनामात्र के लिए होता है, विभक्तिभेद के लिए नहीं।

अब हम सौस्यूर के उक्त 'सादृश्य' को यहां घटित करके देखेंगे। यहाँ भाषा की दो 'स्थितियाँ' विचाराधीन हैं। पिछली स्थिति का ऐतिहासिक महत्त्व पहली स्थिति को बिना जाने नहीं पहचाना जा सकता। किन्तु, यदि केवल पिछली स्थिति में प्रचलित प्रणाली की कार्यविधि को ही जानना लक्ष्य हो, तो ऐतिहासिक विकास का ज्ञान उसमें कोई भी सहायता नहीं पहुँचाता। उदाहरणार्थ, यह सुझाव अशोभन ही होगा कि परवर्त्ती काल में 'portes' का 'porte' से सम्बन्ध 'murs' के 'mur' के साथ सम्बन्ध से किसी भी प्रकार भिन्न था। भाषा की हर स्थिति का स्वयं अपनी अपेक्षा में वर्णन होना चाहिए। इस बात पर विचार करना अनावश्यक है कि इसका विकास अतीत के किस रूप से हुआ है, या भविष्य में किस रूप में होने की सम्भावना है। यद्यपि भाषा की उक्त दोनों स्थितियों में शब्द एक ही से 'रूप' वाले हैं, पर परस्पर उनका व्याकरणात्मक सम्बन्ध नितान्त भिन्न है। मोहरे वही हैं, किन्तु चौपड़ पर उनका स्थान बदल गया है। (आधुनिक बोलचाल की फ्रेंच में चौपड़ की यह स्थिति फिर से परिवर्त्तित हो चुकी है। नाम-शब्दों के एकवचन में अन्तर यदि किया ही जाता है, तब यह शब्द की आकृति या 'रूप' में नहीं बल्कि कई भिन्न-भिन्न रूपों में किया जाता है: आदिनिपात की रूप-भिन्नता, क्रिया की अनुरूपता, या स्वर से आरम्भ होनेवाले शब्द के आदि में 'सन्धि', के द्वारा, आदि। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि लिखित और व्यवहृत फ्रेंच भाषा की संरचना में पर्याप्त विभेद विद्यमान है: तु० १. ४. २।)

किसी भी भाषा के बहुत ही कम प्रयोक्ता उसके ऐतिहासिक विकास से परिचित होते हैं। इस पर भी, बालकों की विधि से 'प्राकृतिक रूप में' सीखते हुए वे इसे उन प्रणालीबद्ध नियमों के आधार पर बोलना आरम्भ कर देते हैं, जो कि उनके चारों ओर प्रयुक्त उक्तियों में ही अन्तर्हित होते हैं। उन नियमों को सूत्रित करना समकालिक भाषावैज्ञानिक वर्णन का काम है, जो किसी एक विशिष्ट काल में किसी एक विशेष भाषा में कार्य कर रहे होते हैं। (हो सकता है कि जिस रीति से ये नियम वर्णन की प्रणाली में गुंथे होते हैं, वह रीति भाषा-विकास में विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया को भी प्रतिफलित कर दे। यदि ऐसा होता हो, तब भाषा का संरचना के विषय में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। किन्तु इससे भी समकालिक

अध्ययन की प्रमुखता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि किसी विशिष्ट भाषा के देशी वक्ता, बिना किसी ऐतिहासिक ज्ञान का आश्रय लिए ही, अपनी भाषा के नियमों को सीखने और विनियोजित करने में कुशल होते हैं।) किसी भी भाषा-जाति के उन कुछ सदस्यों के सम्बन्ध में, जिन्हें भाषा की पूर्वस्थितियों का यत्किंचित् भी ज्ञान है, अगली युक्ति सावसर दिखाई देगी। या तो उनका विशिष्ट ज्ञान उनके भाषा-प्रयोग के तरीके को प्रभावित कर सकता है, या वह सर्वथा प्रभावित नहीं करता। यदि यह उनके प्रयोग को प्रभावित करता है, जिससे उनकी भाषा-जाति के अन्य सदस्यों को भाषा की अपेक्षा कुछ भिन्न या अधिक सुगठित हो जाती है, तब इसे उस सीमा तक एक **भिन्न भाषा** ही मानना चाहिए। अतः तब यह उस जाति के अधिक विशिष्ट प्रयोगों के वर्णन में अन्तर्गृहीत नहीं होगी। और, यदि इसका उनकी सामान्य भाषा पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, तब यह ज्ञान स्पष्टतः समकालिक वर्णन के लिए असंगत ठहरता है। अतः किसी भी दशा में समकालिक विश्लेषण भाषा-जाति में विद्यमान भाषा के ऐतिहासिक ज्ञान से स्वतन्त्र ही होता है।

समकालिक वर्णन की प्राथमिकता का यह सिद्धान्त इस बात पर भी बल देता है कि 'कालक्रमिक' वर्णन यह मान कर ही बढ़ सकता है कि उससे पूर्व भाषा-विकास की विविधि स्थितियों का 'समकालिक विश्लेषण' हो चुका है। क्योंकि मुख्य रूप में हमारे विचार का विषय ऐतिहासिक या तुलनात्मक भाषा-विज्ञान नहीं है, अतः हम इस प्रश्न की अधिक गहराई में जाना नहीं चाहते। हाँ, एक महत्त्वपूर्ण बात कहे बिना यह प्रकरण अवश्य अपूर्ण रहेगा।

'समकालिक' और 'विविधकालिक' वर्णन से सम्बद्ध संज्ञात्मक विभेद से यह न समझ लेना चाहिए कि भाषा-परिवर्त्तन का कारण 'काल' स्वयं ही है। सच तो यह है कि भाषागत परिवर्त्तन इन अर्थों में कभी भी 'कालकृत' नही होते। अनेक ऐसे आन्तरिक या बाह्य कारण होते हैं, जो एक 'समकालिक' स्थिति से दूसरी 'समकालिक' स्थिति में जाती हुई भाषा के विकास को निर्दिष्ट करते हैं। समय का प्रवाह तो इन घटकों के इस जटिल आदान-प्रदान को वहनमात्र करता है। फिर, यह तथ्य भी ध्यान रखना चाहिए कि भाषा-परिवर्त्तन में 'कालक्रमिक विकास' की धारणा का विनियोग बहुत ही विराट् दृष्टि अपनाकर किया जासकता है : अर्थात्, काल के सुदीर्घ अन्तर से विभिन्न 'स्थितियों' का तुलनात्मक अध्ययन करके। यह धारणा नितान्त भ्रान्त होगी, कि किसी विशिष्ट काल में कोई विशिष्ट जातीय भाषा पूर्णतः **समाकृति** होती है, और यह कि 'भाषा-परिवर्त्तन' किसी एक काल की समरूप भाषा के किसी दूसरे काल की 'समरूप' भाषा में एक विशिष्ट क्षण में स्थानान्तरित हो जाने का ही नाम है।

कोई भी भाषा-जाति सदा ही विविध वर्गों से मिल कर बनती है। और विविध वर्गों के सदस्यों की बोली **उच्चारण, व्याकरण** और **शब्दावली** के विविध माध्यमों से उस अन्तर को स्पष्ट करती है, जो युग, जन्मस्थान, सुदीर्घ निवास,

व्यावसायिक अभिरुचि, शैक्षणिक पृष्ठभूमि, आदि विविध कारणों से आता है। भाषा-जाति का कोई भी सदस्य निःसन्देह एक ही समय में कई परम्परा-सम्बद्ध वर्गों से सम्बद्ध हो सकता है। एक ही समाज में विविध सामाजिक वर्गों की उपस्थिति से, भाषा में आने वाले परिवर्त्तनों के अतिरिक्त, 'शैली' में भी कुछ ऐसे प्रमुख अन्तर आ जाते हैं, जिनका सम्बन्ध भाषा के उन विविध कार्यों और विविध सामाजिक स्थितियों से होता है, जिनमें भाषा का प्रयोग होता है। ऐसे अन्तरों को **आकृति-मूलक** या **देशज** आदि के रूप में कह दिया जाता है। इस प्रश्न से सम्बद्ध विशिष्ट ग्रन्थों को छोड़कर अन्यत्र यह प्रथा ही बन चुकी है कि भाषा की समकालिक विविधताओं के वर्णन से दूर ही रहा जाए। ऐसा या तो अपने वर्णन को एक विशिष्ट वर्ग द्वारा प्रयुक्त भाषा की किसी विशिष्ट शैली तक सीमित करके किया जाता है, या फिर उन सामान्यताओं की दृष्टि से भाषा का वर्णन करके, जो भाषा की सभी 'विविधताओं' पर भी समान रूप से लागू होती हैं। इन दोनों ही प्रक्रमों में **आदर्शीकरण** कुछ न कुछ मात्रा में समाहित हो ही जाता है। ऐसा करना भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों की वर्त्तमान स्थिति में आवश्यक भी है। किन्तु साथ ही यह ध्यान रखना भी नितान्त आवश्यक है कि कालक्रम की दृष्टि से व्यवहित दो भिन्न युगों की भाषात्मक 'स्थितियों' के बीच का अन्तर एक ही काल में प्रचलित उसी भाषा के दो 'रूपों' या 'प्रकारों' में भी पाया जाना सम्भव है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तब कालक्रमिक 'परिवर्त्तन' और समकालिक 'अन्तर' के बीच कोई तीक्ष्ण विभेदक रेखा खींचना प्रायः असम्भव ही रहेगा।

१. ४. ६ संरचनात्मक पहुँच

अन्य अनेक विज्ञानों के समान आधुनिक भाषाविज्ञान का भी सर्वप्रमुख अभिलक्षण, सामान्यतः कथित, 'संरचनावाद' के रूप में कहा जासकता है। संक्षेप में, इसका अर्थ यह है कि किसी भाषा को 'सम्बन्धों की एक प्रणाली' या 'अन्तर्ग्रथित प्रणालियों का एक विन्यासमात्र' कहा जा सकता है; जिसके ध्वनि, शब्द, आदि अवयवों का समतुल्यता, वैषम्य, आदि सम्बन्धों से वियुक्त रूप में कोई औचित्य नहीं ठहरता। (पाठकों ने देखा होगा कि **सौस्यूर** द्वारा निर्दिष्ट 'समकालिक' और 'कालक्रमिक' वर्णनों की चर्चा के प्रसंग में पहले ही **सम्बन्धों** और **प्रणाली** शब्दों की चर्चा हो चुकी है। वास्तव में सौस्यूर ने यह परिणाम अपनी इस मान्यता के आधार पर निकाला था कि किसी एक ही काल की भाषा **सम्बन्धों की एक सुग्रथित प्रणाली** से बनी होती है।)

'संरचनावाद' के अन्तर्गत अन्य बहुत-सी विशिष्ट बातों की चर्चा हम आगामी अध्याय में करेंगे। यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि आधुनिक 'संरचनात्मक' भाषाविज्ञान की प्रमुख लक्षणभूत विशिष्ट 'निरपेक्ष' पहुँच और उसकी अपेक्षा अधिक **व्यावहारिक** पहुँच के बीच कोई विरोध नहीं है। आज का भाषाविज्ञान कितना

ही निरपेक्ष या औपचारिक हो, उसका विकास इस रूप में हुआ है कि वह लोगों द्वारा वास्तव में भाषा-प्रयोग के अपनाए गए तरीकों का लेखा-जोखा लेसके। अपने **निर्गम, औचित्य** और **निषेध** के लिए यह अनुभूतिपरक साक्ष्य पर ही आश्रित है। इस विषय में भाषाविज्ञान किसी अन्य विज्ञान की अपेक्षा अधिक भिन्न नहीं है। कदाचित् यह बात यहां कहने की आवश्यकता भी न रहती, यदि कहीं कुछ भाषाविद् समकालीन कुछ विकासों की सहानुभूति के प्रवाह में भाषा-अध्ययन के सम्बन्ध में भी **औपचारिकता** और **यथार्थवाद** के बीच अनावश्यक विरोध को लक्षित न करते।

१.४.७ 'लाङ्' और 'पारोल्'

भावी विमर्श के लिए उचित रहेगा कि हम यहां पर सौस्यूर द्वारा प्रदर्शित **'लाङ्'** और **'पारोल्'** में अन्तर का परिचय भी देदें। (इन दोनों के अंग्रेज़ी पर्याय बहुत बार सुझाए गए हैं, किन्तु अधिकांश विद्वान् इन्हीं फ्रेंच शब्दों को प्रयुक्त करते हैं। इनसे अभीष्ट विभेद को ही शोम्स्की ने अभी हाल में विशिष्ट भाषाओं के **'सामर्थ्य'** और **'निष्पादन'** के बीच स्थित विभेद के रूप में बताया है।)

यह भेद इस विचार से स्पष्ट किया गया है, ताकि **'लैंग्वेज'** शब्द के प्रयोग में आई स्पष्टता को दूर किया जासके। कल्पना कीजिए कि हमने 'अंग्रेज़ी' की एक अस्थायी परिभाषा इस रूप में प्रस्तावित की : **"अंग्रेज़ी के वक्ताओं द्वारा अंग्रेज़ी के प्रयोग के समय उत्पन्न वचनों या उक्तियों के किसी भी विन्यास को 'अंग्रेज़ी भाषा' कहते हैं।"** इसकी अस्पष्टता हमें तत्काल ही ज्ञात हो जाएगी। ज्यों ही हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति **'अंग्रेज़ी बोलता है'** या **'वह अंग्रेज़ी बोलने वाला व्यक्ति है'**, तब हमारा अभिप्राय यह नहीं होता कि वह व्यक्ति किसी विशिष्ट क्षण में **'अंग्रेज़ी बोल रहा है।'** उचित परिस्थितियों में यह बात केवल तोते के लिए ही कही जासकती है कि **'वह अमुक भाषा बोल रहा है।'** पर तब उसके लिए यह नहीं कहा जासकता कि वह **'अंग्रेज़ी बोलता है।'** यहां हम सौस्यूर के अनुकरण पर कह सकते हैं कि जो भी लोग **'अंग्रेज़ी बोलते हैं'** या **'अंग्रेज़ी बोलने वाले हैं'**, वे सब एक विशिष्ट **'लाङ्'** के भागीदार हैं; और जिस उक्ति-विन्यास को वे **'अंग्रेज़ी बोलते समय'** उच्चारित करते हैं, उसे **'पारोल्'** का उदाहरण कहा जासकता है।

अब यहाँ कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं। यथा, **'लाङ्'** और **'पारोल्'** के बीच परस्पर क्या सम्बन्ध है? या, जब भाषाविद् किसी भी भाषा का व्याकरण लिख रहा होता है, तब वह दोनों में से किसका वर्णन करना स्वीकार करता है? **दे सौस्यूर** द्वारा इन दोनों प्रश्नों का उत्तर बहुत अधिक अंश तक **दुरखीम** के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक सिद्धान्तों के प्रति उनकी दृढ़निष्ठा होने से प्रभावित था। हमें इस सब विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। इस स्थल पर तो इतना कहना ही पर्याप्त है कि हमने समस्या का, और सौस्यूर की शब्दावली का, परिचयमात्र दे दिया है।

'लाङ्' और **'पारोल्'** के बीच अन्तर बहुत जटिल है, और किसी मात्रा तक विवादास्पद भी है। इस अवसर पर तो हम इस वक्तव्य से ही सन्तुष्ट रहेंगे कि किसी विशिष्ट भाषा-जाति के सभी सदस्य, जोकि एक ही विशिष्ट भाषा को बोलते हैं (यथा, अंग्रेज़ी को), जब उस भाषा को बोल रहे होते हैं, तब वे ऐसी उक्तियों को प्रयुक्त करते हैं, व्यक्तिगत विभेदों के रहते भी जिन्हें नियमों और सम्बन्धों की एक विशिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत वर्णित किया जा सकता है। इस तरह किसी मात्रा तक उन उक्तियों के संरचनात्मक अभिलक्षण एक ही होते हैं। ये उक्तियां 'पारोल्' के उदाहरण हैं, जिन्हें भाषाविद् उनके भीतर छिपी सामान्य संरचना—'लाङ्'—की रचना के लिए साक्ष्य के रूप में प्रयोग करता है। अतः जिसका वर्णन भाषाविद् करता है, वह 'लाङ्' या 'भाषा-प्रणाली' ही है। हम बाद में देखेंगे कि 'उक्तियों' और 'वाक्यों' में भी विभेद किया जाना चाहिए, तथा यह कि 'भाषा' का वर्णन सिद्धान्ततः दो चरणों में घटित होने वाली **संक्रिया** है। किसी भी विशिष्ट भाषा की उक्तियों और वाक्यों के पूर्ववर्त्ती वर्णन के आधार पर वक्ताओं द्वारा **'बोली जा-रही'** उसकी उक्तियों का वर्णन केवल अप्रत्यक्षतः ही किया जासकता है। और वर्त्तमान काल में तो वह अपर्याप्त भी होगा। **उक्तियों** और **वाक्यों** के बीच का यह अन्तर आधुनिकतम भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों की दृष्टि से अत्यन्त आधारभूत है। किन्तु इसका बिना सहारा लिये भी हम कुछ प्राथमिक धारणाएँ बना सकते हैं। यद्यपि अगले तीन अध्यायों में **उक्ति** और **वाक्य** संज्ञाओं का प्रयोग हम समानार्थक रूप में ही करेंगे, इस पर भी पाठक को यह ध्यान रखना होगा कि हम जिन बन्धक सम्बन्धों की चर्चा करेंगे, उनका सम्बन्ध **वाक्यों** से होगा, जिन्हें **'लाङ्'** की इकाई कहा जा सकता है; न कि **उक्तियों** से, जिन्हें **'पारोल्'** की इकाई कहा जासकता है।

(सू०—हिन्दी में इनका अनुवाद **भाषा** (लाङ्) और **बोली** (पारोल्) के रूप में करने से इस विभेद को अधिकतम मात्रा में सुरक्षित किया जासकता है।—अनु०)

२

भाषा की संरचना

२. १ विषय-प्रवेश

२. १. १ ध्वनियाँ और शब्द

यदि हम भाषाविज्ञान से अनभिज्ञ किसी सामान्य जन से पूछें कि भाषा की ऐसी चरम **इकाई** या उसका निर्माण करने वाले खण्ड कौन से हैं, जिनसे उक्तियों का निर्माण होता है, तो सम्भवतः उत्तर मिलेगा : **ध्वनियाँ** और **शब्द** । कदाचित् यह भी सुनने को मिलेगा कि 'शब्द' **ध्वनियों की एक ऐसी शृङ्खला** से बनते हैं, जिनमें से प्रत्येक का आदर्श प्रतिनिधित्व वर्णमाला के 'लिपि-चिह्नों' द्वारा होता है; विशेषकर वर्णमाला से युक्त लिपिवाली भाषाओं में । और यह भी, कि **शब्द** सार्थक होते हैं, जबकि ये **ध्वनियाँ** अर्थहीन रहकर केवल शब्दनिर्माण के काम आती हैं । ऐसी अनेक उपस्थापनाएँ अधिकांश व्याकरणों और शब्दकोशों में प्रतिबिम्बित भाषा के प्रति परम्परागत दृष्टिकोण में निहित मिलती हैं : यथा, **"'व्याकरण' हमें शब्दों से वाक्य बनाने के नियम बताता है, जबकि 'शब्दकोष' हमें व्यक्तिगत शब्दों की अर्थ-भावना से परिचित कराता है,'** इत्यादि । अगले अध्यायों में हमें भाषा-सम्बन्धी सामान्य वक्तव्यों में **ध्वनि**, **शब्द**, **अर्थ** और **वाक्य** जैसी संज्ञाओं का सूक्ष्म विवेचन करने का अवसर मिलेगा । भाषा के संरचनात्मक पक्ष के प्रस्तुत विचार के आरम्भिक प्रसंग में हम इन संज्ञाओं को परिभाषित किये बिना ही बढ़ सकते हैं । इनमें कुछ विभेद तो इस अध्याय में भी व्यक्त किये जाएँगे, किन्तु उनका अधिक स्पष्टीकरण बाद में ही किया जाएगा ।

२. १. २ ध्वनिप्रक्रिया, व्याकरण और अर्थविज्ञान

भाषासम्बन्धी परम्परागत दृष्टि में **निबन्धन** (कम्पोज़िशन) और **सहसम्बन्ध** (को-रिलेशन) की धारणाएँ भी अन्तर्हित हैं । (**निबन्धन**—कोई जटिल इकाई छोटी सरलतर इकाइयों के मेल से बनती है : यथा, वाक्य वाक्यान्तरों से, वाक्यान्तर (क्लॉज़) पदबन्धों से, पदबन्ध शब्दों से, एवं शब्द ध्वनियों से मिलकर बनते हैं । **सहसम्बन्ध**—प्रत्येक शब्द एक या अधिक अर्थों से सहसम्बद्ध होता है ।) यदि हम **निबन्धन** के लिए **स्तर** और **सहसम्बन्ध** के लिए **तल** या **धरातल** शब्द का प्रयोग करें, तब हम कह सकते हैं कि हमारे द्वारा स्वीकृत **भाषा-संरचना** के आदर्श के अनुसार

प्रत्येक भाषा का वर्णन दो **धरातलों** के आधार पर हो सकता है : **रूप** (फ़ार्म) और **अर्थ** के आधार पर। और यदि विरोध को बचाकर कहना चाहें, तब **अभिव्यक्ति** (एक्स्प्रेशन) और **वस्तु** (कॉण्टेण्ट) के आधार पर। भाषा के 'अभिव्यक्ति-तल' की व्याख्या भी दो **स्तरों** पर सम्भव है : **ध्वनि** और **शब्द**। इस प्रयोजन के लिए भाषाविज्ञान निम्न संज्ञाओं का प्रयोग करता है : जिसके द्वारा किसी भाषा की ध्वनियों का वर्णन होता है उसे **'ध्वनि-प्रक्रिया'** (फ़ोनोलॉजी), जिसके द्वारा शब्द-रूपों, वाक्यों, वाक्यान्तरों और पदबन्धों के रूप में उनका संघात होता है उसे **'व्याकरण'**, एवं जिसके द्वारा शब्दों अथवा **अर्थ** या **आशय** का वर्णन किया जाता है उसे **'अर्थविज्ञान'** (सेमेण्टिक्स), कहा जाता है।

२. १. ३ भाषा का द्विगुण (दोहरा) संधान

भाषाविद् बहुधा भाषा के **द्विगुण संधान** या उसकी 'दोहरी संरचना' की चर्चा करते हैं। प्रायः भ्रमवशात् इस संज्ञा का अर्थ अभिव्यक्ति और वस्तु के दो धरातलों के सहसम्बन्ध से लिया जाता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि ध्वनि-प्रक्रिया के **निम्नस्तर** की इकाइयों—**भाषा की ध्वनियों**—का इसके अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं है कि वे एक-दूसरे से संयुक्त होकर व्याकरण की **उच्चतर कोटि** की इकाइयों—**शब्दों**—का निर्माण करें। अभिव्यक्ति के तल की इस दोहरी संरचना के कारण ही यह सम्भव हो पाता है कि भाषाएँ बड़ी मितव्ययता से ही सहस्रों भिन्न-भिन्न शब्दों के निर्माण में समर्थ हो पाती हैं। प्रत्येक शब्द का एक स्वल्पतर ध्वनि-वर्ग के विविध संयोग द्वारा वैसे ही प्रतिनिधित्व होता है, जैसे कि किसी बड़ी राशि को दशमलवपद्धति में 'दस' की आधारभूत इकाइयों के विविध संयोग के माध्यम से प्रकट किया जाता है।

२. १. ४ स्तर एवं तल : अभिव्यक्ति एवं आशय

अभिव्यक्ति और **वस्तु** के दो **धरातलों**, तथा **ध्वनिविज्ञान** और **व्याकरण** के दो **स्तरों**, को पहचान लेने के बाद भी हम निस्सन्देह परम्परागत व्याकरण की भाषा-संरचना-विषयक दृष्टि से आगे नहीं बढ़ पाए हैं। अब हमें यह देखना चाहिए कि भाषा के अध्ययन की उस आधुनिकतर पहुँच के प्रमुख अभिलक्षण क्या हैं, जिसे प्रायः 'संरचनात्मक भाषाविज्ञान' के नाम से कहा जाता है ?

२. २ सत्त्व और आकृति (द्रव्य और आकार)

२. २. १ शब्दराशि की संरचना

आज कम ही लोग इस बात को मानेंगे कि विशिष्ट शब्द और उसके विशिष्ट अर्थ के बीच सहसम्बन्ध 'रूढ़ि' के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में होता है। 'प्रकृतिवादियों'

और 'रूढ़िवादियों' के बीच सुदीर्घ काल से चला आ रहा विवाद अब समाप्त ही समझा जा सकता है (दे० १. २. २)। परन्तु जिस उपाय का आश्रय लेकर **रूप** और **अर्थ** (अथवा **अभिव्यक्ति** और **वस्तु**) के बीच का सम्बन्ध प्रदर्शित किया जाता है (अर्थात् विविध भाषाओं के एक ही वस्तु को इंगित करने वाले विविध शब्दों का उदाहरण देकर : यथा, अंग्रेजी का '**ट्री**', जर्मन का '**बाउम**', और फ्रेंच का '**आब्र**', आदि), उससे इस धारणा को प्रोत्साहन मिलता है कि किसी भी विचाराधीन-भाषा की शब्दराशि वस्तुतः उन नामों या संज्ञाओं का एक संग्रहमात्र होती है, जो रूढ़ि के कारण स्वतन्त्र अस्तित्व वाली वस्तुओं या अर्थों के साथ सहचारी या संगत हो जाते हैं।

इस पर भी विदेशी भाषा का कोई भी अध्येता अपने अध्ययन के बीच शीघ्र ही यह अनुभव कर लेता है कि किसी भाषा में अर्थ के ऐसे विभेद भी पाए जाते हैं, जोकि अन्य भाषा में नहीं पाए जाते। तथा, यह कि दूसरी भाषा की शब्दराशि को सीखने का यह अर्थ नहीं कि महज़ शब्दों या पताकाओं का एक नया वर्ग उपलब्ध कर लिया गया है, जिसे पूर्वपरिचित अर्थों के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी शब्द '**ब्रदर-इन-लॉ**' का अनुवाद रूसी के इन चार शब्दों में किया जा सकता है : **स्ताज, शूरिन्, स्वोयाक्**, या **देवॅर**। इनमें से '**स्ताज**' का अनुवाद कभी-कभी '**दामाद**' के रूप में भी किया जा सकता है। किन्तु इतनेमात्र से ही यह अनुमान नहीं कर लेना चाहिए कि '**स्ताज**' के दो अर्थ हैं, जिनमें से एक इसे अन्य तीनों का समानार्थक बनाता है। रूसी में इन चारों शब्दों के पृथक्-पृथक् अर्थ हैं। होता यह है कि रूसी में '**स्ताज**' के द्वारा (हिन्दी के '**जमाई**' और संस्कृत के '**जामाता**' के रूप में—अनु०) **बहिन और लड़की के पति** को समान रूप से ही संकेतित किया जाता है; किन्तु यह अर्थ **साला** (शूरिन्), **साण्ढू** (स्वोयाक्), और **देवर** या **जेठ** (देवर्), आदि से नितान्त भिन्न है। (हिन्दी में '**ब्रदर-इन-लॉ**' का अर्थ **साला, जीजा, साण्ढू** और **जेठ** या **देवर** के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।) इस प्रकार रूसी (या हिन्दी) में ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिसे '**ब्रदर-इन-लॉ**' के अर्थ में प्रयुक्त किया जा सके। अंग्रेजी में भी 'स्ताज' की अभिव्यक्ति के लिए कोई अंग्रेज़ी शब्द नहीं है। (हिन्दी और संस्कृत के 'धर्मबन्धु' या 'धर्मभ्राता' आदि शब्द ऐसे अवश्य कहे जा सकते हैं, जो '**ब्रदर-इन-लॉ**' आदि की भावना को व्यक्त करते हैं; पर उनका प्रयोग व्यापक रूप में भी हो सकता है : '**मुँहबोला भाई**' आदि के रूप में भी।—अनु०)

हर भाषा का अपना ही अर्थतन्त्र होता है। जहाँ तक एक भाषा के शब्दों के अर्थों को दूसरी भाषा के शब्दार्थों के साथ पूर्ण अनुकारिता के सहसम्बन्ध में लाया जा सकता है, हम उन भाषाओं को '**अर्थात्मक समाकृति**' (अर्थात् अर्थ की समान संरचना वाली) कह सकते हैं। अर्थात्मक समाकृतित्व की मात्रा विविध भाषाओं में भिन्न-भिन्न हो सकती है। सामान्य रूप में किसी विशिष्ट भाषा की शब्दराशि उस

भाषा के प्रयोक्ता-समाज की संस्कृति के प्रमुख विभेदों और साम्यों को प्रतिबिम्बित करती है। (इस बात की अधिक चर्चा हम 'अर्थविचार' नाम के नवम अध्याय में करेंगे : ९.४.६ अनुच्छेद में।) अतः किन्हीं दो भाषाओं के बीच अर्थात्मक समाकृतित्व की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि उनके दोनों प्रयोक्ता-समाजों की संस्कृति में कितनी मात्रा तक अतिव्यापन विद्यमान है। हमें यहाँ इस प्रश्न से कोई प्रयोजन नहीं कि, 'क्या ऐसी भी दो भाषाएँ हो सकती हैं, जिनकी शब्दराशियों में आपस में इस प्रकार की समाकृतिता किसी भी मात्रा में विद्यमान न हो ?' हम इस सम्भावना को अवश्य ही यत्किंचित् मान्यता दे सकते हैं कि किसी भी भाषा द्वारा प्रत्यायित सभी अर्थ उस भाषा के अपने विशिष्ट होते हैं, और उससे बाहर उनका कोई औचित्य नहीं रहता।

२. २. २ सत्त्व और आकृति

विभिन्न भाषाओं के अर्थ-तन्त्र में इन विभेदों को समझाने के लिए सौस्यूर और उनके अनुयायी **सत्त्व** और **आकृति** ('द्रव्य' और 'आकार') के बीच विभेद का आश्रय लेते हैं। शब्दराशि की 'आकृति' (अर्थात् वस्तु-धरातल की 'आकृति' : तु०—२. १. ४) का अभिप्राय सम्बन्धों की उस संरचना से है, जिसे कोई विशिष्ट भाषा किसी एक ही आधारभूत सत्त्व (द्रव्य) पर आरोपित कर देती है। जिस प्रकार बालकों की कौतुक-मृत्तिका के एक ही पिण्ड को विविध आकृति और परिमाण की वस्तुओं के रूप में पलटा जा सकता है, उसी प्रकार एक ही सत्त्व (या माध्यम) को, जिसके भीतर अर्थ के विभेद या तुल्यताएं स्थापित की जाती हैं, विविध भाषाओं में विविध 'आकृतियों' के रूप में गठित किया जा सकता है। स्वयं सौस्यूर ने अर्थ के **सत्त्व** (वस्तु-धरातल के **द्रव्य**) की कल्पना मानवमात्र के सामान्य विचारों और भावनाओं के एक समग्र पिण्ड के रूप में की थी; फिर भले ही वे किसी भी भाषा को बोलते हों : एक ऐसे हिरण्यगर्भरूप और अविभेद्य संप्रत्ययात्मक माध्यम के रूप में, जिनमें से विविध भाषाओं में विशिष्ट ध्वनिसमूहों के रूढ़िपरक साहचर्य के कारण अर्थों को, संप्रत्ययात्मक माध्यम के कुछ अंश के साथ, निरूपित किया जा सकता है। (पाठकों के लिए अवधेय है कि इस खण्ड में 'सत्त्व' और 'आकृति' शब्दों का प्रयोग उन्हीं अर्थों में किया जा रहा है, जिनमें उन्हें सौस्यूर ने प्रयोग किया था : तु०—४.१.५।)

२. २. ३ वर्ण-शब्दों के द्वारा शब्दार्थ-संरचना का निदर्शन

सौस्यूर के अर्थ-संरचना-विषयक विवरण में से पर्याप्त अंश को वर्त्तमान में अमान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का परिणाम कहा जा सकता है, और इसलिए त्यागा भी जा सकता है। भाषा और संस्कृति से स्वतन्त्र किसी संप्रत्ययात्मक सत्त्व से सम्बद्ध समस्त धारणा का ही औचित्य सन्देहास्पद है। वस्तुतः बहुत से अद्यतन दार्शनिक, भाषाविद् और मनोविज्ञानी इस बात को स्वीकार करने में हिचकिचाएँगे

कि अर्थों क। व्याख्या मन में बने मनोभावों और सम्प्रत्ययों के रूप में संतोषजनक ढंग से की जा सकती है। सत्त्व-सम्बन्धी यह धारणा कम-से-कम कुछ शब्दों के विषय में अवश्य ही बिना किसी संप्रत्ययात्मक माध्यम का सहारा लिए चित्रित की जासकती है। यह एक सिद्ध सत्य है कि किसी भाषा के वर्णवाचक शब्दों को किसी दूसरी भाषा के उन्हीं शब्दों के साथ हू-ब-हू अनुकारिता में नहीं लाया जा सकता। यथा, अंग्रेज़ी शब्द **'ब्राउन'** (बभ्रु=भूरा) का फ्रेंच में कोई समानान्तर शब्द नहीं है। इसे **ब्रेन्, मारों,** या **ज़शॉन** आदि के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है; किन्तु इनका प्रयोग इनसे अभिप्रेत वर्ण-छाया और विशेषित संज्ञा पर निर्भर करता है। इसी प्रकार हिन्दी का 'पीला' शब्द अंग्रेज़ी में **'यैलो'**, **'औरेंज'**, एवं **'ब्राउन'** के रूप में भी अनूदित किया जा सकता है (यद्यपि **'ब्राउन'** की विविध छायाओं के लिए भिन्न-भिन्न शब्द विद्यमान हैं)। रूसी में **'नीला'** के लिए कोई समतुल्य शब्द नहीं है: **'गोलुबॉय्'** और **'सिनीय्'** (क्रमशः 'हलका नीला' और 'गहरा नीला' के लिए प्रयुक्त) रूसी दृष्टिकोण से दो सर्वथा भिन्न वर्णों को संकेतित करते हैं; एक ही वर्ण की दो भिन्न छायाओं को नहीं (जैसा कि उनके अंग्रेज़ी या हिन्दी अनुवाद से पता चलता है)। इस बात को अधिकाधिक सामान्य रूप में समझाने के लिए हमें हिन्दी वर्ण-शब्दावली के कुछ भाग की **'क'**, **'ख'**, **'ग'** नामक तीन भाषाओं के अनुकारी भागों से तुलना करनी उचित रहेगी। सरलता के लिए हम अपना ध्यान केवल पाँच वर्ण-शब्दों द्वारा गृहीत वर्णचित्र तक ही सीमित रखेंगे: **लाल, नारंगी, पीला,** हरा, और **नीला।** हम यह मानकर चलेंगे कि **'क'** भाषा में इन पाँचों वर्णों द्वारा वेरा गया क्षेत्र **अ, इ, उ, ऋ, ए** में विभाज्य है, जबकि 'ख' में यही क्षेत्र **य, र, ल, व, श** में एवं **'ग'** में वही क्षेत्र **ह, क्ष, त्र** और **ज्ञ** में विभाज्य है।

आरेख—१

हिन्दी	लाल	नारंगी	पीला	हरा	नीला
क	अ	इ	उ	ऋ	ए
ख	य	र	ल	व	श
ग	ह	क्ष	त्र	ज्ञ	

१   २   ३   ४   ५   ६   ७   ८   ९   १०

इस आरेख से यह स्पष्ट है कि **'क'** भाषा **हिन्दी** के साथ 'अर्थात्मक समाकृति' कही जा सकती है। इसमें न केवल वर्णशब्दों की संख्या समान है, बल्कि उनका क्षेत्र भी क्रमानुसार समान ही है। किन्तु **'ख'** और **'ग'** को हिन्दी के साथ समाकृत नहीं कहा जासकता। यद्यपि **'ख'** में भी शब्दों की संख्या समान है, किन्तु उनकी वर्ण-सीमाएँ भिन्न हैं। उधर, **'ग'** में शब्द-संख्या में भी अन्तर है,

जबकि उनकी सीमाएं तो भिन्न हैं ही। इसमें अन्तर्हित व्यावहारिक तथ्य को पहचानने केलिए हम यह मान लेते हैं कि हमारे पास आरेख-१ में बताए तरीके से **दस** द्रव्य हैं, जिनमें से प्रत्येक का प्रकाश विभिन्न तरंगदैर्घ्य तक प्रतिक्षिप्त होता है ; और हम उन्हें उनके वर्णानुसार एक ही वर्ग में आबद्ध करना चाहते हैं। हिन्दी में **प्रथम** वस्तु को **लाल** के द्वारा अभिहित किया जाएगा, और **द्वितीय** को **नारंगी** के द्वारा; जोकि दोनों ही भिन्न वर्ण हैं। **'क'** भाषा में ये दो भिन्न रंग है, जिन्हें **अ** और **इ** के रूप में पुकारा जाता है। **'ख'** और **'ग'** भाषाओं में उन्हें एक ही वर्ण-शब्द **य** या **ह** के द्वारा पहचाना जा सकता है। दूसरी ओर, **द्वितीय** और **तृतीय** वस्तुएं **'ख'** भाषा में **य** और **व** के रूप में, और **हिन्दी** एवं **'क'** और **'ग'** भापाओं द्वारा इकाई के रूप में (क्रमशः **नारंगी, इ** और **ह** के रूप में) व्यक्त की जाती हैं। इस आरेख से यह स्पष्ट है कि इस तरह की विषम स्थिति के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। यहां यह कहना अभिप्रेत नहीं है कि **'ख'** भाषाभाषी लोग प्रथम और द्वितीय वस्तु के वर्णों में कोई विभेद नहीं देख सकते। वे भी उन्हें उतने ही विभेद के साथ देख सकते हैं, जितने के साथ हिन्दी वाले **द्वितीय** और **तृतीय** वस्तुओं को देख सकते हैं; यदि वे उन्हें **'लाल नारंगी'** और **'पीला नारंगी'** के रूप में व्यक्त करें। यहां यही अभिप्रेत है कि उनका प्राथमिक वर्गीकरण भिन्न-भिन्न है, और द्वितीयक **वर्गीकरण** प्राथमिक वर्गीकरण की मान्यता के आधार पर बढ़ा है। (अंग्रेजी की अर्थात्मक संरचना की दृष्टि से एक ही—लाल—रंग के दो आभासों को **क्रिमसन** और **स्कार्लेट** शब्दों से सूचित किया जासकता है, जब कि रूसी के पूर्वोक्त तत्तुल्य **गोलुबॉय्** और **सिनीय्** शब्द प्राथमिक वर्गीकरण के दो भिन्न वर्णों को सूचित करते हैं।) अतः वर्णवाचक शब्दराशि के 'द्रव्य' (सत्त्व) को एक भौतिक सान्तत्य के रूप में कहा जासकता है, जिसके अन्तर्गत विविध भाषाएं उतनी ही या भिन्न-संख्या में सीमाएं खींच सकती हैं; तथा उन्हीं या भिन्न स्थलों को उन सीमाओं में घेर सकती हैं।

इन मान्यताओं को बनाए रखना युक्तिसंगत ही होगा : कि ऐसे कोई प्रत्यक्ष-विविक्त सांसारिक लक्षण या वस्तुएं नहीं है, जो भाषा से बाह्य और स्वतन्त्र स्थिति रखते हों;और यह कि जबतक भाषा ही 'आकार' प्रदान न करे, प्रत्येक वस्तु 'आकारहीन' ही रहती है। पर, यहीं, यह भी स्पष्ट है कि वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं आदि (वस्तुओं) को जिस तरीके से विशिष्ट शब्दों के अधीन एक ही विशिष्ट वर्ग में एकत्रित कर दिया जाता है, वह एक भाषा से दूसरी भाषा में भिन्न रूप में हो सकता है। यथा, लैटिन का **'मूस'** अंग्रेजी में **'माइस'** और **'रैट्स'** (तथा अन्य दंशी जन्तुओं) के लिए समान रूप से प्रयुक्त होता है; फ्रेंच शब्द **'सैंझ'** द्वारा 'बनमानुष' और 'बन्दर' दोनों की ही सूचना मिलती है ; इत्यादि। 'द्रव्य' या 'सत्त्व' की इससे भी किंचित् अधिक 'अमूर्त्त' धारणा इस प्रकार के तथ्यों को सौस्यूरानुसारी अर्थात्मक संरचना के दायरे के अन्तर्गत लाने के लिए आवश्यक है। पारिवारिक सम्बन्धों को

बतानेवाली शब्दराशि के सम्बन्ध में इस प्रकार के किसी अन्तर्हित भौतिक द्रव्य पर आश्रित 'आकार' के सकारण ढूंढ निकालने की कोई स्पष्ट सम्भावना नहीं है। केवल कुछ ही शब्द ऐसे हैं, जिनकी व्याख्या भौतिक सान्तत्य के भीतर अपने संस्पर्शी क्षेत्रों के संकेत के साथ-साथ की जासकती है। हम आगे चल कर देखेंगे कि वर्णवाचक शब्दराशि भी, जिसे वस्तु-धरातल के **'द्रव्य'** पर **'आकार'** के आरोपण का स्पष्टतम उदाहरण कहा जासकता है, प्रत्यक्ष की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल है (दे० ६. ४. ५)। अतिरिक्त जटिलताएं इस खण्ड में कहीगई बातों पर कोई प्रभाव नहीं डालतीं। इतना ही पर्याप्त है, कि शब्दराशि के एक अंशमात्र के लिए ही सही, अन्तर्हित वस्तुगत 'द्रव्य' को पहचान तो लिया जाता है।

किन्तु अर्थात्मक संरचना की धारणा 'द्रव्य' की उक्त धारणा से स्वतन्त्र है। अर्थात्मक संरचना के सम्बन्ध में एक सर्वसामान्य वक्तव्य हम निम्न सूत्र के रूप में दे सकते हैं, जो उन सभी शब्दों पर लागू होता है जिनसे भौतिक जगत् की वस्तुओं अथवा लक्षणों की सूचना चाहे मिलती हो या न मिलती हो : **शब्दराशि की किसी शब्द-प्रणाली की अर्थात्मक संरचना का अर्थ है 'उक्त प्रणाली में शब्दों को आपस में बांधने वाले अर्थात्मक सम्बन्धों का एक तन्त्र'**। इन सम्बन्धों की प्रकृति की चर्चा हम 'अर्थविचार' के अध्याय में ही करेंगे। अर्थात्मक संरचना की इस परिभाषा में विचारणीय मुख्य बात यह है कि इसमें **प्रणाली** (सिस्टम) और **सम्बन्ध** (रिलेशन) के रूप में दो केन्द्रीय महत्त्व की संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। वर्णशब्द या इसी प्रकार के अन्य शब्दवर्ग उन शब्दों की एक सुगठित प्रणाली का निर्माण करते हैं, जो परस्पर किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होते हैं। ये प्रणालियां भी **समाकृतिक** ही होती हैं, यदि उन संज्ञाओं की संख्या एक-समान हो, तथा यदि उनका परस्पर सम्बन्ध भी एक-समान ही हो।

२. २. ४ भाषा आकृति है, द्रव्य नहीं

भाषा के अभिव्यक्ति-तल पर **द्रव्य** और **आकृति** के विभेद की अधिक चर्चा से पूर्व, जहां वस्तुतः यह अधिक सामान्य रूप में उचित ठहरती है, यह उचिततर होगा कि हम सौस्यूर द्वारा दिये गये शतरंज के उसी निदर्शन को एकबार फिरसे लें। सर्वप्रथम तो यह बताना आवश्यक है कि शतरंज के मोहरे जिस पदार्थ से निर्मित होते हैं, उसका अपना प्रत्यक्ष सम्बन्ध उस खेल की चालों के साथ तनिक भी नहीं है। उन्हें लकड़ी, प्लास्टिक या किसी भी ऐसी वस्तु से बनाया जासकता है, जिससे उनका स्वरूप ऐसे रूप में स्थिर रह सके, कि वे अपने-अपने पृथक् रूप को बचाते हुए खेल के लिए उपयोगी बने रहें। (शारीरिक या भौतिक स्थायित्व की यह बात अधिक मुख्य है। सौस्यूर इसे स्वतःसिद्ध मान कर चले थे। इसीलिए उन्होंने इस बात पर अधिक बल नहीं दिया। गर्म कमरे में खेलते समय बर्फ से बने मोहरे काम नहीं दे सकेंगे।) जिस प्रकार उपादानकारण भूत यह **सामग्री** क्रीडा में असंगत है,

उसी प्रकार उन मोहरों की विशिष्ट आकृतियां भी उससे असंगत हैं। आवश्यक तो केवल इतना है कि प्रत्येक मोहरे की पहचान पृथक्शः ऐसे रूप में होसके, जिससे उसकी विशिष्ट चाल खेल के नियमानुसार चलती रहे। यदि कोई भी मोहरा टूट जाता है या गुम होजाता है, तब हम उसकी जगह किसी अन्य वस्तु को भी रख सकते हैं (सिक्का, चाक, आदि), और यह नियम बना सकते हैं कि स्थानापन्न वस्तु को खेल में उस मोहरे का ही प्रतिनिधि माना जाएगा। मोहरे के आकार और इसके कार्य का परस्पर सम्बन्ध याद्दच्छिक रूढ़ि पर आधारित है। यदि खिलाड़ी व्याख्या के प्रचलनों को स्वीकार करलें, तो यह खेल इन नये मोहरों से भी उतनी ही अच्छी तरह खेला जासकता है। अब यदि हम इस 'सादृश्य' का अर्थ भाषा के अभिव्यक्ति-तल की दृष्टि से लें, तब हम आधुनिक भाषाविज्ञान के उस मौलिक सिद्धान्त को लगभग समझ लेंगे : सौस्यूर के शब्दों में, **'भाषा आकृति है, द्रव्य नहीं।"**

२. २. ५ द्रव्य-रूप में उपलब्धि

जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा, व्यवहार की भाषा लिखित भाषा की अपेक्षा प्राथमिक होती है (विशेष रूप से वह ध्वनि, जिसे मानवीय वाक्-तन्त्र जन्म देसकता है); जबकि लेखन महज्ञ स्थानान्तरण की एक विधा है, जिसके द्वारा किसी भाषा के शब्द या वाक्यों को उस द्रव्य से पृथक् करके, जिसमें उनकी 'उपलब्धि' होती है, किसी एक अन्य गौण रूपवान् द्रव्य में (पाषाण या कागज पर लिखित चिह्नों के रूप में) **रूपान्तरित** कर दिया जाता है। इस **रूपान्तरण** की अपेक्षा और भी गौण रूपान्तरण उत्तरोत्तर हो सकते हैं : उदाहरणार्थ, टैलीप्रिंटर आदि से संदेश भेजने आदि के रूप में। इस प्रकार का **रूपान्तरण** या **द्रव्यान्तरण** सम्भव है, यही तथ्य इस बात को स्पष्ट करता है कि भाषा का अभिव्यक्ति-तल उस द्रव्य से बहुत अधिक स्वतन्त्र होता है; जिसमें उसकी उपलब्धि होती है।

सरलता की दृष्टि से, पहले हम उन भाषाओं का उदाहरण लेंगे, जो लेखन के लिए वर्णमाला-पद्धति को अपनाती हैं। हम यह मानकर चलते हैं कि भाषा की ध्वनियां वर्णमाला के वर्णचिह्नों की संख्या के समान होती है : अर्थात्, प्रत्येक ध्वनि का प्रतिनिधित्व एक पृथक् ही वर्ण-चिह्न के द्वारा होता है, और वही चिह्न सदा उस ध्वनि का प्रतिनिधित्व करता है। यदि यह शर्त पूरी हो जाए, तब न तो **समाकृति** की उपस्थिति की समस्या रह जाएगी और न **समध्वनि** की। तब प्रत्येक उच्चरित शब्द के लिए एक भिन्न ही लिखित शब्दरूप स्थिर होगा। और यदि इस सरल धारणा को भी मान लिया जाए, कि 'वाक्य' केवल शब्दों के विन्यास से ही बनते हैं अन्यथा नहीं, तब यह भी कहना होगा कि लिखित और उच्चरित भाषाओं में समाकृतिता पाई जाएगी। (भाषा के इन दोनों रूपों में कभी भी पूर्ण समाकृतिता नहीं होती, जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं। किन्तु इस बात को

कहना यहाँ नितान्त असम्बद्ध है। जिस मात्रा तक वे समाकृति नहीं है, उन्हें भिन्न भाषा ही समझना चाहिए। 'भाषा आकृति है, द्रव्य नहीं', इस सिद्धान्त में यह बात भी अन्तर्हित है।

भ्रान्ति से बचने केलिए हम ध्वनियों का वर्णचिह्नों से विभेद दिखाने के हेतु वर्गाकृति कोष्ठों का प्रयोग करेंगे (यह एक आदर्श बोधात्मक रूढ़ि है: ३.१.३)। इस प्रकार [t], [e], आदि वर्ण-ध्वनियों की सूचना देंगे, जबकि *t*, *e*, आदि लिपि-चिह्नों की सूचना देंगे। अब हम **आकारात्मक इकाई** और **द्रव्यात्मक उपलब्धि** के विभेद को **ध्वनि** और **लिपि चिह्नों** के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। जब हम कहते हैं कि [t] *t* की अनुकारिता में है, और [e] *e* की, अथवा कोई विशिष्ट **ध्वनि** किसी विशिष्ट लिपि-चिह्न की अनुकारिता में है, अथवा कोई लिपि-चिह्न किसी विशिष्ट ध्वनि की अनुकारिता में है, तब हम इसका अर्थ इस रूप में भी लेसकते हैं कि न तो **ध्वनियां** ही प्राथमिक हैं और न **लिपिचिह्न**; प्रत्युत वे दोनों ही उन **आकारात्मक इकाइयों** की स्थानी उपलब्धियाँ है, जो स्वतः विशुद्ध भावात्मक या अमूर्त्त अवयव होती हैं, तथा जिस द्रव्य में उनकी उपलब्धि होती है उससे वे सर्वथा स्वतन्त्र या अनाश्रित रहती हैं। इस खण्ड के प्रयोजन की दृष्टि से हम उन्हें **अभिव्यक्ति के अवयव** कहना चाहेंगे। इन इकाइयों के लिए संख्या को तिर्यक्-रेखाओं के बीच में रखकर, हम कह सकते हैं कि /१/ उस विशिष्ट **अभिव्यक्ति-अवयव** को सूचित करता है, जिसे **ध्वन्यात्मक द्रव्य** के रूप में ध्वनि [t] के द्वारा, और **'आरेखीय द्रव्य'** के रूप में *t* लिपिचिह्न के द्वारा, उपलब्ध किया जासकता है; जबकि /२/ एक अन्य अभि-व्यक्ति-अवयव को सूचित करता है, जिसे [e] और *e* के रूप में उपलब्ध किया जा सकता है; इत्यादि!

अब यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार शतरंज के मोहरे विभिन्न प्रकार के द्रव्यों से निर्मित किये जासकते हैं, उसी प्रकार एक ही अभिव्यक्ति-अवयव भी, केवल ध्वनि और लिपि-चिह्न के माध्यम से ही नहीं, बल्कि अन्य अनेकविध द्रव्यों के माध्यम से भी उपलब्ध किया जासकता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक अवयव को प्रकाश के भिन्न वर्ण के द्वारा, विशिष्ट हाव-भाव के माध्यम से, विशिष्ट गन्ध छोड़ने के माध्यम से, अथवा विशिष्ट मात्रा में हाथ-दबाने आदि के द्वारा, उपलब्ध किया जासकता है। तथ्यतः यह सम्भव है कि संव्यवहार की एक ऐसी प्रणाली निर्मित करली जाए, जिसमें प्रत्येक अभिव्यक्ति-अवयव को एक भिन्न प्रकार के द्रव्य के माध्यम से उपलब्ध किया जासके। उदाहरणार्थ, इस प्रणाली में /१/ की उपलब्धि किसी भी **ध्वनि** के माध्यम से, /२/ की उपलब्धि किसी भी रंग के माध्यम से, /३/ की हाव-भाव के माध्यम से, आदि के क्रम से की जासकती है। फिर भी, हम इस संभावना को त्याग कर किसी एक ही सजातीय द्रव्य के विभेदों के माध्यम से ही अभिव्यक्ति-अवयवों की उपलब्धि कर सकते हैं। मानवीय भाषा के सम्बन्ध में यह कहीं अधिक तदनु-रूप बात है। यद्यपि भाषा के सहचारी रूप में विविध प्रचलनात्मक हावों और

भावों को संगत किया जासकता है, किन्तु इनके द्वारा उसी स्तर की आकृतिपरक इकाइयों की उपलब्धि नहीं हो पाती, जिस स्तर की उपलब्धि सहचारी शब्दों की घटक ध्वनियों के माध्यम से होती है। अर्थात्, कोई विशिष्ट हाव-भाव ध्वनियों के साथ संयुक्त होकर उस रूप में **शब्द** को नहीं बनाता, जिस तरह दो या अधिक ध्वनियां मिलकर **शब्द** का निर्माण करती हैं।

सिद्धान्ततः भाषा के अभिव्यक्ति-अवयव किसी भी द्रव्य के रूप में उपलभ्य हो सकते हैं, यदि निम्न शर्तें पूरी हो जाएं :

(क) सन्देश को प्रेषित करनेवाले के पास वह आवश्यक उपकरण उपलभ्य हों, जिनसे वह ध्वनि, रूप, आदि द्रव्यों में विशेषक विभेदों को प्रकट कर सके; तथा संदेश के ग्रहीता के पास भी वह आवश्यक उपकरण उपस्थित हो, जिससे वह इन विभेदों को प्रत्यक्ष कर सके। दूसरे शब्दों में, वक्ता, लेखक, आदि **प्रेषकों** के पास **संकेतबन्धन** के उपयुक्त उपकरण अवश्य होने चाहिएँ, जबकि श्रोता, पाठक, आदि **ग्रहीताओं** के पास **संकेत-वाचन** के उपकरण होने भी आवश्यक हैं।

(ख) संव्यवहार की सामान्य स्थितियों में अभिव्यक्ति-अवयवों की उपलब्धियों के बीच विभेद को बनाए रखने के लिए विभेद-दर्शन के माध्यम के रूप में स्वयं **द्रव्य** भी पर्याप्त स्थायी होना चाहिए : इतना स्थायी कि प्रेषक और ग्रहीता के बीच सन्देशों की संचारण क्रिया तक विद्यमान रहसके।

२. २. ६ व्यवहृत और लिखित भाषा का द्रव्य

इन दोनों ही शर्तों में से किसी पर भी अधिक टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। फिर भी, **भाषण** और **लेखन** अथवा, अधिक उचित रूप में, **ध्वन्यात्मक** या **औरेखात्मक द्रव्य** की तुलना (क) उनकी **उपलभ्यता** और **सुविधा**, एवं (ख) उनकी **भौतिक स्थायिता** और **स्थिरता** की दृष्टि से अधिक सहायक रहेगी।

मानवीय भाषा के उद्गम के सम्बन्ध में अपनी परिकल्पनाओं के द्वारा कई भाषाविदों ने सुझाव दिया है कि ध्वनि अन्य किसी भी उपलभ्य विकल्प की अपेक्षा भाषा के विकास में अधिक सुविधाजनक माध्यम रही है। हाव-भाव या अन्य ऐसे किसी भी माध्यम की तुलना में, जिसके प्रत्यक्षीकरण के लिए नेत्रेन्द्रिय की आवश्यकता पड़ती है (जो मानव-प्राणियों में अत्यधिक विकसित होती है), **ध्वनि** प्रकाश के किसी स्रोत की विद्यमानता पर आश्रित नहीं रहती ; न ही इसके मार्ग में आने वाली वस्तुओं से प्रायः कोई बाधा ही पड़ती है। इसीलिए, दिन हो या रात, संव्यवहार के लिए यह समान रूप से उपयुक्त है। उन विविध द्रव्यों की तुलना में, जो अपने अन्तर्वर्ती विभेदों के प्रकाशन और प्रत्यक्षीकरण के लिए स्पर्शेन्द्रिय पर आधारित रहते हैं, 'ध्वनि' के प्रत्यक्षीकरण के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रेषक और ग्रहीता अत्यन्त निकटस्थ ही हों। ध्वनि हमें अपने अन्य व्यापारों के लिए मुक्त भी रखती है। मानवीय भाषा के विकास में चाहे अन्य जिन भी घटकों ने प्रभाव

डाला हो, यह स्पष्ट है कि **ध्वन्यात्मक द्रव्य** (ध्वनि की वह सीमा कि जिसे मानवीय वाक्-तन्त्र उच्चारण करने में समर्थ है और जिसका मानवीय श्रवण की सीमा में ग्रहण हो सकता है) । उपलभ्यता और सुविधा की शर्त को अच्छी तरह पूरा करता है । मानव-प्राणियों में से कुछ कम ही लोग ध्वन्यात्मक विभेदों के उत्पादन और ग्रहण में भौतिक दृष्टि से असमर्थ होते हैं । यह ध्वनि-द्रव्य **भौतिक स्थिरता** की उस शर्त को भी पर्याप्त दूर तक पूरा कर देता है, जो कि कभी आदिम समाजों में संव्यवहार का सामान्यतम और आवश्यकतम लक्षण गिनी गई होगी ।

उपलब्धि और सुविधा की दृष्टि से **आरेखीय द्रव्य** ध्वन्यात्मक द्रव्य की अपेक्षा किंचित् भिन्न है । एक तो इसके लिए किसी उपकरण की आवश्यकता होती है, और दूसरे इसमें हाथ किसी अन्य सहचारी कार्य के लिए मुक्त नहीं रहपाते ।

किन्तु, स्थायिता की दृष्टि से इन दोनों में बहुत अधिक अन्तर है । वर्त्तमान समय तक, अर्थात् टेलीफोन या टेपरिकॉर्डर आदि के आविष्कार से पूर्व तक, ध्वन्यात्मक द्रव्य का यह प्रमुख अभिलक्षण माना जाता था कि जबतक प्रयोक्ता और ग्रहीता एक ही समय में एक ही स्थान पर न हों, उसे संव्यवहार का बहुत विश्वसनीय माध्यम नहीं माना जासकता । श्रुति-परम्परा अथवा संदेश-वाहक के रूप में किसी अन्य व्यक्ति की नियुक्ति आदि **स्मृति** पर आश्रित होते हैं । उच्चरित ध्वनि-क्रम स्वतः सदा के लिए विनिष्ट हो जाते हैं, यदि उन्हें उसी समय और उसी स्थल पर संकेत-मुक्त करके 'ग्रहण' न कर लिया जाए । किन्तु, **लेखन के** आविष्कार के साथ **'संकेत-बन्धन'** का एक अधिक स्थायी और वैकल्पिक माध्यम उपलब्ध हो गया । यद्यपि अधिक अल्पकालिक प्रकार के संव्यवहार के लिए **लेखन** कम सुविधाजनक होने के कारण प्रयोज्य नहीं माना गया, तब भी दूर-दूर तक संदेश भेजने और उन्हें भविष्य के लिए सुरक्षित रखने का कार्य इसने सम्भव बना ही दिया । परिस्थितियों के ये भेद, जिनके अधीन भाषण और लेखन का कार्य अत्यन्त सामान्य रूप में निष्पन्न होता था, और होता भी है, पर्याप्त दूर तक लेखन-कला के जन्म की बात समझा देते हैं, तथा व्यावहारिक और लिखित भाषाओं की परवर्त्ती विकासशील विभिन्नताओं का रहस्य भी बताते हैं । इनमें से **भाषण** का विनियोग आमने-सामने के मननहीन संव्यवहार के लिए होता है, जब कि 'लेखन' को अधिक सतर्कता के साथ उस स्थिति में पढ़ने और समझने की भावना से लिखी जानेवाली पुस्तकों के निर्माण के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जिसमें उन्हें समझने के लिए तात्कालिक स्थितियों में उपलभ्य किसी संकेत की सहायता न लेनी पड़े । जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, इन दोनों भाषा-विधाओं की ये विविधताएं इस प्रकार की हैं कि साक्षरता के लम्बे इतिहासवाली भाषाओं के विषय में यह कहना अनुचित ही होगा कि **लेखन** एक वैकल्पिक द्रव्य के रूप में **भाषण** का रूपान्तरण मात्र ही है (तु० १. ४. २) । **ध्वन्यात्मक** और **आरेखीय** द्रव्य की भौतिक स्थिरता के अन्तर को स्वीकार करके भी, तथा लिखित और व्यवहृत भाषा के ऐतिहासिक विकास में

उसके महत्त्व को देखते हुए भी, यह सत्य है कि उक्त दोनों ही प्रकार के द्रव्य इतने स्थिर अवश्य हैं कि वे उन ध्वनियों और आकारों के बीच के प्रत्यक्षात्मक विभेदों को बनाए रखते हैं, जो उन स्थितियों में अभिव्यक्ति-अवयवों को उपलब्ध कराते हैं जिनमें प्रथा के रूप में भाषण और लेखन को विनियुक्त किया जाता है।

२. २. ७ द्रव्यात्मक उपलब्धि की यादृच्छिकता

अब हम भाषा की उपलब्धि के माध्यमभूत द्रव्य के विषय में सौस्यूर द्वारा निर्दिष्ट दूसरी बात पर विचार करेंगे। जिसप्रकार मोहरों के आकार का खेल के प्रचालन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, उसीप्रकार भाषाओं के अभिव्यक्ति-अवयवों को विविक्त करने वाले आकार और ध्वनि के विशिष्ट विभेद भी असंगत होते हैं। दूसरे शब्दों में, किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति-अवयव के साथ किसी विशिष्ट वर्ण-चिह्न की सहचारिता यादृच्छिक रूढ़ि का विषय होती है। अंग्रेज़ी के उदाहरणों द्वारा हम इसे समझ सकते हैं। नीचे की तालिका-३ में : **स्तम्भ** (क) में अंग्रेज़ी के छः अभिव्यक्ति-तत्त्व दिये गये हैं, और उन्हें १ से ६ तक के क्रम यादृच्छिक रूप में दिये गए हैं; **स्तम्भ** (ख) में उनकी सामान्य लिप्यात्मक उपलब्धियां दी गई हैं; तथा **स्तम्भ** (ग) में उनकी ध्वन्यात्मक उपलब्धि दी गई है। (सरलता के लिए, हम यह मानकर चलेंगे कि [t], [e] आदि ध्वनियों का अधिक विश्लेषण सम्भव नहीं है, और ये सामान्य रूप में पाए जाने वाले भाषा के अभिव्यक्ति-अवयवों को उपलब्ध कराती हैं : उदाहरणार्थ, bet (बॆट्), pet (पॆट्), bid (बिड्), आदि में! यद्यपि इस मान्यता का अगले अध्याय में विरोध किया जाएगा, फिर भी हमारे सुझाए गए किसी भी संशोधन से इस युक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।) अब हम एक भिन्न यादृच्छिक रूढ़ि स्थापित करते हैं, जिसके अनुसार /१/ की लिप्यात्मक उपलब्धि *'p'*, /२/ की *'i'* के रूप में, इत्यादि क्रम से होती है : तु०-**स्तम्भ** (घ)। परिणामतः 'A' शब्द, जिसका अभिप्राय *'bet'* (बेट्) से है, तथा पहले इसी रूप में लिखा भी जाता था अब *'dit'* के रूप में लिखा जाएगा। इसी प्रकार 'B' शब्द अब *'tip'* के रूप में लिखा जाएगा; इत्यादि : तुल०—**स्तम्भ** (छ), (ज), (झ)। यह बात पर्याप्त स्पष्ट है कि अंग्रेज़ी का प्रत्येक शब्द और वाक्य, जो वर्त्तमान लिपि की रूढ़ि में विविक्त रूप से पहचाना जाता है, अब इस नए प्रचलन में भी वैसे ही पहचाना जाएगा। द्रव्यात्मक उपलब्धि के रूप में भाषा इस अन्तर से सर्वथा अप्रभावित रहती है। [यहां अन्तर केवल यह पड़ा है कि ध्वनि को पहले एक चिह्न सूचित करता था, उसे ही अब दूसरा चिह्न सूचित करने लगा है।] यही युक्ति संव्यवहार की **भाषा** पर भी लागू होती है (किन्तु कुछ प्रतिबन्धों के साथ, जिन्हें हम इसी प्रसंग में बताएँगे)। कल्पना कीजिए कि अभिव्यक्ति-अवयव /१/ की उपलब्धि [p] (प्) ध्वनि के रूप में हुई, /२/ की [i] (इ) के रूप में, इत्यादि : तुल०-**स्तम्भ** (ङ)। तब जो शब्द अब (बॆट्) के रूप में लिखा जाता

तालिका-३

अभिव्यक्ति—अवयव

(क)	(ख)	(ग)	(घ)	(ङ)	(च)
/1/	*t*	[t]	*p*	[p]	*e*
/2/	*e*	[e]	*i*	[i]	*b*
/3/	*b*	[b]	*d*	[d]	*d*
/4/	*d*	[d]	*b*	[b]	*p*
/5/	*i*	[i]	*e*	[e]	*t*
/6/	*p*	[p]	*t*	[t]	*i*

शब्द

(छ)	(ज)	(झ)	(ट)	(ठ)
A	'bet'	*dip*	[dip]	*dbe*
B	'pet'	*tip*	[tip]	*ibe*
C	'bit'	*dep*	[dep]	*die*
D	'pit'	*tep*	[tep]	*ite*
E	'bid'	*deb*	[deb]	*dip*
F	'bed'	*dib*	[dib]	*dbp*

है, तथा बाद में भी वैसा ही लिखा जाएगा (क्योंकि ध्वनि और लिपि का कोई सहज या आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है), ध्वन्यात्मक उच्चारण में उस शब्द की तरह बोला जाएगा, जिसे अब हम 'dip' (डिप्) के रूप में लिखते हैं (यद्यपि उसका अर्थ अब भी वर्त्तमान 'बेट्' (bet) ही रहेगा)। यही क्रम अन्यत्र भी होगा : तुल०—**स्तम्भ (ट)**। इस प्रकार द्रव्यात्मक उपलब्धि की भिन्नता आजाने पर भी स्वतः भाषा अबतक अपरिवर्त्तित ही रही है।

२. २. ८ ध्वनिक-द्रव्य की प्राथमिकता :

पर भाषा की ध्वन्यात्मक और लिप्यात्मक उपलब्धि में एक प्रमुख अन्तर विद्यमान है। यही वह अन्तर है, जिसके कारण हमें सौस्यूर के इस सिद्धान्त को संशोधित करने पर विवश होना पड़ रहा है कि **'अभिव्यक्ति के अवयव अपनी उपलब्धि के द्रव्य पर सर्वथा अनाश्रित और स्वतन्त्र होते हैं।'** यद्यपि विभिन्न वर्णों के लिपि-चिह्नों—अंग्रेजी : d, b, e; एवं हिन्दी : क, इ, ब; आदि—में

आकृति की दृष्टि से ऐसी कोई विशेषता नहीं हैं, जो अन्य ध्वनियों के साथ उनके संयोग में बाधक बने; किन्तु कुछ ध्वनियों के संयोग उच्चारण के अयोग्य अवश्य होजाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम (च) स्तम्भ में उल्लिखित उपलब्धियों को लिपि में स्वीकृत कर लेते हैं; तब 'A' शब्द 'dbe' के रूप में लिखा जाएगा, 'B' शब्द 'ibe' के रूप में, इत्यादि : तुल०—**स्तम्भ** (झ)। इसके विपरीत, ध्वन्यात्मक दृष्टि से यदि हम [b] के स्थान पर [d] आदि को उल्लिखित क्रम से अपना लें, तब 'E' शब्द का, जिसे अब 'बिड्' के रूप में उच्चारित किया जाता है, नया उच्चारण असम्भव बन सकता है : यह तथ्य, कि कुछ ध्वनिसमूहों अथवा वर्गों के उच्चारण अथवा श्रवण की कुछ सीमाएँ हैं, सिद्ध करता है कि भाषा के कुछ अभिव्यक्ति-अवयवों या उनके संयोगों का निर्णय अंशतः उनके प्राथमिक द्रव्य की प्रकृति तथा वाक् एवं श्रुति की यान्त्रिकता के द्वारा होता है। **श्रव्यता** और **उच्चार्यता** की स्थिति में स्थापित इन सीमाओं से बची सम्भाव्यताओं के दायरे में प्रत्येक भाषा के अपने कुछ संयोगात्मक बन्धन या मर्यादाएँ होती हैं, जिनका अध्ययन उस भाषा की ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना को जानकर ही सकता है।

क्योंकि अबतक हमने ध्वनिविज्ञान (फ़ोनेटिक्स) और ध्वनिप्रक्रिया (फ़ोनोलॉजी) के बीच कोई विभेदक रेखा नहीं खींची है (तु० अध्याय-३), अतः हमें यहां इस विषय में दिए गए अपूर्ण वक्तव्यों से ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। हम **स्वर** और **व्यंजन** में अब तक स्वीकृत विभेद को यथावत् मानकर ही चलेंगे, और हम यह भी स्वीकार करेंगे कि यह वर्गीकरण सामान्य ध्वनिवैज्ञानिक सिद्धान्त एवं (अंग्रेज़ी-समेत) विशिष्ट भाषाओं में ध्वनिसंयोग की सम्भाव्यताओं के वर्णन की दृष्टि से उचित है। अब उक्त तालिका के अनुसार [t] के स्थान पर [p], एवं [i] के स्थान पर [e], के स्थानापन्न होजाने पर भी भाषा के उच्चारण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। क्योंकि इस स्थानापन्नता के बाद भी भाषा की व्यंजनात्मक एवं वाचिक प्रकृति यथावत् स्थिर और सतत है। इससे केवल बोलेजाने वाले परिणामी शब्दों की उच्चार्यता ही सुरक्षित नहीं रहती, अपितु उनके ध्वनिवैज्ञानिक ढाँचे को (यथा अंग्रेज़ी के शब्दों को) भी समादर मिलता है : विशेषकर व्यंजनों और स्वरों के अनुपात एवं उनके संयोग-प्रकार जैसे विषयों में। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि ध्वनियों को इस रूप में भी स्थानापन्न किया जासकता है, जिससे स्वरों और व्यंजनों के बीच यह सन्तुलन, एवं शब्दों में संयोग के प्रतिरूपों में अन्तर आजाए। कुछ भी हो, यदि अंग्रेज़ी के सभी शब्दों को यथावत् विभिन्न रूप में अभिव्यक्ति-अवयवों की उपलब्धि की इस नई प्रणाली में भी यथावत् रखा जासकता है, तब उसका व्याकरणात्मक ढाँचा अपरिवर्त्तित ही रहेगा। अतः सैद्धान्तिक रूप में यह सम्भव है कि कोई दो या अधिक भाषाएँ आपस में व्याकरणात्मक दृष्टि से समाकृति हों, ध्वनि-प्रक्रियात्मक दृष्टि से नहीं। ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से भाषाएँ तभी समाकृति होती हैं, जब किसी भाषा की ध्वनियाँ दूसरी भाषा की ध्वनियों के अनुकारी ध्वनिवर्गों

(स्वरव्यंजनादि) के साथ समतुल्य अनुकारिता में हों और उनके संयोग के नियम भी समान ही हों। इस समतुल्य अनुकारिता का अर्थ एकरूपता से नहीं है। बल्कि, जैसा कि हम कह चुके हैं, संयोग के नियम ध्वनियों की भौतिक प्रकृति से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होते।

ऊपर के दोनों अनुच्छेदों का तर्कानुगत परिणाम इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि सामान्य भाषावैज्ञानिक सिद्धान्त में व्यावहारिक भाषा को लिखित भाषा की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाती है (तु० १. ४. २)। लिखित भाषा में लिपि-चिह्न जिन संयोग-प्रतिरूपों में परिणत होते हैं, उन चिह्नों की आकृति की दृष्टि से उनकी कोई व्याख्या नहीं की जासकती। किन्तु, अनुकारी उच्चरित शब्दों में आने वाली ध्वनियों की भौतिक प्रकृति की दृष्टि से उनकी व्याख्या अंशतः की जासकती है। उदाहरणार्थ, '*u*' और '*n*' आकृति में उसी तरह परस्पर सम्बद्ध हैं, जिस तरह '*d*' और '*p*' (देवनागरी लिपि में इससे मिलते-जुलते उदाहरण 'व-क', 'प-फ', 'उ-ऊ', एवं 'भ-म्न', आदि युग्मों के लिए जासकते हैं। किन्तु अंग्रेज़ी के लिखित शब्दों में इस तथ्य का कोई भी सम्बन्ध उनके परस्पर संयोग के साथ नहीं है। इससे अधिक संगत तथ्य यह है कि ये लिपि-चिह्न व्यावहारिक भाषा की ध्वनियों के अंशतः अनुकारी हैं। अतः भाषावैज्ञानिक के लिए लेखन-प्रणाली या आरेखन-द्रव्य के अनुसन्धान की अपेक्षा ध्वनि-द्रव्य का अध्ययन अधिक विचार का केन्द्र ठहरता है।

२. २. ६ संयोग और वैषम्य

यदि द्रव्यात्मक उपलब्धि से हटकर देखा जाए, तो ध्वनियों के गुण केवल निम्न कहे जा सकते हैं: (१) **संघातात्मक या संयोगात्मक कार्य**—ऐसे संसर्गों या समूहों में संहत या संयुक्त होना, जिससे कि शब्दों और वाक्यों को पृथक्-पृथक् रूप में जाना और पहचाना जासके (हमने अभी देखा है कि भाषा के अभिव्यक्ति अवयवों के संघातात्मक गुण तथ्यतः आंशिक रूप में अपने प्राथमिक द्रव्य—ध्वनि—की प्रकृति के आधार पर निर्णीत होते हैं); और (२) **विषमता-मूलक कार्य**—उनकी एक-दूसरे से भिन्नता। इस दूसरे गुण को ध्यान में रखकर ही सौस्यूर ने कहा था कि अभिव्यक्ति-अवयव (और अधिक सामान्य रूप में सभी भाषात्मक इकाइयां) प्रकृति से ही अनिवार्यतः **निषेधात्मक** होती हैं: **वैषम्य** या **विरोध** का सिद्धान्त आधुनिक भाषाविज्ञान के लिए आधारभूत सिद्धान्त है। विगत तालिका-३ को देखकर इस बात को समझा जासकता है। उस तालिका में १ से ६ तक का प्रत्येक अभिव्यक्ति-अवयव एक-दूसरे अवयव से इस अर्थ में विषमता या विरोध में स्थित है (और उस स्थिति में अंग्रेज़ी के शब्दों में भी घटित हो सकता है) कि एक के स्थान पर दूसरे अवयव के स्थानापन्न होने (अधिक पूर्ण रूप में: एक अवयव की द्रव्यात्मक उपलब्धि का स्थान दूसरे अवयव की द्रव्यात्मक उपलब्धि द्वारा लेने) का प्रभाव यह होगा कि एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द आ जाएगा।

उदाहरणार्थ, 'A' (bet=बे`ट्) शब्द का 'B' (pet=पे`ट्) शब्द से यह अन्तर है कि इसमें आरम्भ में /६/ के स्थान पर /३/ आ गया है। इसी का 'C' (bid=बिट्) से अन्तर यह है कि इसमें मध्य में /५/ के स्थान पर /२/ आ गया है। इसी का 'F' (bed=बे`ड्) से अन्तर यह है कि उसके अन्त में /४/ के स्थान पर /१/ आ गया है। इन छह शब्दों के आधार पर हम कह सकते हैं कि /१/ का /४/ से, /२/ का /५/ से, और /३/ का /६/ से विरोध है। (अन्य शब्दों पर विचार आरम्भ करके हम अन्य विरोधों को भी खोज सकते हैं।) आकृतिपरक इकाई के रूप में, और हमारे विचार की आधारभूता भाषा के नमूने की सीमाओं के भीतर ही, /१/ को उस अवयव के रूप में कहा जा सकता है 'जो /४/ नहीं है और जो /२/ या /५/ से अथवा /३/ या /६/ से संहत या संयुक्त हो सकता है।' शेष सभी तालिकागत अवयवों की व्याख्या भी इसी रूप में की जा सकती है। सामान्यतः किसी भी आकृतिपरक इकाई की परिभाषा इस रूप में की जासकती है: (१) अपने से विषमता रखने वाले सभी अवयवों से विविक्त या पृथक्, और (२) कुछ संघातात्मक गुणों से युक्त।

२. २. १० अभिव्यक्ति-अवयवों की विविक्तता

आकृति और द्रव्य के विभेद के आधार पर अब हम कुछ प्रमुख सिद्धान्तों को प्रयुक्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिए हम /३/ और /६/ के बीच विषमता को लेते हैं, जिसे कि व्यवहृत भाषा में [b] और [p] ध्वनियों के बीच के अन्तर पर आधारित कहा जासकता है। हम देख ही चुके हैं कि यह तथ्य अंग्रेज़ी भाषा के लिए असम्बद्ध है। इसप्रकार का भेद केवल ध्वनि-भेद पर ही आधारित है, अन्य किसी पर नहीं। यह भा अवधेय है कि [b] और [p] के बीच अन्तर सर्वथा निरपेक्ष नहीं है, बल्कि सापेक्ष है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिसे हम [b] ध्वनि और [p] ध्वनि के रूप में जानते हैं, वे वस्तुतः ध्वनि के प्रसार-क्षेत्र या सीमाएं हैं; और उनके बीच वस्तुतः कोई एक निर्धारक रेखा विद्यमान नहीं है, जिससे [b] ध्वनि का अन्त और [p] ध्वनि का आदि (अथवा विपरीत क्रम में) स्वीकार किया जासके। ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से [b] और [p] के बीच का अन्तर बदलते रहने वाला है, जबकि /३/ और /६/ अभिव्यक्ति-अवयवों के बीच का अन्तर इस दृष्टि से निरपेक्ष है कि 'A' और 'B' शब्द (bet और pet), तथा अंग्रेज़ी के अन्य वे सब शब्द जो /३/ और /६/ की उपस्थिति के कारण अलग-अलग सत्ता रखते हैं, बोल-चाल की भाषा में इस कारण शनैः-शनैः परिवर्त्तित नहीं होजाते, कि [b] परिसर [p]परिसर की ओर शनैः-शनैः सान्तर होता जाता है। ऐसा स्थल भी आसकता है, जहाँ यह बताना असम्भव हो जाए कि यहां 'A' शब्द अभिप्रेत था या 'B'। किन्तु अंग्रेज़ी का एक भी शब्द ऐसा नहीं, जो इन दोनों ध्वनियों की मध्यवर्त्तिनी किसी ध्वनि से पहचाना जाता हो, तथा व्याकरण और अर्थ की दृष्टि से इन दोनों शब्दों

के बीच का कहा जासकता हो। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा का अभिव्यक्ति-तल यथेच्छ इकाइयों पर आधारित होता है। पर इन विविक्त यथेच्छ इकाइयों की भौतिक द्रव्य के रूप में उपलब्धि ऐसे ध्वनि-परिसरों के माध्यम से होती है, जिनमें अन्तर होने की पर्याप्त सम्भावना रहती है। क्योंकि इन अभिव्यक्ति-इकाइयों को ध्वनि के रूप में उनकी द्रव्यात्मक उपलब्धि के समय एक-दूसरे से उलझने नहीं देना चाहिए, इसलिए उन दोनों उपलब्ध ध्वनियों के 'परिसर' (सीमा) के बीच कोई 'सुरक्षा-रेखा' (सुरक्षान्तर) होनी ही चाहिए। कुछ ध्वनिगत वैषम्य समय के अन्तर से मिट भी सकते हैं, अथवा किसी भाषा के सभी वक्ता उनमें स्थित अन्तर को सब शब्दों में नहीं भी बनाए रखसकते। इस तथ्य का विवरण इस मान्यता के रूप बताया जासकता है कि ये वैषम्य किसी भाषा की उन अनेक उक्तियों में महत्त्व की 'निम्नतम-सीमा' से भी नीचे आजाते है, जिनमें विभेद के कारण केवल वे स्वयं ही होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि अभिव्यक्ति-अवयवों के कुछ युग्मों के बीच का विभेद, निरपेक्ष न होकर, सापेक्ष होता है।

२. २. ११ व्याकरणात्मक और ध्वनि-प्रक्रिया-जन्य शब्द

अब हम पिछले खण्ड में प्रयुक्त 'निबन्धन' संज्ञा के सम्बन्ध में एक अस्पष्टता को दूर करसकते हैं। वहां यह कहा गया था कि शब्द **ध्वनियों** से निबद्ध होते हैं, जबकि वाक्य, वाक्यान्तर और पदबन्ध **शब्दों** से निबद्ध होते हैं (तु० २. १. १)। अब यह स्पष्ट है कि यहां 'शब्द' संज्ञा अस्पष्ट है। वास्तव में, प्रथा की दृष्टि से इसे अनेक विविध भावनाओं में प्रयोग किया जाता है। उनमें से यहां हमें दो में ही अन्तर करना अभिप्रेत है। आकृतिपरक या व्याकरणात्मक इकाई की दृष्टि से शब्दों को ऐसी नितान्त निरपेक्ष इकाइयों के रूप में स्वीकार किया जासकता है, जिनका एकमात्र लक्षण यह है कि उनका विशिष्ट प्रकार्य विरोधात्मक और संघातात्मक होता है (व्याकरणात्मक इकाइयों के सम्बन्ध में विरोध और संहति के नियमों की चर्चा हम बाद में करेंगे)। किन्तु, ये व्याकरणात्मक शब्द (पद) उन अभिव्यक्ति-अवयवों के संसर्गों या समूहों के द्वारा उपलब्ध किये जाते हैं, जिनमें से प्रत्येक को (व्यावहारिक भाषा में) एक विशिष्ट ध्वनि के रूप में उपलब्ध किया जाता है। अभिव्यक्ति-अवयवों के इन संसर्गों को हम 'ध्वनिप्रक्रियात्मक शब्द' कह सकते हैं। आगामी विचारणा से यह स्पष्ट होगा कि इस प्रकार का विभेद आवश्यक है (इस पर हम बाद में ५. ४. ३ में विचार करेंगे)।

सर्वप्रथम, किसी भी ध्वनिप्रक्रियात्मक शब्द की आन्तरिक संरचना इस तथ्य से असम्बद्ध होती है कि यह एक विशिष्ट व्याकरणात्मक शब्द का रूप उपलब्ध करता है। उदाहरणार्थ, व्याकरणात्मक शब्द 'A'(तालिका-३ के अनुसार यह 'bet'है)अभिव्यक्ति-अवयव /३२१/ के संसर्ग के द्वारा उपलभ्य है; किन्तु इसे इससे भिन्न अभिव्यक्ति-अवयवों के संसर्ग से भी उपलब्ध किया जासकता है। अनिवार्य नहीं कि

इनकी संख्या तीन ही हो। (यह अवधेय है कि यह बात अभिव्यक्ति-अवयवों के सम्बन्ध में पूर्वकथित बात से भिन्न है। ध्वनिप्रक्रियात्मक शब्द ध्वनियों के निबन्धन से नहीं बनता, अपितु अभिव्यक्ति-अवयवों के निबन्धन से बनता है।) फिर, व्याकरणात्मक और ध्वनिप्रक्रियात्मक शब्द एक-दूसरे के यथासंख्य अनुकारी नहीं होते। उदाहरणार्थ, वह ध्वनिप्रक्रियात्मक शब्द, जिसे हम 'down' (डाउन) के रूप में लिपि में अन्तरित कर सकते हैं, दो व्याकरणात्मक शब्दों (पद-भेदों) के रूप में प्रयुक्त हो सकता है : **'डाउन दि हिल'** और **'दि सौफ़्ट डाउन ऑन हिज़ चीक'** के रूप में। व्याकरणात्मक दृष्टि से ये दोनों शब्द भिन्न पद हैं, क्योंकि वाक्य-प्रयोग में इनके कार्य, वैषम्य और संघात की दृष्टि से, भिन्न-भिन्न हैं। इसके विपरीत एक उदाहरण दो अन्य वैकल्पिक उपलब्धियों के माध्यम से लिया जासकता है, जिन्हें 'dreamed' (ड्रीम्ड) और 'dreampt' (ड्रैम्ट) के रूप में लिपिबद्ध किया जाता है। किन्तु, ये दोनों उपलब्धियां भिन्न होकर भी एक ही व्याकरणात्मक शब्द से सम्बद्ध हैं : एक ही क्रिया के भूतकाल की दो उपलब्धियां हैं। प्रसंगवशात्, यहां यह कह देना भी उचित होगा कि इन दोनों उद्धृत उदाहरणों को सामान्यतः **'अनेकार्थक'** और **'समानार्थक'** शब्दों के प्रकारभेद मान लिया जाता है (तु० १. २. ३)।

हमने इस विचार-प्रसंग में शब्दों के अर्थ की ओर कोई ध्यान नहीं खींचा। हमारा बल उनके व्याकरणात्मक कार्य एवं उनकी ध्वनिप्रक्रियात्मक उपलब्धि पर ही रहा है। उक्त सभी बातों को संक्षेप में हम इस प्रकार कह सकते हैं : व्याकरणात्मक शब्दों की उपलब्धि ध्वनिप्रक्रियात्मक शब्दों के रूप में होती है (और उनकी यथासंख्य अनुकारिता के विषय में कोई प्राक्कल्पना नहीं होती); और ध्वनिप्रक्रियात्मक शब्द अभिव्यक्ति-अवयवों से निबद्ध होते हैं। 'शब्द' से एक तीसरी भावना भी स्पष्टतः ली जासकती है, जिसके अनुसार हम कहना चाहेंगे कि अंग्रेज़ी में लिखा 'cap' शब्द फ्रेंच के लिखित शब्द 'cap' से समरूप है : आरेखीय या लिप्यात्मक द्रव्य की दृष्टि से वे एक ही हैं। किन्तु सामान्यतः भाषाविज्ञान में शब्दों की द्रव्यात्मक एकरूपता से हमारा सम्बन्ध नहीं होता। व्याकरणात्मक शब्द और इसकी द्रव्यात्मक उपलब्धि के बीच ध्वनि या आकार का सम्बन्ध इस अर्थ में अप्रत्यक्ष होता है कि इसका विचार 'ध्वनिविज्ञान' के एक मध्यवर्ती स्तर द्वारा होता है।

२. २. १२ भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों की 'निरपेक्षिता'

इस खण्ड में व्यक्त सभी विचार क्रियात्मक दृष्टि से प्रसंगतः असम्बद्ध प्रतीत होसकते हैं। किन्तु ऐसा है नहीं। **द्रव्य** और **आकृति** के बीच अन्तर के आधार पर सम्भूत भाषा के अध्ययन के प्रति पहुँच (उपागम) निरपेक्ष है, जिसने हमें उन्नीसवीं शती की अपेक्षा भाषाओं के ऐतिहासिक विकास को समझने में कहीं अधिक सामर्थ्य दी है, और जिसने अभी हाल में मानवीय भाषा की संरचना, उपार्जन और प्रयोग के विषय में अधिक व्यापक सिद्धान्तों के निर्माण में सहायता पहुँचाई

है। इन सिद्धान्तों से अधिक व्यावहारिक परिणाम के रूप में भाषा-शिक्षण के अधिक प्रभावकारी उपाय विकसित हुए हैं; दूर-संचार की अधिक अच्छी प्रणालियों का निर्माण हुआ है; और कूटलेखविद्या में एवं कम्प्यूटर द्वारा भाषाओं के विश्लेषण की प्रणालियों के अभिकल्प में इससे सहायता मिली है। अन्यत्र की भांति भाषाविज्ञान में भी **निरपेक्ष सिद्धान्त** और **क्रियात्मक विनियोग** का निर्वाह साथ-साथ होता है। किन्तु **विनियोग** की अपेक्षा **सिद्धान्त** प्राथमिक होता है, तथा अपने विवेच्य विषय को अधिक समझने में अपने योगदान देने के कारण अनाश्रित रूप में भी इसका औचित्य सिद्ध होता है।

२. ३ रूप-क्रमात्मक और विन्यासक्रमात्मक सम्बन्ध

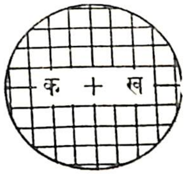
२. ३. १ वितरण की धारणा

वाक्य को छोड़कर हर भाषात्मक इकाई (तु० ५. २. १) अपने प्रयोग के प्रसंगों में कम या अधिक मात्रा में सीमित ही रहती है। इसी बात को इन शब्दों के द्वारा भी कहा जासकता है: वाक्य के स्तर से नीचे की प्रत्येक इकाई एक विशिष्ट वितरण से युक्त होती है। यदि उसी प्रसंग-परिसर में दो या अधिक इकाइयां विद्यमान हों, तब उन्हें 'वितरणात्मक दृष्टि से समतुल्य' (समान वितरण से युक्त) कहा जाता है। यदि उनके बीच कोई प्रसंग उभयात्मक या समान न हो, तब उन्हें **पूरक वितरण** से युक्त कहा जाता है। इस प्रकार **वितरण** के इन दो आत्यन्तिक छोरों—**समतुल्य** और **पूरक**—के बीच दो प्रकार की **आंशिक समतुल्यता** और होती है, जिसे पहचान लेना आवश्यक है: (क) बिना पूरी तरह समतुल्य हुए एक इकाई का वितरण दूसरी इकाई के वितरण को अन्तर्हित किये रह सकता है: यथा, यदि 'क्ष' उन सब प्रसंगों के उपस्थित रहता है जिनमें 'त्र' रहता है, जबकि कुछ ऐसे प्रसंग संभव हों जिनमें 'य' का प्रयोग हो 'क्ष' का नहीं, तब कहा जाएगा कि 'त्र' के वितरण में 'क्ष' का वितरण भी अन्तर्हित है। (ख) दो या अधिक इकाइयों का वितरण एक-दूसरे का अतिव्यापन (या प्रतिच्छेदन) कर सकता है: यथा, यदि केवल कुछ ही प्रसंग ऐसे हैं, जहां 'क्ष' और 'त्र' साथ-साथ आते हैं, जबकि अन्यत्र सब जगह वे अलग-अलग ही आते हैं, तब इन दोनों के वितरण को 'अतिव्यापी' कहा जाएगा। (औपचारिक तर्कशास्त्र एवं गणित की कुछ आरम्भिक धारणाओं से परिचित पाठकों को स्पष्ट होगा कि भाषात्मक इकाइयों के बीच सम्बन्ध बनाने वाले ये विविध प्रकार के वितरणात्मक सम्बन्ध **श्रेणी-तर्क** और **विन्यास-सिद्धान्त** के अन्तर्गत समझाए जासकते हैं। यह तथ्य, कि ऐसा होना सम्भव है, भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों के तर्कात्मक आधारों के अध्ययन में बहुत अधिक प्रासंगिक है। जिसे प्रायः मोटे तौर पर 'गणितीय भाषाविज्ञान' कह दिया जाता है, वह अब मूल विषय का बहुत प्रमुख अंग है।

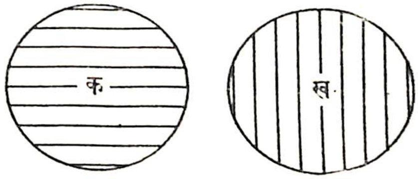
यद्यपि यहां इस की विविध प्रशाखाओं के विस्तार में हम नहीं जासकते, प्रसंगानुकूल इनमें से मुख्यतर सम्बद्ध स्थलों को हम अवश्य संकेतित करते चलेंगे ।)

आरेख—२, वितरणात्मक सम्बन्ध

['क' विन्यास के प्रसंगों में 'क्ष' और 'ख' विन्यास में 'त्र' की उपस्थिति रहती है ।]



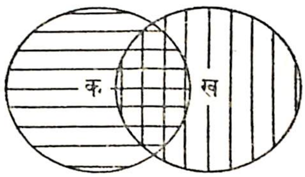
१. वितरणात्मक समतुल्यता



२. पूरक वितरण



३. वितरणात्मक अन्तर्ग्रहण



४. अतिव्यापी वितरण

यह बात अवधेय है कि यहां 'वितरण' संज्ञा का प्रयोग उन प्रसंगों के परिसर के लिए हुआ है, जिनमें कोई भाषात्मक इकाई प्रयुक्त होती है। किन्तु, इसका प्रयोग उसी सीमा तक उचित है, जहां तक उस सम्बन्ध-परिसर को उन प्रतिबन्धों के एक प्रणालीबद्ध वक्तव्य के घेरे में लाया जासकता है, जो विचाराधीन इकाई की उपस्थिति निर्धारित करते हैं। यहां 'प्रणालीबद्ध' का अर्थ एक उदाहरण के द्वारा समझाया जासकता है। अंग्रेज़ी के अवयव /l/ और /r/ वितरण की दृष्टि से लगभग समतुल्य हैं (इन तिर्यक् रेखाओं की रूढ़ि के विषय में अनुच्छेद २. २. ५ देखें)। ये दोनों ही अन्यथा ध्वनिप्रक्रियात्मक दृष्टि से एकरूप शब्दों में पाए जाते हैं : तु०— *light:right* (लाइट-राइट), *lam:ram* (लैम्-रैम्), *blaze : braise* (ब्लेज़-ब्रेज), *climb:crime* (क्लाइम्-क्राइम्), आदि ! पर, ऐसे भी बहुत से शब्द हैं, जिसमें से एक तो उपलब्ध होता है, किन्तु दूसरा ध्वनिप्रक्रियात्मक दृष्टि से तुल्य नहीं बैठता : यथा, *slip* (स्लिप) मिलता है *srip* (स्रिप) नहीं; *blend* (ब्लेॅण्ड) की तुलना में *brend* (ब्रेॅण्ड) नहीं मिलता; *trip* (ट्रिप) की तुलना में *tlip* (ट्लिप) नहीं मिलता; '*brick*' (ब्रिक) मिलता है '*blick*' (ब्लिक) नहीं; आदि। किन्तु **स्रिप्, ट्लिप्,** आदि शब्दों तथा **ब्रेॅण्ड** और **ब्लिक** जसे शब्दों की असम्भाविता में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। प्रथम युग्म तथा इसी प्रकार के अन्य

शब्द उन कुछ सामान्य नियमों के द्वारा असाध्य सिद्ध होते हैं, जो अंग्रेज़ी शब्दों की ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना को परिचालित करते हैं। यथा, अंग्रेज़ी में ऐसा कोई शब्द नहीं है, जो /ट्ल/ या /स्र/ जैसे ध्वनि संयोगों से आरम्भ होता हो। (इस वक्तव्य को और भी अधिक सामान्य परिभाषा में कहा जासकता है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हमारा काम इतने से ही चलजाएगा।) इसके विपरीत, अंग्रेज़ी में /ल्/ और /र्/ ध्वनि के सम्बन्ध में ऐसा कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता, जिसके आधार पर **ब्लिक** और **ब्रॅण्ड** जैसे शब्दों की असम्भाविता सिद्ध होती हो। **बल्** और **ब्र्** के संयोग अन्य शब्दों में पाए ही जाते हैं: *blink* : *brink* (ब्लिंक : ब्रिंक), *blessed* : *breast* (ब्लेस्ड : ब्रेस्ट), आदि में। अपनी ध्वन्यात्मक रचना की दृष्टि से, **ट्लिप** और **स्रिप** की तुलना में, **ब्रॅण्ड** और **ब्लिक** शब्द अंग्रेजी के लिए अधिक स्वीकार्य हैं। यह तो संयोग की बात है कि उन्हें व्याकरणात्मक कार्य या अर्थ की दृष्टि से मान्यता नहीं मिली, और न ही भाषा में उनका प्रयोग होपाया।

इन ध्वन्यात्मक उदाहरणों के द्वारा जिस बात को अभी निर्दशित किया गया है, उसे ही व्याकरणात्मक स्तर पर भी विनियुक्त किया जासकता है। शब्दों के सभी संघात स्वीकार्य नहीं होजाते: इन अस्वीकार्य संघातों में से कुछ का सकारण विवेचन भाषा के शब्दों के सामान्य वितरणात्मक श्रेणीकरण की दृष्टि से किया जासकता है; जबकि अन्यों की व्याख्या विशिष्ट शब्दों के अर्थ की दृष्टि से अथवा उन कुछ अन्य तथ्यों के आधार पर की जासकती है, जो व्यक्तिगत शब्दों के रूप में विशेषतः उनसे सम्बद्ध होते हैं। हम बाद के एक अध्याय (तु० ४. २. २.) में इस विषय को फिर से उठाएंगे। प्रस्तुत युक्ति के प्रसंग में इतना कहदेना ही पर्याप्त है कि पूर्ण या आंशिक वितरणात्मक समतुल्यता का अर्थ यह नहीं कि उन प्रसंगों के परिसर में भी पूर्ण एकरूपता विद्यमान हो, जिनमें कि वह विचाराधीन इकाई प्रयुक्त पाई जाती है। इसका अर्थ उस मात्रा तक उपलभ्य एकरूपता से है, जहां तक वे प्रसंग भाषा की ध्वनिप्रक्रियात्मक और व्याकरणात्मक नियमितताओं के द्वारा निर्दिष्ट हैं।

२. ३. २ उन्मुक्त विचरण

जैसा कि हमने पिछले खण्ड में देखा है, प्रत्येक भाषातमक इकाई के **विरोधात्मक** और **संघातात्मक**—दोनों ही—प्रकार्य होते हैं। अब यह स्पष्ट है कि कोई भी दो इकाइयाँ तब तक विरोध में नहीं रह सकतीं, जब तक वे कम-से-कम आंशिक रूप में वितरण में भी समतुल्य न हों (पूरक वितरण वाली इकाइयों के लिए **विरोध** का प्रश्न ही नहीं उठता)। किसी प्रसंग में आनेवाली इकाइयाँ, जो परस्पर विरोध या वैषम्य में स्थित नहीं हैं, **'उन्मुक्त विचरण'** में स्थित कही जासकती हैं। उदाहरणार्थ, *leap* (लीप) और *get* (गॅट) शब्दों के स्वर प्रायः जहाँ भी आते हैं, वहीं पर अधिकांशतः वे विरोध या वैषम्य में ही स्थित होते हैं (यथा, *b et* : *beat*—

बे`ट् : बीट्, आदि में) । किन्तु, '*e conomics*' के वैकल्पिक उच्चारणों में ये दोनों स्वर **उन्मुक्त विचरण** में विद्यमान हैं। ध्वनिप्रक्रिया और अर्थविचार दोनों में ही हमें सावधान रहना चाहिए कि कहीं हम **उन्मुक्त विचरण** (प्रसंग में कार्य की समतुल्यता) और **वितरणात्मक समतुल्यता** (प्रसंगों के एक ही परिसर में विद्यमानता) को परस्पर उलझा न बैठें। **उन्मुक्त विचरण** और **विरोध** का सही अभिप्राय उक्त इकाइयों की प्रकृति पर निर्भर करता है, जिनके लिए इन संज्ञाओं का प्रयोग होता है, तथा जिस दृष्टिकोण से इन्हें देखा जाता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, दो अभिव्यक्ति-अवयव तब 'विरोध' में स्थित होते हैं, जब उसी प्रसंग में एक के स्थान पर दूसरे को लाने से एक नया शब्द या वाक्य बन जाए। यदि ऐसा नहीं होता, तब उन्हें **उन्मुक्त विचरण में स्थित** ही कहना होगा। किन्तु, शब्दों और अन्य व्याकरणात्मक दृष्टि उनके प्रकार्य (यथा, **संज्ञा, विशेषण,** या क्रिया, आदि) की विवेचना के प्रसंग में ही विरोध और उन्मुक्त विचरण की इन धारणाओं को वितरणात्मक समतुल्यता की भाषा में सोचा जाता है। यह इसलिए कि **व्याकरणात्मक प्रकार्य** और **वितरण** के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध है (तु० ४.२.६)। यद्यपि शब्द के अर्थ और उसके वितरण के बीच कुछ सम्बन्ध विद्यमान है, फिर भी उनमें से किसी एक का निर्धारण दूसरे के आधार पर नहीं किया जासकता। इसी कारण सैद्धान्तिक रूप में दोनों धारणाएँ विविक्त या पृथक् हैं। अर्थविचार के प्रसंग में उन्मुक्त विचरण और वैषम्य (विरोध) का अर्थ '**अर्थ की समता और विषमता**' के रूप में लिया जाता है। (अर्थविचार के प्रसंग में 'उन्मुक्त विचरण' के स्थान पर अधिकांशतः परम्परागत शब्द 'समानार्थकता' का प्रयोग किया जाता है।)

२. ३. ३ रूपक्रमात्मक और विन्यासक्रमात्मक

एक विशिष्ट सन्दर्भ में प्रयुक्त होने की अपनी सामर्थ्य के कारण कोई भी भाषात्मक इकाई दो भिन्न प्रकार के सम्बन्धों को वहन करती है। एक प्रकार के सम्बन्ध हैं **रूपक्रमात्मक**, जोकि उसी सन्दर्भ में प्रयुक्त होने वाली सभी अन्य इकाइयों के बीच स्थापित होते हैं (चाहे वे प्रस्तुत इकाई के साथ वैषम्य में हों या उन्मुक्त विचरण में)। दूसरे, यह इकाई उसी स्तर की अन्य सहप्रयुक्त और उसी प्रसंग को बनानेवाली इकाइयों के साथ 'विन्यासक्रमात्मक' सम्बन्धों को वहन करती है। इससे पहले खण्ड में प्रयुक्त उदाहरण को यदि हम लें, तब /-et/ (-एँट) के प्रसंग में होने की अपनी सामर्थ्य के आधार पर /b/ ध्वनि का /p/ एवं /s/ आदि ध्वनियों के साथ सम्बन्ध **रूपक्रमात्मक** है। किन्तु /e/ और /t/ ध्वनियों के साथ इसका सम्बन्ध **विन्यासक्रमात्मक** है। इसी प्रकार, /e/ का /i/ और /a/ आदि के साथ सम्बन्ध 'रूपक्रमात्मक' है, जबकि /b/ और /t/ आदि के साथ उसका सम्बन्ध 'विन्यासक्रमात्मक' है। इसी प्रकार /t/ का सम्बन्ध /d/ और /n/ आदि के साथ 'रूपक्रमात्मक है, जबकि /b/ और /e/ आदि के साथ वह विन्यास-क्रमात्मक है।

शब्द के स्तर पर, बल्कि भाषा-वर्णन के प्रत्येक स्तर पर भी, ये दोनों सम्बन्ध यथोचित हैं। उदाहरणार्थ, 'एक'''दूध' के साथ साहचर्य के कारण **किलो** (या पिण्ट) का सम्बन्ध **बोतल, प्याला, गिलास,** आदि भिन्न-भिन्न शब्दों के साथ **रूपक्रमात्मक** हो जाता है, जबकि इसी का विन्यासात्मक सम्बन्ध **एक** और **दूध** आदि शब्दों के साथ होता है। वास्तव में शब्द अथवा व्याकरणात्मक अन्य इकाइयां इन दोनों सम्बन्धों को भी विविध प्रकार से वहन करती हैं। **विद्यमानता की शक्यता** का अभिप्राय परिणत पदबन्ध या वाक्य की अर्थवत्ता, वास्तविक उक्तियों के आविर्भाव की विविध स्थितियों, सम्बद्ध प्रवचन में पाए जाने वाले वाक्यों की परस्पराश्रितता, आदि को ध्यान में रखकर या बिना ध्यान में रखे भी, ग्रहण किया जा सकता है। 'विद्यमानता की शक्यता' की व्याख्या में लगाए जा सकने वाले विविध प्रतिबन्धों के विषय में हम बाद में कुछ और भी कहेंगे ('स्वीकार्यता' की धारणा पर, तु० ४. २. १)। यहां तो इस बात पर बल देना ही अभीष्ट है कि प्रत्येक भाषात्मक इकाई अपने स्तर की इकाइयों के ही साथ (**अभिव्यक्ति-अवयव** किसी अन्य अभिव्यक्ति-अवयव के साथ, **शब्द** किसी अन्य शब्द के साथ, इत्यादि) उक्त दोनों प्रकार के सम्बन्धों को स्थापित करती है; किसी भी भाषात्मक इकाई का 'सन्दर्भ' इसके विन्यासात्मक सम्बन्धों की भाषा में ही निश्चित किया जा सकता है; तथा इनकी विद्यमानता के सन्दर्भों का परस्पर (विस्तार) एवं उस इकाई-श्रेणी का प्रसार, कि जिसके साथ इसके प्रतिमानात्मक सम्बन्ध होते हैं, उस व्याख्या पर निर्भर करता है, जो स्पष्टार्थ या निहितार्थ के रूप में 'विद्यमानता की शक्यता' या 'स्वीकार्यता' के साथ संगत कीजाती है।

ऐसा प्रतीत होसकता है कि आखिरी बात कुछ अनावश्यक रूप में भिन्न प्रकार से सूत्रित की गई है। आगे चलकर यह स्पष्ट हो जाएगा कि इस प्रकार की सूत्र-रचना का एक लाभ यह है कि यह हमें व्याकरणात्मक वाक्यों एवं सार्थक वाक्यों के बीच विभेद करने में समर्थ करती है। यह विभेद किसी संघात में व्याकरणात्मक इकाइयों और अर्थात्मक इकाइयों के रूप में न किया जाकर, एक ही वर्ग की किन्हीं इकाइयों के बीच सुरक्षित 'स्वीकार्यता' की मात्रा या उसके प्रकार की दृष्टि से किया जाता है।

२. ३. ४ उक्त दोनों सम्बन्धों की अन्योन्याश्रितता

इन दोनों सम्बन्ध-प्रकारों के सम्बन्ध में अब दो महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट करनी होंगी। इनमें से **प्रथम** को द्रव्य और आकार के विभेद के साथ-साथ आधुनिक **संरचनात्मक भाषाविज्ञान** का व्याख्यात्मक अभिलक्षण स्वीकार किया जासकता है। यह इस प्रकार है: दूसरी इकाइयों के साथ रूपात्मक और विन्यासात्मक सम्बन्धों के बिना, स्वतन्त्र रूप में, भाषात्मक इकाइयों का कोई औचित्य नहीं रह जाता (इसे हम इस सामान्यतर 'संरचनात्मक' सिद्धान्त का अधिक विशिष्ट सूत्र-

निबन्धन कह सकते हैं : प्रत्येक भाषात्मक इकाई का सम्बन्ध-प्रणाली में अपना एक निश्चित स्थान होता है—तु० १. ४. ६) । यदि इसे अभिव्यक्ति-अवयवों के स्तर पर समझाना हो, तब कह सकते हैं : **बेंट्, पेंट्** आदि अंग्रेज़ी के पूर्वोद्धृत शब्दों के विचार-प्रसंग में यह मान लिया गया था कि इन सब शब्दों की उपलब्धि तीन अभिव्यक्ति-अवयवों के उत्तरोत्तर क्रम के रूप में हुई थी (जैसा कि उन्हें भाषा के लिप्यात्मक प्रचलन के आधार पर तीन क्रमिक 'लिपि-चिन्हों' के रूप में लिखित रूप में अभिव्यक्त भी किया जाता है) । अब हम इस मान्यता की जाँच कर सकते हैं । तथ्यों के विपरीत हम यह कल्पना कर लेते हैं कि कुछ ऐसे भी शब्द सम्भव हैं, अंग्रेज़ी में जिनकी ध्वन्यात्मक उपलब्धि **पुट्, टिट्, कैट्, पप्, टिप्, कैप्, पक्** और **टिक्** के साथ एकरूप होती है, जबकि निम्न रूपों में किन्हीं शब्दों का उच्चारण या उपलब्धि सम्भव नहीं : **बट्, पिट्, बिट्,** **कट्, गट्, किट्, डक्, कैब्, कैड्, किड्, कड्,** आदि । यदि अपूर्ण ध्वनिप्रक्रियात्मक परिभाषा में कहना हो, तो उक्त मान्यता के रूप में यह मानने का प्रयास किया जारहा है कि सभी ध्वनि-प्रक्रियात्मक शब्द, जिन्हें तीन ध्वनियों के संसर्ग के रूप में उपलब्ध किया जाता है, अपनी द्रव्यात्मक उपलब्धि की दृष्टि से (अर्थात्, ध्वनिप्रक्रियात्मक शब्दों के रूप में) **व्यंजन-स्वर-व्यंजन** (यहाँ [प्], [ट्], [क्], आदि **व्यंजन** हैं, और [अ] ('उ' भी), [इ], [ऍ], आदि **स्वर** हैं; हमने अन्य किसी व्यंजन या स्वर की कल्पना नहीं की) की शृङ्खलामात्र के रूप में वर्णित किए जासकते हैं, किन्तु इन व्यंजनों और स्वरों के प्रथम और द्वितीय स्थान के संघात केवल [प] (या 'पु'), [टि] और [कै] हो सकते हैं । इस स्थिति में यह स्पष्ट है कि [अ] ('उ' भी), [इ] और [ऍ] के द्वारा तीन विविध अभिव्यक्ति-अवयवों की स्पष्ट उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि वे न रूपात्मक सम्बन्ध में स्थित हैं, और न ही वैषम्य में स्थित हैं । ऐसी स्थिति में कुल कितने अभिव्यक्ति-अवयव उपलब्ध होंगे (और ऐसी स्थिति भाषा में प्राप्त होनी नितान्त असामान्य नहीं है), यह कुछ विशिष्टतर ध्वनिवैज्ञानिक नियमों पर निर्भर करता है, जिनकी चर्चा हम बाद में करेंगे । हम कह सकते हैं कि प्रत्येक शब्द में केवल दो ही वैषम्य (विरोध) की स्थितियाँ होती हैं, जिनमें से प्रथम तो उक्त तीन व्यंजन-स्वर-संसर्गों में से किसी एक से 'पूरी' हो जाती है, जबकि द्वितीय की पूर्त्ति तीनों व्यंजनों में से किसी एक से होती है । अतः हम इनमें छः अभिव्यक्ति-अवयव पहचान सकते हैं, जिनकी उपलब्धि इस प्रकार होती है—/१/ : [क], /२/ : [प] (या 'पु'), /३/ : [टि], /४/ : [प्], /५/ : [ट्], और /६/ : [क्] । विकल्प में, हम अभिव्यक्ति-अवयवों को **चार** की संख्या में भी उपलब्ध कर सकते हैं, जिनमें से **तीन**—प्, ट्, क्—आदि और अन्त में आने वाले व्यंजनों के रूप में होते हैं, और **चतुर्थ** मध्य स्थिति में उपलब्ध **स्वर** के रूप में होता है, जिसकी ध्वन्यात्मक विशेषता पुरोगामी व्यंजन के आधार पर निश्चित होती है । अतः कथनीय बात यह है कि पहले अवयवों को स्थापित करके फिर उनके अनुमत संघातों को नहीं बताया जा

सकता। उनके रूपात्मक और विन्यासात्मक सम्बन्धों पर साथ-साथ विचार करके ही अवयवों का निर्धारण किया जासकता है। **बॅ`द्, पॅ`ट्, बिद्, पिट्, टिप्, टॅप्,** आदि अंग्रेज़ी शब्दों में विषमता की तीन स्थितियों को पहचानने का कारण यह है कि इन तीन स्थलों पर ही उक्त दोनों प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये जासकते हैं। हम देखेंगे कि इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों के आयामों की परस्पराश्रितता एक ऐसा नियम है, जो भाषा-संरचना के सभी स्तरों पर लागू होता है।

२. ३. ५ विन्यासक्रमात्मक का अर्थ अनुक्रमात्मक नहीं

द्वितीय महत्त्वपूर्ण बात यह है : विन्यासात्मक सम्बन्ध अनिवार्यतः इकाइयों की ऐसी किसी रेखीय शृंखला-व्यवस्था को पहले से कल्पित करके नहीं चलते, यथा किसी एक अवयव की द्रव्यात्मक उपलब्धि किसी दूसरे अवयव की द्रव्यात्मक उपलब्धि से अवश्य ही पूर्वतर सम्पन्न होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, चीनी शब्दों **हाॅओ** और **हॉओ** का अर्थ क्रमशः 'दिन' और 'अच्छा' है। इन दोनों में एक दूसरे से ध्वनि प्रक्रियात्मक अन्तर यह है कि पहले का **स्वर** 'चौथी कोटि' का है, और पिछले का 'तीसरी कोटि' का है। (पहले को हम भारतीय परिभाषा में **स्वरित** और दूसरे को **स्वरितोदात्त** कह सकते हैं।) मूल ध्वनि समूह 'हाओ' है इसमें /ो/ और /ॉ/ स्वर प्रतिमानात्मक वैषम्य में हैं। दूसरे शब्दों में, ये स्वर इस सन्दर्भ में एवं अन्यत्र भी एक ही विन्यासात्मक सम्बन्ध को वहन करते हैं। यदि हम यह कहें कि इनमें से एक को ध्वनिविज्ञान की भाषा में /हाओ/ + /`/ और दूसरे को /हाओ/ + /˘/ के रूप में विश्लिष्ट किया जासकता है, तो इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि **टोन** (स्वर) की द्रव्यात्मक उपलब्धि शेष शब्द की द्रव्यात्मक उपलब्धि के बाद ही होती है। भाषा की उक्तियां कालक्रम में ही बोली जाती हैं; अतएव वे उत्तरोत्तर ध्वनि-शृंखला में अथवा ध्वनि-संसर्गों में विभाजित की जासकती हैं। किन्तु यह काल-शृङ्खला भाषा की संरचना में प्रासंगिक या सम्बद्ध भी हैं या नहीं, यह बात भी भाषा की इकाइयों में स्थित रूपात्मक और विन्यासात्मक सम्बन्धों पर आश्रित हैं, न कि, सिद्धान्ततः, उनकी द्रव्यात्मक उपलब्धियों की उत्तरोत्तरता पर। (संस्कृत में इस प्रकार का शब्द **क्षय** है, जिसके दो अर्थ हैं : **घर** और **नाश** ! इनका निश्चय प्रथम या द्वितीय स्वर के उदात्त होने पर निर्भर होता है।)

ध्वनिक द्रव्य की शक्यताओं में से 'सापेक्ष शृङ्खला' एक है (क्योंकि आरेखीय या लेखात्मक द्रव्य की व्युत्पन्न शक्यताओं में से भी यह एक है; फिर चाहे उनमें बाएं से दाएं, दाएं से बाएं, या ऊपर से नीचे लिखने का प्रचलन हो)। इसका वास्तविक रूप हो भी सकता है और नहीं भी। इस सिद्धान्त का विनियोग व्याकरणात्मक स्तर पर सुविधा से दिखाया जासकता है। **अंग्रेजी** 'क्रमबद्ध शब्द' वाली भाषा है, जबकि **लैटिन** 'क्रमहीन शब्द' वाली है। (वास्तव में पूरी तरह ये दोनों ही बातें सत्य नहीं कही जासकतीं, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग के लिए इतना अन्तर पर्याप्त स्पष्ट है।)

विशेषकर, **कर्त्ता, क्रिया** और **कर्म** से मिलकर बना हुआ कोई अंग्रेज़ी वाक्य (यथा, **'ब्रूटस किल्ड सीज़र'**=ब्रूटस ने सीज़र को मारा) बोलने और लिखने में तीनों विचाराधीन इकाइयों की द्रव्यात्मक उपलब्धि के साथ ही प्रयुक्त होगा, और उसका शृङ्खला-क्रम होगा : **कर्त्ता+क्रिया+कर्म**। अब इन 'नामशब्दों' के क्रम में विपर्यय या हेरफेर होने का प्रभाव यह होगा कि यह वाक्य या तो व्याकरणविरुद्ध हो जाएगा, या सर्वथा भिन्न बन जाएगा : **'ब्रूटस किल्ड सीज़र'** और **'सीज़र किल्ड ब्रूटस'** दोनों ही भिन्न वाक्य हैं; यद्यपि **'द शिंपांजी एट् सम् बनानाज़्'** को एक वाक्य माना जाएगा, **'सम् बनानाज़् एट् द शिंपांजी'** को नहीं। किन्तु, इसके विरोध में लैटिन के **'ब्रूतुस नेकावित् काएसारेंम्'** और **'काएसारेंम् नेकावित् ब्रूतुस्'** दोनों प्रयोग एक ही वाक्य की द्विविध द्रव्यात्मक उपलब्धियाँ हैं। यही बात इससे उलटे-अर्थ वाले **'काएसार नेकावित् ब्रूतुम्'** और **'ब्रूतुम् नेकावित् काएसार'** वाक्यों पर भी लागू होती है। इसलिए लैटिन के शब्दों का **सापेक्ष क्रम** व्याकरणात्मक दृष्टि से असंगत है; यद्यपि यह निश्चित है कि उसमें भी शब्दों को बोलते हुए किसी न किसी क्रम को तो अपनाना ही पड़ेगा।

२.३.६ सश्रृङ्खल और अ-शृङ्खल विन्यासात्मक सम्बन्ध

हमें अपनी बात और भी सामान्यतर रूप में कहनी होगी : सरलता के लिए, हम यह मान लेते हैं कि हम इकाइयों की **दो श्रेणियों** (या अस्थायी रूप में स्थापित इकाइयों) के विषय में विचार कररहे हैं, जिनमें से प्रत्येक श्रेणी के सदस्य एक-दूसरे के साथ रूपक्रमात्मक सम्बन्ध में आबद्ध हैं। इन श्रेणियों को हम एक आदर्श संकेत के रूप में, श्रेणी-अवयव-सम्बन्ध दिखाने के लिए, **क्ष** और **य** मान लेते हैं, जिनके अवयव क्रमशः **अ** और **ब** ('क्ष' श्रेणी के), एवं **प** और **क** ('य' श्रेणी के) हैं : **क्ष**={अ, ब}, **य**={प, क}।

प्रत्येक इकाई की द्रव्यात्मक उपलब्धि को भिन्न आकृति के लिपिचिह्नों द्वारा दिखाया जा सकता है : अर्थात् **'अ'** के द्वारा 'अ' की उपलब्धि होती है, इत्यादि; एवं **'क्ष'** और **'य'** अपनी मूल इकाइयों की उपलब्धि को सूचित करते हैं। हम यह मानकर चलेंगे कि ये द्रव्यात्मक उपलब्धियां युगपत् नहीं होतीं (वे **व्यंजन** और **स्वर** अथवा **शब्द** के रूप में हो सकती हैं); किन्तु वे एक शृंखलित-व्यवस्था में एक दूसरे से सम्बद्ध या सापेक्ष अवश्य हैं। यहाँ तीन अवसरोचित सम्भावनाएं हो सकती हैं। **प्रथम**—यह शृङ्खलित क्रम इस रूप में **स्थिर** हो सकता है, यथा **'क्ष'** अनिवार्यतः **'य'** से पूर्व आता है (उदा०—**अप, अक, बप, बक,** आदि सम्पन्न होते हैं; **पअ, कअ, पब, कब,** आदि नहीं); **द्वितीय**—शृंखलित क्रम **मुक्त** भी रह सकता है, जिससे **क्ष य** और **य क्ष** दोनों ही सम्भावनाएँ घटित होती हैं; किन्तु **क्ष य=य क्ष** के रूप में ही (जहाँ '=' का अर्थ 'तुल्यता' से है : वर्णन के विशिष्ट स्तर पर तुल्यता); **तृतीय**—शृँखला **स्थिर** भी हो सकती है और **मुक्त** भी, किन्तु यह इस

भिन्न अर्थ में कि **'क्ष य'** और **'य क्ष'** दोनों ही रूप घटित हो सकते हैं, किन्तु **'क्ष य≠य क्ष'** (यहाँ '≠' का अर्थ है 'दोनों तुल्य नहीं हैं')। यहाँ प्रसंगवशात् यह कहा जासकता है कि शब्द-क्रम जैसे प्रश्नों पर विचार के प्रसंग में ये तीनों संज्ञाएं सदा विविक्त रूप में नहीं पहचानी जातीं। इन तीन में से अन्तिम दोनों को सैद्धान्तिक रूप में सतर्कता से वर्णन किया जासकता है। **द्वितीय सम्भावना** के विषय में यह अवधेय है : क्योंकि **क्ष य** और **य क्ष** परस्पर विरोध में स्थित नहीं हैं, अतः **अ, ब, प, क,** इकाइयां **अप** या **पअ** जैसी शृङ्खला में पाई जाने पर परस्पर **अशृङ्खल विन्यासात्मक सम्बन्ध** में आबद्ध कहलाएँगी (यह स्थिति शब्द-प्रयोग की दृष्टि से **'मुक्तक्रम'** भाषाओं में पाई जाती है)। **तृतीय सम्भावना** : क्योंकि **क्ष य** और **य क्ष** परस्पर विरोध में हैं, इकाइयों को परस्पर 'सशृङ्खल विन्यासात्मक सम्बन्ध' की स्थिति में कहा जासकता है (यह स्थिति 'विशेषण' और 'नाम' शब्दों के सम्बन्ध में, एवं फ्रेंच में कुछ 'विशेषणों' के विषय में, कही जासकती है)। परन्तु अत्यन्त सामान्य रूप में उपलभ्य **प्रथम सम्भावना** के विषय में भ्रांति उत्पन्न होसकती है। इसके अनुसार, क्योंकि **'य क्ष'** घटित नहीं होता, अतः 'क्ष' और 'य' श्रेणियों के अवयव उस स्तर पर शृङ्खलित रूप में परस्पर सम्बद्ध नहीं होसकते। दूसरी ओर, भाषा के वर्णन में किसी विशिष्ट स्थल पर हमें उनकी द्रव्यात्मक उपलब्धि में आबद्ध शृङ्खला को विशिष्ट रूप से व्यक्त करना ही होगा। इसलिए यह सम्भावना एक स्तर के दूसरे स्तर के साथ एकीकरण के द्वारा 'लाघव' का उद्देश्य सिद्ध कर सकती है; पर तभी यदि द्वितीय के उदाहरण तृतीय के उदाहरणों को 'आत्मसात्' कर लें। इस सिद्धान्त पर दृष्टि रखकर ही हमने पहले कहा है कि **'बैंट्', 'पैंट्',** आदि अंग्रेज़ी शब्दों की ध्वनिवैज्ञानिक संरचना **व्यंजन+स्वर+व्यंजन** के क्रम से होती है (यहाँ 'व्यंजन' और 'स्वर' का प्रयोग 'अभिव्यक्ति-अवयवों' के लिए किया गया है)। अंग्रेज़ी के अभिव्यक्ति-अवयवों के बीच कुछ विन्यासात्मक सम्बन्ध 'सशृंखल' हैं; यह बात *pat*, *apt*, *cat*, *act* (**पैट्, ऐप्ट, कैट्, ऐक्ट**) आदि शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि यहाँ केवल **व्य-व्य-स्व,** अर्थात् व्यंजन-व्यंजन-स्वर (यहाँ विचार्य व्यंजन [प्], [ट्], [क्], [ब्], [ड्], [ग्], आदि के रूप में उपलब्ध होते हैं) की शृंखला ही घटित नहीं होती; अपितु **व्य-स्व-व्य** और **स्व-व्य-व्य** (कुछ ही) दोनों भी अवश्य घटित होते हैं। पर, साथ ही, **स्व-व्य-व्य** के रूप में व्यंजनों के सह घटित होने में कुछ प्रणालीगत प्रतिबन्ध भी होते हैं : यथा, [atp] या [atk] के रूप में उपलभ्य शब्द प्रणालीगत दृष्टि से असम्भव हो जाता है। यही बात [akk], [app], [att] आदि के विषय में भी है। अतः जिन शब्दों पर हमने विचार किया है, उनकी ध्वनिवैज्ञानिक संरचना में अंग्रेज़ी में ऊपर कही **प्रथम** और **तृतीय** दोनों सम्भावनाओं को निर्दर्शित करती है। उन्हें एक ही सशृङ्खल-व्यवस्थित सूत्र में आत्मसात् करके हम उनकी द्रव्यात्मक उपलब्धि से सम्बद्ध वक्तव्य को सरल कर देते हैं। किन्तु,

इस बात पर भी बल दिया जाना चाहिए कि इसका यह अर्थ नहीं कि हम अंग्रेज़ी शब्दराशि के [git], या [ped] जैसे **'सांयोगिक'** अन्तरालों की ओर, एवं [pti] या [atp] जैसे प्रणाली-बाह्य 'शब्दों' की ओर, ध्यान ही न खीचें (तु०-२.३.१)।

'शृंखला' के प्रश्न पर इससे अधिक विचार यहाँ अवाञ्छित ही होगा। बाद के अध्यायों में हम इस पर फिरसे विचार करेंगे। किन्तु इससे पहले कि हम अगले विचार पर बढ़ें, इस बात पर बल देना आवश्यक है कि यह सम्पूर्ण विमर्श जानबूझकर अपनाई गई इस धारणा के आधार पर बढ़ा है कि विन्यासात्मक सम्बन्ध में सभी इकाइयां समानता के आधार पर सह-घटित होती हैं, और यह कि इस प्रकार की इकाइयों के संघातों में कोई 'समूह' अन्तर्हित नहीं होते। इसके अतिरिक्त यह धारणा भी इस विमर्श के मूल में रही प्रतीत होसकती है कि अनिवार्यतः प्रत्येक इकाई की उपलब्धि ध्वनिक द्रव्य के केवल एक ही पृथक्करणीय खण्ड या अंश के द्वारा होनी सम्भव है। हम बाद में देखेंगे कि यह बात सत्य नहीं है। जो दो सामान्य बातें सिद्ध कीगई हैं, वे हैं: (१) रूपक्रमात्मक और विन्यासात्मक आयाम अन्योन्याश्रित होते हैं, और (२) विन्यासात्मक आयाम अनिवार्यतः काल-व्यवस्थित नहीं होते।

२. ३. ७ चिन्हित और अचिन्हित

अबतक हमने रूपक्रमात्मक सम्बन्ध के अन्तर्गत इकाइयों से सम्बद्ध दो सम्भावनाओं पर विचार किया है: **या** तो वे **वैषम्य** में रह सकती हैं, **या** फिर **उन्मुक्त विचरण** में। प्रायः ही ऐसा होता है कि वैषम्य (जिसे हम सरलता से 'द्वि-पद वैषम्य' भी कह सकते हैं) में स्थित दोनों इकाइयों में से एक तो सक्रिय या **चिन्हित** होगी और दूसरी अक्रिय या **अचिन्हित**! इन संज्ञाओं का अभिप्राय उदाहरण के द्वारा समझाया जासकता है। अधिकांश अंग्रेज़ी शब्दों के एकवचन और बहुवचन के रूप परस्पर सम्बद्ध होते हैं। यथा, **बॉय्ज़् : बॉय्, डेज़् : डे, बर्ड्स : बर्ड,** आदि। इनमें बहुवचन **स्** या **ज़्** अन्त्य ध्वनि के द्वारा **चिन्हित** है, जब कि एकवचन **अचिन्हित** है। दूसरे शब्दों में, इसी बात को यूं भी कह सकते हैं कि किसी प्रसंग में किसी विशिष्ट इकाई की उपस्थिति उसकी अनुपस्थिति के 'विरोध' में स्थित होती हैं। जब ऐसा होता है, तब प्रायः अचिन्हित आकार, चिन्हित आकार की अपेक्षा, भावना में सामान्यतर होता है और उसका वितरण व्यापकतर होता है। अब तो यह प्रथा ही बनगई है कि 'चिन्हित' और 'अचिन्हित' संज्ञा को कुछ निरपेक्ष अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, जिससे कि वैषम्य में स्थित किसी युग्म के चिन्हित और अचिन्हित अवयव केवल किसी विशिष्ट व्यक्त इकाई की उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण ही स्पष्टतः नहीं पहचाने जाते। उदाहरणार्थ, अर्थात्मक दृष्टि से अंग्रेज़ी शब्द 'dog' और 'bitch' लिंग-वैषम्य की दृष्टि से क्रमशः **अचिन्हित** और **चिन्हित** हैं। **डॉग** को अर्थात्मक दृष्टि से 'अचिन्हित' इसलिए कहा जासकता है कि इसे 'पुंल्लिंग' और 'स्त्री-

लिंग'—दोनों—में ही प्रयुक्त किया जासकता है, जबकि **बिच्** इस दृष्टि से 'चिन्हित' है कि इसका प्रयोग केवल 'स्त्रीलिंग' के लिए ही सीमित है, तथा इसे 'अचिन्हित' प्रयोग के विरोध में उसकी 'निषेधात्मकता' दिखाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है (उदासीनता या नपुंसकत्व के लिए नहीं)। यह कह सकते हैं कि 'अचिन्हित' पद किसी विशिष्ट वैषम्य के प्रति उदासीन रहकर अधिक **सामान्य** भावना लिए होता है। इसकी अधिक **विशिष्ट** निषेधात्मक भावना द्वितीय कोटि की और व्युत्पन्न होती है; क्योंकि वह किसी 'चिन्हित' या '**सक्रिय**' (अनुदासीन) पद की प्रसंगगत विषमता के परिणामस्वरूप सामने आती है। अतः **डॉग** और **बिच्** शब्दों के बीच स्थित विशिष्ट सम्बन्धों से यह निष्कर्ष निकलता है कि, जहां '**मेल डॉग**' और '**फ़ीमेल डॉग**' के प्रयोग पूर्णतः स्वीकार्य हैं, वहां '**मेल बिच्**' और '**फ़ीमेल बिच**' जैसे प्रयोग अर्थात्मक दृष्टि से अनियमित ठहरते हैं। इनमें एक पुनरुक्तिमात्र है, जबकि दूसरा परस्पर विरुद्ध है। रूपक्रमात्मक विरोधों के बीच 'चिन्हित करने' की यह धारणा भाषा-संरचना के हर स्तर पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

२. ३. ८ विन्यासक्रमात्मक दैर्घ्य

रूपक्रमात्मक और विन्यासक्रमात्मक आयामों के बीच सम्बन्ध के विषय में यहां एक अन्तिम सामान्य बात और कही जासकती है। यदि इकाइयों का एक ऐसा विन्यास हो, जिसे 'निम्नतर स्तर' के अवयवों से उनके निबन्धन के आधार पर पहचानना हो, तब प्रत्येक 'उच्चतर स्तरकी इकाई' का **दैर्घ्य** (उन गणनात्मक विशिष्ट विचारणाओं के अतिरिक्त, जिनकी चर्चा हम अगले ही खण्ड में करेंगे), अपने विवेचक संसर्ग के विन्यासात्मक रूप में सम्बद्ध अवयवों की संख्या के लिहाज़ से नापने पर, उसी संसर्ग में विद्यमान रूपक्रमात्मक वैषम्य से युक्त अवयवों की संख्या के प्रतिलोम (उलटे) अनुपात में होगा। उदाहरणार्थ, हम मानलें कि किसी एक प्रणाली में केवल **दो** ही अभिव्यक्ति अवयव हैं (कहलें ० और १), जबकि किसी दूसरी प्रणाली में **आठ** अवयव हैं (जिन्हें हम ० से ७ तक मान लेते हैं); और सरलता केलिए, क्योंकि यह कल्पना वास्तविक सिद्धान्त पर प्रभाव नहीं डालती, हम यह भी मान लेते हैं कि दोनों प्रणालियों पर लागू 'ध्वनिवैज्ञानिक नियमों' के द्वारा उन अभिव्यक्ति-अवयवों के सभी संघात अनुमतियोग्य हैं। यदि इनमें से पूर्वतर **द्विक** प्रणाली में आठ 'ध्वनिवैज्ञानिक' शब्दों में विभेद करना हो, तब हर शब्द में तीन अवयवों की दीर्घता वांछनीय होगी (०००, ००१, ०१०, ०११, १००, १०१, ११०, १११); जबकि परवर्त्ती **अष्टक** प्रणाली में आठों में से प्रत्येक शब्द केवल एक अवयव की एकबार उपस्थिति से ही बन सकता है। यदि चौंसठ शब्दों में विभेद करना हो, तब द्विक प्रणाली में कम से कम छह ध्वनियों की दीर्घता आवश्यक होगी, जब कि अष्टक प्रणाली में यह कार्य केवल दो अवयवों के दैर्घ्य से ही चल जाएगा। सामान्यतः उच्चतर स्तर की इकाइयों की न्यूनतम संख्या, जिसे

कि विन्यासात्मक दृष्टि से सम्बद्ध निम्नतर स्तर के समूहगत अवयवों के विन्यास के आधार पर पहचाना जासकता है, निम्न सूत्र के आधार पर निर्धारित हो सकती है : **सं**$=$**प**$_1 \times$**प**$_2 \times$**प**$_3 \times$**प**$_4$...**प**$_{\text{अ}}$ । (**सं** का अर्थ है संख्या; **अ** का अर्थ है निम्नस्तरीय अवयवों की संख्या; **प**$_1$ आदि का अर्थ है क्रमशः **प्रथम, द्वितीय, तृतीय,** आदि स्थितियों में रूपक्रमात्मक विरोध में स्थित अवयवों की संख्या; आदि) ।

यह अवलोकनीय है कि इस सूत्र में न तो यही प्राक्कल्पना कीगई है कि वे ही अवयव सभी स्थितियों में आ सकते हैं, और न ही यह कि रूपक्रमात्मक विरोध में सभी स्थितियों में अवयवों की संख्या समान ही रहती है । **द्विक** और **अष्टक** प्रणाली के सम्बन्ध में ऊपर दिया गया सामान्य उदाहरण, जिसमें सभी अवयव सभी स्थितियों में आते हैं तथा सभी विन्यासात्मक संघातों में आने सम्भव भी हैं, इस दृष्टि से एक विशेष उदाहरण ही कहा जासकता है । यह इस सामान्यतर सूत्र के अनुसार कार्य करता है :

$$२ \times २ \times २ = ८, \qquad २ \times २ \times २ \times २ = १६, \text{ आदि}$$

और —

$$८ = ८, \qquad ८ \times ८ = ६४, \qquad ८ \times ८ \times ८ = ५१२, \text{ आदि ।}$$

हमने **द्विक** और **अष्टक** प्रणाली को तुलना केलिए क्यों चुना, इसका कारण यह है कि **आठ** भी **दो** की अन्तर्हित शक्तियों (घातों) के अन्तर्गत ही आता है । यदि इसे ३ घातों की दृष्टि से विचारा जाए (३.५ या ४.२७ घातों आदि की दृष्टि से नहीं), तब यह भी **२** ही ठहरता है (अर्थात् २ का ३ घात : $२^३$) । इस से रूपक्रमात्मक 'विरोध' और विन्यासात्मक 'दैर्घ्य' का सम्बन्ध सिद्ध होजाता है । अन्य बातें समान होने पर, **द्विक** प्रणाली के शब्दों का न्यूनतम दैर्घ्य निश्चय ही **अष्टक** प्रणाली के शब्दों की अपेक्षा तीन गुणा होगा । अगले खण्ड में हम इस विशिष्ट संख्यात्मक सम्बन्ध का लाभ उठाएंगे । और हम बाद के अध्यायों में इस समान्यतर सिद्धान्त पर पुनर्विचार करेंगे कि ये विभेद विन्यासात्मक एवं रूपक्रमात्मक दोनों ही दृष्टियों से किये जासकते हैं; विशेषकर अर्थविचार से सम्बद्ध अध्याय में ।

यह अवलोकनीय है कि अभी जिस 'दैर्घ्य' की धारणा का विचार यहां किया गया है, उसकी परिभाषा एक विन्यासात्मक संसृष्टि में विद्यमान रूपात्मक विरोध की स्थितियों की संख्या की दृष्टि से कीगई है । अनिवार्यतः यह धारणा कालात्मक शृंखला से बंधी नहीं है । यह बात (जो कि २. ३. ६ में वर्णित तथ्यों का परिणाम है) ध्वनिवैज्ञानिक, व्याकरणात्मक और अर्थात्मक संरचना के परवर्त्ती विमर्श में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी ।

२. ४ सांख्यिकीय संरचना

२. ४. १ प्रकार्य-क्षमता

भाषा के कार्यान्वयन में सभी रूपक्रमात्मक विरोध एक समान महत्त्व नहीं

रखते। अपनी **प्रकार्यक्षमता** की दृष्टि से वे पर्याप्त भिन्न होसकते हैं। इस संज्ञा का अर्थ समझाने के लिए हमें अंग्रेज़ी की ध्वनिवैज्ञानिक प्रणाली के भीतर ही कुछ वैषम्यों पर विचार करना होगा।

बोलचाल की अंग्रेज़ी में ऐसे अनेक शब्द हैं, जो अपनी द्रव्यात्मक उपलब्धि में एक ही सन्दर्भ में 'ब्' के स्थान पर 'प्' के आने मात्र से ही भिन्न पहचाने जाते हैं (यथा, *pet* : *bet*, *pin* : *bin*, *cap* : *cab*, *pack* : *back*, आदि); और इस वैषम्य के आधार पर हम /प्/ और /ब्/ के बीच एक वैषम्य स्थापित कर सकते हैं, तथा उन्हें, कम-से-कम प्रस्तुत प्रसंग में, भाषा के दो न्यूनतम अभिव्यक्ति-अवयवों के रूप में स्वीकार कर सकते हैं ('न्यूनतम इकाई' का अर्थ है, जिसका और अधिक विभाजन सम्भव नहीं)। अब क्योंकि इस प्रकार के अनेक शब्द हैं, जिन्हें /प्/ और /ब्/ के भेद से पहचाना जासकता है, इन दोनों अवयवों के बीच वैषम्य की 'प्रकार्य-क्षमता' अधिक या 'उच्च' कही जासकती है। अन्य वैषम्यों में यह 'क्षमता' कम होती है। उदाहरणार्थ ऐसे कम ही शब्द हैं, जिनकी द्रव्यात्मक उपलब्धि में एक दूसरे से विभेद अन्त्य ध्वनि के विशिष्ट उच्चारण से ही स्पष्ट होता है: यथा, अंग्रेज़ी के 'wreath' (रीथ) और 'wreathe' (रीद) में (दोनों जगह अन्त्य ध्वनि के 'थ' और 'द' उच्चारण के अन्तर के लिए देखें, ३. २. ८)। ऐसे शब्द तो और भी कम हैं जिनमें विभेद 'ज़श'(measure या leisure में प्रयुक्त 'ज़श' ध्वनि) की अपेक्षा 'श्' (ship) ध्वनि के कारण होता है। अतः /थ/ और /द/ एवं /श/ और /ज़श/ के इन दोनों द्वन्द्वों में स्थित वैषम्य की प्रकार्यक्षमता /प्/ और /ब्/ के वैषम्य की क्षमता की अपेक्षा निम्नतर है।

इस 'प्रकार्य-क्षमता' का महत्त्व स्पष्ट है। यदि अर्थात्मक दृष्टि से भिन्न उक्तियों में प्रयोक्ता उन वैषम्यों को अनवरत रूप में न बनाए रखे, जिनके कारण उनमें विभेद किया जासकता है, तब भ्रान्ति होनी सम्भव रहेगी। हम कुछ ही देर में इस बात पर विचार करेंगे कि यदि अन्य बातें समान हों, तब जितनी ही 'प्रकार्य-क्षमता' अधिक होती है, प्रयोक्ताओं के लिए यह उतना ही महत्त्वपूर्ण होजाता है कि वे अपनी 'भाषा-प्रकृति' के अंश के रूप में उन विशिष्ट वैषम्यों को भी सीखलें और बादमें अपने भाषा-प्रयोग में उन्हें स्थिर भी करलें। इसलिए यह आशा करना स्वाभाविक ही है कि बच्चे प्रथमतः उन वैषम्यों को सीखें, जिनकी प्रकार्य-क्षमता चारों ओर सुनाई देनेवाली भाषा में उच्चतम होती है। इस तथ्य के परिणामस्वरूप यह भी सिद्ध होता है कि उच्च प्रकार्य-क्षमता वाले वैषम्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी भाषा-संचार में समान रूप से अपने लोप के प्रतिरोधी भी होते हैं। बच्चे जिस सरलता से अपनी मातृभाषा में इस वैषम्य को अधिगत कर लेते हैं, उसके, तथा विशिष्ट भाषाओं के ऐतिहासिक विकास के, अध्ययन से इन आशाओं को अनुभूतिपरक समर्थन मिलता है। फिर भी, प्रत्येक स्थिति में कुछ अतिरिक्त हेतु भी होते हैं, जो प्रकार्य-क्षमता के इस सिद्धान्त के अन्तर्गत कार्य करते हैं, तथा जिनका उससे पृथक्करण असम्भव होता है।

यहाँ हमें इन अन्य हेतुओं के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

इस 'प्रकार्यक्षमता' का पूर्णमात्रा-निर्धारण यदि नितान्त असम्भव नहीं तो इस कारण जटिल अवश्य हो जाता है कि कुछ ऐसी भी विचारयोग्य बातें हैं, जिन्हें हमने ऊपर **'यदि अन्य बातें समान हों'** के द्वारा इंगित किया है। सर्वप्रथम तो यह कि अभिव्यक्ति-अवयवों के बीच एक विशिष्ट वैषम्य की 'प्रकार्यक्षमता' उनके द्वारा शब्द में अधिगत संरचनात्मक स्थिति के अनुसार परिवर्त्तित होती रहती है। उदाहरणार्थ, किन्हीं शब्दों के आदि में किन्हीं दो अवयवों का विरोध तो प्रायः ही देखने को मिल सकता है, जबकि उसके अन्त में ऐसा विरोध कदाचित् ही मिलना सम्भव हो। तो क्या हम वैषम्य की ऐसी सारी स्थितियों की, सामान्यतः, औसत निकाल लें? इस प्रश्न का उत्तर अस्पष्ट है।

दूसरी बात यह कि अभिव्यक्ति-अवयवों के बीच विशिष्ट वैषम्य के महत्त्व को उनके द्वारा विभेद्य शब्दों की संख्या का परिणाम या कार्य भी नहीं कहा जा सकता। यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि वे ही शब्द उसी सन्दर्भ में कितनी बार उस वैषम्य के साथ प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के परिसीमन का-उदाहरण पूरक वितरण में स्थित **अ** और **ब** दो शब्द-श्रेणियों के रूप में ले सकते हैं। यदि **अ** श्रेणी का प्रत्येक अवयव अपनी द्रव्यात्मक उपलब्धि में **ब** श्रेणी के किसी अवयव से केवल इस बात को छोड़कर सर्वथा भिन्न है कि इसमें जहाँ /अ/ आता है, वहाँ परवर्त्ती शब्द में /ब/ ध्वनि पाई जाती है, तब यह स्पष्ट है कि /अ/ और /ब/ ध्वनि के वैषम्य की प्रकार्यक्षमता शून्य है। अतः किसी विशिष्ट वैषम्य की प्रकार्यक्षमता की गणना उन शब्दों के आधार पर होनी चाहिए, जिनका वितरण समान या अतिव्यापी है। यह भी स्पष्ट है कि किसी विशिष्ट वैषम्य के महत्त्व का वास्तविक परिमाण, केवल किन्हीं शब्दों के व्याकरण-निर्दिष्ट वितरण को ही ध्यान में रखकर निर्धारित नहीं किया जासकता; बल्कि उन वास्तविक व्यवहार की उक्तियों को भी ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए, जिनमें इन वैषम्यों को यथावत् न बनाए रखने पर उनसे युक्त शब्दों को भ्रमवशात् गलत समझा जासकता है। उदाहरणार्थ, यदि निम्न वाक्यों में केवल अन्तिम ध्वनि के विभेद को ही ध्यान में न रखा जाए, तब कितना भ्रम होगा? : *You'd better get a cab* (यू'ड बॅटर गॅट ए कैब्), और *You'd better get a cap* (यू' ड बॅटर गॅट ए कैप्)। इस प्रश्न का उत्तर निश्चय ही विचाराधीन वैषम्य की प्रकार्यक्षमता के पूर्ण मात्रा-निर्धारण से सम्बद्ध है।

अन्तिम बात यह कि किसी विशिष्ट वैषम्य का मात्रा-निर्धारण उसके प्रयोग की **आवृत्ति** से सम्बद्ध प्रतीत होता है, जोकि स्वयं अपने द्वारा विभेद्य शब्दों की संख्या से ही निर्धारित नहीं होती। मानलें कि /क्ष/, /त्र/, /ज्ञ/ के रूप में तीन अभिव्यक्ति-अवयव एक ही वितरण-श्रेणी के शब्दों में एक ही संरचनात्मक स्थिति में घटित होते हैं? अब हम यह मानलेते हैं कि जहां /क्ष/ और /त्र/ ध्वनि वाले

शब्द भाषा में बहुधा वैषम्य में पाए जाते हैं (अतः वे **उच्च-आवृत्ति शब्द** हैं), वहाँ /ज्ञ/ ध्वनियुक्त शब्दों को **निम्न-आवृत्ति शब्द** कहा जा सकता है (यद्यपि शब्द-कोष में उनकी संख्या भी पर्याप्त अधिक होसकती है)। अब यदि कोई प्रयोक्ता /क्ष/ और /ज्ञ/ के वैषम्य को नहीं पहचान पाता, तब वह स्वयं को उस व्यक्ति की अपेक्षा कम बाधित अनुभव करेगा, जो /क्ष/ और /त्र/ के बीच वैषम्य को नहीं सीख पाया। अतः प्राक्कथनानुसार परवर्त्ती वैषम्य की प्रकार्यक्षमता पूर्वतर वैषम्य की अपेक्षा निश्चय ही **अधिक उच्च** है।

पहले के अनुच्छेदों में किया गया विमर्श 'प्रकार्यक्षमता' की किसी निश्चित मात्रा को स्थिर करने में आने वाली कठिनाई को स्पष्ट कर रहा है। अबतक भाषा-विज्ञान द्वारा प्रस्तावित विविध उपायों में से कोई भी उस पूर्णता का दावा नहीं करसकता, जो कि उसे गणितीय अर्थवाद द्वारा प्रदान कीगई दीखती है। कुछ भी हो, एककालिक या कालक्रमिक विचार-प्रसंग में हमें भाषा-संरचना के विमर्श में 'प्रकार्यक्षमता' के सिद्धान्त को असंदिग्ध महत्त्व प्रदान करना चाहिए; यद्यपि हम यह न भी बता सकें कि कुछ वैषम्यों की 'क्षमता' अन्यों की अपेक्षा अधिक होती है।

२. ४. २ सूचनांश और उपस्थिति की प्रायिकता

किसी सन्दर्भ में किसी भाषात्मक इकाई द्वारा वहन की जानेवाली **सूचना** की मात्रा के साथ एक अन्य प्रमुख सांख्यिकीय धारणा का भी सम्बन्ध है; और इसका निर्धारण भी उसी सन्दर्भ में इसकी पुनः-पुनः आवृत्ति की मात्रा से ही होता है, अथवा ऐसा होता माना गया है। यहाँ **सूचना** पद का प्रयोग उस विशिष्ट अर्थ में हुआ है, जो अर्थ इस शब्द ने 'सम्प्रेषण सिद्धान्त' में प्राप्त कर लिया है। इसकी व्याख्या हम अब करेंगे। किसी इकाई का सूचनांश इसकी प्रायिकता के प्रकार्य के रूप में माना जाता है। पहले हम एक सरलतम उदाहरण लेते हैं: यदि एक सन्दर्भ में दो या अधिक इकाइयां समप्रायिक होती हैं, तब उस सन्दर्भ में उनका सूचनांश एक समान ही होता है। **प्रायिकता** का आवृत्ति के साथ सम्बन्ध निम्न रूप में होता है: यदि केवल दो ही समप्रायिक इकाइयां—**क्ष** और **त्र**—उपस्थित रहती हैं, तब उनमें से प्रत्येक औसतन उसी सन्दर्भ के पूर्ण आधे अवसरों पर उपस्थित रहेगी। अर्थात् तब उनमें से प्रत्येक की प्रायिकता, बिना अनुभव किए भी, $\frac{1}{2}$ होती है। विशिष्ट इकाई '**क्ष**' की प्रायिकता को '**प्रक्ष**' के रूप में दिखाया जाता है। अतः प्रस्तुत निदर्शन में **प्रक्ष**$=\frac{1}{2}$ और **प्रत्र**$=\frac{1}{2}$ हैं। समानान्तर रूप में, '**क्ष**' की '**सं**' संख्या की प्रत्येक समप्रायिक इकाई (क्ष$_1$, क्ष$_2$, क्ष$_3$...क्षसं) की प्रायिकता **१/सं** होती है। (यह अवलोकनीय है कि सभी इकाइयों के विन्यास में प्रायिकता की राशि १ है। समप्रायिकता की विशिष्ट धारणा से अनाश्रित रूप में भी यह स्थित रहती है। **'निश्चितता'** को **प्रायिकता** की ही एक विशिष्ट स्थिति कहा जा सकता है। जो इकाइयां **अनिवार्यतः** किसी एक सन्दर्भ में उपस्थित होती हैं,

उनकी प्रायिकता '१' होती है।) यदि इकाइयां समप्रायिक हों, तब वे समान मात्रा में ही 'सूचना' को वहन करती हैं।

असमप्रायिकताएँ भाषा की सामान्य प्रवृत्ति होने के कारण अधिक रुचिकर होती हैं। उदाहरणार्थ, कल्पना करें कि केवल दो ही इकाइयां—**क्ष** और **त्र**—उपस्थित हैं, और 'क्ष', 'त्र' की अपेक्षा, औसतन दुगुनी बार उपस्थित है : तब प्रक्ष$=\frac{2}{3}$ और प्रत्र$=\frac{1}{3}$ होगा। इस स्थिति में 'क्ष' का सूचनांश 'त्र'की अपेक्षा आधा है। अर्थात्, सूचनांश प्रायिकता से 'प्रतिलोम अनुपात' में स्थित होता है (या घात-वर्धनात्मकता द्वारा सम्बद्ध होता है)। सूचना-सिद्धान्त का यह आधारभूत नियम है।

आपाततः यह नियम कुछ आश्चर्यकर प्रतीत होगा। किन्तु, पहले पूर्ण प्राक्कथनीयता की परिसीमक स्थिति पर विचार करलेना चाहिए। लिखित अंग्रेज़ी में 'q' के बाद आनेवाले 'u' के विषय में लगभग पूर्ण प्राक्कथन किया जा सकता है। यदि हम कुछ उधार शब्दों या व्यक्तिसंज्ञाओं पर ध्यान न दें, तब हम इसे पूर्णतः प्राक्कथनीय कह सकते हैं (और इसकी यह प्रायिकता '१' है)। इसी तरह, **'आई वाण्ट टु गो होम'** या **'आई आस्क्ड हिम टु हैल्प मी'** आदि वाक्यों में आने वाला **'टु'** भी '१' प्रायिकता से युक्त कहा जासकता है। यदि उक्त वाक्यों में से 'टु', अथवा *queen*, *queer*, *inques t*, आदि शब्दों में से '*u*' को त्यागना स्वीकार्य हो, तब भी किसी 'सूचनांश' की हानि न होगी। (यहां हम **'सूचना'** के **सामान्य** और **विशिष्ट** अर्थों में अन्तर स्पष्टतः देख सकते हैं।) क्योंकि '*u*' लिपिचिह्न एवं 'टु' शब्द उसी सन्दर्भ में आ सकनेवाली समान स्तर की किसी भी अन्य 'इकाई' के साथ 'रूपक्रमात्मक' (प्रतिमानात्मक) वैषम्य में स्थित नहीं हैं; अतः उनकी **प्रायिकता** '१' कही जाएगी, और उनका **सूचनांश** '०'। अर्थात् वे **पूर्णतः समधिक** (**अवांछनीय**) नहीं हैं। अब ऐसे **द्विपद वैषम्य** को लें, जिसमें प्रक्ष$=\frac{2}{3}$ और प्रत्र$=\frac{1}{3}$ हैं। इन दोनों में से कोई भी पूर्णतः समधिक (अवांछनीय) नहीं है। इस पर भी यह स्पष्ट है कि **'त्र'** की अपेक्षा **'क्ष'** का परित्याग कम प्रभावकारी है। क्योंकि **'त्र'** की अपेक्षा 'क्ष' की प्रायिकता 'दुगुनी' है, अतः **त्र-हीन** अवस्था की अपेक्षा **क्ष-हीन** अवस्था में ग्रहीता औसतन दुगुनी सम्भावना के साथ 'प्राक्कथन' करसकेगा। इस प्रकार **'त्र'** की अपेक्षा **'क्ष'** की समधिकता द्विगुण है। सामान्य रूप में यह कहा जासकता है कि **'कोई इकाई जितनी ही अधिक प्रायिक होती है, उसकी समधिकता भी उतनी ही अधिक होती है'** (तथा सूचनांश उतना ही निम्न होता है)।

२. ४. ३ द्विपद प्रणालियां

सूचनांश को प्रायः **द्विपदांकों** में मापा जाता है। अर्थात्, जिस इकाई की प्रायिकता $\frac{1}{2}$ होती है वह सूचनांश के '१' **द्विपदांक** को वहन करती है; जिसकी प्रायिकता $\frac{1}{4}$ होती है उसका सूचनांश '२' **द्विपदांक** होता है; इत्यादि। सूचनांश

के इस मापन की सुविधा हमारे सामने तब स्पष्ट होजाएगी, जब ऐसी इकाइयों को 'द्विपदांकों' के समूह के रूप में संकेतबद्ध करने की क्रियात्मक समस्या हमारे सामने आएगी, जिन्हें हम आरम्भ में समप्रायिक मानकर चलते हैं। इससे पूर्व खण्ड में हमने देखा है कि आठ इकाइयों के प्रत्येक विन्यास को तीन विविक्त द्विपदांकों के रूप में उपलब्ध किया जासकता है (तु० २. ३. ८)। यह तथ्य '२' एवं '८' संख्या के आपसी सम्बन्ध पर आधारित है (इनमें से '२' तो गणना की द्विपद-प्रणाली का 'आधार' है, जबकि '८' विवेच्य इकाइयों की संख्या है) : ८=२^{३} ।

सामान्यतर रूप में, यदि विवेच्य इकाइयों की संख्या '**सं**' है, और '**म**' वैषम्य की उन स्थितियों की संख्या है जो द्विपदांक समूहों में विभेद के लिए वांछनीय हैं, तब **सं**=२^{म} कहना होगा। अतः उच्चतर स्तर पर रूपक्रमात्मक वैषम्यों की संख्या और 'निम्ततर' स्तर के अवयवों के समूह के विन्यासात्मक दैर्घ्य के बीच सम्बन्ध **घातवर्धनात्मक** है : **म**=घ$_{२}$ **सं**। (किसी संख्या का **घातवर्धन** वह 'घात' या 'शक्ति' है, जहां तक संख्यात्मक प्रणाली के आधार को उठना चाहिए, ताकि वांछित संख्या को प्राप्त किया जासके। यदि **सं**=क्ष^{म} हो, तो **म**=घक्ष **सं** का अर्थ होगा : "यदि '**सं**' **क्ष** को **म** के घात तक लेजाता है, तब '**म**' '**सं**' के आधार '**क्ष**' तक की घातवृद्धि के तुल्य ठहरता है।" यह स्मर्त्तव्य है कि दशमलव गणित में १० का वर्धनघात १ है, १०० का २, १००० का ३, इत्यादि। इसे यूं भी कहसकते हैं : घ$_{१०}$ १०=१, घ$_{१०}$ १००=२, घ$_{१०}$ १०००=३, इत्यादि। यदि सूचना-सिद्धान्त के मापन की द्विपद प्रणाली के स्थान पर दशमलव प्रणाली अपनाई जाए, तब सूचना की इकाई की व्याख्या करना अधिक सुविधाजनक होगा; तब प्रायिकता को $\frac{१}{१०}$ मानना होगा।) पाठक को यह स्पष्ट होगा कि यहाँ दिया हुआ समीकरण **सं**=क्ष**म** पूर्व-कथित समीकरण **सं**=**प**$_{१}$ × **प**$_{२}$ × **प**$_{३}$ × **प**$_{४}$ × ......**प**म (तु० २. ३. ८) का ही एक विशिष्ट उदाहरण है। **सं**=क्ष^{म} समीकरण का अभिप्राय उस स्थिति से है, जब किसी विन्यासात्मक समूह के हर स्थान पर रूपक्रमात्मक वैषम्य में स्थित अवयवों की संख्या एकसमान (क्ष) ही होती है।

इन द्विपदांकों में सूचनांश को मापने का कारण महज़ यह है कि सूचना के संग्रह और संचारण की अनेक भौतिक प्रणालियां द्विपद-सिद्धान्त के अनुसार कार्य करती हैं। उन्हें **द्विस्थिति-प्रणालियां** भी कहा जासकता है। उदाहरणार्थ, अंकात्मक कम्प्यूटर के द्वारा विश्लेषण के लिए सूचना को चुम्बकीय पट्टी पर संकेतबद्ध किया जासकता है। ऐसा चुम्बकित या अचुम्बकित **स्थिति** या स्थिति-समूहों की शृंखला के रूप में होता है। हर **स्थिति** दो सम्भाव्य रूपों में से किसी एक रूप में स्थित होसकती है, और इसीलिए वह एक सूचना 'एक' के **द्विपदांक** (**बिट्**) को वहन करसकती है। यही सूचना **तरंगों** के रूप में भी भेजी जासकती है, जिनमें से प्रत्येक इन दो में से कोई भी एक मूल्य ग्रहण करसकती है : काल की दृष्टि से

लघु या दीर्घ, और **विद्युत्-आवेश** की दृष्टि से **सक्रिय** या **अक्रिय**, आदि। कोई भी ऐसी प्रणाली, जिसमें दो से अधिक अवयववाली वर्णमाला अपनाई गई हो, सम्प्रेषण-स्रोत पर इस द्विपद-प्रणाली में संकेतबद्ध की जासकती है, तथा गन्तव्य स्थल पर पहुंचने पर फिर से वर्णमाला में रूपान्तरित की जासकती है। टेलीप्रिंटर से भेजे जानेवाले सन्देशों का रूपान्तरण ऐसे ही होता है। इस सूचनांश का मान घातवर्धनात्मक प्रणाली से, किसी अन्य मूलस्थित संख्या के स्थान पर, '२' की मूल संख्या तक ले जाना चाहिए। यह बात इस तथ्य का परिणाम है कि प्रायः संचार-नियन्त्रक द्विस्थिति-प्रणालियों के माध्यम से कार्य करते हैं। भाषाविदों में इस बात को लेकर पर्याप्त विवाद रहा है कि श्रोता और वक्ता के बीच संचारण की सामान्य दशाओं में इस द्विपदांकन का सिद्धान्त भाषा के अध्ययन से प्रत्यक्षतः संगत भी है या नहीं ! निश्चय ही तथ्य यह है कि भाषा के प्रमुखतम ध्वनिवैज्ञानिक, व्याकरणात्मक और अर्थात्मक विभेद, जैसा कि हम परवर्त्ती अध्यायों में देखेंगे, प्रायः द्विपदात्मक होते हैं। द्विपद प्रणाली के एक निदर्शन के रूप में हम पहले ही देख चुके हैं कि इसके लिए प्रयुक्त **दो** पदों में से एक 'सक्रिय' या 'चिन्हित' होता है और द्वितीय 'अक्रिय' या 'अचिन्हित' (२. ३. ७)। हम इस प्रश्न पर यहां विमर्श नहीं करेंगे कि सभी भाषात्मक इकाइयों को द्विपद 'विकल्पों' के अनुक्रमिक संघातों में घटाया जासकता है या नहीं ? यह सत्य, कि भाषासंरचना के सभी स्तरों पर अनेक इकाइयां इस प्रकार घटित की जासकती हैं, यह बताता है कि भाषाविद् को इस प्रकार की द्विपद-प्रणालियों की सीमा में सोचने का अभ्यस्त होना चाहिए। किन्तु, उसी समय यह भी अनुभव करलेना चाहिए कि सूचना-सिद्धान्त की आधारभूत धारणाएं 'द्विपदवाद' की विशिष्ट धारणाओं से स्वतन्त्र हैं।

२. ४. ४ असमान प्रायिकताएं

क्योंकि प्रत्येक द्विपदांक एक **अर्धांश** से अधिक सूचना को वहन नहीं कर सकता, अतः **'म'** द्विपदांक अधिकतम 'म' अर्धांशों को वहन कर सकते हैं। अबतक हम यह मानकर चले हैं कि विभेद्य उच्चस्तरीय इकाइयां समप्रायिक होती हैं। अब हम उन इकाइयों की चर्चा करेंगे, जो अधिक रुचिकर एवं सामान्यतर हैं, तथा जिनकी **प्रायिकता असमान** है। सरलता केलिए हम तीन इकाइयों—**अ, ब, स**—के एक विन्यास को लेंगे, जिनकी प्रायिकताएं निम्न हैं : **प्र**अ—$\frac{१}{२}$, **प्र**ब=$\frac{१}{४}$, **प्र**स=$\frac{१}{४}$। इनमें से **'अ'** इकाई का सूचनांश '१' है, जब कि शेष दोनों में से प्रत्येक का '२' है। उपलब्धि की द्विपद प्रणाली में उन्हें इस प्रकार संकेतबद्ध किया जासकता है : अ=००, ब=०१, स=१० (जबकि ११ को अनाबद्ध छोड़ दिया है)। किन्तु यदि इन प्रशाखाओं को संचारण की किसी चैनल या सरणि के माध्यम से शृंखलाबद्ध रूप में भेजना हो, और यदि प्रत्येक को भेजने और ग्रहण करने में उतना ही समय लगता हो, तब इस पद्धति को अपनाना सुविधाजनक न होगा। क्योंकि

इसमें **अ** भी उस सरणि की उतनी ही सामर्थ्य को व्यय करेगा, जितनी कि **ब** और **स** करेंगे; यद्यपि इसका सूचनांश उनकी अपेक्षा आधा ही है। यदि 'अ' को एक ही प्रशाख—मानलें '१'—के द्वारा संकेतबद्ध करें और 'ब' और 'स' को वैषम्ययुक्त प्रशाख '०' को प्रथम स्थान में रखकर संकेतबद्ध करें, तब यह अधिक लघु होगा। तब 'ब' और 'स' में अन्तर दिखाने के लिए दूसरे स्थान में वैषम्य या परिवर्त्तन का प्रयोग किया जासकता है (**अ** के लिए दूसरे स्थान का प्रश्न ही नहीं है)। अब स्थिति यह होगी : अ=०, ब=००, स=०१। यह परवर्त्ती प्रचलन सरणि के सर्वाधिक लघु उपयोग को सम्भव बनाता है, क्योंकि इसमें एक या अधिक प्रशाख वाले समूह द्वारा वहन की जानेवाली सूचना को अधिकतम बढ़ाया जासकता है। क्योंकि **ब** और **स** की अपेक्षा दुगुनी बार आनेवाला **अ** कुल आधे समय में ही संचारित किया जासकता है, अतः लघुतम काल-सीमा में अधिकतम सन्देश भेजे जासकते हैं। (इसमें यह मान लिया गया है कि वे सन्देश पर्याप्त दीर्घ या बहुसंख्यक होते हैं, और उनमें उपस्थिति की आवृत्ति अनेक बार होती स्पष्ट होती है।) वास्तव में यह सरल प्रणाली इस आदर्श का प्रतिनिधत्व करती है : **अ, ब, स** रूपी तीनों इकाइयों में से प्रत्येक सूचना के अर्धांशों को एक संहत संख्या में वहन करती है, और उसी संख्या में द्रव्यात्मक विभेदों के माध्यम से उपलब्ध भी होती है।

२.४.५ समधिकता और रव (विक्षोभ)

किन्तु यह सैद्धान्तिक आदर्श व्यवहार में कभी अधिगत नहीं होता। **सर्वप्रथम,** इकाइयों की प्रायिकता इस श्रेणी की परिभाषा में **अनुकारी** न होकर **मध्यस्थ** होगी : १, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{४}$, $\frac{१}{८}$, $\frac{१}{१६}$,......१/२म! उदाहरणार्थ, किसी विशिष्ट इकाई की प्रायिकता $\frac{१}{५}$ होसकती है : इसलिए यह $घ_२$ ५—लगभग २.३—सूचना के अर्धांशों या द्विपदांकों को वहन करेगी। किन्तु ०.३ के रूप में कोई द्रव्यात्मक विभेद नहीं रहता : द्रव्यात्मक विभेद ऊपर २.२.१० में कही गई युक्ति से विशुद्ध और पूर्ण होते हैं। अब यदि हम $\frac{१}{५}$ प्रायिकता वाली इकाई को विविक्त करने केलिए तीसरे अंक का भी प्रयोग करें, तब हम उसकी द्रव्यात्मक उपलब्धि में समधिकता प्रविष्ट कररहे होंगे। (इस प्रणाली में **औसतन समधिकता** को किसी भी वांछनीय सीमा तक न्यूनतम किया जासकता है। संचारण के यान्त्रिक सिद्धान्त प्राथमिक रूप में इसी प्रश्न से सम्बद्ध हैं। किन्तु यहां हमें अधिक तकनीकी विस्तारों में जाने की आवश्यकता नहीं है।) प्रमुख बात यहां यह है कि यह समधिकता भी किसी-न-किसी मात्रा में संचार-प्रणाली में वांछनीय होती है। इसका कारण यह है कि भले ही संचार के माध्यम रूप में किसी भी प्रणाली का उपयोग किया जाए, कुछ-न-कुछ ऐसे भौतिक विक्षोभ या रव आ ही जाते है, जिनके बारे में पहले से निश्चित रूप से कहा नहीं जासकता, तथा जो वहन किये जानेवाले सन्देश को किसी अंश तक विकृत कर देते हैं; और इस प्रकार सूचना के एक अंश के

नाश का कारण बनते हैं। यदि प्रणालियां इस 'समधिकता' से रहित होतीं, तब यह नष्ट सूचना कभी प्राप्य न होपाती। संचार की सरणि या माध्यम में होनेवाले इन यादृच्छिक विक्षोभों को संचारण-यान्त्रिकों ने 'विक्षोभ' या 'रव' नाम दिया है। किसी विशिष्ट सरणि के लिए अनुकूलतर प्रणाली वह है, जिसमें इतनी 'समधिकता' की उपस्थिति अवश्य हो, जिससे 'रव' के कारण नष्ट सूचना की उपलब्धि ग्रहीता के लिए पुनः सम्भव होसके। यह अवलोकनीय है कि 'सरणि' और 'रव' की परिभाषाओं को सामान्यतम अर्थ में ही समझा जाना चाहिए। उनका प्रयोग केवल श्रवणाधारित प्रणालियों तक ही सीमित नहीं है; यान्त्रिकों द्वारा निर्मित टेलीफोन, टेलीविज़न, आदि प्रणालियों तक तो वह और भी कम सीमित कहा जा सकता है चलती गाड़ी में लिखते समय 'लेख' में आने वाले विकारों को भी 'रव' का ही परिणाम कहा जासकता है। यही बात ज़ुकाम, नशा, स्मृतिभ्रंश, आदि के परिणामरूप वाणी में प्रत्यक्ष होने वाले विकारी प्रभावों के विषय में भी लागू होती है। (छपाई की अशुद्धियां भी लिखित भाषा के संकेत-बन्धन में 'रव' का ही प्रभाव कही जासकती हैं। पाठक उन्हें बहुधा पहचान नहीं पाता; क्योंकि अधिकांश लिखित वाक्यों की 'समधिकता' का अंश यादृच्छिक त्रुटियों के विकारी प्रभाव का परिहार कर देता है। संख्याओं की शृंखला में भ्रान्त मुद्रण अधिक गम्भीर होते हैं; अनुभवहीन रूप में जिनका कोई भी संघात होना सम्भव होता है। यह सत्य लेखापरीक्षकों की उन परम्पराओं से भी सिद्ध होता है, जो जानबूझ कर ऐसी 'समधिकताओं' को गणना में गृहीत कर लेते हैं, जिससे उनके विभिन्न स्तम्भों की राशियों का योग सन्तुलित हो जाए। दी हुई राशि को संख्या और शब्दों—दोनों—में लिखे जाने की परम्परा बैंकों को विविध प्रकार के 'रवों' से होनेवाली अपनी बहुतसी गलतियां सुधारने और पकड़ने में मदद देती है।) जहां तक व्यवहार्य भाषा का सम्बन्ध है, 'रव' का अर्थ किसी भी प्रकार के विकार या भ्रम के स्रोत से लिया जासकता है; फिर भले ही यह वक्ता या श्रोता के अपूर्ण कृतित्व का परिणाम हो, या उस भौतिक वातावरण की श्रवणिक दशाओं के कारण हों, जिनमें वे उक्तियां या वचन जन्म लेरहे होते हैं।

२. ४. ६. सूचना-सिद्धान्त के सामान्य नियमों का सार

सन् १९५० के बाद से ही भाषाविज्ञान समेत अन्य अनेक विविध विज्ञानों पर संचारण-सिद्धान्त (या, सूचना-सिद्धान्त) ने पर्याप्त सशक्त प्रभाव डाला है। इसके आधारभूत नियमों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जासकता है :

(१) समस्त संचारण (या संव्यवहार) विकल्पों के एक समूह में से किये जानेवाले 'वरण' या चुनाव पर निर्भर करता है। 'अर्थ-विचार' से सम्बद्ध अध्याय में हम देखेंगे कि निम्न नियम के द्वारा हमें 'सार्थकता' की (अपने विशेष अर्थ में) व्याख्या उपलब्ध हो जाती है : **किसी भी स्तर की भाषात्मक इकाई के विषय में यदि किसी सन्दर्भ में प्राक्कथन किया जासकता है, तब उस सन्दर्भ में उसका कोई भी अर्थ नहीं होता !**

(२) सूचनांश प्रायिकता के प्रतिलोम क्रम में परिवर्त्तित होता रहता है। कोई इकाई जितनी प्राक्कथनीय होगी, उसका उतना ही कम अर्थ होगा। लेखकों द्वारा 'शैली' के विषय में व्यक्त इस मत के साथ यह सिद्धान्त पूरी तरह मेल खाता है : **आम प्रचलित मुहावरों की अपेक्षा नये मौलिक मुहावरे अधिक प्रभावकारी होते हैं।**

(३) भाषात्मक इकाइयों (के संकेत-बन्धन) की द्रव्यात्मक उपलब्धि में समधिकता वह अन्तर है, जो इसके विवेक केलिए वांछित द्रव्य के विभेदों की संख्या और इसके सूचनांश के बीच विद्यमान होता है। 'रव' के प्रतिरोध के लिए कुछ मात्रा में समधिकता भी अनिवार्य होती है। भाषा की उपलब्धि के माध्यम द्रव्य की स्थायिता और वैषम्यपूर्ण अवयवों की उपलब्धि के बीच किसी 'सुरक्षान्तर' की आवश्यकता से सम्बद्ध हमारा पूर्वविचार भी 'समधिकता' के इस अधिक सामान्य नियम के अधीन ही लाया जासकता है (तु० २. २. १०)।

(४) सूचना-सिद्धान्त की दृष्टि से तब भाषा अधिक समर्थ होजाएगी, यदि इकाइयों का विन्यासात्मक दैर्घ्य उनकी प्रायिकता के साथ प्रतिलोम रूप में सम्बद्ध हो। ऐसा कोई नियम निश्चय ही भाषा में कार्य करता है, यह इस तथ्य से भी ध्वनित होता है, कि सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द और पदबन्ध प्रायः ही लघु होते हैं। सर्वप्रथम इसे किन्हीं सैद्धान्तिक नियमों के निष्कर्ष के रूप में ने पहचान कर अनुभूति के द्वारा ही पहचाना गया था; और दीर्घता और आवृत्ति के सहसम्बन्ध के विषय में, अपने प्रस्तुतकर्त्ता के नाम पर बने, **ज़िफ़ नियम** के रूप में एक सूत्र की भी रचना कीगई थी। (हम न तो यहां 'ज़िफ-नियम' को, और न ही उसके गणितीय या भाषात्मक आधार को ही, विवेचित करेंगे। फिर, आधुनिकतर अनुसन्धान के द्वारा इसे सुधारा भी गया है।) पर साथ ही, यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि वर्ण-चिह्नों या ध्वनियों के रूप में शब्दों का दैर्घ्य (उस अर्थ में, जिसमें कि हम 'ध्वनि' का प्रयोग अबतक करते आए हैं) अनिवार्यतः विन्यासात्मक दैर्घ्य का प्रत्यक्ष मान नहीं है। हम इस बात पर बाद में विचार करेंगे। यह बात अत्यन्त मुख्य है, और भाषा के सांख्यिकीय उपस्थापन में इस पर आवश्यक बल नहीं दिया गया है।

२. ४. ७ कालक्रमिक निहितार्थ

कालक्रम में विकसित होती हुई और अपने संव्यवहार के लिए प्रयुक्त करने वाले समाजों की परिवर्त्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए 'विकास' पाती हुई भाषाओं को 'समस्थैतिक' या 'आत्म-नियन्त्रित' प्रणाली के रूप में कहा जा सकता है, क्योंकि भाषा की किसी भी काल की 'स्थिति' परस्पर विरोधी दो सिद्धान्तों के द्वारा नियन्त्रित होती है। इनमें से **प्रथम,** जिसे **न्यूनतम श्रम का सिद्धान्त** भी कह दिया जाता है, प्रणाली की पूर्वव्याख्यात **सामर्थ्य** (योग्यता) को अधिकतम करने की प्रवृत्ति के रूप में होता है : इसका प्रभाव यह होता है कि शब्दों और उक्तियों के विन्यासात्मक दैर्घ्य को सैद्धान्तिक आदर्श के निकटतम लाया जासकता है।

दूसरा नियम है : **समझे जाने की इच्छा**। यह प्रथम सिद्धान्त के परिणामरूप लघूकरण की प्रवृत्ति को विविध स्तरों पर 'समधिकता' के प्रवेश द्वारा परिसीमित कर देता है। परिणामतः, यह आशा की जाती है कि संव्यवहार और संचारण की परिवर्त्तमान स्थितियां दोनों प्रवृत्तियों को सन्तुलित रखेंगी। यदि विभिन्न भाषाओं में, एवं एक ही भाषा के विविध चरणों में, 'रव' की औसत मात्रा स्थिर रहती है, तब इसका अर्थ यह हुआ कि भाषा में 'समधिकता' की मात्रा भी 'स्थिर' ही रहती है। दुर्भाग्यवश कम-से-कम वर्त्तमान समय में तो यह असम्भव ही दीखता है कि इस प्राक्-कल्पना की परीक्षा की जासके कि भाषाएं इन दोनों विरोधी स्थितियों में **समस्थितिक समतुलन** बनाए रखती हैं। इसके कारणों पर हम अभी विचार करेंगे। तब भी, यह प्राक्कल्पना ध्वनिपूर्ण है। इसकी सामान्य सत्याभासिता 'ज़िफ़-नियम' से भी समर्थित होती है; और सूचना-सिद्धान्त के आविर्भाव से भी बहुत पहले निर्दिष्ट इस तथ्य से भी समर्थित होती है कि अधिक प्रयोग के कारण सूचनांश के ह्रास के रूप में उनकी शक्ति के क्षीण होजाने पर, विशेषकर जनभाषा में, कुछ शब्दों का स्थान अधिक अलंकृत और दीर्घ पर्याय शब्द लेलेते हैं। 'बोलियों' में जिस अत्यन्त तीव्रता से अभिव्यक्तियों का परिवर्त्तन होता है, उसका कारण भी इन्हीं बातों में खोजा जासकता है।

इन्हीं अर्थों में **अनेकार्थक संघर्ष** और इसके कालक्रमिक सुलझाव को भी, जिसे ज़िशलैरों और उसके समर्थकों ने पर्याप्त रूप में प्रदर्शित किया है, सहेतुक समझा जासकता है। **अनेकार्थक संघर्ष** तब जन्म लेता है, जब 'न्यूनतम श्रम' के नियम का प्रचालन, दो शब्दों की द्रव्यात्मक उपलब्धि के बीच 'सुरक्षान्तर' को घटाने या हटाने वाले ध्वनि-परिवर्त्तन के विनिश्चायक अन्य घटकों या हेतुओं के साथ होता है, और इस प्रकार **अनेकार्थकता** को जन्म देता है। (**अनेकार्थकता** शब्द का प्रयोग आजकल सामान्यतः **समध्वनिकता** या **समारेखिकता** (१. १. २) आदि के अर्थ में होता है। इससे 'समध्वनिकता' ही अभिप्रेत है।) यदि अनेकार्थक शब्द कम या अधिक मात्रा में बहुत अधिक सन्दर्भों में एकसमान रूप से प्रायिक हों, तब किसी एक शब्द को बदल कर 'संघर्ष' को कम करने या सुलझाने की प्रवृत्ति स्पष्ट होगी। अंग्रेज़ी में इसका सर्वप्रसिद्ध उदाहरण 'क्वीन' (quean) लिया जासकता है, जिसका मूल अर्थ 'स्त्री' था, और बाद में 'बेकार औरत' या 'वेश्या' होगया। इसका 'संघर्ष' समध्वनिक 'क्वीन' (queen) से होगया था; क्योंकि लिप्यात्मक आरम्भिक 'ea' (ई) और 'ee' (ई) के बीच का अन्तर ध्वनि में मिट गया था। दक्षिण-पश्चिम फ्रांस की बोलियों में 'बिल्ली' और 'मुर्ग़' के वाचक शब्दों के प्रयोग को 'साहित्य में अनेकार्थकता-संघर्ष' के अतिप्रसिद्ध उदाहरण के रूप में लिया जासकता है। लैटिन में इन दोनों को कात्तुस (cattus) और 'गाल्लुस' (gallus) के रूप में भिन्न पढ़ा जाता है। ध्वनि-परिवर्त्तन के कारण फ्रेंच में वे दोनों [गॉट्] के रूप में परिवर्त्तित हो गये थे। बाद में इस संघर्ष का समाधान 'मुर्ग़' (रूस्टर) के वाचक [गॉट्] के स्थान

पर 'फैसाँ' (faisan) और 'विकैर' (vicaire) से विकृत स्थानीय शब्दों के प्रयोग द्वारा किया गया। इनमें से परवर्त्ती स्थानापन्नता का कारण सम्भवतः बोलचाल में **रूस्टर** और **क्यूरेट** के बीच किसी पुराने सम्बन्ध के कारण हुआ। इस 'अनेकार्थकता' के विषय में बहुत कुछ लिखा जाचुका है।

२. ४. ८ उपस्थिति की सानुबन्ध प्रायिकताएं

हम देख ही चुके हैं कि **ध्वनि, अक्षर, अभिव्यक्ति-इकाई,** या **शब्द,** आदि किसी विशिष्ट इकाई की उपस्थिति का निर्धारण पूर्णतः या आंशिक रूप में उसके सन्दर्भ के द्वारा होता है। अब हमें इस सन्दर्भात्मक निर्धारण या अनुबन्धन की धारणा को देखलेना चाहिए, तथा भाषा-विज्ञान में इसके निहितार्थों को समझलेना चाहिए। सरलता की दृष्टि से, सर्वप्रथम हम भाषा-संरचना के एक ही स्तर पर स्थित विन्यासात्मक दृष्टि से सम्बद्ध इकाइयों के संघातों के क्रियाशील सन्दर्भात्मक निर्धारण के विचार पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। अर्थात्, प्रस्तुत प्रसंग में हम सर्वाधिक मुख्य इस बात को विचार में नहीं लेंगे कि निम्न स्तर की इकाइयों के संघात उच्चतर स्तर की उन इकाइयों को उपलब्ध करते हैं, जिनकी प्रायिकता स्वतः सन्दर्भ-निर्धारित होती है।

हम **क्ष** और **त्र** प्रतीकों का प्रयोग 'चर (वेरिएबल)' के रूप में करेंगे, जिनमें से प्रत्येक एक विशिष्ट इकाई अथवा विन्यास-सम्बद्ध इकाई-समूह का प्रतिनिधित्व करता मानाजाएगा। और हम यह भी मानलेंगे कि ये दोनों स्वयं भी परस्पर विन्यास-सम्बद्ध है।(उदाहरणार्थ अभिव्यक्ति-इकाइयों के स्तर पर **क्ष** का प्रयोग /ब्/ के लिए होसकता है, या /ब्/+/इ/ के लिए, और **त्र** का /ट्/ या /इ/+/ट्/ के लिए। शब्दों के स्तर पर **क्ष** का प्रयोग **'लोग'** या **'बूढ़े+लोग'** के लिए, तथा **त्र** का प्रयोग 'गाते हैं' या 'सुन्दर+गाते हैं' केलिए होसकता है।) **क्ष** और **त्र** दोनों की ही अनुभवनिरपेक्ष रूप में उपस्थिति की एक अपनी औसत प्रायिकता है: क्रमशः प्रक्ष और **प्रत्र** के रूप में। यही बात **क्ष+त्र** के लिए भी सत्य है, जिसे हम प्रतीक रूप में '**प्रक्षत्र**' कह सकते हैं।

क्ष और **त्र** के बीच संख्यात्मक अनाश्रितता के इस पारस्परिक उदाहरण में इन दोनों के संघात की प्रायिकता दोनों की व्यक्तिगत प्रायिकता के गुणनफल के बराबर ठहरेगी: **प्रक्षत्र=प्रक्ष प्रत्र**। प्रायिकता-सिद्धान्त के इस आधारभूत नियम को एक सरल संख्यात्मक उदाहरण के द्वारा समझाया जासकता है। हम १० से ३९ तक की संख्याओं को (उक्त दोनों संख्याओं को ग्रहण करते हुए) लेंगे, और मानेंगे कि **क्ष** और **त्र** दशमलव पद्धति में प्रथम और द्वितीय स्थान पर क्रमशः २ और ७ के सूचक हैं। अतः **क्ष** और **त्र** का संघात होगा: २७। उन्हें समप्रायिक मानकर जिन संख्याओं पर हम विचार कर रहे है, उनकी सीमा में ही **प्रक्ष** = $\frac{१}{३}$, और **प्रत्र** =$\frac{१}{१०}$ है। अब यदि हमें १० और ३९ के बीच किसी संख्या

को 'सोचकर' किसी से कहना हो कि वह अनुमान करके बताए कि हमने कौन सी संख्या सोची है, तब बिना किसी अन्य सूचना के उस संख्या को सोच पाने की उसकी सम्भावना तीस में से एक होगी : प्रक्षत्र = $\frac{१}{३०}$ पर अब कल्पना कीजिए कि हमने उसे यह भी बता दिया है कि वह संख्या ३ द्वारा विभाज्य है, तब स्पष्ट ही अनुमान की सत्यता की सम्भावना १० में से १ होगई है। क्योंकि हम एक अंक की प्रायिकता को दूसरे अंक की प्रायिकता के सन्दर्भ में खोज रहे हैं, हमारी दृष्टि से किसी एक अंक की खोज संख्यात्मक दृष्टि से दूसरे से स्वतन्त्र रहकर सम्भव नहीं रहती। अब जब हमें यह पता है कि क्ष = २ है, तब त्र की प्रायिकता $\frac{१}{३}$ रह जाती है, क्योंकि २१, १४, २७ के रूप में ३ के **तीन** ही गुणनफलों की सम्भावना है। यदि हमें यह भी पता है कि त्र का मान ७ है, अतः क्ष की प्रायिकता अब '१' होगई ; क्योंकि सारी सीमा में ३ का एक ही गुणनफल ऐसा है, जो ७ पर अन्त होता है : २७। इन समीकरणों को हम इन प्रतीकों में व्यक्त कर सकते हैं : प्रत्र (क्ष) = $\frac{१}{३}$ और प्रक्ष (त्र) = १। क्ष के सन्दर्भ में त्र की सानुबन्ध प्रायिकता $\frac{१}{३}$ है, और त्र के सन्दर्भ में क्ष की प्रायिकता १ है ! इस उदाहरण से सामान्य निष्कर्ष यह निकाला जासकता है : यदि प्रक्ष (त्र) = प्रक्ष, अर्थात् यदि त्र के सन्दर्भ क्ष की प्रायिकता अनुभवनिरपेक्ष और अनुबन्धहीन दशा में त्र की प्रायिकता के तुल्य ही है, तब क्ष सांख्यिकीय दृष्टि से त्र से स्वतन्त्र कहा जाएगा। किन्तु यदि त्र के आने से क्ष की प्रायिकता में कमी या अधिकता आती है—अर्थात्, यदि प्रक्ष (त्र) $>$ प्रक्ष, या प्रक्ष (त्र) $<$ प्रक्ष हो, तब क्ष योगात्मक या ऋणात्मक दृष्टि से त्र से अनुबद्ध रहता है। 'योगात्मक अनुबन्धन' की आत्यन्तिक स्थिति निस्सन्देह 'समधिकता' ही है, जहां प्रक्ष (त्र) = १ (अर्थात्, जहां त्र की उपस्थिति क्ष को पहले से ही कल्पित करती है)! इसके विपरीत 'ऋणात्मक अनुबन्धन' की चरम सीमा को 'असम्भाविता' कह सकते है : प्रक्ष (त्र) = ० (अर्थात् 'त्र' के आने पर क्ष होता ही नहीं) ! यहां जिस भावना में 'योगात्मक' और 'ऋणात्मक' संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है, उससे दो बातें स्पष्ट होजानी चाहिएं : **प्रथम**—सन्दर्भात्मक अनुबन्धन केवल योगात्मक या ऋणात्मक ही होसकता है; और **द्वितीय**—त्र की उपस्थिति में क्ष की प्रायिकता, क्ष की उपस्थिति में त्र की प्रायिकता के, सदा तुल्य नहीं होती; बल्कि कदाचित् ही ऐसा हो पाता है।

यदि भाषाविज्ञान में सांख्यिकीय विश्लेषणों का कोई भी महत्त्व है, तब विविध प्रकार के अनुबन्धों में अन्तर करना ही होगा। हम देख ही चुके हैं कि विन्यासक्रमात्मक सम्बन्ध सश्रृङ्खल या अश्रृङ्खल भी होसकते हैं। अतः अनुबन्धन भी दोनों ही प्रकार का होसकता है। जब 'क्ष' और 'त्र' श्रृङ्खलात्मक दृष्टि से सम्बद्ध होते हैं, तब 'क्ष' से पूर्व 'त्र' आने पर प्रक्ष (त्र) **प्रगतिशील** होता है, किन्तु 'त्र' बाद में आने पर इस का अर्थ **ह्रासशील** होता है। अनुबन्धन इन दोनों में से किसी भी प्रकार का हो, 'क्ष' और 'त्र' तबभी **संस्पर्शी** (सश्रृंखल विन्यासात्मक संघात में एक-

दूसरे के समीपवर्त्ती) रह सकते हैं। अतः इस स्थिति में, यदि 'त्र' के द्वारा 'क्ष' का अनुबन्धन होता है, तब प्रक्ष (त्र) को 'संक्रमणी' कहा जासकता है। भाषा की सांख्यिकीय संरचना के बहुत से लोकप्रिय विवरणों से यह आभास होता है कि भाषा के सभी स्तरों पर घटित होरही सानुबन्ध प्रायिकताएँ अनिवार्यतः सशृङ्खल, वर्धनशील और संक्रमणी होती हैं। स्पष्ट ही बात ऐसी नहीं है। उदाहरणार्थ, लैटिन में किसी 'नाम' शब्द की किसी विशिष्ट 'क्रिया' के कर्त्ता या कर्म के रूप में स्थिति कालक्रम में प्रयुक्त शब्दों की सापेक्ष व्यवस्था से सर्वथा अप्रभावित रहती है (तु०-२. ३. ५)। अंग्रेज़ी में 'अन्' (un-) या 'इन्' (in-) पूर्वसर्गों की (**अन्चेंजिंग** और **इन्वेरियेबल** आदि में) उपस्थिति **ह्रासशील** रूप में अनुबन्ध-युक्त है। इसी प्रकार, किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति इकाई की किसी शब्द के आदि में उपस्थिति उस शब्द के अन्त में आनेवाली किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति-इकाई से 'योगात्मक' या 'ऋणात्मक' रूप में अनुबद्ध रह सकती है (या प्रतिवर्त्तित रूप में रह सकती है); इत्यादि।

निस्सन्देह सिद्धान्ततः यह सम्भव है कि किसी भी सन्दर्भ से सम्बद्ध किसी भी इकाई की सानुबन्ध प्रायिकता की गणना की जासके। मुख्य बात है, भाषा की सामान्य विन्यासात्मक संरचना के विषय में पूर्वज्ञात तथ्यों के प्रकाश में अनुबन्ध के सन्दर्भ और दिशा का चुनाव या वरण करना : अर्थात्, प्रक्ष (त्र) के रूप में गणना करना, न कि प्रत्र (क्ष) के रूप में। ('क्ष' नामक एक विशिष्ट इकाई-श्रेणी विन्यासात्मक रूप से सम्बद्ध एक अन्य इकाई-श्रेणी 'त्र' की उपस्थिति की एक सापेक्ष विशिष्ट स्थिति में पूर्वकल्पना कर लेती है, या उसे प्रयुक्त होने देती है। यह 'ज्ञ' नाम की एक तीसरी श्रेणी का प्रतिषेध भी करसकती है। ऐसा होने पर कोई व्यक्ति 'त्र' श्रेणी के किसी विशिष्ट अवयव की सानुबन्ध प्रायिकता की गणना कर सकता है।) सांख्यिकीय दृष्टि से इसका परिणाम केवल तभी रुचिकर होगा, यदि प्रक्ष (त्र) या प्रत्र (क्ष) स्पष्ट रूप में प्रक्ष या प्रत्र से भिन्न हों।

२. ४. ९ अंग्रेज़ी के व्यंजनों की स्थानगत प्रायिकताएँ

प्रायिकताओं की गणना विशिष्ट संरचनात्मक स्थितियों के आधार पर भी होसकती है। उदाहरणार्थ, तालिका-४ में व्यावहारिक अंग्रेज़ी के बारह व्यंजनों की प्रायिकताओं के तीन विन्यास दिए गए हैं : (१) सभी स्थितियों में व्याप्त उनकी औसत अनुभवनिरपेक्ष प्रायिकता; (२) स्वरों से पूर्व उनकी शब्द के आदि में होने वाली प्रायिकता; और (३) स्वरों के बाद शब्द के अन्त में होने वाली उनकी प्रायिकता।

तालिका-४ : विविध स्थितियों में चुने हुए अंग्रेज़ी व्यंजनों की प्रायिकताएँ

	(१) विशुद्ध	(२) आदिगत	(३) अन्तगत
[t]	०.०७०	०.०७२	०.१०५
[n]	०.०६३	०.०४२	०.१२७
[l]	०.०५२	०.०३४	०.०३४
[d]	०.०३०	०.०३७	०.०३९
[h]	०.०२६	०.०६५	——
[m]	०.०२६	०.०५८	०.०३६
[k]	०.०२५	०.०४६	०.०१४
[v]	०.०१९	०.०१०	०.०४८
[f]	०.०१७	०.०४४	०.०१०
[b]	०.०१६	०.०६१	०.०००५
[p]	०.०१६	०.०२०	०.००८
[g]	०.०१५	०.०२७	०.००२

इसे देखने पर ज्ञात होगा कि कुछ व्यंजनों के शब्द के आदि या अन्त में आने की आवृत्तियों में अन्तर अत्यधिक है। उदाहरणार्थ, ऊपर कही [v] इकाई शब्द के आदि में न्यूनतम आवृत्ति वाली है, जबकि शब्द के अन्त में यह तीसरी सर्वाधिक आवृत्ति वाली है। दूसरी ओर, [b] शब्द के आदि में आनेवाली तीसरी सर्वाधिक आवृत्ति वाली इकाई है, किन्तु इसकी अन्तगत आवृत्ति न्यूनतम है ([h] को छोड़कर, जोकि अन्त में होता ही नहीं : यहाँ ध्वनि की बात है, लिपि-चिह्नों या अक्षरों की नहीं)। सभी स्थितियों में [t] जैसी अन्य कुछ ध्वनियों की प्रायिकता **उच्च** है, अथवा [g], [p], आदि की प्रायिकता निम्न है। यह भी देखा जासकता है कि अन्तगत इकाइयों की उच्चतम और निम्नतम प्रायिकता में अन्तर की सीमा उससे कहीं अधिक है, जितनी कि आदिगत प्रायिकता में है। इस प्रकार के तथ्यों का स्थान अंग्रेज़ी के ध्वनिप्रक्रियात्मक शब्दों की सांख्यिकीय संरचना के वर्णन में महत्त्वपूर्ण है।

ज़िफ़-नियम के प्रसंग में, २. ४. ६ में, यह पहले ही कहा जा चुका है कि किसी शब्द में आने वाली ध्वनियों या लिपिचिह्नों की संख्या से, सूचना-सिद्धान्त की दृष्टि से, उसके विन्यासात्मक दैर्घ्य का प्रत्यक्ष मापन नहीं होसकता। निस्सन्देह इसका कारण यह है कि सभी ध्वनियां या अक्षर एक ही सन्दर्भ में समप्रायिक नहीं होते। यदि ध्वनिप्रक्रियात्मक या लेखात्मक शब्द की प्रायिकता उसके अभिव्यक्त अवयवों की प्रायिकता से प्रत्यक्ष सम्बद्ध होती, तब शब्द की प्रायिकता को शब्द में

प्रत्येक संरचनात्मक स्थिति केलिए प्रयुक्त उसके अवयवों की प्रायिकताओं के आपस में गुणन से प्राप्त किया जासकता। उदाहरणार्थ, यदि 'त्र' की अपेक्षा शब्द की आदि-स्थिति में **'क्ष'** दुगुना अधिक प्रायिक है, और 'ब' की अपेक्षा शब्द की अन्तिम स्थिति में **'अ'** दुगुना अधिक प्रायिक है, तब **क्षप्रअ** की प्रायिकता की **त्रप्रअ** और **क्षप्रब** की अपेक्षा तो **दुगुनी**, और **त्रप्रब** की अपेक्षा **चौगुनी**, आशा रखी जाएगी। किन्हीं विशिष्ट उदाहरणों में यह आशा पूरी नहीं भी होपाती। यह बात अंग्रेज़ी के कुछ शब्दों के उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाएगी। [k] और [t] के रूप में उपलब्ध अभिव्यक्ति-अवयव आदिस्थिति में लगभग समप्रायिक ही हैं, किन्तु 'fall' (फॉल्) की अपेक्षा 'call' (कॉल्) शब्द कहीं अधिक आवृत्त होता है (अंग्रेज़ी की प्रकाशित विविध आवृत्ति-सूचियों के आधार पर)। यद्यपि शब्द की अन्तिम स्थिति में [t] के रूप में उपलब्ध अवयव [g] द्वारा उपलब्ध अवयव की अपेक्षा पचास-गुनी अधिक प्रायिकता वाला है, फिर भी 'bit' (बिट्) की आवृत्ति की अपेक्षा 'big' (बिग) शब्द चारगुनी आवृत्ति वाला है; इत्यादि।

तालिका-४ में **आदि** और **अन्त्य** स्थानों के लिए गणना में प्रयुक्त प्रायिकताएँ सतत पाठ के विश्लेषण में आई प्रायिकताएँ है। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ उच्च आवृत्तिवाले शब्दों में आनेवाला कोई विशिष्ट व्यंजन निम्न आवृत्ति वाले शब्दों में प्रयुक्त अन्य किसी व्यंजन की अपेक्षा गुरुतर हो सकता है (तु०- 'प्रकार्य-क्षमता' विषयक विवरण, २. ४. १)। अंग्रेज़ी के the, then, there आदि में प्रयुक्त **'द्'** व्यंजन-ध्वनि इस प्रकार के तोलन का प्रभाव प्रदर्शित करती है। आरम्भिक स्थिति में यह सर्वाधिक आवृत्तिवाला व्यंजन है, जिसकी प्रायिकता, अन्यों की विविध प्रायिकताओं की तुलना में, ०.१० है। किन्तु इसका ऐसा प्रयोग (वर्तमान काल में केवल तीस के लगभग) गिने-चुने शब्दों में ही होता है। इसकी तुलना में [क्] (प्रायिकता ०. ०४६) का आदि-प्रयोग सैंकड़ों अंग्रेज़ी शब्दों में उपलब्ध होने पर भी, सतत पाठ में उसकी प्रायिकता [द्] की अपेक्षा आधी से भी कम है। अंग्रेज़ी के उन शब्दों की संख्या, जिनकी उपलब्धि **व्यंजन+स्वर+व्यंजन** के रूप में होती है (यह प्रक्रिया अंग्रेज़ी शब्दों की संरचना में एक सामान्य बात है), ऐसे शब्दों की संख्या से कहीं अधिक है, जिनका आरम्भ और अन्त उच्च आवृत्ति वाले व्यंजनों से होता है। कम आवृत्ति वाले **आदिम** और **अन्तिम** व्यंजन वाले शब्दों की संख्या पर्याप्त कम है। किन्तु यहीं पर यह भी कह देना अभीष्ट है कि ऐसे शब्द कम ही हैं, अपने संयोजक अभिव्यक्ति-अवयवों की प्रायिकता के आधार पर जिनकी अधिक आवृत्ति या कम आवृत्ति के विषय में प्राक्कथन किया जासकता है।

२. ४. १० अनुबन्धन के स्तर

यद्यपि हमने अबतक एक ही स्तर की इकाइयों को बांधने वाली सानुबन्ध प्रायिकताओं के प्रसंग में सन्दर्भात्मक निर्धारण के प्रश्न पर ही विचार किया है,

फिरभी यह स्पष्ट है कि किसी अभिव्यक्ति-अवयव की आवृत्ति का निर्धारण बहुत अंश तक उससे निर्मित ध्वनि-प्रक्रियात्मक शब्द की सन्दर्भात्मक प्रायिकता पर निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ, book, look, took के रूप में लिखित तीनों शब्द बार-बार प्रयुक्त होते हैं। ध्वनिप्रक्रियात्मक और लेखात्मक दृष्टि से वे एक-दूसरे से केवल आदिम प्रयुक्त व्यंजन के कारण ही भिन्न हैं। (संस्कृत का प्रसिद्ध उदाहरण **कूप-सूप-यूप** का है, हिन्दी में **काम-दाम-धाम-घाम-नाम** को कहा जासकता है।) अंग्रेज़ी की व्याकरणात्मक संरचना की दृष्टि से, तीनों शब्दों के बीच, वास्तविक उक्तियों में, सापेक्ष रूप में कम ही विषमता मिलती है (और यह आदिम व्यंजनों की प्रायिकताओं से नितान्त असम्बद्ध है)। इनमें से took शब्द अन्य दोनों की अपेक्षा कई दृष्टियों से भिन्न ठहरता है, जिनमें सबसे प्रमुख है इसकी, एक विशेष क्रिया के भूतकाल के रूप में, उपलब्धि। अतएव यह 'कल', 'पिछले वर्ष', आदि के वाचक शब्दों के साहचर्य में, शेष दोनों शब्दों की अपेक्षा, अधिक प्रयुक्त होता है। (इसकी तुलना में शेष दोनों के भूतकालिक प्रयोग looked (लुक्ड) और booked (बुक्ड) के रूप में ठहरते हैं।) इस (**'टुक्'**) के साथ he, she और it अथवा एकवचनात्मक नाम का प्रयोग 'कर्त्ता' के रूप में सम्भाव्य है, शेष दोनों के साथ नहीं। इसीप्रकार, अन्य दोनों का प्रयोग 'to' (टु) के साथ आरम्भ हो सकता है, किन्तु इसका नहीं ('टु टुक्' जैसा प्रयोग अस्वीकार्य होगा)। पर, book और look शब्द भी एक दूसरे से व्याकरण की दृष्टि से भिन्न हैं। विशिष्ट सन्दर्भ में उनमें से प्रत्येक का 'नाम' या 'आख्यात' के रूप में प्रयोग किया जासकता है (यह स्मर्त्तव्य है कि एक ही ध्वनिप्रक्रियात्मक शब्द अनेक व्याकरणात्मक शब्दों के रूप में उपलब्ध हो सकता है: तु०-२. २. ११)। यद्यपि '*look*' (लुक्) का प्रयोग अधिकांशतः **'क्रिया'** के रूप में और '*book*' (बुक) का प्रयोग अधिकाशतः **'नाम'** के रूप में होता है, व्याकरण के निम्न असांख्यिकीय तथ्यों के विषय में इस प्रकार का विभेद कम महत्व का है: यथा, क्रिया के रूप में इनमें से केवल '*book*' (बुक्) क्रिया ही कर्म के रूप में किसी अन्य संज्ञा को स्वीकार करती है (*I will book my seat*', आदि में); इसके विपरीत '*look*' (लुक्) के साथ कर्मप्रवचनीययुक्त पदबन्ध का प्रयोग होता है: '*I will look into the matter*', आदि के रूप में। (यहाँ 'बुक्' का प्रयोग असम्भव है।) ऐसा प्रतीत होगा कि '*book*' और '*look*' के बीच का यह भ्रम अंग्रेज़ी भाषा के प्रयोक्ताओं ने अपने दैनन्दिन प्रयोग में एक या दूसरे प्रकार के व्याकरणात्मक नियन्त्रण के द्वारा दूर कर लिया है। यह बात ध्वनि की दृष्टि से न्यूनतम विषमता वाले अंग्रेज़ी शब्दों में सामान्य रूप से पाई जाती है।

किन्तु, अब हमें उन कुछ उक्तियों के विन्यास पर ध्यान देना होगा, जिनमें व्याकरणात्मक दृष्टि से ये दोनों—**बुक्** और **लुक्**—समान रूप से व्यवहृत हो सकते हैं। अंग्रेज़ी के प्रयोक्ता केलिए इस प्रकार की उक्तियों का आकस्मिक प्रयोग करना या सुनना पर्याप्त सरल है। उदाहरणार्थ ये दो वाक्य लें: **'आई लुक्ड**

फ़ॉर द थियेटर' और **'आई बुक्‌ड फ़ॉर द थियेटर'**। यदि हम केवल तर्क केलिए यह मानलें कि श्रोता तक 'बुक्' या 'लुक्' के आरम्भिक व्यंजन को छोड़कर शेष सब बिना किसी विशेष विक्षोभ के संप्रेषित होजाता है, तब उसके सामने भाषा की 'समधिकताओं' के बल पर एवं उस उक्ति की स्थिति में 'प्राक्कथन' करने की समस्या आएगी, कि वहाँ उन दोनों मेंसे कौनसा शब्द प्रयोक्ता को अभिप्रेत था। (सरलता के लिए हम मान लेंगे कि 'कुक्‌ड' आदि शब्द उस विशिष्ट स्थिति में सर्वथा असम्भव या नितान्त अप्रायिक हैं।) यद्यपि ब्रिटिश अंग्रेज़ी में 'बुक्‌ड' की अपेक्षा 'लुक्ड' शब्द सामान्य प्रयोगों में कहीं अधिक मिलता है; यहाँ 'थियेटर' की उपस्थिति के कारण 'बुक्‌ड' के प्रयोग की प्रायिकता अधिक होजाती है। वैसे इस प्रसंग में इन दोनों मेंसे कौन अधिक उपयुक्त है, यह कहना बहुत कठिन है। पर किसी भी विशिष्ट स्थिति में इनमें से कोईसा एक ही प्रयोग केलिए अधिक उचित समझा जाएगा। निम्न दो उक्तियों में तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाएगी :

(१) **आई लुक्‌ड फ़ॉर द थियेटर, बट् आई कुड् नॉट फाइण्ड इट्।**
(२) **आई बुक्‌ड फ़ॉर द थियेटर, बट् आई हैव लौस्ट द टिकेॅट्स।**

इनमें **'बुक्‌ड'** शब्द (१) में और **'लुक्‌ड'** शब्द (२) में प्रतिषिद्ध सा ही प्रतीत होगा। किन्तु स्वयं परिस्थिति एवं पूर्वगामी वार्तालाप ने भी ऐसी कुछ पूर्वकल्पनाओं को जन्म दिया होता है, जिसकी विनिश्चियिका शक्ति उतनी ही दृढ़ होती है, जितनी कि (१) में **'बट्'** और **'कुड् नॉट फाइण्ड'** की है, और (२) में **'बट्'** एवं **'टिकेॅट्स'** की है। यदि यह सत्य है, तब श्रोता पहले से ही इन प्राक्-कल्पनाओं द्वारा इस प्राक्कथन के लिए अनुबद्ध हो जाएगा कि यहाँ **'बुक्‌ड'** या **'लुक्‌ड'** में से किसका प्रयोग होना चाहिए; अथवा उल्टे रूप में लघुवाक्य 'I -ooked for the theatre' में किस व्यंजन का प्रयोग होना चाहिए? प्रस्तुत प्रकरण में हम इन प्रायिकताओं को 'अर्थात्मक' कह सकते हैं, जिनका उद्भव एक शब्द की दूसरे के साथ सह-घटना एवं उक्ति की विशिष्ट स्थिति में होनेवाली 'प्राक्-कल्पना' से हुआ है? (बाद के अध्यायों में हम उस स्वीकार्यता के अन्य स्तरों में भी विभेद करेंगे, जिसे यहाँ हम 'अर्थविचार' के रूप में कह रहे हैं।)

हमारा उदाहरण अब अत्यधिक सरलीकृत हो गया है। हमने अनुबन्धन के केवल तीन स्तरों को पहचाना है : **प्रक्रियात्मक, व्याकरणात्मक** और **अर्थात्मक;** और हमने यह भी कल्पना करली है कि इसमें केवल एक ही अभिव्यक्ति-इकाई **'रव'** के कारण नष्ट या विकृत हुई है। किन्तु ये सरलीकरण भी तर्क के सामान्य परिणाम को प्रभावित नहीं करते। विशिष्ट उक्तियों के विचार-प्रसंग में यह पहचान लेना चाहिए कि व्याकरणात्मक की अपेक्षा अर्थात्मक प्रायिकताएँ, और ध्वनि-वैज्ञानिक की अपेक्षा व्याकरणात्मक प्रायिकताएँ, अधिक गौरवमय ठहरती हैं। क्योंकि कम-से-कम भाषावैज्ञानिक अनुसंधान की वर्त्तमान दशा में यह असम्भव है कि

अर्थात्मक दृष्टि से सम्बद्ध घटकों को उन बाह्य परिस्थितियों में पहचान लिया जाए, जिनमें कि वह उक्ति-विशेष घटित होती है। अतएव प्रायिकता की गणना और सूचनांश या उसके किसी अंश की गणना भी असम्भव ठहरती है। 'प्रकार्य-क्षमता' और 'सूचना-सिद्धान्त' विषयों पर अपने पूर्वतर विचार के प्रसंग में इस बात पर भी हमने बल दिया है (तु०-२. ४. १)।

२. ४. ११ एक विभ्रम और प्रणालीविज्ञान की दृष्टि से उसका सुलभाव

इस खण्ड में दो ऐसे सिद्धान्तों की चर्चा आई है, जो आपाततः विरोधी प्रतीत होते हैं: **प्रथम**—भाषाओं के विकास और प्रचालन को समझने केलिए सांख्यिकीय विचार अनिवार्य हैं; और **द्वितीय**—क्रियात्मक (और कदाचित् सैद्धान्तिक) दृष्टि से यह असम्भव है कि वास्तविक उक्तियों में भाषावैज्ञानिक इकाइयों द्वारा वहन कीजानेवाली सूचना की पूर्णता के साथ गणना कीजासके। इस आभासी अन्तर्विरोध को यह तथ्य स्वीकार करके सुलझाया जासकता है कि कम-से-कम वर्तमान समय में तो भाषावैज्ञानिक सिद्धान्त अपने प्रयोग की वास्तविक स्थितियों में उक्तियों के आविर्भाव एवं उनके समझने की समस्या के साथ न तो सम्बद्ध ही हैं, न हो ही सकते हैं (केवल उन कुछ विशिष्टतर भाषोक्तियों को छोड़कर, जिन पर इस तरह प्रत्यक्षतः विचार किया जासकता है: तु० ५. २. ५)। इस समय तो भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों का लक्ष्य वाक्यों की संरचना पर, उनके वास्तविक आविर्भाव की परिस्थितियों से विच्छिन्न रूप में, विचार करना होगया है।

3

भाषा की ध्वनियां

३. १ विषय-प्रवेश

३. १. १ ध्वनिविज्ञान और ध्वनिप्रक्रिया

अबतक हम भाषा के सम्बन्ध में उस परम्परागत दृष्टिकोण को मानकर चल रहे थे, जिसके अनुसार वाक्य का निर्माण शब्दों से, और शब्दों का निर्माण ध्वनियों से, होता है (तु०-२. १. १)। द्रव्य और आकृति पर अपने विचार के प्रसंग में हमने देखा कि **ध्वनि** संज्ञा पर्याप्त अस्पष्ट है। अब हमें इस अस्पष्टता को दूर करना चाहिए।

यदि किसी भाषावैज्ञानिक से पूछा जाए कि क्या कोई 'दो ध्वनियां' एक ही हैं या भिन्न हैं, तथा यह कि किसी प्रदत्त भाषा में कितनी ध्वनियां विद्यमान हैं, तब उसे यह पता होना चाहिए कि प्रश्न **द्रव्य** के सम्बन्ध में है, या **आकृति** के ? और, इन 'ध्वनियों' को ऐसी भौतिक इकाइयों के रूप में मानना चाहिए या नहीं कि जिनका वर्णन यह जाने बिना किया जासकता है कि उनका सम्बन्ध किस भाषा से है; अथवा उनका वर्णन ध्वनि की उन समताओं और विषमताओं के ष्टि से किया जाना चाहिए या नहीं कि जो भाषा में प्रकार्यात्मक या 'सम्प्रेषण के प्रयोजन से सम्बद्ध' रूप में पाई जाती हैं। भौतिक इकाइयों की दृष्टि से ध्वनिवैज्ञानिक को अपने श्रुत या यान्त्रिक विश्लेषण से प्राप्त परिणाम का **ध्वनिवैज्ञानिक** वर्णन करना चाहिए, जब कि समता-विषमता की दृष्टि अपनाकर उसे ध्वनिप्रक्रियात्मक विवरण देनाचाहिए।

३. १. २ वाक्-ध्वनियां

अस्थायी तौर पर ही सही, हमें **'वाक्-ध्वनि'** और **'वर्ण'** (स्वनिम) के बीच विभेद करलेना चाहिए। ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से विविक्त ध्वनि की किसी भी इकाई को 'वाक्-ध्वनि' कहा जासकता है। दूसरे शब्दों में, वाक्-अवयवों द्वारा उद्भूत ध्वनि की ऐसी कोई भी इकाई, जिसे कि ध्वनिविद् वाक्-अवयवों से उद्भूत अन्य ध्वनि-इकाइयों से पृथक् या विविक्त रूप में पहचान सकता है, 'वाक्-ध्वनि' कही जासकती है। क्योंकि व्यवहारतः उन भिन्न-भिन्न वाक्-ध्वनियों की संख्या की कोई

सीमा नहीं है, जिन्हें मानवीय वाक्-तन्त्र से उत्पन्न किया जासकता है, और जिनमें ध्वनिविद् विभेद कर सकता है; परिणामस्वरूप यह कहा जासकता है कि वाक्-ध्वनि प्रकृतितः अनिर्धारित होती है। अपनी कुशलता की दृष्टिसे हर ध्वनिविद् परस्पर भिन्न होसकता है। यहांतक कि ध्वनि श्रवणिक गुणों को मापने केलिए, आजकल उपलब्ध विविध यान्त्रिक विधियों के रहते भी, सूक्ष्म अन्तरों और कमियों के रहजाने की सम्भावना कायम ही है। सत्य यह है कि वाक्-प्रयुक्त ध्वनियों के परिसर के विभाजन की कोई प्राकृतिक सीमा विद्यमान नहीं है। जिस बिन्दु पर ध्वनिविद् ध्वनियों के बीच विभेद करना बन्द कर देता है, वह ऐसा या तो अपनी सामर्थ्य, अथवा उसके उपकरणों की सामर्थ्य की सीमा के कारण, या फिर और भी अधिक सामान्य रूप में विश्लेषण के विशिष्ट उद्देश्य के कारण, करता है। कुछ प्रयोजनों से तो वह और भी अधिक सूक्ष्म विभेद करना चाहेगा ! जबकि अन्य कुछ प्रयोजनों से वह ऐसा करना नहीं भी चाह सकता ! अपने द्वारा वांछित प्रतिनिधान की सूक्ष्मता की मात्रा के अनुसार वह 'व्यापकतर' या 'संकुचिततर' अनुलेखन का प्रयोग करता है। (निस्सन्देह 'व्यापकतम' और 'संकुचिततम' के बीच मध्यवर्त्ती चरण किसीभी संख्या में स्वीकार किये जासकते हैं।) यहाँ हम कुछ उदाहरण लेंगे।

अंग्रेज़ी में p (प्), t, (ट्), k (क्), शब्द के कुछ स्थानों में लघु महाप्राण के रूप में स्थित होते हैं (अर्थात्, हलके से श्वास के योग के साथ उनका उच्चारण होता है) ; जबकि अन्य कुछ स्थानों में, उदाहरणार्थ स् के बाद, वे अल्पप्राण रूप में ही स्थित रहते हैं (यथा, **टॉप्, स्टॉप्, पॉट् : स्पाट्**, आदि में)। अतः ध्वनिविद् व्यापक अनुलेखन में अंग्रेज़ी की दोनों ध्वनियों केलिए एक ही वर्ण-चिह्न या किसी अन्य संकेत का प्रयोग करेगा (जैसा कि प्रायः अंग्रेज़ी वर्णमाला द्वारा होता भी है), यद्यपि उनमें ध्वनि की दृष्टि से विभेद पर्याप्त सरलता से पहचाना जासकता है। अंग्रेज़ी में ही, 'l' (ल्) की भी दो प्रकार की ध्वनियां हैं, जिन्हें प्रभावात्मक दृष्टि से **स्पष्ट** और **अस्पष्ट** कहा जासकता है : इनमें से प्रथम स्वरों से पहले आती है; जब कि द्वितीय व्यंजन से पहले या शब्दान्त में आती है (तु०—लीफ़, लेट, : फ़ील्, फील्ड, आदि में)। 'संकुचित अनुलेखन' इन दोनों में अन्तर प्रदर्शित करेगा, जबकि 'व्यापक अनुलेखन' इसे प्रदर्शित नहीं भी करसकता !

३. १. ३ वर्ण (फ़ोनीम) और ध्वनिकल्प (अल्लोफ़ोन्स)

व्यापक अनुलेखन की चर्चा हमें स्वभावतः 'वर्ण' की धारणा पर लेआती है। अंग्रेज़ी की **प्, ट्, क्** ध्वनियों के उदाहरण को फिर से लें : हम **महाप्राण** और **अल्पप्राण** दोनों ही ध्वनियों को व्यापक अनुलेखन के माध्यम से एक ही प्रतीक के द्वारा इस कारण लिखलेते हैं कि इस प्रकार की पहचानी गई दोनों ध्वनियों का कार्य अंग्रेज़ी के शब्दों को दूर-दूर या पृथक्-पृथक् रखने के रूप में कभी नहीं होता (बाद में विवेच्य एक सिद्धांत की यह नितान्त स्थूल और अंशतः अपूर्ण

व्याख्या है)। दूसरे शब्दों में, इनका अन्तर 'प्रकार्यात्मक अन्तर' नहीं है। यह एक ध्वनिवैज्ञानिक अन्तर है; किन्तु इसे ध्वनिप्रक्रियात्मक या वर्ण-सम्बन्धी अन्तर नहीं कहा जासकता। (प्रस्तुत प्रसङ्ग में हम 'ध्वनिप्रक्रियात्मक' और 'वार्णिक' (या 'वर्णसम्बन्धी') संज्ञाओं में विभेद नहीं करेंगे।) उदाहरणार्थ, उत्तर भारतीय भाषाओं में, एवं चीनी की अधिकांश विभाषाओं में महाप्राण और अल्पप्राण व्यंजनों में अन्तर 'प्रकार्यात्मक' एवं 'वर्णात्मक' है। दूसरी ओर, अंग्रेज़ी के कुछ ऐसे वर्णात्मक अन्तर हैं, जो दूसरी भाषाओं में वाक्-ध्वनियों के रूप में उपस्थित रहने पर भी किसी महत्त्व के सिद्ध नहीं होते! उदाहरणार्थ, कुछ भाषाओं में **ड्-ट्, ब्-प्, ग्-क्** आदि के बीच का अन्तर (जिसे कि ध्वनिविद् **सघोष** और **अघोष** व्यंजनों के रूप में कहता है) वर्णात्मक अन्तर नहीं है: उदाहरणार्थ, **क्, त्** (**ट्**), **प्**, ध्वनियां शब्द के आदि और अन्त में आसकती हैं, जबकि **ग, द्** (**ड्**), **ब्**, ध्वनियां शब्द के मध्य में आसकती हैं। ऐसे उदाहरणों में हम यही कह सकते हैं कि ध्वनि की दृष्टि से विभेद वाले इन वाक्-ध्वनियुग्मों को एक ही ध्वनि के दो **स्थितिजन्य विभेद** या **अल्लोफोन्स** (ध्वनिकल्प) कहा जासकता है। उन्हें 'स्थितिजन्य विभेद' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि एक विशिष्ट ध्वनिभेद के स्थान पर दूसरे ध्वनिभेद के आने की बात शब्द में वर्ण की स्थिति या स्थान के आधार पर निर्धारित होती है।

अब यह स्पष्ट होगया कि 'ध्वनि' संज्ञा अस्पष्ट क्यों है। और यह भी कि **वाक्ध्वनियों** (ध्वनिपरक विवरण की इकाइयों) और **वर्णों** (ध्वनिप्रक्रियात्मक विवरण की इकाइयों) के बीच विभेद करना क्यों आवश्यक है। उक्तियों के नु-लेखन के अवसर पर, वाक्-ध्वनियों और वर्णों के बीच विभेद करने केलिए यह प्रथा-सी बनचुकी है कि वर्णों के प्रतीकों को तिर्यक् रेखाओं के बीच, और वाक्-ध्वनियों को वर्गाकृति कोष्ठकों के बीच, प्रदर्शित किया जाए। हम इस परम्परा का निर्वाह पूरी तरह करेंगे। उदाहरणार्थ, हम कह सकते हैं कि /**प्**/, /**त्**/, /**क्**/ के स्थितिजन्य ध्वनिभेद [**प्**], [**त्**], [**क्**] तो शब्द के आदि और अन्त में एवं [**ग्**], [**द्**], [**ब्**], शब्द के मध्य में ही प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रसङ्ग में हम आधुनिक भाषाविज्ञान में मान्य वर्णसम्बन्धी धारणा का पूरा ब्यौरा देंगे। उससे पहले हमें ध्वनिपरक विश्लेषण के कुछ सामान्य सिद्धान्तों की चर्चा करलेनी चाहिए।

३. २ ध्वनि-विज्ञान

३. २. १ ध्वनिविज्ञान की विविध शाखाएं

'ध्वनि-विज्ञान' को भाषाविद् या विदेशी भाषा के छात्र के हाथ में केवल सहायक उपकरणमात्र ही नहीं मानलेना चाहिए। जिस रूप में आज इसका उप-योग होता है, उसमें यह एक अतिसमृद्ध विज्ञान बन चुका है; जिसमें शरीरक्रिया-

विज्ञान और भौतिकी के अंश भी अन्तर्गृहीत होते हैं। किन्तु इसकी प्रासंगिकता के अपने अनुबन्ध हैं, अन्वेषण और प्रयोग की इसकी अपनी प्रणालियां हैं, और इसकी अपनी प्राविधिक (तकनीकी) शब्दावली है।

वाक्-ध्वनियों को प्रायः ही अपारिभाषिक, विषयनिष्ठ, और अधिकांशतः अर्थहीन संज्ञाओं के द्वारा वर्णित किया जाता है : यथा—**कठोर, कण्ठ्य, कोमल, समतल** (फ़्लैट), आदि। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने पर उन्हें निम्न रूप में वर्णित किया जासकता है : (१) मानवीय वाक्-अवयवों द्वारा उनकी उत्पत्ति के प्रकार के रूप में; (२) श्रोता और वक्ता के बीच तैरती ध्वनि-तरंगों के ध्वनिक गुणधर्मों के आधार पर; और (३) मानवीय श्रवणयन्त्र पर उनके पड़े भौतिक प्रभाव के रूप में। इसी आधार पर इस विषय का त्रिबलित विभाजन **उच्चारणात्मक, भौतिक** एवं **श्रवणिक ध्वनिविज्ञान** के रूप में किया जाता है।

३. २. २ श्रवणिक ध्वनि-विज्ञान

वाक्-ध्वनियों का श्रवणिक वर्गीकरण अबतक बहुत सूक्ष्मता से सम्भव नहीं होपाया है। अतः व्यावहारिक रूप में ध्वनिविज्ञान को वर्त्तमान काल में दो ही प्रकार का माना जासकता है : **उच्चारणस्थानगत,** एवं **भौतिक।** स्थान की लघुता को देखते हुए इनमें से किसी एक का भी सन्तोषजनक विवरण देना सम्भव नहीं है। अधिक-से-अधिक वर्गीकरण के सामान्य-नियमों और सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण ही दिया जासकता है।

३. २. ३ उच्चारणात्मक ध्वनिविज्ञान

आज भी सर्वाधिक प्रचलित और प्राचीनतम वर्गीकरण उच्चारण-तन्त्र में 'उत्पत्ति-प्रकार' के आधार पर ही किया जाता है। सामान्यतः ध्वनिविद् जिन्हें, अपनी सुविधा की दृष्टि से, 'वाक्-अवयव' कहता है, वास्तव में वे शरीरक्रियाविज्ञान की दृष्टिसे इस रूप में प्राथमिक अवयव नहीं कहे जासकते। **ओष्ठ, जिह्वा, दन्त, स्वर-तन्त्री, फुफ्फुस,** आदि का एकमात्र कार्य वागुत्पत्ति न होकर अन्य भी कई हैं, जिन्हें अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य में भी, जीवविज्ञान की दृष्टि से, प्राथमिक माना जा सकता है। फिर भी, ध्वनिवैज्ञानिक द्वारा वाक्-यन्त्रों को अन्तःसम्बद्ध प्रणाली के रूप में एक इकाई की तरह स्वीकार किया जाता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के वाक्-अवयवों में शारीरिक त्रुटियों या अन्य वैयक्तिक अन्तरों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न ध्वनियों के प्रकार पर नहीं पड़ता। वाक् की दृष्टि से बालक अथवा प्रौढ़, या स्त्री अथवा पुरुष, का अन्तर भी महत्त्वहीन होता है। न ही अनेकशः कही जाने पर भी यह बात ही सत्य है कि कुछ जातियों के वाक्-अवयव कुछ विशिष्ट ध्वनियों के उच्चारण के अधिक अनुकूल होते हैं, जबकि अन्यों के नहीं। कुछ विशिष्ट ध्वनियों के उच्चारण में असमर्थता बचपन के वातावरण के कुछ घटकों के कारण होती है। प्रमुख कारण यह होता है कि बालक दूसरों द्वारा उच्चार्यमाण रूप में अपनी मातृ-

भाषा को सीखने का यत्न करता है।

३. २. ४ घोष और स्वराघात

अधिकांश ध्वनिविद् वाक्-ध्वनियों को **स्वर** और **व्यंजन** के रूप में विभक्त करते हैं। यह वर्गीकरण इससे पहले के **सघोष** (नादयुक्त) और **अघोष** (नादहीन) के रूप में किए जानेवाले वर्गीकरण पर निर्भर करता है। 'घोष' का जन्म स्वरयन्त्र की 'तन्त्रियों' में नियमित कम्पन से होता है। इस कम्पन की मात्रा तनाव की मात्रा पर निर्भर करती है। यह तनाव उत्पन्न ध्वनि के **स्वर** या **तारत्व** को प्रभावित करता है। यह 'तारत्व' (स्वर), ध्वनियों का अन्तवर्ती गुण न होकर, उनके सहवर्त्ती रूप में रहता है। उच्चारणात्मक परिभाषा में 'अच्' (स्वरों) को **सघोष** माना गया है, जिनके निर्माण के समय वायु, ओष्ठादि अवयवों के अवरोध के बिना ही, श्वासप्रणाली और कण्ठ से बाहर निकल जाता है। **अचों** या **स्वरों** के अतिरिक्त सभी वाक्-ध्वनियों को **हल्** या **व्यंजन** के रूप में कहा जाता है। अतः **हल्** या **व्यंजन** नानाविध (असम) प्रकृति के हैं। वस्तुतः अधिकांश ध्वनिविज्ञानी इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे कि 'अच्' और 'हल्' के बीच उतना स्पष्ट अन्तर विद्यमान है, जितना कि सामान्यतः कहा जाता है। केवल यही सत्य नहीं है कि 'अचों' में भी ऐसी विरोधाभासी ध्वनियाँ विद्यमान हैं, यथा **अघोष स्वर**, अपितु यह भी कि **'घोष'** भी मात्राभेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। उधर, **अवरोध** की बात भी उतनी पूर्ण और स्पष्ट नहीं कही जा सकती, जितनी कि आपाततः समझी जाती है। अंशतः अवरुद्ध ध्वनियों के वास्तविक वर्गीकरण के लिए हमें कुछ पूरक प्रतिमान निश्चित करने चाहिएँ, ताकि यह निर्णय किया जासके कि उन्हें 'अच्' में ग्रहण करना है, या 'हल्' में। ये ऐसी बातें हैं, जिनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। उनका उल्लेख यहाँ इस दृष्टि के समर्थन केलिए ही किया गया है, और इस सम्पूर्ण खण्ड में हम इसी पर बल भी देंगे, कि वाक्-अवयवों से उच्चरित ध्वनियाँ एक 'सातत्य' के रूप में होती हैं, जिनके बीच 'प्रकृतितः' कोई पूर्ण या शुद्ध विभाजन विद्यमान नहीं होते।

३. २. ५ स्वर या अच्

स्वरों का वर्णन तीन मुख्य उच्चारणात्मक आयामों के आधार पर किया जाता है : **मुखविवर** के खुलने की मात्रा के आधार पर (संवृत-विवृत); **जिह्वा** के उच्चतम भाग की स्थिति (जिह्वाग्र, जिह्वामूल आदि) के आधार पर; एवं **ओष्ठ** की स्थिति के (वृत्त या विवृत्त, आदि) आधार पर। इसप्रकार एक ही विशिष्ट ध्वनि को **संवृत**, **जिह्वाग्र** और **वृत्त स्वर** के रूप में वर्णित किया जासकता है : यथा, फ्रेंच शब्द 'ल्युन्' में स्थित स्वर(या हिन्दी का **'उ'** आदि)। इसी तरह, अन्य किसी ध्वनि को **संवृत, अग्र** और **विवृत्त** आदि कहा जासकता है : यथा, फ्रेंच और अंग्रेजी के 'सी' के रूपमें उच्चरित होनेवाले दोनों भिन्न शब्दों—si और sea—के स्वर को **संवृत**,

अग्र, आदि शब्दों से भी विशुद्ध रूप में प्रयुक्त नहीं किया जाता। उक्त तीनों ही आयाम 'सातत्य' को ही व्यक्त करते हैं, और सिद्धान्ततः अनन्त रूप में विभाज्य भी हैं। उदाहरणार्थ, फ्रेंच शब्द **'सी'** का स्वर अंग्रेजी **'सी'** के स्वर की अपेक्षा अधिक **संवृत** हैं, तथा कुछ अन्य दृष्टियों से भिन्न भी है। श्रेणीकरण के प्रयोजन से 'मुख्यतम' स्वरों (अचों) का एक तथाकथित विन्यास स्थापित कर लियागया है। इस प्रणाली के प्रमुख उद्घोषक डेनियल जोन्स के शब्दों में : "यह विन्यास उन स्थिर अच्-ध्वनियों का है, जिनकी नादात्मक विशेषताएँ एवं जिह्वा और ओष्ठ की स्थिति सुविदित है।" यद्यपि जोन्स ने इन मुख्य स्वरों की 'नादात्मक विशेषताओं' की चर्चा की है, तथापि यह मूलतः एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टि से एक प्रकार का उच्चारणात्मक वर्गीकरण ही है। इसमें अनुगत सिद्धान्त यह है कि सर्वप्रथम उच्चारणात्मक 'अन्तों' (अर्थात्, संवृततम अग्र स्वर, विवृततम पश्च (मूल) स्वर, आदि) की परिभाषा की जाए, और तब उनकी मध्यवर्त्ती स्थितियों का इस प्रकार चयन किया जाए कि 'उनके नादात्मक पृथक्करण की मात्रा लगभग समान रहे।' नादात्मक पृथक्करण के अन्तराल, भले ही उन्हें कितने ही सिद्धहस्त ध्वनिविद् स्थिर करें, मुख्यतः विषयिगत ही होते हैं। प्रत्येक मुख्य स्वर का मूल्य स्थिर हो जाने एवं डेनियल जोन्स द्वारा निष्पन्न उनके अभिलेखन का उपकरणात्मक विश्लेषण होजाने के बाद अब इन ध्वनियों के नादात्मक गुण कुछ सीमा तक वस्तुगत रूप में भी ज्ञात होगए हैं। अन्ततः मुख्य स्वरों का यह श्रेणीकरण भी यादृच्छिक ही है; यह बात इसे कम वैज्ञानिक या कम उपयोगी सिद्ध नहीं करती। इन मुख्य स्वरों के मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिपरक वर्णमाला में स्थिर कर दिए गए हैं, और उनको प्रतिमान बनाकर शिक्षित ध्वनिविद् किसी भी भाषा के स्वरों को आवश्यकतानुसार कम या अधिक पूर्णता के साथ वर्णन कर सकते हैं।

इन तीन उच्चारणात्मक 'परवर्त्तियों (वेरिएबल्स)' के अतिरिक्त, जिन्हें कि ध्वनिविद् स्वरों के श्रेणीकरण के आधार रूप में चुनता है, कुछ अन्य भी 'परवर्त्ती' हैं, जिन्हें वह प्रथानुसार 'सामान्य उच्चारणों' के 'गौण संशोधन' के रूप में मानता है। उदाहरणार्थ, सामान्यतः यह माना जाता है कि अच् या स्वर नासिका में से वायु के प्रवाहण के बिना ही उच्चरित होते हैं। यदि उनके उच्चारणकाल में मुख के साथ-साथ नासिका को भी खुला रखाजाए, ताकि दोनों मिलकर स्वर को उच्चारित कर सकें, तब स्वर को 'सानुनासिक' माना जासकता है। अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि-लिपि में इसे **अनुकारी निरनुनासिक स्वर** का ही एक 'संशोधन' स्वीकार किया जाता है : यथा, [a] : [ã], अर्थात् **अ : अँ**।

३. २. ६ व्यंजन या हल्

व्यंजन कई विभिन्न विभागों में विभाज्य हैं। वे सघोष और अघोष भी हो सकते हैं, और **मुखवचन** या **नासिकावचन** (अनुनासिक) भी होसकते हैं। यदि

श्वासनलिका में अवरोध पूर्ण है, तब परिणत होने वाली ध्वनियाँ **स्पृष्ट** अथवा **स्पर्शी** कहलाती हैं। यदि अवरोध केवल आंशिक है, किन्तु घर्षण को भी उत्पन्न करता है, तब ध्वनियों को **संघर्षी** या **घर्षी** भी कह दिया जाता है। जिस स्थान पर यह अवरोध होता है, उसे 'उच्चारण का स्थान' कह दिया जाता है: **ओष्ठ, दन्त, वर्त्स, मूर्धा, तालु, जिह्वामूल, काकु, कण्ठ,** आदि। ये वे प्रमुख उच्चारण-स्थान हैं, जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि-लिपि में मान्यता दी गई है। जो अवयव इन उच्चारण स्थानों के समीप लाया जाता है, उसे **उच्चारक** कह दिया जाता है: अधिकांशतः यह जिह्वा का ही कोई भाग होता है। इस उद्देश्य से जिह्वा को चार भागों में बाँटा जाता है: **जिह्वाग्र, पार्श्व, मध्य** और **पृष्ठ** (या **जिह्वामूल**)। **अग्रीय** ध्वनियाँ वे कहलाती हैं, जिनके उच्चारण में जिह्वा के अगले सिरे का योग रहता है; पृष्ठीय या **पश्च** ध्वनियों में जिह्वा के पृष्ठभाग का योगदान रहता है। ध्वनिविदों द्वारा प्रयुक्त अधिकांश परम्परागत संज्ञाओं की व्याख्या इस धारणा के आधार पर की जाती है कि कुछ उच्चारक अवयवांश उच्चारण के कुछ विशिष्ट स्थलों केसाथ सहचारी या सम्बद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, 'दन्त्य' संज्ञा [त्], [द्], आदि ध्वनियों केलिए प्रयुक्त कीजाती है, जो जिह्वाग्र को ऊपर के दांतों के पास लाने से बोली जाती हैं। दूसरी ओर, [क्], [ग्], आदि केलिए 'कण्ठ्य' संज्ञा का प्रयोग होता है, जिनकी उत्पत्ति जिह्वा के पृष्ठभाग के तालु से सम्पर्क या घर्षण में आने पर होती है। अन्यत्र उच्चारक अवयव और उच्चारण स्थान को मिलाकर बनी मिली-जुली संज्ञा का भी उपयोग कियाजाता है। इस प्रकार **दन्तौष्ठ्य** [फ़्], [व्], आदि ध्वनियाँ सूचित होती हैं, जिनका उच्चारण निम्न ओष्ठ और ऊर्ध्व दांतों के योग-दान से होता है। और, यदि आवश्यक हो, तब कई अन्य संज्ञाएँ भी इसी ढाँचे पर बनाई जा सकती हैं। इस प्रकार व्यंजनों को उन अनेक उच्चारणात्मक परिवर्त्तियों (चरों) के आधार पर वर्गीकृत किया जासकता है, जिनमें से यहाँ केवल कुछ का ही उल्लेख कियागया है। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि-लिपि के अनुसार **[प्] द्वयोष्ठ्य, अघोष, निरनुनासिक** (मुखवचन) और **स्पर्श** ध्वनि है; **[ब्] द्वयोष्ठ्य, सघोष, निरनुनासिक स्पर्श** है; **[फ़्] दन्तौष्ठ्य, अघोष, निरनुनासिक संघर्षी** है; [म्] **द्वयोष्ठ्य, सघोष, सानुनासिक स्पर्श** है; और [न्] **दन्त्य** (वा वर्त्स्य), **सघोष, सानुनासिक स्पर्श** है; इत्यादि! सामान्य उच्चारण स्थानों से अपसृत उच्चारणों को 'अग्रगामी' या पश्चगामी' कहाजाता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी शब्द 'कार'(car) और 'की' (key) की आरम्भिक ध्वनियां ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से भिन्न हैं: उन्हें **[क्]** के क्रमशः पश्चगामी और अग्रगामी भेदों के रूप में कहा जासकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वे किसी 'प्रकृत' ध्वनि-जाति की कुछ विशेष **किस्में** हैं, बल्कि यह कि ध्वनिशास्त्री मुख के **छद** (छत) और **जिह्वामूल** को रूढ़िरूप में, अधिक भागों में न बांटकर, कुछ कम भागों में ही बाँटते हैं।

३. २. ७ उच्चारण-परिवर्त्ती : दीर्घ और ह्रस्व घटक

अबतक हमने इस रूप में चर्चा की है, मानों वाक्‌की रचना कुछ विविक्त इकाइयों से मिलकर हुई हो । यह सत्य नहीं है । वास्तव में वाक् की रचना विविध दीर्घता की ध्वनियों के सन्तत उद्‌गिरण से होती है, जिनके बीच भौतिक सीमा वहीं बनती है, जहां वक्ता को श्वास लेने केलिए रुकना पड़ता है । जिन्हें ध्वनिशास्त्री 'वाक्-ध्वनि' कहता है, उन्हें वह ध्वनि की उस सन्तत धारा मेंसे ही किन्हीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विभेदक लक्षणों के आधार पर, अपोद्धार द्वारा, निश्चित करता है । इसे ही सरल रूप में हम यूं कह सकते हैं कि वाणी के एक सन्तत विस्तार में पहचानी जानेवाली ध्वनियों की संख्या वाक्-अवयवों की उत्तरोत्तर विविक्त स्थितियों के द्वारा निर्धारित होती है । वाक्-अवयवों की स्थिति में परिवर्त्तन को कम-से-कम एक उच्चारणात्मक परिवर्त्ती में आए प्रत्यक्षगम्य परिवर्त्तन के रूप में कहा जासकता है । परिणामतः, वाक्-अवयवों की उत्तरोत्तर स्थितियों में कुछ 'परिवर्त्ती' अपना मूल्य यथापूर्व ही बनाए रखते हैं । अंग्रेज़ी के शब्दों cats और cads को उदाहरण के लिए लें, जिन्हें व्यापक अनुलेखन में [**कैट्स**] और [**कैड्ज़**] के रूप में लिखा जासकता है । यह देखा जासकता है कि इन दोनों शब्दों की कुल उपलब्धियों में अन्तर उतना ही है, जितना अन्तर [**ट्**] : [**ड्**] एवं [**स्**] : [**ज़्**] ध्वनियों में है । वास्तव में अन्तर केवल एक ही उच्चारणात्मक परिवर्त्ती में विद्यमान है (स्वरों में अन्तर को हम ओझल कर सकते हैं) : [**कैट्स**] में स्वर के बाद आनेवाला अंश अघोष है, जबकि [**कैड्ज़्**] में वह सघोष है । (यह बात सरलता केलिए ही कहीगई है; इससे मूल बात में अन्तर नहीं आता ।) अतः हम उन दोनों प्रकार के ध्वनिक-घटकों में विभेद कर सकते हैं, जिन्हें सुविधा की दृष्टि से 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' कहा जासकता है । ऐसा इस बात पर निर्भर करता है कि वे उच्चारण में एक स्थान घेरते हैं या अधिक ! यह ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि वही उच्चारणात्मक घटक विविध ध्वनिक-शृंखलाओं में ह्रस्व या दीर्घ बनकर आसकता है । उदाहरणार्थ, 'ॲन्डर्' (under) में सघोष ध्वनि का घटक सारे ही शब्द में व्याप्त है, जब कि 'दन्त्य' ध्वनि का अंश 'न्ड्' के अंश में ही व्याप्त है (हिन्दी-संस्कृत में ये ध्वनियां मूर्धन्य मानी जाती हैं : **ण्ड्** के रूप में ; किन्तु इनमें सानुनासिकता केवल **'न्'** (ण्) में ही सीमित है । 'ओम्निपोटॅण्ट' शब्द में **'म्न्'** की अनुनासिकता दीर्घ घटक है ; तथा यहां ओऽठ्य से दन्त्य (अधिक उचित रूप में वर्त्स्य) में अन्तरण है, जिसके कारण हम **'म्'** और **'न्'** ध्वनियों के बीच अन्तर कर सकते हैं ।

सघोषत्व और अनुनासिकता जैसे कुछ उच्चारणात्मक घटक मुख की बाधा या अबाधा से सर्वथा अप्रभावित रहते हैं । वे व्यंजन और स्वर दोनों के निर्माण में भाग लेसकते हैं । उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि-लिपि में जिन स्वरों को [**ॲ**], [**अ**], और [**अँ**] के रूप में लिखा जाता है, उनके आपसी सम्बन्ध क्रमशः [प्], [ब्], [म्]; [क], [ग], [ङ्]; एवं [त], [द्], [न्], आदि व्यंजनों के पार-

स्परिक सम्बन्धों से एकरूप हैं। इनमें प्रत्येक का **प्रथम** अवयव न घोष है, न अनुनासिक; **दूसरा** घोष है, पर अनुनासिक नहीं; और **तीसरा** घोष भी है और अनुनासिक भी ! एक कल्पित उदाहरण के द्वारा इसे समझाया जासकता है। हम **पटक्, बडग्,** और **मनङ्,** के रूप में तीन शब्द मानलेते हैं, जिन्हें **अरालि** (अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिलिपि) में क्रमशः इस प्रकार लिखा जासकता है : (क) [p ḁ t ḁ k] (ख) [b a d a g], (ग) [m ã n ã ṅ]। इनमें उच्चारण की दृष्टि से पाँच परिवर्त्ती सम्मिलित हैं : **तीन** 'स्थान' से सम्बद्ध हैं—(१) **ओष्ठ्य,** (२) **दन्त्य,** (३) **कण्ठ्य** सम्पर्क; और दो ऐसे घटक हैं, जो व्यंजन या स्वर के योजन में सम्मिलित होसकते, हैं या उनमें से अनुपस्थित रहसकते हैं : (१) **घोष** और (२) **अनुनासिकता।** इन तीनों शब्दों के बीच ध्वन्यात्मक सम्बन्ध को आरेख ३ में प्रदर्शित द्वि-आयामी तालिका के द्वारा दिखाया जासकता है, जिनमें से क्षैतिज आयाम में कालात्मक उत्तरोत्तरता को सूचित कियागया है, जबकि ऊर्ध्वाधर आयाम में उक्त पाँचों परिवर्त्तियों के योगात्मक या ऋणात्मक मूल्यों को प्रदर्शित कियागया है। इनमें योगात्मक मूल्य (यथा, अघोष के स्थान पर **घोष**, ओष्ठ् या वर्त्स्य के स्थान पर **दन्त्य,** और मुखगत के स्थान पर सानुनासिक, आदि) को पड़ी रेखा के द्वारा संकेतित किया गया है, जबकि 'ऋणात्मक' या 'अभावात्मक' मूल्य को अचिन्हित ही छोड़ दिया गया है। इनके संकेतक लिपि-चिन्ह अन्तर्राष्ट्रीय लिपि में लिखे उक्त तीनों शब्दों के क्रम से ही हैं : [p ḁ t ḁ k], [b a d a g], [m ã n ã ṅ]।

आरेख—३

	(क)	(ख)	(ग)
ओष्ठ्य	—	—	—
दन्त्य	—	—	—
कण्ठ्य	—	—	—
अनुनासिक			———
घोष		———	—————
	p ḁ t ḁ k	b a d a g	m ã n ã n

[अवधेय : इनमें स्वरों का स्थान इसलिए नहीं बताया गया, क्योंकि उन्हें 'स्थिर' मूल्य वाला मानागया है, जबकि स्थानविशेष पर अवरोध के कारण **ओष्ठ्य, दन्त्य,** और **कण्ठ्य,** को व्यंजन के साथ ही सम्बद्ध माना गया है। इसीलिए स्वरों और व्यंजनों में भेद स्पष्ट करते हुए पांच में से तीन—व्यंजनों—का ही उच्चारणस्थान प्रदर्शित कियागया है ! क्योंकि शेष दोनों अंशों—स्वरों—में अवरोध स्पष्ट नहीं है।]

इन तीनों शब्दों—**पटक्, बडग्,** और **मनङ्**—के विषय में यह स्पष्ट है कि **घोष** और **अनुनासिकता** के घटक इस दृष्टि से 'दीर्घ' हैं कि ये सारे शब्द के **दैर्घ्य में व्याप्त** हैं। (यह हम पहले कह आए हैं कि अघोष स्वर को अंकित करने के लिए उनके नीचे बिन्दु का निशान बनाया जाता है, क्षौर अनुनासिक स्वर की सूचना

केलिए ग्रालि में '~' का निशान स्वर के ऊपर बना दिया जाता है। देवनागरी में ग्रनुनासिक स्वर की सूचना 'ँ' के चिह्न के द्वारा मिलती है। जबतक कि उन्हें **'ग्रघोष'** ग्रौर **'ग्रनुनासिक'** रूपों में चिह्नित न किया जाए, स्वर घोष ग्रौर निरनुनासिक ही माने जाते हैं।) यह भी स्पष्ट है कि ग्रवरुद्ध ग्रौर ग्रनवरुद्ध खण्डों की शृंखला क्रमशः व्यंजन ग्रौर स्वर को विभिन्न कर देती है। उक्त उदाहरण में यह भेद ध्वनियों की संख्या को भी स्पष्ट कर रहा है। इस उदाहरण का सतर्क विचार ग्रौर इसमें ग्रन्तर्हित तथ्यों का साधारणीकरण हमें इस बात पर पहुँचाएँगे कि '[**प्**] **ध्वनि**' या '[**म्**] **ध्वनि**' जैसी ग्रभिव्यक्तियों का निम्न प्रकार से कथन सुविधाजनक होते हुए भी भ्रमावह होता है: '[**प्**]—ध्वनि का ऐसा विस्तार, किसी विशिष्ट स्थल पर जिसका ग्रभिलक्षण होता है, **ग्रोष्ठ्यता, स्पर्शात्मकता, ग्रघोषवत्ता** ग्रौर **निरनुनासिकता**; एवं [म्]—ध्वनि का ऐसा विस्तार, जिसके स्पष्ट लक्षण होते हैं: **ग्रोष्ठ्यता, स्पर्शात्मकता, घोषवत्ता**, ग्रौर **सानुनासिकता**,' ग्रादि...ग्रादि। ग्रतः ध्वनिविदों द्वारा प्रयुक्त, एवं यहाँ उदाहरणों के लिए प्रयुक्त, ग्रनुलेखन को वर्णात्मक प्रणाली वाक् के ग्रनुलेखन में पर्याप्त ग्रपूर्ण रहती है। ग्रधिक सन्तोषजनक प्रणाली वह होसकती है, जिसमें किसी विस्तार के ग्रधिकाधिक उच्चारणात्मक ग्रतिव्यापी घटकों को पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, तथा उनकी सापेक्ष दीर्घता का भी प्रत्यक्ष ग्रौर स्पष्ट ग्रंकन हो। सच तो यह है कि समझ के साथ ध्वनिक-ग्रनुलेखनों को पढ़ने केलिए पहले उन्हें 'वर्णात्मकता-मुक्त' करना सीखना चाहिए। इसकेलिए मन-ही-मन उनके द्वारा संकेतित उच्चारणात्मक घटकों को उन प्रतीकों की जगह रखना ग्रौर फिर उन घटकों को ऊपर कही विधि से एक शृंखला में संहत करना ग्रावश्यक है।

इस प्रश्न पर कुछ दीर्घता से इसलिए विचार करना पड़ा, क्योंकि भाषा-सम्बन्धी लोकप्रिय विवेचनों में इस बात पर पर्याप्त ज़ोर नहीं दिया जाता ग्रौर कभी-कभी तो इसकी चर्चा तक भी नहीं कीजाती। बहुधा यही प्रभाव दिया जाता है कि भाषा विविक्त ग्रौर ग्रनाश्रित वाक्-ध्वनियों की शृंखला से संघटित होती है, ग्रौर यह कि ये ही वाक्-ध्वनियाँ उच्चारणात्मक ध्वनिक विश्लेषण की चरम इकाइयाँ होती हैं। हम ग्रभी देखेंगे कि ऊपर जो भेद हमने ध्वनि की दृष्टि से **ह्रस्व** ग्रौर **दीर्घ** के बीच किया है, वही ग्रन्तर ध्वनि-विज्ञान के ग्राधार पर भी किया जाना सम्भव है।

३. २. ८ ध्वनिपरक लिपि-मालाएँ

पाठक ग्रब निम्न तथ्य को शीघ्र ही समझ लेंगे। **'ग्र रा लि'** का ग्राधार रोमन लिपि पर है। फिर, जिस समय इनके ध्वन्यात्मक मान निश्चित किये गये थे, उस समय तक ध्वनिविज्ञान ग्रौर ध्वनिप्रक्रिया का वर्त्तमान रूप में विकास ग्रौर विभेद ज्ञात करने की ग्रावश्यकता ग्रनुभव नहीं हुई थी। **'ग्र रा लि'** के ग्रवलोकन

से वह असंगति स्पष्ट होती है, जो उसके द्वारा कुछ उच्चारणात्मक लक्षणों के प्रतिनिधित्व से सम्बद्ध है, तथा जो इसकी 'सामान्यता' और 'असामान्यता' सम्बन्धी धारणाओं से भी सम्बद्ध है। वास्तव में ये लिप्यक्षर रोमन लिपि को प्रयुक्त करने वाली यूरोपीय भाषाओं में अपने द्वारा सूचित विभिन्न ध्वनियों के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किये गए थे। '*x*' और '*c*' जैसे अनावश्यक समझे जाने वाले अक्षरों को अंग्रेजी में नया कार्य सौंप दिया गया (और x का उच्चारण '**क्स**' के रूप में और 'c' का प्रयोग '**क्**' और '**स्**' के रूप में होने लगा), और इनकी ध्वनिपरक व्याख्या नए ढंग से की गई। '**अरालि**' में पुरानी ग्रीक आदि से भिन्न कुछ नए प्रतीक ('**थ्**' और '**द्**' आदि केलिए) अपनालिये गए। यद्यपि **अरालि** के अन्वेषकों और इसके पोषकों ने नए चिन्हों के निर्माण में अत्यधिक बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन किया और मुद्रणात्मकता का भी पूरा ध्यान रखा, तबभी प्रत्येक ध्वनि के लिए पृथक् संकेत निश्चित करने की भी एक सीमा थी। इसीलिए आरम्भ से ही **अरालि** ने लिप्यक्षरों के अतिरिक्त संकेतात्मक चिन्हों की भी व्यवस्था कर ली थी। ये संकेत-चिह्न दो उद्देश्य से प्रयुक्त किये जाते हैं : या तो सूक्ष्मतम अनुलेखन को सम्भव बनाने केलिए, या फिर अन्तरराष्ट्रीय लिपि में '**असामान्य**' मानी गई ध्वनियों को संकेतित करने केलिए।

अरालि में '**लिप्यक्षरों**' और '**संकेतचिह्नों**' के बीच जो विभेद कियागया है, वह कदाचित् भ्रम पैदा कर सकता है। लगभग अनिवार्यतः उससे ध्वनित होता है कि लिप्यक्षरों द्वारा प्रतिनिधित्व-प्राप्त ध्वनियों में उन ध्वनियों की अपेक्षा विभेद अधिक मौलिक है, जिनका संकेत विशिष्ट संकेत-चिह्नों से युक्त वर्णों द्वारा होता है। उदाहरणार्थ, इसमें **घोष** और **अघोष** स्पर्श ध्वनियाँ (क्: ग्, त्: द्, आदि) विशिष्ट लिप्यक्षरों द्वारा संकेतित कीजाती हैं। किन्तु जैसा कि हम पहले देख आए हैं, स्वर एवं अनुनासिक व्यंजन घोष ही माने जाते हैं, जबतक कि '**अघोष**' की सूचना के लिए विशिष्ट संकेत-चिह्नों का उपयोग न किया जाए। उच्चारणात्मक वर्णन की दृष्टि से, जैसा कि हमने पहले भी देखा है, '**द्**' और '**त्**' अथवा '**अ**' और '**अ॑**' अथवा '**न्**' और '**ङ्**' के बीच परस्पर एक जैसा ही सम्बन्ध विद्यमान है। **अरालि** के प्रचलनकर्त्ता इस धारणा का सुझाव देते या समर्थन करते प्रतीत होंगे कि जहाँ '**त्**' और '**द्**' बिल्कुल विविक्त ध्वनियाँ हैं, वहाँ अघोष '**अ**' और '**ङ्**' क्रमशः सघोष '**अ**' और '**न्**' की **सामान्य** ध्वनियों के ही **असामान्य** भेद हैं। इसीप्रकार की अन्य भी अनेक विसंगतियाँ हैं। फिरभी, ध्वनिविदों केलिए **अरालि** एक बहुत उपयोगी साधन है ; क्योंकि इसकी रूढ़ियों को पूरीतरह व्याख्यात कियागया है, और विभिन्न देशों के ध्वनिविदों द्वारा उन्हें स्वीकार भी करलिया गया है।

अरालि के अतिरिक्त अन्य भी ध्वनिक लेखन की प्रणालियाँ प्रचलित हैं। इन में से कुछ की विशेषता यह है कि उन्हें मानक टंकन-यन्त्र पर टंकित किया जा सकता है। इसीलिए बहुत से लेखकों द्वारा, विशेष कर अमरीकी लेखकों द्वारा, उन्हें

प्रमुखता दीजाती है। इससे यह न समझना चाहिए कि विविध प्रचलित वर्णात्मक लिपि-प्रणालियों में विभेद के आधारभूत कुछ विशेष सिद्धान्त हैं। ऊपर कहीगई 'अरालि' से सम्बद्ध सभी बातें उन पर भी पूरीतरह लागू होती है।

३.२.६ भौतिक ध्वनि-विज्ञान

भौतिक ध्वनिविज्ञान के क्षेत्र में द्वितीय महायुद्ध के बाद से सर्वाधिक चमत्कारी प्रगति हुई है। विविध वैद्युतिक उपकरणों से, जिनमें सर्वाधिक व्यापक रूप में प्रयुक्त होने वाला उपकरण है '**ध्वनि-चित्र-रेखी** (साउण्ड-स्पैक्ट्रोग्राफ़)', अब वाक् में उत्पन्न जटिल ध्वनि-तरंगों का उनकी घटक आवृत्तियों एवं सापेक्ष आयामों के रूप में कालक्रम से उनमें होनेवाले अन्तर के साथ विश्लेषण करना सम्भव होगया है। इससे भी बढ़कर वाक्-संयोजन के विषय में भी पर्याप्त प्रगति हुई है। इसका अर्थ है : विशिष्ट भाषाओं की प्रत्यययोग्य उक्तियों की मानवी वाक् में पाई जाने वाली विशिष्ट महत्त्व की आवृत्ति-पट्टियों पर, ध्वनि-तरंगों को उत्पन्न करके तथा उचित रूप में उनका संघात बनाकर, कृत्रिम पुनःसंरचना। हम भौतिक ध्वनि-विज्ञान के सिद्धान्तों की चर्चा नहीं करेंगे। इस प्रकार के ग्रन्थ में तो केवल इतना ही अपेक्षित है कि उससे उपलब्ध परिणामों की संक्षिप्त चर्चा कर दी जाए, और भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों की दृष्टि से उनके निहितार्थों को स्पष्ट करदिया जाए।

सर्वप्रथम, इस श्रवणिक विश्लेषण ने इस बात को पुष्ट करदिया है कि वाक् किन्हीं विविक्त ध्वनियों की शृंखलामात्र से नहीं बनती। हमारे बोलते समय उत्पन्न ध्वनि-तरंगों के निर्धार्य घटक विविध दैर्घ्यों वाले होते हैं, और कालक्रम में एक दूसरे को अतिव्याप्त करते हैं। कदाचित् इससे भी अधिक आश्चर्यकर यह है कि ध्वनिक विश्लेषण द्वारा पहचाने गए घटक प्रत्यक्षतः उन घटकों से सम्बन्धनीय नहीं हैं, जिन्हें उच्चारण-ध्वनि-विदों द्वारा विभिन्न वाक्-ध्वनियों के विवेक के लिए परम्परागत निकष के रूप में स्वीकार किया गया है। शक्ति के अधिकतम संकेन्द्रण से युक्त दो आवृत्ति-पट्टों के रूप में अपने रूपविधायक घटकों की दृष्टि से 'अचों' या 'स्वरों' का ध्वनिगत विश्लेषण, उनके **अग्र-पश्च** या **संवृत-विवृत** आदि उच्चारणात्मक आयामों की भाषा में, उनके वर्णन से अच्छी तरह संगत बैठता है। ध्वनिक रूप में 'वर्तुलन' (राउण्डिग) का उच्चारणात्मक लक्षण भी पहचाना जासकता है। **घोष** और **अनुनासिकता** एवं **बाधा** और **घर्षण** के विषय में भी यह बात सत्य है। श्रवणिक आधार पर जिसे पहचानने में सबसे बड़ी कठिनाई आती है, वह है **उच्चारण-स्थान**। ध्वनिक दृष्टि से यह प्रतीत होगा कि विविध उच्चारण स्थानों से उत्पन्न होने वाले व्यंजनों का विवेक मुख्यतः ध्वनि-तरंग के संक्रमणशील एवं सन्दर्भात्मक अभिलक्षणों से सम्भव होता है, न कि स्वयं व्यंजनों में अन्तर्हित किन्हीं विशेष लक्षणों से !

यद्यपि यह बहुत पहले से ज्ञात है कि जिसे हम प्रत्यक्ष में एक '**ध्वनि**' मानते

हैं, उसका उच्चारण, कुछ उदाहरणों में, भिन्न-उच्चारण-संयोगोंसे भी सम्भव होता है। कदाचित् निकटतम अतीत में भी अधिकांश ध्वनिशास्त्री इस बात को मानते थे कि अधिकांशतः उच्चारणात्मक विभेद ध्वनि-तरंगों से उसी रूप में आरक्षित होते हैं, जिस रूप में श्रोता की श्रवण-प्रणाली द्वारा वे विश्लेषण केलिए प्रेषित कियेजाते है। पर अब यह अनुभव कियागया है कि वाक् का सम्प्रेषण कुछ अधिक जटिल है।

'पृष्ठपोषण' के लिए भी सम्भावना रखनी चाहिए। वाक् के सम्प्रेषण के विषय में विचार करतेहुए हम ऐसी प्रणाली के विषय में बात नहीं कररहे होते जिसमें कि 'सम्प्रेषक' (वक्ता) और 'ग्रहीता' (श्रोता) दोनों=/सर्वथा स्वन्त यान्त्रिकतमाय होते हैं। भाषा का प्रत्येक सामान्य प्रयोक्ता स्वयं ही उत्पादक और स्वयं ही वैकल्पिक ग्रहीता भी होता है। जब वक्ता के रूप में वह बोल रहाहोता है, तब वह केवल ध्वनि को उत्पन्न ही नहीं कररहा होता, बल्कि वह उसको ग्रहण भी कर रहा होता है; साथ ही वह उसको नियमित भी करताजाता है। वह अज्ञात रूप में ही अपनी उच्चारणात्मक विविध गतिविधियों को, जो कुछ वह सुनता है उससे, सतत समायोजनों के द्वारा सहसम्बद्ध करताजाता है (तापस्थापक के रूप में: जैसे वह तापांकों से पृष्ठपोषण के परिणामरूप आए ताप को नियन्त्रित करना है)। और जब **श्रोता** बनकर वही दूसरे द्वारा उत्पन्न ध्वनियों को सुनरहा होता है, तब वह केवल निष्क्रिय श्रवण ही नहीं करता, बल्कि वह वक्ता या प्रयोक्ता के रूप में अपने अनुभव के आधार पर श्रवणिक संकेतों की व्याख्या के साथ-साथ उन्हें क्रमबद्ध भी करताजाता है। इसमें उसे सहायता मिलती है, अपने ही अन्दर 'निर्मित' सन्दर्भात्मक समाधानों और आशाओं से! इसलिए, इसी कारण भाषा के प्राथमिक माध्यम पर (अभिव्यक्ति-तल का द्रव्य, दे०-२.२.८) कदाचित् सम्पूर्णतः भौतिक दृष्टि से विचार करके उचित नहीं कियागया (यदि 'भौतिक' का अर्थ संकुचिततम रूप में लिया जाए)। ध्वनिक सामग्री (उपादान) भौतिकशास्त्रियों द्वारा समझी जाने वाली 'ध्वनि' मात्र ही नहीं है; बल्कि यह वह ध्वनि है, जो मानव-प्राणियों द्वारा अपने भाषा-प्रयोग में 'परिपूत' और वर्गीकृत की जाती है। दूसरे शब्दों में, भाषा का ध्वनिक माध्यम एक मनोवैज्ञानिक, और विशुद्ध भौतिक पक्ष भी रखता है। यह सम्भव है कि माध्यम का यह मनोवैज्ञानिक पक्ष कदाचित् पवनिगुणों के और भी जटिल भौतिक विवरण के रूप में ह्रसित किया जासकता हो। पर ऐसा पहले से ही नहीं मान लेना चाहिए।

यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि 'पृष्ठपोषण' का यह सिद्धान्त भाषा के अभिव्यंजक माध्यम या द्रव्य में भौतिक विभेदों के उत्पादन और ग्रहण तक ही सीमित नहीं है। ध्वनिवैज्ञानिक और व्याकरणात्मक संरचना के निर्धारण में भी यह कार्य करता है। आन्तरिक रूप से अस्पष्ट उक्तियों की व्याख्या अन्यों की अपेक्षा कुछ भिन्न तरीके से होसकती है, क्योंकि पहले के वार्तालाप या तात्कालिक प्रसंग के द्वारा कुछ आशावत्ता स्थापित हो चुकी होती है (तु०—२.४.५, 'समधिकता' पर।

३.३ ध्वनिप्रक्रिया

३.३. १ वर्ण या फ़ोनीम

पिछले खण्ड में भाषा के ध्वनिवैज्ञानिक और ध्वनिप्रक्रियात्मक विश्लेषण में एक अन्तर बतायागया है। ध्वनिक विश्लेषण में अन्तर्हित सिद्धान्तों का पर्याप्त विस्तार में विचार हो चुका है, और अब हम कुछ अधिक समीप से 'वर्ण' पर विचार कर सकते हैं, जिसका परिचय ध्वनिप्रक्रियात्मक वर्णन की इकाई के रूप में दिया जा चुका है।

३ ३.२ वर्णकल्पों (अल्लोफ़ोन्स) का पूरक वितरण

वर्णविषयक सिद्धान्त की चर्चा हम वहाँ से आगे शुरू कर सकते हैं, जहाँ तक हम **वर्णों** और **वाक्-ध्वनियों** के बीच विभेद की चर्चा के प्रसंग में पहुँचचुके हैं (तु० ३. १. २.)। ध्वनि की दृष्टि से भिन्न दो 'ध्वनियाँ' उसी वातावरण में दो **भिन्न वर्णों** के रूप में पहचानी जाती हैं, जिसमें दो **शब्द** भी **विभिन्न** स्वीकार किएजाते हैं। उदाहरणार्थ, इसी हेतु से अंग्रेज़ी में **'ल्'** और **'र्'** भी दो ध्वनियाँ ही मानी जाएंगी; क्योंकि वे विविध शब्दों में विभेद का कारण बनती हैं : यथा *lamb : ram, lot : rot, light : right,* आदि में। इन वर्णों को हम क्रमशः /ल्/ और /र्/ के रूप में कहसकते हैं। (यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषाविदों की सामान्य प्रथा के अनुसार **वर्ग-कोष्ठकों** का प्रयोग **वाक्-ध्वनियों** की चर्चा केलिए और **तिर्यक्-रेखाओं** का प्रयोग **वर्ण-प्रतीकों** के लिए किया जाता है।) ऐसी अनेक भाषाएँ हैं, जिनमें या तो /ल्/ और /र्/ ध्वनियाँ-दोनों ही नहीं उपस्थित होतीं, या फिर वे दोनों समान ही वातावरण में इस तरह प्रयुक्त नहीं होतीं, जिससे विविध शब्दों में विभेद व्यक्त होसके। **चीनी** और **जापानी** जैसी इस प्रकार की भाषाओं में [ल्] और [र्] के बीच वर्णात्मक भेद है ही नहीं। वे ध्वनिक इकाइयाँ, जो उसी वातावरण में नहीं आतीं और इसीलिए विविध शब्दों में विभेद नहीं करसकतीं, परस्पर पूरक वितरण में स्थित कहीजाती हैं (तु०-२. ३. १)। अंग्रेज़ी में [ल्] के स्पष्ट और अस्पष्ट रूपों का उदाहरण दिया ही जाचुका है। स्पष्ट [ल्] स्वरों और /ई/ (y) वर्ण से पहले आता है, जबकि अस्पष्ट [ल्] शेष व्यंजनों से पहले और शब्द के अन्त में आता है। अतः ध्वनि की दृष्टि से विविक्त होते हुए भी 'स्पष्ट' और 'अस्पष्ट' [ल्] एक ही वर्ण के केवल स्थितिगत परिवर्त्ती, या अल्लोफोन्स, ही कहलाएंगे। [ल्] और [र्] के बीच अन्तर को 'ल्' के इस उभयविध अन्तर की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक रूप में वर्णात्मक नहीं कहा जासकता। अंग्रेज़ी केलिए यह तथ्य आकस्मिक है। किन्तु, अन्य भाषाओं में से कुछ ऐसी हैं, जिनमें [ल्] और [र्] परस्पर पूरक वितरण में स्थित हैं, तथा ध्वनिवैज्ञानिकों द्वारा एक ही वर्ण के वर्णकल्पों के रूप में स्वीकार किएजाते हैं, जब कि रूसी और पोलिश की कुछ

विभाषाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें [ल्] के स्पष्ट और अस्पष्ट विभेदों को पृथक् वर्णों के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसी प्रसंग में यह भी ज्ञात होगा कि पूरक वितरण के इस नियम का विनियोग ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से अशिक्षित देशी प्रयोक्ता के किसी 'ध्वनि' की एकरूपता या भिन्नता-विषयक निर्णय से सामान्यतः अधिक अच्छी तरह संगत बैठता है। इस का कारण यह तथ्य कहा जासकता है कि देशी प्रयोक्ता ध्वनिगत कुछ अन्तरों को 'कार्यात्मक' रूप में स्वीकार करना सीख लेता है, जबकि कुछ अन्य अन्तरों को वह संप्रेषण के प्रयोजन से असम्बद्ध समझ कर उपेक्षित करदेता है।

३. ३. ३ ध्वनिकल्पों की ध्वनिक एकरूपता

अबतक जो कुछ कहागया है, उसमें विविध वाक्-ध्वनियों को कुछ ही वर्णों के विन्यास में समूहबद्ध करने की एक अन्य शर्त भी अन्तर्हित है। किन्हीं वाक् ध्वनियों के 'पूरक वितरण' की बात को, उन्हें एक ही वर्ण के 'परवर्त्ती' स्वीकार करलेने में, पर्याप्त समर्थ शर्त नहीं कहा जासकता। यहां हम फिर पुराना उदाहरण स्मरण कराएंगे : अंग्रेज़ी के अघोष स्पर्श वर्णों का विविध वातावरण में विविध प्रकार से उच्चारण होता है; कुछ जगह उसमें सप्राणता (महाप्राणता) उपस्थित रहती है, कुछ जगह नहीं भी। इसका अर्थ यह हुआ कि [फ्], [ठ्], [ख्], आदि (कल्पित) महाप्राण रूप सामान्य अल्पप्राण स्पर्श वर्णों—[प्], [ट्], [क्], आदि—के साथ पूरक वितरण में हैं। (ये दोनों विभिन्न ध्वनिसंकेत संकुचित अनुलेखन की दृष्टि से अपनाए गए हैं।) प्रश्न यह उठता है कि [फ्] को [ट्] या [क्] के साथ समूहीकृत न करके [प्] के साथ ही क्यों कियाजाए ? यह अवधेय है कि जबतक ध्वनिक निर्वचन के प्रचलन को स्पष्ट ही न करदिया जाये, तबतक /टॉप्/ : /स्पॉप्/ एवं /पॉट्/ : /स्टॉट्/ आदि को, /टॉप्/ : /स्टॉप्/ एवं /पॉट्/ : /स्पॉट्/ आदि की अपेक्षा, 'टॉप् : स्टॉप्' एवं 'पॉट् : स्पॉट्' आदि के रूप में लिखित शब्दों में विद्यमान वैषम्य का किसी भी भाँति कम प्रतिनिधि नहीं कहा जासकता। इनमें से प्रथम उदाहरण में कहे विभेद को स्पष्ट करने केलिए हमें केवल इतनाही करने की आवश्यकता है कि हम अनुलेखन के सम्बन्ध में केवल इतना विधान करदें : ध्वनि की दृष्टि से /ट्/ और /प्/ उस समय क्रमशः [ठ्] और [फ्] के रूप में उपलब्ध होते हैं, जब वे शब्द के आदि या अन्त में आते हैं, जबकि /स्/ के बाद आने पर क्रमशः [प्] और [ट्] के रूप में रहते हैं। किन्तु, अंग्रेज़ी के प्रसंग में कोई भी ध्वनिविज्ञानी इसप्रकार का विवेचन नहीं करेगा। उसके ऐसा न करने के अनेक कारण भी हैं। सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख पूरक कसौटी है **ध्वनिक समरूपता** को, जिसे भाषाविद् 'पूरक वितरण' की तुलना में समान महत्त्व की ही शर्त मानेंगे। यही वह निकर्ष है, जो वाक्-ध्वनियों और वर्णों के परस्पर अन्तर को प्रदर्शित करने वाले विविध उदाहरणों पर विचार के प्रसंग में निहित रहा है। [फ्] और [ट्] की जगह [फ्] और [प्] को परस्पर

एक ही वर्ण /प्/ के 'ध्वनिकल्प' स्वीकार करने का कारण यह है कि ध्वनि की दृष्टि से वे दोनों [फ्] और [ट्] की अपेक्षा परस्पर अधिक 'समरूप' हैं (भले ही ये दोनों भी परस्पर पूरक वितरण में विद्यमान हैं)।

ध्वनिक विश्लेषण के सिद्धान्तों से सम्बद्ध हमारी चर्चा से यह स्पष्ट होगया होगा कि कोई दो ध्वनियां 'समरूप' हैं या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर सरल नहां है। मानवी वाक् में प्रयुक्त ध्वनियों की प्रकृति के अनेक आयाम होने के कारण ही यह सम्भव होता है कि वे कुछ बातों में समान होती हैं, जबकि अन्यों में असमान होती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी एक विशिष्ट भाषा के विश्लेषण में रत ध्वनि-विज्ञानी के सामने कई विकल्प उपस्थित होसकते हैं। क्या अघोष-अल्पप्राण-स्पर्श वर्ण घोष-अल्पप्राण-स्पर्श से अधिक मिलता-जुलता है, या वह अघोष-महाप्राण-स्पर्श से अधिक मिलता है? यह प्रश्न अंग्रेज़ी का विश्लेषण करनेवाले भाषाविद् के सामने आता है। कारण यह है कि [प्], [ट्], [क्] केवल [फ्], [थ्], [ख्] के साथ ही पूरक वितरण में विद्यमान नहीं हैं, बल्कि [ग्], [ड्], [ब] के साथ भी उनका वही सम्बन्ध है, यद्यपि ये (ग्, ड्, ब्) /स्/ के बाद उसी शब्द में कभी उपस्थित नहां होते। जबतक हम अपना ध्यान केवल इसी समस्या तक सीमित रखते हैं, तब दोनों सम्भाव्य हलों में से कोई भी हमें दूसरे की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत लगकर विवश नहीं करता। (यहाँ हमें यह मान न बैठना चाहिए कि क्योंकि **अरालि** [प्] और [फ्] को [p] के ही दो रूप मानती है, अतः वे दोनों ध्वनियाँ भी अधिक समान हैं। इस बात पर पिछले खण्ड में भी बल दिया जाचुका है।) वस्तुतः भाषाविद् कभी भी ऐसी समस्याओं को शेष विश्लेषण से पृथक् करके नहीं देखता। यदि हम अंग्रेज़ी के ध्वनिविज्ञान का विहगावलोकन करें, तब हम यह पाएंगे कि घोष और अघोष व्यंजनों का आपसी विरोध भाषा में उससे कहीं अधिक मुख्य है, जो अल्प-प्राण और महाप्राण व्यंजनों के बीच पायाजाता है। निस्सन्देह घोष और अघोष होने के कारण व्यंजन कुछ विशिष्ट स्थितियों में विभेद के साथ पहचाने जाते हैं (यथा bet और pet में); किन्तु महाप्राणत्व और उसके अभाव के कारण भी उनकी विविधता पहचानी ही जाती है। किन्तु, इनके अतिरिक्त ऐसे भी व्यंजन हैं (यथा—घर्षी और अघर्षी : leave : leaf, jeep : cheap, आदि), जिनमें परस्पर विरोध या विभेद घोषत्व और अघोषत्व के कारण होता है, तथा सप्राणता आदि के कारण वर्ण-युग्म का विभेद जहाँ सम्भव ही नहीं होता। ऐसा होने पर, निस्सन्देह यह सोचना अधिक तर्कसंगत होगा कि [फ्] की अपेक्षा [प्] में सप्राणता का अभाव उन्हें ध्वनिकल्पजन्य विभेद सिद्ध करता है। किन्तु, [ब्] के साथ [प्] का सम्बन्ध केवल घोषात्मकता के अभाव के कारण है, ऐसा नहीं कहा जासकता। फिर भी, यह बात अवधेय है कि यह निर्णय केवल ध्वनिक साम्य के बल पर ही न तो कियागया है, न किया ही जासकता है।

३ ३. ४ ध्वनिप्रक्रिया में उन्मुक्त विचरण

ऐसा होना सम्भव है कि ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से दो भिन्न ध्वनियाँ एक ही सन्दर्भ में उपस्थित हों, किन्तु उनमें वैषम्य विद्यमान न हो। अर्थात्, उनमें से एक के स्थान पर दूसरी ध्वनि को रखदेने से कोई नया शब्द सामने नहीं आता; बल्कि उसी शब्द का एक भिन्न 'उच्चारण' अवश्य सामने आजाता है। इस स्थिति में, ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से, विविध इकाइयों को 'उन्मुक्त विचरण में स्थित' कहा जाता है (तु०—२. ३. २)। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी के तथाकथित मानक 'गृहीत उच्चारण' में व्यंजन से पहले, किन्तु स्वयं किसी एकाच् के अन्त में, स्थित /t/ ध्वनि के साथ 'श्वासद्वारीय स्पर्श' (ग्लॉटल स्टॉप्) उन्मुक्त विचरण में रहता है। (इस ध्वनि के लिए **अ रा लि** का संकेत चिन्ह [ʔ] है।) इस प्रकार का उच्चारण करने वाले अधिकांश वक्ता सम्भवतः इस बात के प्रति सचेत नहीं होते कि वे 'fortnight' जैसे शब्दों के दो वैकल्पिक उच्चारण प्रयोग करते हैं। ऐसा प्रायः औपचारिक रूप में अथवा जानबूझ कर कियेगये उच्चारण में होता है। इसके विपरीत वे इस बात से भलीभाँति परिचित होते हैं कि स्वरों से पहले आने पर यही /t/, यथा 'city' (सिटी) शब्द के ग्राम्य उच्चारण में, मानकहीन विभेद के रूप में प्रयुक्त होता है। यह भी सम्भव है कि एक ही शब्द के प्रचलित वैकल्पिक उच्चारण इतने भिन्न हों कि उनमें स्थित अन्तर को 'वर्णात्मक' अन्तर भी कहा जासके। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी शब्द 'Economics' का उच्चारण कभी तो 'एँ' के साथ, 'एकोनोमिक्स' के रूप में किया जाता है, और कभी 'ई' के साथ, 'ईकोनोमिक्स' के रूप में किया जाता है। यही बात शब्द 'Either' के साथ है, जिसका उच्चारण **'आइदर'** के रूप में भी किया जाता है, और **'ईदर'** के रूप में भी। अंग्रेजी में एक ही व्यक्ति के उच्चारण में इस प्रकार के अनेक विकल्प दृष्टिगोचर होसकते हैं। किन्तु, इसे सामान्यतः वर्ण-कल्पों का 'उन्मुक्त विचरण' नहीं कहा जासकता। स्वरों का अन्तर अंग्रेज़ी में कुछ शब्दों का विभेद स्पष्ट करदेता है। इस तथ्य से ज्ञात होता है कि ऐसा विभेद वर्णात्मक ही होता है। ऐसा इस प्रचलित सिद्धान्त के कारण होता है: **'एक बार जिसे वर्ण मान लिया, वह सदा वर्ण ही रहता है'**। फिर, उक्त उदाहरण जैसे उदाहरणों में पाए जाने वाले और यदा-कदा होनेवाले याद्दच्छिक वर्णात्मक परिवर्त्तन की इसके अतिरिक्त अन्य व्याख्या भी क्या की जासकती है कि महज़ उन शब्दों को गिना दिया जाए, जिनमें ऐसा सान्तर उच्चारण पाया जासकता है। इस दृष्टिकोण से पूर्वोक्त शब्दों के उच्चारण में पाया जाने वाला अन्तर 'संयोगजन्य' या 'सांयोगिक' ही कहा जासकता है। भाषा की नियमित ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना का यह भाग नहीं है। इस विषय में ऊपर कहे [ʔ] और [t] की परस्पर उन्मुक्त विचरण की स्थिति से यह भिन्न है। उसमें हम सूक्ष्म रूप में और ध्वनिप्रक्रियात्मक परिभाषा में उन सब परिस्थितियों को गिना सकते हैं, जिनमें ऐसा घटित होता है। अर्थात्, ऐसा करते हुए हम उन विशिष्ट शब्दों को उद्धृत नहीं करते, बल्कि उन्मुक्त परिवर्त्तियों

के पूर्ववर्त्ती ग्रौर परवर्त्ती वर्णमात्र को ही गिनाते हैं।

३. ३. ५ ध्वनिप्रक्रिया में निर्विषमीकरण (न्यूट्रलाईजेशन)

ध्वनिप्रक्रिया की दृष्टि से व्याख्येय स्थितियों में घटित होनेवाले इस उन्मुक्त विचरण से भी ग्रधिक सामान्य घटना है, कुछ स्थितियों में वर्णों में विभेद का निर्विषमीकरण। इसे एक सामान्यतः प्रयुक्त उदाहरण के द्वारा समझाया जासकता है। जर्मन, रूसी, तुर्की, ग्रादि बहुत सी भाषाग्रों में ग्रधिकांश स्थितियों में ग्रघोष ग्रौर सघोष व्यंजनों के बीच वर्णात्मक विभेद स्पष्ट रहता है; किन्तु किसी भी शब्द के ग्रन्त में सघोषवर्ण नहीं ग्राते। इस तरह, जर्मन में Rad (चक्र, साईकल) ग्रौर Rat (समिति, सलाह) दोनों का उच्चारण (राट्) समान है। (बहुत से विद्वान् जर्मन के इन दोनों शब्दों में स्वरों के दैर्घ्य या गुण के ग्राधार पर विभेद करते हैं। किन्तु प्रस्तुत बात पर इस तथ्य से कोई प्रभाव नहीं पड़ता।) सामान्य शुद्ध लेखन इस तथ्य को ध्यान में रखता है कि जिन शब्दों में वही व्यंजन ग्रन्तभिन्न स्थिति में प्रयुक्त होते हैं, उन शब्दों के ग्राकार (रूप) में उन ध्वनियुग्मों में घोष ग्रौर ग्रघोष के बीच भेद नियमित रूप से किया ही जाता है। उदाहरणार्थ, जर्मन के इन दो वाक्यों को लें: '*zum Rade* [रा:ड] *verdrammen*' (चक्र पर ग्रंग भंग या विभंग करना), ग्रौर '*meinem Rate* [रा:ट] *volgen*' (मेरी सलाह मानो)। /ट्/, /ड्/ ग्रौर /प्/, /ब्/ जैसे ग्रघोष ग्रौर सघोष व्यंजनों के बीच विभेद 'ग्रन्त' की स्थिति में 'निर्विषमीकृत' होगया कहलाता है। भाषा के विषय में यह कथन ध्वनिप्रक्रियात्मक है।

किन्तु इस प्रकार के निर्विषमीकरण पर विचार ग्रनेक भिन्न-भिन्न तरीकों से किया जासकता है। कुछ भाषाविद् कहेंगे कि इसमें /t/ वर्ण ही Rad ग्रौर Rat दोनों शब्दों के उच्चरित रूप के ग्रन्त में उपस्थित रहता है। ये लोग Rad (राड्) ग्रौर Rat (राट्) के बीच ग्रन्तर को स्पष्ट करने केलिए, तथा /ड्/ के /ट्/ में रूपान्तरण को बताने केलिए, व्याकरण ग्रौर ध्वनिप्रक्रिया के बीच मध्यपथ के ग्राश्रय से भाषात्मक विवरण प्रस्तुत करते हैं। (ग्राजकल इस प्रकार के वर्णन को 'रूपवार्णिकी' के नाम से कहाजाता है, ग्रौर ग्रादर्श ग्रमरीकी पाठ्यपुस्तकों एवं भाषा-विश्लेषणों में इसका प्रयोग कियाजाता है।) भाषाविदों का एक दूसरा दल कहसकता है कि यह तथ्य कि किसी विचार्य भाषा में कुछ ध्वनिप्रक्रियात्मक विरोध निर्विषमीकरणीय होते हैं, जबकि ग्रन्य ग्रनेक इस प्रकार के नहीं होते, भाषा की ध्वनि प्रक्रिया का इतना प्रमुख ग्रौर ग्राधारभूत लक्षण है कि इसके ग्राधार पर एक ही ध्वनिवैज्ञानिक इकाई के दो विविध प्रकार पहचाने जासकते हैं। इस पद्धति पर सोचनेवाले भाषाविद्, विशेषकर प्राग-मत के, हर स्थिति में ग्रपने पृथक् या भिन्न कार्य को सुरक्षित रखने वाले इन 'वर्णों' के ग्रतिरिक्त एक ग्रन्य वर्ग को 'वर्ण-कल्प' (ग्रार्किफ़ोनीम) का नाम देते हैं, जिसकी सीमा निर्विषमीकरण की इन स्थितियों तक ही सीमित है। इन 'वर्णकल्पों' को प्रत्यंकित करने का सामान्य ग्रौर सुविधा-

जनक तरीका यह है कि इन्हें अंग्रेज़ी में प्रकृत (कैपिटल) रूपों द्वारा (और देवनागरी में तिर्यक् अक्षरों द्वारा) प्रकट कियाजाता है। इस प्रकार /T/ जर्मन में 'वर्णकल्प' है, और /t/ और /d/ से यह इस अर्थ में भिन्न है कि वे पूर्ण वर्ण हैं, यद्यपि पदान्त की स्थिति में नहीं आते। जर्मन शब्द 'Tod' को /toD/ के रूप में अनुलिखित किया जाएगा, जिससे यह स्पष्ट होजाए कि अन्त में आनेवाली यह ध्वनि शब्द के आरम्भ में आने की तत्सदृश स्थिति से, भिन्न क्रम की है। ध्वनिवैज्ञानिक विचार की दृष्टि से पद के आदि या अन्त में आने वाली वाग्-ध्वनियां एक ही हैं (कम-से-कम लिपि में संकोच की एक सीमा तक)। ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से वे एक हैं या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर ध्वनिविज्ञान के किसी विशिष्ट सिद्धान्त का आश्रय लेकर ही दिया जासकता है। जो भाषाविद् इस सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं कि **'एक बार बना 'वर्ण', सदा ही 'वर्ण' रहता है'**, वे कहेंगे कि उक्त ध्वनियां ध्वनिप्रक्रिया की दृष्टि से एक ही हैं। किन्तु, जो भाषाविद् **'वर्ण'** और **'वर्णकल्प'** के बीच विभेदक रेखा खींचते हैं, वे उसकी एकता को स्वीकार नहीं करेंगे। इन अन्तरों के मूल में स्थित सैद्धान्तिक मतभेदों पर हम इस अध्याय में ही बाद में अधिक विचार करेंगे। पाठक के मन में यह शंका जगाने के योग्य पर्याप्त कहदिया गया है (और यह शंका अधिक विचार के साथ-साथ दृढ़ ही होती जाएगी) कि भाषाविद् किसी भाषा की संरचना के विषय में जिन तथ्यों को खोज निकालता है, वे उन सिद्धान्तों पर अनाश्रित रह कर नहीं खोजेजाते, जिनका आधार लेकर वह अपने अध्ययन में प्रवृत्त होता है।

३. ३. ६ वर्णों में विन्यासक्रमात्मक सम्बन्ध

अबतक ध्वनिविज्ञानसम्बन्धी सिद्धान्तों के अपने विमर्श में हम मुख्यतः वाक् के रूपक्रमात्मक आयामों से ही सम्बद्ध रहे हैं (तु०—२. ३. ३)। हमने कहा है कि /**प्**/, /**ब्**/, /**ल्**/, आदि अंग्रेज़ी में, इसलिए विविध वर्ण मानेगए हैं, क्योंकि वे विविध सन्दर्भों में परस्पर रूपक्रमात्मक वैषम्य में पाएजाते हैं। (वैषम्य की सामान्यतर दृष्टि से चर्चा २. २. ९ में पहले ही होचुकी है।) उदाहरणार्थ *'pet'* (**पॆट्**) शब्द में /**प्**/ वर्ण आदिम रूप में एसी स्थिति में प्रयुक्त होता है, जहाँ इसका वैषम्य /**ब्**/, /**ल्**/, आदि के साथ होता है (तु०—*bet, let* आदि से); तथा /**ऍ**/ (/*e*/) वर्ण द्वितीय स्थान पर इस रूप में प्रयुक्त होता है, जिनमें यह /**इ**/, /**ऑ**/ आदि के साथ वैषम्य में स्थित रहता है (तु०—*pit pot*, आदि); तथा /**ट्**/ वर्ण अन्त्य स्थिति में इस प्रकार रहता है, जिसमें इसका वैषम्य /**क्**/, /**न्**/ आदि के साथ स्पष्ट होता है (तु०=*peck, pen* आदि,)। अतः **'पॆट'** (*pet*) शब्द को तीन वर्णों की शृंखला के द्वारा व्यक्त किया जासकता है: /**प्**,/ /**ऍ**,/ /**ट्**/ के द्वारा! इन्हें हम संक्षेप में /**पॆट्**/ कह देते हैं। (वर्णों को शृंखलित-व्यवस्था में आबद्ध करने की बात २. ३. ६ में कही जाचुकी है।)

सरलता की दृष्टि से, हम कल्पित करते हैं कि /*-et*/ के योग में केवल तीन ही वर्ण वैषम्य में स्थित होने सम्भव हैं : /*p*/, /*b*/ और /*l*/; कि /*p-t*/ में केवल तीन ही वर्ण वैषम्य में रह सकते हैं : /e/, /i/ और /o/; तथा /pe-/ में भी केवलमात्र तीन वर्णों में ही वैषम्य होना सम्भव है : /t/, /k/ और /n/ में। इस कल्पना के आधार पर हम निम्न द्वि-आयामी तालिका बना सकते हैं, जिसमें स्थान के क्रम से ऊर्ध्वाधर स्तम्भ प्रथम-द्वितीय-तृतीय वर्णों का प्रतिनिधित्व करते हैं :

/p/	/e/	/t/
/b/	/i/	/n/
/l/	/o/	/k/

क्षैतिज रूप में ये वर्ण विन्यासक्रमात्मक संघातों की सम्भावना को व्यक्त करते हैं (तु०—२. ३. ३)। इस तालिका की व्याख्या इस रूप में कीजाती है : प्रथम पंक्ति में दिए /pet/ शब्द के रूपक्रमात्मक वैषम्य की किसी भी स्थिति में नीचे की दोनों पंक्तियों में से वैषम्यगत अन्य वर्ण स्थानापन्न किया जासकता है; और परिणाम होगा एक नया शब्द ! अतः यह तालिका पिछले अनुच्छेद में वर्णित तथ्यों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करती है। इससे हमें पता चलता है कि निम्न सात विन्यसात्मक वर्ण संघात अंग्रेज़ी के भिन्न-भिन्न शब्द बनाते हैं : /pet/, /bet/, /let/, /pit/, /pot/, /pen/ और /pek/।

इस तालिका की व्याख्या में हमने *pet* शब्द को केन्द्रीय माना है; हमने इसके दो घटक वर्णों को रूपात्मक स्थानापन्नता केलिए सन्दर्भ के रूप में स्थिर रखा है। किन्तु, हम इस तालिका की व्याख्या ऐसे रूप में भी करसकते हैं कि कोई भी शब्द इस रूप में 'केन्द्रीय' न रहे। यदि हम प्रथम स्तम्भ में से किसी भी वर्ण का संघात द्वितीय और तृतीय स्तम्भों के किसी भी वर्ण से, उनके विन्यासात्मक क्रम में, स्वीकार करलें, तब अंग्रेज़ी के अन्य अनेक शब्दों का निर्माण सम्भव है : यथा, **बिन्, बिट्, लिक्, लौक्**, आदि। परन्तु, ऐसा विधान करने पर कुछ शब्द ऐसे भी बनेंगे, जिन्हें अंग्रेज़ी में 'शब्द' नहीं माना जाता : उदाहरणार्थ, /**बिक्**/, /**लौन्**/, आदि। इस स्थल पर हमें यह निर्णय कर ही लेना चाहिए कि अंग्रेज़ी में ऐसे संघात क्या वर्णों के पारस्परिक संघात के विषय में किन्हीं प्रतिबन्धों के कारण स्वीकार्य नहीं होते ? यदि ऐसे कोई प्रतिबन्ध नहीं हैं, तब हमें कहना होगा कि ध्वनिप्रक्रिया की दृष्टि से /bik/ और /lon/ आदि भी अंग्रेज़ी के 'स्वीकार्य' शब्द हैं, जिन्हें भाषा द्वारा क्रियात्मक व्यवहार में नियोजित नहीं कियागया; न ही उन्हें कोई अर्थपरक या व्याकरणात्मक कार्य सौंपागया है। इसप्रकार का 'अप्रयोग' उक्तियों को अनावश्यक घोषित करता है (तु०—२. ४. ५)।

तब भाषा की ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना का निर्धारण निम्न रूप में सोचा

जासकता है। प्रत्येक भाषा 'प्रयुक्त' शब्दराशि से सम्पन्न होती है, जिनमें से प्रत्येक को प्रथमतः ध्वनिप्रक्रियात्मक दृष्टि से 'नियमित' माना जासकता है : अर्थात् वह भाषा में प्रवर्त्तमान ध्वनि-संयोग के कुछ प्रणालीबद्ध नियमों के अनुरूप घटित होता है। भाषाविद् का कार्य उनकी ही ध्वनिप्रक्रियात्मक 'नियमितता' का सहेतुक विवेचन करना है। (सरलता की दृष्टि से हम जानबूझ कर यहाँ 'ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना' सम्बन्धी विचार को सीमित कर रहे हैं, यह मान कर कि ध्वनिप्रक्रिया का कार्य शब्दों की रचना पर, वाक्यों में उनके प्रयोग से स्वतन्त्र रूप में, विचार करना है।) किसी भी 'प्रयुक्त' शब्दसमूह के विचार में भाषाविद् उनकी ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना की व्याख्या उन नियमों के आधार पर करता है, जिनमें उन वर्णश्रेणियों के अनुमत संघातों को बताया होता है, जिनका प्रत्येक अवयव प्रत्येक दूसरी श्रेणी के वर्णों के साथ वैषम्य में स्थित होता है। उदाहरणार्थ, हम कहसकते हैं कि उक्त तालिका में प्रत्येक वर्ण-स्तम्भ निम्न रूप में एक श्रेणी का निर्माण करता है : **क्ष**=(/p/, /b/, /l/); **त्र**=(e/; /i/, /o/), और **ज्ञ**=(/t/, /n/, /k/)। अब हम एक नियम को सूत्रित करसकते हैं : क्रमशः 'क्ष' का कोई अवयव 'त्र' और 'ज्ञ' श्रेणी के किसी भी अवयव से संयुक्त होसकता है। हम देख ही चुके हैं कि यह नियम केवल 'प्रयुक्त' शब्दों की ध्वनिप्रक्रियात्मक नियमितता का ही सहेतुक विवेचन नहीं करेगा, बल्कि इसके द्वारा बहुत से अप्रचलित शब्दों को भी 'नियमित' स्वीकार क़रलिया जाएगा।

अब हम यह मानलेते हैं कि हमने इस प्रकार के नियमों का एक पूरा विन्यास बनालिया है, जो अंग्रेज़ी की विविक्त ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना वाली, शब्द-श्रेणी की 'नियमितता' को घोषित करता है; किन्तु उनमें से प्रत्येक बहुत से 'अप्रयुक्त शब्दों' को भी नियमित घोषित करता है। अंग्रेज़ी के 'प्रयुक्त' शब्दों की तुलना में ध्वनिप्रक्रिया की दृष्टि से उन्हीं नियमों द्वारा 'नियमित' माने गए इन अप्रयुक्त शब्दों को हम 'शक्य' कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त, वर्णों के अन्य अनेक ऐसे संघात भी होंगे (यथा, /pta/, /atp/, आदि, तु०—२. ३. ६), जिन्हें ध्वनिप्रक्रियात्मक नियम प्रत्यय या अप्रत्यक्ष रूप में 'अनियमित' और निराकृत सिद्ध कर देंगे।

३. ३. ७ 'प्रयुक्त' और 'शक्य' ध्वनिप्रक्रियात्मक शब्द

यह सोचा जासकता है कि कदाचित् ध्वनिप्रक्रियात्मक नियमों की आदर्श प्रणाली यह होती कि उनके द्वारा केवल वे ही शब्द 'नियमित' सिद्ध होते जो वास्तव में **'प्रयुक्त'** हैं, अन्य नहीं। क्रियात्मक दृष्टि से ऐसे नियमों का निर्माण असम्भव होने के अतिरिक्त सैद्धान्तिक दृष्टि से भी यह वांछित नहीं है कि **'प्रयुक्त'** और **'शक्य'** के इस विभेद को मिटादिया जाए। 'प्रजनक व्याकरण' पर विचार के प्रसंग में हम फिर इस विषय पर लौटेंगे (तु०—४. २. २)। यहाँ तो इतना कहदेना ही पर्याप्त है कि ध्वनिप्रक्रिया में **'नियमित'** की सीमा केवल 'वस्तुतः प्रयुक्त' तक

सीमित करदेने का प्रयत्न दो समान महत्त्वपूर्ण दृष्टियों से असफल सिद्ध होगा।

बहुत सी भाषाओं की शब्दराशि में ऐसे अनेक शब्द विद्यमान होंगे, जो ध्वनि-प्रक्रिया की दृष्टि से इसलिए अनियमित होंगे कि वे भाषा के अधिकांश शब्दों की विशिष्ट रूप-रचना के प्रतिरूपों के अनुकारी नहीं होंगे। सम्भव है वे दूसरी भाषा से आगत हों और अबतक इस भाषा में पूरीतरह आत्मसात् न हुए हों; और या सम्भव है वे ध्वन्यनुकरणात्मक हों (तु०—१. २. २)। यद्यपि सिद्धान्ततः भाषाविद् की प्रवृत्ति आपाततः यह मानने की होती है कि किसी भाषा के वक्ताओं द्वारा बोले जानेवाले सभी शब्द ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से 'नियमित' ही होते हैं। किन्तु वह विशिष्ट शब्दों के विषय में अपनी मान्यता में सुधार करने को भी उद्यत रहता है; यदि वह यह अनुभव करे कि वह उन्हें उन नियमों के अन्तर्गत लाने में असमर्थ रहा है, जिनको उसने शब्दराशि के अधिकांश शब्दों केलिए बनाया है। और वह शीघ्र ही उन्हें **अनियमित** कहने को भी उत्सुक रहेगा, यदि देशी वक्ता इस बात पर सह-मत हों कि उन शब्दों के विषय में कुछ 'असाधारण' या 'बाह्य' बात दिखाईदेती है।

किन्तु केवल 'प्रयुक्त' शब्दों को 'नियमित' कहने से एक और भी त्रुटि होती है। बहुत से अप्रचलित वर्णसंघात ऐसे होंगे, जिन्हें देशी वक्ता, अन्यों की अपेक्षा, अधिक सामान्य मानने को उत्सुक रहेंगे; क्योंकि वे केवल उच्चारण में ही अधिक सुकर नहीं हैं, बल्कि आकृति में भी भाषा के अन्य शब्दों से साम्य रखते हैं। भाषा के ध्वनिप्रक्रियात्मक विचार में इन बातों का भी ध्यान रखाजाना चाहिए, यद्यपि उन्हें निर्धारक भी नहीं मानलेना चाहिए। उदाहरणार्थ, यह अवधेय है, और ऐसा कई बार कहा भी गया है, कि निरर्थक कविता लिखनेवाले लेखक (लेविस कैरल और एडवर्ड लीयर, आदि) प्रायः ही ऐसे शब्दों की रचना करते हैं, जो भाषा में प्रयुक्त शब्दों की ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना से मेलखाते हैं। यही बात निर्मित वस्तुओं के विशिष्ट नामों पर भी लागू होती है। अतः भाषा के ध्वनिप्रक्रियात्मक नियमों की आदर्श प्रणाली उसे कहाजाएगा, जो न केवल शब्दराशि के अधिकांश प्रयुक्त शब्दों को ही नियमित घोषित करे, बल्कि उन अनेक शब्दों को भी, जिन्हें देशी वक्ता **'सम्भव'** या **'शक्य'** मानने को तैयार हों। यह कहना अनावश्यक है कि इस विषय में पर्याप्त विवाद की सम्भावना है कि लक्षण-वर्णन की शुद्धता का क्या अर्थ है? बात यह है कि **'नियमितता'** को केवल उन नियमों की दृष्टि से ही वर्णन किया जासकता है, जो ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाइयों के अनुमत संघातों को विशिष्ट रूप में विधान करते हों। भाषात्मक वर्णन के हर स्तर पर यह बात उचित ठहरती है (तु०—४. २. ३)।

३. ३. ८ विभेदक लक्षण

अबतक हम यह मानकर चले हैं कि भाषा के वर्णों का अधिक विश्लेषण सम्भव नहीं है। अर्थात्, वर्ण भाषा के न्यूनतम अभिव्यक्ति-अवयव हैं। यह धारणा

अबतक भी भाषाविज्ञान की आदर्श पाठ्यपुस्तकों में व्यक्त कीजाती है; यद्यपि इसका प्रतिवाद तीस से भी अधिक वर्ष पूर्व प्राग सम्प्रदाय के **ट्रुबेत्ज़कोइ, जैकब्सन**, तथा अन्य कई लोगों ने किया था। ध्वनिप्रक्रिया के प्रति उनकी दृष्टि ने अभी हाल में केवल यूरोप में ही नहीं (जहाँ कि यह पहले ही काफ़ी लोकप्रिय होचुकी है) अमरीका में भी अनेक को अपना अनुगामी बनाया है।

ट्रुबेत्ज़कोई और उनके अनुयायियों की मान्यता के अनुसार वर्णों का अधिक विश्लेषण कुछ विभेदक लक्षणों के आधार पर सम्भव है। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी के निम्न नौ वर्णों को ले सकते हैं: /k/, /g/, /ṅ/, /t/, /d/, /n/, /p/, /b/, /m/। जिन शब्दों के **आदि** और **अन्त** में वे उपस्थित रहते हैं, उनके कुछ सामान्य उदाहरण निम्न हैं :

तालिका-५

/k/	kill,	lack	/p/	pet, cap	/t/	top,	cat
/g/	gull,	peg	/b/	bid, hub	/d/	doll,	kid
/ṅ/	—	song	/m/	man, ham	/n/	net,	pan

/ṅ/ (ङ) की पंक्ति में अन्तर की व्याख्या इस तथ्य से होजाती है कि यह वर्ण शब्द के आदि में प्रयुक्त नहीं होता। ऊपर वर्णित वर्णात्मक सिद्धान्त की व्याख्या के अनुसार ये सभी नौ वर्ण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। ध्वनि-सम्बन्धी विचार ध्वनिकल्पजन्य वर्णपरिवर्त्तन से ही सम्बद्ध है, जिसमें पूरक वितरण वाली ध्वनियों का समूहन इस रूप में होता है, मानों वे एक ही वर्ण के सन्दर्भ-निर्धारित दो 'परि-वर्त्ती' हों। वर्णों को परस्पर आबद्ध करनेवाले सम्बन्धों के विषय में उनका महत्त्व नहीं है। **हौकेट** के शब्दों में : "...यह बात निरन्तर स्मर्त्तव्य है कि किसी भाषा के वर्ण की परिभाषा उसी भाषा के अन्य वर्णों से इसके विभेदों के आधार पर ही की जासकती है।" प्राग-सम्प्रदाय के ध्वनिप्रक्रियाविद् इस वक्तव्य में यह संशोधन करना चाहेंगे कि प्रत्येक वर्ण की परिभाषा उसी भाषा के अन्य वर्णों के साथ इसकी समता और भिन्नता के रूप में की जासकती है।

ऊपर निर्दशित अंग्रेज़ी के नौ व्यंजन वर्णों में हम सात लक्षणों, या घटकों, को पहचान सकते हैं, जिन्हें निम्न नाम दिये जासकते हैं (इनका उद्‌भव इनके ध्वनिकल्पों के उच्चारणात्मक ध्वनिविज्ञान पर आधारित आंशिक वर्णन से हुआ है) : **कण्ठ्य, ओष्ठ्य, दन्त्य** (या वर्त्स्य); **अघोष, सघोष; मुखगत, अनुनासिक**। इनमें **सघोष** और **अघोष** के भेद को 'घोष' लक्षण की उपस्थिति या अनुपस्थिति का विभेद माना जासकता है; और **मुखगत एवं अनुनासिक** का अन्तर 'सानुनासिकता' की उपस्थिति या अनुपस्थिति का अन्तर माना जासकता है। यदि हम कण्ठ्य, **ओष्ठ्य** और **दन्त्य-वर्त्स्य घटकों** को अनाश्रित या स्वतन्त्र लक्षण मानें, जिनमें से

प्रत्येक या तो उपस्थित रहसकता है या अनुपस्थित, तब हम उक्त नौ व्यंजनों का विश्लेषण इन दो मूल्य वाले पाँच 'परिवर्त्तियों' के रूप में करसकते हैं : **ओ** (ओष्ठ्य), **क** (कण्ठ्य), **द** (दन्त्य), **घो** (घोष), और **ना** (अनुनासिकता); और दोनों मूल्य हैं : **भावात्मक** (उपस्थिति) और **अभावात्मक** (अनुपस्थिति) ! हम **१** और **०** के रूप में द्वि-अंकी पद्धति द्वारा **भावात्मक** और **अभावात्मक** मूल्यों को व्यक्त करेंगे ।

इन अंकनात्मक प्रचलनों से हम इन नौ व्यंजनों में से प्रत्येक को द्वि-आयामी तालिका में मूल्यों के एक स्तम्भ के रूप में परिणत करसकते हैं (तु० तालिका ६) :

तालिका-६

[अंग्रेज़ी के स्पर्श व्यंजनों के उच्चारण स्थानीय अभिलक्षण]

	/k/	/g/	/ṅ/	/p/	/b/	/m/	/t/	/d/	/n/
ओ	०	०	०	१	१	१	०	०	०
क	१	१	१	०	०	०	०	०	०
द	०	०	०	०	०	०	१	१	०
घो	०	१	१	०	१	१	०	१	१
ना	०	०	१	०	०	१	०	०	१

उदाहरणार्थ, /k/ के स्तम्भ का अंकन ऊर्ध्वाधर क्रमशः ०१००० है, और /g/ का ०१०१० है, इत्यादि । यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रत्येक वर्ण अन्य से पाँच परिवर्त्ती लक्षणों में से कम कम एक मूल्य की दृष्टि से अवश्य ही भिन्न है ।

अब हमें कार्यात्मक और अ-कार्यात्मक मूल्यों के बीच भी विभेद करलेना चाहिए । /k/ और /g/ में ध्वनिवैज्ञानिक वैषम्य केवल परिवर्ती 'घो' की भावात्मक या अभावात्मक सत्ता पर टिका हुआ है । यही बात /p/ और /b/ एवं /t/ और /d/ के वैषम्य पर भी लागू होती है । अतः अंग्रेजी के मुखगत स्पर्श व्यंजनों में घोष-अघोष का विरोध एक न्यूनतम कार्यात्मक वैषम्य है । अतः यह विभेदक लक्षण है । दूसरी ओर, /ṅ/ का /k/ और /g/ से, /m/ का /p/ और /b/ से, एवं /n/ का /t/ और /d/ से स्पष्ट भेद उनके **ना** (सानुनासिकता) के भावात्मक मूल्य के कारण हैं । किन्तु अंग्रेजी की ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना के सम्बन्ध में यह तथ्य उपेक्षणीय भी है कि /ṅ/, /m/ और /n/ की उपलब्धि 'घोष' के साथ भी होती है । अंग्रेज़ी शब्दों की ध्वन्यात्मक उपलब्धि में 'अनुनासिकता' पहले से ही 'घोषवत्ता' को मानकर, या निर्धारित करके, चलती है । ऐसा कोई अंग्रेज़ी शब्द नहीं है, जो 'सघोष अनुनासिक' के रूप में विभिन्न पहचाना जाता हो । इस अर्थ में, अनुनासिकता के साथ आने पर 'घोष' **अकार्यात्मक** होजाता है । इसीतरह क्योंकि कोई ऐसा

व्यंजन नहीं है, जो एक ही समय में कण्ठ्य और ओष्ठ्य, ओष्ठ्य और दन्त्य, अथवा दन्त्य और कण्ठ्य, आदि के रूप में हो अतः **कण्ठ्य, दन्त्य और ओष्ठ्य** में से किसी एक का भावात्मक मूल्यांकन शेष दोनों के अभावात्मक मूल्य को निर्धारित कर देता है। अतः हम एक नई तालिका बुन सकते हैं, जिसमें '+' चिह्न को भावात्मक केलिए और '–' को अभावात्मक के लिए प्रयुक्त किया जासकता है। जहाँ '+' और '—' दोनों का ही अंकन न हो, उसे 'अकार्यात्मकता' का सूचक गिना जासकता है (दे०, तालिका-७)। अब हम उन सभी नौ व्यंजनों को, जिनकी हम अबतक चर्चा करते रहे हैं, एक दूसरे से दो या तीन विभेदक लक्षणों के आधार पर विभिन्न रूप में पहचान सकते हैं।

तालिका-७

[अंग्रेज़ी स्पर्श व्यंजनों के विभेदक अभिलक्षण]

	/k/	/g/	/ṅ/	/p/	/b/	/m/	/t/	/d/	/n/
ओ				+	+	+			
क	+	+	+						
द							+	+	+
घो	—	+		—	+		—	+	
ना	—	—	+	—	—	+	—	—	+

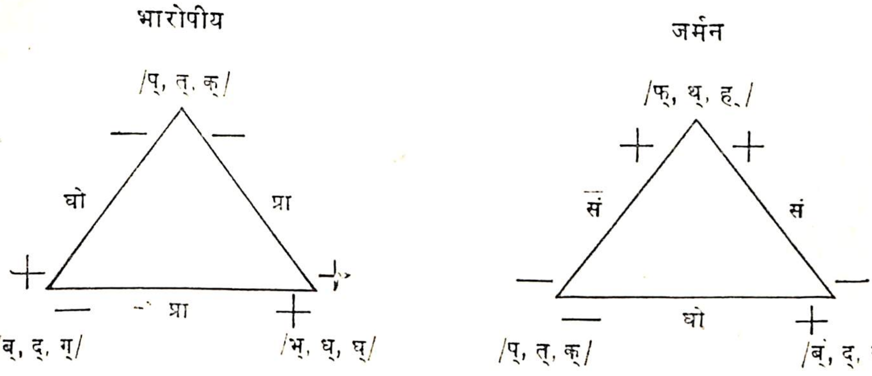
इस पद्धति का लाभ यह है कि यह हमें अधिक प्रणालीबद्ध रूप में और अधिक लाघव के साथ वर्णों की किसी विशिष्ट श्रेणी के वितरण पर लगे प्रतिबन्धों को बताने में समर्थ करती है। उदाहरणार्थ, यद्यपि अंग्रेज़ी के अनेक शब्द हैं, जिनके आदि में दो स्थानों पर /sp/, /sk/, या /st/ की उपस्थिति पाईजाती है (यथा, (spot, skip, step); किन्तु ऐसा एक भी शब्द नहीं है जिसके आरम्भ के दो स्थानों पर /sb/, /sg/ या /sd/ की उपस्थिति पाईजाती हो। पर्याप्त स्पष्ट है कि /p/, /k/, /t/ के संघातात्मक गुणों में यह घटना 'आकस्मिक' या 'सांयोगिक' नहीं है; और न ही /b/, /g/, /d/ के साथ ही ऐसा सांयोगिक रूप में हुआ है। इन छहों जगह छह स्वतन्त्र तथ्य बताने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि छहों जगह एक ही सत्य लागू होता है : **'/s-/ के सन्दर्भ में घोष और अघोष व्यजनों के बीच विभेद 'अकार्यात्मक' है।'** इस प्रकार के अन्य भी अनेक सन्दर्भ हैं, जिनके विषय में हम यह कहना चाहेंगे कि वहाँ वर्णों के एक विन्यास और दूसरे विन्यास के बीच विभेद **'अकार्यात्मक'** है।

३.३.९ विभेदक अभिलक्षणों की दृष्टि से 'ग्रिम-नियम' का पुनःसूत्रण

इससे बढ़कर, भाषाओं के कालक्रमिक वर्णन में ध्वनिप्रक्रियात्मक विकास को, जिसे अन्यथा विशिष्ट वर्णों पर स्वतन्त्र रूप में क्रियारत 'ध्वनि-नियमों' के द्वारा समझाया जाता है, इन विभेदक लक्षणों द्वारा अधिक सन्तोषजनक रूप में समझाया जासकता है। वस्तुतः, इसप्रकार का सूत्रण उस वक्तव्य में ही अन्तर्निहित था, जो प्रथम अध्याय में 'ग्रिम-नियम' के सम्बन्ध में दिया गया था। नीचे के आरेख-४ में इसे स्पष्ट कर दिया गया है, जिसमें '**+प्रा**' का अर्थ 'सप्राणता' या '**महाप्राणता**' से है (इसके विरोध में '**—प्रा**' का अर्थ सप्राणता का अभाव या '**अल्पप्राणता**' से है), और '**+सं**' का अर्थ है 'संघर्षण' (स्पर्श वर्णों में विद्यमान पूर्ण अवरोध की तुलना में आंशिक अवरोध, जैसा कि 'संघर्षी' वर्णों में होता है: तु०-३.२.६)। यह '**ग्रिम-नियम**' का अत्यन्त साधारणीकृत प्रतिनिधान है; और इसमें कुछ ऐसी मान्यताएँ अन्तर्हित हैं, जिनका सम्बन्ध भारोपीय व्यंजन-प्रणाली की पुनःरचना से है। परन्तु, यहाँ हमें इनका वर्णन अभीष्ट नहीं है। निदर्शन का प्रयोजन इससे अवश्य पूर्ण होगा।

आरेख-४

[विभेदक लक्षणों की भाषा में 'ग्रिम-नियम'।]



सर्वप्रथम तो यह बात ध्यान आकृष्ट करेगी कि जिन्हें सामान्यतः **एक-एक** वाक्-ध्वनियाँ (यथा, [प्], [ग्]) मानाजाता है, उन्हें भारोपीय और जर्मनीय परिवारों में विभेदक लक्षणों की दो भिन्न प्रणालियों के माध्यम से वर्णित किया जाता है। उदाहरणार्थ, प्रथम प्रणाली में [प्] का [ब्] से विरोध **अघोष** का **घोष** से विरोध है, जबकि [भ्] से उसका विरोध **अल्पप्राण** का **महाप्राण** से विरोध है। जर्मनीय प्रणाली में [प्] का [फ्] से विरोध असंघर्षी का संघर्षी से विरोध है, जब कि [ब्] से उसका विरोध अघोष और घोष के बीच का है। **सप्राणता** की उपस्थिति या अनुपस्थिति

'भारोपीय' का तो विभेदक लक्षण है, 'जर्मनीय' का नहीं। उधर, संघर्षण की उपस्थिति या अनुपस्थिति 'जर्मनीय' का मुख्य विभेदक लक्षण है, 'भारोपीय' का नहीं। **कण्ठ्य, दन्त्य,** आदि लक्षणों को इसलिए नहीं कहा गया, क्यों कि वे उभयत्र समान हैं। (वर्णविज्ञान की दृष्टि से 'फ़्' को ओष्ठ्य और 'ह्' को कण्ठ्य माना जाता है)। इस विश्लेषण की दृष्टि से 'ग्रिम-नियम' को तीन नियमों के रूप में कहा जासकता है, जो विभेदक लक्षणों के आधार पर कार्य कर रहे हैं: (१) —घो→ +सं, (२)+घो→—घो, (३) +प्रा→—प्रा। इसका यह अर्थ नहीं कि तीन स्वतन्त्र और भिन्नकालिक विकास हुए। फिर भी, सरलता केलिए हम कहसकते हैं कि वर्णों की उपलब्धि में ध्वनिपरक परिवर्तन निम्न क्रम में हुए। (१) कुछ स्थितियों में, विशेषकर शब्द के आदि में, /प्/, /त्/, /क्/ की उपलब्धि [फ्], [थ्] [ह् (ख़्)] के रूप में होने लगी। इसका अर्थ यह कि अब उनका अन्तर /ब्/, /द्/, /ग्/ से अघोष-घोष एवं संघर्षी-असंघर्षी दोनों रूपों में होने लगा। इस सरलीकरण की धारणा के अनुसार इस काल्पनिक चरण में 'अघोष-संघर्षी' को वर्णात्मक दृष्टि से एक ही विभेदक लक्षण की संसृष्ट ध्वन्यात्मक उपलब्धि के रूप में कहा जासकता है। (२) किन्तु, बाद में या सहवर्त्ती रूप में /ब्/, /द्/, /ग्/ के रूप में इनकी उपलब्धि होने लगी। किन्तु इस ध्वनिगत उपलब्धि में 'घोष' का अभाव था। अतः /प्/ और /ब्/ के बीच अन्तर ध्वनि की दृष्टि से [फ्] और [प्] के बीच अन्तर के समान रह गया। और, बाद में या सहवर्ती रूप में /ब्/ और /भ्/ के बीच अन्तर करने वाली **'सप्राणता'** अकार्यात्मक होती गई है (और इसीलिए विनष्ट भी), जब कि इन व्यंजन-युग्मों का विभेद घोष के वैषम्य से होने लगा।

कालक्रमिक विकास का यह संक्षेप इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भी प्रदर्शित करता है कि वे ही 'वाक्-ध्वनियाँ' विविध भाषाओं में विभेदक लक्षणों के विविध संयोग ग्रहण करती हैं। उदाहरणार्थ, भारोपीय में [प्] के मूल्य—**घो** और—**प्रा** माने गए हैं; किन्तु जर्मनीय में ये हैं—**सं** और—**घो** के रूप में। (यह सम्भव है कि दोनों ही स्थितियों में कोई एक मूल्य **'अकार्यात्मक'** हो। हम इस प्रश्न पर विचार नहीं करेंगे, क्योंकि इसमें 'भारोपीय' और 'जर्मनीय' वर्णात्मक प्रणाली का अधिक व्यापक विचार अपेक्षित होगा; और साक्ष्य की व्याख्या सदा ही सरल नहीं होती।)

इस उदाहरण के सम्बन्ध में एक बात और कही जा सकती है। पाठकों को यह भ्रमावह ही लगा होगा कि पूर्वगामी अनुच्छेद में 'ग्रिम-नियम' का वर्णन **ध्वनि-विज्ञान** से हटाकर **ध्वनिप्रक्रिया** के माध्यम से निष्प्रयोजन रूप में ही करदिया गया है। जैसा कि हम प्रथम अध्याय में ही देख आए हैं कि 'ग्रिम-नियम' उस ध्वनि-प्रक्रियात्मक सन्दर्भ से स्वतन्त्र रहकर कार्य नहीं करता, जिसमें कि व्यंजन उपस्थित होते हैं। सर्वप्रथम तो यह वर्नर द्वारा वर्णित **स्वरगत प्रतिबन्धों** से **'प्रतिबद्ध'** है (तु०-१. ३. ११), तथा शब्द के आदि में /स्/ की उपस्थिति से भी। परिणामतः, ध्वन्यात्मक परिवर्त्तन से परिणत कुछ 'अघोष संघर्षी' ([प्]→[फ्], आदि)

बाद में 'सघोष' रूप में परिणत हुए (या तो सघोष स्पर्शों के रूप में या फिर सघोष संघर्षी के रूप में : किसी भी स्थिति में वे उन व्यंजनों से एकाकार थे, जिनकी परिणति [भ्]→[ब्] आदि के रूप में हुई); जबकि शब्द के आदि में स्थित [स्प्] आदि समूह [स्फ्] आदि में परिणत न होकर ध्वनि की दृष्टि से अपरिवर्त्तित ही रहे। उस समय क्या हुआ होगा, इस बात को निम्न प्रणालीबद्ध प्रतिनिधि निदर्शन के द्वारा समझाया जासकता है। ये शब्द जानबूझकर घड़े गए हैं, ताकि बाह्य बाधाओं को बिना प्रविष्ट किये अन्तर्हित सिद्धान्तों को प्रदर्शित किया जासके :

	प्रथम चरण		द्वितीय चरण
(१)	[बेद्]	→	[पेत]
(२)	[पेब्]	→	[फ़ेप]
(३)	[स्पेद्]	→	[स्पेत]
(४)	[देपर्]	→	[तेफ़र्]
(५)	[देपर्]	→	[तेबर्]
(६)	[पेभर्]	→	[फेबर्]

यह अवधेय है कि इनमें से प्रथम चरण में उदात्तादि स्वर प्रदर्शित किए गए हैं। ये उदाहरण वर्नर-नियम के औचित्य प्रदर्शन के लिए दिये गए हैं, जिसके अनुसार (४) में [प्] का परिवर्तन [फ़्] में होता है किन्तु (५) में [ब्] में होता है। परिणामतः, **प्रथम चरण** में जहाँ (४) और (५) मध्य व्यंजन के रूप में एक ही व्यंजन [प्] से युक्त हैं और इस बात में (६) से भिन्न हैं, वहाँ **द्वितीय चरण** में (५) और (६) में मध्य-व्यंजन एक ही हैं, और वे दोनों (४) से इस बात में भिन्न हैं। प्रथम चरण में जहाँ (३) में [स्] के बाद का व्यंजन (२) के आदि में आने वाले व्यंजन से एकरूप है, वहाँ द्वितीय चरण में यह (१) के आदिम व्यंजन से एकरूप है। अतः यदि हम प्रत्येक प्रणाली को दूसरे से स्वतन्त्र रखकर वर्णन करें, तब हम कहेंगे कि इनमें वर्णों का वितरण पर्याप्त भिन्न है। किन्तु, यदि ध्वनि-परिवर्त्तन किसी वर्णविशेष के किसी अन्य वर्ण के साथ विन्यासात्मक या रूपक्रमात्मक सम्बन्धों को प्रभावित रखकर ही घटित होते, तब हम कहते कि दोनों प्रणालियाँ, अपनी ध्वनिक उपलब्धि के रहते भी, ध्वनिप्रक्रिया की दृष्टि से समाकृति ही हैं (तु० २. २. १)।

३. ३. १० निर्विषमीकरण : 'चिह्नित' और अचिह्नित संज्ञाओं की दृष्टि से

अंग्रेजी के स्पर्श व्यंजनों पर विचार के प्रसंग में हमने कहा था कि **'+घो'** और **'—घो'** के बीच विभेद /s-/के सन्दर्भ में अकार्यात्मक हो जाता है। यह स्पष्ट होजाएगा कि 'अकार्यात्मक' शब्द की यह व्याख्या उससे भिन्न है, जो इससे पहले

तब की गई थी, जब हमने यह कहा था कि '+घो' और '—घो' का विभेद '+ना' के संयोग में अकार्यात्मक रहता है (तु० ३. ३. ८)। एक उदाहरण में 'घोष' की उपस्थिति या अनुपस्थिति एक विभेदक लक्षण की एक ही वर्ण के घटक के रूप में समकालिक उपस्थिति के कारण अकार्यात्मक होजाती है; जबकि दूसरे में इसकी समधिकता उस सन्दर्भ से निर्धारित होती है; जिसमें वह वर्ण उपस्थित रहता है। इस प्रकार की सन्दर्भ-निर्धारित समधिकता को ही 'निर्विषमीकरण' कहाजाता है। अर्थात्, /s-/ के सन्दर्भ में **घोष** का वैषम्य निर्विषमीकृत होजाता है। जैसा कि हमने देखा है, प्राग-सम्प्रदाय के ध्वनिप्रक्रियाविद् (कम से कम इस सिद्धान्त में पूर्वतर वक्तव्यों में) कहते हैं कि /स्प/ में /प्/ वर्ण स्थित नहीं है, बल्कि वर्णकल्प /प्/ है (तु० ३. ३. ५)।

'निर्विषमीकरण' की यह धारणा (केवल ध्वनिप्रक्रिया में ही नहीं, बल्कि व्याकरण और अर्थविचार में भी) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह किसी वैषम्य के 'अंकित' और 'अनंकित' पदों के विभेद के साथ सहसम्बद्ध है (तु० २. ३. ७)। सामान्यतः, वह एक 'अनंकित' (अचिह्नित) पद ही है, जो 'निर्विषमीकरण' की स्थिति में आता है। हमने जानबूझकर इस तथ्य को तालिका-७ में भावात्मक और अभावात्मक मूल्यों का निर्धारण करते हुए ध्यान में रखा था। (भारोपीय और जर्मनीय प्रणालियों पर विचार-प्रसंग में इन मूल्यों का निर्धारण अधिक समस्यापूर्ण है, और उस पर कुछ नियन्त्रण के साथ ही विचार किया जासकता है।) **'अघोष'** की उपस्थिति की जगह **'घोष'** की विद्यमानता को ही भावात्मक मूल्य का लक्षण माना गया था, क्योंकि अघोष स्पर्श व्यंजन ही निर्विषमीकरण की स्थिति में वर्णकल्प की स्थिति पाते हैं; उदाहरणार्थ /s-/ में।

३. ३. ११ विभेदक-लक्षण-वाद के विषय में हाल की प्रगति

विभेदक-लक्षण-सम्बधी सिद्धान्त के विषय में हुई, जैकबसन आदि के नाम से सम्बद्ध, आधुनिक प्रगति तीन मुख्य प्रवृत्तियों की दृष्टि से विशिष्ट है। प्रथम प्रवृत्ति रही सभी भाषाओं के ध्वनिप्रक्रियात्मक ढाँचे के विश्लेषण केलिए विभेदक लक्षणों के अपेक्षाकृत एक छोटे विन्यास की स्थापना के यत्न के रूप में। **दूसरी प्रवृत्ति** रही विभेदक लक्षणों के ध्वनिवैज्ञानिक सहसम्बद्धों की (अर्थात्, उनकी द्रव्यात्मक उपलब्धि की, तु० २. २. ५) व्याख्या के रूप में; यहाँ की गई उच्चारणात्मक विधि से नहीं, बल्कि श्रवणिक रूप में आधारित कोटियों के रूप में (अधिक उचित कथन यह होगा : 'ऐसी कोटियों की दृष्टि से, जिनकी व्याख्या श्रवणिक और उच्चारणात्मक—दोनों—दृष्टियों से सम्भव है)। **तीसरी प्रवृत्ति** रही सभी वैषम्यों की एक या दो द्विमूल्यीय लक्षणों के आधार पर व्याख्या करना। उदाहरणार्थ, इसके आधार पर यह भी कहा जासकता है कि /प्/ और /क्/ में समान रूप में कोई मूल्य भावात्मक या अभावात्मक है, जो उन्हें /ट्/ से भिन्न सिद्ध करता है; न कि वह कथन

कि जिसे हमने पहले कहा है : **तीनों में से प्रत्येक शेष दो से अपने एक ऐसे भावात्मक लक्षण (ओ, क या द) के कारण भिन्न है, जोकि अन्य दो में है भी नहीं और वे सम्भवतः इससे युक्त हो भी नहीं सकते;** कम से कम जहाँ तक **ओष्ठ्य**, **कण्ठ्य**, **दन्त्य**, आदि उच्चारण-ध्वनिक-सम्बद्ध संज्ञाओं की आदर्श व्याख्या का प्रश्न है।

गत अनुच्छेद में बताई गई तीनों प्रवृत्तियाँ इस तरह संकुचित की जासकती हैं : (१) **सार्वभौमिकतावादी,** (२) **श्रवणाधारित** और (३) **द्विमूल्यवादी**। तीनों ही वर्त्तमान काल में अत्यधिक विवादास्पद हैं। इस प्रकार की आरम्भिक प्रकृति की पुस्तिका में उनका नामनिर्देश से बढ़कर वर्णन करना अनुचित ही रहेगा।

३. ३. १२ ध्वनिगुणात्मक विश्लेषण

अब हमें ध्वनिप्रक्रिया की ओर एक तीसरी पहुँच का भी विश्लेषण करलेना चाहिए। इसे **ध्वनिगुणिक विश्लेषण** कहसकते हैं। पिछले बीस सालों में लन्दन में **फ़र्थ** और उनके अनुयायी इसका प्रयोग करतेरहे हैं। यह अन्य ध्वनिप्रक्रियात्मक सिद्धान्तों से इस बात में भिन्न है कि इसमें वर्ण को कोई स्थान प्राप्त नहीं है : न तो विश्लेषण की न्यूनतम इकाई के रूप में और न ही विभेदक लक्षणों के 'जटिल' (संसृष्ट) के रूप में। अन्यथा, हम देखेंगे कि ध्वनिप्रक्रिया के प्राग-सम्प्रदाय के साथ यह समान है। उदाहरण के लिए हम तुर्की भाषा को लेंगे। इसमें एक लाभ यह है कि इनसे हम **'स्वरसंनादिता'** की घटना को भी समकाल ही चित्रित कर सकते हैं, जोकि एक या दूसरे रूप में अनेक भाषाओं में पाईजाती है। इससे हमें इस खण्ड में दिए तुर्की के उदाहरणों को समझने में भी सरलता रहेगी।

३. ३. १३ तुर्की में स्वर-संनादिता (स्वर-संगति)

आदर्श साहित्यिक तुर्की के लिए अपनाई गई शुद्धलेखन प्रणाली आठ स्वरों को स्वीकार करती है : i, ī, ü, u, e, a, ö और o (इ, ई, उ, ऊ, ए, अ, ओ॑, ओ)। उच्चारण-स्थानों की दृष्टि से इन आठ स्वरों को निम्न तीन वैषम्यों में बाँटा जा सकता है : **उच्च-निम्न, पश्च-अग्र, और वर्त्तुलित-अवर्त्तुलित** (तु० ३.२.५)। सरलता के लिए हम 'उच्च' (**उ**) की तुलना में **निम्न** को **अभावात्मक** मानेंगे। इसी प्रकार 'पश्च' (**प**) की तुलना में 'अग्र' को, एवं वर्त्तुलित (**व**) की तुलना में 'अवर्त्तुलित, को अभावात्मक कहेंगे। किन्तु, यहाँ 'अभावात्मक' और 'भावात्मक' शब्दों से किसी भी प्रकार 'चिह्नित' और 'अचिह्नित' का अभिप्राय नहीं लेना चाहिए। अब क्योंकि इन आठों में से प्रत्येक स्वर शेष सभी के साथ एकाच् शब्दों में वैषम्य में स्थित है, उन्हें आठ विभिन्न वर्ण स्वीकार किया जासकता है, जिनका अधिक विभाजन विभेदक लक्षणों में होसकता है; जैसा कि तालिका-८ में दिखाया गया है :

तालिका-८

[तुर्की के स्वर-वर्ण]

	/इ/	/ई/	/ऊ/	/उ/	/ए/	/अ/	/ओ/	/ओँ/
उ	+	+	+	+	—	—	—	—
प	—	+	—	+	—	+	—	+
व	—	—	+	+	—	—	+	+

किन्तु, तुर्की की यह विशेषता है कि स्वर-संनादिता का यह नियम सारे शब्द में कार्यान्वित होता है। यह इस अर्थ में : (१) शब्द के सभी एकाच् **प** का समान ही मूल्य लेते हैं; और (२) **व** लक्षण भावात्मक मूल्य को शब्द के केवल प्रथम एकाच् और उच्च स्वर (+उ) वाले प्रत्ययों में ही ग्रहण करसकता है। सामान्य सिद्धान्तों के इस सूत्रण के अपवाद भी हैं। ये अपवाद दो श्रेणियों में विभक्त हैं : **(क) उधार शब्द** (उदा०-**'सालने'**=ड्राइंग रूम या बैठक, जिसके द्वितीय अच् में **'+व'** है, और प्रथम में **'—व'** है; **'किताप्'**=पुस्तक, जिसके प्रथम अच् में **'—प'** है, और द्वितीय में **'+प'** है); और (ख) वे शब्द, जिनके प्रत्यय **असंनादी** होते हैं (यथा, **सेव्-इयोर**=वह प्यार करता है, में **'इयोर'** प्रथम अच् इस रूप में संनादी है कि यह भी 'सेव्' की तरह **'—प'** और **'—व'** से युक्त है, किन्तु द्वितीय 'अच्' संनादी नहीं है, क्योंकि यह **'+प'** और **'+व'** से युक्त है)। तुर्की शब्दों की सामान्य संरचना की दृष्टि से शब्दों की ये दोनों श्रेणियाँ 'अनियमित' हैं (तु०-३. ३. ७)। प्रथा के रूप में यह कहाजाता है कि **'प'** और **'व'** के मूल्यों का निर्धारण पूर्वगामी 'अच्' में उनके मूल्य पर निर्भर करता है। और यह कहना युक्तिसंगत है कि तुर्की में स्वर-संनाद अग्रगामी है, पश्चगामी (या प्रतिगामी) नहीं ('अग्रगामी' अनुबन्धन केलिए देखें, २. ४. ८)। किन्तु, वैकल्पिक रूप में हम यह भी कह सकते हैं कि यह दोनों ही प्रकार का नहीं है। इसके बदले हम **'प'** और **'व'** को वर्ण के विभेदक लक्षण न मान कर शब्द की **ध्वनिगुणात्मकता** मान सकते हैं। हम उनके विषय में इस रूप में भी सोच सकते हैं कि अपने समस्त कार्यरत रहने के प्रदेश में उनका मूल्य एक विशिष्ट मूल्य में बदलदिया जाता है (**'प'** और **'—व'** का प्रदेश सारा शब्द है, **'+व'** का प्रथम **'अच्'** : किसी अनियमित 'अ-संनादी' स्वर की उपस्थिति मूल्य के इस 'बदलने' को 'रोक' देती है)। वैषम्य के आधार पर **'उ'** समस्त अचों में 'भावात्मक' या 'अभावात्मक' मूल्य स्वतन्त्र रूप में ग्रहण करसकता है। अब हम **'+उ'** और **'—उ'** को **वर्णाश्रित इकाईयाँ** (वर्ण नहीं) मानसकते हैं, और उन्हें क्रमश: 'I' और 'A' के रूप में प्रतीकबद्ध कर सकते हैं।

इन 'ध्वनिगुणात्मक' और **वर्णाश्रित इकाइयों** के बीच उस विभेद का प्रभाव

इस रूप में होता है कि इससे तुर्की शब्द की ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना द्वि-आयामी होजाती है। 'वर्णाश्रित इकाइयों' की शृंखला शब्द की खण्डात्मक **'अधःसंरचना'** का निर्माण करती है, जबकि 'ध्वनिगुणात्मकता' इसकी **'अधिसंरचना'** बनाती है। इसे सांकेतिक रूप में कई तरह से प्रकट किया जासकता है। यहाँ अपनाई गई प्रणाली अप्रचलित है, किन्तु मुद्रण-सुविधा की दृष्टि से अपनाई गई है। हम यहाँ वर्णाश्रित इकाइयों को कोष्ठकों के बीच में रखेंगे, और 'ध्वनिगुणात्मकता' को कोष्ठक से बाहर: **+प,—व** (KizlArImIzdan : **किज़्लरिमिज़्दान्**)। इसकी शुद्धलिपि, इसकी व्याकरणात्मक इकाइयों को पृथक् से दिखाने केलिए खण्डात्मक रूप में इस प्रकार होगी : **किज़-लर्-ईमीज़-दान्** (हमारी लड़कियों से)। यह देखने में आएगा कि शब्द के प्रत्येक अच् में स्वर की ध्वनिक उपलब्धि अंशतः वहीं पर उपस्थित वर्णाश्रित इकाई अ (A) या ई (I) से निर्धारित होती है, और अंशतः सारे शब्द में व्याप्त **+प** और**—व** की ध्वनिगुणात्मकता से। तुर्की के इस द्वि-आयामी ध्वनिप्रक्रियात्मक विश्लेषण का प्रमुख लाभ यह है कि इसके द्वारा शब्द में सम्भव ध्वनिप्रक्रियात्मक वैषम्यों की संख्या का शुद्धतर आभास मिल जाता है।

आठों में से प्रत्येक स्वर शेष सब के साथ शब्द के प्रत्येक अच् में स्वतन्त्र रूप से वैषम्य में स्थित मानाजाता है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि **'सं'** संख्या के अच् वाले किसी तुर्की शब्द में सम्भाव्य स्वर-शृंखला की संख्या ८$^{सं}$ होती है। किन्तु नियमित शृंखला की संख्या वस्तुतः ४×२$^{सं}$ है : अर्थात्, २×२ (२$^{सं}$)। यह बात ऊपर दिए गए स्वर-संनाद के नियमों-सम्बन्धी वक्तव्य से भी स्पष्ट होजाएगी। और, यह द्वि-आयामी ध्वनिगुणात्मक विश्लेषण से भी स्पष्ट होजाती है। इन ध्वनिगुणात्मक परिवर्त्तियों में से प्रत्येक के द्वि-आयामी मूल्यों द्वारा निर्धारित शब्दों की चार श्रेणियाँ हैं : (१) **+प,+व**; (२)**—प,+व**; (३) **+प,—व**; (४) **—प,—व**। इनमें से प्रत्येक श्रेणी के शब्द एकाच् या बह्वच् भी होसकते हैं, जिन्हें उसी तरह बढ़ाया भी जासकता है : यथा, 'किज़्'=**+प,—व** (=क् 'इ' ज़्) शब्द को ऊपर अन्य 'अच्' जोड़कर बढ़ाया गया था। सिद्धान्ततः क्योंकि प्रत्येक शब्द **'सं'** के प्रत्येक मूल्य के लिए (जहाँ **'सं'** परिणत शब्द में अचों की संख्या के लिए प्रयुक्त हुआ है) 'अ' (A) या 'इ' (I) के आने की सम्भावना हैं, ध्वनिप्रक्रिया की दृष्टि से नियमित वर्णाश्रित इकाई-शृंखलाएँ २$^{सं}$ होती हैं। इसलिए एकाच् शब्दों में स्वरों की कुल ४×२^{१} (=८) विविध शृंखलाएँ होसकती हैं; द्व्यच् शब्दों में (दो स्वरों की) ४×२^{२} (=१६) शृंखलाएँ होंगी; तीन स्वरों की शृंखला-संख्या ३२ होगी; इत्यादि! यदि हम वर्णात्मक इकाइयों और ध्वनिगुणों के वैषम्यप्रदेशों के बीच अन्तर को समझलें, तो २×२(२$^{सं}$) सूत्र की व्याख्या सामान्यतर सूत्र (**सं=प**$_{१}$×**प**$_{२}$×**प**$_{३}$...**प**$_{म}$) के एक निदर्शनमात्र के रूप में करनी होगी (इस सूत्र को २.३.८ में समझाया गया है)।

जो पाठक तुर्की भाषा से परिचित नहीं है, उनके लाभ के लिए स्वर-संनाद

के सम्बन्ध में ऊपर दिये गये वक्तव्यों की व्याख्या के रूप में छह शब्दों की निम्न सूची सहायक रहेगी :

गोज़्लेरिनिज़् (gözleriniz) —प, +व, (ग्अज़्-ल्अर्-इन्-इज़्) "आँख-बहुवचन-तुम्हारी-बहुवचन"=तुम्हारी आँखें ।

कोल्लारीमीज़् (Kollarīmīz) +प, +व, (क्अल्-ल्अर्-इम्-इज़्) "भुजा-बाहु-"मेरा-बहु०'=मेरी भुजाएँ ।

आदम्लारीन् (adamlarīn) +प, —व (आद्अम्-लर्-इन्) "मनुष्य-बहु०-का" =मनुष्यों का ।

ऐव्लेरिन्दे (evlerinde) —प, —व (अव्-लर्-ई (न्)-द्आ) "घर-बहु०उसका-में" =उनके घर में ।

कोलूम (kolum) +प, +व (क्अल्-ईम्) "भुजा-मेरी"=मेरी भुजा ।

गोज़ुमुज़् (gözümüz) —प, +व (ग्अज़्-इम्-इज़्) "आंख-मेरी-बहु०"=हमारी आँखें ।

शब्दों का ध्वनिगुणात्मक प्रतिनिधान दूसरे स्तम्भ में, छोटी व्याकरणात्मक इकाइयों की अभिश्लेषणात्मक रचना की विधि के संकेत के साथ, दियागया है (तु० ५. ३. ७) । यह अवधेय है कि 'लर्', 'इम्', 'इज़्', आदि छोटी व्याकरणात्मक इकाइयों का वर्णाश्रित ढाँचा स्थिर रहता है । उनका सम्बन्ध अन्यों की अपेक्षा किसी एक विशिष्ट ध्वनिगुणात्मक श्रेणी के शब्दों में होने के कारण ध्वन्यात्मक दृष्टि से उनकी उपलब्धि भिन्न-भिन्न रूप में होती है । यथा, लेर्=लर् ; इम्=ईम्= उम्=ऊम्; आदि । (प्रथम स्तम्भ में लिप्यात्मक प्रतिनिधान स्थूलतः ध्वनिपरक है : तु० ३.१.२) ।

३. ३. १४ ध्वनिगुणात्मक विश्लेषण की बह्वायामी प्रकृति

इसप्रकार वर्णात्मक और ध्वनिगुणात्मक विश्लेषण में एक मुख्य अन्तर यह है कि इनमें से प्रथम उक्तियों या शब्दों का प्रतिनिधित्व अवयवों (वर्णों) की आयामरहित शृंखला के रूप में करता है, जबकि द्वितीय उनका वर्णन ध्वनिगुणात्मकता एवं वर्णाश्रित इकाइयों से बनी बह्वायामी संरचना के रूप में करता है । द्वि-आयामी न होकर यह संरचना इस दृष्टि से बह्वायामी है, कि स्वरात्मकता के ऐसे कई 'स्तर' होसकते हैं, जो विविध दैर्घ्यों वाले 'प्रदेशों' में कार्यरत हों । ये 'दैर्घ्य' व्यंजनों, अचों, शब्दों, शब्द-समूहों, या उक्तियों के युग्मों के रूप में होसकते हैं । इन सब सम्भाव्यताओं को यहाँ दिखानेयोग्य स्थान नहीं है । वर्णाश्रित इकाइयाँ भी इस अर्थ में वर्णों की भाँति ही होती हैं कि उन्हें भी वर्णों या वर्णकल्पों की आयामरहित शृंखला में क्रमिकता या शृंखलारूप में व्यवस्थित विभिन्न इकाइयों के रूप में मानाजाता है ।

३. ३. १५ ध्वनिप्रक्रिया के विविध 'वादों' के बीच विभेद

हाल के वर्षों में विकसित ध्वनिविज्ञान के प्रति विविध उपागमों के बीच अन्य अनेक प्रमुख समस्याएँ और विषमताएँ विद्यमान हैं। किन्तु यह अवधेय है कि वे सब एक ओर वैषम्य या विरोध की धारणा की पूर्वस्वीकृति पर आश्रित हैं, और दूसरी ओर इस मान्यता पर आश्रित हैं कि भाषा के रूपक्रमात्मक और विन्यासात्मक आयाम अन्योन्याश्रित होते हैं। ध्वनिविज्ञान के विविध 'वादों' में अन्तर प्रायः उनके द्वारा स्वीकृत विशिष्ट धारणाओं के कारण होता है, जिन्हें प्रायः वे केवल प्रणालीविज्ञान की दृष्टि से ही अपनाते हैं।

३. ३. १६ ध्वनिप्रक्रिया और व्याकरण

इन धारणाओं में से केवल एक का ही उल्लेख यहाँ अपेक्षित है। अनेक वर्ष तक **ब्लाख़, हैरिस, हॉकेट,** जैसे अनेक भाषाविदोंकी, जिन्होंने **'वार्णिकी'** या **'वर्ण-विज्ञान'** (फ़ोनीमिक्स) के प्रति पुराणपन्थी अमरीकी दृष्टि के विशिष्ट सिद्धान्तों और प्रक्रमों की स्थापना में महान् योगदान दिया है, यह मान्यता रही है कि ध्वनिप्रक्रियात्मक विश्लेषण व्याकरणात्मक विश्लेषण की अपेक्षा पहले होना चाहिए। यह मान्यता या प्रणालीबद्ध नियम कभी सार्वत्रिक मान्यता न पासका; अमरीका तक में नहीं। आजकल अगर सभी नहीं तो अधिकांश भाषाविद् यह अवश्य ही स्वीकार करेंगे कि यह मान्यता भाषाविज्ञान पर अनावश्यफ रूप से एक प्रबल और अवांछित प्रतिबन्ध लगाती है। यह केवल प्राथमिकता को ही बदलती है। क्योंकि वैषम्य की धारणा केवल उन्हीं शब्दों पर लागू होसकती है, जो एक ही सन्दर्भ में आते हैं (तु०-२. ४. १ ०)। शब्दों का प्रयोग (या उपस्थिति) अंशतः **नाम, आख्यात,** आदि रूप में उनके कार्य से, और अंशतः अर्थ से, निर्धारित होता है। परिणामतः कोई भी ऐसे दो शब्द, जिनका व्याकरणात्मक कार्य उनकी एक ही सन्दर्भ में उपस्थिति का निषेध करता है, परस्पर ध्वनिप्रक्रियात्मक वैषम्य में नहीं रह सकते। और, बहुधा ही ऐसा होता है कि विविध व्याकरणात्मक श्रेणियों के साथ ध्वनिप्रक्रियात्मक वैषम्यों का एक नितान्त भिन्न विन्यास ही सम्बद्ध ठहरता है।

यह बात **तुर्की** के सम्बन्ध में सत्य है। यह कहा ही जाचुका है कि **रूसी** और **जर्मन** की भांति (तु०-३. ३. ५) तुर्की में भी पदान्त की स्थिति में स्पर्श व्यंजनों में घोष-अघोष का विभेद तटस्थ होजाता है (संस्कृत में **'वाक्-वाग्'**, **'लिट्-लिड्'**, आदि में पदान्तगत वर्ण-वैषम्य इसी तरह के हैं—अनु०)। उपरिनिर्दिष्ट 'अभिश्लेषण' की प्रक्रिया द्वारा शब्दों में जुड़ने वाले अधिकांश प्रत्ययों में भी यह विभेद निर्विषम होजाता है। उदाहरणार्थ, **'में'** या **'पर'** का वाचक **'प्रत्यय'** (जिसे 'एल्वेरिन्दे' में 'दृअ' के रूप में ध्वनिगुणात्मक प्रतिनिधान में दिखायागया है) किसी **घोष दन्त्य स्पर्श** से युक्त नहीं है; बल्कि घोष के प्रति **निर्विषम** बनी **दन्त्य ध्वनि** से युक्त है। इसकी उपलब्धि 'द्' के रूप में हो या 'त्' के रूप में, यह बात सन्दर्भ या

वातावरण की घोषवत्ता या घोषहीनता पर आश्रित है। (यद्यपि यह वक्तव्य तथ्य का अपूर्ण कथन है, पर इस प्रसंग में पर्याप्त है।) कथ्य बात यह है कि शब्दों का ध्वनिप्रक्रियात्मक गठन उनकी व्याकरणात्मक संरचना से अंशतः ही निर्धारित होता है। यद्यपि इस खण्ड में इसका उल्लेख संक्षिप्ततम रूप में ही हुआ है, फिर भी हम सारी पुस्तक में इसे ही मानकर चलेंगे।

३. ३. १७ प्रस्तुत प्रबन्ध में ध्वनिप्रक्रिया का सीमित वर्णन

यहाँ प्रस्तुत संक्षिप्ततम वर्णन में से ध्वनिप्रक्रिया के अनेक क्षेत्र अछूते ही छोड़ दिये गये हैं। प्रयोगों और उक्तियों में **बलाघात** और **अनुतान** के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। न तो '**तान**' के विषय में कुछ कहा गया है, जो विविध भाषाओं में विविध रूप में कार्य करती है; और न ही ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाई के रूप में 'अच्' (सिल्लेबल) की स्थिति के विषय में ही। अगले अध्यायों में हम व्याकरण और अर्थविचार से ही सम्बन्ध रखेंगे।

४

व्याकरण : सामान्य सिद्धान्त

४. १ विषय-प्रवेश

४. १. १ व्याकरण

'ग्रामर' (व्याकरण) शब्द का इतिहास फ्रेंच और लैटिन के माध्यम से होते हुए उस ग्रीक मूल शब्द तक जाता है, जिसका अर्थ मूलतः है—'लिखने की कला'। किन्तु बहुत पहले ही ग्रीक विद्वानों ने इस शब्द को कहीं अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था। बाद में भाषा-विषयक वह सभी अध्ययन इस के द्वारा गृहीत होने लगा, जिसे ग्रीक और उनके उत्तराधिकारियों ने समृद्ध किया। अब से कुछ पहले तक का भाषाविज्ञान का इतिहास उन सब विषयों के अध्ययन का इतिहास है, जिन्हें समय-समय पर विद्वान् इन व्यापक अर्थों में 'व्याकरण' के अन्तर्गत ग्रहण करते रहे हैं।

४. १. २ विभक्ति-रूपविधान और वाक्यविन्यास

आधुनिकतर समय में 'व्याकरण' शब्द ने संकुचिततर अर्थ ग्रहण करलिया है। आज के व्यवहार में इसका प्रयोग भाषा-विश्लेषण के उस भाग के लिए ही सीमित रहगया है, जिसे शास्त्रीय या श्रेण्य व्याकरण में 'विभक्ति-रूपविधान' और 'वाक्यविन्यास' के अन्तर्गत विचारा जाता था। इन दोनों के बीच परम्परामान्य विभेद, जोकि व्यष्टि शब्द को भाषा की आधारभूत इकाई मानकर चलता है, निम्न शब्दों में सूचित किया जा सकता है: '**रूपविधान**' शब्द की आन्तरिक संरचना पर विचार करता है, जबकि '**वाक्यविन्यास**' में वाक्यरचना केलिए मिलते हुए शब्दों के सम्बन्धन-प्रकार की व्याख्या कीजाती है। प्रस्तुत प्रसंग में '**पद**' और '**वाक्य**' की धारणाओं को हम यथावत् स्वीकार करसकते हैं। हम कहेंगे कि 'व्याकरण' वाक्य-निर्माण केलिए शब्दों के संहनन के नियमों का विधान करता है। इसप्रकार, एक ओर तो, यह शब्दों और वाक्यों के ध्वनिवैज्ञानिक वर्णन को बचा जाता है और, दूसरी ओर, उन विशिष्ट शब्दों और वाक्यों के अर्थों पर विचार नहीं करता। यह अवधेय है कि ठीक इसी भावना में भाषाविद् से इतर व्यक्ति भी तब 'व्याकरणात्मक'

शब्द का प्रयोग करता है, जब वह यह कहता है कि पद या पदों का अमुक प्रकार का संघात **व्याकरणात्मक** है या **अव्याकरणात्मक** ।

४. १. ३ 'धारणात्मक' व्याकरण

आधुनिक व्याकरण-सिद्धान्त को बहुधा 'रूपात्मक' कहाजाता है, जबकि इसके विरोध में परम्परागत व्याकरण को 'धारणात्मक' कहाजाता है । व्याकरण के प्रति परम्परागत और आधुनिक दृष्टिकोण के बीच की वैयाकरण-श्रेणी के विशिष्ट प्रतिनिधि येस्पर्सन के अनुसार, 'धारणात्मक व्याकरण' इस मान्यता से विचार में प्रवृत्त होता है कि कुछ ऐसी भी भाषेतर 'कोटियां' है, जोकि वर्त्तमान भाषाओं के कम या अधिक सांयोगिक तथ्यों पर अनाश्रित रहकर कार्य करती हैं, और "ऐसी कोटियाँ प्रायः सभी भाषाओं में समान रूप से पाई जाने से 'सार्वभौम' कही जासकती हैं, यद्यपि इनकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और निर्भ्रान्त रूप में कदाचित् ही होपाती है ।" हम इस प्रश्न पर बाद में ही विचार करेंगे कि क्या 'पद-भेद', 'लकार', 'भावदशा', आदि के रूप में परम्परागत वैयाकरणों और येस्पर्सन द्वारा मान्य कोई ऐसी भी कोटियाँ हैं या नहीं, जिन्हें 'सार्वभौम' कहा जा सकता है (तु०—७. १) ? प्रस्तुत प्रसंग में हम यही मानकर चलेंगे कि ऐसी कोटियाँ या तो हैं ही नहीं, या फिर हो नही सकतीं । और, इस बात को मानते हुए हम व्याकरण के प्रति 'रूपात्मक' दृष्टि को ही अपनारहे होंगे ।

यह अवधेय है कि **फ़ॉर्मल** (रूपात्मक) शब्द का यह प्रयोग एक विशेष अर्थ में है, और इसका 'आकार' और 'द्रव्य' की पूर्व-कथित धारणा से कोई सम्बन्ध नहीं है (तु०-२. २. २) । यह अर्थ 'फ़ॉर्मल' शब्द के उस सामान्यतर वैज्ञानिक अर्थ (औपचारिक) से भी भिन्न रूप में स्थित है, जिसके अनुसार 'औपचारिक' या 'उपचारित' सिद्धान्त वह है जिसमें 'प्रमेयों' को अनुमान के स्पष्ट नियमों के विनियोग के माध्यम से आधारभूत संज्ञाओं और स्वयंसिद्धियों से व्युत्पन्न कियाजाता है । जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कि भाषाविज्ञान में हुई आधुनिक प्रगति ने 'फ़ॉर्मल' (Formal) की इस सामान्यतर भावना में व्याकरण-सिद्धान्त को निरूपित करने में पर्याप्त दूर तक सहायता दी है । इस प्रसंग में 'रूपात्मक' शब्द में 'धारणात्मक' मान्यताओं के परित्याग या प्रतिवाद की भावना भी अन्तर्हित मानी जासकती है । दूसरे शब्दों में, **'रूपात्मक व्याकरण'** 'पदभेद' आदि कोटियों की सार्वभौमिकता जैसी किसी धारणा को लेकर नहीं चलता । बल्कि, वह प्रत्येक भाषा की संरचना को उसके अपने ही आधार पर वर्णन करने का दावा लेकर चलता है । **'धारणात्मक'** शब्द की तुलना में **'रूपात्मक'** शब्द के प्रयोग के पीछे भाषाविदों की कौन-सी भावना निहित थी, इसे हम अगले खण्ड में विचारेंगे ।

४. १. ४ व्याकरण में अर्थ-सम्बन्धी विचार

व्याकरण के प्रति 'रूपात्मक' उपागम का अर्थ प्रायः ही यह लियाजाता है

कि इसमें यह तथ्य भी अन्तर्हित है कि व्याकरणात्मक विश्लेषण की इकाइयों के निर्धारण एवं भाषागत वाक्यों में उनके अनुमत संघात केलिए नियम-निर्माण से 'अर्थात्मक विचार' सर्वथा असम्बद्ध ठहरता है। व्याकरण के सिद्धान्त एवं व्यवहार को अर्थसम्बन्धी प्रश्नों से सर्वथा स्वतन्त्र बनाने का प्रस्ताव आधुनिक व्याकरण-सिद्धान्त के अत्यन्त रोचक और उत्पादक विकास या प्रगति केलिए उत्तरदायी रहा है। परन्तु, यह भी प्रायः भ्रमवश ही मान लियाजाता है कि जो वैयाकरण व्याकरण में अर्थविज्ञान को सम्मिलित नहीं करना चाहते, वे वस्तुतः अर्थविचार के प्रति रुचि ही नहीं रखते। यह सत्य नहीं है। उनकी यह धारणा इस कारण भी नहीं है कि उनके मत में अर्थविचार ध्वनिप्रक्रियात्मक या व्याकरणात्मक विश्लेषण की अपेक्षा अधिक आत्मनिष्ठ होता है। कारण केवल यह है कि किसी भाषा के अर्थात्मक और व्याकरणात्मक ढाँचे, यदि पूर्णतः नहीं तो, बहुत बड़ी मात्रा में एक दूसरे से संगत होते हैं। ज्यों ही भाषाविद् अर्थविचार में गम्भीर रुचि लेने लगता है, उसे ज्ञात हो जाना चाहिए कि **व्याकरण** और **अर्थविज्ञान** में प्रणालीगत पृथक्करण के कारण क्या लाभ होसकते हैं। जब तक यह मानाजाता रहेगा कि प्रत्येक व्याकरणात्मक अन्तर या एकरूपता अर्थ में भी अन्तर या एकरूपता को आहित करती है (चाहे उसे खोजना कितना ही सूक्ष्म या श्रमसाध्य हो), तब तक यह ख़तरा बना रहेगा कि या तो व्याकरण का रूप विकृत होजाएगा, या फिर अर्थविज्ञान का।

इससे भी बढ़कर इस स्थल पर यह भी ध्यान दियाजाना चाहिए कि व्याकरण और अर्थविज्ञान के प्रणालीगत पृथक्करण का अर्थ केवल उस मार्ग के निर्देशन करनेमात्र से ही है, जिसके द्वारा भाषा का वर्णन प्रस्तुत कियाजाता है। इस का यह अर्थ कभी नहीं कि वाक्यों की व्याकरणात्मक संरचना का विचार करते हुए वैयाकरण उनके अर्थात्मक ज्ञान का लाभ उठाने से जानबूझकर निषेध करदे। हम बाद में देखेंगे कि यह तथ्य, कि अमुक वाक्य अस्पष्ट है (अर्थात् उसके दो या अधिक अर्थ निकल सकते हैं), इस बात का संकेतक बनता है कि इसका व्याकरणात्मक विश्लेषण दो या अधिक रूप में करना चाहिए (तु०—६. १. ३)। परन्तु हम यह भी देखेंगे कि केवल **अस्पष्टता** स्वयं भी व्याकरणात्मक विश्लेषण में अन्तर के औचित्य को सिद्ध करने में अपर्याप्त या असमर्थ रहती है।

४. १. ५ रूपात्मक (फ़ॉर्मल) : परिभाषा

यह दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि अन्य बहुतसी संज्ञाओं की भाँति फ़ॉर्मल (**रूपात्मक**) शब्द को भी भाषाविदों ने भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। ऐसी संज्ञाओं से बचना पर्याप्त सुकर होसकता है। किन्तु ज्योंही किसी व्यक्ति की रुचि भाषा-विज्ञान के प्रति जागृत होती है, उसे देर या अबेर में यह समझ ही लेना पड़ता है कि विविध सम्बद्ध प्रकरणों में 'रूपात्मक' (फ़ॉर्मल) का क्या अर्थ लेना है। इस प्रकार का 'समन्वयन' तब और भी सरल होजाता है, जब कोई इस विषय के ऐति-

हासिक विकास को भी जानता हो। इसीलिए हम प्रायः ही मुख्यतर प्राविधिक संज्ञाओं के बारे में निर्वचनपरक और ऐतिहासिक विकास से सम्बद्ध वर्णन वहाँ-वहाँ देते रहेंगे, जहाँ-जहाँ उनसे सम्बद्ध धारणाएँ विचार के लिए उपस्थित होती रहेंगी। जहाँ तक 'फ़ॉर्मल' का सम्बन्ध है, अंग्रेज़ी में इसे इन भावनाओं में प्रयुक्त किया जाता है : (१) **'रूपात्मक'**—'अर्थात्मक' की तुलना में भाषा के ध्वनि-प्रक्रियात्मक और व्याकरणात्मक ढाँचे की सूचना केलिए ('आकार' और 'अर्थ' की विभिन्नता-सम्बन्धी पुरानी मान्यता के आधार पर : तु० २. १. २); (२) **'रूपात्मक'**—ध्वनिप्रक्रिया, व्याकरण और अर्थविज्ञान से सम्बद्ध तीनों पक्षों केलिए (सौस्यूरानुयायियों द्वारा मान्य 'द्रव्यात्मक उपलब्धि' या भाषा के 'उपलब्धि-माध्यम' की तुलना में : 'द्रव्य' और 'आकार' की तुलना केलिए देखें-२. २. २); (३) 'अनौपचारिक या प्रातिभ' की तुलना में **औपचारिक** या **बाह्य** के अर्थ में (रूपात्मक); और (४) **रूपात्मक**—धारणात्मक की तुलना में (येस्पर्सन-कृत व्याख्या के अनुसार)।

इनमें से **पहली** और **चौथी** भावना साहित्य में विविक्त नहीं होती : जब भाषाविद् 'धारणात्मक व्याकरण' की बात करते हैं, तब वे यह मानकर चलते हैं कि वैयाकरण द्वारा मान्य कोई भी सार्वभौम कोटियाँ अनिवार्यतः 'अर्थ' पर ही आधारित होंगी। (हम यहाँ इस विवाद में नहीं पड़ेंगे कि यह मान्यता उचित है या नहीं। हम तो इस तथ्य की ओर ध्यानमात्र आकृष्ट करना चाहते हैं कि 'धारणात्मक' में प्रायः ही 'अर्थाधारित' या अर्थमूलक की भावना भी अन्तर्हित रहती है।) वास्तव में उक्त (२) की भावना में 'रूपात्मक' का प्रयोग ऐसा है, जो (१) की भावना के प्रत्यक्ष विरोध में है। इसीसे अधिकांश भ्रम का सृजन होता है।

पूर्णता की दृष्टि से यह कहदेना भी कदाचित् उचित ही होगा कि नवीनतम भाषावैज्ञानिक साहित्य में शोम्स्की द्वारा भाषा के सार्वभौम गुणधर्मों के विचार-प्रसंग में एक नए प्रकार के 'वैषम्य' को प्रदर्शित कियागया है। यह है **रूपात्मक** और **सत्त्वात्मक** सार्वभौमों के बीच का अन्तर ('सत्त्वात्मक' को यहाँ 'तात्त्विक' से भिन्न करके देखना चाहिए)। स्थूलतः इस अन्तर को भाषावर्णन में प्रयुक्त 'नियमों' और उनके आधारभूत 'अवयवों' (भाषात्मक इकाइयों या इकाई-श्रेणियों) में स्थित विभेद पर आश्रित कहा जासकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई यह कहता है कि कुछ ऐसे विभेदक लक्षणों (तत्त्वों) का एक स्थिर वर्ग या विन्यास है, जिसका वरण विविध भाषाओं में विविध रूपों वाले 'संघात' के रूप में होता है (तु० ३. ३. ११), तब यह भी कहा जासकता है कि ये ही विभेदक लक्षण ध्वनिप्रक्रियात्मक सिद्धान्तों के 'सत्त्ववाचक सार्वभौमों' का निर्माण करते हैं। इसकी तुलना में, ध्वनिप्रक्रियात्मक सिद्धान्त में 'रूपात्मक सार्वभौम' उन प्रतिबन्धों को कहा जासकता है, जो ध्वनि-प्रक्रियात्मक नियमों के कार्यान्वयन के प्रकार, अथवा ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाइयों के किन्हीं विशिष्ट संघात-नियमों पर लागू होते हैं। निदर्शनार्थ, आयामरहित अभ्युपगम (पहुँच) को पुराणपन्थी वर्ण-सिद्धान्त (तु० ३. ३. १४) का रूपात्मक सार्वभौम

कहा जा सकता है। पहले अनुच्छेद में कथित तीसरी भावना के अर्थ में शोम्स्की द्वारा प्रयुक्त 'रूपात्मक' परिभाषा को लिया जासकता है। परम्परागत व्याकरण में जिन्हें 'पार्ट्स ऑफ़ स्पीच' या 'पद-भेद' के रूप में कहा गया है, उन्हें न तो विशुद्ध रूप में 'रूपात्मक' वर्ग में ही रखा जासकता है, और न ही 'सत्त्ववाचक' वर्ग में। कारण यह कि पाश्चात्य परम्परागत व्याकरण के नियम बहुत स्पष्टता से निरूपित नहीं कियेगए थे। फिर भी, शोम्स्की के अनुकरण पर, यह कहा जासकता है कि उनका निरूपण मूलतः सत्त्वात्मक आधार पर ही हुआ था। किन्तु यहीं यह भी स्मर्त्तव्य है कि पद-भेदों की परम्परागत पाश्चात्य परिभाषाओं में प्रायः उनकी 'संघातात्मक विशेषताओं' का भी कुछ मात्रा में समावेश होता है। हम बाद में सातवें अध्याय में इस विषय पर अधिक विचार करेंगे।

परिभाषाओं-सम्बन्धी इन टिप्पणियों का उद्देश्य उस पाठक को सहायता पहुँचाना है, जिसने या तो भाषाविज्ञान पर लिखे अन्य ग्रन्थों को पढ़ा है, या जो उन्हें पढ़ने का इरादा रखता है। इस ग्रन्थ में 'रूपात्मक' शब्द का प्रयोग पहले अनुच्छेद में बताई तीसरी और चौथी कोटियों के अर्थ में ही कियाजाएगा: अर्थात् एक ओर 'अनौपचारिक' के विरुद्धार्थक **'औपचारिक'** के अर्थ में, और दूसरी ओर 'धारणात्मक' के विपरीत **'रूपात्मक'** के अर्थ में! प्रस्तुत अध्याय में इनमें से एक भावना में संक्रमण भी किया जाएगा। जब परिभाषिक अर्थों में **'रूप'** (आकार) का प्रयोग कियाजाता है, तब यह 'अर्थ' या सत्त्व (द्रव्य) के सांयोगिक विरोध के साथ विभेदयोग्य होता है: देखें पूर्वोक्त (१) और (२) में बताई कोटियाँ।

४.२ रूपात्मक व्याकरण

४. २. १ स्वीकार्यता (ग्राह्यता)

अब हमें उससे कुछ अधिक विस्तार से आधुनिक व्याकरण के विषय में विचार करना चाहिए, जितना अब तक कियागया है। हम अपना विमर्श 'स्वीकार्यता' की धारणा से आरम्भ करसकते हैं। 'स्वीकार्य' शब्द को हम आदिम और विज्ञान-पूर्व का कह सकते हैं, जो बाद में बताए जाने विविध विभेदों के प्रति उदासीन है। इन विभेदों में एक वह भी है जो परम्परागत रूप से **'व्याकरणात्मक'** और **'सार्थक'** (प्रत्यायक) शब्दों के रूप में कियाजाता है। बल्कि यह इन दोनों संज्ञाओं की अपेक्षा भी इस अर्थ में आदिम है कि इन संज्ञाओं की तरह यह किन्हीं भाषा-वैज्ञानिक परिभाषाओं अथवा सैद्धान्तिक मनोभावों पर आश्रित नहीं है। 'स्वीकार्य उक्ति' उसे कहते हैं, जिसे कोई देशी प्रयोक्ता किसी विशिष्ट सन्दर्भ में प्रयुक्त करता है, और जिसे अन्य देशी प्रयोक्ता उसी भाषा से सम्बद्ध मानलेते हैं। यह कार्य भाषाविद् का ही है, यद्यपि सम्पूर्णतः नहीं; कि वह जिस भी भाषा का

वर्णन कर रहा हो, उसके लिए सरलतम रूप में यह विधान करे कि किस तरह के वाक्य स्वीकार्य होसकते हैं। पर, यह कार्य भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों की सीमा में होना चाहिए।

किसी आधुनिक व्यवहृत भाषा के वर्णन में आज के भाषाविद् के पास भाषा की उक्तियों का क्रमबद्ध संग्रह भी उपलभ्य होगा (जिसे हम उसकी 'प्रदत्त सामग्री' कह सकते हैं), और देशी प्रयोक्ताओं (सूचकों) से भी वह उनके प्रयोग की प्रामाणिकता को जान सकेगा। यदि वह अपनी ही भाषा का वर्णन कररहा है, तब अपने लिए 'सूचक' का कार्य भी वह स्वयं ही करेगा। किन्तु, इस विषय में उसे अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता है, क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि वर्णनाधीन 'उक्तियों' के सम्बन्ध में वह भाषा के संरचनासम्बन्धी अपने पूर्वाग्रहों से परिचालित होकर चले। वर्णन की प्रगति के साथ-साथ भाषाविद् अपने 'सूचकों' से विविध प्रकार की अन्य भी उक्तियाँ उपलब्ध करसकता है, और इसप्रकार 'संग्रह' में वृद्धि करसकता है। साथ ही, जिन वाक्यों की रचना वह स्वयं अपने ही स्थापित सिद्धान्तों की सामान्यता की परीक्षा केलिए करता है, वह उनकी स्वीकार्यता की परीक्षा भी करसकता है। यदि वह पाए कि किसी उक्ति को उसके सूचक व्यक्ति प्राकृतिक या सामान्य वाक्य के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे, भले ही वह उसके द्वारा स्थापित स्वीकार्यता-नियमों के पूर्ण अनुकूल हो, तब उसे चाहिए कि अपने नियमों में इस प्रकार का संशोधन करे कि अन्य सब स्वीकार्य वाक्यों पर लागू होतेरहने पर भी वह नियम उन 'अस्वीकार्य' उक्तियों को नियम-बाह्य सिद्ध करसके। लैटिन आदि तथाकथित 'मृत' भाषाओं के विषय में नियम के अनुकूल रचे सभी वाक्यों की स्वीकार्यता की जाँच 'प्रयोक्ताओं' के आधार पर करना असम्भव है। इसी कारण किसी भी श्रेण्य भाषा का वर्णन कुछ बातों में अनिवार्यतः अपूर्ण रहेगा। फिर, इस वर्णन की पूर्णता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसकी आधारभूत उपजीव्य सामग्री के रूप में कितनी सामग्री उपलभ्य है।

आपाततः यह प्रतीत होगा कि 'स्वीकार्य' शब्द, जिस रूप में वह यहाँ प्रयुक्त कियागया है, अनावश्यक है। बल्कि वह कुछ अनावश्यक उलझनों को भी उत्पन्न करता है। यह सोचा जासकता है कि यह कहना, कि कोई उक्ति 'स्वीकार्य' है, इस कथन से अधिक भिन्न नहीं है, कि इस उक्ति को कभी किसी देशी प्रयोक्ता ने प्रयोग किया होगा; और यह कि भाषाविद् या उसके सहयोगियों द्वारा उस भाषा के सभी वाक्यों को संगृहीत करना और उन्हें 'संग्रह' में निबद्ध करना सम्भव होसकता है। किन्तु यह दृष्टि भ्रामक है। 'स्वीकार्य' शब्द का लाभ केवल इतना ही नहीं है कि यह भाषाविद् की 'उपादान सामग्री' और देशी प्रयोक्ताओं की प्रतिक्रिया के रूप में उसके चरम 'नियामक स्रोत' के बीच प्रकार्यात्मक सम्बन्ध पर बलदेता है। बल्कि यह इस बात पर भी बलदेता है कि भाषाविद् का कार्य केवल वास्तव में उच्चारित उक्तियों का सहेतुक विवेचन करनामात्र नहीं है, प्रत्युत उन बहुत-सी उक्तियों का

विवेचन भी उसे करना चाहिए, जिनका व्यवहार संभव होसकता था, या फिर भविष्य में सम्भव होसकता है। यह बात परम्परागत वैयाकरणों द्वारा अधिकांशतः स्वीकृत तथ्य के रूप में मानली जाती थी, और इसे समझाया भी जाता था। कुछ आधुनिकतर काल में, अनुशासनात्मक व्याकरण (तु०-१.४. ३) के दोषों से बचने की व्यग्रता में, अनेक भाषाविदों ने यह घोषित किया है कि उनका वर्णन केवल उपलब्ध विशिष्ट वाक्य-सामग्री तक ही सीमित है, और उस वर्णन का उस वाक्यसामग्री से कोई सम्बन्ध नहीं, जिसे कि विचाराधीन भाषा के देशी वक्ता बाद में बोलसकते हैं। किन्तु, भले ही यह प्रवृत्ति कितने ही नेक इरादे पर आधारित हो, हम आगे चलकर देखेंगे कि सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक दृष्टि से यह प्रवृत्ति अव्यवहार्य है।

४. २. २ किसी भाषा के वाक्य असंख्य होसकते हैं

किसी भी भाषा का देशी प्रयोक्ता केवल उन्हीं वाक्यों को प्रयुक्त करने या समझने में समर्थ नहीं होता, जिन्हें कि उसने बोलेजाते सुना है, बल्कि वह अश्रुतपूर्व नए वाक्यों को भी बहुत बड़ी संख्या में बोलने और समझने में समर्थ होता है। तथ्यतः यह सम्भव दिखाई देता है कि केवल कुछेक बंधी-बंधाई उक्तियों को छोड़कर देशी वक्ताओं द्वारा बोलेजाने वाले अधिकांश वाक्य, इस दृष्टिसे, 'नए' ही होते हैं। ये 'नए' वाक्य भी अधिकांश देशी वक्ताओं के लिए 'पुराने' वाक्यों की तरह 'स्वीकार्यता' की प्रकार्यात्मक परीक्षा में पूरे उतरेंगे, जिस तरह केवल स्मृति के आधार पर बोलेगए वाक्य पूरे उतरते हैं। उनमें भी वही नियमितता दृष्टिगोचर होगी, और उन पर भी वही नियम पूरे उतरते पाए जाएंगे। दूसरे शब्दों में, यह श्रेणी उन 'शक्य' उक्तियों की है, जिसे हमें उसी भाषा के वाक्यों में एकरूप करके देखना चाहिए। और इस प्रकार के 'शक्य' वाक्यों की संख्या किसी भी भाषा में असीमित होसकती है। उक्तियों का कोई भी संग्रह चाहे कितना ही बड़ा हो, अन्ततः वह इन 'शक्य' उक्तियों के असीम विन्यास का ही 'प्रतिदर्श' होता है। यदि यह 'प्रतिदर्श' केवल विशाल ही नहीं है, बल्कि सभी शक्य उक्तियों का प्रतिनिधि भी है, तब प्राक्कथन के अनुसार भाषा की समग्र विशिष्ट रूपात्मक नियमितताओं को इसे प्रकाशित करदेना चाहिए। (यहाँ **समग्र भाषा** और **प्रतिदर्श** के बीच निर्दिष्ट अन्तर उससे अभिन्न ही है, जिसे सौस्यूर ने **पारोल** और **लाङ्** के सम्बन्ध में बताया है: तु० १. ४. ७।) इसलिए भाषावर्णन के प्रसंग में यह कार्य भाषाविद का ही ठहरता है कि वह ऐसे नियमों का निर्माण करे, जो किसी भी भाषा का निर्माण करनेवाली अधिकांश शक्य उक्तियों की पहचान का सहेतुक विवेचन करने में समर्थ हों। भाषा का ऐसा कोई भी वर्णन, जोकि वास्तविक उक्तियों को शक्य उक्तियों की इस विशाल राशि के अवयव के रूप में वर्णित करने की सामर्थ्य रखता है, 'प्रजनक' कहलाता है (अधिक विचार केलिए देखें, ४. २. १३.)। हम देखेंगे कि यदि नियमों का विनियोग अत्यन्त कठोरता और अस्वाभाविकता के साथ न

कियाजाए, तब जो नियम केवल 'संगृहीत' वाक्यों की 'स्वीकार्यता' केलिए बनाए जाते हैं, वे ही अन्य भी वाक्यों या उक्तियों के एक बहुत बड़े समुदाय पर लागू होसकेंगे। फिर यदि कुछ नियम विशिष्ट गुणधर्म के साथ वर्णन में अन्तर्गृहीत कर लिए जाएं, तब ये विशिष्ट उक्तियों साथ-साथ अन्य भी स्वीकार्य अनन्त उक्तियों के विन्यास पर लागू होंगे। इसलिए इस मामले में कोई भी 'प्रजनक' वर्णन वस्तुतः देशी वक्ताओं की उस योग्यता को प्रतिफलित करेगा, अथवा उसकी व्याख्या करेगा, जिसके द्वारा वह ऐसे 'शक्य' वाक्यों या उक्तियों को असंख्य रूप में व्युत्पन्न करने और समझने में समर्थ होसकता है।

४. २. ३ स्वीकार्यता के 'स्तर'

अब हमारे सम्मुख प्रश्न यह है : व्याकरण के परिक्षेत्र में कितनी मात्रा में और किस प्रकार की 'स्वीकार्यता' का समावेश होता है ? कितनी मात्रा में उसका निर्धारण भाषाविज्ञान के अन्य अंगों द्वारा, अथवा भाषाविज्ञानेतर शास्त्रों द्वारा, कियाजाना सम्भव है ? यह तो स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि उक्तियाँ विविध प्रकार और मात्रा में 'स्वीकार्य' या 'अस्वीकार्य' होसकती हैं। उदाहरणार्थ, हम किसी विदेशी की अंग्रेज़ी के बारे में कहसकते हैं कि यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से उसकी भाषा 'स्वीकार्य' अथवा 'शुद्ध' है, किन्तु उसका उच्चारण 'अशुद्ध' या 'त्रुटिपूर्ण' है, जो उसके **अ-देशीय** वक्ता होने की स्पष्ट घोषणा करदेता है। हम कुछ वाक्यों के विषय में यह भी कहसकते हैं कि वे **'व्याकरणसम्मत'** तो हैं, किन्तु **'निरर्थक'** भी हैं। यही बात कुछ कवियों की कविता के विषय में भी (यथा कैरल की) कही जासकती है; किन्तु कुछ भिन्न आधार पर। तब ऐसी भी कुछ 'स्वीकार्यता' या 'अस्वीकार्यता' होसकती है, जिसका उक्ति की सार्थकता या अनर्थकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। परीकथाओं या वैज्ञानिक उपन्यासों में ऐसे अनेक वाक्य आसकते हैं, जिन्हें अंग्रेज़ी के दैनन्दिन प्रयोग में 'अस्वीकार्य' ही समझा जाएगा। सार्थक होते हुए भी अनेक उक्तियाँ ऐसी होसकती हैं, जिन्हें कुछ लोग विशेष परिस्थितियों में 'निन्दनीय' या 'अशोभन' मानसकते हैं। इस प्रकार की स्थिति को 'सामाजिक स्वीकार्यता' कहा जासकता है। अगले प्रकरण में हम इस सामाजिक स्वीकार्यता पर विचार नहीं करेंगे।

४. २. ४ सामग्री (प्रदत्त) का 'आदर्शीकरण'

जब हम कहते हैं कि कोई दो व्यक्ति एक ही भाषा बोलते हैं, तब हम निश्चय ही उनकी भाषा में आनेवाले हर मतभेद से आँख मूँद रहे होते हैं : **आयु, लिंग, विविध सामाजिक वर्गों की सदस्यता, शैक्षणिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक अभिरुचि,** आदि के भेद पर आश्रित ये भिन्नताएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं और, कम-से-कम सैद्धान्तिक रूप में, भाषाविद् को इनका ध्यान रखना चाहिए। फिर भी 'एकभाषाभाषी'

लोगों की बोली में बहुत कुछ 'सामान्य' होगा : प्रयुक्त शब्दों में अधिकांशतः समानता, वाक्यसंयोजन में उनके नियोजन या संघात का समान प्रकार, एवं वाक्यों अथवा शब्दों को दियाजाने वाला समान अर्थ, आदि । सम्प्रेषण की सम्भावना समानता की इस 'धुरा' पर ही आश्रित रहती है । अपने वक्तव्य की सरलता के लिए हम यह मान लेते हैं कि हमारी वर्ण्य भाषा 'एकरूप' है (अर्थात्, विभाषा एवं शैली की दृष्टि से 'भेद-रहित' है) : वास्तव में यह तथ्यों का 'आदर्शीकरण' होगा (तु० १. ४. ५) । और यह भी कि उस भाषा के सभी वक्ता किसी उक्ति की स्वीकार्यता या अस्वीकार्यता पर सहमत भी होंगे या नहीं । हम यह भी मानलेंगे कि कथाओं और वैज्ञानिक आख्यानों में पाएजानेवाले 'असाधु' वाक्यों का औचित्य भी उसी वर्णन को किंचित् व्यापक बनाकर होसकता है, जो भाषा की 'सामान्यतर' उक्तियों के औचित्य केलिए विहित होता है । अतएव हम एक ओर तो व्याकरणात्मक और ध्वनिप्रक्रियात्मक दृष्टि से स्वीकार्य वाक्यों, और दूसरी ओर 'व्याकरणात्मक और अर्थात्मक दृष्टि' से स्वीकार्य वाक्यों, के विभेद पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे ।

४. २. ५ ध्वनिप्रक्रियात्मक और व्याकरणात्मक 'स्वीकार्यता'

इससे पहले खण्ड में हम देख आए हैं कि प्रत्येक भाषा का अपना ध्वनिप्रक्रियात्मक ढाँचा होता है, जिसका वर्णन **वर्ण, वर्णकल्प** या अन्य ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाइयों के किसी विन्यास तथा उसके सम्भाव्य संघात के नियमों-सम्बन्धी वक्तव्य के द्वारा सम्भव है । **'स्वर'** (उदात्तादि) आदि से जनित 'अस्वीकार्यता' का विवेचन ध्वनिविज्ञान या ध्वनिविचार के आधार पर किया जासकता है । यदि हम ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाइयों की श्रृंखला के एक ऐसे बहुत बड़े विन्यास को प्रस्तुत करें, जिसकी प्रत्येक कड़ी उस भाषा के ध्वनिप्रक्रियात्मक विश्लेषण द्वारा स्थापित संघात के नियमों के अनुकूल हो, तब हम पाएँगे कि परिणाम में प्राप्त वाक्यों या उक्तियों का नगण्यतम भाग ही देशी वक्ताओं को 'स्वीकार्य' होगा । अंग्रेज़ी के एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट की जासकती है : सरलता की दृष्टि से हम कल्पना करसकते हैं कि अंग्रेज़ी का शुद्धलेखन भाषा की ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना को पूर्णतया प्रतिबिम्बित करता है । यह मान्यता भले ही असत्य है; फिर भी यह हमारे द्वारा कथित बात में कोई अन्तर नहीं लाती ।

उदाहरणार्थ, हम अंग्रेज़ी का यह वाक्य अविछिन्नतया संयुक्त ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाई के रूप में लेते हैं (यद्यपि उच्चरित भाषा में भी शब्दों के बीच कोई निश्चित प्रकार का विराम नहीं होता) iwantapintofmilk (आईवाण्टेपिण्टॉफ़्मिल्क) अंग्रेजी वर्णचिन्हों की अनुमत श्रृंखला के विषय में अपने ज्ञान का लाभ उठाते हुए हम इस नमूने के वाक्य में विभिन्न स्थानों पर कुछ ऐसे वर्णचिन्ह, एक या अनेक, स्थानापन्न करने का यत्न करसकते हैं । उदाहरणार्थ, हम जानते हैं कि 's' का प्रयोग 'i' के बाद और 'a' से पहले होसकता है : यथा, isangasongofsixpence

(आईसैंङेसौङऑफ़्सिक्स्पेंस) में। अब हम पूर्वोक्त वाक्य में 'w' के स्थान पर 's' रख देते हैं :* isantapintofmilk। किन्तु अब यह वाक्य 'स्वीकार्य' नहीं रहा। (**तारक-चिह्न** का प्रयोग (*) इसमें तथा अनुवर्त्ती खण्डों में हम इकाइयों की **अस्वीकार्यता** दिखाने केलिए करेंगे। भाषाविज्ञान की यह अब स्थापित परम्परा बनचुकी है। ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययनों में यह तारक-चिह्न अप्रमाणित या 'पुनर्निमित' शब्दों अथवा ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाइयों (तु०-१. ३.१३) के संकेत केलिए होता है।) * iwantapinkofmilt और * ipindawantopfilk उक्तियाँ भी 'स्वीकार्य' नहीं हैं; यद्यपि अंग्रेज़ी की ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना के आधार पर इन सबमें से एक को भी बहिष्कृत नहीं किया जासकता। यदि हम, केवल युग्म, त्रिक, चतुष्क आदि वर्णसमूहों पर ही नहीं, बल्कि विशिष्ट लिप्यक्षरों के, पड़ौसी लिप्यक्षरों से, सापेक्ष सम्बन्ध की स्थिति में उपस्थित होने की प्रायिकता को एक भी बड़े पाठ में घटाकर देखना चाहें, तब भी प्रतिदर्श वाक्य में एक-एक लिप्यक्षर या लिप्यक्षर-समूहों को स्थानापन्न करने के बाद हम नए स्वीकार्य वाक्यों के निर्माण में समर्थ नहीं होंगे। (इसप्रकार की जोड़-तोड़ अंग्रेज़ी तथा कुछ अन्य भाषाओं में कीगई है, और उसके परिणामों को कूटलिपि आदि में प्रयोग कियागया है; एवं लिखित सन्देशों के सम्प्रेषण केलिए संचार-सरणियों के अभिकल्प में उनका उपयोग कियागया है।) तथ्य यह है कि वर्णचिह्नों के कुछ 'खण्डक' भाषा में ही 'उच्चस्तरीय इकाइयों' का निर्माण करते हैं, जिनकी सीमाओं पर एक की अपेक्षा दूसरे एकाकी वर्णों की उपस्थिति की प्रायिकता इस बात के निर्धारण में नगण्य महत्त्व रखती है कि कौन-से 'खण्डक' स्वीकार्य उक्तियों के निर्माण केलिए एक-दूसरे से मिलसकते हैं।

अब उक्त प्रतिदर्श वाक्य में 'w' की उपस्थिति 'i' के बाद और 'a' के पहले सामान्यतः प्रायिक है या नहीं, इस तथ्य की अपेक्षा यह तथ्य अधिक मुख्य है कि 'w' उस खण्डक का अंश है जो 'want' के रूप में स्थित है। एक दृष्टि से इसे अंग्रेज़ी में अनुमत लिप्यक्षरशृंखला कहा जासकता है; जबकि दूसरी दृष्टि से इसे एक ऐसी इकाई माना जासकता है, जिसकी जगह दूसरे खण्डक आकर अधिक स्वीकरणीय उक्तियों का निर्माण कर सकते हैं : यथा, idrinkapintofmilk और itakeapint-ofmilk आदि में 'ड्रिंक' और 'टेक' ऐसे ही खण्ड हैं, जो 'वान्ट्' के स्थान पर आए हैं। यहाँ 'i' भी एक खण्ड है, भले ही वह एक ही लिप्यक्षर से बना है। इसके स्थान पर वर्त्तमान सन्दर्भ में कोई अन्य एकाकी वर्ण स्थानपन्न नहीं किया जासकता, जिससे एक नया स्वीकार्य वाक्य बन जाए। इसके स्थान पर केवल 'we', 'they', 'thejoneses', आदि 'खण्डक' ही प्रयुक्त किये जासकते हैं। अबतक हमने जिन्हें 'लिप्यक्षर-खण्डक' के रूप में कहा है, उन्हें अब हम अस्थायी रूप में भाषा के 'शब्द' कह सकते हैं। (युक्ति की सरलता के लिए हम यहाँ इस तथ्य को दृष्टि से ओझल कर देंगे कि 'I' (आई) के स्थान पर आने वाले शब्द केवल 'एक' ही न होकर शब्द-संघात के रूप में भी होसकते हैं : यथा, 'The Joneses', 'They all' आदि।

इस स्थल पर पाठक को कदाचित् 'द्विगुण उच्चारण' (तु० २. १. ३) के प्रकरण को दुबारा देखना अभीष्ट हो।

४. २. ६ व्याकरणात्मक वर्णन के प्रति वितरणात्मक उपागम

हम यह देखेंगे कि हम इस परम्परागत दृष्टिकोण पर 'अर्थ' की धारणा की सहायता लिए बिना ही पहुँच गए हैं कि अंग्रेज़ी वाक्यों की संरचना दो स्तरों पर घटित होती है: ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाइयों या '**लिप्यक्षरों**' के द्वारा, और **शब्दों** के द्वारा। हमने इस ध्वनिप्रक्रियात्मक या शुद्धलेखनात्मक 'स्वीकार्यता' के घटक को विभेद केलिए शेष स्वीकार्य अंश से पृथक् करलिया है, जबकि उस श्रेष्ठ अंश को अन्य 'उच्चस्तरीय घटकों' में विश्लेषण केलिए छोड़ दिया है। निस्सन्देह यह सत्य है कि 'I want a pint of milk' और 'I drink a pint of milk' जैसे वाक्य जब विशिष्ट सन्दर्भ में प्रयुक्त होते हैं, तब सार्थक होते है। (अब हमने शब्दों के बीच अन्तर करना आरम्भ किया है।) इससे भी अधिक, वे अर्थ में भी परस्पर भिन्न होते हैं। अर्थ में यह विभेद 'वाण्ट', 'ड्रिंक', आदि घटक शब्दों के अर्थ के 'कार्य' के रूप में बताया जाता है। परन्तु, हमने अबतक इन बातों पर ध्यान नहीं दिया है। यहाँ प्रस्तुत किए जारहे व्याकरण-सिद्धान्त में हमें इस पर ध्यान देना भी नहीं चाहिए। उन्हें हम अर्थविचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रसंग में लेंगे। हमने सिद्धान्त रूप में जो कुछ किया है, वह यह है कि केवल कुछ भिन्न शब्दों को उसी ढाँचे या सन्दर्भ में रखकर स्वीकार्य वाक्यों का एक विन्यास बनाना दिखाया है। सन्दर्भों का वह समस्त विन्यास उसका 'वितरण' कहलाता है, जिसमें कि कोई भावात्मक इकाई उपस्थित होती है (तु० २. ३. १)। अतः हम जो कुछ यहाँ सिद्ध करना चाहरहे हैं, वह है व्याकरण-विश्लेषण में 'वितरणात्मक' उपागम का प्रयोग।

अब हम ऐसे स्थल पर पहुँच गए हैं, जहाँ हम कहसकते हैं कि **ध्वनिप्रक्रिया** के द्वारा ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाइयों के अनुमत संघातों के विशेषक सूत्रों या नियमों के माध्यम से भाषा की उक्तियों की स्वीकार्यता या अस्वीकार्यता का विवरण मिलता है। जबकि **व्याकरण** के द्वारा उच्चस्तर पर शब्दों के अनुमत संघातों को ध्यान में रखकर स्वीकार्यता-अस्वीकार्यता की बात कहीजाती है।

४. २. ७ ध्वनिप्रक्रिया और व्याकरण की अन्योन्याश्रितता

इस स्थल पर यह भी कहदेना उचित है कि अबतक भी हम यही सोचकर बढ़ रहे हैं कि वाक्य शब्दों से मिलकर बनते हैं, और शब्द ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाइयों से (या लिप्यक्षरों=लिपिचिह्नों से; यदि लिखित भाषा का प्रश्न हो)। इन दोनों ही मान्यताओं में बाद में सुधार करना होगा। (प्रस्तुत युक्ति कुछ अधिक जटिल होजाएगी, यदि हम वे सुधार यहीं पर प्रविष्ट करदें। पर अनुचित यह तब भी नहीं ठहरेगी।) यहाँ यह भी कहदेना आवश्यक है कि यद्यपि अबतक हमारी

चर्चा इस रूप में ही रही है, मानों व्याकरण का कार्य ध्वनिवैज्ञानिक विश्लेषण के बाद, किन्तु उससे स्वतन्त्र रूप में, ही होता है । परन्तु ऐसा होना अनिवार्य नहीं है (तु० ३. ३. १६) । भाषावैज्ञानिक संरचना के सैद्धान्तिक रूप से भिन्न दो स्तरों के रूप में व्याकरण और ध्वनिप्रक्रिया की स्थापना कीगई है । किन्तु किसी भी भाषा की व्याकरणात्मक और ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना परस्पराश्रित होती है (तरीका और मात्रा भिन्न-भिन्न होसकते हैं) । यह कार्य भाषाविद् का ही है कि किसी दत्त भाषा में पाई जाने वाली इस परस्पराश्रितता का विवेचन करे (उसका ही यह भी कार्य है कि वह भाषा के व्याकरणात्मक और अर्थात्मक ढाँचों की परस्पराश्रितता का विवरण दे) ।

४. २. ८ वितरणात्मक विश्लेषण का एक सरल उदाहरण

व्याकरण-वर्णन के सन्तोषजनक विवरण से हम अबतक भी बहुत दूर हैं । हमने अबतक नहीं बताया कि शब्दों के स्वीकार्य संघातों को किस प्रकार विशेषित किया जासकता है । विशिष्ट शब्दों के सभी स्वीकार्य योगों या संघातों को सूचीबद्ध करना भी प्रश्न से बाहर है, क्यों कि हम कहचुके हैं कि कोई भी भाषा केवल गिने-चुने वाक्यों का विन्यासमात्र ही नहीं कही जासकती । यदि सामग्री का 'संग्रह' सीमित हो, तब इतना अवश्य सम्भव है कि ध्वनिप्रक्रिया या शुद्धलेखन की दृष्टि से सभी भिन्न वाक्यों की सूची ग्रथित कीजाए, और तब इस सूची के अनुसार स्वीकार्यता के प्रश्न का निर्णय कियाजाए । परन्तु, यह सूची इस दृष्टि से **असमर्थ** होगी कि इस से यह ज्ञात न होसकेगा कि उस भाषा के देशी वक्ताओं में नए वाक्यों की रचना की सामर्थ्य कितनी है ? प्रदत्त पाठ के विश्लेषण का यह उपाय लघुतम भी न होगा । थोड़ा अधिक विचार करने पर हम यह जान लेंगे कि ऐसा क्यों ?

किसी भाषा के व्यापक और प्रतिनिधि वाक्य-प्रतिदर्श में विभिन्न शब्दों के वितरण में पर्याप्त अतिव्यापन पाया जाएगा । उदाहरणार्थ, पूर्व-कथित वाक्य '*I drink a pint of milk*' में '**मिल्क**' के स्थान पर केवल **बीयर**, **वाटर**, **जिन**, आदि का ही प्रयोग नहीं होसकता, अपितु शब्दों का यही विन्यास उन अन्य कई स्तम्भों में भी प्रयुक्त होसकता है, जिनमें 'मिल्क' का भी प्रयोग सम्भव हो । इसी तरह 'I' के स्थान पर यहाँ *they*, *we*, *you*, आदि, एवं '*drink*' के स्थान पर *buy*, *take*, *order*, आदि, का प्रयोग भी विविध स्थितियों में होसकता है । अतः जो शब्द विविध प्रसंगोंमें एक-दूसरे का स्थान लेसकते हैं, वे 'वितरणात्मक श्रेणी' के रूप में वर्गीकृत किये जासकते हैं ।

हम मानलेते हैं कि हमारे पास इन सत्रह वाक्यों का संग्रह विश्लेषण केलिए विद्यमान है : **अब**, **अर**, **पर**, **कअब**, **दपब**, **अचअ**, **पचअ**, **पचप**, **कअर**, **दअचअ**, **कअचअ**, **दअचप**, **दअचकअ**, **दअचदप**, **कपचदअ**, **अचकप**, **अचदप** । इनमें से प्रत्येक भिन्न लिप्यक्षर-एक भिन्न शब्द का प्रतिनिधित्व करता है : प्रतीक इस लिए अपनाए

गए हैं कि बात को सामान्य बनाया जासके, और यह भी स्पष्ट किया जासके कि यहाँ हम अर्थात्मक विमर्शों का आश्रय नहीं लेरहे। (क्योंकि **स्वीकार्यता** स्थानापन्नता के प्रचलन के कारण संरक्षित मानी जाती है, तथा उसके बीच 'सार्थकता' का भाव भी अन्तर्हित रहता है; अतः यहाँ यह प्रतीत होसकता है कि हम 'अनेकार्थकता' के प्रयोग के दोषी हैं। हम अभी उस दिशा में बढ़ रहे हैं, किन्तु अब तक भी 'व्याकरणात्मक' और 'सार्थक' के बीच विभेद तक पहुँचे नहीं हैं।) हम यह पाएँगे कि **अ** और **प** कुछ अंश में समान वातावरण से युक्त हैं (तु०—र, **पच-**, **दअच-**), और यही बात '**ब**' और '**र**' के विषय में (तु०—**अ-**, **कअ-**) तथा '**द**' और '**क**' के विषय में भी (तु०—**दअच-अ**,**-अचअ**, **अच-प**) लागू होती है; किन्तु '**च**' का वितरण (**अ-अ**, **प-अ**, **प-प**, **कअ-अ**, **दअ-अ**, **दअ-प**, आदि में) इस अर्थ में अनूठा है कि जिन भिन्न वातावरणों में यह आता है, उनमें कोई अन्य शब्द नहीं आता। अब हम '**अ**' और '**प**' को '**क्ष**' श्रेणी में रख देते हैं, और जहाँ भी '**अ**' या '**प**' आते हैं, उनकी जगह '**क्ष**' रख देते हैं। इस प्रकार जहाँ एक वाक्य में '**अ**' है और दूसरे में '**प**', वे दोनों ही सूत्रानुसार वाक्यों की एक ही श्रेणी में परिणत होजाते हैं : क्षब, क्षर, (अर, पर), कक्षब, दक्षब, **क्षचक्ष** (अचअ, पचअ, पचप), कक्षर, कक्ष चक्ष, दक्ष, चक्ष, (दअचअ, दअप), दक्षच कक्ष, दक्षच दक्ष, कक्षचद क्ष, क्षचकक्ष, क्षचदक्ष। अब हम 'ब' और 'र' को '**त्र**' की वितरण श्रेणी में रख देते हैं और 'द' एवं 'क' को '**ज्ञ**' श्रेणी में। इन सब को 'त्र' एवं 'ज्ञ' के श्रेणी क्रम में रखकर हम निम्न रचनाएँ पाते हैं : (१) **क्षत्र** (क्षय, क्षर); (२) **ज्ञक्षत्र** (कक्षब, कक्षर, दक्षबक्ष); (३) **क्षचक्ष**; (४) **ज्ञक्षचक्ष** (कक्षचक्ष, दक्षचक्ष); (५) **ज्ञक्षचज्ञक्ष** (दक्षचकक्ष, दक्षचदक्ष, कक्षचदक्ष); (६) **क्षचज्ञक्ष** (क्षचक क्ष, क्षचदक्ष)। इस प्रकार हम अपने 'संग्रह' के सत्रह वाक्यों को छह संरचनात्मक सूत्रों में, स्वीकार्य शब्द-शृंखला को दिखाते हुए, समेट सकते हैं। '**च**' केवल एक ही अवयव वाली श्रेणी है। ये सूत्र 'समरैखिक' हैं, जिसे बाद में हम ६. १. १ में समझाएँगे।

इस समय तो हम अपने 'संग्रह' के वाक्यों की रैखिक संरचना के वर्णन से ही सन्तुष्ट रहसकते हैं : अर्थात्, निम्न सूत्रों या नियमों के रूप में :

(१) **क्षत्र**
(२) **ज्ञक्षत्र**
(३) **क्षचक्ष**
(४) **ज्ञक्षचक्ष**
(५) **ज्ञक्षचज्ञक्ष**
(६) **क्षचज्ञक्ष**

इनमें से प्रत्येक नियम एक विशेष प्रकार के वाक्य का वर्णन करता माना जासकता है। (इस स्थिति में यह कहना उचित नहीं है कि इन सब प्रकारों को भी

हम 'घटक-संरचना' के आधार पर 'उपप्रकार' कह सकते हैं : तु० ६. १. २ से आगे ।) यह देखा जासकता है कि यह प्रणाली इन सत्रह वाक्यों की स्वीकार्यता को सही रूप में सिद्ध करदेती है (अर्थात् उन्हें 'व्याकरणात्मक' सिद्ध करती है) । किन्तु ऐसा करते हुए यह इन घटित होने वाले वाक्यों के साथ अन्यों को भी अन्तर्गृहीत करके कुल ४८ वाक्यों का विन्यास बनाती है । (यह ४८ संख्या २. ३. ८ में दिए गए सूत्र को प्रत्येक छह वाक्य-प्रकारों पर घटाने से प्राप्त की गई है । प्रथम प्रकार के २×२ =४ वाक्य बनते हैं; द्वितीय प्रकार के २×२×२=८; तृतीय प्रकार के २×१× २=४; चतुर्थ के १६; पंचम के ८, और षष्ठ के ८ वाक्य । इस प्रकार कुल ४८ हुए ।) इसलिए इस व्याकरण द्वारा वर्णित भाषा केवल ४८ वाक्यों से ही बनी है । अत: घटित न होने वाले ३१ वाक्यों को या तो स्वीकार्य घोषित कियाजाना चाहिए, या फिर उन्हें बहिष्कृत करने केलिए समुचित नियम विधान कियाजाना चाहिए; ताकि कुछ शब्दों का संघात अमान्य ठहराया जासके । किन्तु ऐसे अतिरिक्त नियम व्याकरण को अधिक जटिल बनादेंगे । अत: सबसे अधिक लघुतम उपाय वह है, जिस के द्वारा हम इन सत्रह वाक्यों को उन सम्भव ४८ वाक्यों का यादृच्छिक नमूना मान कर चलते हैं । इस प्रकार इन वाक्यों की व्याख्या केलिए हमने जिस व्याकरण का निर्माण किया, वह ४. २. २ में बताए गए अर्थों में 'उत्पादक' है । हम कहेंगे कि यह पाठ की भाषा को उत्पन्न करता है या अभिलक्षित करता है, और 'प्रतिदर्श' में उप-स्थित प्रत्येक वाक्य केलिए एक विशिष्ट संरचनात्मक वर्णन निश्चित करता है (बल्कि 'प्रतिदर्श' में अगृहीत वाक्यों के लिए भी) : यथा, '**पर**' वाक्य की संरचना '**क्षत्र**' है और 'पचदअ' वाक्य की संरचना '**क्षचज्ञक्ष**' है, इत्यादि) ।

इस परिमित कृत्रिम 'भाषा' में, जिसे हमने उदाहरण केलिए अपनाया है, कुल सात ही शब्द हैं, जिनसे व्याकरण द्वारा बनसकने वाले ४८ वाक्यों में से कुल १७ सरल वाक्य ही 'संग्रह' में गृहीत हैं । प्राकृतिक भाषा में स्थिति निश्चय ही इस से कहीं अधिक जटिल होगी । व्यक्तिगत शब्दों की संख्या कई हज़ार तक पहुँच जाएगी । उनका वितरणात्मक श्रेणीकरण इतना सीधा और इतने सहज तरीके से सम्पन्न होनेवाला नहीं होगा । फिर, कितने ही भिन्न प्रकार के वाक्यों को ध्यान में रखना होगा, जिनमें जटिलतम वाक्य भी सम्मिलित होंगे । किन्तु, ये तथ्य सिद्धान्त पर प्रभाव नहीं डालते । प्राकृतिक भाषाओं के शब्दों को वितरणात्मक श्रेणियों में समूहित किया जासकता है (क्रियात्मक रूप में वैयाकरणों ने सदा ऐसा किया भी है) । एक प्रकार के वाक्यों में विशिष्ट स्थिति केलिए जिन वितरणात्मक श्रेणियों को स्थापित कियाजाता है, वे ही अन्य प्रकार के जटिलतर वाक्यों केलिए भी उचित ठहरती हैं । जैसा कि यहाँ समझाया गया है, वितरणात्मक श्रेणियों के अवयव होने के कारण शब्दों या पदबन्धों के संघात की दृष्टि से व्याकरण किसी भाषा के वाक्यों का वर्णनमात्र ही कहा जासकता है । यह भी एक प्रकार से बीजगणित ही है, जिस में 'परिवर्त्ती' हैं **शब्द-श्रेणियां** अथवा **व्यंजन**; अथवा विशिष्ट वाक्यों में 'परिवर्त्तियों'

द्वारा गृहीत 'मूल्य' हैं **व्यष्टि शब्द**।

यह देखने केलिए कि सिद्धान्ततः यह ऐसे वर्णन को प्रसूत करने में समर्थ होता है, जिसे 'व्याकरणात्मक' कहा जासके, हम उक्त उदाहरण को अंग्रेज़ी के शब्दों में पलट कर देखना चाहिए। हम **अ=मेॅन्, प=वीमेॅन्, ब=लिव, र=डाई, च=लव, द=ओल्ड**, और **क=यङ्** को मान लेते हैं। दूसरे शब्दों में, 'क्ष' में उन सभी शब्दों का ग्रहण करलें, जिन्हें **'संज्ञा-बहुवचन'** के रूप में जाना जाता है; **'त्र'** में **अकर्मक क्रियाओं** को, 'च' में 'सकर्मक क्रिया', और 'ज्ञ' में 'विशेषण' श्रेणी को। शब्द-श्रेणियों के अनुमत संघातों के सम्बन्ध में हमारे उक्त वक्तव्य में यह तथ्य निहित है कि **'मेॅन् डाई'** और **'ओल्ड मेॅन् लव यङ् वीमेॅन्'** आदि वाक्य, जिन्हें कि परम्परागत व्याकरण में **'कर्त्ता'** और **'विधेय'** से युक्त सामान्य वाक्य माना जाता है, व्याकरणात्मक दृष्टि से 'स्वीकार्य' हैं; जबकि ***'डाई मेॅन्'** या ***'ओल्ड लव यङ् मेॅन् वीमेॅन्'** आदि स्वीकार्य नहीं हैं।

४. २. ६ व्याकरणात्मक वर्ग

परम्परागत व्याकरण में **'पदभेदों'** (नाम, आख्यात, विशेषण, आदि को) प्रकटतः **'धारणात्मक'** शब्दों में (यथा, 'नाम' किसी व्यक्ति, स्थान या पदार्थ की संज्ञा को कहते हैं, आदि के रूप में) व्याख्यात कियाजाता है। किन्तु जैसा कि हम सातवें अध्याय में देखेंगे, परम्परागत वैयाकरणों ने अपने विमर्श में 'पदभेदों' के सम्बन्ध में दो भिन्न प्रश्नों को परस्पर उलझा दिया है। **प्रथम प्रश्न**, जिसका यहाँ पर सम्बन्ध भी है, उन प्रतिबन्धों का है, जिनमें कोई शब्द किसी एक विशिष्ट व्याकरणात्मक श्रेणी से सम्बद्ध होसकता है : यथा, **'मेॅन्'** शब्द **'क्ष'** श्रेणी में गृहीत होता है या **'त्र'** में; क्रियात्मक रूप में इसका निर्णय सदा ही शब्द के वितरण के आधार पर किया जाता रहा है : अर्थात्, उन्हीं वाक्यों में दूसरे शब्दों की तुलना में इसकी उपस्थिति के आधार पर। इस विषय में आधुनिक भाषाविज्ञान ने व्याकरण की सीमा के भीतर ही वितरणात्मक नियम को मान्यता दी है, जिससे परम्परागत वैयाकरण सदा ही व्यावहारिक रूप में परिचालित रहे हैं। इस नियम की सैद्धान्तिक मान्यता ने व्याकरण के **रूपात्मक** और **धारणात्मक** रूपों में विभेद को स्पष्ट करदिया है।

द्वितीय प्रश्न का सम्बन्ध, एक बार 'रूपात्मक' आधार पर उनका 'अवयवत्व' सिद्ध होजाने पर, उन्हें दी जाने वाली 'संज्ञाओं' से है। यथा, 'क्या 'क्ष' को 'नाम' उचित रूप में कहाजाता है?' 'रूपात्मक' व्याकरण की दृष्टि से कोई भी नाम एक-सा ही महत्त्व रखता है। और, परम्परागत संज्ञाएँ—नाम, आख्यात, आदि—किसी भी अन्य सम्भाव्य संज्ञा की अपेक्षा न तो अधिक संतोषजनक होती हैं, न कम।

हम बाद में देखेंगे कि **'नाम'** या **'क्रिया'** जैसी संज्ञाओं की व्याख्या ऐसे रूप में कीजानी सम्भव है, जिससे परम्परात्मक 'धारणात्मक' व्याख्या भी समादृत हो जाए, और विविध भाषाओं के 'रूपात्मक विश्लेषण' में उनका नियोजन भी सम्भव

होसके। परन्तु, इस प्रश्न की अधिक चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में हम यही मानकर चलेंगे कि **नाम, आख्यात, विशेषण** तथा अन्य व्याकरणात्मक संज्ञाएं किसी प्रकार के धारणात्मक विनियोग में प्रयुक्त नहीं होती। बल्कि, वे वितरणात्मक दृष्टि से उचित व्याकरणात्मक-श्रेणियों को सूचित करती हैं, जिन्हें याहच्छिक रूप में कोई अन्य नाम भी दिए जासकते थे।

अब हम इस स्थिति में हैं कि प्रारम्भिक तौर पर **व्याकरणात्मक** और **'अर्थवत्'** के बीच भेद करसकें। (हम इस प्रश्न पर इसी पुस्तक में अन्यत्र भी विचार करेंगे।) सरलता केलिए यहाँ हम अंग्रेज़ी वाक्यों की एक ही श्रेणी को विचारार्थ लेंगे, जो सभी जानबूझकर सरल रूप में प्रस्तुत किएगए हैं। वह वाक्य-श्रेणी निम्न उदाहरणों के रूप में उल्लिखित की जासकती है, जो 'स्वीकार्य' भी मानी जासकती है:

(क)	*The dog bites the man*	(कुत्ता आदमी को काटता है।)
(ख)	*The chimpanzee eats the banana*	(वनमानुष केला खाता है।)
(ग)	*The wind opens the door*	(हवा दरवाज़ा खोलती है।)
(घ)	*The linguist recognises the fact*	(भाषाविद् तथ्य को स्वीकार करता है।)
(ङ)	*The meaning determines the structure*	(अर्थ संरचना का निर्धारण करता है।)
(च)	*The woman undresses the child*	(स्त्री बच्चे के कपड़े उतारती है।)
(छ)	*The wind frightens the child*	(हवा बच्चे को डराती है।)
(ज)	*The child drinks the milk*	(बच्चा दूध पीता है।)
(झ)	*The dog sees the meat*	(कुत्ता मांस देखता है।)

अंग्रेज़ी के परम्परागत व्याकरणात्मक वर्णन में इन सभी वाक्यों को **कर्त्ता-विधेय** संरचनावाले सरल वाक्य मानाजाएगा। फिर, विचाराधीन वाक्य-श्रेणी के विषय में यह भी कहाजाएगा कि यहाँ **कर्त्ता** के रूप में एक पदबन्ध है, जोकि **'आदि-निपात'** (यहाँ **'द'**) और **'नाम'** से मिलकर बना है और 'विधेय' से पहले प्रयुक्त हुआ है; और **'विधेय'** भी एक पदबन्ध' है, जिसकी रचना (सकर्मक) **'क्रिया'** और **'कर्म'** (जोकि स्वतः **'आदिनिपात'** और **'नाम'** के 'बंध' के रूप में है) से मिलकर बना है। अन्य भी कई बातें उक्त वाक्य-श्रेणी के विषय में कही जासकती हैं: यथा, **'कर्त्ता'** और **'क्रिया'** का **'वचन'** एक ही होता है (यथा The dog bites और The dogs bite); क्रिया के 'लकार' या काल के द्योतन केलिए 'रूपविधान' किया जाता है (यथा *bite* वर्तमान में और *bit* भूतकाल में, उसी क्रिया के रूप हैं)। इन सब बातों को कम या अधिक सन्तोषजनक रूप में वर्तमान 'रूपात्मक' व्याकरण के ढाँचे के भीतर भी व्याख्यात किया जासकता है (विशेषकर सातवें और आठवें अध्याय

में)। इस स्थल पर हम केवल तीन शब्द-श्रेणियों से ही काम चलाएँगे : **नाम**, **आख्यात** और **आदिनिपात** ! **आदिनिपात** को एकसदस्यीय श्रेणी कहा जासकता है ('द' के रूप में)। हम यहाँ इसे **'आ'** के रूप में संक्षिप्त संकेत देंगे। **'ना'** और **'क्रि'** के द्वारा क्रमशः हम **'नाम'** और **'क्रिया'** को संकेतित करेंगे। उक्त शब्दोंसमेत इनके वाचक हज़ारों शब्द होसकते हैं।

ना—(*dog, man, chimpanzee, banana, wind, door, linguist, child, meaning, structure, milk, meat,*...आदि)

क्रि—(*bites, eats, opens, recognises, determines, undresses, frightens, drinks, sees,*...आदि)

अंग्रेज़ी के विशिष्ट शब्दों के इस अस्थायी वितरणात्मक श्रेणीकरण के आधार पर हम निम्न व्याकरणात्मक नियम को प्रस्तुत करसकते हैं, जिसे हम रैखिक संरचना (तु० ६. १. १) का नियम मानते हैं (इसका अर्थ यह हुआ कि हम स्वयं को 'एकवचन नाम' और 'वर्त्तमान क्रिया' तक ही सीमित रखरहे हैं) :

$$वा_1 : आ + ना + क्रि + आ + ना$$

यहाँ **'वा'** को 'वाक्य' का प्रतीक माना गया है। इस विषय में 'ग्रीक' और 'रोमन' प्रतीकों से सम्बद्ध व्यवहार भिन्न-भिन्न हैं। **'वा'** के नीचे दिया अंक इस बात की सूचना देता है कि यह नियम **एक** ही वाक्य-श्रेणी पर लागू होता है। 'अंक' का चुनाव शुद्ध रूप से यादृच्छिक है।

इस नियम को निम्न रूप में कहा जासकता है : 'ऐसा कोई भी शब्द-संघात, जो उक्त संकेतों में से प्रत्येक के स्थान पर ऊपर गिनाई गई शब्द-श्रेणियों में से एक-एक शब्द यथावत् रख देने से बनता है, '१' कोटि का वाक्य कहलाता है।' अतः व्याकरणात्मक नियम पहले से ही केवल ऐसे शब्दकोष की सत्ता मानकर नहीं चलता, जिसमें भाषा के प्रत्येक शब्द को **ना, क्रि, आ,** आदि के रूप में यथावत् व्याकरण-श्रेणी में बाँटा गया हो; बल्कि ऐसे की कि जिसमें 'शब्दात्मक स्थानापादन' के एक या अनेक नियम भी देरखे हों, जिससे किसी शब्द-श्रेणी के प्रतीकों के स्थान पर किसी शब्दविशेष के स्थानान्तरण का विधान किया जासके। इस प्रकार के नियमों का अस्तित्व हम यहाँ स्वीकृत मानकर ही चलेंगे : उनपर विचार अगले खण्ड में होगा। उक्त नियम के रहते, और ऊपर गिनाई श्रेणीबद्ध अवयवों (सदस्यों) की सूची के रहते, हम अपने प्रतिदर्श में दिए समस्त वाक्यों को व्याकरणात्मक दृष्टि से निम्न संरचनात्मक वर्णन में बाँध सकते हैं :

$$आ + ना + क्रि + आ + ना$$

हमने कहा है कि **'ना'** और **'क्रि'** सहस्रों सदस्यों से युक्त होसकते हैं। अंकीय गणना के सरलीकरण केलिए तथा ऊपर दिए नियम के अनुसार बननेवाले अंग्रेज़ी

वाक्यों की कोई उचित संख्या पाने केलिए, हम मानलेते हैं कि **'ना'** और **'क्रि'** श्रेणियाँ ठीक एक-एक सहस्र सदस्यों से युक्त हैं (१०^{3})। इस मान्यता के आधार पर उक्त नियम के द्वारा कुल मिलाकर $१ \times १०^{३} \times १०^{३} \times १ \times १०^{३} = १०^{९}$ (एक अरब) वाक्य ऐसे बनेंगे, जिनकी संरचना एक ही तरह की होगी। यह तो है एक नियम, जो बहुत छोटे अंग्रेज़ी वाक्यों की एक सरलतर श्रेणी की व्याख्या करता है।

इस पर भी यह अत्यधिक व्यापक नियम है। व्यापक इसलिए कि निस्सन्देह यह स्वीकार्य वाक्यों को अत्यधिक संख्या में व्युत्पन्न करता है। परन्तु कदाचित् यह अत्यधिक व्यापक होगया है, क्योंकि यह व्याकरणात्मक रूप में ऐसे अनेक वाक्यों को भी व्युत्पन्न करता है, जोकि प्रयोग की सामान्य स्थितियों में स्वीकार्यता की परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होसकेंगे। ('सामान्य स्थितियों' वाली शर्त कितनी ही अनिर्धार्य होने पर भी त्याज्य नहीं है। उदाहरणार्थ, बहुत से सामान्यतः 'अस्वीकार्य' वाक्य भाषावैज्ञानिक विचार-प्रसंग में जानबूझकर प्रविष्ट किएजाते हैं, और वह भी एकसी 'असामान्य' परिस्थितियों में।) क्योंकि प्रस्तुत नियम द्वारा व्युत्पन्न सभी वाक्य इसके द्वारा 'व्याकरणात्मक' घोषित कियेगए हैं, अतः हमें या तो अस्वीकार्य वाक्यों की रचना केलिए इस नियम को सुधारना चाहिए; या फिर उनकी 'अस्वीकार्यता' का कारण बताना चाहिए, यदि ऐसा भाषा के समस्त वर्णन की दृष्टि से सम्भव हो; विशेषकर शब्दों की विशेष उपश्रेणियों की पारस्परिक 'असह्यता' के विषय में (या किसी अन्य रूप में)। हम देखेंगे कि ये दोनों विकल्प भी परस्पर **अनन्य या अपवर्जक** नहीं है। पर हम पहले प्रथम विकल्प के निहितार्थों पर 'रूपात्मक व्याकरण' की दृष्टि से विचार करेंगे।

४. २. १० उपवर्गीकरण

इस नियम के संशोधन का एक स्पष्ट तरीका यह है कि 'ना' और 'क्रि' की श्रेणियों का उपविभाजन कियाजाए, और तब एक के स्थान पर सर्वथा नए नियमों का समूह बनाया जाए। अतः हम इस सब को निम्न रूपमें उपविभाजित करलेते हैं :

$ना_{क}$ = (**डॉग, मैन, शिपाज़ी, लिंग्विस्ट, चाइल्ड, विण्ड** आदि...)
$ना_{ख}$ = (**बनाना, डोर, मिल्क, मीट,** आदि ...)
$ना_{ग}$ = (**फैक्ट, मीनिंग, स्ट्रक्चर,** आदि ...)
$क्रि_{क}$ = (**ईट्स, बाइट्स, फ्राइटन्स, अनडैसेंज़, सीज़,** आदि...)
$क्रि_{ख}$ = (**रिकौग्नाइज़ेज़, डिटर्मिन्स, सीज़, ईट्स,** आदि ...)
$क्रि_{ग}$ = (**डिटर्मिन्स,** आदि ...)

इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, हमें इस पुनः-वर्गीकरण की कुछ बातों पर बलदेना है। **प्रथम** तो यह कि इन निर्णयों पर हम जिस तरह से पहुँचे हैं, वह सिद्धान्ततः असम्बद्ध है। यहाँ हम यह कहना नहीं चाहते कि भाषावैज्ञानिक नियम

कोई ऐसी प्रक्रिया तय करसकते हैं, जिससे कि व्याकरणात्मक नियमों में बताई गई वितरणात्मक श्रेणियों का निर्धारण या 'आविष्कार' होसके। मुख्य बात तो यह है कि क्या एक वर्गीकरण की अपेक्षा दूसरा वर्गीकरण किसी भी प्रकार से वैयाकरण को ऐसे नियमविन्यास के निर्माण में समर्थ करता है, जिसके द्वारा व्याकरणात्मक दृष्टि से सम्भव कुल वाक्यों में से केवल अधिकांश स्वीकार्य वाक्यों का तो समावेश होजाए, किन्तु कम-से-कम असम्भाव्य वाक्यों का बहिष्कार भी होजाए? (इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी बातें हैं, जिन्हें हम **पर्याप्तता** के **'सबल'** और **'निर्बल'** रूपों के विचार-प्रसंग में लेंगे, किन्तु उनको यहाँ छोड़ा जासकता हैं: तु० ६. ५. ७।) **द्वितीय** बात यह अवधेय है कि नए उपवर्ग पादाक्षरों के प्रयोग के रहते भी एक-दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध हैं। **ना**क, **ना**ख, **ना**ग, आदि वर्ग केवल सांयोगिक रूप में ही **'ना'** के उपवर्ग कहे जासकते हैं: इस अर्थ में कि हम एक अस्थायी व्याकरणात्मक वर्गीकरण से उतरकर दूसरे वर्गीकरण में आगए हैं। सिद्धान्ततः हमने विचाराधीन भाषा की शब्दराशि का एक सर्वथा नया वर्गीकरण किया है, और उसके सर्वथा नये व्याकरण का निर्माण किया है। अगले ही खण्ड में हम देखेंगे कि वितरणात्मक वर्गीकरण की उस धारणा पर पुनर्विचार करना सम्भव है, जिसके अधीन हमने **'ना'** और **'क्रि'** को ही उक्त तीनों भेदों में बँटता हुआ माना है। और **अन्तिम** बात यह कि यहाँ हमने एक प्रकार की बहुगुणसदस्यता की बात को कुछ मात्रा में प्रविष्ट किया है: **'डिटर्मिन्स'** और **'सीज़'** दोनों दो-दो वर्गों के सदस्यों के रूप में गिनाए गए हैं। इस द्विगुण वर्गीकरण के विरुद्ध जो कुछ कहा जासकता है, उसके अतिरिक्त वर्तमान ढाँचे के भीतर एक अवांछित परिणाम यह होगा कि 'The child sees the banana' और 'The child sees the meaning' में sees (सीज़) शब्द व्याकरणात्मक दृष्टि से दो भिन्न-भिन्न तत्त्वों या अवयवों के रूप में प्रयुक्त हुआ है। हम इस समस्या पर अगले खण्ड में फिर विचार करेंगे।

इस नए वर्गीकरण को पाकर हम पहले के एक नियम के स्थान पर नियमों का एक सम्पूर्ण नया विन्यास बनाएंगे, जिसमें प्रत्येक एक नए प्रकार के वाक्य का विन्यास कररहा होगा:

(क) **वा**$_1$: **आ** + **ना**क + **क्रि**घ + **आ** + **ना**क = (**द डॉग बाइट्स द मैन**)

(ख) **वा**$_2$: **आ** + **ना**क + **क्रि**घ + **आ** + **ना**ख = (**द शिंपाज़ी ईट्स द बनाना**)

(ग) **वा**$_3$: **आ** + **ना**क + **क्रि**च + **आ** + **ना**ग = (**द लिंग्विस्ट रिकौग्नाइज़ेज़ द फैक्ट**)

(घ) **वा**$_4$: **आ** + **ना**ग + **क्रि**छ + **आ** + **ना**ग = (**द मीनिङ् डिटर्मिन्स द स्ट्रक्चर**)

यद्यपि ये चारों नियम उक्त प्रतिदर्श के नौ नियमों को निर्मित करने में पर्याप्त हैं (तथा अन्य अनेक को भी), यह स्पष्ट है कि इसी प्रतिदर्श में आए शब्दों से मिलकर नए बनाए जानेवाले वाक्यों को विधिवत् सिद्ध करने केलिए नए नियमों की आवश्यकता होगी (यथा—**'द बनाना फ्राइटन्स द लिंग्विस्ट'**, आदि केलिए)। इन अधिक नियमों के निर्माणार्थ और कुछ नए शब्दों को उक्त सूची में जोड़ने केलिए पाठक को यत्नशील होना चाहिए।

व्याकरणात्मक नियमों के संशोधन में उठनेवाली सर्वप्रमुख बात यह है कि अब अंग्रेज़ी के व्याकरणात्मक और व्याकरणविरुद्ध वाक्यों में विभेद को पुनः परिभाषित कियागया है। 'द बनाना बाइट्स द मीनिङ्' और 'द स्ट्रक्चर ड्रिंक्स द शिंपांज़ी' जैसे वाक्य सामान्यतः **अस्वीकार्य** मानेजाते थे। वे अब व्याकरणात्मक दृष्टि से भी **अशुद्ध** ठहरा दिएगए हैं। किन्तु, दूसरी ओर, ऐसी भी अनेक उक्तियाँ हैं, जो कि **अस्वीकार्य** होते हुए भी इन नियमों के द्वारा **व्याकरणसम्मत** ठहराई जाएँगी। यथा, 'द शिंपांज़ी ड्रिंक्स द डोर' और 'द डॉग अण्ड्रे सेज़् द विण्ड', आदि।

सिद्धान्ततः हम यह आशा करसकते हैं कि शब्दों के वर्गीकरण और नियमों की प्रणाली को क्रमशः तबतक अधिक बढ़ाया जासकता है, जबतक यह अधिकतम स्वीकार्य और न्यूनतम अस्वीकार्य वाक्यों के निर्माण में समर्थ न होजाए। हर संशोधन के साथ व्याकरणात्मकता की सीमाएँ भी भाषाविशेष के दृष्टिकोण से नए सिरे से निश्चित कीजाती हैं। ऊपर के उदाहरण में सैद्धान्तिक रूप से यही बात सिद्ध होती है। ('धारणात्मक' के विपरीत) 'रूपात्मक' दृष्टि से 'व्याकरणात्मकता' का अर्थ केवलमात्र उतनी मात्रा तक 'स्वीकार्यता' है, जिस तक उसे व्याकरण-विशेष के नियमों की पकड़ में लाया जासके, और भाषा के व्याकरणात्मक अवयवों और शब्दराशि का विशिष्ट श्रेणीकरण किया जासके। यहाँ अचानक ही **'शब्दराशि'** (शब्दकोष) और **'व्याकरणात्मक अवयव'** की चर्चा अन्तर के साथ आगई है। इस पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। इन दोनों को ही हम 'शब्द' के रूप में कहसकते हैं।

४. २. ११ व्याकरण की अनिर्धार्यता

किसी भी भाषा के वर्णन-प्रसंग में भाषाविद् को 'व्याकरणात्मकता' की सीमाओं को एक स्थल पर निश्चित करना ही पड़ता है। उसे यह सीमा किस विशेष जगह पर खींचनी है (यदि अन्य सब विकल्पों पर विचार करने के बाद उसे सीमा खींचने का यह निर्णय करना ही हो), इस बात का निर्णय दो प्रमुख घटकों पर निर्भर करता है। प्रथम को हम **'हीयमान लाभ'** के नाम से कहसकते हैं। परम्परागत वैयाकरण द्वारा कल्पित सीमा से भी आगे तक जाकर शब्दों के वितरणात्मक उपवर्गीकरण को सम्पन्न करना सम्भव है। किन्तु, विनिश्चयात्मक रूप से अस्वीकार्य वाक्यों के बहिष्कार के अपने प्रयास में भाषाविद् के सामने यह समस्या

आएगी कि नियम तो अधिक से अधिक बनते जारहे हैं, जबकि उनकी पकड़ में कम से कम वाक्य आते जारहे हैं। कदाचित् वह इतनी अधिक अतिव्यापी उपश्रेणियाँ बना बैठेगा कि 'सामान्यता' नाम की बात ही उनमें से नष्ट होजाएगी। **'हीयमान लाभ'** का वास्तविक अर्थ है : एक स्थल ऐसा आता है, भले ही वह अनिर्णीत हो, जहाँ नियमों में बढ़ती जटिलता की तुलना में 'लाभ' कम होजाता है। अर्थात्, उनके द्वारा स्वीकार्य और अस्वीकार्य वाक्य बहुत थोड़ी संख्या में ही पकड़ में आने लगते हैं। किन्तु, **द्वितीय** घटक भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। हम देखेंगे कि किसी भी भाषा में वाक्यों की संख्या असंख्येय होसकती है। अतः यह कहना कठिन ही होगा कि व्याकरण द्वारा 'व्युत्पन्न' कौनसा वाक्य स्वीकार्य है और कौनसा अस्वीकार्य ? वास्तव में व्याकरणात्मक वर्णन की कुछ ही सीमा के भीतर यह सामने आजाता है कि वैयाकरणों द्वारा निर्मित नियमों से उत्पन्न वाक्यों की निश्चित स्वीकार्यता-अस्वीकार्यता के विषय में देशज वक्ताओं में पर्याप्त मतभेद है। अतः स्वीकार्यता-अस्वीकार्यता के विषय में अनिर्धार्यता की समस्या वास्तविक और अनिवार्य है।

इन विमर्शों से यह परिणाम निकलता लगेगा कि किसी भी भाषा का व्याकरणात्मक ढाँचा अन्ततः 'अनिर्धार्य' ही होता है। बात केवल यहीं तक सीमित नहीं है कि भाषाविदों के मत इस विषय में भिन्न-भिन्न रहेंगे कि नियमों के क्षेत्र में **'सामान्यता की अनुकूलतम मात्रा'** क्या है ? तथा, विशिष्ट वाक्यों के विन्यास की स्वीकार्यता के विषय में भी उन में मतभेद रहेगा। बल्कि, समस्या यह भी है कि एक विशिष्ट श्रेणी के वाक्यों के उत्पादन को नियन्त्रित करनेवाले नियमों के ही अधीन दूसरी तरह के वाक्यों का उत्पादन नितान्त कठिन होजाएगा। इस प्रकार के कुछ उदाहरण ८. ३. ६ के बाद के प्रसंग में दिए जाएंगे। इसमें सन्देह नहीं कि व्याकरण की सैद्धान्तिक प्रगति के साथ-साथ इन कठिनाइयों में कमी आती जाएगी : किन्तु वर्त्तमान में तो वे अनिवार्य ही लगती हैं। अतः हम इस तथ्य को फिर से एक ऐसे सामान्य सिद्धान्त के रूप में कहसकते हैं, जो सभी व्याकरणात्मक वर्णनों के विषय में लागू होता है; भले ही हमने अगले अध्यायों में व्याकरणात्मक नियमों के प्रकृति और प्रकार के विषय में कुछ भी कहा हो। यह सिद्धान्त है : किन्हीं विशिष्ट शब्दों का संघात व्याकरणात्मक है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर केवल उन व्याकरणात्मक नियमों की छाया में ही दिया जासकता है, जो या तो उन्हें व्युत्पन्न करने में सफल होते हैं या असफल, और इस प्रकार उन्हें व्याकरणात्मक या अव्याकरणात्मक सिद्ध करसकते हैं।

रचनात्मक व्याकरण का विकास करने वाले शोम्स्की आदि अधिकांश वैयाकरण इस नियम का निषेध करते नजर आएंगे। उनके अनुसार किसी भी भाषा का व्याकरणात्मक ढाँचा 'निर्धार्य' होता है, और 'प्रतिभा' से या प्रत्यक्ष रूप में उसे देशज लोग पहचानते हैं। यह मान्यता कुछ अनावश्यक रूप से प्रबल लगती है। निस्सन्देह यह बात ठीक है कि देशज वक्ता इस बात में सहमत होंगे कि कुछ उक्ति-विन्यास या तो 'एक साथ सम्बद्ध' होते हैं, अथवा वे 'एक जैसे' या **'विभिन्न'** होते हैं। इस प्रकार का

'प्रातिभ ज्ञान', जहाँ तक वह विनिश्चेय है, भाषाविद् के लिए महत्त्वपूर्ण **'प्रदत्त सामग्री'** का काम देता है : और वह उनका विश्लेषण विविध प्रकार की स्वीकार्यताओं और वाक्यों के बीच विविध प्रकार की सम्बन्धमयता में विभेद करके करता है। किन्तु, उसे यह मानलेने की कोई आवश्यकता नहीं कि देशज वक्ताओं की 'प्रतिभा' और भाषाविद् के परिणामों के बीच कोई सीधी अनुकारिता होगी ही।

इस प्रश्न पर भाषाविदों में विद्यमान मतभेदों को बढ़ा-चढ़ाकर कहने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। इस बात पर बल देना, कि अन्ततः भाषा का व्याकरणात्मक ढाँचा अनिर्धार्य है, इस कथन से भिन्न है कि व्याकरणात्मक ढाँचे का कोई भी अंश निर्धार्य नहीं होता। इस प्रकार के अनेक शब्द-संघात हैं, जिन्हें सभी भाषाविद् बिना किसी व्याकरण-नियम के विनियोग के ही **'अस्वीकार्य'** और 'अव्याकरणात्मक' कह देंगे : * **'दे लाइक्स शी',*** **'द डॉग बाइट् द मैन,'** आदि। कोई कह सकता है कि भाषाविदों की यह तात्कालिक प्रतिक्रिया आदर्श अंग्रेजी के व्याकरणात्मक ढाँचे की उनकी प्रातिभ सतर्कता पर आधारित है। किन्तु कोई यह भी कहसकता है कि ऐसे शब्द-संघात आदर्श अंग्रेज़ी की उक्तियों में 'सामान्यता' के सिद्धान्तों का इतना उल्लंघन करते हैं कि किसी भी व्याकरण को उन पर ध्यान देना ही चाहिए। इन सामान्य सिद्धान्तों के बारे में यह कहा जासकता है कि वैकल्पिक व्याकरण वाक्यों को 'व्याकरणात्मक' या 'अव्याकरणात्मक' बताने की दृष्टि से भिन्न होते हैं। और, भाषाविदों एवं वक्ताओं के 'प्रातिभ ज्ञान' भी इस मामले में सर्वथा अविश्वसनीय और असंगत सिद्ध होते हैं।

४. २. १२ 'व्याकरणात्मक' और 'सार्थक' (अर्थवत्)

जैसा कि इस खण्ड के आरम्भ में ही हमने देखा है यह उचित ही प्रतीत होता है कि स्वीकार्यता के विविध प्रकारों के बीच विभेद पहचाना जाए। इसके अन्य भेदों के अतिरिक्त 'व्याकरणात्मक' और 'सार्थक' प्रकारों के बीच परम्परागत विभेद पर इस पूर्वकथित परिणाम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि अन्ततः व्याकरण की सीमाएँ अनिर्धार्य है ; या प्रत्येक व्याकरण अपनी सीमाओं को स्वयं ही बताता है और उस अर्थ में उन्हें 'निर्धार्य' भी बनाता है। जब हम किसी विशिष्ट व्याकरण की दृष्टि से किसी उक्ति को 'अव्याकरणात्मक' बताते हैं, तब हम यह नहीं कहरहे होते कि अन्य किसी दृष्टि से यह अस्वीकार्य नहीं है। शब्दों के कुछ संघातों के विषय में हम उन्हें, अस्वीकार्य होते हुए भी, **व्याकरणात्मक किन्तु अर्थहीन** कहसकते हैं। अन्य वाक्य ऐसे भी होसकते हैं, जिनके विषय में हम यह कहेंगे कि व्याकरणात्मक और सार्थक होने के बाद भी वे साधारण रूप से इसलिए घटित नहीं होते कि उनके द्वारा विहित 'अभिव्यक्ति' का अवसर कदाचित् ही होता है। इनके अतिरिक्त शब्दसंघात की एक अन्य श्रेणी ऐसी भी होसकती है, जिन्हें हम **अव्याकरणात्मक और अर्थहीन** साथ-ही-साथ कहदें। इस 'स्वीकार्यता' के प्रसंग में ही एक छोर पर कुछ ऐसे शब्द

संघात भी होते हैं, जिनकी स्वीकार्यता-अस्वीकार्यता का उत्तर केवल व्याकरण के द्वारा ही मिलता है : यथा—**'वे करते हैं'** और **'वह करता है'** के स्थान पर **'वह करते हैं'** और **'वे करता है'** के प्रयोगों में ! जबकि, दूसरे छोर पर, ऐसे भी संघात होते हैं, जिनके विषय में व्याकरणात्मक वर्णन किसी उपयोगिता का नहीं रहता। किन्तु ऐसी भी अनेक उक्तियाँ हैं, जिनकी स्वीकार्यता-अस्वीकार्यता के विषय में व्याकरणात्मक विवरण के अतिरिक्त घटक शब्दों की अर्थगत व्याख्या भी समान महत्त्व की ठहरती है। इसी आधार पर व्याकरणात्मक श्रेणियों की 'धारणात्मक' परिभाषाओं को उचित मान्यता मिलती है, जैसी कि कुछ भाषाओं में प्रचलित भी है : **'गत्यर्थक क्रियाएँ,' 'पुंल्लिग नाम,' 'अधिकरण पदबंध,'** आदि ! अगले ही खण्ड में हम व्याकरण और अर्थ-पक्ष के इस पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा फिर से करेंगे।

४. २. १३ प्रजनक : परिभाषा

पर, सर्वप्रथम हमें 'प्रजनन' और 'प्रजनक' संज्ञाओं के विषय में कुछ अधिक कह देना चाहिए; क्योंकि इन्हें अधिकांशतः गलत समझलिया जाता है। प्रथम बात तो निषेधात्मक महत्त्व की है : प्रजनक व्याकरण रचनान्तरक हो, यह अनिवार्य नहीं है (६. १. १)। **'प्रजनक'** और **'रचनान्तरक'** शब्दों के विषय में परस्पर प्रायः भ्रम होजाता है; क्योंकि इन दोनों का भाषाविज्ञान में प्रवेश शोम्स्की ने एक साथ ही किया। हैरिस ने भी 'रचनान्तरक' संज्ञा का प्रयोग लगभग शोम्स्की के समकाल ही किया था। शोम्स्की और उसके साथियों ने 'प्रजनक' (जेनरेटिव) संज्ञा का प्रयोग दो विभिन्न अर्थों में किया है : (१) **'उत्क्षेपक'** या 'प्राक्कथक'; और (२) **'स्पष्टोदित'** ('औपचारिक' और 'अनौपचारिक')। इस खण्ड में इसका प्रयोग इन दोनों ही अर्थों में हुआ है।

सर्वप्रथम इसका प्रवेश 'उत्क्षेपक' या 'प्राक्कथक' के रूप में कियागया। व्याकरण-नियमों के ऐसे किसी भी विन्यास को स्पष्टतः या निहित रूप में सूचित करने केलिए, जो किसी दत्त वाक्य-विन्यास को एक बृहत्तर वाक्य-विन्यास के प्रतिदर्श के रूप में उत्क्षिप्त या व्यवहृत करता है। इस प्रकार का व्याकरण इस दृष्टि से 'प्राक्कथक' है कि वह केवल वास्तविक वाक्यों को ही व्याकरणसम्मत सिद्ध नहीं करता, बल्कि 'शक्य' वाक्यों को भी वैसा ही सिद्ध करता है। यह जानलेना बहुत आवश्यक है कि आजतक जितने भी व्याकरण लिखेगए हैं, वे **प्रथम भावना** में 'प्रजनक' या 'उत्पादक' हैं। इस बात को इतने बल केसाथ कहने की आवश्यकता न रहती, यदि तथ्य यह न होता कि शुद्ध प्रयोग के सम्बन्ध में **'प्राक्कथन'** और **'अनुशासन'** के बीच अधिक विभेद को सदा ही उचित नहीं मानाजाता। (तु-१. ४. ३)।

किन्तु, इसी खण्ड के परवर्त्ती भाग में 'प्रजनक' का अर्थ 'स्पष्टकथन' के रूप में लियागया है (तु०-'प्रजनन', 'अभिलक्षण', ४. २. ८)। यह भावना गणित में

प्रयुक्त इसकी भावना से मिलती-जुलती है; कदाचित् उससे ही निकली भी है। हम इस उक्ति पर अशास्त्रीय ढंग से इस प्रकार विचार करते हैं: '२ संख्या २, ४, ८, १६, ३२...आदि संख्याओं के एक विन्यास या श्रृंखला को जन्म देती है।' संख्याओं का यह विन्यास अनन्त होतेहुए की ऐसी श्रृंखला में व्यवस्थित किया जासकता है, जिसमें उक्त प्रदर्शित उदाहरण की भाँति २ के घातों का वर्धमान क्रम हो, और जिसका प्रथम पद स्वयं २ हो। इस प्रकार २ की पाद-स्थित या आधारस्थित संख्या से जन्म लेने वाली कोई भी संख्या २सं फलन की शर्त को पूरा करती है, जिसमें २ 'पाद' या 'आधार' है और 'सं' १, २, ३, ४ आदि प्राकृतिक संख्याओं में क्रमतः परिवर्ती है। कोई संख्या कितनी भी बड़ी हो, वह या तो उक्त रीति से २ से उत्पन्न विन्यास का अंग होसकती है, या नहीं होसकती। वह २ के घात में है या नहीं, यह बात 'विनिश्चेय' है। किसी भी संख्या केलिए यह 'निश्चय-प्रक्रिया' निम्न रूप ले सकती है: किसी भी दत्त संख्या की सीमा तक, या उससे आगे तक, विचाराधीन संख्या की श्रृंखला बढ़ाते जाएं, ताकि आधार की श्रृंखला में प्राप्त या उत्पन्न संख्याओं में से प्रत्येक की तुलना में दत्त संख्या को जांचा जासके। उदाहरणार्थ, अब हम कहसकेंगे कि ९ संख्या किसी भी तरह २, ४, ८, या १६ के बराबर नहीं है। इनमें से केवल १६ ही ९ से बड़ी संख्या है। व्याकरणात्मक सादृश्य को पूरीतरह निभाने के लिए हम इससे भी बढ़कर यह कहसकते हैं कि किसी विन्यास में 'उत्पन्न होनेवाली' कोई भी संख्या एक 'संरचनात्मक वर्णन' के अनुसार होती है: निदर्शनार्थ, '६४' का 'संरचनात्मक वर्णन' है: '२सं', जिसमें सं=६।'

जब हम कहते हैं कि कोई व्याकरण भाषा के वाक्यों को प्रजनित करता है, तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि शब्दकोष-सहित वह ऐसे नियमों का विधान करता है कि जो सिद्धान्ततः भाषा के अवयवों (शब्दों) के संघात की विनिश्चय-प्रक्रिया को लगभग ऊपर कही भावना में ही परिणत करके सामने लाते हैं। फिर, व्याकरण केवल यह 'विनिश्चय' ही नहीं करता कि कोई शब्द-संघात व्याकरणात्मक है या नहीं (किसी ऐसे 'संघात' को जन्म देकर या बिना दिये, जिसके साथ विचाराधीन उक्ति की 'एकरूपता' पहचानी जा सके), बल्कि यह हर 'व्याकरणात्मक संघात' केलिए एक-न-एक संरचनात्मक-सूत्र या वर्णन भी देता है। (हम बाद में देखेंगे कि जिन वाक्यों पर एक के स्थान पर **दो 'सूत्र'** लागू हो सकते हैं, व्याकरणात्मक दृष्टि से **अस्पष्ट** कहलाते हैं: ६. १. ३)।

'प्रजनन' शब्द की यह दूसरी, गणितीय, भावना व्याकरण में विनियोग के लिए इस आधार पर चलती है कि व्याकरण-नियमों और उनके प्रचालन-प्रकार की प्रकृति एक दृढ़ एवं पूर्ण वैशिष्ट्य से युक्त होती है: यह व्याकरण-सिद्धान्त के 'रूपात्मीकरण' को मानकर चलती है। अतः इस खण्ड में हम, 'धारणात्मक' की तुलना में 'रूपात्मक' की अपेक्षा, 'अनौपचारिक' की तुलना में 'औपचारिक' की भावना में, 'रूपात्मक व्याकरण' के विचार प्रसंग में, बढ़ आए हैं। यह संक्रमण

पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में व्याकरण-सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास को प्रतिबिम्बित करता है।

४. २. १४ 'वितरण' एवं 'गवेषणा प्रक्रिया'

'रूपात्मक' और 'धारणात्मक' व्याकरण के बीच सीमांकन करनेवाले वितरणात्मक विश्लेषण के जिन नियमों की चर्चा हमने की है, उनका पूर्ण और विस्तृत विचार **हैरिस** ने अपनी पुस्तक **'मैथड्स इन स्ट्रक्चरल लिंग्विस्टिक्स'** में किया है, जिसका प्रकाशन १९५१ में हुआ, किन्तु जो उससे भी कुछ पहले लिखी जाचुकी थी। हैरिस और अन्य अमरीकी भाषाविदों ने इन सिद्धान्तों को उस **'प्रक्रमात्मक भाषाविज्ञान'** के ढांचे के भीतर ही विकसित किया था, जो भाषाविज्ञान और प्रणालीविज्ञान के सिद्धान्तों के नियमों के एक विशिष्ट विन्यास के रूप में विकसित हुए थे, और जिन्हें न तब व्यापक मान्यता प्राप्त हुई थी और न अब भी सामान्य रूप से वे स्वीकार किये गए हैं। विशेष करके इन्होंने यह माना था कि **'संरचनात्मक भाषाविज्ञान'** का मुख्य कार्य एक ऐसी प्रक्रिया को सूत्रित करना है, जिसे कि वक्ताओं के निर्णय की शरण में बिना गए ही किसी **'उक्ति-संग्रह'** पर घटाया जासके, और जिसके आधार पर केवल उस **'उक्ति-संग्रह'** से ही 'सूत्रों' या 'नियमों' का निर्माण किया जासके। यही कारण है कि **'वितरण'** और **'संरचनावादी'** शब्दों का सम्बन्ध, ऐतिहासिक दृष्टि से, इस मान्यता के साथ मानाजाने लगा है कि विशिष्ट व्याकरणों के नियमों को 'उक्तिसंग्रह' के आधार पर ही स्थापित करने केलिए 'गवेषण-प्रक्रियाओं' को सूत्रित करना सम्भव है। यह अवधेय है कि प्रस्तुत पुस्तक में 'वितरण' को किसी ऐसे अर्थ में प्रयुक्त नहीं कियागया है। यह भी स्मर्त्तव्य है कि हैरिस और उनके साथियों के 'वितरणात्मक नियमों' के सुबद्ध सूत्रण की प्रवत्ति वाले कार्य ने ही वह नींव रखी जिसके आधार पर १९५७ में प्रकाशित शोम्स्की के ग्रन्थ **'सिण्टैक्टिक स्ट्रक्चर'** के साथ 'प्रजनक व्याकरण' का निर्माण आरम्भ हुआ।

४. ३ व्याकरण और शब्दकोष

४.३. १ विश्लेषण और संश्लेषण

हमने पहले खण्ड में यह देखा ही है कि प्रत्येक व्याकरण किसी शब्दकोष के आधार पर ही बढ़ता है, जिनमें भाषा के शब्दों का श्रेणीकरण उन विविध वितरणात्मक श्रेणियों की उनकी सदस्यता के आधार पर होता है, जिनका वर्णन व्याकरण के नियमों में किया जाता है। 'व्याकरण' और 'शब्दकोष' **पर दो विभिन्न दृष्टियों से विचार** किया जासकता है : भाषाविद् उक्तिसंग्रह का **विश्लेषण** (प्रतीति)

करना चाहता है, या व्याकरणात्मक वाक्यों का **संश्लेषण** (उत्पादन)। यद्यपि व्यावहारिक सुविधा के आधार पर 'प्रतीति' या 'उत्पादन' केलिए विनियोग की दृष्टि से, व्याकरण और शब्दकोष को किंचित् भिन्न रूप में गठित कियाजाता है, किन्तु यह जानलेना चाहिए कि वे स्वतः इस विभेद के प्रति उदासीन हैं। प्रमाणित उक्तियों का कोई भी संग्रह व्याकरण द्वारा प्रजनित वाक्यों का केवल एक प्रतिमान ही कहा जा सकता है (तु०-४. २. ८)। इस दृष्टि से 'प्रजनक' और 'विवरणात्मक' व्याकरण के बीच कोई अन्तर नहीं होता।

किन्तु, **विश्लेषण** और **संश्लेषण** के प्रति व्याकरण की इस सिद्धान्तगत उदासीनता का यह अर्थ नहीं कि इनमें से किसी एक विशिष्ट दृष्टिकोण को अपनाने का व्यावहारिक परिणाम कुछ भी न होगा। यदि व्याकरण का प्रयोग 'संश्लेषण' के लिए करना है, तब सुविधा केलिए 'शब्दकोष' को इस रूप में गठित करना होगा, कि '**ना**' जैसा संकेत देखते ही पाठक नाम-श्रेणी के सभी परिवर्त्तियों को पहचानने में समर्थ होजाए (तु०-४. ३. २)। इसकेलिए शब्दकोष को गठित करने का एक तरीका यह है कि सूचियों को निम्न रूप में तैयार कियाजाए :

ना=(**आदमी, बालक, वानर** आदि...)

दूसरी ओर, यदि हम किसी पाठ के विश्लेषण में लगे हैं, तब हमें ऐसी सूची से काम चलाने में अधिक सुविधा होगी, जिसमें शब्दों को वर्णात्मक जैसे किसी ऐसे क्रम से दिया हो, जिससे हमें प्रत्येक व्यष्टि शब्द को चुनने में अधिक सहायता होसके, और उनके व्याकरणात्मक लक्षणों को पहचानने में सहायता मिलसके।

उदाहरणार्थ : मरना : नाम, आख्यात
सुन्दर : विशेषण, क्रियाविशेषण
मनुष्य : नाम
...आदि।

हमारे परम्परागत शब्दकोष परवर्त्ती प्रकार के ही हैं। परम्परागत वैयाकरण प्रथम प्रकार की सूचियों का निर्माण प्रायः तबतक नहीं करते; जबतक अनियमितताओं को प्रदर्शित करना ही लक्ष्य न हो। इन अनियमितताओं को वे व्याकरण और शब्दकोष दोनों ही जगह सूचीबद्ध करदेते हैं। उन्होंने विशिष्ट शब्दों के अर्थ के आधार पर और 'पद-भेदों' की परिभाषा के आधार पर, 'संश्लेषण' के उद्देश्य से, शब्दों की सूचियाँ गठित करने की सम्भावना को अवश्य स्वीकार किया। कुछ आधुनिक प्रजनक व्याकरणों, अथवा व्याकरणात्मक आलेखों, में प्रत्येक शब्द-श्रेणी की ऐसी आंशिक सूचियाँ दीगई हैं। हम इनकी चर्चा आगे करेंगे। शब्दकोष के इन दोनों प्रकारों में अन्तर सिद्धान्तगत नहीं है, बल्कि सन्दर्भ खोजने की सुविधा का है। उक्त प्रकार के आधुनिक प्रजनक व्याकरणों को उन व्याकरण-श्रेणियों की स्थापना की

चिन्ता अधिक रही है जिनकी भाषा वर्णन में उन्हें आवश्यकता रहती है, न कि भाषा के सभी शब्दों को पूर्णतः श्रेणीबद्ध करने की। यदि भाषा के सभी शब्दों का शब्द-कोष में पूरी तरह संचय और निबन्धन न हो, तब व्याकरण को उस भावना में 'प्रजनक' नहीं कहा जासकेगा, जिसमें ४. २. १३ में उसे 'स्पष्टोदित' कहागया है।

'संश्लेषण' की जगह 'विश्लेषण' का दृष्टिकोण अपनाने का एक परिणाम यहाँ व्यक्त किया जासकता है। यदि भाषाविद् जानता है कि भाषा का यह वर्णन केवल अभिलिखित सामग्री के विश्लेषण केलिए ही (यथा, यान्त्रिक-अनुवाद केलिए लिखित सामग्री के स्वतः-विश्लेषण के उद्देश्य से किएगए अध्ययन या पुस्तकालयों के 'श्रेणी-करण' अथवा 'सूचनोपलब्धि' के प्रयासों में) कियाजाना है, तब उसका काम कम व्यापक श्रेणीकरण वाले भाषा के शब्दकोष और अपूर्ण व्याकरणात्मक वर्णन से भी चलसकता है।

उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी में अनेक **नाम** '–ness' (नैस्) में अन्त होते हैं: यथा, **गुडनेस्, करेक्टनेस्** आदि। उक्त दोनों उदाहरणों की भाँति इसप्रकार के अधिकांश शब्द विशेषणों से बनाए जासकते हैं। (हिन्दी या संस्कृत में **'ता', 'य'**, आदि प्रत्यय लगाकर **मधुरता, माधुर्य**, आदि शब्दों का निर्माण होता है।) इस स्थल पर उनकी 'व्युत्पत्ति' की प्रकृति पर बिना विचार किये (तु०-५. ४. २), हम यह कहसकते हैं कि किसी 'नाम' शब्द की व्युत्पत्ति किसी 'विशेषण' शब्द से भी होसकती है। उसका सूत्र इसप्रकार होगा :

विद्व +ता (य)=ना।

(इसकी वृत्ति या व्याख्या इस प्रकार होगी: 'विद्व' और 'ता' (य) के मिलने से बना हुआ कोई भी शब्द **'ना'** श्रेणी का सदस्य कहलाएगा।) क्योंकि यह व्युत्पत्ति नियम अंग्रेज़ी और हिन्दी आदि के व्याकरण में बहुत अधिक उत्पादक है, अतः हम यह मानसकते हैं कि इसे उन भाषाओं के व्याकरण में सम्मिलित किया जासकता है, और इसलिए जितने भी शब्द इस नियम के आधार पर बनते हैं, उन्हें शब्दकोष से हटाया जासकता है।

किन्तु, यदि हमारा ध्यान 'संश्लेषण' की ओर है, तब हमें यह निर्णय करना अनिवार्य हो जाता है कि कौन सी शब्दश्रेणी 'विद्व' में गृहीत हो सकती है: उदा-हरणार्थ, क्या *'–ness'* (नेॅस्) के योग को स्वीकार करने वाली इस श्रेणी में अंग्रेजी के *'true'* और *'strong'* शब्दों को भी गिना जासकता है या नहीं, जिससे **'ट्रूनेॅस्'** और **'स्ट्राँगनेॅस'** को भी **'ट्रूथ'** और **'स्ट्रेॅंग्थ'** की भाँति व्याकरण या 'अव्याकरणात्मक' कहकर कोष में सम्मिलित या उससे बहिष्कृत किया जासके। किन्तु, इसके विपरीत 'प्रत्यायक' व्याकरण इसप्रकार के निर्णय की प्रतीक्षा नहीं करता। वहाँ तो इससे भी सामान्यतर नियम से काम चल जाता है:

वि+ता (नेॅस्)=नात्र।

(अर्थात्, कोई भी ऐसा शब्द, जो 'ना' की जगह प्रयुक्त होसकता है तथा जिसका विश्लेषण 'वि+ता (नेॅस्)' में होसकता है, प्रतीति-क्रम में स्वीकार्य माना जासकता है।) अब यदि 'ट्रूनेॅस्' और 'स्ट्राँगनेॅस्' जैसे शब्द भी विश्लेषणाधीन पाठ में आपतित हों, तब उन्हें भी व्याकरणात्मक स्वीकार करना होगा। और यदि उनका प्रयोग कहीं उपलब्ध नहीं होता, तब उनपर विचार का प्रश्न ही नहीं उठता। (तब शब्दकोष में 'ट्रुथ' और 'स्ट्रैंग्थ' जैसे शब्दों को किन्हीं अन्य ही नियमों के आधार पर अंकित और विश्लिष्ट किया जाएगा। यह उदाहरण एक ऐसे कम्प्यूटर-कार्यक्रम में से लियागया है, जिसके द्वारा अंग्रेज़ी के अनेक व्युत्पत्तिमूलक रूपों का विश्लेषण किया गया था।)

दृष्टिकोण की भिन्नता के साथ सिद्धान्तों की भिन्नता होना अनिवार्य नहीं है। भले ही **विश्लेषण** केलिए हो या संश्लेषण के लिए, **वि+ता=ना**त्र का सूत्र शब्दों के समान विन्यास को प्रजनित करता है, यदि इसका आधार विशेषणों की एक ही सूची पर हो। किन्तु, यदि किसी की दृष्टि केवल विश्लेषण तक ही सीमित हो, तब वह अपनी दृष्टि-सीमा को संकुचित भी करसकता है। तब वह जानबूझ कर वाक्यों के ऐसे विन्यास को (शुद्ध गणितीय अर्थों में) प्रजनित करेगा, जिनमें से अनेक को इस आधार पर कोई भी बहिष्कृत करना चाहेगा कि उनका प्रयोग कभी नहीं होगा। ऐसे 'असम्भव' वाक्यों को बहिष्कृत करने का अर्थ है, 'लागत' के मूल्य में वृद्धि (तु०-४. २. ११)। **'लागत प्रभावकता'** का यह नियम कम्प्यूटर द्वारा कियेजाने वाले भाषा के स्वतः-विश्लेषण में बहुधा विनियुक्त कियाजाता है, क्योंकि 'हीयमान लाभ' का एक प्रत्यक्ष आर्थिक पक्ष भी है : जितना ही कम्प्यूटर को अधिक कार्य करना होगा, उसका समय भी उतना ही लगेगा।

परन्तु, विश्लेषण और संश्लेषण के विषय में एक भ्रम की सम्भावना को पहले ही दूर करदेना चाहिए। इन दोनों के प्रति व्याकरण की उदासीनता का अर्थ यह नहीं है कि ये दोनों एक दूसरे के सर्वथा प्रतिरूप हैं। यह मानलेना नहीं चाहिए कि वाक्यों के 'उत्पादन' में कम्प्यूटर एक ही नियम-विन्यास मेंसे ऊपर से नीचे की ओर (व्याकरण से शब्दकोष की ओर) कार्य करेगा, जबकि दत्त सामग्री के 'प्रत्यायन' में वह नीचे से ऊपर की ओर (शब्दकोष से व्याकरण की ओर) कार्य करेगा। भले ही कम्प्यूटर द्वारा हो, अथवा भाषा के वक्ता या श्रोता द्वारा, 'उत्पादन' और 'प्रत्यायन' —दोनों—में ही एक दूसरे का 'पृष्ठ-पोषण' होता रहता है (तु०-३. २. ९)। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस समस्या के विश्लेषण का यत्न अबतक बहुत कम हुआ है। 'मनोभाषिक' अनुसंधान का कुछ अंश इसलिए भी व्यर्थ या भ्रान्त होगया, कि 'प्रजनक' और 'उत्पादक' में सही अन्तर न समझकर उन्हें एक ही मान लियागया। इसीलिए चेतावनी के रूप में यह सब लिखना पड़ा।

४. ३. २ शाब्दिक प्रतिनिधान के नियम :

अब हम फिर से शब्दकोष की संरचना के विचार पर लौट सकते हैं। सरलता

की दृष्टि से हम व्याकरणात्मक नियमों की सामान्यतम धारणा के आधार पर ही बढ़ेंगे। यद्यपि इस धारणा में बाद में संशोधन किया जाएगा, किन्तु उसका प्रभाव यहाँ बताई गई सामान्य बातों पर नहीं पड़ेगा। अतः हम पूर्वतर खण्ड में बताए सूत्र या नियम पर फिर से लौटते हैं :

$$\text{वा}_1 : \text{आ} + \text{ना} + \text{क्रि} + \text{आ} + \text{ना}$$

और जिन शब्द-श्रेणियों को यह मान कर चला है :

आ = {the}

ना = {man, dog, chimpanzee, आदि}

क्रि = {bites, eats, opens, आदि}

अनुच्छेद ४. २. ९ में बताए नियम के अनुसार निश्चित स्थानों पर विशिष्ट शब्दों को स्थानापन्न करने की 'शाब्दिक प्रतिनिधान' की प्रक्रिया को निम्न रूप में कहा जासकता है : 'वाक्य-संरचना-वर्णन में किसी व्याकरण-श्रेणी के प्रतीक की प्रत्येक आवृत्ति के स्थान पर उसी श्रेणी का शब्दकोष से लियाहुआ कोई भी सदस्य रख दें।' (जब इसी नियम के पुनः-पुनः विनियोग से व्याकरण-श्रेणियों के प्रत्येक प्रतीक को स्थानपादित (प्रतिनिहित) कर दियाजाए, तब इस 'प्रजनक' प्रणाली के परिणाम-रूप में जो वाक्य सामने आएगा, वह विशिष्ट संरचनात्मक वर्णन के अनुकूल होगा।) इस शाब्दिक प्रतिनिधान (स्थानापादन) को इस नियम के द्वारा औपचारिक रूप दिया जासकता है :

$$\text{क्ष} \rightarrow \text{क्ष} \mid \text{क्ष} \in \text{क्ष}$$

अर्थात्, 'यहाँ **क्ष** से अभिप्राय प्रजननात्मक प्रणाली में उद्धृत किसी भी व्याकरणात्मक **श्रेणी** (आ, ना, क्रि, आदि) से लिया जासकता है, जबकि 'क्ष' उसी श्रेणी के किसी भी **सदस्य** को कहा जासकता है।' शब्दकोषीय-स्थानापादन के इस नियम का पुनः-पुनः विनियोग '**आ + ना + क्रि + आ + ना**' के सूत्र को '**द डॉग बाइट्स द मैन्**' जैसे अंग्रेज़ी के वाक्य में रूपान्तरित करसकता है। (हिन्दी में आदिनिपात जैसी शब्दराशि न होने से इस सूत्र का उदाहरण नहीं दिया जासकता।) अंग्रेज़ी के इसी वाक्य को 'आरेख-५' में प्रतिनिधित्व दियागया है। (यह अवधेय है कि उस आरेख में **व्याकरण** से 'निर्गत' अंश को अखण्ड एवं **शब्दकोष** से 'निर्गत' अंश को खण्डित रेखाओं द्वारा प्रदर्शित कियागया है। यह एक उपयोगी प्रचलन है, जिसे हम इस पुस्तक में भी अपनाएँगे।)

अब क्योंकि शब्दों के स्थानापादन का यह नियम '**क्ष**' के मूल्य पर बिना ध्यान दिये चलता है, शब्दों की सूची को हम व्याकरण के साथ जोड़ेगए नियमों के विन्यास के रूप में मान सकते हैं। और इस प्रकार शाब्दिक प्रतिनिधान जैसे सामान्यीकृत नियम

को त्याग भी सकते हैं । इस दृष्टिकोण को अपनाने का अर्थ होगा, हम 'प्रजनक व्याकरण' के जनक शोम्स्की और आदितम लेखकों की परम्परा का अनुकरण कररहे होंगे । अतः हम शब्दकोष का निर्माण निम्न रूप में करेंगे :

आ → {दि}

ना → {मैन, डॉग, शिपांज़ी,...आदि}

क्रि → {बाइट्स, ईट्स, ओपन्स,...आदि}

यहाँ बाण-चिन्ह का अभिप्राय उस अवयव को 'पुनः स्थापित' या 'पुनर्लिखित' करने से लिया जासकता है, जो बाणचिन्ह के बाईं ओर है । उसके स्थान पर बाण के दाईं ओर का अवयव लाया जासकता है । उदाहरणार्थ, 'त्र → ज्ञ' का अर्थ होगा : ' 'त्र' के स्थान पर 'ज्ञ' लिखें' (किन्तु नियमानुसारिणी स्थिति में ही) । इस आकार में ढले नियमों की कोई भी प्रणाली 'पुनर्लेखन-प्रणाली' के रूप में कही जासकती है । पुनर्लेखन के इन नियमों का अधिक विस्तृत विचार षष्ठ अध्याय में होगा ।)

अब हम इस पुनर्लेखन-सूचक बाण का प्रयोग व्याकरण-नियम केलिए भी करेंगे, तथा व्याकरण और शाब्दिक-प्रतिनिधान नियमों का एक ही प्रणाली में निबन्धन करेंगे :

(१) **वा** → **आ** + **ना** + **क्रि** + **आ** + **ना**

(२) **आ** → {दि}

(३) **ना** → { मैन्, डॉग्, शिपाजी,...आदि}

(४) **क्रि** → {बाईट्स, ईट्स, ओपन्स,...आदि}

यह बहुत ही सरल प्रकार का प्रजनक व्याकरण है, जिसे अब हम शब्द-श्रेणियों के उप-श्रेणीकरण को भी इसमें सम्मिलित करने की दृष्टिसे कुछ और विस्तृत करेंगे ।

पूर्वगामी खण्ड में यह बताया गया था कि रूपात्मक व्याकरण-सम्बन्धी विचार में हम जिन मान्यताओं के आधार पर बढ़ रहे थे, उन के आधार पर किया गया 'प्रकृति' का कोई भी पुनः-श्रेणीकरण वास्तव में किन्हीं 'उपश्रेणियों' को सामने न लाकर सर्वथा असम्बद्ध नई-श्रेणियों को सामने लाता है । व्याकरणात्मक दृष्टिसे इस अपूर्णता को निम्न रूप में कुछ नए नियम बनाकर पूर्ण किया जा सकता है :

ना → {**ना**क, **ना**ख, **ना**ग, ...आदि}

क्रि → {**क्रि**घ, **क्रि**च, **क्रि**छ, ...आदि}

अब हमें शब्दकोषीय स्थानापादन के नियम भी संशोधित करने चाहिएं (संख्या बढ़ाकर) ।

इस प्रकार व्याकरण-शब्दकोष का नया रूप इस रीति से होगा :

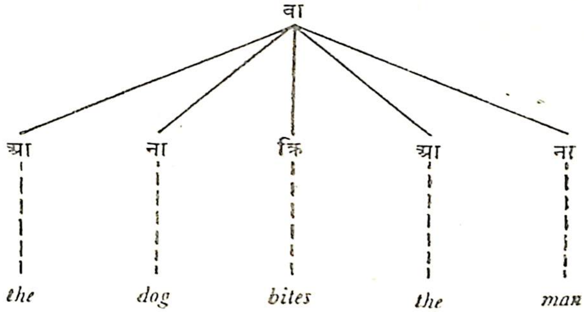
(१) **वा** → **आ** + **ना** + **क्रि** + **आ** + **ना**

(२) **ना** → {**ना**क, **ना**ख, **ना**ग,...}

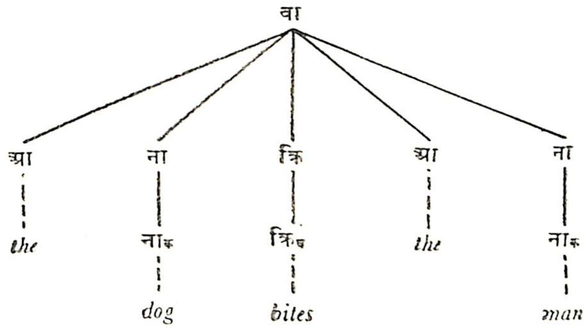
(३) **क्रि** → {**क्रि**घ, **क्रि**च, **क्रि**छ,...}

(४) **ना**क ← {मैन्, डॉग्, शिपाजी ... }

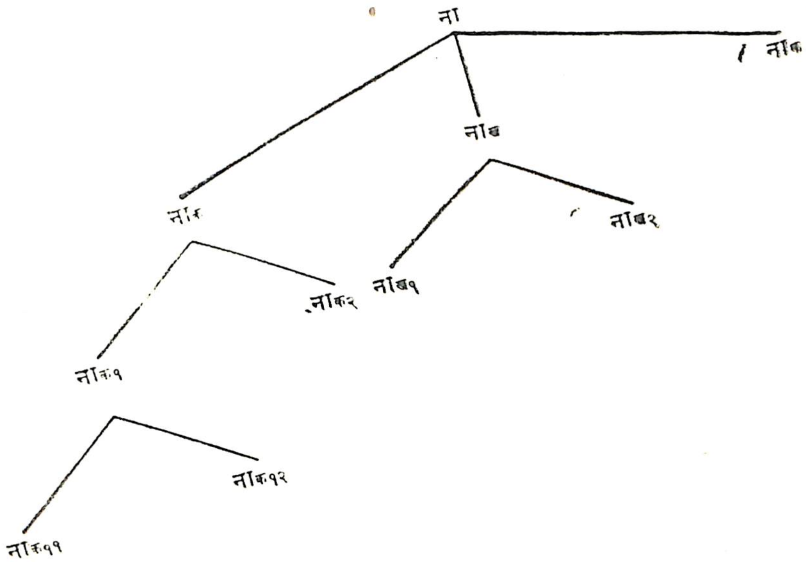
आरेख-५



आरेख-६



आरेख-७



(५) नाख → {बनाना, डोर, मिल्क ... }
(६) नाग → {फ़ैक्ट, मीनिंग, स्ट्रक्चर ...}
(७) क्रिघ → {ईट्स, बाईट्स, फ़ाइटन्स ...}
(८) क्रिच → { रिकाग्नाइजॅज़्}
(९) क्रिछ → {डिटर्मिन्स, ...}

नियमों की यह प्रणाली व्याकरण के भीतर ही इस तथ्य को निरूपित करती है कि **ना**क, **ना**ख, **ना**ग आदि **ना** की ही उपश्रेणियाँ हैं (जबकि इस श्रेणी के सब सदस्य '**नाम**' हैं); और क्रिघ, क्रिच, क्रिछ, आदि '**क्रि**' की उपश्रेणियाँ हैं (जिसके सभी सदस्य '**क्रिया**' हैं)। इस प्रणाली द्वारा परिणामतः इस तथ्य को निरूपित करने की दृष्टि से व्याकरणात्मक संरचना का एक अन्य स्तर समाविष्ट किया जासकता है। (तु०-आरेख-६, जिसमें **ना** और **क्रि** का एक-एक और अतिरिक्त स्तर अनुप्रविष्ट कियागया है)। किन्तु, ऐसा करते हुए ऐसे संघात भी 'व्याकरणात्मक' रूप में मान्य होजाते हैं, जिन्हें रोकने केलिए इस उपश्रेणीकरण का अभिकल्प कियागया था। (इस उक्त नियम-विन्यास में कोई भी ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है, जिसके द्वारा **ना**ख का संयोग **क्रि** और **ना**ग के साथ न होसकता हो।)

वास्तव में यहाँ शब्दों की एक उपश्रेणी के दूसरी से विन्यासात्मक अनुबन्धन या 'सात्म्यता' का सिद्धान्त भी अन्तर्हित है। इसे ही 'शब्दकोषीयवरण' भी कह सकते हैं। इस स्थल पर हम शब्दकोषीय संरचना पर विचार कर रहे हैं। अतः इसके व्याकरणात्मक पहलू पर हम नहीं जाएंगे। हम यह सामान्यतः मान लेते हैं कि ऐसा समुचित उपचारीकरण उपलभ्य है (तु०-६. ५. १ में वर्णित 'सन्दर्भ-संवेद्य' नियमों का प्रयोग करके), जिससे उपश्रेणीकरण की २ और ३ नियमों में व्यक्त धारणा को भी हम संरक्षित कर सकते हैं और उपश्रेणियों के वांछित संघातों को भी प्रजनित कर सकते हैं।

४. ३. ३ व्याकरणात्मक अभिलक्षण :

अब हम भाषा को शब्दराशि के अधिकाधिक उपश्रेणीकरण की कल्पना कर सकते हैं (जबतक कि 'हीयमान लाभ' की स्थिति ही न आजाए)। व्याकरण का विस्तार, उदाहरणार्थ, निम्न नियमों को भी अन्तर्हित करने केलिए किया जा सकता है :

नाक → (**ना**क१, **ना**क२)
नाग → (**ना**ग१, **ना**ग२)
नाक → (**ना**क११, **ना**क १२)...आदि।

इस तरह के प्रत्येक उपश्रेणीकरण का अर्थ है शाब्दिक स्थानापादन के नियमों में वृद्धि करना। फिर, यह भी स्पष्ट होगा कि यह निरूपण भाषा की व्याकरण-संरचना के विषय में एक बहुत विशिष्ट (और असत्य) धारणा पर टिका है। ये

नियम शब्द को आनुवंशिक रूप में इस तरह विभाजित करते हैं कि, आरेख-७ के समान, **ना**$_{\text{क११}}$ और **ना**$_{\text{क१२}}$ अन्ततः **ना**$_{\text{क१}}$ के ही भेद सिद्ध होते हैं; **ना**$_{\text{क}}^{\text{१}}$ अन्ततः **ना**$_{\text{क}}$ का ही अंश ठहरता है; और **ना**$_{\text{क}}$ भी अन्ततः '**ना**' का ही भेद ठहरता है ; इत्यादि । आदिमतम प्रजनक व्याकरणों में यह धारणा स्थापित की गई थी । उनमें ही उपचारीकरण (रूपात्मीकरण) की पुनर्लेखन पद्धति अपनाई गई थी । (भाषा-विज्ञान में इसे शोम्स्की ने प्रविष्ट किया ।)

यह दो दृष्टियों से असन्तोषजनक है । **प्रथम** तो यह कि इसके अनुसार शब्द-कोष में शब्दसूचियों की संख्या बहुत अधिक होजाएगी, जिनमें से अनेक शब्द अनेक श्रेणियों के सदस्य होंगे (तु०-४. २. १०) । **द्वितीय** यह कि इससे व्याकरण के नियमों का सूत्रण आवश्यकता से अधिक जटिल होजाएगा । **शोम्स्की** के शब्दों में : 'कठिनाई यह है कि यह उपवर्गीकरण सामान्यतः सही रूप में आनुवंशिक नहीं होता, बल्कि इसमें 'व्यामिश्र' श्रेणीकरण भी समवेत होता है । इसप्रकार, उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी के 'नाम' या तो **जोन, ईजिप्ट,** आदि जैसे '**व्यक्तिवाचक**' होते हैं, या फिर **बॉय्, बुक**, आदि जैसे '**जातिवाचक**' होते हैं; अथवा वे **जोन, बॉय**, के रूप में '**मानवीय**' और **ईजिप्ट, बुक**, आदि के रूप में '**मानवेतर**' कहे जासकते हैं । किन्तु, यदि उपवर्गीकरण का निर्देशन पुनर्लेखन नियमों के अनुसार कियाजाए, तब इनमें एक या दूसरा विभेद अवश्य ही प्रमुख हो उठेगा; स्वभावतः शेष बचा अकथ्य होजाएगा ।' निदर्शनार्थ, यदि हम पहले नामशब्दों को 'जाति' और 'व्यक्ति' में विभाजित करलें, और तब उनमें से प्रत्येक को 'मानवीय' और 'मानवेतर' में विभाजित करें, तब सब शब्दों का ठीक-ठीक श्रेणी-निश्चय एकदम सर्वथा भिन्न प्रतीत-सी होने वाली 'व्यक्ति-मानवीय', 'व्यक्ति-मानवेतर', आदि श्रेणियों के विभाजन के रूप में करना होगा । पर, मानवीय संज्ञाओं की कोई सूची पृथक् से शब्दकोष में नहीं होती । शोम्स्की आगे कहता है : 'ज्यों-ज्यों हम विश्लेषण की गहराइयों में उतरते हैं, इस प्रकार की समस्याएं बढ़ती जाती हैं और पुनर्लेखन-नियम-मात्र का निर्देश करने वाले व्याकरण की गम्भीर अपूर्णता को इंगित करती हैं ।

यहाँ हम उन संशोधनों की चर्चा नहीं करेंगे, जिन्हें शोम्स्की ने इन समस्याओं के विषय में सुझाया है इस अध्याय में हमारा वास्ता एक अत्यन्त सीधी प्रणाली से है । जहाँ तक 'शब्दकोष' का सम्बन्ध है, 'व्यामिश्र-व्याकरण' का प्रभाव स्पष्ट है । इसका अर्थ है प्रत्येक शब्द को इसतरह सूचीबद्ध कियाजाए कि इसका उचित चुनाव सरलता से किया जासके । उदाहरणार्थ, व्यक्ति-जाति से निरपेक्ष '**मानवीय नामों**' का चयन, अथवा 'सप्राण' या 'अप्राण' से निरपेक्ष '**सशरीर नामों**' का चयन, आदि । इस प्रकार के श्रेणीकरण के साथ जिस पारिभाषिक संज्ञा का सम्बन्ध स्थापित होगया है, वह संज्ञा 'अभिलक्षण' है (तु०-इसी शब्द का 'ध्वनिविज्ञान' के सन्दर्भ में हुआ प्रयोग, जिससे पर्याप्त समानान्तर रहकर यह संज्ञा चली है ।) अब हम यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक शब्द को शब्दकोष में विशेष अभिलक्षणों के

साथ निम्न रूप में लिखना चाहिए (ऐसा होना व्याकरण के पुनर्लेखन-नियमों की दृष्टि से सम्भव नहीं है) :

बालक : [जाति], [मानवीय], [पुंल्लिग],...आदि ।
द्वार : [जाति], [अप्राण], ... आदि ।

तब शाब्दिक स्थानापादन के नियमों को इस प्रकार परिवर्तित करना होगा कि एक या अधिक निश्चित अभिलक्षणों के आधार पर किसी विशिष्ट शब्द को ही चुना जासके । शाब्दिक स्थानापादन के नियम प्रजनक व्याकरण में किस स्थल पर प्रयुक्त होंगे, यह एक विवाद का विषय है । फिरभी, यह अवधेय है कि यद्यपि नाक →{बालक} आदि विधायक नियमों के विन्यास पर आधारित शब्दकोष का गठन अब असम्भव होगया है, तब भी हमारे द्वारा अपनाया गया समानान्तर यह नियम अबतक भी स्थिर है :

क्ष → क्ष । क्ष ← **क्ष**

(इसमें **क्ष** एक श्रेणी है, जबकि 'क्ष' उसी का एक सदस्य ।) अन्तर यही है कि अब यह **क्ष** श्रेणी किन्हीं विशिष्ट अभिलक्षणों की शर्त को पूरा करती है । उदाहरणार्थ, यदि व्याकरण द्वारा प्रजनित वाक्य में **जाति, मानवीय, पुंल्लिग नाम** की आवश्यकता है, तब इस सूत्र में **क्ष** का अर्थ उस समस्त शब्दराशि से होगा, जो इन तीनों विशेषक अभिलक्षणों की शर्त को पूरा करेगी : उदाहरणार्थ, **बालक**, आदि । किन्तु इस प्रकार की किसी संहत श्रेणी की सूची गठित नहीं की गई ।

४. ३. ४ व्याकरणात्मक और अर्थात्मक वर्गीकरण में अन्विति का अभिप्राय

अब हम अगली बात लेंगे; यद्यपि प्रजनक व्याकरण के अबतक के प्रकाशित साहित्य के अनुसार इस बात का उससे कदाचित् ही कोई सम्बन्ध है । फिरभी, अर्थविज्ञान के उपचारीकरण केलिए हालही में सुझाएगए प्रस्तावों के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त ने कुछ मुख्यता ग्रहण करनी आरम्भ की है । जैसा कि हम परवर्त्ती अध्यायों में देखेंगे, इस बात पर विश्वास के पर्याप्त कारण विद्यमान हैं कि **व्याकरण और अर्थविज्ञान का एकीकरण** सम्भवत: **'रूपात्मक'** और **'धारणात्मक'** व्याकरण के बीच भी **'समझौते'** का उपाय बन जाएगा । इसी कारण सामान्य सिद्धान्तों को दृष्टि से ओझल न करना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है ।

प्रमुख अभिलक्षणों के लिए पूर्वगामी अनुच्छेद में हमने **'जाति'**, **'व्यक्ति'**, **'सप्राण'**, **'अप्राण'**, आदि जिन परिभाषाओं को अपनाया था, उन्हें **व्याकरणात्मक** कहागया है । हमने अबतक इस सिद्धान्त को त्यागा नहीं है कि व्याकरणात्मक नियमों द्वारा संकेतित शब्दश्रेणियों को सूचित करने वाली ऐसी संज्ञाएं अन्यथा वितरणाधारित श्रेणियों के दूसरे नाममात्र ही हैं । किन्तु, जिन नामचिह्नों को इस स्थल पर प्रयोग कियागया है, और जिनका जन्म धारणात्मक व्याकरण से हुआ है, वे अपने

साथ कुछ अर्थात्मक निहितार्थ भी लेकर चलते हैं। हम पहले भी उस समनुकारिता का कुछ दूर तक वर्णन कर चुके हैं, जो भाषा की **व्याकरण** और **अर्थविज्ञान** पर आधारित संरचना को परस्पर बाँधे हुए है। इस प्रश्न पर हम बाद में भी विचार करेंगे। यह माना जासकता है कि व्याकरणात्मक दृष्टि से अधिकांश **'सप्राण'** नाम मानवों और पशुओं को सूचित करेंगे, अधिकाँश **'पुंल्लिग'** नाम केवल उसी लिंग के व्यक्तियों का बोध कराएंगे, किन्तु **'सप्राण'** और **'पुंल्लिग'** आदि संज्ञाओं पर आधारित वर्गीकरण निश्चय ही शब्दार्थ पर आधारित वर्गीकरण के संघर्ष में आएगा (तु०-अध्याय-७)। यह बात सर्वस्वीकृत है। इसीलिए अधिकांश भाषाविद् 'धारणात्मक व्याकरण' से अब दूर होगए हैं।

किन्तु, इसी समय यह भी स्पष्ट समझलेना चाहिए कि किसी भी भाषा के सर्वग्राही वर्णन में किसी भी शब्दकोष को स्वयं में व्याकरण और अर्थात्मक पक्षों से सम्बद्ध अधिकाधिक सूचना सम्मिलित करनी होगी। तब यह सोचना निराधार न होगा कि अर्थात्मक सूचना इसप्रकार दीजासके कि व्याकरणात्मक नियमों के अनुसार वांछित सूचना का एक अंश भी उसी से उपलब्ध होजाए; कम से कम वहां जहां कि उन दोनों के श्रेणीकरणों के बीच समनुकारिता विद्यमान है। उदाहरणार्थ, हम कल्पना करते हैं कि **'मनुष्य'** शब्द का अर्थ एक निश्चित प्रकार से शब्दकोष में दिया हुआ है, और यह कि इस अर्थ के कम-से-कम एक भाग से यह सूचना भी उपलब्ध होजाती है कि 'मनुष्य' के द्वारा **'पुरुष'**, **'प्रौढ़'**, **'मानवीय'**, आदि लक्षणों की सूचना मिलजाती है (यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि 'मनुष्य' का अर्थ 'पुरुष, प्रौढ़, मानव जीव' है : यह शर्त अर्थविज्ञान के अध्याय में कहे जाने वाले तथ्यों के सम्बन्ध में अत्यधिक मुख्य है)। इस तथ्य के रहते, हम 'मनुष्य' शब्द का व्याकरणात्मक वर्गीकरण—[पुंल्लिग], [मानवीय], आदि के रूप में—इस अर्थ से ही व्युत्पन्न करसकते हैं (जिसमें 'सप्राण' आदि भाव भी अन्तर्हित हैं)। इसे व्याकरणात्मक वर्गीकरण (श्रेणीकरण) ही कहाजाएगा, क्योंकि इससे वितरण से सम्बद्ध ऐसे तथ्यों का पता चलता है : यथा, अंग्रेजी शब्दों के चुनाव में, *who* Vs *which*; *he, him, his* Vs *she, her* Vs *it, its*, आदि। (हिन्दी में इसके उदाहरण—उसका : उसकी; कौनसा : कौनसी, आदि दिए जासकते हैं।) उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी के ये वाक्य अस्वीकार्य और अव्याकरणात्मक गिने जाएंगे : * *The man which came ...,*" या * *The man washed her own shirt*, आदि।

आपाततः यह प्रतीत होगा कि अर्थात्मक वक्तव्य से व्याकरणात्मक वर्गीकरण को व्युत्पन्न करने की यह बात पूर्वगामी खण्ड में चर्चित रूपात्मक व्याकरण के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। किन्तु यह बात तथ्य नहीं ठहरती, यदि हम निम्न शर्त को ध्यान में रखें : शब्दकोषस्थ शब्द के अर्थात्मक वक्तव्य से व्याकरणात्मक अभिलक्षणों की व्युत्पत्ति का कोई भी नियम शब्द में व्यक्त किसी विशिष्ट विरोधी अभिलक्षण से बाधित होता है। उदाहरणार्थ, हम मान लेते हैं कि मानव-प्राणियों की

सूचना देने वाले सभी शब्द व्याकरण की दृष्टि से 'मानवीय' हैं; और यह कि इससे उनका '**सप्राण**' होना भी अभिप्रेत है; और यह कि यदि वे 'पुरुषों' को सूचित करते हैं तब वे 'पुंल्लिग' हैं, और यदि वे स्त्रियों को सूचित करते हैं तब उन्हें 'स्त्रीलिंग' कहना होगा। यह एक सामान्य नियम है, जिसका विनियोग हर उस दशा में होगा, जहाँ शब्दकोष में इसके साथ कोई विरोधी व्याकरणात्मक वर्गीकरण सहचारी नहीं होता। अब हम कल्पना करते हैं कि 'अप्राण' 'सप्राण' का विरोधी है। क्योंकि 'मनुष्य' के शब्दकोषस्थ अर्थ में कोई व्याकरणात्मक विरोधी श्रेणीकरण व्यामिश्र नहीं है, इसीलिए इसकी **अर्थात्मक सूचना** को **व्याकरणात्मक सूचना** में रूपान्तरित करने वाले सामान्य सिद्धान्त सही रूप में घटित होते हैं।

किन्तु, अंग्रेज़ी का 'चाइल्ड' जैसा शब्द शब्दकोष में 'अप्राण' के रूप में भी समाविष्ट किया जा सकता है, ताकि 'दि चाइल्ड एट इट्स डिनर' जैसे वाक्यों को भी व्यवस्थित कहा जासके। किन्तु यह भी तुरन्त ही स्पष्ट होजाता है कि तथ्य इस सीधी विधि की पकड़ में आने की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल है। उक्त वाक्य की तुलना में '**चाइल्ड एट हिज़ डिनर**' या '**चाइल्ड एट हर डिनर**' जैसे प्रयोग भी स्वीकार्य ठहरते हैं। अतः हमें [**अप्राण**] और [**नपुंसक**] में विभेद करना होगा। सामान्यतः, चाहे व्याकरणात्मक दृष्टि से हो या अर्थात्मक दृष्टि से, [**अप्राण**] का अर्थ [**नपुंसक**] की भावना को अन्तर्हित किये ही रहेगा, जबकि [**सप्राण**] में [**पुरुष**] अथवा [**स्त्री**] का भाव भी अन्तर्हित रहेगा। अतः यदि **नाम** को एक या दूसरे रूप में निर्धारित न कियाजाए, तब चुनाव की सम्भावना भी मुक्त रहेगी। पर, हम इस सम्भावना पर भी विचार करसकते हैं कि **चाइल्ड** को [अप्राण] और [नपुंसक] दोनों ही रूप में निविष्ट कियाजाए। इस स्थिति में हमें व्याकरणात्मक नियमों को ऐसे रूप में विन्यस्त करना होगा कि [**नपुंसक**] की उपस्थिति में '*he*' या '*she*' का प्रयोग निषिद्ध न होजाए। और, इसके विपरीत यह भी कि [**सप्राण**] होने से [**नपुंसक**] के आधार पर होने वाला 'it' का प्रयोग निषिद्ध या बाधित न होजाए। वास्तव में स्थिति इससे भी कहीं अधिक जटिल है। किन्तु इस अतिरिक्त जटिलता से भी सामान्य सिद्धान्तों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जहाँ तक हमें ज्ञात है, इन प्रस्तावों का उपयोग अबतक प्रकाशित किसी भी साहित्य में नहीं कियागया है। किन्तु, इसे अपनाने का पर्याप्त आधार विद्यमान है; और यह सम्भव है कि 'घटकीय' अर्थविज्ञान के क्षेत्र में होनेवाली हाल की प्रगति से इसके विनियोजन और अपनाने में पर्याप्त प्रोत्साहन मिलेगा (तु०-१०. ५. १ से आगे)। किन्तु साथही इस बात पर भी बल दियाजाना चाहिए, कि वर्तमान क्षण में ऐसा प्रस्ताव बहुत अधिक प्राक्कल्पनाश्रित होगा। अतः इसे अपनाने से पहले शोम्स्की और उसके अनुयायियों द्वारा विकसित प्रजनक व्याकरण के निरूपण का आद्यन्त पुनरालोचन करना अनिवार्य होगा। हालही में लेखकों द्वारा अनेक सुझाव इस रूप में दिएगए हैं, जिनसे अन्य दृष्टियों से भी यह पुनरालोचन अनिवार्य ठह-

रता है। किन्तु, इस ग्रन्थ में हम शोम्स्की और उसके अनुवर्त्तियों द्वारा अपनाई गई सरणि के आधार पर ही प्रजनक व्याकरण के विकास की मुख्य दिशा का अनुगमन करेंगे।

४. ३ ५ सारांश

इस अध्याय में हमने 'प्रजनक व्याकरण' को प्रविष्ट किया है, तथा जानबूझ कर व्याकरण-नियमों के वर्णन को सरल रूप में प्रस्तुत किया है, ताकि सामान्यतर नियमों पर अधिक ध्यान दिया जासके। हमने इस दृष्टि को भी अपनाएरखा है कि वाक्यों की रचना केवल इस प्रक्रिया से भी होसकती है कि व्याकरणात्मक श्रेणीकरण के अनुरूप शब्दकोष में से शब्दों को चुनकर उन्हें एक शृंखला में संहत कर दियाजाए। फिर, हमने स्थिरता के साथ **'उक्ति'** और **'वाक्य'** के बीच विभेद भी स्थिर नहीं रखा है। यह इस कारण कि हम यह मानकर चले हैं कि ध्वनिप्रक्रियात्मक नियमों और उनके ध्वनि-द्रव्य की ध्वनिवैज्ञानिक व्याख्या से सम्पुष्ट व्याकरण ऐसे वाक्यों को प्रजनित करता है, जो कि भाषा की 'शक्य उक्तियों' से 'एकाकार' होते हैं। अगले दो अध्यायों में इन सभी बातों में संशोधन प्रस्तुत किये जाएंगे। इससे पहले कि हम 'प्रजनक व्याकरण' के विषय में अधिक विचार करें, वाक्य तथा अन्य व्याकरणात्मक इकाइयों की प्रकृति पर विचार कर लेना उचित होगा।

५

व्याकरणात्मक इकाइयाँ

५. १ विषय प्रवेश

५. १. १ शब्द (पद), वाक्य, रूपांश, पदबन्ध और वाक्यान्तर (उपवाक्य)

परम्परागत भाषाविज्ञान व्याकरणात्मक वर्णन में केवल दो ही इकाइयों—**शब्द** और **वाक्य**—से काम चलाता रहा है। इन दोनों ही इकाइयों को विविध लेखन-प्रणालियों के प्रचलन में व्यावहारिक मान्यता दीगई है। निदर्शनार्थ, विविध यूरोपीय भाषाओं एवं विश्व की अन्य अनेक भाषाओं केलिए अपनाए जानेवाली विविध वर्णात्मक प्रणालियों में विभिन्न वाक्यों के बीच पारस्परिक अन्तर विशिष्ट चिह्नों (पूर्णविराम, प्रश्नचिह्न, विस्मयचिह्नादि) के द्वारा प्रदर्शित कियाजाता है; और बहुधा नए वाक्य का प्रथम अक्षर विशिष्ट आकार में भी लिखाजाता है। साथ ही, वाक्य के मध्य में आनें वाले शब्द परस्पर एक दूसरे से अन्तराल के द्वारा भिन्न प्रदर्शित किएजाते हैं। यही कारण है कि सामान्य शिक्षित जन '**शब्द**' और '**वाक्य**' जैसी संज्ञाओं से परिचित होता है, और उन्हें आम प्रयोग में भी लाता है।

अब तक हमने इन दोनों संज्ञाओं का व्यवहार बिना किसी परिभाषा या व्याख्या के ही किया है। अब हमें गत अध्यायों में किएगए विमर्श के प्रकाश में इन दोनों की परीक्षा करनीचाहिए। ऐसा करतेहुए हमें इनके व्यावहारिक निहितार्थों और परम्परागत व्याकरण में की गई इनकी व्याख्या को भी ध्यान में रखना होगा।

बाद में बताए जानेवाले कुछ कारणों से परम्परागत वैयाकरण 'शब्द' का उससे अधिक छोटी इकाइयों में विश्लेषण करने को उत्सुक नहीं थे। किन्तु, कम से कम कुछ भाषाओं में तो यह स्पष्ट है कि ऐसे छोटे अवयव उपस्थित अवश्य रहते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दी का शब्द '**अभाव**' कम से कम दो छोटी इकाइयों से मिलकर बना है : '**अ**' और '**भाव**'! फिर, हम इनको अविभाज्य या न्यूनतम इकाई इसलिए कह रहे हैं कि इनका इससे अधिक विभाग हिन्दी में वितरणात्मक दृष्टि से नहीं होता। वैयाकरणिक विश्लेषण की ऐसी न्यूनतम इकाइयां, जिनके मिलने से शब्द बनते हैं, प्रथात्मक दृष्टि से '**रूपांश**' (मौर्फ़ीम) कही जाती हैं।

अतः इस अध्याय में हमें वैयाकरणिक वर्णन की तीन भिन्न-भिन्न इकाइयों पर विचार करना है : **वाक्य, शब्द** और **रूपांश**। **शब्द** और **वाक्य** के बीच वैयाक-

रणों ने दो अन्य भी इकाइयों को सामान्यतः पहचाना है : **पदबन्ध और वाक्यान्तर** (उपवाक्य : क्लॉज़) । परम्परानुसार इन दोनों के बीच का अन्तर कुछ इस प्रकार से कहा जासकता है : शब्दों का ऐसा कोई भी समूह, जिसका प्रयोग एकही शब्द की भांति होता है तथा जिसमें अपने कर्त्ता और विधेय नहीं होते, '**फ्रेज़**' या '**पदबन्ध**' कहलाता है; जबकि ऐसा शब्द-समूह, जिसके कर्त्ता और विधेय अपने हों तथा जो किसी बृहत्तर वाक्य के अन्तर्गत विद्यमान हो, '**क्लॉज़**' या '**वाक्यान्तर**' कहलाता है। विशिष्ट वाक्यों के विश्लेषण में प्रायः ही 'पदबन्धों' और 'वाक्यान्तरों' के बीच अन्तर ठीक से नहीं पहचाना जाता। सैद्धान्तिक रूप में, इन दोनों के बीच परम्परागत विभेद वाक्यस्थ '**शब्दसम**' और '**वाक्यसम**' शब्द-समूहों के रूप में, क्रमशः, कियाजाता है। ऐसा इसलिए कि मूलतः 'वाक्य' की व्याख्या भी 'कर्त्ता' और 'विधेय' के आधार पर ही कीगई थी। अतः परम्परागत व्याकरण के 'पदबन्ध' और 'वाक्यान्तर', वस्तुतः 'शब्द' और 'वाक्य' जैसी **प्राथमिक** या **मुख्य** इकाइयों की व्याकरणात्मक समता की दृष्टि से, '**द्वैतीयक**' या '**गौण इकाइयाँ**' कही जासकती हैं। आधुनिक व्याकरण की दृष्टि से हमें इस विषय में अधिक कुछ कहना नहीं है (फिर भी ५. ५. १ और ६. २. १० में कुछ चर्चा हुई है)।

जिन भाषाओं में ये पाँचों इकाइयाँ उपलब्ध होती हैं, उनके व्याकरणात्मक वर्णन की इन पाँचों इकाइयों के बीच का सम्बन्ध 'निबन्धन' का होता है। यदि हम 'वाक्य' को 'उच्चतम' और 'रूपांश' को 'निम्नतम' इकाई मानें, तब हम इन पाँचों को **वाक्य-वाक्यान्तर-पदबन्ध-शब्द-रूपांश** के क्रम से रखकर कह सकते हैं कि **उच्चतर क्रम की इकाइयों का निर्माण निम्नतर क्रम की इकाइयों के 'निबन्धन' से होता है।** इसको ही विपर्यय में यूँ भी कह सकते हैं कि **उच्चतर इकाइयों का 'विश्लेषण' या 'निर्बन्धन' निम्नतर इकाइयों में किया जासकता है।**

भाषा-सम्बन्धी कई पूर्वतर ग्रन्थों में इस विषयक विवाद को पर्याप्त स्थान और महत्त्व दियाजाता था कि व्याकरण की परम्परागत प्राथमिक इकाइयों—'शब्द' और 'वाक्य'—में से किसे 'मौलिक' कहा जासकता है : **क्या वैयाकरण सर्वप्रथम 'शब्दों' को पहचानकर शब्दों के मिलने से बने 'वाक्यों' की रचना के अवलोकन में प्रवृत्त होता है, या वह सर्वप्रथम 'वाक्य' को 'सामग्री' के रूप में उपलब्ध करके फिर 'घटक शब्दों' में उसके विश्लेषण में प्रवृत्त होता है।** फिलहाल तो हम यह मानकर ही चलेंगे कि जिस प्रकार भाषा 'विश्लेषण' और 'सन्धान' के मामले में 'तटस्थ' है, उसी प्रकार वह इन पाँचों के '**ऊर्ध्वगामी**' या '**अधोगामी**' क्रम के विषय में भी 'तटस्थ' है (तु०-४. ३. १)।

५. १. २ उक्ति

भाषाविद् अब इस प्रश्न पर जो अधिक विचार नहीं करते, कि इन दोनों में से कौन सी आधारभूत इकाई है, इसका एक कारण यह है कि अब वे अपने पूर्वजों

की अपेक्षा अधिक स्पष्टता के साथ यह अनुभव करते हैं कि शब्द और वाक्य, अथवा अन्य कोई भी भाषावर्णन की इकाई, अविश्लिष्ट सामग्री में 'सिद्ध' या 'दत्त' नहीं होती। जब भाषाविद् लिखित सामग्री के आधार पर भाषा का वर्णन आरम्भ करता है, तब वह इन दोनों से भिन्न एक और ही **'आदिम' धारणा** के आधार पर बढ़ता है। यह आदिमतर धारणा है 'उक्ति' की। जिस प्रकार 'व्याकरणात्मकता' या 'वैशिष्ट्य' की अपेक्षा 'स्वीकार्यता' की धारणा अधिक 'आदिम' है (तु०-४. २. १), उसी प्रकार वाक्य, शब्द, आदि की अपेक्षा **'उक्ति'** की धारणा भी इस दृष्टि से अधिक आदिम है कि यह भाषाविज्ञान द्वारा निश्चित किसी भी प्राविधिक परिभाषा या शर्त पर आधारित नहीं है। **हैरिस** ने 'उक्ति' की परिभाषा की है: **'किसी एक व्यक्ति द्वारा किए गए वार्तालाप का वह आयाम, जिसके आदि या अन्त में वह 'चुप' होजाता है।'** यह स्मर्त्तव्य है कि हम यहाँ किसी भाषात्मक इकाई की रूपात्मक या औपचारिक परिभाषा पर विचार नहीं कररहे, बल्कि भाषा-सामग्री के प्राग्वैज्ञानिक वर्णन पर विचार कररहे हैं। इसलिए **'उक्ति'** की विशेषक या सीमा-निर्धारक **'चुप्पी'** आदि संज्ञाओं को उसी सहिष्णुता के साथ स्वीकार करलेना चाहिए, जिसके साथ अवैज्ञानिक वार्तालाप की अन्य अधिकांश शब्दावली को स्वीकार किया जाता है। फिर, हमें यह भी नहीं मानलेना चाहिए कि वाक्य अथवा अन्य किसी भी व्याकरणात्मक इकाई के साथ इस 'उक्ति' की अनुकारिता उच्च मात्रा में होती है। **हैरिस** भी कहता है: 'सामान्यतः 'उक्ति' को (सामान्यतः समझे जानेवाले) 'वाक्य' से एकाकार नहीं कहा जासकता; क्योंकि, उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी की अनेक उक्तियाँ केवल एक शब्द, पदबन्ध या 'अपूर्ण वाक्य', आदि से निर्मित होती हैं; जबकि ऐसी भी अनेक उक्तियाँ होती हैं, जिनके खण्ड अन्यत्र प्रयुक्त स्वतन्त्र उक्तियों के बराबर होते हैं।"

५.२ वाक्य

५.२.१ ब्लूमफील्ड की परिभाषा

ब्लूमफील्ड द्वारा कीगई 'वाक्य' की परिभाषा को इस विमर्श का आरम्भिक बिन्दु बनाया जासकता है। उनके अनुसार: **'वाक्य एक स्वतन्त्र रूप है, जो किसी भी व्याकरणात्मक रचना के कारण किसी भी बृहत्तर भाषात्मक 'रूप' (आकृति) में अन्तःनिविष्ट नहीं होता।'** इसे समझाने के लिए वे यह उदाहरण देते हैं: **"आप कैसे हैं?...दिन अच्छा है।...क्या आप आज अपराह्ण में टैनिस खेलेंगे?"** और कहते हैं: **'इन तीनों 'रूपों' के बीच भले ही कोई व्यावहारिक सम्बन्ध विद्यमान हो, इन्हें एक बड़ी इकाई में आबद्ध करने के विषय में कोई व्याकरणात्मक व्यवस्था**

नहीं है : अर्थात्, ये तीनों स्वतन्त्र वाक्य हैं।' इस परिभाषा में निहित बात को अधिक पूर्णता और संक्षेप के साथ इस रूप में कहा जासकता है : **'‘वाक्य’ व्याकरण-वर्णन की सबसे बड़ी इकाई है।'** वाक्य एक ऐसी व्याकरणात्मक इकाई है, जिसके **घटक अंशों** को तो वितरणात्मक सीमाओं में बांटा जासकता है, किन्तु उसे स्वयं किसी वितरण-श्रेणी में नहीं रखा जासकता। दूसरे शब्दों में, वितरण की वह धारणा जिसका आधार स्थानापन्नता पर स्थित है, वाक्य पर लागू नहीं होती। अब इसी उदाहरण को लेलें। जब तक हम अधिक व्यापक सन्दर्भ पर विचार न करें, यह कहना निरर्थक है कि इनमें से किसी वाक्य की जगह, यथा— **'दिन अच्छा है'** के स्थान पर, कोई अन्य 'रूप' स्थानापन्न किया जासकता है। यदि हम व्यापकतर सन्दर्भ को ध्यान में लें, तब भी ब्लूमफील्ड जिसे इन तीनों के बीच 'व्यावहारिक सम्बन्ध' बताते हैं, उसे वितरणात्मक चुनाव के सामान्य नियमों के अन्तर्गत निबद्ध नहीं किया जासकता। यही नहीं कि **'दिन अच्छा है'** के घटक अवयव, व्यापक सन्दर्भ की दृष्टि से, प्राक्कथनीय नहीं हैं; बल्कि यह कहना भी सम्भव नहीं है कि 'प्रश्न' के स्थान पर 'वक्तव्य' ही आएगा। यदि इन तीनों को मिलाकर, **'आप कैसे हैं ?, दिन अच्छा है।, क्या आप आज अपराह्ण में टेनिस खेलेंगे ?'** के रूप में, कहें भी, तब भी ये तीनों ही वितरणात्मक दृष्टि से एक दूसरे से स्वतन्त्र और परस्पर अनाश्रित हैं। इसी कारण इन्हें **'तीन वाक्य'** स्वीकार कियाजाता है।

५. २. २ 'व्युत्पन्न' वाक्य

अब ऐसी भी अनेक उक्तियों या उनके अंशों के उदाहरण प्रस्तुत किये जासकते हैं, जिन्हें परम्परागत रूप में 'वाक्य' मानाजाता है, किन्तु जो 'वितरण' की दृष्टि से परस्पर उतने अनाश्रित नहीं हैं। सर्वप्रथम हम उन उक्तियों को लेंगे, जिनमें व्यक्तिवाचक सर्वनाम प्रयुक्त होते हैं (**वह, यह** (हिन्दी); *'he, she, it,* (अं०); इत्यादि)। **'वह अभी कुछ ही क्षण में यहां होगा'**, जैसी उक्ति यह मानकर प्रयुक्त हुई है कि कोई ऐसा पुंल्लिग ना-याम 'पदबन्ध' विद्यमान है (यथा, जोन, मिल्कमैन, शिल्पकार, राम, आदि), जिसका संकेत 'वह' के प्रयोग से मिलता है। 'व्यक्तिसूचक सर्वनामों' के वितरण-सम्बन्धी प्रतिबन्ध—यथा अंग्रेजी के he, she, it, और they, का प्रयोग क्रमशः **पुंल्लिग एकवचन, स्त्री० एक०, नपुं० एक०,** और **तीनों के बहुवचन** में होता है, इत्यादि—बहुत व्यापक उक्तियों पर (और अनेक भिन्न व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न भिन्न-भिन्न उक्तियों पर भी) लागू होसकते हैं। जैसा कि सामान्यतः किया जाता है, यदि उक्तियों को कुछ ऐसे **'विस्तारों'** में खण्डित किया जासकता हो, जोकि वितरण की दृष्टि से 'व्यक्तिसूचक' सर्वनाम के चुनाव के अतिरिक्त सर्वथा स्वतन्त्र हों, तब इन्हें **'व्युत्पन्न विस्तार'** कहा जासकेगा, जिनके भीतर व्यक्तिसूचक सर्वनामों को नामों के स्थान पर विशिष्ट व्याकरणात्मक नियमों के अनुसार प्रतिस्थापित कर दियागया है। यह बात **'प्रोनाउन'** या **'सर्वनाम'** संज्ञा में ही अन्तर्हित है : अर्थात्

जो पूर्वप्रयुक्त **नाम** के स्थान पर उसी सन्दर्भ में प्रयुक्त होसकता हो। यह स्पष्ट ही है कि इसप्रकार के व्युत्पन्न वाक्य को समझने केलिए, यथा—'**वह कुछ ही क्षण में यहाँ होगा**', श्रोता ऐसी स्थिति में होना चाहिए कि वह 'वह' सर्वनाम के स्थान पर उस ठीक नाम या नाम-संघ को प्रयुक्त करसके, जिसके कि स्थान पर इसका प्रयोग हुआ है।

इस वितरणात्मक संयमन का एक अन्य उदाहरण हम सामान्यतः स्वतन्त्र मानेजानेवाले वाक्यों की उस श्रृंखला के रूप में लेसकते हैं, जिसका प्रतिनिधित्व **लैटिन की 'अप्रत्यक्ष** (इण्डायरेक्ट) **वार्ता-रचना'** करती है। इसका सरलतम उदाहरण चिचेरो का यह वाक्य लिया जासकता है : **'दिको ते वेनिस्से इन् मार्कि लाएकाए दोमुम्'** (अर्थात्—**'कहता हूँ तुम्हें मार्कस लाएका के घर आने को'**)। इसमें **'ते वेनिस्से इन्...दोमुम्'** को '(तू) **वेनिस्ति इन्...दोमुम्'** की **'अप्रत्यक्ष रचना'** कहा जासकता है, जो **'कर्म'** और **'तुमुन्नर्थ'** में प्रयुक्त हुई है। लैटिन में इसप्रकार पूरे-पूरे वक्तव्यों को 'अप्रत्यक्ष' रूप में रख देना कोई असामान्य बात नहीं है, जिनका प्रत्येक खण्ड परम्परागत रूप में अनाश्रित मानाजाता है और इस रूप में चिह्नित भी किया जाता है, किन्तु जिसे पूर्व-प्रयुक्त 'कहने-सम्बन्धी क्रिया' पर 'कर्म' या 'तुमुन्नर्थक' के रूप में आश्रित भी कहा जासकता है। यही बात अंग्रेज़ी, संस्कृत, हिन्दी, आदि भाषाओं पर भी लागू होती है। निदर्शनार्थ, हम यह वक्तव्य लेसकते हैं : **'प्रधानमन्त्री ने कहा कि उन्हें इस घटना पर अत्यधिक दुःख है। वह ऐसा हरसम्भव यत्न करेंगे कि फिरसे ऐसा न हो। अगले ही दिन वे अपने साथियों से भी विमर्श करेंगे। उन्हें विश्वास है कि...''** इत्यादि। इसप्रकार के अनुच्छेदों को **दो चरणों** में समझाया जासकता है : **प्रथम** तो इसे छोटे-छोटे अनाश्रित वाक्यों में विभक्त करके, और **द्वितीय** ऐसे अप्रधान व्याकरण-नियमों का विधान करके, जिनके अधीन इन्हें 'कहने-सम्बन्धी क्रिया' के प्रयोग के बाद परवर्त्ती वक्तव्य में एक दूसरे के साथ 'अनुकारी' रूप में 'अप्रत्यक्ष' रचना में श्रृंखलित क्रम से बदला जासके।

५. २. ३ 'अपूर्ण' वाक्य

अन्ततः हमें उन वाक्यों पर भी विचार करना चाहिए, जिन्हें परम्परागत रूप में 'अपूर्ण' या 'हीनशब्द' के रूप में कहाजाता है। हालही में भाषाविदों ने इस कोटि की पर्याप्त आलोचना की है। असम्बद्ध होने पर भी, उनका यह कहना ठीक है कि जब ऐसी उक्तियां किसी विशिष्ट प्रसंग में आती हैं तब वे पूर्णतः व्यापक होती हैं। इस दृष्टि से उन्हें कदाचित् ही 'अपूर्ण' कहा जासकता है। किन्तु इस प्रकार की सन्दर्भात्मक सम्पूर्णता एवं व्याकरणात्मक सम्पूर्णता में विभेद करना आवश्यक है।

दैनन्दिन सामान्य वार्तालाप में सैकड़ों ही ऐसी उक्तियाँ होती हैं, जो अपने आन्तरिक रूप केलिए उसी वक्ता की पहली उक्तियों या श्रोता की पूर्वगामी उक्तियों

पर आश्रित होती हैं। इसका एक उदाहरण इस रूप में दिया जासकता है : **'जोन की; यदि वह समय पर आजाए।'** इस वाक्य का घटना सम्भव नहीं; यदि इसकी 'पूर्णता को द्योतित करनेवाला' प्रश्नात्मक या अन्य कोई वाक्य पहले न बोलागया हो, जिसके कि उत्तर के रूप में इसे बोलागया है। उदाहरणार्थ, इसका पूर्वगामी प्रश्न यह होसकता है : 'आप किसकी कार में जाएंगे ?' परन्तु, यह नहीं होसकता : 'आप वहाँ कब जारहे हैं ?' अतः उक्त उक्ति जैसी उक्तियां व्याकरणात्मक दृष्टि से 'अपूर्ण' हैं; क्योंकि वितरणात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र न होने के कारण वे स्वतः 'वाक्य' नहीं होतीं। फिर भी, इन्हें कुछ और शब्द जोड़कर बनाएगए वाक्य से व्युत्पन्न किया जासकता है, जिनके सूत्र पहले से ही सन्दर्भ में उपस्थित होते हैं : यथा —**'हम जोन की कार में जारहे हैं, यदि वह समय पर आजाए।'**

इससे भिन्न प्रकार की उक्ति का उदाहरण है : 'टिकट मिल गए ?' आपाततः यह प्रतीत होगा कि इसे 'अपूर्ण' या 'न्यूनशब्द' कहना उचित नहीं (**'क्या आप को टिकट मिलगए ?'** के लघुतर रूप में); क्योंकि इसकी व्याख्या बिना किसी पूर्वघटित उक्ति के भी की जासकती है। यह सम्भव है कि इस उक्ति को व्युत्पन्न करने केलिए ऐसा सरलतम नियम बना लियाजाए, जिसके अधीन **'क्या आपको'** का प्रयोग, इन शब्दों से आरम्भ होनेवाले वाक्यों में छोड़ा जासके। क्योंकि इसीतरह हम यह कह सकेंगे कि इसमें 'वह' सर्वनाम भी अन्तर्हित है, तथा इसके उत्तर—**'हां, मुझे (मिल गए)'**—का हेतु भी विद्यमान है। इस उदाहरण में तथा ऊपर कहे उदाहरण में अन्तर स्पष्ट है। यद्यपि दोनों मेंसे ही कुछ शब्द छूटे कहे जासकते हैं : अर्थात् उन्हें बड़े वाक्यों के लघुतर आकार कहा जासकता है; किन्तु उनकी 'शब्दन्यूनता' में अन्तर है। **'जोन की; यदि····'** वाक्य व्याकरण की दृष्टि से **अपूर्ण** है। अर्थात् यह वाक्य है ही नहीं। इसीलिए इसे व्याकरण के द्वारा प्रत्यक्षतः नहीं समझाया जासकता। बल्कि, इसकेलिए यदि सम्भव हो तो पूरक नियम बनाने होंगे, जिनसे यह सिद्ध होता हो कि विधिवत् समझे जानेवाले या व्युत्पन्न वाक्य मेंसे प्रसंग-निर्धारित शब्दों को छोड़ा क्यों गया है। दूसरी ओर, **'टिकट मिल गए ?'**, एक पूर्ण वाक्य कहा जा सकता है; इसमें उसी वाक्य के वैकल्पिक रूप—**'क्या आपको...?'**—मेंसे जिन शब्दों को छोड़ा गया है, उनका त्याग व्याकरण-सम्मत है तथा उनका विस्तृत संदर्भ से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त व्याकरण द्वारा एकसमान वाक्य-प्रयुक्त अंग्रेजी के 'donot' की जगह, 'don't' एवं 'can not' की जगह 'can't', तथा हिन्दी के 'अब ही'→'अभी', 'इन ही'→'इन्हीं', आदि संक्षिप्त रूपों का भी विधान होना चाहिए। ये प्रयोग व्याकरणात्मक दृष्टि से समतुल्य हैं, शैली में भले ही भिन्न हों। परम्परानुगामी वैयाकरण इस व्याकरणात्मक और सन्दर्भात्मक अपूर्णता के बीच विभेद को पहचानने में असमर्थ रहे हैं।

५. २. ४ 'वाक्य' शब्द के दो अर्थ

'वाक्य व्याकरणात्मक विश्लेषण की महत्तम इकाई है'—कहने का अर्थ यह है कि, 'यह वह सबसे बड़ी इकाई है, जिसे भाषाविद् भाषा के निबन्धन में पाए जानेवाले वितरणजन्य **चुनाव** और **त्याग** की दृष्टि से विश्लिष्ट कर सकता है।' ऊपर दिए उदाहरणों (जो कि इससे कई गुना बढ़ाए जासकते हैं) से यह स्पष्ट है कि वितरणात्मक सम्बन्ध उन उक्तियों की सीमाओं के भी आर-पार स्थापित हो-सकते हैं, जिन्हें अन्यथा 'स्वतन्त्र' कहा जासकता है। इस प्रतीयमान विरोध से भरी उलझन को 'वाक्य' द्वारा अभिप्रेत दोनों भावनाओं की विभिन्नता को समझकर सुलझाया जासकता है। व्याकरणात्मक दृष्टि से 'वाक्य' एक ऐसी पूर्ण इकाई है, जिसे आधार मानकर भाषाविद् उक्तियों के बीच पारस्परिक बन्धक सम्बन्धों की व्याख्या करता है। इस भावना में **'उक्तियों'** को **'वाक्य से निर्मित'** नहीं कहा जासकता। बल्कि वे वाक् (या लेख) के एक या अधिक **'प्रखण्डों'** से निर्मित होती हैं, जिन्हें व्याकरणजन्य **'वाक्यों'** की अनुकारिता में रखा जासकता है। दूसरी ओर, इन **'प्रखण्डों'** को स्वतः ही **'वाक्य'** के रूप में कहाजाता है; जैसा कि ५. २. १ में दिएगए **ब्लूमफ़ील्ड** के उम्म उदाहरण से सिद्ध है, जिसमें वे उक्ति के तीन खण्डों को **'तीन वाक्य'** कहते हैं। जैसा कि उक्त उदाहरण में पायाजाता है, यदि प्रत्येक खण्ड वितरणात्मक दृष्टि से अनाश्रित हो, तब ब्लूमफील्ड के अनुकरण पर उनके विषय में यह कहने का लोभ होता है कि व्याकरण अपनी निरपेक्ष इकाइयों की सहायता के बिना भी उन्हें प्रजनित करसकता है। किन्तु जैसा कि हम देख ही चुके हैं कि वाक्यों और कथित प्रखण्डों के बीच अनुकारिता कहीं कम प्रत्यक्ष होती है। अतः यह अधिक उचित प्रतीत होता है, जैसा कि परम्परानुगामी वैयाकरण प्रायः मानते थे, कि वाक्य को यहाँ सुझाईगई अधिक निरपेक्ष भावना तक सीमित कर दियाजाए। यहाँ हम **सौस्यूर** के शब्दों में दोहरा सकते हैं कि देशीय भाषाभाषियों द्वारा उत्पन्न 'पारोल्' (parole) के उन विस्तारों या खण्डों को 'उक्तियाँ' कहते हैं, जिन्हें कि वे उन वाक्यों से निर्मित करते हैं, जो 'लाङ्' (langue) को बनानेवाले नियमों और अवयवों की प्रणाली से प्रजनित होते हैं। 'लाङ्' की स्थापना के प्रसंग में भाषाविद् 'पारोल्' के निदर्शनों को वर्णित करता है, और उन दोनों के बीच सामान्यतम रूप से सम्बन्ध स्थापित करता है। यह बात समझाने के बाद, हम भी भाषाविदों की सामान्य परम्परा में ही यह कहेंगे कि उक्तियों का निर्माण 'वाक्यों' से ही होता है। इसे हम उक्त रूप में ही समझ सकते हैं।

५. २. ५ 'पूर्वनिर्मित' उक्तियाँ

इस स्थल पर कदाचित् उक्तियों या उनके अंशों की एक अन्य कोटि की चर्चा आवश्यक होजाती है, जो **'अपूर्ण वाक्यों'** से इस बात में मिलती-जुलती हैं कि वे व्याकरण द्वारा प्रजनित वाक्यों की पूर्ण अनुकारिता में नहीं होतीं। उनसे उनका

विभेद इस बात में होता है कि उनके विवरण केलिए उन नियमों का विनियोग अनिवार्य नहीं रहता, जो सामान्य उक्तियों के एक बृहत् वर्ग केलिए बनाए जाते हैं। इन्हीं उक्तियों को सौस्यूर ने **पूर्वनिर्मित उक्तियाँ** कहा था : वे अभिव्यक्तियां, जिन्हें अविश्लेष्य समग्र के रूप में सीखाजाता है और देशीय वक्ताओं द्वारा विशिष्ट अवसरों पर प्रयोग कियाजाता है। **अंग्रेज़ी** में इसका उदाहरण *'How do you do ?'* (हिन्दी—**'आप कैसे हैं ?'**) के रूप में दिया जासकता है, जो आकारतः प्रश्नवाचक होकर भी उस रूप में समझा नहीं जाता; और अंग्रेज़ी के *'How do you...'* से आरम्भ होनेवाले, अंग्रेज़ी व्याकरण के नियमानुकूल बने, अन्य प्रश्न-वाक्यों की भाँति इसका उत्तर उनके उत्तर की भाँति समकक्ष *'I...very well'* जैसे वाक्यों से नहीं दियाजाता। इसका एक अन्य उदाहरण अंग्रेज़ी का (कब्र के पाषाण पर लिखा) *'Rest in peace'* (या, हिन्दी में—**'चिर-निद्रा-मग्न रहो'**) जैसी उक्ति को लिया जासकता है, जिसका अभिप्राय अंग्रेज़ी की अन्य तत्सम उक्तियों (यथा—*Rest here quietly...*, आदि) के अनुरूप 'आज्ञार्थक' या 'विधि' के रूप में नहीं लियाजाता; प्रत्युत यह एक परिस्थिति-बद्ध ऐसी उक्ति है, जिसका विश्लेषण समकालीन अंग्रेज़ी के व्याकरण के अनुकूल न तो होसकता है, न ऐसा करना वांछनीय ही है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाली लोकोक्तियों का समूह इसप्रकार की उक्तियों का सर्वप्रधान साक्षी है। **अंग्रेज़ी** के : Easy come easy go; All that glitters is not gold; या **हिन्दी** के : 'यह मुंह मसूर की दाल', 'मुंह धोकर बैठो'; आदि उदाहरण इसी प्रकार की उक्तियों के हैं। विशुद्ध व्याकरणात्मक दृष्टि से इसप्रकार की उक्तियों को समुचित रूप में या सफल रूप में 'वाक्य' नहीं माना जासकता; यद्यपि वितरण की दृष्टि से वे स्वतन्त्र हैं और ऊपर दीगई व्याकरणगत 'वाक्य' की परिभाषा पर भी पूरे उतरते हैं। उनकी आन्तरिक रचना वाक्य-सम्बन्धी उन नियमों से परिचालित नहीं है, जिनके द्वारा शब्दों का आपसी संघात विशेषित कियाजाता है। फिर भी, भाषा के समग्र वर्णन में, जिसमें ध्वनिवैज्ञानिक और व्याकरणात्मक वर्णन अन्तर्हित होता है, उन्हें (व्याकरण की दृष्टि से अगठित) वाक्यों के रूप में श्रेणीबद्ध अवश्य कियाजाता है; क्योंकि उनका भी ध्वनिरेखीय-चित्र व्याकरण-जन्य वाक्यों से अभिन्न या समरूप होजाता है। इसके अतिरिक्त, उनका विवरण शब्दकोष में उन्हें ग्रथित करके उनके प्रयोग की विशिष्ट स्थितियों और अर्थों को निबद्ध करने के माध्यम से ही दिया जासकता है।

इस प्रकार की पूर्व निर्मित अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त, जिनका प्रयोग पूर्ण और अपरिवर्त्तनीय उक्तियों के रूप में भी किया जासकता है, कुछ ऐसी भी उक्तियाँ हैं जो व्याकरण की दृष्टि से अगठित या असंगठित हैं, परन्तु जिन्हें उत्पादक नियमों के अनुसार वाक्यों में संनद्ध अवश्य किया जासकता है। उदाहरणार्थ : **अंग्रेज़ी के**—*'What is the use of move—ing...?' Down with, move—?* आदि, **हिन्दी के '—ने का क्या लाभ ?'**, **'बुरा हो,—का'**, आदि। ऐसे प्रयोगों या अवयवों केलिए कोई

सर्वस्वीकृत संज्ञा नहीं है। इन्हें **'स्कीमैटा'** या **'प्रयुक्ति'** के नाम से हम कहेंगे। हम देखेंगे कि यह प्रयुक्ति भिन्न-भिन्न क्रम (स्तर) की होसकती है। यहाँ गिनाए अंग्रेज़ी और हिन्दी के दोनों उदाहरण-युग्म **'वाक्य-प्रयुक्ति'** कहे जासकते हैं (केवल यही ऐसी व्याकरणात्मक इकाई है, जिससे हमें यहाँ प्रयोजन है)। ऐसे प्रयोगों में उचित वैयाकरणिक श्रेणी के शब्द से **'रिक्त-पूर्त्ति'** करनेमात्र से ही अनेकानेक वाक्यों का सृजन होसकता है। इसप्रकार उक्त उदाहरणों से निम्न प्रकार के वाक्यों का सृजन होसकता है : **'रोने का क्या लाभ ?'**, **'पहले से ही यह सब बखेड़ा करने का क्या लाभ ?'**, **'बुरा हो दरिद्रता का।'**, **'बुरा हो देश के गद्दारों का।'** आदि। (अंग्रेजी में भी ऐसे ही वाक्य बनाए जासकते हैं।) दूसरी ओर, **'—के नाम पर'** जैसे प्रयोगों को 'पदबन्ध-प्रयुक्ति' कहसकते हैं। यहाँ व्याकरण का कार्य केवल 'रिक्त-पूर्ति' केलिए श्रेणी के अवयव बताने से ही पूरा नहीं होता (**'भगवान के नाम पर'**, **'गरीबों के नाम पर'** आदि); बल्कि परिणत पदबन्ध को वाक्यों में वितरण के आधार पर श्रेणीबद्ध करना भी व्याकरण का ही कार्य है, (यथा—**'भगवान के नाम पर क्या-क्या नहीं होता !'**, आदि)।

५. २. ६ वाक्यों के विविध प्ररूप

परम्परागत व्याकरण में वाक्यों को दो उपायों से विविध 'प्ररूपों' में श्रेणीकृत कियाजाता है: **सर्वप्रथम** कार्य या फलन के आधार पर—यथा, **वक्तव्य, प्रश्न, आश्चर्यात्मक, आज्ञात्मक,** आदि के रूप में; तथा **द्वितीय** उनकी संरचनात्मक जटिलता के आधार पर—यथा, **साधारण** और **समस्त** आदि के रूप में। जटिल वाक्यों की रचना अनेक साधारण वाक्यों से मिलकर होती है (जिन्हें बृहत्तर वाक्यों का अंग बनने पर **'वाक्यान्तर'** या **'क्लॉज़'** के नाम से कहाजाता है)। इसप्रकार, **'मैं उससे कल मिला था, और कल फिर मिलूंगा'** एक जटिल वाक्य है। जटिल वाक्यों के भी वर्ग होते हैं : **(क)** जिनका हर घटक-वाक्यान्तर **'सह-घटक'** होता है, और अन्यों पर अनाश्रित रहकर भी एक-दूसरे से श्रृंखलित रूप में आबद्ध होता है; भले ही उनके साथ सह-घटक समुच्चय-निपातों का प्रयोग हो या न हो (**और, एवं** आदि); और (ख) जिनमें एक (प्रमुख) वाक्यान्तर को एक या अधिक ऐसे अवघटित अन्य वाक्यान्तरों द्वारा 'संशोधित' कियाजाता है, जो व्याकरणात्मक दृष्टि से इसपर आश्रित होते हैं और सामान्यत: अंग्रेज़ी, हिन्दी, संस्कृत आदि में **यदि, जब, तब,** आदि के वाचक अवघटक समुच्चयनिपातों (या विचिकित्सार्थीय निपातों) से आरम्भ होते हैं। अवघटित वाक्यान्तरों का फलन की दृष्टि से अधिविभाजन **कर्तृस्थानीय, विशेषणस्थानीय, अव्ययस्थानीय,** एवं **कालात्मक, सानुबन्ध, सापेक्ष,** आदि के रूप में होसकता है। इस श्रेणीकरण के विस्तार में जाने की आवश्यकता यहां नहीं है। इस खण्ड में व्याकरणात्मक आश्रितता को वितरणात्मक दृष्टि से समझाया गया है। परवर्त्ती अध्याय (६. ४. १) में हम 'प्रकार्य', 'संशोधन', आदि धारणाओं की व्याख्या

भी वितरण की दृष्टि से करेंगे ।

इन वाक्य-भेदों के प्रसंग को अस्थायी रूप में त्यागने से पहले एक सामान्य बात कहनी आवश्यक है । व्याकरणात्मक वर्णन केलिए इस पुस्तक में अपनाई गई 'रूपात्मक' या 'औपचारिक' पद्धति, जिसे कि अधिकांश आधुनिक भाषाविदों ने भी अपनालिया है, वाक्यों की आन्तरिक संरचना के आधार पर (अर्थात्, उनके अंशों को परस्पर आबद्ध करनेवाले वितरणात्मक सम्बन्धों के आधारपर) उनके श्रेणीकरण से पहले 'धारणा' के आधारपर उनके वर्गीकरण के प्रयत्न को हेय मानकर चलती है । यह मानकर नहीं बढ़ना चाहिए कि रूपात्मक दृष्टि से प्रत्येक भाषा में **वक्तव्य, प्रश्न, आश्चर्यात्मक, आज्ञात्मक,** के रूप में परम्परागत व्याकरण में मान्य चार प्रकारके मुख्य वाक्य-भेद (वाक्य-प्रकार) विभिन्न प्रकार की संरचना से युक्त मिलेंगे ही । जैसा कि हमने पिछले अध्याय में भी बल दिया है, आवश्यकता इस बात की है कि सर्वप्रथम स्वतंत्र रूप से हर भाषा में उसके उपयुक्त व्याकरणात्मक इकाइयों और संघात के ढांचों को स्थापित कियाजाए, और केवल तभी, अनिवार्य होने पर ही, उन्हें उनके अर्थात्मक और सन्दर्भात्मक सह-सम्बन्धों के आधार पर **वक्तव्य, प्रश्न,** आदि संज्ञाएँ दीजाएं । पाश्चात्य परम्परागत व्याकरण ने **चार प्रकारों** को इसलिए मान्यता दी, क्योंकि **ग्रीक** और **लैटिन** में रूपात्मक दृष्टि से भिन्न वाक्य-रचना के चार ही ढाँचे विद्यमान थे, जिन्हें अर्थात्मक वर्गीकरण की दृष्टि से स्थूलतः **वक्तव्य, प्रश्न, आश्चर्यात्मक** और **आज्ञा** के रूप में ही बाँटा जासकता था । पदभेदों की सार्वभौमिकता के उद्घोष की भांति इनको भी भाषा के **सार्वभौम अभिलक्षण** कहने की प्रवृत्ति मध्यकालीन वैयाकरणों और उनके अनुयायियों की उस बृहत्तर धारणा का ही परिणाम थी, जिसके अनुसार ग्रीक और लैटिन व्याकरण की विशिष्ट बातें पहले से ही सिद्ध मानली गईं थीं ।

५. २. ७ ध्वनिप्रक्रियात्मक निकष

वितरणात्मक अन्योन्याश्रितता की कसौटी सदाही इस बात में स्वतःपर्याप्त नहीं होती कि वह किसी भी उक्ति को अद्वितीय रूप में निर्धारित संख्या के वाक्यों में खण्डित करसके । (यह स्मर्त्तव्य है कि उक्तियां केवल उसी अर्थ में वाक्यों से बनी कही जासकती हैं, जिन्हें पहले इस खण्ड में स्पष्ट कियागया है ।) उदाहरणार्थ, इस उक्ति को लें : **'मैं कभी परवाह न करता अगर मैं तुम्हारी जगह होता मैं इसे कल तक टाल देता ।'** इसका खण्ड **'अगर मैं तुम्हारी जगह होता'** वितरण की दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं है (अतः यह खण्ड **'वाक्य'** भी नहीं है); क्योंकि यह पहलेसे ही उसी उक्ति में एक अन्य 'खण्ड' की पूर्व-कल्पना करके चलता है (फिर चाहे वह खण्ड पूर्व-वर्त्ती हो या परवर्ती), जिसमें **करता, होता,** आदि का प्रयोग हुआ हो । **'अगर मैं तुम्हारी जगह होता'** के पहले और पीछे आनेवाले दोनों ही खण्ड इस वितरणात्मक पूर्वकल्पना के अनुबन्धों को पूरा करते हैं, जिस कारण इस उक्ति को दो प्रकार से

वाक्यों में विभक्त किया जासकता है। **'मैं कभी परवाह न करता अगर मैं तुम्हारी जगह होता।/मैं इसे कल तक टाल देता',** और **'मैं कभी परवाह न करता।/अगर मैं तुम्हारी जगह होता मैं इसे कल तक टाल देता।'** इन दोनों में किसी भी सम्भावना पर विचार करते हुए हमें **शक्य विराम** और **अनुतान** की कसौटियों का आश्रय लेना होगा। वितरणात्मक दृष्टि से परिभाषित अंग्रेज़ी और हिन्दी के वे वाक्य, जिनमें सीमांकन की कोई समस्या उपस्थित नहीं होती, तान की भिन्नता के कारण तथा परिणामजन्य ह्रस्व या दीर्घ विराम के कारण, एक ही उक्ति में क्रमबद्ध रूप में आने पर भी एक दूसरे से पृथक् किये जासकते हैं। अत: अंग्रेज़ी और हिन्दी के समग्र वर्णन की दृष्टि से जिन्हें 'वाक्य' के रूप में मान्यता दीजाती है, ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से भी इस 'अनुतान' के कारण उन्हें उसी रूप में माना जासकता है। (अर्थात्, वे अनुतान के क्षेत्र में आते हैं।) जब ऐसा है, तब भाषा का समग्र वर्णन और भी सरल हो जाता है; यदि हम व्याकरण द्वारा न सुलझाएगए तथ्यों केलिए 'अनुतान' आदि ध्वनिप्रक्रियागत अभिलक्षणों का भी सहारा लें, जैसे कि ऊपर के निदर्शन में बताया गया है। निस्सन्देह सैद्धान्तिक दृष्टि से यह सम्भव है कि किसी भाषा में 'अनुतान' के 'क्षेत्र' को सर्वथा भिन्न रूप में (गिने हुए वर्णों आदि के रूप में) स्थापित कहा जासके, और वह व्याकरणात्मक दृष्टि से किसी विसीमित इकाई की अनुकारिता में न हो। किन्तु, सम्भवत: सत्य यह है कि हर भाषा में 'वाक्य' एक ऐसी इकाई होती है, जिसमें अधिकतम 'विभिन्न स्तरों का संगम' होता है; विशेषकर वर्णन के ध्वनिप्रक्रियात्मक और व्याकरणात्मक स्तरों के बीच। यहाँ यह भी कहा जासकता है कि जिन्हें परम्परागत रूप में सहघटित वाक्यान्तरों से रचित 'जटिल वाक्य' कहाजाता है, विशुद्ध व्याकरण के निकष पर वे 'एक वाक्य' के रूप में न मानेजाकर 'पृथक् वाक्यों की शृंखला' के रूप में मान्य ठहरेंगे। **'मैं उससे कल मिला था और मैं उससे कल फिर मिलूंगा'**—जैसी उक्ति को **'वितरणात्मक स्वातन्त्र्य'** के आधार पर **'मिला था'** और **'और'** के बीच आनेवाले **'भंग'** के द्वारा दो खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। किन्तुइससे अधिक क्रमबद्ध और शृंखलित वाक्यों को 'वाक्यान्तर' मानना चाहिए या स्वतन्त्र वाक्य; इसका निर्णय करने में 'शक्य विराम' और 'अनुतान' के रूप में अतिरिक्त कसौटियों की भी सहायता ली जासकती है। लेखन-व्यवहार में इस प्रकार के उदाहरणों में विभेद कियाही जाता है : **'मैं उससे कल मिला था। और, मैं उससे कल फिर मिलूंगा।',** के रूप में एक दृष्टि से; जबकि दूसरी दृष्टि से—**'मैं उससे कल मिला था और मैं उससे कल फिर मिलूंगा।'** के रूप में।

५. ३ रूप-तत्त्व या रूपांश

५. ३. १ शब्द और रूपांश

शब्द और रूपांश के रूप में दो अन्य व्याकरणात्मक इकाइयों पर विचार के प्रसंग में हमारे सामने सर्वप्रथम यह समस्या आती है कि इनमें से पहले किसपर विचार कियाजाए। क्योंकि, जिसका भी विचार हम पहले करेंगे, हमें उससे अन्य की प्राक्कल्पना करके ही चलना होगा। अधिकांश आधुनिक व्याकरण-ग्रन्थों में इस कठिनाई को बचाने केलिए एक ओर तो 'रूपांश' को व्याकरणात्मक विश्लेषण की न्यूनतम इकाई मानागया है (हम इसे ही अस्थायी रूप में स्वीकार भी करेंगे) और, दूसरी ओर, इस बात को संकेतित तक नहीं कियागया है कि भाषाविदों की सामान्य प्रवृत्ति सदा इस परिभाषा की संगति में नहीं रही है; बल्कि वह किसी न किसी प्रकार से शब्द को व्याकरणात्मक इकाई मानने से अनुबन्धित रही है। इस उभयात्मक समोक्ति के ऐतिहासिक कारण हैं, और वे विचार-प्रसंग में स्पष्ट होजाएंगे। तब हम देखेंगे कि न तो शब्द ही और न रूपांश ही (भाषाविज्ञान जिस रूप में उन्हें जानता है) भाषा के 'सार्वभौम अभिलक्षण' हैं, यद्यपि परिभाषा बनाकर उन्हें ऐसा निश्चित किया जासकता है। किन्तु, इन दोनों में से किसी भी इकाई को सार्वभौम बनाने केलिए, हमें उससे कहीं अधिक अतीत से दूर जाना होगा, जितना कि अधिकांश भाषाविद् जाने को उद्यत रहे हैं। यद्यपि हम मुख्यतः इस खण्ड में 'रूपांश' की और अगले खण्ड में 'शब्द' की चर्चा करेंगे, फिर भी इन दोनों खण्डों में कुछ मात्रा में परस्पर विषयान्तर होना स्वाभाविक ही है।

५. ३. २ शब्दों की खण्डनीयता

हमने रूपांश को व्याकरणात्मक विश्लेषण की न्यूनतम या **निम्नतम स्तर** की इकाई के रूप में स्वीकार किया है, जिनके मिलने से **उच्चतम स्तर** की इकाइयों (शब्दों) का निर्माण होता है (५. १. १.)। उदाहरणार्थ, हमने कहा कि **'अभाव'** शब्द **'अ'** और **'भाव'** के रूप में दो रूपांशों के मिलने से बना है, जिनमें से प्रत्येक का वितरण विशिष्ट है और प्रत्येक का अपना ध्वनिप्रक्रियात्मक और लिप्यात्मक **'रूप'** या **'आकार'** है। अब हमें इन 'रूपांशों' और ध्वनिप्रक्रियात्मक या लिप्यात्मक 'आकार' के बीच भी विभेद स्पष्ट करनाचाहिए।

किसी शब्द की छोटी व्याकरणात्मक इकाइयों में विभाज्यता मात्रा में भिन्न होसकती है। अंग्रेज़ी के *boy-s, jump-s, jump-ing, jump-ed, tall-er, tall-est,* आदि में (एवं संस्कृत के—**महत्-तम, समर्थ-तर, मधुर-ता, अत्-ति, जु-हो-सि,** आदि में) यह विभाग **'अभाव'** (या अंग्रेज़ी के *'un-accept-able'*) शब्द की अपेक्षा कम सहज रूप में नहीं कियाजाता। यह बात **अंग्रेज़ी, हिन्दी, संस्कृत** आदि के नाम, विशेषण, क्रिया आदि में आम तौरपर पाईजाती है। (हिन्दी में—

पा-ता, खा-ना, भल-मनस-आई, मर-ती, आदि इसीप्रकार के उदाहरण कहे जासकते हैं।) हम कह सकते हैं कि 'विभाज्यता' के विषय में इसप्रकार के शब्द 'निर्धार्य' हैं। किन्तु, इन्हीं भाषाओं में ऐसे भी अनेक शब्द हैं, जिनका या तो विभाजन होही नहीं सकता, या फिर वह अंशतः ही होसकता है। उदाहरणार्थ : अंग्रेज़ी में **मेॅन्, चिल्ड्रेन्, माइस, शीप**, आदि अनियमित बहुवचन और **वेण्ट, टुक, केम, रन्, कट्** आदि 'सबल' क्रियाओं के भूतकालिक रूप, अथवा **बैटर, वर्स्ट**, आदि सापेक्ष शब्दरूप। (संस्कृत-हिन्दी के भी ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिये जासकते हैं।) इन सबके द्वारा विभाजन की समस्याएँ विविध रूप में या विविध मात्रा में सामने आती हैं। यथा, अंग्रेज़ी के '*man*' और '*men*' के बीच व्याकरणात्मक दृष्टि से वही अन्तर है, जो '*boy*' और '*boys*' के बीच है। अर्थात्, दोनों मेंसे प्रथम **'एकवचन'** और द्वितीय **'बहुवचन'** है। किसी मात्रा तक '*man*' और '*men*' के बीच ध्वनिप्रक्रियात्मक या लिप्यात्मक समानता भी खोजी जासकती है, जिसके आधार पर इन दोनों को विभाजित किया जासकता है। यही बात '*mouse*' और '*mice*' के विषय में भी लागू होती है, यद्यपि इनमें ध्वनिप्रक्रियात्मक या लिप्यात्मक अन्तर पहले की अपेक्षा अधिक है। किन्तु, दूसरी ओर, यद्यपि *worst* और *went* का सम्बन्ध व्याकरणात्मक दृष्टि से क्रमशः *bad* और *go* के साथ वही है, जो '*taller*' और '*jumped*' का *tell* और *jump* के साथ है, किन्तु ध्वनिप्रक्रियात्मक दृष्टि से इन दोनों रूपों के बीच कोई भी साम्य विद्यमान नहीं है। '*worse*' और '*went*' जैसे शब्दों को विभाजित नहीं किया जासकता। भाषाविदों ने इस प्रकार के अनिर्धारित शब्दों के विभाजन की समस्या के विषय में एक या दूसरे प्रकार का हल सुझाने में पर्याप्त बुद्धिमत्ता से कामलिया है। हम इन सुझावों की चर्चा यहाँ नहीं करेंगे; क्योंकि उनके पीछे इस पुस्तक में स्वीकृत मान्यताओं की अपेक्षा कुछ अधिक विशिष्ट प्रणाली-वैज्ञानिक मान्यताओं का हाथ है। हमारे उद्देश्य केलिए इतना ही पर्याप्त है कि हमने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करदिया है कि कम-से-कम कुछ भाषाओं में तो ऐसे शब्द भी उपस्थित हैं, जिन्हें खण्डों में विभाजित नहीं किया जासकता। यदि उन्हें करें, तब यह स्वेच्छाचारिता के रूप में ही होगा; यद्यपि व्याकरणात्मक दृष्टि से ये भी उन्हीं श्रेणियों से सम्बद्ध हैं, जिनसे विभाज्य शब्द सम्बद्ध हैं।

५. ३. ३ रूपांश : वितरणात्मक इकाई

'रूपांश' की परिभाषा में कोई बात ऐसी नहीं है, जिससे यह सिद्ध होता हो कि यह अपने द्वारा निर्मित शब्द का विवेच्य 'खण्ड' होता है। अगर हम यह कहें कि *worse* शब्द का निर्माण भी दो खण्डों से मिलकर हुआ है, जिनमें से एक *bad* (और *worst*) के एक अंश से मिलता जुलता है और दूसरा *taller* के अंश से, तब इसका अर्थ इसके समकक्ष ही यह भी होगा कि व्याकरणात्मक प्रकार्य की दृष्टि से *worse* शब्द *taller*, *bigger*, *nicer*, आदि शब्दों से उतना ही भिन्न है, जितना

कि *bad* शब्द *tall, big, nice,* आदि से (तथा, *worst* शब्द *tallest* आदि से)। इसे सामान्यतः व्याकरणात्मक या वितरणात्मक समतुल्यता के अनुपात में प्रदर्शित कियाजाता है (तु०-'नियमितता' की मूल भावना-१. २. ३ में) :

bad : wose : worst = tall : taller : tallest.

यह अनुपात इस तथ्य को अभिव्यक्त करता है कि, उदाहरणार्थ, *worse* और *taller* आदि शब्द व्याकरणात्मक दृष्टिसे इस अर्थ में एकसे हैं कि वे दोनों ही विशेषण के 'तुलनात्मक' रूप हैं। वे किन्हीं दो वस्तुओं की एकही बात में तुलना दिखानेवाले वाक्यों में प्रयुक्त होते हैं: यथा, *John is taller* (*worse* आदि) *than Michael,* आदि में। पर इन दोनों में अन्तर इस बात में है कि इन दोनों का प्रयोग एक ही वाक्य-विन्यास में नहीं होसकता : परम्परागत वैयाकरणों की दृष्टि में वे एक ही नामवर्ग के विशेषण नहीं बनसकते। जहाँतक किसी विशिष्ट विशेषण द्वारा विशेषित कीगई नामश्रेणी व्याकरणात्मक दृष्टिसे निर्धार्य होती है (इसबात पर हम अभी फिर विचार करेंगे), उसके वितरण के इस अभिलक्षण की विवेचना हम यह मानकर कर सकते हैं कि उस विशेषण का योजक एक भिन्न 'रूपांश' होता है, जबकि दूसरे विशेषण का योजक भिन्न रूपांश होता है। (यह विशेषण किसी भिन्न ही नाम श्रेणी को विशेषित करता है।)

इस बात को अधिक स्पष्ट करने केलिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम हम ऊपर दिये आनुपातिक समीकरण को प्रतीकात्मक रूप में बदललें :

क : ख : ग = च : छ : ज

इनको बीजगणितीय घटकों के रूप में हम इसतरह बनाएंगे :

क$\overline{\text{अ}}$: ख$\overline{\text{अ}}$: ग$\overline{\text{अ}}$ = क$\overline{\text{इ}}$: ख$\overline{\text{इ}}$: ग$\overline{\text{इ}}$

इसका अर्थ हुआ कि प्रत्येक शब्द को दो योजकों में विघटित कर दियागया है। इस समीकरण के बाईं ओर के सभी शब्दों का योजक है **'अ'**, जबकि विपरीत दिशा में यह योजक है **'इ'**। जहाँ तक दूसरे योजक का सम्बन्ध है, दाईं ओर के प्रथम शब्द का यह योजक बाईं ओर के प्रथम शब्द के योजक के समरूप है। यही बात दूसरे और तीसरे शब्दों के द्वितीय योजक के बारे में भी सही है। इन योजकों या वितरणात्मक घटकों को ही 'रूपांश' कहदिया जाता है।

शब्दों के वितरण को इस प्रकार विघटित करके हम वाक्यों में उनके योजकों के वितरण का लेखा लेसकते हैं। अर्थात् **शब्दों का वितरण उसके योजकों के वितरण का 'उत्पाद' होता है।**

५. ३. ४ रूपांश और रूप

इस दृष्टि से यह प्रश्न सर्वथा असंगत बैठता है कि '**शब्दों का विभाजन खण्डों में सम्भव है या नहीं ?**' वस्तुतः **'रूपांश'** शब्द का **'खण्ड'** नहीं है; सिवाय 'घटकात्मक प्रकार्य' के इसकी शब्द में कोई स्थिति ही नहीं है (उदाहरणार्थ, **'क'** शब्द को योजक

रूपांशों में विखण्डित करते हम '**कग्र**' के स्थानपर 'ग्रक' भी रखसकते हैं) । जब कोई शब्द ग्रंशों में विखण्डित कर ही दियाजाता है, तब इन खण्डों को '**मॉर्फ**' या '**रूप**' कहाजाता है । इसप्रकार '**बृहत्तर**' शब्द दो 'रूपों' में विभाज्य है, जिन्हें लिपि में '**बृहत्**' ग्रौर '**तर**' के रूप में लिखाजाता है (ग्रंग्रेज़ी के '*bigger*' के दोनों ग्रंश हैं : *big* ग्रौर *er*; लिपि में सन्धि के समय '*g*' ग्रौर जोड़ दियाजाता है) । ग्रंग्रेजी शब्द '*bigger*' का ध्वनिप्रक्रियात्मक लिप्यन्तरण/*big*/ग्रौर/*ə*/के रूप में होगा । प्रत्येक रूप एक विशिष्ट **रूपांश** का प्रतिनिधित्व करता है ।

यहाँ हमने 'रूप' ग्रौर 'रूपांश' के बीच जो विभेद स्थापित किया है, वह सौस्यूर द्वारा प्रदर्शित 'द्रव्य' ग्रौर 'ग्राकृति' के बीच विभेद की तरह है (तु०-२. २. २) । ग्रन्य व्याकरणात्मक इकाइयों की भांति 'रूप' भी 'ग्राकृति' का ग्रवयव है, जो 'यादृच्छिक रूप से' (तु०-२. २. ७) ध्वनिप्रक्रियात्मक स्तर पर इसकी 'द्रव्यात्मक उपलब्धि' से सम्बद्ध होता है । जैसा कि हम देखही चुके हैं कि रूपांश का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व विशिष्ट ग्राकार (रूपों) वाले ध्वनिप्रक्रियात्मक या लिप्यात्मक खण्डों द्वारा होसकता है; किन्तु ग्रन्य रूपों में भी भाषा में उनकी द्रव्यात्मक उपलब्धि होसकती है । इन **रूपांशों** को सूचित करने केलिए उनके प्रतिनिधि **रूपों** का प्रयोग किया जाता है, ग्रौर प्रथा की दृष्टि से इसे कोष्ठक में रखाजाता है । इसप्रकार {*big*} एक रूपांश है, जिसकी ध्वनिप्रक्रियात्मक द्रव्यात्मक उपलब्धि /big/ के रूप में ग्रौर लिप्यात्मक उपलब्धि '*big*' के रूप में होती है । उधर '*went*' शब्द (ध्वनिप्रक्रियात्मक दृष्टि से /went/), जिसका रूपों में विभाजन सम्भव नहीं है, दो रूपांश ('go' ग्रौर 'ed') का प्रतिनिधित्व करता है । यद्यपि इस प्रचलन का ग्रनुकरण करेंगे, किन्तु यह जानलेना चाहिए कि 'रूपांश' को एक विशेष 'चिह्न' के द्वारा सूचित करने की बात यादृच्छिक निर्णय का विषय है । हम इस तत्त्व के प्रतिनिधान केलिए संख्याँग्रों का प्रयोग करके भी कहसकते हैं कि {२०७} का प्रतिनिधित्व /big/ के द्वारा होता है; तथा {१०३९}+{७६} का प्रतिनिधित्व /went/ या *went* के द्वारा द्रव्यात्मक दृष्टि से एकात्मक रूप में होता है ।

५. ३. ५ रूपकल्प (उपरूप) या ग्रल्लोमॉर्फ़

रूप ग्रौर रूपांश के बीच सम्बन्ध के विषय में एक ग्रन्य भी बात ग्रब कही जासकती है । प्रायः होता यह है कि वही 'रूपांश' हर स्थान पर उसी 'रूप' के द्वारा प्रतिनिधित्व नहीं पाता । बल्कि, विभिन्न स्थितियों में विभिन्न रूपों के माध्यम से उसका प्रतिनिधित्व सम्पन्न होता है । 'रूपांश' के ये विविध प्रतिनिधान 'रूपकल्प' (उपरूप) या 'ग्रप्लोमॉर्फ़' कहलाते हैं । उदाहरणार्थ, ग्रंग्रेज़ी का बहुवचनात्मक रूपांश {*s*} नियमित रूप से तीन रूपांशकल्पों द्वारा—/s/, /z/, /ɪs/, के द्वारा—प्रतिनिधित्व पाता है । ये तीनों ही इस रूप में ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से ग्रनुबन्धित हैं कि इन तीनों का प्रयोग उस 'रूपांश' की ध्वनिवैज्ञानिक ग्राकृति से निर्धारित होता है,

जिसके साथ यह जुड़ता है । नियम इस प्रकार से है :

(१) यदि इस बहुवचनान्त रूपतत्व {*s*} के साथ जुड़नेवाले नाम का प्रतिनिधि रूपांश /*s*/, /*z*/, /*ʃ*/, /*ʒ*/, /*ts*/, /*dz*/ आदि 'संघर्षी' वर्णों के साथ समाप्त होता है, तब {*s*} का प्रतिनिधित्व /iz/ के द्वारा होता है : यथा—buses, sizes, fishes, garages, batches, आदि में इसका उच्चारण 'इज़्' (/iz/) के रूप में ही होता है ।

(२) अन्यथा, (क) यदि रूप का अन्त किसी **घोषवर्ण** में हो, तब यह ध्वनि में 'ज़' के रूप में प्रतिनिधित्व पाती है : यथा—**'डॉग्ज़'**, **'बे ड्ज़'**, **'लाईज़'**, आदि में; और, (ख) यदि रूपांश का अन्त किसी **अघोष वर्ण** में हो, तब इसका प्रतिनिधित्व दन्त्य **'स'** ध्वनि के रूप में होता है : यथा—**कैट्स, बैट्स**, आदि में ।

यह स्मर्त्तव्य है कि अंग्रेज़ी की लेखनप्रणाली में इन तीनों रूपकल्पों का प्रतिनिधित्व दो ही चिन्हों के द्वारा होता है : /s/, /z/ का—*s* के द्वारा, और /iz/ का –*es* के द्वारा ! अंग्रेज़ी क्रियाओं के वर्त्तमानकाल के एकवचन का रूपांश, जिसे हम बहुवचन के उक्त रूपांश से भिन्न बताने के लिए {*z*} के रूप में लिखसकते हैं, इन्हीं तीन रूपांशकल्पों के द्वारा प्रतिनिधित्व पाता है । यहाँ भी ध्वनिप्रक्रियात्मक अनुबन्धन उसी रूप में प्रभावकारी होता है : यथा—**कैचेज़्, डिग्ज़, किक्स** में क्रमशः ! इसी तरह अंग्रेज़ी क्रियाओं का भूतकालिक रूपांश {*ed*} भी ध्वनिप्रक्रियात्मक रूप में अनुबद्ध तीन रूपकल्पों द्वारा प्रतिनिधित्व पाता है : /t/, /d/, और /ed/ के द्वारा इसके वितरण के नियंम इसप्रकार हैं : (१) 'वर्त्स्य' द, ड्, आदि के साथ अन्त होनेवाले रूपों के बाद आने पर /ed/ के रूप में : wetted, wanted, wedded, आदि में; घोष एवं 'सानुनासिक' वर्णों के बाद आने पर /d/ में रूप में : sagged, loved, mined, आदि में; तथा (३) 'अघोष' वर्णों के बाद आने पर /t/ के रूप में : sacked, puffed, आदि में ।

वस्तुतः {*z*} ,{*s*}, और {*ed*} के रूप में तीनों रूपाँशों के नियमित प्रतिनिधित्व से सम्बद्ध रूपकल्पीय अन्तरण को हम एक और भी अधिक सामान्य नियम के अधीन सूत्रित कर सकते हैं, जिसके अनुसार एक अपरिवर्त्ती या अचर रूपकल्प, जो घोषीकरण आदि के प्रति तटस्थ होता है, उचित रूपकल्प में बदल जाता है : यथा ये तीनों /iz/ या /id/ में वर्णान्तरित होते हैं, यदि ये अपनी तत्सम ध्वनि के बाद आते हों (उदाहरणार्थ, सभी संघर्षी ध्वनियां /*s*/, /*z*/ की तत्सम ध्वनि '-s' से युक्त हैं, और /t/ और /d/ ध्वनियां /ed/ की तत्सम मानीजाती है) । यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का नियम ध्वनिगुणात्मक या विशिष्ट-अभिलक्षण-विश्लेषण के द्वारा अधिक शीघ्रता से समझाया जासकता है; अंग्रेज़ी के वर्णात्मक विश्लेषण की दृष्टि से उतना नहीं : तु०-३. ३. ८ से आगे ।

इस रूपकल्पीय अन्तरण का पारिसीमन वहाँ सामने आता है, जहाँ किसी विशिष्ट रूपकल्प के चुनाव के सम्बन्ध में, ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना या किसी अन्य

दृष्टि से, कोई सामान्य बात नहीं कही जासकती। यह बात अंग्रेज़ी के *'oxen'* (ऑक्सन्) शब्द के उदाहरण से कही जासकती है, जहाँ बहुवचन के {*s*} रूपांश का स्थान /en/ आकृति लेलेती है। क्योंकि /ks/ (क्स) पर समाप्त होनेवाले अन्य अंग्रेज़ी शब्दों के बहुवचन रूप नियमतः /इज़/ ध्वनि के साथ उपलब्ध होते हैं, अतः /**ऑक्सन्**/ में /**अन्**/ की उपस्थिति को ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से सानुबद्ध नहीं कहा जा सकता। वास्तव में इसका निर्धारण अंग्रेज़ी की संरचना से सम्बद्ध ऐसे किसी भी सामान्य वक्तव्य के अधीन नहीं किया जासकता, जो रूपांश {*ox*} या रूपकल्प/oks/ के किसी अभिलक्षण के सम्बन्ध में हो। यह सत्य है कि अंग्रेज़ी में ही बहुवचन-प्रयोग के रूप में **'चिल्ड्रन'** *(children)* और **'ब्रेद्रन'**, *(brethren)* भी मिलते हैं, जिनका अन्त /ən/ में होता है। किन्तु, जहाँ **'ऑक्सन'** में दो रूपकल्प /**ऑक्स**/और//**अन्** स्पष्टतः उपलब्य होने से उसके विखण्डन में कोई समस्या सामने नहीं आती, वहाँ इन दोनों शब्दों में /अन्/ की पृथक् प्रतीति दो रूपकल्पों को /**चिल्ड**/ और /**ब्रेद्र**/ के रूप में शेष बचा देगी, जिनमें से एक भी उस रूपकल्प से एकाकार नहीं है जो इनके एकवचन के रूप में उपलभ्य है। और, नही इनमें से किसी का भी प्रयोग अन्यत्र ही कहीं होता मिलता है। अब क्योंकि 'ऑक्सन' शब्द की रचना, इसकी विखण्ड-नीयता के बाद भी स्वतः अंग्रेज़ी का एक ऐसा अनियमित तथ्य है, कि इस एकाकी प्रयोग को विहित सिद्ध करने के लिए एक विशिष्ट नियम का आश्रय लेना पड़ता है; अतः यह सारहीन प्रतीत होता है कि वर्त्तमान अंग्रेज़ी केलिए बहुवचनीय {स्} रूपांश के एक रूपकल्प को /**अन्**/ के रूप में भी परिवर्त्तित होता मानाजाए।

पाठक को लगसकता है कि इस खण्ड में रूप, रूपांश और रूपकल्प के बीच प्रदर्शित यह अन्तर वास्तव में केवल एक बुद्धि-विलास मात्र ही है; जिसका कोई सार्थक प्रयोजन नहीं है। किन्तु यदि हम भाषा-संरचना के विषय में एक सामान्य सिद्धान्त बनाना चाहते हैं, तब इसप्रकार के विभेद अत्यावश्यक होजाते हैं। हम देखेंगे कि कुछ भाषाओं में तो शब्द अंशों (**रूपों**) में विभाज्य होते हैं, जब कि अन्यों में ऐसा होना सम्भव नहीं होता। कुछ भाषाओं में प्रत्येक **रूप** एक-एक न्यूनतम व्याकरणा-त्मक इकाई (रूपांश) का प्रतिनिधि होता है, जब कि अन्यों में ऐसा नहीं होता। कुछ अन्य भाषाओं में प्रत्येक रूपांश का प्रतिनिधित्व सामान्यतः स्थिर ध्वनिप्रक्रिया-त्मक आकृति के एक खण्ड के द्वारा होता है, जबकि अन्य भाषा के कुछ रूपांशों का प्रतिनिधित्व रूपकल्पों के एक विन्यास द्वारा होता है, जिनका चुनाव विशिष्ट परि-स्थितियों में ध्वनिप्रक्रियात्मक या व्याकरणात्मक घटकों से अनुबद्ध होता है।

यह सत्य है कि ध्वनिप्रक्रियात्मक-अनुबन्धन से युक्त रूपकल्पीय विचरण (अन्तरण) पर्याप्त मात्रा तक वर्णन से बहिष्कृत किया जासकता है; यदि ध्वनिगुण या ध्वनिप्रक्रिया की विशिष्ट-अभिलक्षण-विश्लेषण-पद्धति को अपनालिया जाए। किन्तु व्याकरणात्मक अनुबन्धन से युक्त रूपकल्पीय अन्तरण को इस रीति से त्यागा नहीं जासकता। ध्वनिप्रक्रियात्मक-अनुबन्धनयुक्त विचरण को भी कुछ मात्रा में ही

बहिष्कृत किया जासकता है । अतः रूपकल्प का विचार उपयोगी है । किन्तु रूपांश और रूप के बीच का विभेद—व्याकरणात्मक इकाई और उसकी द्रव्यात्मक उपलब्धि के बीच भेद की दृष्टि से—विशिष्ट रूप से महत्त्वपूर्ण है । क्योंकि केवल इस विभेद को बताकर ही हम *'went'* और *'killed'*, या *'worse'* और *'taller'* आदि के बीच व्याकरणात्मक **साम्यों** और आकृतिमूलक **अन्तरों** को सामने लासकते हैं । विशुद्ध व्याकरणात्मक दृष्टि से इन दोनों रूपभेदों को समान रूप में विश्लिष्ट किया जासकता है : {*go*}+{*ed*}, {*kill*}+{*ed*}; {*bad*}+{*er*}, {*tall*}+{*er*}; आदि । 'नियमित' और 'अनियमित' आकृतियों का भेद वहाँ स्पष्ट होता है, जब विशुद्ध व्याकरणात्मक इकाइयों के रूप में शब्दों को ध्वनिप्रक्रियात्मक या लिप्यात्मक द्रव्य के माध्यम से 'साकार' कियाजाता है । *'killed'* जैसे नियमित शब्दों के रूपों की संहति के सम्बन्ध में नियम बनाए जासकते हैं । (यहाँ 'रूप' और 'रूपांश' को पृथक् दो तत्त्व मानने का हेतु अधिक स्पष्ट होजाएगा ।) ये नियम अत्यधिक सामान्य प्रकृति के होसकते हैं, और इन्हें ऐसे रूप में भी रचा जासकता है, जिससे इनके प्रयोग का अवकाश और भी व्यापक रूप में बचा रहजाए । उदाहरणार्थ : "जिन रूपों की रचना केलिए कोई विशिष्ट नियम विहित नहीं हैं, वे रूप निम्न सामान्य नियम (नियमों) के अनुकूल रचित होते हैं, यदि निम्न शर्तें पूरी हों" । **अनियमित** शब्द सीमित क्षेत्र वाले विशिष्ट नियमों से नियन्त्रित होते हैं : यथा, {*go*}+{*ed*} की उपलब्धि *went* के रूप में होती है । **'नियमित'** और **'अनियमित'** रूपों को समुचित ढंग से विवेचित करने का एक उपाय यह है कि पहले वे सब विशिष्ट नियम देदिये जाएँ, जिनका प्रयोग क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है, और तब शेष सम्पूर्ण क्षेत्र केलिए सामान्य नियम का विधान करदिया जाए; ताकि वह निर्बाध रूप में कार्य करसके ।

५. ३. ६ अयोगात्मक, योगात्मक और श्लिष्टयोगात्मक भाषाएँ

रूपांश, रूप और रूपकल्प के बीच विभेद करलेने के बाद अब हम विविध भाषाओं के बीच पूर्वोक्त रूप में पाए जानेवाले भेदों की व्याख्या इन तत्त्वों के प्रकाश में करसकते हैं । संरचनात्मक दृष्टि से उन्नीसवीं शती में प्रचलित श्रेणीकरण की प्रणाली के अनुसार भाषाओं को निम्न 'प्रकारों' में बाँटा जाता है : **अयोगात्मक** (isolating), **योगात्मक** (agglutinating), एवं **श्लिष्ट-योगात्मक** (inflecting) ।

अयोगात्मक भाषा उसे कहते हैं, जिसका प्रत्येक शब्द अपरिवर्त्ती हो । (क्योंकि हम यहाँ 'शब्द' की चर्चा उसे सिद्ध मानकर कररहे हैं, अतः इस बात की विवेचना अगले अनुच्छेद में ही करेंगे कि विश्लिष्ट भाषाओं के वर्णन में 'रूपांश', और 'शब्द' के बीच क्या अन्तर होता है ?) चीनी भाषा को प्रायः ही अयोगात्मक प्रकार की भाषा कहागया है, किन्तु आजकल विद्वान् प्रायः इस बात पर सहमत हैं कि बहुत से चीनी शब्द भी अनेक 'रूपांशों' के मिलने से बने हैं । इस दृष्टि से वियतनामी भाषा को चीनी से भी अधिक अयोगात्मक मानागया है । वास्तव में कोई भाषा अयोगा-

त्मक है या नहीं, यह मात्राभेद का ही प्रश्न है। यदि भाषा में शब्दों और रूपांशों को पृथक्-पृथक् पहचाना जासके, तब अयोगात्मकता की औसत मात्रा उस अनुपात के रूप में कही जासकेगी, जो शब्दों की संख्या और रूपतत्त्वों की संख्या के बीच विद्यमान होता है (आदर्श 'अयोगात्मक' भाषा का अनुपातांक १.०० कहा जासकता है)। कई भाषाओं के सन्तत पाठों की विवचना के बाद ये अनुपातांक इस रूप में कहे जासकते हैं : यथा—**अंग्रेजी**=१. ६८, **संस्कृत**=२. ५६, एवं **एस्किमो**=३. ७२ (अर्थात्, बहुयोगात्मक **एस्किमो** और **संस्कृत** की तुलना में **अंग्रेजी** अधिक अयोगात्मक है)। यह स्मर्त्तव्य है कि ये अंक किसी सन्तत पाठ में उपलब्ध औसत अनुपात के हैं। क्यों कि भाषा के शब्दों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों में **विश्लेष** (अयोग) और **प्रश्लेष** (संयोग) की यह प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न होसकती है, अतः यदि हर शब्द को एक-एक बार ही गिनते हुए उन-उन भाषाओं के सभी शब्दों का अकन कियाजाए, तब ये अनुपातांक सर्वथा भिन्न होंगे।

५. ३. ७ तुर्की : योगात्मक भाषा

हमारे वर्त्तमान प्रयोजन की दृष्टि से **श्लेषात्मक** होते हुए भी 'योगात्मक' और 'श्लिष्ट योगात्मक' भाषाओं के बीच का अन्तर पहचानना अधिक रुचिकर होगा। **'योगात्मक'** भाषा हम उसे कहेंगे, **जिसके शब्द एक-एक रूपांश के प्रतिनिधि रूपों के शृंखलित रूप में मिलने से बनते हों।** इस प्रकार की आदर्श भाषा के निकटतम उदाहरण के रूप में हम **तुर्की भाषा** को लेसकते हैं। तुर्की में **बहुवचन** का रूप {लेर्}, **सम्बन्ध कारक** का {इ} और **'अपादान'** का {देन्} है। संज्ञाओं के बाद जुड़नेवाले तुर्की रूप अन्य अनेक भी हैं। किन्तु, उसकी योगात्मक प्रकृति को दिखाने केलिए इन रूपांशों से ही काम चलजाएगा :

एव् (घर)=कर्त्ता, एकवचन;	**एव्लेर्**=कर्त्ता, बहुवचन
एवी=सम्बन्ध, एकवचन (उसका घर);	**एव्लेरी**=सम्बन्ध, बहुवचन (उसके/उनके घर);
एव्देन्=अपादान, एकवचन (घर से);	**एव्लेर्देन्**=अपादान, बहुवचन (घरों से);
एविन्देन्=सम्बन्ध-अपादान, एकवचन (उसके घर से);	**एव्लेरिन्देन्**=सम्बन्ध-अपादान, बहुवचन (उसके/उनके घरों से); आदि।

('इ' और 'देन्' के रूपांशों के बीच 'न्' का समावेश स्वयंभू और नियमित है।) सबसे पहलीबात तो यह अवधेय है कि कारकों के सूचक 'रूपांशों' के प्रतिनिधि तीनों ही 'रूप' अपने ध्वनिप्रक्रियात्मक रूप में सुरक्षित हैं और पहचाने जासकते हैं; मानों उन्हें केवल शृंखला में चिपकाभर दियागया हो। परिणाम यह कि तुर्की के शब्द अपने घटक **रूपों** में सद्योविभाज्य होते हैं : यथा—**एव्-लेर्-इ (न्)-देन्**, आदि।

समान महत्त्व का ही तुर्की का एक अन्य अभिलक्षण यह है कि किसी विशिष्ट शब्द का घटक प्रत्येक रूप एक-एक रूपांश का प्रतिनिधि होता है। इसप्रकार योगात्मक भाषाओं की दो विशेषताएँ हुई : (१) रूपों में विभाज्यता की निर्धार्यता (५. ३. २), और (२) **रूप** और **रूपांश** के बीच अंकात्मक समानुकारिता। यह अवधेय है कि ये दोनों अभिलक्षण एक-दूसरे पर अनाश्रित हैं। हम आगे देखेंगे कि किसी भाषा में इनमें से एक उपस्थित रहसकता है, जबकि दूसरा अनुपस्थित भी रहसकता है। यह भी स्मर्त्तव्य है कि रूप और रूपांश के बीच यहाँ कहीगई अंकात्मक समानुकारिता केवल शब्दविशेषों के सम्बन्ध में लागू होती है। उदाहरणार्थ, कुछ रूप (यथा तुर्की {इ} विभिन्न शब्द-श्रेणियों में वैसे ही विभिन्न रूपांशों का प्रतिनिधित्व करते पाए जासकते हैं, जैसे हम अंग्रेज़ी के /स्/, /ज़्/ और /इज़्/ के विषय में कह आए हैं। इसप्रकार, एक ही 'रूप' द्वारा अनेक 'रूपांशों' के प्रतिनिधित्व की मात्रा भाषाभेद से पर्याप्त भिन्न सिद्ध होती है। (रूपकल्पों का 'रूपांश' के साथ उलटा ही अनुपात होता है : वहाँ एक रूपांश का प्रतिनिधित्व अनेक रूपों के द्वारा होता है।)

५. ३. ८ लैटिन : श्लिष्ट योगात्मक भाषा

'श्लिष्ट योगात्मक' भाषाओं के उदाहरण के रूप में अब हम 'लैटिन' को लेंगे। सामान्यत: हम कह सकते हैं कि लैटिन 'रूपों' में विभाज्य नहीं है। ऐसे विभाजन में हमें **यदृच्छा**, **असंगति** और **रूपकल्पों** के बहुकलन का आश्रय लेनापड़ेगा। निदर्शनार्थ, **दोमुस्** (घर) के रूप इसप्रकार चलेंगे—

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	दोमुस्	दोमी
सम्बन्ध	दोमी	दोमोरुम्
कर्म	दोमुम्	दोमोस्
अपादान	दोमो	दोमीस्

हमारा झुकाव तुरन्त ही **'दोम्'** को एक अंश के रूप में पृथक् करके, इनमें से **उस्**, **ई**, **ओ**, **ओरुम्**, **ओस्**, **ईस्**, आदि को द्वितीय अंश के रूप में विभाजित करने का होगा। अधिकांश वैयाकरण ऐसा करते भी हैं। किन्तु, अब हम तुलना केलिए एक अन्य उदाहरण (पुएल्ल=कन्या) लेते हैं :

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	पुएल्ल	पुएल्लए
कर्म	पुएल्लम्	पुएल्लास्
अपादान	पुएल्ला	पुएल्लास्
सम्बन्ध	पुएल्लए	पुएल्लारुम्

यहाँ हम विभाज्यता के किस नियम का अनुकरण करें ? यदि हम दोनों 'प्रकारों' के

'अन्त्यों' (प्रत्ययों) को समरूप रखना चाहें, तब हम यह विभाजन 'पुएल्ल्' (puell) के रूप में एक 'रूप' में, और **'अ, अए, अस्, आ, आरुम्, आस्, ईस्'** के **'रूपों'** के रूप में सिद्ध करेंगे (जिनमें से केवल **'ईस्'** ही उभयत्र समान दिखाई देगा)। किन्तु, 'पुएल्ल', 'पुएल्लए' आदि के रूपों को इस रूप में विभाजित करते हुए हमारे सामने एक समस्या बहुत शीघ्र ही आएगी : **'अ'** या **'आ'** का अंश द्वितीय कोटि के सभी रूपों में (केवल **'ईस्'** को छोड़कर) उपलब्ध होता है, जबकि पहली कोटि के रूपों में—**दोमुस्** आदि में—यह नितान्त अनुपलब्ध है। अच्छा हो कि हम इसमें दो रूपकल्पों की कल्पना करें : **'पुएल्ल्'** (ईस् के योग में), और **'पुएल्ल'** (ए, म्, अ, अरुम्, अस्, के योग में : यह स्मर्त्तव्य है कि अब **'आ'** के दीर्घ रूप को **'अ'** और **'अ'** में द्विधा विभक्त कर दियागया है। काम चलाने की दृष्टि से यह विभाजन पर्याप्त आकर्षक लगता है। यही बात हम पहले शब्द में भी करसकते हैं : दो रूपकल्प वहां भी होसकते हैं : **दोम्** और **दोमो** ? (एक तीसरा रूपकल्पाभास **'दोमु'** भी माना जासकता है, जोकि 'दोमो' का ही अन्य रूप कहा जासकता है और जिसकी उपस्थिति व्यंजनों से पहले होती है।) इसप्रकार कर्म-एकवचन के रूप को **'म्'** के रूप में, एवं कर्म और अपादान के बहुवचन रूप को क्रमशः **स्वरदीर्घीकरण + स्** एवं **स्वरदीर्घीकरण + इस्** के रूप में, उभयत्र समान रूप में खोजनिकाला जासकता है। किन्तु, अबभी हम पाएँगे कि ϕ और **स्** (अथवा **उस्** या **ओस्**) के रूप में **प्रथमा (कर्त्ता) एकवचन** केलिए हमें भिन्न-भिन्न रूपकल्पों का सहारा लेना होगा। यह तब, जबकि लैटिन से अभिज्ञ कोई भी व्यक्ति जानता है कि अभी हमें 'रूप-रचना' की तीन अन्य कोटियों पर भी विचार करना है; अनेक अनियमित संज्ञाओं के रूपों की तो चर्चा ही न करें। केवल उक्त दो कोटियों को ही विचार में लेने पर जो बात युक्तिसंगत सामान्य प्रक्रम के रूप में दिखाई देरही थी, अब इन नई कोटियों पर विचार आरम्भ करते ही वह वैसी नहीं रहजाएगी। निस्सन्देह यही कारण है कि ग्रीक और लैटिन शब्दों के रूपों में सरलता से विभाज्य न होने के कारण ही श्रेण्य वैयाकरणों ने पर्याप्त भिन्न पथ का अवलम्बन किया था। शब्द-रचना के प्रसंग में परम्परानुगामी वैयाकरणों ने (संस्कृत की रूपावली की भांति) संज्ञाओं और विशेषणों की 'रूपावली' का गठन **विभक्तियों** और वर्गों (कोटियों) के अनुसार, एवं धातुओं की रूपावली का गठन **'पुरुषों'** और **'लकारों'** के अनुसार, किया था। उन्होंने किन्हीं नियमों का निर्माण न करके केवल 'रूपावलियों' के रूप में **'रूपों के ढांचों'** को ही आबद्ध किया था। कुछ आधुनिक व्याकरणों में इन दोनों भाषाओं की 'रूपावलियों' की इस परम्परा को यथावत् ही अपना लियागया है; साथ ही 'प्रकृति' और 'प्रत्यय' के रूप में शब्दों के विभाजन का प्रयास भी उनमें कियागया है। ऐसा करते हुए वैयाकरण ऐतिहासिक भावना से अधिक परिचालित रहे हैं। उन्नीसवीं शती के तुलनात्मक भाषाविज्ञानियों और उनके अनुयायियों की प्राक्कल्पना के अनुसार ग्रीक और लैटिन की रूप-रचना में बहुत अंश तक कभी भिन्न-भिन्न रहे मूल 'रूपों'

का 'गुच्छन' या 'एकीभाव' भी होजाता है। किन्तु, भाषा के समकालिक विश्लेषण में यह बात अधिकांशतः असंगत बैठती है। हम इस तथ्य से पलायन नहीं करसकते कि लैटिन और ग्रीक के शब्द 'रूपों' में विभाज्य नहीं हैं।

नियमित और विधिवत् रूप में लैटिन शब्दों की अविभाज्यता इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि यह भाषा केवल 'योगात्मक' होने की अपेक्षा 'विकरणात्मक' या 'श्लिष्ट-योगात्मक' अधिक है। (यहाँ हमने 'विकरणात्मक' भाषाएँ कहा है, विभक्त्यात्मक या 'रूपावलीयुक्त' नहीं; क्योंकि 'श्लिष्ट' और 'योगात्मक' दोनों हीप्रकार की भाषाएँ 'विभक्त्यात्मक' कही जासकती हैं : तु०-५. ४. २।) दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि यहाँ ऐसे विवेच्य **खण्डकों** एवं 'रूपांशों' के बीच किसी भी प्रकार की अनुकारिता कम पाईजाती है (यदि अबतक भी 'रूपाँशों' को हम व्याकरण की न्यूनतम इकाई मानरहे हों)। यदि ऊपर गिनाए दोनों शब्दों का विभाजन यथाप्रदर्शित रूप में कर भी लें, तबभी यह समस्या बनी ही रहेगी कि तथाकथित अन्त्य रूपांशों ('**स् या उस्**', '**रुम् या ओरुम्**' आदि) का कौन सा भाग {**एक/बहुवचन**} आदि को सूचित करता है, और कौन-सा {**कर्त्ता**} या {**सम्बन्ध**} आदि को, इत्यादि। तुर्की और लैटिन में विभेद इस दृष्टि से पर्याप्त स्पष्ट है।

५. ३. ९ विशुद्ध प्ररूपों (टाइप्स) का अभाव :

ऊपर दिखाए प्रकार से तीनों प्ररूपों की, पहले 'विश्लेषात्मक' और 'संश्लेषात्मक' के रूप में और तब 'संश्लेषात्मक' के अन्तर्गत भी 'श्लिष्ट' और 'प्रश्लिष्ट' के रूप में, पहचान का यह अर्थ नहीं है कि कोई भी भाषा विशुद्ध रूप से किसी एक कोटि में गिनी जासकती है। इसका यह अभिप्राय लियाजाना तो और भी असम्भव है कि (जैसा कि उन्नीसवीं शती के भाषाविदों की मान्यता थी) 'विकास-सम्बन्धी' कुछ ऐसे नियम सम्भव होसकते हैं, जो भाषा को ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में एक 'प्ररूप' से दूसरे 'प्ररूप' में बदलदेते हैं। **सैपिर** का कहना है : 'किसी भाषाविद् द्वारा 'लैटिन-प्ररूप' की चर्चा इस रूप में करना मानो, वह भाषात्मक विकास की चरम सीमा हो, उस स्थिति से भिन्न नहीं हैं जिसमें कोई प्राणिविज्ञानी समस्त सावयव विश्व को 'घुड़दौड़ी घोड़े' अथवा 'जर्सी-गाय' के उत्पादनके लिए कियागया षड्यन्त्र घोषित करे।' फिर भाषाओं के, 'श्लिष्ट' और 'योगात्मक' आदि के रूप में, 'प्ररूपात्मक वर्गीकरण' को उनकी संरचना के आधार पर उनके वर्गीकरण का प्रयासमात्र कहा जासकता है। तुर्की और लैटिन दोनों में ही उनकी प्रधान प्रकृति के विरुद्ध क्रमशः 'रूप-विधान' अथवा 'योग' (प्रत्यययोग) की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। उधर, इन दोनों ही भाषाओं में वियोगात्मक (**विश्लेषणात्मक**) प्रवृत्ति भी किंचित् मात्रा में उपलभ्य होती है। जैसा कि हम देखही चुके हैं, **अंग्रेज़ी** भाषा पर्याप्त अंश में **वियोगात्मक** है, जिसके शब्द अधिकांशतः एक ही 'रूपांश' से बने हैं : **मैन्**, **बुक**, **गो**, **टॉल**, आदि। अंग्रेज़ी के 'श्लिष्ट' शब्दों की दृष्टि से : कुछ शब्द केवल

'योगात्मक' मात्र हैं : यथा—**बुक्स, टॉलर,** आदि ; जबकि कुछ विभाजन की दृष्टि से अनिर्धार्य होने के कारण अर्ध-योगात्मक कहे जासकते हैं **(मे न्, माइस, वर्स,** आदि) । या फिर उनके अंश एक ही समय में कई न्यूनतम व्याकरणात्मक इकाइयों का प्रतिनिधित्व करते पाएजाते हैं । इस अर्ध-योगात्मकता के उदाहरण के रूप में अंग्रेज़ी के /**ज़्**/, /**स**/ और /**इज़्**/ के पूर्वोक्त निदर्शन को लिया जासकता है (जिन्हें रोमन लिपि में /*s*/ और /*es*/ के रूप में लिखाजाता है), जिन्हें हमने पहले वर्त्तमान-एक-वचन के 'रूपतत्त्व' {*z*} के रूपांशकल्पों के रूप में माना है । ये तीनों ही 'अन्त्य' (प्रत्यय), जिन्हें हम एक ही संघर्षी अन्त्य के रूप में ह्रसित करसकते हैं, एक ही साथ **'प्रथम पुरुष'** और **'एकवचन'** का प्रतिनिधित्व करते हैं (तु०-*jump-s, love-s, fish-es,* आदि) । ऐसे पूर्णतः रूप-विधान-युक्त शब्द अंग्रेज़ी में कम ही हैं, जिनमें ऊपर कही दोनों शर्तें पूरी होती हों । इसप्रकार का एक निदर्शन है : *to be* क्रिया का प्रथम पुरुष एकवचन का रूप : *is*(इज़) । इसका विभाजन **'इ'** (**'बी'** का रूप-कल्प) और नियमित **स् (ज़)** के रूप में किया जासकता है । किन्तु ऐसे विभाजन का कोई लाभ नहीं हैं, क्योंकि **'इ'** के रूप में यह रूपकल्प कहीं भी अन्यत्र प्रयुज्य-मान उपलब्ध नहीं होता ।

एक अन्य प्रकार का भी अर्थ-योग होता है । एक ही रूप कई व्याकरणा-त्मक इकाइयों का, एक ही शब्द में या एक ही श्रेणी के विभिन्न शब्दों में, विभिन्न स्थानों पर प्रतिनिधित्व करसकता है । तुर्की और अंग्रेज़ी समेत अनेक भाषाओं में यह बात कुछ-न-कुछ मात्रा तक घटित होती है । ऊपर अंग्रेज़ी के एक रूप (या रूप-कल्प /**स**/, और /**इज़**/) की चर्चा आई है, जो **संज्ञा-बहुवचन** और **क्रिया-वर्त्तमान-प्रथमपुरुष-एकवचन** का प्रतिनिधित्व करता है । इसी प्रकार **'अर्'** का रूपांश भी दो प्रकार से प्रतिनिधित्व करता है : **तुलनात्मक विशेषण** में (**टॉल्-अर्,** आदि में) और क्रिया से बनने वाले **'कर्तृनामों'** के रूप में (**रीड्-अर्, स्पीक्-अर्,** आदि में) । इस प्रकार के **अर्थ-योग** को ही हमने ऊपर **'एक ही रूप द्वारा रूपांशों के 'बहुगुण प्रतिनिधित्व'** के नाम से कहा है । सूडानी, टैगालोगी, मलय, आदि विविध तथाकथित **'आस्ट्रोने-शियाई'** भाषाओं में यह प्रवृत्ति उनके विशिष्ट अभिलक्षण के रूप में पाई जाती है ।

५. ३. १० सिद्धान्त और व्यवहार में विसंगति

अबतक यह स्पष्ट होजाना चाहिए कि रूपांश और रूप के बीच सम्बन्ध विशुद्ध व्याकरणात्मक नहीं है । लैटिन के शब्द भी अपने 'वितरणात्मक घटकों' में उतनी ही सरलता से विभाजित होसकते हैं, जितनी सरलता से 'तुर्की' भाषा के । अतः 'योगा-त्मक' और 'श्लिष्ट' भाषाओं में अन्तर व्याकरणात्मक संरचना का नहीं है । अन्तर तो इस बात में है कि न्यूनतम व्याकरणात्मक इकाइयां शब्दरूप के ध्वनि प्रक्रियात्मक या लिप्यात्मक रूपान्तरण में किस प्रकार प्रतिनिधित्व पाती हैं । विविध भाषाओं में न्यूनतम व्याकरणात्मक इकाइयां किसप्रकार प्रतिनिधित्व पाती हैं, इस सम्बन्ध में

हमारे ऊपर के विमर्श से यह भी स्पष्ट होजाना चाहिए कि रूपांश और रूप का विभेद मानने केलिए हम दो कारणों से विवश हैं : **सर्वप्रथम** तो इसलिए कि सभी भाषाएं 'श्लिष्ट' या 'योगात्मक' नहीं होतीं; **दूसरा** विशिष्ट कारण यह कि ऐसी भाषाएं भी हैं, जो इन दोनों में से किसी भी कोटि के 'आदर्श' का अनुसरण नहीं करतीं। (विशुद्ध रूप से इन दोनों में से कोई भाषा एक ही **प्ररूप** की नहीं कही जासकती।) यदि सभी संश्लेषात्मक भाषाएं 'योगात्मक' प्ररूप की ही होतीं, तब 'रूपतत्त्व' एक स्थिर ध्वनिप्रक्रियात्मक आकृति की न्यूनतम व्याकरणात्मक इकाई होता, और हम शीघ्र ही रूपतत्त्वों के शब्दरूप में संघात को प्रत्यक्षत: पहचानलेते। दूसरी ओर, यदि संश्लेषात्मक भाषाएं पूरी तरह 'रूप-सम्पन्न' या 'श्लिष्ट' होतीं, तब हमें 'रूपतत्त्व' की कल्पना की कोई आवश्यकता न रहती। रूपांश और रूपतत्त्व में तो विभेद करना ही इसलिए पड़ा है कि कोई भी भाषा इन दोनों में किसी एक निश्चित कोटि तक ही सीमित नहीं की जासकती।

मुख्यत: 'प्रयोगात्मक' भाषाओं के विषय में यह विभेद अत्यधिक लाभप्रद है (और विश्व की अधिकांश भाषाएं इस प्रकृति के ही निकटतम हैं)। हम देखचुके हैं कि इस पद्धति से व्याकरण की दृष्टि से तुल्य शब्दों का व्याकरणात्मक विवरण भी समान रूप में ही दिया जासकता है (उदा०—**बॉयज् : 'बॉय्'+'स'; ऑक्सन् : 'ऑक्स'**+'स'; **'माइस' : 'माउस्'**+'**स्**'; आदि), और तब इन शब्दों के प्रक्रियात्मक आकार में रूपान्तरण के प्रसंग में **'नियमित'** योगात्मक रूपों केलिए 'प्रत्यक्ष लिप्यन्तरण' के **'सामान्य नियमों'** का, एवं **'अनियमित'** योगात्मकातिरिक्त रूपों केलिए (यथा 'रूपसम्पन्न' श्लिष्ट भाषाओं केलिए) अधिक **जटिल नियमों** का, विधान किया जासकता है।

'विकरणयुक्त' या 'रूपसम्पन्न' भाषाओं के विषय में हमें अब एक ऐसी समस्या का सामनाकरना है, जो अबतक इस कोटि के विमर्श में केवल निहितार्थत: ही सामने आई है। हमने देखा है कि 'पुएल्ल' में **'अ'** (या ϕ) तथा **'दोमुस्'** में **'उस्'** (या '**स्**') जैसे 'खण्ड' न्यूनतम व्याकरणात्मक इकाइयों के प्रतिनिधि नहीं हैं : यथा, **एकवचन** या **कर्ता कारक** आदि के; प्रत्युत वे इनके **संघात के प्रतिनिधि** हैं : {**कर्त्ता**+**एकवचन**} के। न्यूनतम व्याकरणात्मक इकाई की हमारी परिभाषा के रूप में 'रूप' ऐसे अवयवों को ही कहा जासकता है : {**एकवचन**} और {**कर्त्ता**} आदि। (अबतक अधिकांश भाषाविद् इसी परिभाषा को स्वीकार भी करते हैं। इसपर भी लैटिन पर विचार करनेवाले अधिकांश भाषाविदों ने **'अ'** और **'उस्'** को कर्त्ता-एकवचन के रूप के रूपकल्पों के रूप में स्वीकार किया है। सिद्धान्त और व्यवहार में यही वह विसंगति है, जिस की ओर हमने प्रस्तुत खण्ड के आरम्भ में इंगित किया था। इस विसंगति का कारण निश्चय ही ऐतिहासिक है। 'रूपतत्त्व' की परिभाषा और कल्पना आरम्भ में उन भाषाओं केलिए कीगई थी, जिनके शब्दों की रचना ध्वनिप्रक्रिया की दृष्टि से स्थिर खण्डों (यथा संस्कृत के वैयाकरणों द्वारा मान्य) के

द्वारा की जासकती थी। किन्तु बाद में इसे और भी अधिक निरपेक्ष 'वितरणात्मक इकाई' के रूप में परिभाषित कियागया। इसी कारण रूपांश और रूप की पृथक् कल्पना की आवश्यकता हुई। लैटिन में 'रूपांश' की इन दो धारणाओं में विरोध मिलता है। अगर हम '**रूपांश**' को व्याकरण की न्यूनतम इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं, तब इसे लैटिन के शब्दों की रचना में भागलेता नहीं कहसकते। यदि, दूसरी ओर, हम इसे शब्द का रचनात्मक खण्ड मानते हैं, तब लैटिन में इसे न्यूनतम **व्याकरणात्मक इकाई** नहीं कहसकते। (न ही इसे भाषा वैज्ञानिक सिद्धान्तों की **सार्वभौम धारणा** के रूप में कहसकते हैं।)

५. ४ शब्द और पद

५. ४. १ रूपप्रक्रिया और वाक्यविन्यास (वाक्यरचना)

परम्परागत वैयाकरण-सम्प्रदाय में '**शब्द**' (भारतीय दृष्टि से '**पद**') को एक सर्वोत्कृष्ट इकाई मानागया है। रूपप्रक्रिया और वाक्यविन्यास के बीच बहुधा विभेद-प्रदर्शन का आधार यही 'शब्द' है, और शब्दकोष रचना की तो मुख्य इकाई ही इस पर है।

रूपविज्ञान और वाक्यरचना में विभेद के सामान्य नियम के अनुसार: 'रूप-प्रक्रिया' का सम्बन्ध शब्द की आन्तरिक रचना से है, जबकि 'वाक्यविन्यास' या 'वाक्यरचना' उनके आपसी संघात द्वारा वाक्यों की रचना के नियमों का बन्धन है। इन दोनों संज्ञाओं और इनके विनियोग के प्रकार में शब्द की प्रमुखता अन्तर्हित है। निरुक्ति की दृष्टि से '**रूपप्रक्रिया**' (मॉर्फ़ोलाजी) को हम 'रूप या आकार का अध्ययन' कहसकते हैं, जबकि 'वाक्यविन्यास' के वाचक 'सिण्टेक्स' का अर्थ 'संश्लेषण'-मात्र है। परम्परागत वैयाकरणों द्वारा यह स्वीकार करलिया गया था कि व्याकरण में जिन 'रूपों' का विश्लेषण होता है वे शब्दों के ही 'रूप' होते हैं; जबकि शब्द ही वे इकाइयां भी हैं जिनका वाक्यों के रूप में 'सन्धान' या 'संश्लेषण' कियाजाता है। भाषाध्ययन की प्राचीन पुस्तकों में इन दोनों विज्ञानों के बीच विभेद को '**रूप**' (आकृति) और **प्रकार्य** (फलन) के बीच अन्तर के रूप में कहाजाता है। यह बात भी शब्द की प्रमुखता की भावना पर ही आधारित है: वाक्यरचना के नियमों द्वारा व्याख्यात वाक्य में अपने '**प्रकार्य**' के अनुसार (**कर्त्ता, कर्म, करण**, आदि के रूप में) ही शब्द अपना 'रूप' बदलते कहे जाते हैं; और ये ही विभिन्न 'रूप' 'रूपप्रक्रिया' के द्वारा सिद्ध किएजाते हैं।

५. ४. २ विभक्ति और व्युत्पत्ति

यद्यपि कहा जासकता है कि 'रूपप्रक्रिया' शब्द भी अब 'परम्परा' या 'रूढ़ि'

के रूप में स्थापित होगया है; किन्तु श्रेण्य व्याकरण में इस संज्ञा का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। 'सिण्टेक्स' (वाक्यविन्यास) के विरोध में प्रयुक्त परम्परागत व्याकरण का शब्द 'इन्फ्लेक्शन' या 'विकरण' (अथवा रूपविधान) है। ग्रीक और लैटिन की, एवं उनके अनुकरण पर आधारित आधुनिक भाषाओं की, आदर्श सन्दर्भात्मक व्याकरण-कृतियों में विषय-विभाजन प्रायः तीन खण्डों में कियाजाता है: **विकरण** (रूप-रचना), **व्युत्पत्ति** (या शब्द-रचना), और **वाक्यरचना** (वाक्यविन्यास)। (हमारी दृष्टि में **रूप-रचना, शब्द-रचना,** और **वाक्य-रचना** नाम संगतिपूर्ण रहेंगे।) परन्तु वैयाकरणों द्वारा इन तीनों का महत्त्व समान रूप से स्वीकार नहीं किया जाता। प्रायः **रूपरचना** और **वाक्यरचना** पर सैकड़ों पृष्ठ लिखेजाने की तुलना में **शब्द-रचना** पर पांच-छह पृष्ठ लिखने ही पर्याप्त समझेजाते हैं। इसका वास्तविक कारण यह है कि परम्परागत व्याकरण में 'शब्द रचना' केलिए कदाचित् स्थान है ही नहीं।

श्रेण्य व्याकरण में **रूपरचना** (विकरण) की परिभाषा इस रूप में कीगई है: 'वाक्य-रचना के प्रसंग में अन्य पदों से मिलते हुए शब्द के रूप में जो अन्तर आता है, उसे 'विकरण' या **रूपरचना** कहते हैं।' इसलिए विशिष्ट भाषाओं के व्याकरणों में रूपरचना (विकरण) शीर्षक के अधीन **संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम** और **क्रिया** आदि की 'रूपावलियों' को वर्णित और संगृहीत कियाजाता है। ऐसा निश्चित प्रतिमानों के आधार पर कियाजाता है। **व्युत्पत्ति** या 'शब्द-रचना' शीर्षक के अधीन उन विविध प्रक्रमों को बतायाजाता है, जिनके द्वारा विद्यमान शब्दों (मूलों=प्रकृतियों) से नए शब्दों की रचना होती है: **नाम** से **विशेषण** (यथा—मानव से मानवीय), **क्रिया** से **नाम** ('गान' से 'गायक'), **क्रिया** से **विशेषण** ('करना' से 'कर्म', 'कार्य'), आदि। महज़ यह सत्य, कि शब्दों का विभाजन घटकों (संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से प्रकृति-प्रत्ययादि) में होसकता है, भले ही व्याकरण में उनका उल्लेख न हो, इस बात को सिद्ध करता है कि इस विषय को नाममात्र स्थान देना स्वतः इसकी महत्त्व-स्वीकृति के प्रति एक अशोभनीय अरुचि का द्योतक है।

उन्नीसवीं शती में भाषाविज्ञान में **रूपरचना** और **शब्दरचना** के युगपत् ग्रहण केलिए मिले-जुले रूप में 'रूपप्रक्रिया' (मॉर्फ़ोलॉजी) संज्ञा का प्रयोग किया जाने लगा। (इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'जीवविज्ञान' में जीवों की 'आकृतियों' की रचना के अध्ययन के प्रसंग में **गोइटे** ने किया था। हम देख हीचुके हैं कि उन्नीसवीं शती के भाषाविद् विकासवादी जीवविज्ञान से किस मात्रा तक प्रभावित थे।) **'शब्द-रचना'** का विषय पाश्चात्य श्रेण्य भाषाओं के व्याकरण में भी उस समय क्यों आरोपित कियागया, इसका कारण यह था कि उस युग के तुलनात्मक भाषाविद् उस समय तक उपलब्ध होचुके संस्कृत व्याकरण से अत्यधिक प्रभावित होकर शब्दों की रचना के प्रणालीबद्ध अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टि से रूचिवान् हुए थे। साथ ही यह भी अनुभव कियागया था कि 'रूपरचना' और 'शब्दरचना' की प्रक्रिया बहुत अंशों

में समान हीहोती है।

किन्तु, श्रेण्य व्याकरण में इन दोनों 'रचना-विज्ञानों' के बीच भेद विशुद्ध आधारभूत मानागया है। **'गायन'** शब्द वाक्य-विन्यास की दृष्टि से निर्धारित **'गाना'** शब्द से बना पद है, जबकि **'गायक'** इससे भिन्न और अपने ही 'प्रतिमानों' पर आधारित एक पृथक् शब्द है (तु०—१. २. ३)। यह तथ्य, कि **'गायन'** और **'गायक'** का निर्माण एक ही मूल धातु या प्रकृति से होसकता है और उसके प्रत्यय 'अन' और 'अक' होसकते हैं, परम्परागत श्रेण्य व्याकरण की रूढ़ मान्यताओं या प्राक्कल्पनाओं के कारण तिरोहित होजाता है। अंग्रेज़ी या अन्य आधुनिक भाषाओं के आदर्श शब्दकोष, जो स्वयं श्रेण्य व्याकरण की मान्यताओं पर आधारित हैं, व्युत्पन्न या निर्मित शब्दों को पृथक् रूप में ही स्वीकार करते हैं। किन्तु वे उन 'रूपात्मक भेदों' को पृथक् शब्दों के रूप में मान्यता नहीं देते, जिनको रुढ़ि-व्याकरण में प्रदर्शित प्रतिमानों के अनुसरण पर निर्मित किया जासकता है। परवर्त्ती अध्यायों में यह स्पष्ट होजाएगा कि परम्परागत रूप में हम जिसे 'शब्दरचना' या 'व्युत्पत्ति' के रूप में मानते आए हैं, उसका अधिकांश भाग किसी भाषा के (यथा अंग्रेज़ी आदि के) प्रजनक व्याकरण के 'वाक्यरचनागत नियमों' के अधीन भी वर्णित किया जा सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में हम, इस 'शब्दरचना' के प्रकरण को त्यागकर, शब्द की 'धारणा' या 'मनोभाव' पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

५. ४. ३ 'शब्द' संज्ञा में अस्पष्टता

अब तक शब्द का प्रयोग हमने तीन भिन्न-भिन्न अर्थों में किया है? इनमें से प्रथम दोनों का अन्तर 'उपलब्धि' की धारणा के आधार पर एकदम स्पष्ट होजाता है (तु०-२. २. ११)। जिसतरह हमने 'रूप' को 'रूपांश' की ध्वनिप्रक्रियात्मक या लिप्यात्मक उपलब्धि के रूप में कहा है, उसी तरह का विभेद हमें शब्द के **'व्याकरणात्मक'** और **'श्रुतिगत'** (ध्वनिप्रक्रियात्मक) रूप के बीच भी करना चाहिए। ध्वनि प्रक्रियात्मक और लिप्यात्मक दृष्टि से **'सैङ्'** (क्रमशः /sœṅ/ और '*sang*' के रूप में) शब्द को परम्परागत रूप में **'सिङ्** (sing)' क्रिया का **'भूतकाल'** कहाजाता है। किन्तु 'कट्' शब्द, जिसे ध्वनि में /**क्अट्**/ (/cʌt/) के रूप में और लिपि में 'कट्' (cut) के रूप में ग्रहण कियाजाता है, तीन विभिन्न व्याकरणात्मक शब्दों का प्रतिनिधित्व करता है: '**कट्**' क्रिया का **'वर्त्तमान काल'**, 'उसी का **भूतकाल'**, और 'उसी का **भूतार्थ कृदन्त** (पार्टिसिपल) रूप'। यह पहले ही कहा जाचुका है ध्वनिप्रक्रियात्मक और लिप्यात्मक दृष्टि से अंग्रेज़ी शब्दों के बीच **अंकात्मक समानुकारिता** विद्यमान है: यह इस अर्थ में कि वे एक ही से व्याकरणात्मक शब्द या शब्दों का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु, कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं, जहां (१) **'एक से अनेक'** और (२) **'अनेक से एक'** का प्रतिनिधित्व होता पायाजाता है: तु०-(१)/postmən/: *postman, postmen;* /mi:t/ : *meat, meet,* etc.; (२) /ri:d/ और /red/ :

read के वर्त्तमान और भूत के रूप हैं। (ये दोनों उच्चारण व्याकरणात्मक 'reed' और 'red' शब्दों केलिए भी प्रयुक्त होते हैं)। अन्य भी बहुतसी भाषाएँ, जिनके लेखन को आंशिक रूप से ही 'ध्वनिवैज्ञानिक' माना जाता है, ध्वनिप्रक्रियात्मक और लिप्यात्मक शब्दों के बीच इसीप्रकार की भिन्न-भिन्न समनुकारिता के उदाहरण प्रस्तुत करती हैं (तु०-१. ४. २)।

५. ४. ४ पद (शब्द) और प्रकृति (कोष-शब्द)

'शब्द' का प्रयोग एक तीसरी 'निरपेक्ष' भावना में भी कियाजाता है। यही वह भावना थी, जिसमें हमने इसे यह कहते हुए प्रयोग किया था : "गायन' शब्द 'गाना' से ही बना एक 'रूप' है, जबकि 'गायक' अपने ही प्रतिमानों के आधार पर स्थापित एक पृथक् 'शब्द' है।" जब हम ने 'सैङ्' का उदाहरण एक 'शब्द' के रूप में दिया, तब भी यही भावना अन्तर्हित थी। आधुनिक भाषाविदों ने इस 'निरपेक्ष' प्रयोग का प्रतिवाद किया है। उदाहरणार्थ, ब्लूमफील्ड कहते हैं कि **'पुस्तक-पुस्तकें'** अथवा **'करना-किया-करचुका'** आदि को एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूपों के रूप में दिखाने की विद्यालयीय पद्धति 'अशुद्ध' है। किन्तु इसमें ब्लूमफ़ील्ड स्वयं अशुद्धि पर हैं। यह तो हम पर निर्भर करता है कि 'शब्द' को हम किस रूप में परिभाषित करते हैं। प्रमुख बात है : इन तीनों भावनाओं को **अपृक्त या असंसृष्ट** रखना। क्योंकि आधुनिक भाषाविद् स्वयं इस उत्तरदायित्व में असफल हुए हैं, अतएव उन्होंने परम्परागत व्याकरण की व्याख्या भी गलत रूप में की है। सच तो यह है कि इस निरपेक्ष भावना में ही 'शब्द' का प्रयोग श्रेण्य व्याकरण में भी हुआ है। क्योंकि अब अधिकांश भाषाविदों ने इसका प्रयोग 'ध्वनिप्रक्रियात्मक (और लिप्यात्मक) एवं **'व्याकरणात्मक' इकाई** के दो भिन्न अर्थों में ही, सीमित रूप में, करना आरम्भ करदिया है, हम उस तीसरे **'निरपेक्ष'** रूप केलिए 'प्रकृति' या (कोषशब्द) का प्रयोग करेंगे, जिसके विविध प्रायोगिक सविभक्तिक 'रूप' ही वाक्यरचना में प्रयुक्त होते हैं (इसे ही संस्कृत व्याकरण में 'प्रकृति' के रूप में कहागया है)। इसप्रकार **लिप्यात्मक शब्द** *'cut'* तीन विविध व्याकरणात्मक या 'रूपात्मक' शब्दों का प्रतिनिधि है, जिसका **'कोषशब्द'** (या 'प्रकृति' रूप) है CUT।

इस पुस्तक के आगामी खण्डों में हम 'कोषरूप' संज्ञा का प्रयोग तभी करेंगे, जब यह स्पष्ट न होपाए कि 'शब्द' से ठीक भावना कौनसी अभिप्रेत है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि आधुनिक भाषाविदों ने 'शब्द' की परिभाषा अधिक 'निरपेक्ष' इकाई के रूप में नहीं की है।

५. ४. ५ 'संयोगवत्ता' या 'रूपावली'

अच्छा होगा कि हम 'रूप' (आकार) शब्द के परम्परागत व्याकरण में हुए विनियोग पर कुछ और विचार करलें। हम देख चुके हैं कि सौस्यूर ने **सत्त्व** (द्रव्य)

और **'आकार'** में जो भेद किया, वह अरस्तूवादी या श्रेण्यवादी वैयाकरणों की तद्विषयक धारणा से भिन्न ठहरता है। हम अरस्तूवादियों की उस समृद्ध आध्यात्मिक शब्दावली की चर्चा नहीं करेंगे, जिनमें सूक्ष्मतम विभेद (**सब्स्टैन्स, मैटर, फ़ॉर्म, एस्सेन्स, एग्ज़िस्टैन्स**, आदि के द्वारा) प्रदर्शित कियाजाता है। किन्तु यह तो मानना ही होगा कि अरस्तूवादियों की सी आध्यात्मिक मान्यताओं के आधार पर ही थोड़ा या बहुत श्रेण्य व्याकरण का गठन हुआ। विशेषकर, इसमें **वस्तु के अनिवार्य** और **सांयोगिक** दो प्रकार के गुणधर्म स्वीकार किएगए हैं। निदर्शनार्थ, मानव की **'अनिवार्यता'** में उसका 'बुद्धिमान होना' और 'द्विपाद होना' भी सम्मिलित है; किन्तु किसी व्यक्ति के 'लाल बाल' या 'नीली आँखें' होना **'सांयोगिक'** बात है। ठीक इसी प्रकार, वाक्यों में प्रयोग होनेवाले शब्द भी कुछ 'सांयोगिक' गुणधर्म या लक्षण रखते हैं (यथा—संज्ञाओं के **एकवचन-बहुवचन**, क्रियाओं के **वर्त्तमान-भूत-भविष्यत्-काल**, इत्यादि)। वैयाकरणों द्वारा गठित 'रूपावलियाँ' विविध श्रेणियों के शब्दों के 'रूपों' में पाई जानेवाली अनियमितताओं को अंकित करती हैं। **प्रकृति** (कोषशब्द) हम उन शब्दरूपों को कहसकते हैं, जो इन विविध रूपों के मूल में स्थित, एवं सांयोगिक लक्षणों से वियुक्त, समझेजाते हैं। परम्परागत व्याकरण में इन्हें ही 'शब्द' मानाजाता था। इसी धारणा पर रोजर बेकन की यह पूर्वकथित उक्ति आधारित है (१. २. ७): 'द्रव्यात्मक (या सत्त्वात्मक) दृष्टि से सभी भाषाओं का व्याकरण एक ही होता है, यद्यपि सांयोगिक दृष्टि से यह भिन्न-भिन्न होसकता है।' इसी मान्यता के आधार पर यह भी स्पष्ट होजाता है कि **'विकरणात्मक'** (या रूपविधान-सम्पन्न) के स्थान पर परम्परागत संज्ञा **'सांयोगिक'** क्यों प्रयोग कीगई? वास्तव में शब्दों का रूपविधान उनकी **'सांयोगिकता'** के कारण होता है। और परम्परागत वैयाकरणों की मान्यता थी कि **प्रकृति-शब्दों** (कोषशब्दों) की सांयोगिक विशेषताओं को, अन्य किसी द्रव्य की सांयोगिक विशेषताओं की ही भाँति, पृथक् कोटियों या श्रेणियों के रूप में वर्णन किया जासकता है (७. १. १)। प्रस्तुत ग्रन्थ से भी अधिक विस्तृत विमर्श के बीच ही यह देखा जासकता है कि भाषा के वर्णन में अरस्तूवादियों की प्रणाली को पूर्ण संगति के साथ सदा ही अपनाना सम्भव नहीं हुआ है। इस ग्रन्थ के परिचायकमात्र होने के कारण प्रस्तुत संक्षिप्त विवरण 'शब्द' की परम्परागत धारणा के स्पष्टीकरण केलिए कदाचित् पर्याप्त रहेगा। हम देखेंगे कि जब हम **प्रकृति** शब्द पर आध्यात्मिक दृष्टि से निरपेक्ष होकर विचार करेंगे, तब इसपर अधिकांश आधुनिक भाषाविज्ञानियों की अपेक्षा अधिक सहानुभूतिपूर्ण विचार अपेक्षित होगा।

५. ४. ६ शुद्धलेखनजन्य शब्द

अब हम 'पद' (शब्द) और सामान्य भाषाविज्ञान में उसकी स्थिति के प्रश्न पर विचार करसकते हैं। हम पहले ही कहचुके हैं कि आधुनिक भाषाविज्ञानियों

का ध्यान 'कोषशब्द' (प्रकृति) की अपेक्षा **'शब्द'** (पद) ने अधिक खींचा है (भारतीय शब्दावली में इन्हें क्रमशः 'प्रकृति' और 'पद' कहना ही अधिक उचित रहेगा); यद्यपि उन्होंने इन दोनों धारणाओं के बीच विभेद प्रदर्शित नहीं किया है। पढ़ने और लिखने का जो अभ्यास हमें विद्यालयों में करायागया, तथा उसके बाद भी जो सतत व्यवहार का अंग बनगया, उसके कारण सम्भवतः हमारे लिए **उक्तियों** पर, उन के **'शब्दों से गठित होने'** के अतिरिक्त, किसी अन्य रूप में विचार करना असम्भव होगया है। परन्तु, **उक्तियों** को **शब्दों** में विभाजित करने की यह योग्यता केवल पढ़े-लिखों तक ही सीमित नहीं है। **सैपिर** के कथनानुसार जब लेखन से सर्वथा अनभिज्ञ अमरीकी आदिवासियों तक से कहागया, तब वे भी अपनी भाषा के 'पाठों' को शब्दशः लिखवाने में समर्थ हुए, और उन्हें उक्तियों से शब्दों या 'पदों' को पृथक् करके अलग-अलग इकाइयों के रूप में दिखाने में कोई भी कठिनाई न हुई। हम भाषात्मक इकाइयों के विषय में भले ही अन्य कुछ भी कहें, किन्तु कभी-कभी प्रस्तुत की जाने वाली इस धारणा को हमें त्यागही देनाचाहिए कि 'आदिमतम भाषाओं' में 'शब्द' या 'पद' नहीं होते। साक्षरता पर आधारित औद्योगिक और जटिल समाज में पढ़ने और लिखने की आदत अपने देशी वक्ता की, शब्दों को भाषा की इकाई के रूप में स्वीकार करने की, चेतना को सम्पुष्ट अवश्य करती है (यद्यपि इसमें *'all right'* और *'altogether'* जैसी लेखात्मक विसंगतियाँ भी होती हैं); तबभी यह नहीं कहा जासकता कि यही आदत उसे सर्वप्रथम उक्तियों को शब्दों में विभक्त करने की योग्यता भी प्रदान करती है।

५. ४. ७. 'शक्य विराम'

यह भी सुझायागया है कि **'शब्द'** या **'पद'** की परिभाषा इस रूप में की जासकती है : **'ऐसे क्रमिक स्थलों से सीमित वाक्य का कोई भी 'खण्ड', जहाँ विराम सम्भव हो।'** यदि हम यह मानभी लें कि **सम्भव विराम** की यह परिभाषा उक्तियों का विखण्डन उन इकाइयों में कर सकेगी, जिन्हें हम 'पद' के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं; तबभी यह स्मर्त्तव्य है कि इसे 'सैद्धान्तिक परिभाषा' न मानकर सूचकों के आधार पर काम करने वाले भाषाविद् के लिए 'प्रक्रियात्मक सहायता' के ही रूप में गिनना चाहिए। तथ्य यह है कि वक्ता सामान्यतः शब्दों के बीच विराम नहीं करते। क्योंकि देशी वक्ता 'शक्य विरामों' को, यदि वह चाहे, प्रदर्शित करसकता है (भले ही सामान्यतः वह ऐसा नहीं करता), अतः यह सिद्ध होता है कि उसकी भाषा में 'पद' उन सामान्य स्थितियों में विच्छेद्य होसकते हैं, जिनमें वह इन्हें प्रयोग करता है। वास्तव में हमें चाहिए कि हम अपनी परिभाषा में 'पद' की **प्रकार्यात्मक एकता** को आबद्ध करें। सम्भवतः यह देशी वक्ता की चेतना का ही परिणाम है कि **प्रकार्यात्मक इकाई** के रूप में हम 'पद' को लेखनप्रणाली में पृथक्से पहचान लेते हैं।

५.४.८. शब्द की अर्थात्मक परिभाषा

'शब्द' की एक सुपरिचित परिभाषा इसप्रकार है : **'किसी विशिष्ट अर्थ के उस विशिष्ट ध्वनिसमुदाय के साथ एकीभाव को 'पद' (शब्द) कहते हैं, जो किसी विशिष्ट व्याकरणात्मक विनियोग के योग्य होता है।'** यह अवधेय है कि इस परिभाषा के अनुसार कोई भी पद या शब्द एक साथ ही **ध्वनिप्रक्रियात्मक, अर्थात्मक** और **व्याकरणात्मक इकाई** के रूप में स्थित होता है। यह सत्य होना सम्भव है कि किसीभी भाषा के वर्णन में हम जिनभी इकाइयों को 'शब्द' के रूप में पहचानना चाहते हैं, वे सभी तीनों शर्तों को पूरा करती हों। किन्तु इन शर्तों को केवल येही इकाइयां पूरा नहीं करतीं। **'नई पुस्तक'** जैसे पूरे पदबन्ध भी इन तीनों ही शर्तों को पूरा करते हैं : उनका **अर्थ** भी निश्चित है, उनकी **ध्वनिप्रक्रियात्मक आकृति** भी निश्चित है, और उनका **व्याकरणात्मक विनियोग** भी सुनिश्चित है। वितरणात्मक दृष्टि से सीमित इससे बड़े खण्ड भी इन शर्तों को पूरा करते हैं। कुछ भाषाविदों का कहना है कि इसी परिभाषा को इसरूप में अधिक सन्तोषजनक बनाया जासकता है : **'पद उक्तियों के वे लघुतम खण्ड है, जो इन तीनों शर्तों को पूरा करते हैं।'** किन्तु, यह भी पूर्ण समर्थ परिभाषा न होगी। **'अभाव'** के **'अ'** और **'भाव'** दोनों ही तीनों शर्तों को पूरा करते हैं, किन्तु सामान्यतः **'अ'** को स्वतन्त्र पद के रूप में स्वीकार्य नहीं कियाजाएगा। फिर, इस **'अभाव'** को **'न भाव'** रूपी **पद-बन्ध** का लगभग पर्याय ही समझाजाता है। दोनों का ही विभाजन दो सार्थक इकाइयों के रूप में किया जासकता है (अंग्रेज़ी पद *'unacceptable'* का विभाजन *'un'*, *'accept'* और *'able'* के रूप में **तीन खण्डों** में होता है) और दो व्याकरणात्मक इकाइयों के रूप में भी : दो रूपांशों में से प्रत्येक का प्रतिनिधित्व एक रूप के द्वारा होता है। इस आधार पर हम यह परिणाम निकालसकते हैं कि 'पद' की परिभाषा में भी अर्थात्मक विचार की उतनी ही आवश्यकता नहीं है, जितनी अन्य व्याकरणात्मक इकाइयों की परिभाषा में। जहाँ तक ध्वनिप्रक्रियात्मक निकष (कसौटी) का प्रश्न है, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, यद्यपि अनेक भाषाओं में शब्द ध्वनिप्रक्रियात्मक की दृष्टि से विसीमित होते हैं, किन्तु इन ध्वनिप्रक्रियात्मक अभिलक्षणों का महत्त्व सदा गौण ही रहता है। अतः हम अपना ध्यान 'पद' की परिभाषा व्याकरणात्मक दृष्टि से करने पर ही केन्द्रित रखेंगे।

विवेचन की सरलता केलिए यहाँ हम भी अधिकांश भाषाविदों की भाँति यही मानकर चलेंगे कि सभी भाषाओं में व्याकरणात्मक विश्लेषण की न्यूनतम इकाई 'रूपांश' ही है। अतः हम यह प्रश्न उपस्थित मानकर चलते हैं कि : हम **वाक्य** और **रूपांश** की मध्यवर्त्तिनी ऐसी इकाई की परिभाषा किस प्रकार करें, जो 'पद' के सम्बन्ध में हमारे उन प्रातिभ भावों से मेल खाती हो, जिनका समर्थन सामान्यतः लेखनात्मक परम्परा से भी होता है?

५. ४. ६. 'न्यूनतम उन्मुक्त रूप' (स्वतन्त्र आकार)

इसका पहला उत्तर **ब्लूमफील्ड की परिभाषा** के रूप में दिया जासकता है, जिसे समस्त विश्वभाषाओं पर नियोज्य शब्द की परिभाषा करने के अबतक के सभी आधुनिक प्रयत्नों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है : 'शब्द एक न्यूनतम उन्मुक्त रूप (लघुतम स्वतन्त्र आकार) हैं।' इसे जानने से पहले **'उन्मुक्त'** (स्वतन्त्र) और **'आबद्ध'** आकारों या **'रूपों'** को इस अर्थ में समझ लेना चाहिए : **'वे रूप, जो कभी एकाकी किसी उक्ति के रूप में घटित नहीं होते, 'आबद्ध रूप' कहलाते हैं'; 'सामान्य स्थिति में उक्ति के रूप में एकाकी प्रयुक्त होसकने वाले रूपों को 'उन्मुक्त रूप' कहना चाहिए'।** ऐसा कोई उन्मुक्त रूप, जिसके अन्तर्गत अंशरूप में कोई अन्य उन्मुक्त रूप अवस्थित नहीं है, ब्लूमफील्ड के अनुसार, 'पद' (शब्द) कहलाने का अधिकारी है। पाठक को यह स्पष्ट होजाएगा कि यदि यह परिभाषा लागू की जाए, तब इसकी पकड़ में ध्वनिप्रक्रियात्मक शब्द ही आएंगे, व्याकरणात्मक शब्द नहीं। ब्लूमफ़ील्ड ने इन दोनों की धारणाओं के बीच स्पष्ट विभेद किया भी नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि ब्लूमफील्ड की परिभाषा के अनुसार विविध भाषाओं के अनेकानेक ऐसे 'रूपों' को **पद** (शब्द) मान लियाजाएगा, जिन्हें हम उसरूप में मान्य भी करना चाहते हैं। इस परिभाषा से देशी वक्ता की, वाक्यप्रवाह के बीच परिभाषा में कथित 'रूपों' को **'शक्य विराम'** की शर्त के साथ बोलने की, सामर्थ्य का सन्तोषजनक हेतु भी मिलजाएगा। परन्तु, जैसा कि ब्लूमफील्ड ने स्वयं भी स्वीकार किया था, यह परिभाषा ऐसे अनेक रूपों पर लागू नहीं होगी, जिन्हें परम्परागत रूप में 'स्वतन्त्रपद' स्वीकार कियाजाता रहा है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी के *'the'* और *'a'* को लिया जासकता है। ऐसे रूपों का सामान्य परिस्थिति में एक पूर्ण उक्ति के रूप में प्रयोग होना सम्भव नहीं है। (कहा जासकता है कि अंग्रेज़ी के *'the'* का उक्ति के रूप में प्रयोग ऐसे प्रश्नों के उत्तर में सम्भव है : **'तीन अक्षरों का ऐसा शब्द बताओ जिसके पहले दो अक्षर** *'th-'* **हैं ?'** या, **'आपने** *'a'* **कहा या** *'the'* **?'** वास्तव में ऐसे सभी सन्दर्भों में भाषात्मक रूपों का **प्रयोग** न होकर उनका **कथन** होरहा होता है। और जहाँ तक 'कथन' का प्रश्न है, किसी भी स्तर या क्रम की भाषात्मक इकाई का प्रयोग एक पूर्ण उक्ति के रूप में होना सम्भव है।) निस्सन्देह ब्लूमफील्ड इस कठिनाई से परिचित हैं। किन्तु अपनी मूल कसौटी पर टिके रहकर यह कहने की अपेक्षा, कि परम्परागत रूप में स्वीकृत होने पर भी ऐसे रूप 'पद' नहीं है, वह अपनी परिभाषा में **'समानान्तरता'** की एक और कसौटी जोड़ देते हैं : अर्थात् वे रूप भी 'पद' माने जाएँ, जिनका प्रयोग उन पदों के समानान्तर होता है, जिन पर उन्मुक्त विद्यमानता (घटन) की प्रथम कसौटी पूरी उतरती है। *'the'* और *'a'* का प्रयोग वाक्यों में उसी वातावरण या सन्दर्भ में होता है, जिनमें *'this'* और *'that'* का होता है : यथा—*the man, a man, this man, that man*, आदि। अब क्योंकि *'this'* और *'that'* का प्रयोग **'न्यूनतम उन्मुक्त रूप'** के रूपमें होने के कारण उन्हें

'पद' के रूप में श्रेणीकृत किया जाता है, अतः '*the*' और '*a*' भी 'पद' कहे जा सकते हैं।

यद्यपि **'उन्मुक्त'** और **'आबद्ध'** के अनुबन्धों से युक्त 'पद' (शब्द) की ब्लूमफ़ील्ड द्वारा कीगई यह परिभाषा अधिकांश प्रमुख भाषाविदों द्वारा स्वीकार कर लीगई है, इसपर भी इसे सन्तोषप्रद नहीं कहा जासकता। हमें व्याकरण-चर्चा का मूल उद्देश्य भूल नहीं जाना चाहिए : ऐसे वाक्यों का प्रजनन, जिनसे कि वर्ण्य भाषा की उक्तियों या शक्य उक्तियों को व्युत्पन्न किया जासके। श्रेणीकरण-सम्बन्धी सभी प्रश्न इनके बादही आते हैं। हम यह मानसकते हैं कि सामान्यतः वाक्य अनेक 'रूपांशों' से घटित होते हैं; और यह कि 'शब्द' या 'पद' क्रम में 'वाक्य' से नीचे की इकाई है, जो कि सामान्यतः स्वयं रूपांशों से ही गठित होती है। किन्तु, रूपांश के किसी विशिष्ट **'जटिल'** या **'संघात'** को 'इकाई' कहने का अर्थ है, कि ये रूपांश वाक्य में उपस्थित उन अन्य रूपांशों के समूहन की अपेक्षा परस्पर अधिक 'संसक्त' हैं, जिन्हें 'पद' नहीं मानाजाता। इसका अर्थ यह भी है कि रूपांशों का संघात निबन्धन के कम-से-कम दो विभिन्न नियमों पर आधारित होता है : एक के अनुसार **'रूपांशों'** का संघात **'जटिलों'** के रूप में (जिन्हें हम 'व्याकरणात्मक शब्द' या 'पद' कहते हैं) होता है, जबकि दूसरे के अनुसार शब्दों का संघात 'वाक्यों' के रूप में होता है। अनुभूतिपरक तथ्य के आधार पर संभवतः यह सत्यहो कि **'न्यूनतम उन्मुक्त इकाइयों'** का विन्यास सामान्यतः सभी भाषाओं में व्याकरणात्मक इकाइयों के प्रतिनिधि ध्वनिप्रक्रियात्मक 'पदों' का समनुकारी हो। किन्तु यदि ऐसा है, तब यह तथ्य सम्भवतः वाक्यों में पदों के संरचनात्मक **'संसंजन'** को ही प्रतिध्वनित करता है और उसी पर आश्रित भी है; और इसीलिए इसका महत्त्व वैयाकरण केलिए अप्रत्यक्ष रूप में ही ठहरता है।' **'शक्य विराम'** की भाँति **'न्यूनतम उन्मुक्त रूप'** की उपस्थिति भी सूचकों की सहायता से प्रवृत्त भाषाविद केलिए अधिकतम एक प्रक्रमात्मक 'सहायक युक्ति' ही कही जासकती है। अब हम कुछ अधिक सूक्ष्मता के साथ उन अभिलक्षणों पर विचार करेंगे, जिन्हें व्याकरणात्मक इकाई के रूप में 'पद' के **'संसंजन'** से सम्बद्ध मानागया है।

५. ४. १० शब्द का 'आन्तरिक संसंजन'

'रूपांशों के संघात' के रूप में माने जानेवाले 'पद' के व्याकरणात्मक **'संसंजन'** पर विचार प्रायः दो निकषों के आधार पर किया जाता है : **'स्थानगत गतिमयता'** और **'अबाध्यता'**। इनमें से **प्रथम** को समझने के लिए निम्न वाक्य का निदर्शन लिया जासकता है (इसे हमने रूपांशों या रूपों में खण्डित किया है) :

the-boy-s-walk-ed-slow-ly-up-the-hill

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

इस वाक्य को दस रूपांशों से संहत कहा जासकता है, जो एक-दूसरे से संबद्ध

एक विशेष क्रम में ही घटित हुए हैं । फिर भी, हम इन्हीं रूपांशों के व्यतिहार के द्वारा अनेक रचनान्तरण घटित करसकते हैं : यथा, *slow-ly-the-boy-s-walk-ed-up-the-hill; up-the-hill-slow-ly-walk-ed-the-boy-s;* इत्यादि । हम पहले क्रम को ध्यान में रखते हुए इन दोनों सम्भावनाओं का अंकन इसप्रकार करसकते हैं :

६ ७ १ २ ३ ४ ५ ८ ९ १०

८ ९ १० ६ ७ ४ ५ १ २ ३

कुछ अन्य सम्भाव्य परिकलन भी हैं, जिनके परिणामरूप अंग्रेज़ी में अन्य स्वीकार्य वाक्य बन सकते हैं । किन्तु विचार्य बात यह है कि सभी परिकलन-प्रकारों में कुछ रूपांशों के द्वियुग्म अथवा त्रियुग्म एक 'खण्डक' के रूप में कार्य करते दिखाई देंगे; सदा **साथही प्रयुक्त** होने के रूप में ही नहीं, बल्कि उसी **क्रम** और **व्यवस्था** में भी । परिणामतः इनमें ३-२-१ अथवा ५-४ के क्रम से उपस्थिति की कोई सम्भावना नहीं है । 'पद' या 'शब्द' का एक अभिलक्षण यह है कि रूपतत्त्वीय घटकों की दृष्टि से यह आन्तरिक रूप से स्थायी होता है, यद्यपि इसका स्थान बदल सकता है (अर्थात् उसी वाक्य के अन्य शब्दों के साथ इसका स्थान-व्यतिहार होसकता है) । विशेषकर यह अभिलक्षण उन भाषाओं में और भी स्पष्ट होता है, जिनमें पद-व्यवस्था 'उन्मुक्त' होती है (तु०-२. ३. ५) ।

यह अवधेय है कि स्थानगत परिवर्त्तनीयता और आन्तरिक स्थायिता के दोनों अभिलक्षण एक-दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं । मानलीजिए हमें एक ऐसी भाषा उपलब्ध है, जिसमें शब्दों की क्रम-व्यवस्था तो स्थिर है, किन्तु 'पद' में स्थित रूपांशों का व्यतिहार मुक्त रूप में होसकता है । यह **क**, **ख**, **ग** के रूप में तीन शब्दों को उपस्थित मान कर निम्न रूप में अंकित होगा :

क	ख	ग
१ २ ३	४ ५ ६	७ ८ ९ १०
२ ३ १	६ ४ ५	१० ९ ८ ७
३ २ १	५ ६ ४	९ ७ ८ १०
२ १ ३	४ ५ ६	९ १० ७ ८

यहाँ मध्यवर्त्ती इकाइयों का पारस्परिक क्रम तो **'स्थिर'** है, किन्तु उन इकाइयों की अन्तरंग व्यवस्था **उन्मुक्त** है । (ऐसा भी कहसकते हैं कि 'पदों' के क्रम में वाक्य 'आन्तरिक दृष्टि से स्थिर' है, जबकि 'पद' के अन्तर्गत 'रूपांश' परिवर्त्ती-स्थान वाले हैं । अंग्रेज़ी में भी यह स्थिति विद्यमान होती, यदि, उदाहरणार्थ, *The-girl-s have-be-en-eat-ing apple-s* की ही रचना स्वीकार्य न होकर **girl-the-s en-have-be-eat-ing s-apple,* इत्यादि की रचना भी स्वीकार्य होती । (वर्त्तमान निकष की दृष्टि से हमने The girls और have been eating को एक ही शब्द के रूप में स्वीकार किया है ।) जहाँतक हमें ज्ञान है, अबतक विश्व की कोई ऐसी भाषा ज्ञात नहीं है, जिसमें उक्त विशिष्ट लक्षण पायाजाता हो । हम देखचुके हैं कि **मुक्त-**

क्रम की बात **उच्चतर इकाइयों** पर ही लागू होती है (तु०-२. ३. ६)। भाषा की संरचना से सम्बद्ध यह एक अनुभूतिगम्य तथ्य है। हमने इससे जिस विपरीत स्थिति की उक्त रूप में कल्पना की है, उसे केवल तर्क की दृष्टि से ही सम्भाव्य नहीं कहा जासकता, बल्कि वह **'उन्मुक्त-पद-व्यवस्था'** जैसी सामान्य बात की अपेक्षा पद को भाषा की 'संरचनात्मक इकाई' परिभाषित करने की दृष्टि से भी उतनी ही स्पष्टता लिएहुए है।

किन्तु हमने यह भी कहा है कि **स्थानगत-परिवर्त्तन** और **आन्तरिक स्थायिता** परस्पर अनाश्रित हैं। हम अंग्रेज़ी का ही उदाहरण फिर से लेंगे। 'स्थानगत-परिवर्त्तनीयता' की बात 'विनिश्चायक' आदिनिपात *The* को एक शब्द के रूप में परिभाषित करने में किसी भी भाँति असफल रहेगी। अपने द्वारा अधिकृत नाम को छोड़कर यह निपात वाक्य में अपना स्थान नहीं बदल सकता। इस विषय में, विपरीत स्थान पर होते हुए भी, इसकी स्थिति **बुल्गारियाई, स्वीडी, नार्वेजी, रूमानियाई** और **मैसिडोनियाई** भाषाओं के परस्थानीय निपातों की भाँति है। ये निपात अंग्रेज़ी के 'प्रिपोज़िशन' की अपेक्षा **'पोस्टपोज़िशन'** कहलाते हैं, और पद के पहले प्रयुक्त न होकर बाद में प्रयुक्त होते हैं: कदाचित् अविच्छेद्य रूप में: उदाहरणार्थ, रूमानियाई में **'लुप'** (भेड़िया=वुल्फ़) और लुपुल् (दि वुल्फ़); मैसिडोनियाई में—**'ग्राद'** (सिटी=नगर), **ग्रादो`त्** (दि सिटी); आदि। **'अन्तर्निवेशन'** या **'अन्तरायण'** की कसौटी के बल पर ही **अंग्रेज़ी** के 'निपात' को **रूमानियाई** या **मैसिडोनियाई** निपात की अपेक्षा अधिक 'शब्दवत्' कहा जासकता है। **अन्तर्निवेश** या **अन्तरायण** का अर्थ यह है कि अंग्रेज़ी के **'दि-बॉय'** या **'दि-सिटी'** के बीच **'दि-बिग-बॉय'** या **'दि-बिग-स्ट्रॉङ्-स्ट्रॅपिङ्-बॉय'** आदि के रूप में अन्तराय करनेवाले शब्द व्यवहित होसकते हैं, जबकि **'ग्रादो`त्'** और **'लुपुल्'** को न तो दो खण्डों (**लुप्-उल्** आदि) में बाँटा ही जासकता है, और न ही उनके बीच इस प्रकार के व्यवधायक या अन्तरायक शब्दों का प्रयोग ही किया जासकता है।

यह तथ्य, कि अंग्रेज़ी के 'निपात' के विषय में एक की अपेक्षा दूसरा निकष सही उतरता है, इस बात को व्यक्त करता है कि यदि हम इसे शब्द के रूप में स्वीकार भी करलें, तब भी यह अन्य अवयवों की भाँति 'पूर्ण शब्द' नहीं है, जो सभी निकषों पर पूरा उतरता हो। विविध भाषाओं में ऐसे अनेक संस्पर्शी उदाहरण हैं, जिनकी चर्चा साहित्य में पर्याप्त हुई है।

५. ४. ११ ध्वनिप्रक्रियात्मक सहसम्बन्ध

कुछ भाषाओं में 'पद' में कोई न कोई ध्वनिप्रक्रियात्मक चिह्न 'सूचक' के रूप में विद्यमान होता है। उदाहरणार्थ, अनेक भाषाओं में 'पद' का अपना **स्वर**—**उदात्त स्वर**—होता है। ऐसी भाषाओं में शब्द के उच्चारण में **बल** या **स्वराघात** एक ही **एकाच्** (सिल्लेबल्) पर होता है। अंग्रेज़ी और रूसी जैसी कुछ भाषाओं में

यह स्वर 'मुक्त' भी रहसकता है : अर्थात् शब्द की ध्वनिप्रक्रियात्मक संरचना की दृष्टि से इसका स्थान निर्धारित नहीं होता, और न ही वह उसके व्याकरणात्मक श्रेणीकरण के आधार पर ही निर्धारित होता है । या फिर, यह **'प्रतिबद्ध'** रहता है : यथा श्रेण्य और आधुनिक ग्रीक में स्वर अन्तिम तीन **वर्णों (एकाचों)** में से किसी एक पर होता है । या फिर, यह **'स्थिर'** होता है : शब्द के **आदि** या **अन्त** की दृष्टि से, या **अन्य** किसी आधार पर । इसप्रकार के 'स्थिर' स्वर वाली भाषाओं के उदाहरण हैं : **लैटिन**—इसके उपधापूर्व के एकाच् की दीर्घता के आधार पर 'स्वर' का स्थान निश्चित होता है; **पोलिश** : जिसमें अन्त्य से पूर्व अच् में 'स्वर' रहता है; **तुर्की** : जिसमें स्वर प्राय: अन्तिम अच् में ही होता है; और **चैक** : जिसमें शब्द के आदि अच् में ही स्वर निपतित होता है । यहां हम उन दो उपायों को और बताएँगे, जिन के द्वारा ध्वनिप्रक्रियात्मक दृष्टि से शब्द विसीमित होते हैं : **तुर्की** और **हंगरी** की भाषाओं में **स्वर-संनादिता** शब्द-मात्र में लागू होती है, उससे अधिक नहीं (तु०-३. ३. १३); तथा बहुत सी भाषाओं में ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाइयों का एक विशिष्ट समुदाय अन्य स्थानों की अपेक्षा, शब्द के **आदि** या **अन्त** में आता है । सभी सस्वर भाषाओं के विषय में यह सत्य लागू होता है कि किसी उक्ति में उतने ही शब्द माने जाएंगे, जितने उदात्त स्वर उसमें उपस्थित होंगे । और 'स्थिर' स्वर वाली भाषाओं के विषय में यह भी सत्य है कि शब्दों की सीमाओं का निर्धारण उन अचों के आधार पर होसकता है, जिनपर स्वर निपतित होता है । यह तथ्य, कि इन भाषाओं में स्वर के सामान्य नियमों के अपवाद मिलते हैं, इस बात को सिद्ध करता है कि इनके शब्दों के निर्धारण में स्वर का कार्य 'परिसीमन' का नहीं है । उदाहरणार्थ, **रूसी** का **'न्ये'** (नहीं) स्वरहीन है; **पोलिश** क्रियाओं के 'कर्मवाच्य' और तद्विपरीत **'कर्तृवाच्य'** के क्रियारूपों में समनुकारी रूप से एक ही अच् पर स्वर रहता है; **तुर्की** के **'गिल्मियोर्दु'** (वह नहीं जारहा था) और **'अस्करकेन्'** (जब [वह] एक सिपाही [था]) जैसे प्रयोगों में स्वर के स्थान एवं संनादिता-नियमों का उल्लंघन होने पर भी वे 'पद' ही हैं । यदि पद-सीमाओं का निर्धारण केवल स्वर के स्थान के आधार पर ही होना हो, तब हम **तुर्की** और **पोलिश** भाषा में 'पदों' के आदि या अन्त की दृष्टि से स्वर का स्थान निश्चित न करसकेंगे । अत: ध्वनिप्रक्रियात्मक और व्याकरणात्मक स्वरों की आंशिक 'समता' की बात, 'पद' के ध्वनिप्रक्रियात्मक और व्याकरणात्मक इकाई होने के कारण, विश्वात्मक न होने पर भी भाषाओं का एक 'सामान्य अभिलक्षण' कही जासकती है । फ्रेंच सदृश ऐसी भी भाषाएँ हैं, जिनमें ध्वनिप्रक्रियात्मक और व्याकरणात्मक संरचना के बीच विद्यमान 'समता' 'पद' से उच्चतर स्तर की इकाइयों के विषय में ही लागू होती है ।

५. ४. १२ निकषों की अनाश्रितता

शब्दों की व्याकरणात्मक 'संसक्ति' को स्थापित करने वाले विविध अभिल-

क्षणों, एवं विविध भाषाओं में पदों के ध्वनिप्रक्रियात्मक 'अंकन' के विविध मार्गों, के विस्तृत वर्णन केलिए अन्यत्र अधिक पढ़ा जासकता है। इस सम्बन्ध में पहले अनुच्छेदों में पर्याप्त विवेचन होचुका है कि व्याकरणात्मक निकष तो परस्पर अनाश्रित हैं ही, ध्वनिप्रक्रियात्मक निकष भी परस्पर अनाश्रित होते हैं। इसके अतिरिक्त वे व्याकरणात्मक निकषोंसे अवर भी हैं। यही कारण है कि यह सम्भव होसकता है कि एक भाषा के पद, दूसरी भाषा के पदों की अपेक्षा भिन्न व्याकरणात्मक इकाई के रूप में विद्यमान हों। इस पर भी 'पद' संज्ञा का विनियोग पूर्णतः यादृच्छिक नहीं है, क्योंकि 'पदों' को भिन्न-भिन्न सिद्ध करने वाले सम्बद्ध अभिलक्षण 'संरचनात्मक इकाई' के रूप में उनके व्यक्तित्व और पहचान को समर्थित करते हैं।

अब क्योंकि शब्दों की पहचान के निकष केवल परस्पर अनाश्रित ही नहीं हैं, बल्कि वे व्याकरण की न्यूनतम इकाई के रूप में स्थापित रूपांश की पहचान के निकषों से स्वतन्त्र भी हैं, अतः यह सम्भव है कि कुछ भाषाओं में पद और रूपांश के रूप में एक ही इकाइयाँ विद्यमान सिद्ध हों। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी रूपांश /nais/, /boi/, /wont/ (लिप्यात्मक रूप में—*nice, boy, want*) समकालिक रूप में **नाइस, बॉय्, वाण्ट**, आदि रूपांशों, और एक-एक रूपांश से बने व्याकरणात्मक शब्दों, का प्रतिनिधित्व करते हैं (यदि इन आकारों को सही मानाजाए)। जैसा कि हम पहले ही देखचुके हैं (५. ३. ६), 'अयोगात्मक भाषाओं' का व्याख्यात्मक आधार ही पदों और रूपांशों की इस अंकीय समानुपातिता पर निर्भर है।

५. ५. 'रैंक' (श्रेणी या क्रम) की धारणा

५. ५. १ 'रैंक' की धारणा बाह्य संरचना से सम्बद्ध है

प्रस्तुत अध्याय में हमने बहुत ही संक्षेप से व्याकरण-विश्लेषण की प्राथमिक इकाइयों एवं आधुनिक भाषाविदों द्वारा कीगई उनकी संज्ञात्मक परिभाषाओं को समझाया है। हम देख ही चुके हैं कि परम्परागत व्याकरण का मुख्य आधार वाक्य एवं शब्द पर ही निर्भर है, जबकि 'पदबंध' और '**वाक्यान्तर**' (क्लॉज़ = उपवाक्य) की परिभाषा, उक्त दोनों की तुलना में, सदा संगत रूप में नहीं कीगई। भाषाविज्ञान की बहुत-सी आधुनिक पुस्तकों में 'रूपांश' के विवेचन ने, शब्द के स्थान पर, 'लघुतम व्याकरणात्मक इकाई' का स्थान लेलिया है। किन्तु, व्यावहारिक दृष्टि से कम ही भाषाविद् रूपांश की सिद्धान्ततः संगत इस परिभाषा पर जमे रहसके हैं।

इस अध्याय के आरम्भ में हमने कहा है कि **वाक्य, वाक्यान्तर, पदबन्ध, शब्द** (पद) और **रूपांश** के बीच आपसी सम्बन्ध को यह कहकर व्यक्त किया जा सकता है कि '**उच्च क्रम (श्रेणी) की इकाई निम्न क्रम (श्रेणी) की इकाइयों के मिलने से बनती है।**' यह श्रेणी या 'क्रम' (रैंक) संज्ञा हैलिडे से लीगई है। अन्य भाषाविदों (**पाइक** और **लैम्ब** आदि) ने इसके लिए 'स्तर' की समानार्थक '**लेवल**'

और '**स्ट्रेटम**' आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया है। 'निर्बन्धन' या 'संबन्धन' की धारणा पर आधारित व्याकरणात्मक संरचनासम्बन्धी सुसंगत सिद्धान्त को सूत्रित करने की दिशा में उक्त तीनों विद्वानोंसमेत अनेक अन्य विद्वानों ने यत्न किया है। यहाँ उन के मतों का अधिक विश्लेषण हमें अभीष्ट नहीं हैं।

अगले अध्याय में हम व्याकरण-वर्णन के सम्बन्ध में 'रचनान्तरण' की दृष्टि को अपनाएँगे। इसका एक लाभ यह होगा कि हम वाक्य की संरचना के 'आन्तरिक' और 'बाह्य' स्तरों के बीच विद्यमान विभेद से परिचित होजाएँगे। तभी यह स्पष्ट होगा कि विविध क्रम की इन इकाइयों के बीच ये विभेद केवल 'बाह्य' संरचना से ही सम्बद्ध हैं। इस तथ्य से निषेध नहीं किया जासकता कि वाक्यों की व्याकरणात्मक संरचना इसप्रकार की होती है, कि उसकी व्याख्या इन सज्ञाओं या परिभाषाओं के माध्यम से की जासकती है।

५. ५. २ एक निदर्शन

न तो इस बात पर विश्वास करने का ही कोई आधार है, न ही इसे सैद्धान्तिक अनिवार्यता माना जासकता है कि व्याकरण के नियमों का गठन इस रीति से कियाजाना चाहिए कि उनके **एक वर्ग** से रूपांशों से शब्दों का प्रजनन, **दूसरे वर्ग** से शब्दों का पदबन्धों में संहनन, **तीसरे** से पदबन्धों से वाक्यान्तरों का प्रजनन, एवं **चतुर्थ वर्ग** से वाक्यान्तरों से वाक्यों का गठन नियमतः सिद्ध किया जासके। रचनान्तरणी ढाँचे में विविध क्रमों की इन इकाइयों की व्याख्या को अबतक दियागया सब महत्त्व समाप्त होजाता है। अब हम यह कहने केलिए प्रतिबद्ध नहीं हैं कि प्रत्येक वाक्य अनिवार्यतः एक या दूसरे क्रम की इकाइयों में बिना कुछ अवशेष छोड़े विश्लिष्ट किया जासकता है।

यहां केवल एक ही उदाहरण पर्याप्त रहेगा। अंग्रेज़ी में ऐसे विशेषणों की संख्या पर्याप्त है, जिन्हें तीन रूपांशों में विभाजित किया जासकता है: *red-haired*, *blue-eyed*, *one-legged*, आदि; जिन्हें स्पष्टतः तीन तथाकथित रूपतत्त्वों में वियोजित किया जासकता है: {*red*}+{*hair*}+{*ed*} आदि के रूप में। सभी स्थितियों में यहां दो योजक रूपांशों को '**शब्द**' कहा जासकता है, यथा—red और hair को। वे '**उन्मुक्त**' रूपवाले होने के अतिरिक्त 'शब्द' की परिभाषा केलिए स्थापित अन्य निकषों पर भी (५. ४. ६. से आगे) पूरे उतरते हैं। एक दृष्टि से 'रैड्हेयर्ड' को एक एक शब्द कहना वांछनीय होसकता है: विशेषकर **बलाघात** के वितरण के निर्धारण में व्याकरण और ध्वनिप्रक्रिया के एकीकरण के प्रयोजन की दृष्टि से। (अधिकांश अंग्रेज़ी शब्दों में एक ही 'बलाघात' होता है; और विचाराधीन 'जटिल' विशेषण भी इस शर्त को पूरा करते प्रतीत होते हैं।) दूसरी ओर, '*red-haired*' में दो 'शब्द' और एक '**बद्ध रूपांश**' विद्यमान है। फिर, यह भी लगता है कि {*ed*} रूपांश का '*red-hair*' पदबन्ध के साथ योग किसी-न-किसी अर्थ-भावना से ही कियागया है:

क्योंकि *'*haired*' के रूप में कोई प्रयोग नहीं मिलता, जिसे हम '*red*' शब्द के साथ किसी महत्तर क्रम की इकाई के गठन के समय जोड़ दें। इसप्रकार की समस्याओं पर तब ध्यानदेने की आवश्यकता नहीं रहती, जब हम यह स्वीकार करलें कि '*red-haired*' जैसे विशेषण व्याकरण के उन क्रमिक प्रकार्यों द्वारा भी प्रजनित किये जा सकते हैं, जो भाषाविज्ञान के इस नियम की आवश्यकता से आबद्ध नहीं रहते कि उच्चतर क्रम की इकाइयों का गठन एकाधिक निम्नतर क्रम की इकाइयों के सम्मिलन से होता है।

इन टिप्पणियों के साथ हम व्याकरण-संरचना सम्बन्धी अगले विचार में प्रवृत्त होसकते हैं। इसकेलिए हम वहाँ से आगे चलेंगे, जहाँतक इससे पहले अध्याय में विचार करचुके हैं। किन्तु, अब हम इस धारणा को बनाए नहीं रखेंगे कि '**किसी भाषा की शब्दराशि उसके कोषों में ग्रथित उन शब्दों का एक विन्यासमात्र होती है, जो शब्द-श्रेणियों पर प्रत्यक्ष घटित होनेवाले नियमों के अधीन वाक्यों की रचना केलिए संहत होते हैं।**'

६

व्याकरणात्मक संरचना

६. १ सन्निहित घटक

६. १. १ शृंखला (क्रमबद्धता) और रैखिकता

चतुर्थ अध्याय में 'रूपात्मक व्याकरण' के सामान्य सिद्धान्तों की चर्चा में हमने जानबूझकर यह दृष्टि अपनाई थी कि सभी वाक्यों की संरचना सरलरैखिक होती है। अर्थात्, व्याकरण की दृष्टि से भाषा का प्रत्येक वाक्य पूर्णतः **घटकों** (पदों) **के सूत्र** (या शृंखला) के रूप में ग्रथित कहा जासकता है।

'सूत्र' से क्या अभिप्राय है, इसे हम एक निरपेक्ष उदाहरण के द्वारा इसप्रकार समझासकते हैं ('सूत्र' भाषा की व्याकरणात्मक संरचना को समझाने केलिए प्रयुक्त एक गणितीय संज्ञा है):

क + ख + ग + घ

योग का चिन्ह यहां 'अनुबन्धन' या 'शृंखलन' को दिखाने केलिए प्रयुक्त कियागया है। यह 'सूत्र' घटकों या अवयवों का एक विशिष्ट अवस्था में 'संघात' होने से परिणत होता है। 'व्यवस्था' से क्या सूचित होता है, यह बात किसी विशिष्ट घटना के प्रति इस प्रणाली के विनियोग के समय कीजानेवाली उसकी व्याख्या पर निर्भर करती है। प्राकृतिक भाषाओं के सम्बन्ध में घटकों की बाएं-से-दाएं की व्यवस्था उच्चरित उक्तियों में **पूर्व-पश्च** के रूप में उनकी कालव्यवस्था को सूचित करती है, तथा अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में यह व्यवस्था लिखित वाक्यों में बाएं-से-दाएं को सूचित करती है। किन्तु, यहाँ यह भी स्मर्त्तव्य है कि इसी प्रकार की रैखिक व्यवस्था भाषा के वर्णन में अन्य प्रयोजनों से भी प्रयुक्त होसकती है। वास्तव में व्याकरण में रैखिक व्याख्या के बहूद्देशीय रूप में प्रयुक्त होने में कोई आपत्ति या बाधा न होनी चाहिए। हमने चतुर्थ अध्याय में यह भी निर्विवाद ही मानलिया था कि व्याकरणात्मक नियम के विनियोग से परिणत शब्द-संघात एक ऐसी शृंखला बनाता है, जिसके शब्दों की व्यवस्था भाषा-प्रयुक्त शब्दों की व्यवस्था के अनुकूल ही होती है।

यह बात द्वितीय अध्याय (२. ३. ५) में बताईगई थी कि विन्यासक्रमात्मक सम्बन्ध-भावना अपने घटक अवयवों में किसी निश्चित क्रम-व्यवस्था की कल्पना करके नहीं चलती। वहाँ इन अवयवों के सशृंखल और अशृंखल—दोनों—ही रूप

में उदाहरण भी दिएगए थे। यह परिज्ञान महत्त्वपूर्ण है कि **'सूत्र'** (श्रृंखला) भी वैसे ही एक विशिष्ट प्रकार का **विन्यास** ही होता है, जैसे 'श्रृंखलन' भी 'संघात' का ही एक विशिष्ट प्रकार है। यदि आधार-सामग्री से ऐसी ध्वनि मिलती, तब हम व्याकरणात्मक संरचना का ऐसा सिद्धांत भी निरूपित कर सकते, जिसमें ऐसे नियमों की श्रृंखलनहीन प्रणाली होती, जिनसे उन अवयवों की श्रृंखला के स्थान पर अक्रम या अव्यवस्थित विन्यासों को जन्म मिलता, जिनके बीच परस्पर विन्यासात्मक प्राक्कल्पना, आश्रितता, आदि के रूप में कुछ-न-कुछ सम्बन्ध स्थापित होता ही है। यथा, निम्न 'रूप' के **'पुनर्लेखन-नियम'** (४. ३. २)

क्ष→क+ख+ग+घ

की व्याख्या इस तरह की जासकती है (योग चिह्नों को 'श्रृंखलन' का प्रतीक नहीं मानागया) कि 'क्ष' विन्यास में **क, ख, ग, घ,** आदि अवयवों की कोई क्रमिक 'संहति' नहीं है। यद्यपि इस अध्याय के अधिकांश विचार में हम **'पुनर्लेखन'** के इस 'श्रृंखलन-नियम' तक ही सीमित रहेंगे, फिर भी यह बात समझनी आवश्यक है। एक परवर्त्ती अध्याय में सुझाएगए कुछ नियम निश्चय ही निरनुबन्ध या श्रृंखलाहीन प्रकार के होंगे। इस विषय में अधिक औपचारिक विमर्श में प्रवृत्त होनेसे पूर्व हमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर भी एक नज़र डालनी उचित होगी।

६. १. २ सन्निहित घटक

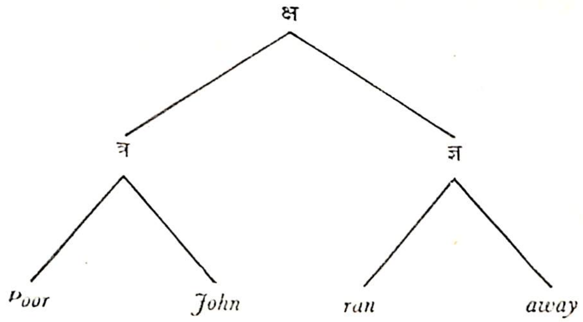
भाषाविज्ञान की अधिकांश आधुनिक पुस्तकों में **'सन्निहित-घटक-विश्लेषण'** पर बहुत अधिक बल दियागया है। **'इमीजिएट कान्स्टीचुएण्ट'** या **'सन्निहित-घटक'** संज्ञा का सर्वप्रथम प्रयोग **ब्लूमफ़ील्ड** ने इस रूप में १९३३ में किया था: इस विषय से सम्बद्ध कोई भी अंग्रेज़ीभाषी व्यक्ति इस बात को बताने में समर्थ होगा कि 'Poor John ran away' में सन्निहित घटक के दो 'रूप' हैं: 'poor John' और 'ran away'। और यह कि इनमें से प्रत्येक रूप एक 'जटिल रूप' है, तथा 'ran away' के सन्निहित घटक 'ran' और 'away' हैं, एवं 'poor John' के '...poor' और 'John'।

स्पष्ट है कि इस सन्निहित-घटक-विश्लेषण और प्राचीन 'कर्तृ विधेयात्मक' विश्लेषण में, जिसका यथोचित रूप में पदों, पदबन्धों और विविध वाक्यान्तरों में पुनर्विभाजन सम्भव है, पर्याप्त साम्य विद्यमान है। ब्लूमफ़ील्ड का उदाहरण एक साधारण वाक्य है, जिसका **'कर्त्ता'** एक नाम-संघ है, जिसमें **'जोन'** नाम है और उसका विशेषक **'पूअर'** विशेषण है, तथा **'विधेय'** एक 'क्रिया-संघ' है, जिसमें क्रिया है **'रैन्'** और उसका विशेषक क्रियाविशेषण है **'अवे'**। व्याकरण-विश्लेषण की दिशा में दोनों मार्गों की आधार-दृष्टि यह है कि वाक्य अवयवों की केवल रैखिक श्रृंखला ही नहीं होते, बल्कि वे 'सन्निहित घटकों' के विविध स्तरों से निर्मित होते हैं, जिनमें से प्रत्येक निम्न-स्तरीय घटक 'उच्च-स्तरीय घटक' का अंग बनता है। विविध स्तरों पर आश्रित वाक्य का ऐसा विश्लेषण कई प्रकार के आरेखों द्वारा दिखाया जासकता है। हम कोष्ठकों का प्रयोग भी करसकते हैं: [(*Poor john*)

(*ran awvy*)]। अथवा हम आरेख-८ की भांति प्रशाखित रूप अपनासकते हैं :

आरेख-८

ब्लूमफ़ील्ड के सन्निहित घटक'



प्रतिनिधान की ये दोनों ही विधियाँ समतुल्य हैं। (यहाँ 'क्ष' आदि प्रतीक केवल विभाजन की सुविधा के लिए ही प्रयुक्त किएगए हैं।) इस आरेख का अर्थ इसप्रकार लियाजाएगा : वाक्य के घटक चरम अवयव हैं—**पूअर, जोन, रैन,** और **अवे**। इन में '**पूअर**' और '**जोन**' शब्द '**पूअर जोन**' के सन्निहित घटक अवयव हैं, इसीलिए उन की सूचिका प्रशाखाएँ उन दोनों की सामान्य 'ग्रन्थि'—'**त्र**'—से उद्भूत होती हैं; जबकि दूसरी रचना के घटक '**रैन**' और '**अवे**' हैं; जिनका सम्बन्ध 'ज्ञ' द्वारा संकेतित उच्चतर ग्रन्थि से है; और ये दोनों ही 'रचनाएँ' उच्चतम स्तर की '**क्ष**' से संकेतित रचना के सन्निहित घटक हैं और उससे उद्भूत हैं। यह अवधेय है कि न तो कोष्ठक-प्रणाली में ही, और न ही प्रशाखित-प्रणाली में, हमने यह सूचना अन्तर्निविष्ट की है कि '**पूअर**' एक '**विशेषण**' है और '**पूअर जोन**' एक '**नामसंघ**' है, इत्यादि। न ही इसमें हमने इस बात पर ध्यानदिया है कि इसमें '**पूअर जोन**' कर्तृ-पद है, और '**रैन अवे**' विधेय-पद है। **इन दृष्टियों से हमारा वाक्य-विश्लेषण परम्परागत व्याकरण के विश्लेषण की अपेक्षा भिन्न और हीन है।**

इस घटक-संरचना-सिद्धान्त के विकास के तीन विभिन्न युग पहचाने जासकते हैं। ब्लूमफ़ील्ड का योगदान महज़ इतना ही मानाजाना चाहिए कि उन्होंने यह धारणा दी और इसे निदर्शनों से समझाया। उन्होंने वाक्यों के घटकों में '**समुचित विश्लेषण**' का अर्थ किया : ऐसा विश्लेषण, **जिसमें अर्थों का ध्यान रखाजाता है।** उनके अनुयायियों मेंसे **वैलस** और **हैरिस** जैसे विद्वानों ने इन विश्लेषण-सिद्धान्तों को अधिक विस्तार से निर्मित किया और ब्लूमफ़ील्ड के '**अर्थ पर ध्यान देने**' सम्बन्धी **अस्पष्ट संकेत** के स्थान पर, विस्पष्ट '**वितरणात्मक निकष**' उपस्थित किया। और तब, अन्ततः, पिछले कुछ वर्षों में शोम्स्की और अन्य विद्वानों ने घटक-संरचना के इस सिद्धान्त को गणितीय अध्ययन का विषय बनाकर निरूपित किया। उन्होंने उन

नियमों की प्रकृति की ओर भी विशेष ध्यानदिया है, जो घटक-संरचना-जनित वाक्यों के लिए अपेक्षित होते हैं।

६. १. ३ व्याकरणात्मक अस्पष्टता

'वाक्य या वाक्यांश अरैखिक संरचना से युक्त होते हैं', इस बात को स्वीकार करने का सर्वाधिक तर्कसंगत कारण यह है कि ऐसा मानकर हम व्याकरण-वर्णन में आनेवाली बहुत सी अस्पष्टताओं से निपटसकते हैं। यदि हम निम्न तीन उदाहरणों की तुलना करें, तो हम देखेंगे कि अस्पष्टता या तो अवयवों के वितरणात्मक श्रेणीकरण का, या घटक-संरचना का, (या इन दोनों का) प्रकार्य होसकती है :

(क) *They can fish* : **दे कैन् फिश्**

(ख) *Beautiful girl's dress* : **ब्यूटीफ़ुल गर्ल्स ड्रेस्**

(ग) *Some more convincing evidence* : **सम् मोर कन्विसिङ् एॅविडेन्स**

प्रथम उदाहरण के सम्बन्ध में, (क) *They can fish* (इसकी तुलना एक ओर *They could fish* या *They may fish* से ओर दूसरी ओर *They canned fish* और *They eat fish* से करनी चाहिए) : इसमें अस्पष्टता का विवेचन **'कैन्'** और **'फिश्'** का वर्गीकरण द्विधा करके (**'कैन्'** : सहायिका और सकर्मक क्रिया के रूप में, तथा **'फिश्'** : अकर्मक क्रिया और नाम के रूप में) किया जासकता है। अब क्योंकि अंग्रेज़ी में **क्रिया** का प्रयोग या तो **'नाम और सकर्मक क्रिया'** अथवा **'अकर्मक और सहायिका क्रिया'** के संघात के रूप में होसकता है (यद्यपि यह वक्तव्य अत्यधिक सरलीकृत है), अतः हम **'दे कैन् फिश्'** का विश्लेषण उक्त दोनों प्रकार से करसकते हैं। कोष्ठकीय विश्लेषण की दृष्टि से दोनों ही अवस्थाओं में इसमें कोई अन्तर नहीं आता। दोनों में ही इसे *They (can fish)* के रूप में कोष्ठकबद्ध कियाजाएगा। इसके विपरीत (ख) उदाहरण की अस्पष्टता वितरणात्मक श्रेणीकरण **'ब्युटीफ़ुल, गर्ल, ड्रेस'** के द्वारा नहीं समझाई जासकती। इसकेलिए हमें **घटक-संरचना-विधि** का आश्रय लेना होगा : 'girl's dress which is beautiful' के रूप में **'गर्ल्स'** और **'ड्रेस'** मिलकर एक घटक बनाते हैं; जबकि दूसरी व्याख्या—**'ड्रेस ऑफ (ए) ब्यूटीफ़ुल गर्ल'**—के अनुसार **'ब्यूटीफ़ुल'** और **'गर्ल'** को घटक के रूप में एक कोष्ठक में रखना पड़ता है। तीसरे उदाहरण (ग) में उक्त दोनों ही बातें पाईजाती हैं। (ग) *'some more convincing evidence'* की अनुवृत्ति दो रूप में की जासकती है : (*1*) *some evidence which is more convincing* और (*2*) *some more evidence which is convincing* के रूप में। दूसरे शब्दों में, इसका घटकीय कोष्ठबन्धन दो रूप में किया जासकता है : (1) some [(more convincing) evidence], या (2) [(some more) (convincing evidence)] के रूप में। इस घटक-संरचना के विभेद के अतिरिक्त अवयवों की वितरणात्मक श्रेणियों के परस्पर विभेद का प्रश्न भी यहां सहसम्बद्ध है। यह बात **'मोर'** के स्थान पर **'लेॅस्'**

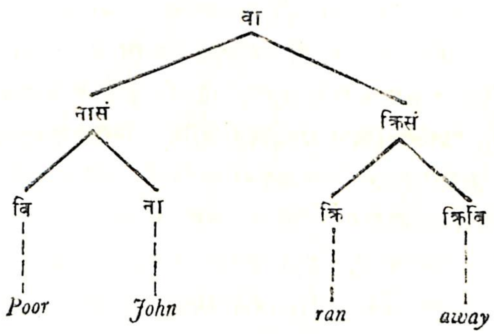
और 'कन्विसिङ्' के स्थान पर 'बैड' और 'गुड' शब्दों के प्रयोग द्वारा समझी जा सकती है : *some less convincing evidence*; *some more good evidence*; *some better evidence* या *some more evidence*, आदि मेंसे एक को भी अस्पष्ट नहीं कहा जासकता । इनमें से *more* शब्द का सम्बन्ध दो वितरण-श्रेणियों से है : *less* की तरह, विशेषण के साथ संयुक्त होकर यह '**विशेषण-बन्ध**' बनाता है, यद्यपि तुलनावाचक '-अर' (*-er*) प्रत्यय के स्थान पर [*nicer* के बदले **more nice* के रूप में] आने के कारण इसका प्रयोग '*less*' की अपेक्षा सीमिततर है); और (२) '*less*' से भिन्न रूप में, '*some*' के साथ मिलकर नाम या नाम-संघ के विशेषक के रूप में (तु०-*some more evience* **Vs** *some less evidence*) ।

अतः **अस्पष्टता** को चरम या अन्तरिम घटकों की घटक-संरचना या उनके वितरणात्मक वर्गीकरण का 'प्रकार्य' कहा जासकता है । यह बात अंग्रेज़ी के अतिरिक्त अन्य भी अनेक भाषाओं पर लागू होसकती है । अतः हमें वाक्यों के विश्लेषण में दोनों ही बातों का पूरा ध्यान रखना चाहिए । ऐसा सरलता से किया जासकता है, यदि कोष्ठस्थ संरचनाओं या प्रशाखीय आरेख की ग्रन्थियों के स्थान पर 'संकेत' रखदिए जाएँ :

वा {नासं (वि [पूअर] + ना [जोन]) + क्रिसं (क्रि [रैन] + क्रि-वि [अवे]}

यहाँ विविध प्रकार के कोष्ठ प्रयोग करने का कोई विशेष अभिप्राय नहीं है । इनके प्रयोग से समनुकारी बाएँ और दाएँ अवयवों के कोष्ठकों को स्थापित करने में सरलता होती है । आरेख-९ में इसी का समतुल्य प्रशाखीय आरेख दियागया है :

आरेख-९



उक्त वाक्य जैसे वाक्यों की व्याकरणात्मक संरचना के प्रतिनिधान में अब हमने ऐसे तथ्यों को भी समाहित करलिया है : 'पूअर जोन' एक '**नाम-संघ**' है, जिसमें **विशेषण (वि)** है '**पूअर**' और **नाम (ना)** है '**जोन**'; एवं '**रैन अवे**' एक '**क्रियासंघ**' (**क्रिसं**) है, जिसमें **क्रि** है '**रैन**' और **क्रि-वि** है '**अवे**' ! अबसे हम ऐसी सूचना को **भी** घटक-संरचना के विश्लेषण का अन्तरंग भाग समझ सकते हैं । किन्तु इसमें **अब**

तक भी **कर्त्ता** और **विधेय** की परम्परागत मान्यता अन्तर्हित नहीं हुई है। नही हमने '**संशोधन**' (**मोडिफ़िकेशन**) के विषय में कुछ कहा है। पुरानी मान्यता के अनुसार '**पूअर जोन**' पदबंध '**नाम-संघ**' कहलाता, क्योंकि वाक्य में यह या तो 'उस जैसा कार्य करता है' या 'उसकी जगह कार्य करता है'। इसका यह अर्थ लिया जासकता है कि नाम और विशेषण से मिलकर बने पदबन्ध व्याकरण-प्रजनित वाक्यों में '**नाम**' के समान वितरण वाले होते हैं। तथा यह कि **पूअर जोन**, **न्यू कार**, आदि पदबन्ध उन्मुक्त रूप में **जोन** और **कार** आदि का स्थान लेसकते हैं और परिणामत: व्याकरण द्वारा स्वीकार्य एक नया वाक्य सामने लाते हैं। उक्त वाक्य जैसे उदाहरणों में इस तथ्य की सूचना हमें उस 'ग्रन्थि' से प्राप्त हुई, जिसके माध्यम से नाम और विशेषण परस्पर सम्बद्ध होते हैं और मिलकर '**नाम-संघ**' बनाते हैं।

इससे पहले कि प्रजनकता की दृष्टि से हम 'घटक-संरचना' की धारणा को और अधिक विकसित करें, हमें यह स्पष्ट करना चाहिए कि ऊपर कही 'व्याकरणात्मक अस्पष्टता' का क्या अर्थ है। अंग्रेज़ी के उन अनेक नामसंघों पर विचार करें, जिनका रूप इस सूत्र के रूप में हैं : **वि + ना_1 + ना_2**। (यहां '**वि**' = **विशेषण** और '**ना**' = **नाम** हैं।) इन नामसंघों में से अनेक अस्पष्ट होते हैं। इनकी अस्पष्टता का समाधान इनके घटकों की संरचना को **वि + (ना_1 + ना_2)** अथवा **(वि + ना_1) + ना_2** के रूप में विशेषित करके दूर किया जासकता है। वाक्यों में वास्तविक प्रयोग होने पर इनमें से अनेक पदबन्ध भ्रान्ति का सृजन नहीं करते, क्योंकि शेष वाक्य या उनके अथवा भाषा के प्रयोग का सन्दर्भ इस बात को प्रायिक या निश्चित करदेता है कि इनमें से कौन सी व्याख्या अधिक ठीक रहेगी। उदाहरणार्थ, '**ताजा फल बाजार**' को '**ताजा (फल बाजार)**' के रूप में, अथवा '**नया फल बाजार**' को '**(नया फल) बाजार**' के रूप में, समझेजाने की सम्भावना कम ही है। युक्ति केलिए हम यह मानलेते हैं कि इन दोनों ही (पदबन्धों) की एक-एक ही व्याख्या सम्भव है : अर्थात्मक दृष्टि से हम कहेंगे कि ये अस्पष्ट नहीं हैं। तब क्या वे व्याकरण की दृष्टि से अस्पष्ट हैं ? क्या इन दोनों की व्याख्या क्रमश: '**ताजा (फल बाजार)**' और '**(नया फल) बाजार**' के रूप में व्याकरणात्मक दृष्टि से मान्य है ? इन प्रश्नों के उत्तर केलिए हमें (अंग्रेज़ी, हिन्दी के) व्याकरण की शरण में जानाहोगा। **वि + (ना_1 + ना_2)** का सूत्र स्पष्ट करता है कि इसका विनियोग वहीं सम्भव है, जहां प्रथम और द्वितीय **नाम** आपस में संयुक्त होते हों ('**फल बाजार**' के रूप में), तथा विशेषण का सम्बन्ध द्वितीय **नाम** के साथ (**नया बाजार या ? ताजा बाजार** के रूप में) हो; एवं **(वि + ना) + ना** का सूत्र तब स्वीकार्य है कि जब **प्रथम** और द्वितीय **नाम** का परस्पर संयोग तो हो, किन्तु विशेषण का संयोग प्रथम **नाम** के साथ ही हो (**ताजा फल, ? नया फल**)। अत: मूलत: प्रश्न वही है, जिसे व्याकरण की सीमाओं के सम्बन्ध में विचारा गया था : '**अनिर्दिष्टता**' और '**हीयमान लाभ**' के दो परिसीमन तत्त्वों को ध्यान में रखकर 'उपवर्गीकरण' का प्रश्न (तु०-४. २. ११)। '**वि + ना_1 + ना_2**' के तबतक दो ही व्याकरणात्मक विश्ले-

षण कियेजाएंगे, जबतक स्वयं सम्बद्ध व्याकरण और शब्दकोष स्पष्टतः उस विशेषण का सम्बन्ध एक या दूसरे नाम के साथ अविहित न करदें ।

घटक-संरचना की धारणा केवल इन पूर्वकथित अस्पष्टताओं को दूरकरने केलिए ही नहीं कीगई । इन विवध स्तरों को वाक्यों के घटक मानने का मुख्य कारण यह है कि इसप्रकार हम एक लघुतर और अधिक सन्तोषप्रद वर्णन कर सकते हैं । यह बात अगले विमर्श से स्पष्ट होजाएगी । प्रसंगवशात् यह भी कहा जा सकता है कि कुछ अन्य प्रकार की अस्पष्टताओं का समाधान प्रस्तुत संरचना से अनिवार्यतः भिन्न किसी अन्य व्याकरणात्मक संरचना को अपनाकर किया जासकता है । ऐसी कुछ संरचनाओंपर हम इस अध्याय में, बाद में, विचार करेंगे (६.६.२) ।

६. २ पदबन्ध-रचनात्मक व्याकरण

६. २. १ पदबन्ध-रचना

कोष्ठकों को कहां निबद्ध कियाजाए—यह जान लेना एक बात है किन्तु ऐसे प्रजनक नियमों की प्रणाली का **सृजन** करना, कि वाक्यों में शुद्ध संरचना-घटकों का ही प्रयोग सम्भव होसके, सर्वथा भिन्न बात है । यद्यपि व्याकरण-नियमों की विभिन्न प्रणालियां इस रूप में रची जासकती हैं, जो अपने रचित वाक्यों पर घटक-संरचना के विश्लेषण को अधिष्ठित करदें; इसपर भी आरम्भ में हम अपने वर्णन को उस प्रकार की सानुबन्धन-पुनर्लेखन-प्रणालियों तक ही सीमित रखेंगे, जिनसे शोम्स्की ने हमें परिचित कराया है। ऐसी प्रणालियों को हम **'पदबन्ध-रचनात्मक-व्याकरण'** कहेंगे । निहितार्थतः यह संज्ञा व्यापकतर है ।

६. २. २ पुनर्लेखन-प्रणाली

हम पुनर्लेखन नियमों को (सानुबन्धन समझे जाने वाले : तु-६. १. १) आरम्भ में निम्न रूप में लेंगे :

(१) **वा → नासं + क्रिसं**

(२) **क्रि → क्रि + क्रिवि**

(३) **नासं → वि + ना**

यदि इन नियमों को क्रमिक रूप में इसतरह लागू कियाजाए कि इनमें से प्रथम को छोड़कर प्रत्येक का प्रयोग पहले नियमों के 'निर्गम' के पुनर्लेखन या स्थानापादन केलिए हो (भले ही नियम में 'बाईं ओर' कोई भी प्रतीक हों और कोष्ठक में भले ही कोई भी प्रतीक हों), हम प्रथम नियम का निर्गम इस प्रकार होता पाएंगे :

वा {नासं + क्रिसं}

दूसरे नियम के विनियोग का परिणाम होगा :

वा {नासं + क्रिसं (क्रि + क्रिवि)}

और अन्ततः तीसरे नियम का परिणाम होगा :

वा {नासं (वि + ना) + क्रिसं (क्रि + क्रिवि)}

अर्थात्, प्रत्येक नियम ने उन सब घटकों को एक कोष्ठक में रखदिया है, जिनसे इसके द्वारा परिभाषित संरचना निर्मित होती है। और, संरचना के स्तर उस व्यवस्था से निर्धारित होते हैं, जिसमें नियमों का विनियोग कियाजाता है। प्रस्तुत निदर्शन में यदि द्वितीय के स्थान पर तृतीय नियम का विनियोग पहले कियाजाता, तबभी परिणाम वही रहता। किन्तु, **सर्वप्रथम** प्रथम नियम का विनियोग आवश्यक है, ताकि दूसरे और तीसरे नियम के अनुकूल अवयवों का सृजन होसके। प्रथम नियम में बाईं ओर स्थित **नाम** उस रचना का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके घटक के रूप में व्याकरण से प्रजनित सब अवयव स्थित होते हैं। हम **वाक्य**-रूपी इस प्रथम नाम को '**प्रथम प्रतीक**' कहेंगे। किसी विशिष्ट प्रकार के वाक्य की रचना से सम्बद्ध सभी नियमों के विनियोग के बाद व्याकरण ऐसे सभी प्रतीकों से एक सूत्र रचदेगा (संज्ञा, विशेषण, आदि का), जिनमें से प्रत्येक प्रतीक शब्दकोषीय अवयवों को सूचित करता है। हम इन कोषीय अवयवों के सूचक प्रतीकों को **अन्त्य प्रतीक**, और इन प्रतीकों से बने कोष्ठगत सूत्रों को '**अन्त्य सूत्र**', कहेंगे। अब यदि हम इस **अन्त्य सूत्र** में प्रत्येक **अन्त्य प्रतीक** के स्थान पर उस कोषीय श्रेणी का एक प्रतीक रखदें, जिसका यह प्रतिनिधित्व करता है, तब परिणाम में हम ऐसे वाक्य को पाएंगे, जिसकी घटकीय संरचना पूर्णतः अन्त्य सूत्र के प्रजनक नियमों से निर्दिष्ट होगी। अब यदि शब्दकोष में निम्न प्रकार की सूचना निहित है, तब उक्त तीन-सूत्री व्याकरण *'poor John ran away'* जैसे वाक्यों को उनकी शुद्ध घटक संरचना सहित प्रजनित करने में पूर्ण समर्थ होगा :

ना = {**जोन**, आदि}
क्रि = {**रैन**, आदि}
वि = {**पूअर**, आदि}
क्रिवि = {**अवे**, आदि}

इसके विपरीत, यदि इस वाक्य को सामने रखकर हम निम्न रूप में रचित शब्दकोष की सहायता से प्रत्येक शब्द के स्थान पर उसका प्रतीक रखकर उलटे क्रम में प्रतीकात्मक सूत्र का निर्माण करें,

अवे = क्रिवि
जोन = ना
पूअर = वि
रैन = क्रि

तब हम पाएंगे कि हम अन्ततः प्रथम नियम में कहे 'प्रथम प्रतीक' तक **पहुँच** गए हैं। अतः हम इस वाक्य को व्याकरण द्वारा स्वीकार्य एवं एक निश्चित घटक-संरचना से युक्त स्वीकार करते हैं। यहां यह अवधेय है कि प्रस्तुत व्याकरण में किसी भी दिशा की ओर इन व्याकरण-नियमों के प्रवर्त्तन का कारण यह है कि यह कुछ सामान्य शर्तों (देखें-६. २. ११) के अनुरूप होता हैं। इस विशिष्ट गुण से स्वतन्त्र रूप में यह व्याकरण **विश्लेषण** और **संधान के प्रति तटस्थ भी** है (तु०—४.३.१); और 'प्रत्यंकित कोष्ठन' की धारणा को रूपायित भी करता है (६.१.३)।

६. २. ३ वैकल्पिक नियम

हम अब पूर्वोक्त वाक्य के अतिरिक्त *'Old men love young women'* जैसे वाक्यों पर भी विचार करने केलिए व्याकरण का विस्तार करेंगे। ऐसा करने के लिए हमें '**क्रिसं**' के पुनर्लेखन केलिए नए नियम का सृजन करना होगा :

(१) **वा →नासं + क्रिसं**
(२-अ) **क्रिसं → क्रिअक + क्रिवि**
(२-ब) **क्रिसं → क्रिसक + नासं**
(३) **नासं → वि + ना**

यह स्मर्त्तव्य है कि (२—अ) और (२—ब) मेंसे एक नियम अवश्य लगना ही चाहिए; **भले** ही वह कोई भी हो। **जब हम** व्याकरण में इन दो मेंसे एक के चुनाव की छूट देते हैं, तब हमें कोषीय श्रेणीकरण में भी इसप्रकार का अन्तर करना होगा :

क्रिअक = (**रैन**, आदि)
क्रिसक = (**लव**, **किल्**, आदि)

इस पर भी हमारा व्याकरण कई रूप में अबभी असन्तोषप्रद है। सर्वप्रथम यह अवधेय है कि यद्यपि इससे उन वाक्यों का निर्माण शुद्ध रूप में होजाएगा, जिनसे हमने आरम्भ किया था; किन्तु इससे ऐसे अस्वीकार्य वाक्य भी जनित होंगे : यथा * 'Poor John killed old women', आदि। कहीं-न-कहीं हमें अंग्रेज़ी वाक्यों के **कर्त्ता** और **क्रिया** के बीच स्थित 'अन्विति' का ध्यान रखना ही होगा (यदि क्रिया **वर्त्तमान काल** में प्रयुक्त है)। इस प्रश्न पर अभी हम विचार नहीं करेंगे (तु०-६. ५. ४)। व्याकरण की एक दूसरी कमी यह है कि जिसतरह ये नियम गठित हुए हैं, यदि ठीक उसके अनुकरण पर वाक्य-रचना कीजाए, तब या तो **पञ्चपद वाक्य** बनेंगे : यथा—'**ओल्ड मैन लव यंग वीमेंन**' अथवा '**पूअर जोन रैन अवे**' जैसे **चतुष्पद** वाक्य। *'John ran away'*, *'John ran'*, *'Men love young women'*, और *'Old men love women'*, जैसे वाक्यों का गठन इनसे सम्भव न होपाएगा। और, इनसे *'Old men love young women passionately'* जैसा वाक्य भी न बनेगा।

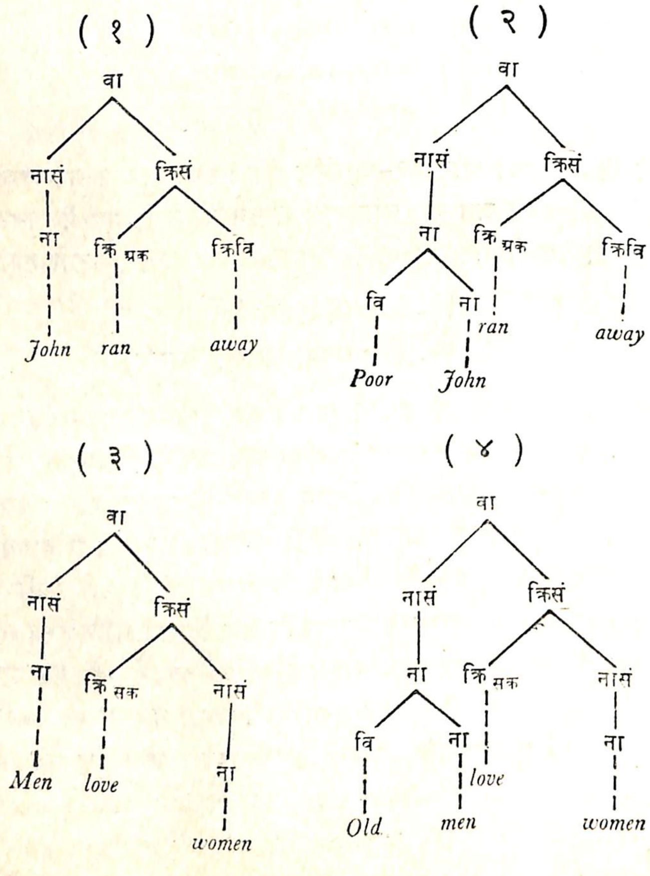
६. २. ४ स्वैच्छिक और अनिवार्य (आवश्य) नियम

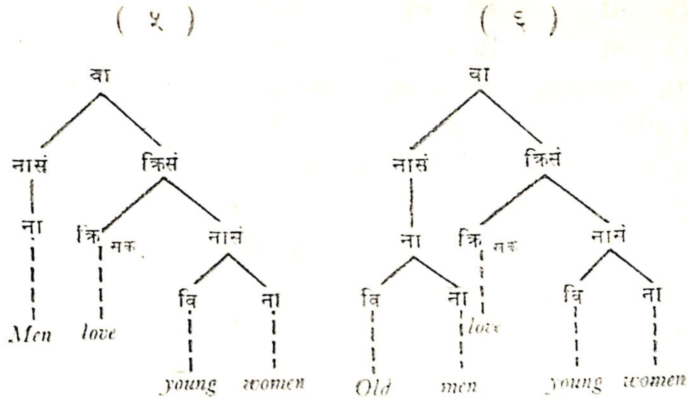
मानलीजिए, अब हम तृतीय नियम को निम्न दो नियमों में पुनर्गठित करते हैं :

(३) नासं →ना
(४) ना →वि+ना

और, साथ यह शर्त भी लगा देते हैं : **तृतीय नियम 'अनिवार्य' है, जबकि चतुर्थ नियम 'स्वैच्छिक' है।** अब व्याकरण द्वारा ऐसे वाक्य भी प्रजनित होसकेंगे : (१) *John ran away*; (२) *Men love women,* (३) *Old men love women,* (४) *Men love young women*; आदि।

आरेख-१०





(ध्यान रखें कि **नासं → ना** की शाखा पंचम और षष्ठ आरेखों मेंसे छोड़ दीगई है।)

अब आरेख-१० में दिए प्रशाखन-आरेखों पर ध्यान दें। इनसे अबतक निर्मित इन वाक्यों का प्रतिनिधित्व होजाता है: (१) **जोन रैन अवे**, (२) **पूअर जोन रैन अवे**, (३) **मेँन् लव वीमेँन्**, (४) **ओल्ड मेँन् लव वीमेँन्**, (५) **मेँन् लव यङ् वीमेँन्**, तथा, (६) **ओल्ड मेँन् लव यङ् वीमेँन्**।

इन आरेखों या इनके नियामक नियमों पर ध्यान देने पर हम पाएँगे कि ये सभी अन्ततः **'वा (नासं + क्रिसं)'** वाक्य-प्रकार के उपप्रकार या भेद हैं। दूसरे शब्दों में, विश्लेषण के एक निश्चित स्तर पर वे सब एकरूप हैं। कुछ निम्न स्तर पर **प्रथम** एवं **द्वितीय** प्रकार समरूप हैं, पर **तृतीय** से **षष्ठ** तक के वाक्य संरचना में भिन्न हैं; इत्यादि। अतः **स्वैच्छिक** और **वैकल्पिक** नियमों का प्रवेश व्याकरण की प्रजनक शक्ति को बढ़ाता है, एवं विविध रचना-विन्यासों को एक ही सामान्य **'प्रकार'** के **'उपप्रकार'** के रूप में समूहित करदेता है।

६. २. ५ नियमों का क्रम-स्थापन

अबतक जो कुछ भी कहा गया, उसमें यह मानकर चलागया है कि जहाँ भी आवश्यक हो, व्याकरण के नियमों का विनियोग उसी क्रम में करना विहित है, जिस क्रम में वे दिएगए हैं। अब हमें इस प्रश्न पर कुछ अधिक निकट से विचार करना चाहिए; क्योंकि इनका क्रम पलटने से व्याकरण के 'निर्गम' या 'उत्पाद' में भी अन्तर आजाएगा। निम्न नियमों पर विचार करें। इनमें शेष सब तो पूर्वोक्त ही हैं; केवल चतुर्थ जोड़ागया है:

(१) **वा** → **ना सं + क्रिसं**
(२-अ) **क्रिसं** → **क्रिअक + क्रिवि**
(२-ब) **क्रिसं** → **क्रिसक + नासं**
(३) **नासं** → **ना**

(४) ना → आ + ना
(५) ना → वि + ना

यहां यह मान लियागया है कि सहचारी कोष में यह दिया हुआ है कि 'आ = *the* (द)'। अब क्योंकि ३ और ४ नियम वैकल्पिक हैं, अतः व्याकरण *men, the men, good men,* और *the good men* को प्रजनित करेगा। किन्तु, यदि ५ नियम को ४ से पहले प्रयुक्त करने की अनुमति हो, तब **'गुड् द मे॑न्'** जैसी अस्वीकार्य शृंखलाए भी व्याकरणात्मक रूप में अनुमत होजाएँगी। यह भी अवधेय है कि **नियम-३** का क्रम भी महत्त्वपूर्ण है। यदि इसे **२-ब** से पहले रखदेते, तो उसके बाद भी इसे फिरसे रखना पड़ेगा, ताकि **'क्रिसं → क्रिसक + नासं'** में कथित **'नासं'** का पूरा विस्तार सम्भव होसके।

हमने देखा है कि पुनर्लेखन घटक-संरचना-व्याकरण में नियमों का क्रम **दो दृष्टियों से अत्यधिक अवधेय** है : अस्वीकार्य अवयव-शृंखला के प्रजनन को रोकने की दृष्टि से और वांछित नियमों की संख्या में कमी की दृष्टि से। कुछ निदर्शनों में यह वांछनीय होसकता है कि नियमों के एक विशिष्ट वर्ग को विविध क्रमों में नियोजित कियाजाए, ताकि उक्त प्रकार की अस्पष्टता दूर की जासके (तु०-६. १. ३)। निदर्शनार्थ, निम्न आकार की संज्ञाओं के सहव्यवस्थापन केलिए एक वैकल्पिक नियम को लें :

(६) **ना → ना + एण्ड + ना**

यदि इसे नियम-५ के पहले विनियुक्त कियाजाए, तब उत्पाद इन **प्रयोगों के रूप** में भी होगा : **'(ओल्ड मेन्) एण्ड विमे॑न्'** और **'मे॑न् एण्ड (ओल्ड वीमे॑न्)'**, आदि। किन्तु उसके बाद प्रयुक्त होने पर **'ओल्ड (मे॑न् एण्ड वीमे॑न्)'** जैसे पदबन्ध परिणत होंगे। अतः **'ओल्ड मे॑न् एण्ड वीमे॑न्'** की यह अस्पष्टता, कि इसे **'(ओल्ड मेन्) एण्ड वीमेन्'** समझाजाए या **'ओल्ड (मेन् एण्ड वीमे॑न्)'**, तब दूर की जासकती है, यदि इसे नियम-५ और नियम-६ के सापेक्ष विनियोग-क्रम की दृष्टि से देखाजाए। फिर भी, यह अवधेय है कि छठे नियम को पांचवें के बाद प्रयोग करने पर उत्पन्न कोष्ठ-बद्ध पदबन्ध—**ओल्ड (मे॑न् एण्ड वीमे॑न्)**—अर्थात्मक दृष्टि से **'(ओल्ड मेन्) एण्ड (ओल्ड वीमेन्)'** के समतुल्य है, जोकि उस दशा में प्रजनित होगा यदि **नियम-६** के बाद **नियम-५** को फिरसे विनियुक्त कियाजाए।

६. २. ६ पुनरावर्त्ती नियम

नामों के समन्वयन के विनियोग की आवश्यकता एक से अधिक बार ही पड़ती है; कदाचित् असंख्य बार ! यह सम्भव है कि **'एण्ड'** (अं०), **'और'** (हि०), आदि से सम्बद्ध करके हम अनिश्चित संख्या में नामों के 'बन्ध' बनालें। व्याकरण में इसकी व्याख्या का सीधा तरीका यही है कि वैकल्पिक नियम भी संनिविष्ट किएजाएं :

(६-अ) ना → ना + एण्ड + ना

(६-ब) **ना → ना + एण्ड + ना + एण्ड + ना**

(६-स) **ना → ना + एण्ड + ना + एण्ड + ना + एण्ड + ना**, इत्यादि ।

किन्तु यह तरीका नितान्त असन्तोषजनक है। क्योंकि इसतरह अंग्रेज़ी में समन्वित होनेवाले नामों की कोई संख्या निश्चित नहीं की जासकती। यह सत्य है कि किसी पाठ में, या आजतक उत्पन्न सभी उक्तियों में, एक या अनेक नाम-संघात ऐसे अवश्य होंगे, जिसमें (या जिनमें) अन्य नाम-संघ की अपेक्षा अधिक सम्बन्धित नाम विद्यमान होंगे। यह भी सम्भव है कि उस भाषा में किसी भी देशी वक्ता द्वारा इससे अधिक घटक नामों से युक्त नाम-संघ के प्रयोग की सम्भावना न हो। तब भी सत्य यही ठहरता है कि हम चाहे कोई भी संख्या 'उच्चतम' के रूप में स्वीकार करलें, फिर भी उससे अधिक संख्या के नामों के 'संघ' के प्रयोग का अवकाश बचा ही रहता है। अतः, अनिश्चित संख्या में वैकल्पिक नियम बनाने के स्थान पर, यह अधिक उचित रहेगा कि हम यह विधान करदें कि **षष्ठ नियम** का प्रयोग **अनिश्चित बार** दोहराया जासकता है। बार-बार दोहराए जानेवाले नियमों को '**पुनरावर्त्ती नियम**' कहते हैं। यह बहुत प्रायिक है कि सभी भाषाओं में ऐसी बहुत सी रचनाएं हों, जिनके प्रजनन में ऐसे पुनरावर्त्तक नियमों का हाथ होता है। इसीप्रकार, अंग्रेज़ी में समन्वयन की एक अन्य स्थिति वाक्यों में विद्यमान **वाक्यान्तरों** की होती है। यही बात विशेषणों द्वारा नाम के परिष्करण की है। (हिन्दी पर भी ये बातें वैसे ही लागू होती हैं।)

यदि हम अपने व्याकरण को वाक्य-प्रजनन केलिए अधिक वास्तविक प्रतिमान बनाना चाहते हैं, और इसका इसरूप में गठन करना चाहते हैं कि यह तीन घटकों की जगह दो घटकवाले, चार की जगह तीन वाले, इत्यादि क्रम से पुनरावर्त्ती संरचनों के अधिकाधिक निदर्शनों को प्रजनित करसके; तब हम नियम के विनियोग की प्रत्येक आवृत्ति-संख्या को एक विशिष्ट प्रायिकता प्रदान करके ऐसा करसकते हैं (प्रायिकताएं एक अनन्त श्रेणी के रूप में प्रजनित होसकती हैं, जिसकी सीमा 'शून्य' है)। इसीप्रकार की प्रायिकता व्याकरण के वैकल्पिक नियमों के किसी विन्यास के प्रत्येक अवयव और प्रत्येक स्वैच्छिक नियम केलिए भी निश्चित की जासकती है। किन्तु हमें घटन की प्रायिकता के साथ व्याकरणात्मकता को उलझा नहीं बैठना चाहिए। यद्यपि कम आवृत्तिवाली किसी विशिष्ट उक्ति की स्वीकार्यता के विषय में देशी वक्ता कुछ झिझक अनुभव करसकते हैं, किन्तु यह बात भी सदा सत्य नहीं होती कि वे अधिक प्रायिकतावाली रचनाओं को, कम प्रायिकतावाली रचनाओं की अपेक्षा, अधिक स्वीकार्य समझें ही।

६. २. ७ पुनरावर्त्ती समन्वित संरचनाएं

आवर्त्ती नियमों के माध्यम से समन्वयन का वर्णन हमारे सामने एक अन्य ही समस्या उपस्थित करदेता है। इस खण्ड में जिसप्रकार के नियमों का विवे-

चन हम कररहे हैं, वे स्वयं से प्रजनित रचना केलिए एक कोष्ठबद्ध संरचना निश्चित करते हैं। हम देखही चुके हैं कि पुनर्लेखन नियमों के विनियोग-क्रम से ही विभिन्न संरचनात्मक स्तरों का निर्धारण होता है। अब हम **'टौम एण्ड डिक एण्ड हैरी'** जैसे पदबन्ध को विचारार्थ लेते हैं। इस प्रकार की शब्द-शृंखला पूर्वोक्त नियम-६ के द्विगुण विनियोग से प्रजनित होगी। किन्तु इसका प्रजनन व्याकरण की दृष्टि से अस्पष्ट ही रहेगा : या तो **'टौम एण्ड (डिक एण्ड हैरी)'** के रूप में, या फिर **'(टौम एण्ड डिक) एण्ड हैरी'** के रूप में (यह अस्पष्ट ही रहेगा)। (तीन से अधिक समन्वित संज्ञाओं से युक्त नाम-संघ कई भिन्न रीतियों से प्रजनित होसकते हैं, औरइसीलिए व्याकरण द्वारा वे 'बहुगुण अस्पष्ट' कहलाएंगे।) यद्यपि इन उदाहरणों जैसा कोष्ठबन्धन कुछ स्थलों पर प्रातिभ रूप से सन्तोषप्रद होसकता है, सामान्यतः हम तीन या अधिक नामों से बने नाम-संघों को आन्तरिक रूप से कोष्ठबन्धन से हीन ही देखना चाहेंगे। अतः घटक-संरचनी व्याकरण समन्वयन के वर्णन के सम्बन्ध में हमारे सामने एक दिग्भ्रम उपस्थित करता है। पुनरावर्तक नियम प्रातिभ दृष्टि से शुद्ध-संरचनी वर्णन प्रदान करने में असफल रहेंगे। किन्तु इसप्रकार की रचनाओं की असंख्येयता के प्रजनन को देखते हुए इन नियमों की आवश्यकता बनी ही रहेगी। यहां हमने केवल दिग्भ्रम की ओरही इंगित किया है। (**रचनान्तरक व्याकरण** की चर्चा करनेवाले ग्रन्थों में इसपर पर्याप्त विचार हुआ है।)

६. २. ८. असन्तत घटक

अबतक के सम्पूर्ण विवेचन में हम यह मानकर चले हैं कि किसी भी रचना के घटक सदा ही वाक्यों में एक-दूसरे के बाद आते हैं। '*John called Bill up*' जैसे वाक्य पर विचार करने से पता चलता है कि बात ऐसी नहीं है। इस वाक्य में '*called...up*' को **'असन्तत घटक'** कहा जासकता है, जिनके बीच '*Bill*' के रूप में एक और रचनागत घटक आ गया है। अब हम निम्न तीन वाक्यों की तुलना करके यह देखेंगे कि प्रजनक व्याकरण में इनका उपचार कैसे सम्भव है :

(क) *John called up Bill*

(ख) *John called Bill up*

(ग) *John called him up*

यहाँ प्रमुख अवधेय बात यह है कि **'कॉल्ड अप'** स्वैच्छिक रूप में तब **असन्तत** होता है, जब **'कर्म'** कोई **नामशब्द** होता है; किन्तु यही अनिवार्य रूप में **असन्तत** होजाता है, जब **'कर्म' सर्वनाम** के रूप में होता है (***'जोन कॉल्ड अप हिम'** के रूप में रचना अस्वीकार्य मानी जाएगी)। हम न केवल यही कहेंगे कि **'कॉल्ड अप'** उक्त तीनों ही वाक्यों का **घटक** है; बल्कि यह भी कि एक अर्थ में, या किसी निरपेक्षतर स्तर पर, तीनों ही वाक्यों की घटक-संरचना **एक** कही जासकती है। अब हम घटक-संरचना-नियम की

जगह एक ऐसा नियम बनाएँगे, जो (क) और (ख) में 'अन्तर्हित' **अन्त्य सूत्र** पर **स्वैच्छिक रूप** में लागू होगा, जबकि (ग) में वह **अनिवार्य रूप** में लागू होगा। इस नियम का प्रभाव यह होगा कि 'कर्म' एक ही क्रिया—'**कॉल्ड अप**'—के दो भागों के बीच में प्रयुक्त होजाएगा। यदि हम इसके विनियोग के अनुबन्धों—क्रिया की श्रेणी और 'कर्म' के प्रत्यायन—को सूचित करसकें, तब हम 'असन्तत घटकों' की समस्या को अधिक सन्तोषप्रद रूप में हलकर पाएँगे।

उन्मुक्त पद-व्यवस्था-वाली भाषाओं के विषय में यही प्रकार शेष रहजाता है, और अधिक सामान्यतः विनियुक्त भी होता है। अंग्रेजी वाक्य '**कैटल्लस लव्ड क्लोडिया**' (*Catullus loved Clodia*) को **लैटिन** की इन छह रचनाओं के माध्यम से व्यक्तकिया जासकता है: *(1) Catullus Clodiam amabat, (2) Catullus amabat Clodiam, (3) Clodiam Catullus amabat, (4) Clodiam amabat Catullus, (5) Amabat Clodiam Catullus,* और *(6) Amabat Catullus Clodiam*. (इन छहों प्रयोगों में बल या सहचारी सन्दर्भात्मक प्राक्कल्पनाओं में अन्तर है; किन्तु 'स्वीकार्य' ये छहों ही हैं।) '**कैटुल्लस्**' रूप का (**कैटुल्लम या कैटुल्ली** की तुलना में) प्रयोग बताता है कि यह कर्त्ता कारक, प्रथमा विभक्ति का रूप है; और (**क्लोडियाए, क्लोडिया,** की तुलना में) '**क्लोडियाम्**' का रूप द्वितीया विभक्ति में कर्म कारक की सूचना देता है। इस वाक्य के छहों वैकल्पिक रूपों के प्रजनन का सरलतम मार्ग परिकलन के अधिपूरक नियमों के एक ऐसे विन्यास के रूप में प्रतीत होगा, जोकि एक ही अन्त्य सूत्र पर कार्य करे। यदि लैटिन में सभी पद-व्यवस्था पूर्णतः 'उन्मुक्त' होती, तब पूरक नियम अत्यधिक सरल रहे होते। किन्तु, यह सत्य, कि लैटिन के वाक्यों में कुछ पदों की व्यवस्था पर कुछ संयमन हैं, प्रश्न को कुछ उलझादेता है। किन्तु, इसपर भी, हमारा प्रदर्श्यमान सिद्धान्त अप्रभावित रहता है।

६. २. ६. 'अधिपूरक' नियम

असन्तत घटकों और उन्मुक्त शब्द-व्यवस्था के इस विमर्श ने हमारे सम्मुख यह दृष्टि उपस्थित की कि किसी भाषा का व्याकरण दो प्रकार के नियमों से सम्पन्न होता है: **एक ओर**, 'संघ-संरचना' नियमों से, और **दूसरी ओर**, उन 'अधिपूरक' नियमों से, जिनका कार्य घटक-संरचना-नियमों द्वारा जनित अन्त्य सूत्रों को वास्तविक वाक्यों में 'रचनान्तरित' करदेना है (या, अधिक शुद्ध रूप में, उन अवयव-शृंखलाओं में रचनान्तरित करना, जो वाक्यों से सीधे रूप में सम्बद्ध होती हैं)। **हम घटक-संरचना** की इस अधिक 'निरपेक्ष' दृष्टि पर बाद के एक खण्ड में विचार करेंगे (दे०-६. ६)।

६. २. १०. मिश्र वाक्य

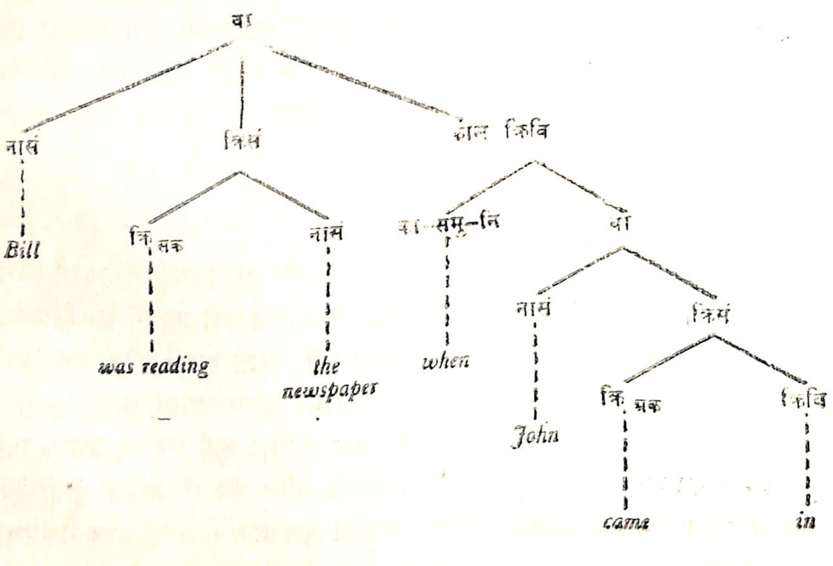
कुछ सीमाओं तक घटक-संरचनी व्याकरण जटिल और सरल वाक्यों के निर्माण को समान रूप में परिचालित करसकता है (तु०-५. २. ६)। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी के *'Bill was reading the newspaper when John arrived'* जैसे वाक्य एक ऐसी पुनर्लेखन-नियम-प्रणाली के द्वारा प्रजनित होसकते हैं, जिसमें निम्न नियमों का ग्रहण हो :

(क) वा → नासं + क्रिसं (कालक्रिवि)

(ख) कालक्रिवि → { कर्मप्रवचनीय + कालनाम / काल-समुच्चय-निपात + वा }

यह अवधेय है कि (क) नियम के द्वारा 'काल-क्रियाविशेषण' को वाक्य के एक स्वैच्छिक घटक के रूप में संनिविष्ट कियागया है : कोष्ठ-चिह्न के द्वारा इसकी स्वैच्छिकता की सूचना मिलती है। हम यह मानलेते हैं कि (ख) नियम भी स्वैच्छिक है : अब यदि इसका प्रयोग न भी कियाजाए, तबभी 'काल-क्रियाविशेषण, अन्त्य सूत्र में प्रकट होगा, और इसके स्थान पर *'yesterday'* आदि का प्रयोग किया जासकेगा। दूसरी ओर, यदि (ख) नियम का विनियोग कियाजाए, और 'कर्मप्र + कालनाम' वाले विकल्प को अपनाया जाए, तब अन्तिम परिणाम *'on Tuesday'* या *'in March'* आदि के रूप में होगा। (कालनामों की विविध उपश्रेणियों के साथ विविध कर्मप्रवचनीयों की सहघटना के विधान केलिए, एवं *'last week'* जैसे प्रयोगों के प्रजनन केलिए, इससे अधिक नियम वांछित होंगे।) किन्तु, यहाँ (ख) का दूसरा स्वैच्छिक प्रयोग **'काल-समुच्चय-निपात + वा'** ही हमें अभिप्रेत है। इस विकल्प का

आरेख-११



चुनाव ही, घटक वाक्य के उचित विकास के साथ, '*when John came in*' के प्रयोग का हेतु बताएगा (और 'yesterday' या 'on Tuesday' की भाँति इसे भी **'काल-क्रियाविशेषणिक'** के रूप में श्रेणीबद्ध करेगा)। **'बिल् वाज़ रीडिङ् द न्यूज़पेपर व्हे॑न् जोन केम् इन्'** जैसे वाक्य की घटक-संरचना का निदर्शन आरेख-११ में निर्दशित कियागया है।

पुनर्लेखन-नियम में 'प्रथम प्रतीक' का दाईं ओर समावेश व्याकरण में 'पुनःचक्रण' की सम्भावना को संनिविष्ट करता है। वाक्यान्तरों या वाक्यान्तर-घटकों के वाक्यों में समावेश केलिए यह अभिलक्षण निश्चय ही वांछनीय है: **'उसने कहा कि···'** या, **'जिस आदमी ने···वह आज ही आया है'**, इत्यादि। किन्तु यहीं यह भी स्पष्ट है कि **वाक्य**-समावेश के ऐसे नियम मिश्र वाक्यों के ऐसे **अभिलक्षणों** की व्याख्या में असमर्थ होते हैं, जिन्हें परम्परागत रूप से घटक वाक्यान्तरों में **'लकार-शृंखला'** के रूप में जानाजाता है (अतएव ऐसे वाक्यों के प्रजनन का निषेध भी होता है: यथा, *'**बिल् वाज़ रीडिङ् द न्यूज़पेपर व्हे॑न् जोन हैज़ केम् इन्**')। अगले खण्डों में हम इस, तथा इससे सम्बद्ध, प्रश्नों के सम्बन्ध में अधिक चर्चा करेंगे। प्रस्तुत प्रयोजन की दृष्टि से यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि हमने यह स्पष्ट करदिया है कि कोई पुनर्लेखन-घटकसंरचना-व्याकरण किस प्रकार परम्परागत रूप से **मिश्र** और **सरल** वाक्यों के बीच पहचाने गए विभेद को निरूपित कर सकता है: ऐसे नियम-समूह से बना कोई भी वाक्य, जिसके किसी एक नियम के अनुसार दाईं ओर 'प्रथम प्रतीक' स्थित रहता हो, 'मिश्र' कहलाता है; शेष सभी वाक्य 'सरल' होते हैं।

६. २. ११ सन्दर्भ-मुक्त पदबन्ध-रचनात्मक व्याकरणों का रूपायण

इस खण्ड में अब तक दिएगए घटक-संरचना-सम्बन्धी सामान्य नियम **क → ख** प्रकार के हैं (अर्थात्, वाक्य-संश्लेषण में **'क'** के स्थान पर 'ख' पुनर्लिखित करने वाले)। इस प्रसंग में **'क'** और 'ख' द्वारा स्वीकृत मूल्यों के विषय में इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं कहागया है कि प्रणाली के प्रथम नियम में स्थित **'प्रथम प्रतीक'** अर्थात् **'वा'** का स्थान वही होना चाहिए, जो यहाँ **'क'** का है (अर्थात् बाईं ओर) एवं व्याकरण द्वारा प्रजनित सूत्र में स्थित अन्त्य प्रतीक (**ना**, क्रिसक, क्रिअक, **वि**, आदि) इन शब्द-श्रेणियों को सूचित करते हैं: **ना = {बालक, कन्या,···}**, क्रिसक = {**खाना, मारना,...**}, क्रिअक = {**मरना, जाना,...**}, त्रि = {**भद्र, वृद्ध...**}। **ऐसे नियम, जिनमें 'क' को 'ख' में बदलने में सन्दर्भ का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं रहती, 'सन्दर्भ-मुक्त' नियम कहलाते हैं।** (६. ५. १ में हम इस प्रश्न पर अधिक विचार करेंगे।)

सन्दर्भ-मुक्त घटक-संरचनी व्याकरण के रूपात्मक अभिलक्षणों का अध्ययन गत वर्षों में अत्यन्त सघन रूप में हुआ है। शोम्स्की एवं अन्य विद्वानों ने किसी **प्रणाली में नियमों की क्रम-व्यवस्था**, स्वैच्छिक और अनिवार्य नियमों के सहवर्त्तित्व **एवं वैकल्पिक अथवा पुनरावर्त्ती नियमों के** प्रणाली में निवेश के प्रभाव पर पर्याप्त

विचार किया है। उन्होंने कहा भी है कि तब 'क' और 'ख' के मूल्यों पर दो महत्व-पूर्ण प्रतिबन्ध 'क→ख' नियम के अन्तर्गत लगाने होंगे, यदि इन नियमों से युक्त व्याकरण को हम इसके द्वारा प्रजनित वाक्यों की एक अपूर्व संरचना देने में समर्थ होता देखना चाहते हैं। ये **दोनों प्रतिबन्ध** हैं: (१) 'क' और 'ख' समरूप नहीं होने चाहिएँ (अर्थात् '**क**' के स्थान पर '**क**' ही दुबारा नहीं लिखाजाना चाहिए); (२) '**क**' एक प्रतीकमात्र होना चाहिए, जबकि 'ख' को एकाधिक प्रतीकों के सूत्र के रूप में होना चाहिए। कुछ विद्वानों ने ऐसे घटक-संरचनी व्याकरण भी निर्मित किए हैं, जिनमें 'ख' पर कुछ विशिष्टतर प्रतिबन्ध लगाएगए हैं। यथा, यह केवल दो ही घटकों (उदा०-**नासं**+**क्रिसं** या **क्रिसक**+**ना**) के योग से ही निर्मित होना चाहिए। इसप्रकार की सीमाओं के निहितार्थ की पूर्णतर व्याख्या केलिए पाठक को अधिक तकनीकी ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

६. २. १२ निर्बल और सबल समतुल्यता

व्याकरण के इस सैद्धान्तिक अध्ययन का (जिसमें **न्याय** और **गणित** की रूपायित प्रणालियों के अनुसन्धान से लाभ उठायागया है) सर्वप्रमुख परिणाम यह हुआ है कि इससे यह सिद्ध होगया है कि विविध रूपात्मक गुणों से युक्त होकर भी घटक-संरचनी व्याकरण उन्हीं वाक्यों का सृजन करसकते हैं। एकजैसे वाक्यों के विन्यास को जन्म देनेवाले व्याकरण 'निर्बल समतुल्य' कहलाते हैं; जबकि 'सबल समतुल्य' व्याकरण वे कहलाते हैं, जो न केवल उन्हीं वाक्यों को जन्म देते हैं बल्कि विवरण में भी एकसमान होते हैं। **सबल** और **निर्बल** के इस भेद को समझाने केलिए हम पूर्वोक्त 'पुनर्लेखन' व्याकरण से भिन्न प्रकार के घटक-संरचनी व्याकरण का एक उदाहरण लेंगे: यथा 'कोटिबद्ध' व्याकरण।

६. ३ कोटिबद्ध व्याकरण

६. ३ १ मूल और व्युत्पन्न कोटियां

कोटिबद्ध व्याकरणों का आरम्भ **लेज़्निएव्स्की** के अनुयायी पोलिश तार्किक **आजुकीविक्ज** के ग्रन्थों से हुआ। बाद में उनका अधिक विकास **बारहिल्लेल**, **लाम्बेक**, तथा अन्य समकालिक तार्किकों और भाषाविदों के हाथों हुआ। (इस प्रसंग में '**कैटेगोरियल**' या '**कोटिबद्ध**' संज्ञा का चुनाव तर्क और दर्शन के इतिहास में हुए विशिष्ट विकास से समझ में आसकता है; हम उसके विस्तार में नहीं जाएंगे।)

'कोटिबद्ध' व्याकरण-प्रणाली में केवल दो आधारभूत या मूल कोटियों को स्वीकृति प्रदान कीजाती है—**वाक्य** और **नाम**। इन्हें हम क्रमशः **वा** और **न** के रूप में प्रतिनिहित करेंगे। नामों के अतिरिक्त अन्य सभी शब्दों को कोष में **व्युत्पन्न**

कोटिगत श्रेणीकरण में, वाक्यों की घटक-संरचना में उनकी एक-दूसरे के साथ अथवा अन्य मौलिक इकाइयों के साथ सम्बन्धन-योग्यता के अनुसार, आबद्ध कियाजाता है। ये व्युत्पन्न कोटियां इस दृष्टि से 'मिश्र' होती हैं, कि ये एक साथ ही (१) यह भी बताती हैं कि उसी क्रम में वाक्य-घटक के निर्माण में कोई अवयव किस अन्य कोटि के साथ संहत होसकता है, तथा (२) यह उस कोटिगत श्रेणीकरण की भी सूचना देती हैं, जो इस प्रक्रिया में घटक को प्राप्त होता है। एक सरल उदाहरण के रूप में : **'दौड़ना'** या **'खड़ा होना'** जैसा अवयव (अकर्मक क्रिया) किसी नाम (**कर्त्ता**, आदि) के साथ मिलकर वाक्य की रचना करसकता है : उदाहरणार्थ, **'राम दौड़ा'**, **'मोहन खड़ा है'**, आदि। (हम अभी **'काल'** और **'संवादिता'** आदि के प्रश्न पर विचार नहीं करेंगे।)

६. ३. २ 'निरसन' या 'काट'

बारहिल्लेल के अर्ध-गणितीय अंकन की दृष्टि से 'दौड़ना' जैसे अवयवों के कोटिगत वर्गीकरण को **'भिन्न'** (फ्रैक्शन) के रूप में व्यक्त कियाजाता है, जिसका **भाजक** उस कोटि का निर्देश करता है, जिसके साथ ये अवयव (दौड़ना आदि) संयुक्त होकर 'वाक्य' का निर्माण करते है। इस प्रकार 'दौड़ाना' आदि का कोषीय वर्गीकरण : $\frac{\text{वा}}{\text{न}}$ के रूप में : इस बात का सूचक है कि ऐसे अवयव 'नाम' के साथ मिलकर वाक्य की रचना में प्रवृत्त होते हैं। अब **'दौड़ना'** के इस श्रेणीकरण को मानकर और **राम, मोहन** आदि को **नाम (न)** मानकर हम यह जानते हैं कि **'राम दौड़ा'** व्याकरणात्मक दृष्टि से एक सुगठित वाक्य है। हम इस तथ्य को स्वतः ही गणितीय **'निरसन-नियम'** के अनुकरण पर बने सरल **'निरसन-नियम'** के द्वारा जानसकते हैं :

$$\text{जिस तरह } \text{य} \times \frac{\text{क्ष}}{\text{य}} = \text{क्ष}, \text{ उसी तरह } \text{न}.\frac{\text{वा}}{\text{न}} = \text{वा}$$

(यदि हम समरूप होने पर गुणक और भाजक को आपस में 'निरस्त' करदें, जैसा कि इस उदाहरण पर लागू होता है, तब हमारे पास **'वा'** बच जाता है, जिससे सूचित होता है कि अभिव्यक्ति **'वाक्य'** ही है। यहां बिन्दु का प्रयोग रैखिक अनुबन्धन की सूचना केलिए ही कियागया है।) किन्तु, इस प्रणाली को इस बात में भी समर्थ होना चाहिए कि वह अव्याकरणात्मक शृंखलाओं का बहिष्कार भी कर सके : यथा $= \frac{\text{वा}}{\text{न}}.\text{न}$ (**दौड़ा राम**, जैसी)। अतः हमें उस दिशा का भी निर्देश करना चाहिए, जिसमें किसी अवयव का संघात होना है : बाएँ, दाएँ, आदि। इसकी सूचना केलिए हम विभाजक रेखा को उस दिशा की ओर बाणशीर्ष से अंकित कर देंगे, : $\frac{\text{वा}}{\leftarrow\ \text{न}}$ का अर्थ है कि वाक्य-रचनार्थ नाम के साथ संयुक्त होनेवाला अवयव

बाईं ओर रहेगा; जबकि $\overset{\text{न}}{\underset{\text{न}}{\rightarrow}}$ का अर्थ है निर्धन, स्वस्थ, आदि विशेषण नाम के दाईं ओर संयुक्त होकर 'नाम' की (या नाम-संघ की) रचना करते हैं।

६. ३. ३ मिश्र कोटियां

व्युत्पन्न कोटियों की गुणक या भाजक केवल मौलिक कोटियां ही नहीं होतीं, बल्कि व्युत्पन्न कोटियां भी इस रूप में रहसकती हैं। उदाहरणार्थ, 'क्रियाविशेषण' का 'क्रिया' के साथ बाईं ओर संयोग भी उसे 'क्रिया' या **'क्रियासंघ'** के रूप में ही रखता है। दूसरे शब्दों में, यह एक ऐसे अवयव के बाईं ओर जुड़ता है, जो स्वयं 'नाम' के बाईं ओर जुड़कर **'वाक्य'** बनाता है। (सरलता केलिए हम केवल अकर्मक क्रियाओं का ही उदाहरण लेंगे और इस तथ्य को भी विचार में नहीं लेंगे कि 'क्रियाविशेषण' किसी अन्य कोटि में भी श्रेणीबद्ध किया जासकता है।) यह इस भिन्न के द्वारा सूचित होगा :

$$\overset{\left(\overset{\text{वा}}{\underset{\text{न}}{\leftarrow}}\right)}{\underset{\left(\overset{\text{वा}}{\underset{\text{न}}{\leftarrow}}\right)}{\leftarrow}}$$

६. ३. ४ सम्भाव्य विस्तार

जिस कोटिबद्ध प्रणाली की चर्चा हमने की है, वह सापेक्ष रूप में सरल है; इस पर भी हमारे प्रयोजन केलिए पर्याप्त सन्तोषजनक है। यह प्रणाली इस दृष्टि से **उभयदिक्** कहलासकती है कि इसमें होने वाला संयोग दाईं और बाईं दोनों ओर होसकता है। इसका प्रसार कई रूपों में किया जासकता है (व्युत्पन्न कोटि में दो या अधिक सानुबद्ध कोटियों के भाजक विद्यमान होने से; किसी अवयव को एक साथ ही दाएं और बाएं संहत होने की अनुमति देकर; इत्यादि—हमें इसके प्रभाव की चर्चा में यहां नहीं जाना)। और, इस प्रसार पर यह बन्धन होना चाहिए कि यह एक ही विशिष्ट दिशा में कार्य करेगा। यह भी अवधेय है कि पूर्वोक्त **पुनर्लेखन-प्रणाली** की भाँति यह कोटिबद्ध प्रणाली **'असन्तत घटकों'** की समस्या का समाधान नहीं करती (६. २. ८)।

६. ३. ५ अंकनात्मक प्रचलन

यहां पर हम लघुकारी 'अंकनात्मक-प्रचलन' को समाविष्ट करना चाहेंगे, जिसका इस प्रणाली की रूपात्मक धारिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह प्रचलन इसप्रकार है कि उसी भिन्न के घटकों को कोष्ठबद्ध करके व्यवस्थित रूप में लिख

दियाजाए, जिसमें भाजक का स्थान गुणक के बाद आता है, और उसके ऊपर दिशा सूचक बाण बना होता है। इस प्रचलन के अनुसार **'दौड़ना'** की सूचना **(वा $\overleftarrow{\text{न}}$)** के द्वारा, 'निर्धन' की सूचना (न $\overleftarrow{\text{न}}$) के द्वारा, एवं 'दूर' आदि क्रियाविशेषणों की सूचना {(वा $\overleftarrow{\text{न}}$) (वा $\overleftarrow{\text{न}}$)} के द्वारा मिलती है।

६. ३. ६ घटक-संरचना का 'कोटिबद्ध' विश्लेषण

अब हम इस सरल उभयदिक् कोटिबद्ध व्याकरण को **ब्लूमफ़ील्ड** के निदर्शन **'पूअर जोन रैन अवे'** पर घटाकर देखेंगे। सभी कोषीय अवयवों का कोटिबद्ध श्रेणीकरण पहले ही देदिया गया है। हम उन्हें वाक्य के शब्दों के नीचे लिखेंगे :

पूअर		**जोन**		**रैन**		**अवे**
($\overrightarrow{\text{न न}}$)	.	$\overleftarrow{\text{न}}$	.	{(वा $\overleftarrow{\text{न}}$)	.	(वा $\overleftarrow{\text{न}}$)}

अब रही बात 'निरसन' की। यह तो स्पष्ट ही है कि प्रथम चरण में तीन सम्भावनाएं हैं : (१-क) **'पूअर'** का **'जोन'** के साथ निरसन, (१-ख) **'जोन'** का **'रैन'** के साथ निरसन, और (१-ग) **'रैन'** का **'अवे'** के साथ निरसन। किन्तु, यदि (१-ख) को चुनें, तब परिणाम होगा :

(१-ख) (न $\overrightarrow{\text{न}}$). वा. {(वा $\overleftarrow{\text{न}}$) (वा $\overleftarrow{\text{न}}$)}

जिसके अनुसार **'जोन रैन'** तो वाक्य के रूप में स्वीकृत होजाता है, जब कि **'पूअर'** और **'अवे'** का वाक्यातिरिक्त कोई विवरण उपलब्ध नहीं रहता। यदि (१-क) को चुनें, तब परिणाम होगा :

(१-क) न. (वा $\overleftarrow{\text{न}}$). {(वा $\overleftarrow{\text{न}}$) (वा $\overleftarrow{\text{न}}$)}

इसमें दो सम्भावनाएं हैं : और यह स्पष्ट है कि, वाक्य का अवशेषहीन विश्लेषण करने केलिए, हमें **'रैन'** का **'अवे'** के साथ 'निरसन' करना होगा, ताकि परिणाम मिले :

(२) **न. (वा $\overleftarrow{\text{न}}$);**

और अन्ततः,

(३) **वा**

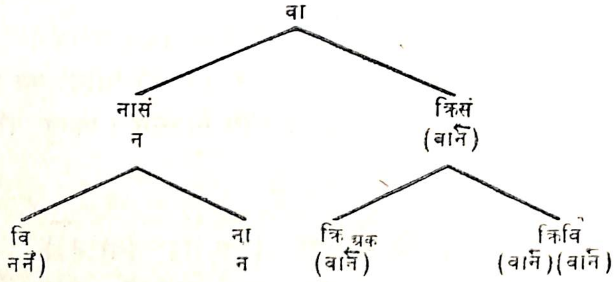
या, वैकल्पिक रूप में, हम पहले (१-ग) के रूप में 'रैन' को 'अवे' के साथ संहत करदें, और तब 'पूअर' को 'जोन' के साथ। दूसरे शब्दों में, हमने उन्हीं अवयवों को एक भिन्न रूप में निरस्त करदिया।

६. ३. ७ पदबन्धरचनात्मक और कोटिबद्ध विश्लेषण की तुलना

इस प्रकार 'निरसन' से 'कोष्ठबन्धन' की वह धारणा भी प्रतिफलित होती है, जिसके साथ इस खण्ड में हमारा सम्बन्ध है। यह स्पष्ट है कि हमने इस वाक्य का जो विश्लेषण किया है, वह ब्लूमफ़ील्ड द्वारा किये विश्लेषण से मिलता है : अर्थात् यह दो **सन्निहित घटकों**—**'पूअर जोन'** और **'रैन अवे'**—से मिलकर बना है, जिनमें से प्रत्येक घटक के फिर दो 'सन्निहित घटक' हैं—**पूअर** और **जोन** एक ओर, तथा **रैन** और **अवे** दूसरी ओर। अब हम इस कोटिवद्ध विश्लेषण की तुलना निम्न 'पुनर्लेखन' नियमों पर आधारित विश्लेषण के साथ करेंगे (६. २. २) :

(१) **वा** → **नासं**+**क्रिसं**
(२) **क्रिसं** → **क्रिअक**+**क्रिवि**
(३) **नासं** → **वि**+**ना**

आरेख-१२



आरेख-१२ में दिये संयुक्त प्रशाखी आरेख से स्पष्ट होगा कि दोनों व्याकरणों में समतुल्यता 'निर्बल' नहीं है। (क्योंकि वे दोनों एक ही वाक्य-विन्यास को जन्म देते हैं। यह तथ्य, कि हमने 'कोटिबद्ध प्रणाली' को 'प्रत्यायन व्याकरण' के रूप में और 'पुनर्लेखन-प्रणाली' को 'उत्पादक व्याकरण' के रूप में उपस्थित किया है, यहां बिचार्य नहीं है : ४. ३. १।) उक्त दोनों में उक्त वाक्य का कोष्ठबन्धन भी समतुल्य ही है। इसपर भी उन्हें हर दृष्टि से समतुल्य नहीं कहा जासकता। सर्वप्रथम यह अवधेय है कि 'पुनर्लेखन-प्रणाली' में (**नासं** और **क्रिसं के**) दो सहायक प्रतीक हैं। ये दोनों उन चारों 'अन्त्य प्रतीकों' के अतिरिक्त हैं, जो व्याकरणात्मक श्रेणियों को द्योतित करते हैं (**ना**, **क्रिअक**, **वि** और **क्रिवि**)। परिणामतः, जहां कोटिबद्ध विश्लेषण यह बताता है कि **'पूअर जोन'** पदबन्ध 'जोन' की कोटि का ही है और **'रैन अवे'** **'रैन'** की कोटि का; वहां पुनर्लेखन प्रणाली से यह पता नहीं चलता। किन्तु, हम **'नासं'** के स्थान पर **'ना'** और **'क्रिसं'** के स्थान पर **'क्रिअक'** लाकर पुनर्लेखन-प्रणाली को कोटिबद्ध प्रणाली के पूर्णतः समतुल्य बना सकते हैं। (इसके निहितार्थों के विवेचन में हम यहां नहीं जाएंगे।) दोनों प्रणालियों के बीच मुख्य अन्तर इस बात में है कि पुनर्लेखन-प्रणाली से भिन्न रूप में 'कोटिबद्ध व्याकरण' प्रत्येक रचना के एक

घटक को दूसरे पर 'आश्रित' बताता है : यह 'कोटिबद्ध अंकन' यह भी बताता है कि अधिक मिश्र श्रेणीकरण वाला अवयव **'आश्रित'** होता है; और यह बात 'निरसन' के प्रचालन केलिए अत्यधिक मूलभूत है। इस 'आश्रितता' की धारणा को 'पुनर्लेखन' प्रणाली में आंशिक और अप्रत्यक्ष रूप में ही प्रतिनिहित कियागया है। यथा, **ना→ वि+ना** जैसे नियम से यह अर्थ लिया जासकता है कि '**वि**' '**ना**' पर आश्रित है; किन्तु, **वा→नास+क्रिस** या **वा→ना+**क्रिअक जैसे सूत्रों से दोनों घटकों में विद्यमान पराश्रितता का परिणाम नहीं निकाला जासकता। इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'कोटि-प्रणाली' 'पुनर्लेखन-प्रणाली' से अधिक अच्छी है; बल्कि यह कि दोनों सबल समतुल्य नहीं हैं। दोनों मेंसे किसी एक को प्रमुखता देने के कारण भिन्न होसकते हैं। यदि ऐसा हो, तब हमें कहना चाहिए कि इन दोनों मेंसे एक दूसरी की अपेक्षा सबलतः पर्याप्त है। इस प्रश्न पर अधिक विचार हम कुछ आगे चलकर करेंगे (६. ५. ७)।

६. ४ बहि.केन्द्रिक और अन्त:केन्द्रिक रचनाएं

६. ४. १ वितरणात्मक व्याख्या

अब हम सन्निहित-घटक-विश्लेषण के वितरण-आधार पर अधिक निकटता से विचार करसकते हैं। रचनाओं को हम उनके और घटक अवयवों के वितरण के आधार पर, ब्लूमफ़ील्ड की परिभाषा में, **'अन्त:केन्द्रिक'** और **'बहि:केन्द्रिक'** के रूप में श्रेणीबद्ध करसकते हैं। **'अन्त केन्द्रिक रचना'** वह कहलाती है, जिसका वितरण अपने घटकों के वितरण के समरूप हो। इससे भिन्न कोई भी रचना **'बहि:केन्द्रिक'** कहलाती है। (दूसरे शब्दों में, **'अन्त:केन्द्रिक'** की तुलना में **'बहि:केन्द्रिक'** को एक **अभावात्मक परिभाषा** मानागया है। हर रचना इनमें से एक या दूसरी श्रेणी से सम्बद्ध होती है।) उदाहरणार्थ, **पूअर जोन** या **निर्धन मोहन** प्रयोग **अन्त:केन्द्रिक** होते हैं, क्योंकि इनका वितरण **'जोन'** और **'मोहन'** के ही तुल्य होता है। उस किसी भी वाक्य में जहां **'जोन'** या **'मोहन'** का प्रयोग सम्भाव्य है, **'पूअर जोन'** या **'निर्धन मोहन'** का प्रयोग भी ठीक उसी स्थान पर होसकता है। और, क्योंकि 'जोन' या 'मोहन' 'नाम' हैं, अतः उनसे बना पदबन्ध भी 'नाम' ही कहलायेगा। दूसरी ओर, **'दिल्ली में'** प्रयोग बहि:केन्द्रिक है, क्योंकि इसका वितरण न तो **'में'** के समतुल्य है और न ही **'दिल्ली'** के। इसका वितरण **'यहां, वहां'** आदि स्थानसूचक अव्ययों के तुल्य है। इसीलिए इसे **'क्रियाविशेषणिक बन्ध'** या **'अव्ययबन्ध'** के रूप में कहाजाता है। इन उदाहरणों से पता चलता है कि यद्यपि परम्परागत व्याकरण में अन्त-केन्द्रिक और बहि:केन्द्रिक रचनाओं के बीच विभेद नहीं कियागया था, तथापि 'प्रकार्य' के सम्बन्ध में परम्परागत धारणा (जिसके अनुसार **'निर्धन मोहन'** को **'नामवत्'** कार्य करते मानाजाता है, और **'दिल्ली में'** को **'अव्ययवत्'**) की सहज व्याख्या विचाराधीन अवयवों के वितरण की दृष्टि से की जासकती है।

प्रायः यह कहाजाता है कि कोई भी रचना पूर्णतः वही वितरण नहीं रखती, जैसाकि उसके घटकों का होता है। यह भी कि किसी रचना के स्थान पर उसी का घटक स्थानापन्न करदेने से कई अस्वीकार्य उक्तियां भी परिणत होजाएंगी। निस्संदेह यह सत्य है। किन्तु, जैसा कि हमने एक पहले अध्याय में देखा है, किसी भी अवयव के वितरण से हमारा अभिप्राय यह नहीं होता कि उस अवयव द्वारा घटित सभी उक्तियों का ग्रहण हो; बल्कि उन उक्तियों का, जिनकी स्वीकार्यता का विवरण व्याकरण-वर्णन में उपलभ्य है। इनकी सीमा का निर्णय 'हीयमान लाभ' के नियम द्वारा होता है (तु०-४. २. ११)। इसलिए, इसी अर्थ में कोई दो अवयव या तो एक-सा वितरण रखते हैं या नहीं रखते; अथवा रचनाएं अन्तःकेन्द्रिक होती हैं या बहिःकेन्द्रिक ! अंग्रेज़ी का कोई भी व्याकरण नाम क्रिया, विशेषण, आदि अनेक उपश्रेणियों को मान्यता देगा। उदाहरणार्थ, **संख्येय और असंख्येय** (पिण्ड) संज्ञाओं के बीच विभेद किया ही जायेगा (ताकि **'मैं शराब पसन्द करता हूँ'**, जैसे वाक्यों की **स्वीकार्यता** और **'मैं लड़के को पसन्द करता हूँ'** जैसे वाक्यों की **अस्वीकार्यता** (यदि वक्ता नरभक्षी नहीं है) आदि को स्पष्ट किया जासके); तथा **मानवीय** और **मानवेतर** नामों के बीच विभेद को (अंग्रेज़ी के *who, which*, आदि; संस्कृत के **कः**, **किम्**. आदि के वितरण को स्पष्ट करने केलिए) एवं **एकवचन** और **बहुवचन** नामों के बीच विभेद को (वचनगत अनुकारिता को समझाने केलिए : अंग्रेज़ी के *'the boy is...'*, *'the boys are...'* आदि अथवा संस्कृत के **'छात्रः पठति'**, **'छात्राः पठन्ति'**, आदि में) स्पष्ट किया ही जाएगा। यही बात **पुंल्लिंग**, **स्त्रीलिंग**, आदि के विषय में भी है। जब हम कहते हैं कि कोई दो नाम एक ही वितरण वाले हैं, तब हम यह कहना चाहते हैं कि व्याकरण द्वारा उपलब्ध वितरणात्मक उपवर्गीकरण के निम्नतम स्तर पर वे दोनों एक ही 'वर्ग' में रखे जाते हैं। किन्तु, हम कह सकते हैं कि वे दोनों विशिष्ट विविध 'गहराइयों' पर समान वितरण वाले है। इसप्रकार, श्रेणीकरण के अपेक्षाकृत उच्च स्तर पर सभी **नाम** (**नाम-संघ** और **नाम-वाक्यान्तर** भी) एकसा ही वितरण रखते हैं, जिनके लिए बिना शर्त '**नाम**' संज्ञा प्रयुक्त की जासकती है। निम्न स्तर पर कोई भी दो नाम विविध वितरण वाले होसकते हैं, जैसे '**प्राण**' या '**अप्राण**' के रूप में, आदि। अतः **अन्तःकेन्द्रिक** और **बहिःकेन्द्रिक** जैसी धारणाएं भी उपवर्गीकरण की किसी विशिष्ट 'गहराई' की दृष्टि से ही प्रयोज्य हैं।

६. ४. २ अन्तःकेन्द्रिक रचनाओं का अन्तर्निवेशन

अन्तःकेन्द्रिक रचनाएं भी दो प्ररूपों की होसकती हैं : **'समानाधिकरण'** और **'आश्रित'**। **'समानाधिकरण-रचना'** उन्हें कहसकते हैं, जिनका वितरण अपने प्रत्येक घटक के पृथक्शः वितरण के तुल्य होता है। इसप्रकार, **'रोटी और मक्खन'** एवं **'दूध या दही'** आदि 'समानाधिकरण' पदबन्ध कहलाएंगे। किन्तु, ये दोनों भी दो भिन्न प्ररूपों से सम्बद्ध हैं, क्योंकि प्रथम के साथ क्रिया बहुवचनान्त प्रयुक्त होगी,

जबकि द्वितीय के साथ क्रिया एकवचनान्त ही प्रयुक्त होगी (यदि इन पदबन्धों की भाँति इनका प्रत्येक घटक एकवचनान्त ही है)। **'आश्रित रचनाओं'** का वितरण अपने किसी एक घटक के समतुल्य होता है। उदाहरण के रूप में : **वि+ना (निर्धन मोहन), क्रिवि+वि (अत्यधिक चतुर), ना** (या **नासं**)**+क्रिवि** (या, **क्रिविसं**)। (यथा, अंग्रेज़ी के—*the girl upstairs, the man on the bus*; आदि; हिन्दी में इन दोनों घटकों का क्रम पलट जाएगा : **बस चढ़ा आदमी**; आदि।) इन घटकों मेंसे जिसका वितरण परिणत रचना के समतुल्य होता है, उसे **'शीर्ष'** कहते हैं। शेष घटक को **'विशेषक'** कहसकते हैं। आश्रित रचना में एक 'विशेषक' पुनरावर्त्ती ढंग से दूसरे 'विशेषक' के साथ 'अन्तर्निविष्ट' होसकता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी के **'द मैन ऑन द टॉप आफ़ द बस'** में दो घटक हैं : **'द मैन'** (शीर्ष) और **'ऑन द बस'** (विशेषक)। यह विशेषक घटक एक बहिःकेन्द्रिक क्रियाविशेषणिक संघ है, जिसमें कर्मप्रवचनीय-निपात है **'ऑन'** और 'नाम-संघ' है **'द टॉप ऑफ़ द बस'**। अब यह नाम-संघ अन्तःकेन्द्रिक रचना है, जिसके घटक हैं : **'द टॉप्'** (शीर्ष), **'ऑफ़ द बस'** (विशेषक)। इसप्रकार के नाम-संघों का विस्तार अनन्त रूप में होसकता है : **'नगर के बीचों बीच बसे पार्क में अपने बेंच पर खड़े होकर पुस्तक पढ़ते हुए उसे (हमने देखा)'**, आदि।

रचना-प्रकारों का यह वर्गीकरण **ब्लूमफ़ील्ड** और उनके **अनुयायियों** के अनुकरण पर दियागया है। इसके विपरीत 'घटक संरचना' का **'प्रजनक पुनर्लेखन-नियमों'** की दृष्टि से कियागया विवेचन, जो इस खण्ड में पर्याप्त विस्तार से हुआ **है, शोम्स्की** के आधुनिकतर कार्य पर आधारित है। यह अवधेय है कि ब्लूमफ़ील्ड सदा रचनाओं के **'वर्गीकरण'** की बात करते हैं, जबकि शोम्स्की उनके **'प्रजनन'** की बात करते हैं। जैसा कि हम देख आए हैं (४. २. ८), किसी भी भाषा की रचनाओं के **'विश्लेषक'** वर्गीकरण को आन्तरिक रूप में **'संश्लेषक'** भी होना ही चाहिए। फिर भी इस प्रजनक दृष्टिकोण को जानबूझकर अपनाने से दृष्टि का जो अन्तर प्रतिनिहित होता है, उससे व्याकरण के मुख्य उद्देश्य की तुलना में 'वर्गीकरण' का कार्य गौण रह जाता है। दूसरे शब्दों में, **प्रजनक दृष्टि वर्गीकरण को परिसीमित कर देती है।** उदाहरणार्थ, ब्लूमफ़ील्ड ने **'लॉङ्लैग्स'** और **'बटरफिंगर्स'** (हिन्दी=**'लम्बग्रीव'**, **'लम्बोदर'**, आदि) को 'बहिःकेन्द्रिक' कहा है, 'क्योंकि इनका प्रयोग एकवचन और बहुवचन दोनों रूपों में होसकता है।' किन्तु, यही सत्य इस बात को बताने केलिए भी पर्याप्त है कि ये विचाराधीन रूप **रचना** नहीं कहे जासकते। शब्दकोष में उन्हें ऐसी अविभाज्य इकाइयों (समस्त पदों) के रूप में दिखाना चाहिए, जो किसी वितरणात्मक श्रेणी के अवयव हैं और जिनका प्रजनन व्याकरण के माध्यम से नहीं होसकता। **'लम्बग्रीव'** का वितरण **'लम्बी ग्रीवा'** के वितरण से भिन्न है, और उसे हिन्दी के किन्हीं प्रजनक-रचनात्मक-नियमों के माध्यम से नहीं समझाया जासकता।

६. ४. ३ पदबन्ध-रचनी व्याकरण में अन्तःकेन्द्रिकता

पुनर्लेखन-घटक-संरचनी व्याकरण के नियमों का वितरणात्मक आधार पर्याप्त स्पष्ट है। **'क→ख+ग'** से सम्बद्ध प्रत्येक नियम 'क' और 'ख+ग' की वितरणात्मक **एकरूपता** पर आश्रित है। यह कथन अधिक उचित होगा कि प्रत्येक नियम **'ख+ग'** के वितरण के **'क'** के वितरण में **अन्तर्गृहीत** होने पर आश्रित है (क्योंकि 'एकरूपता' इस 'अन्तर्ग्रहण' का ही विशेष रूप है)। **एकरूपता** और **अन्तर्ग्रहण** के बीच (अथवा **उचित** और **अनुचित** अन्तर्ग्रहण के बीच) अन्तर उन नियमों के विभेद में स्पष्ट होजाता है, जिनका प्रयोग 'क' और 'ख+ग' के सभी निदर्शनों के 'पुनर्लेखन' में होता है, तथा जिनका विभाजन कई उपनियमों में होता है। उदाहरणार्थ, **'ना→वि+ना'** नियम **'मोहन'** और **'गरीब मोहन'**, या **'आदमी'** और **'बूढ़ा आदमी'**, की वितरणात्मक एकरूपता पर आश्रित है। दूसरी ओर,

क्रिसं → { क्रिसक + नासं / क्रिअक }

जैसा नियम इस बात को निहित मानकर चलता है कि एक ओर अंग्रेज़ी **'पदबन्ध'** *'eat meat'* और दूसरी ओर *'die'* जैसा पद समान रूप से 'क्रिया-संघ' श्रेणी के वितरण में अन्तर्गृहीत होते हैं। एक ओर, अन्तःकेन्द्रिक और बहिःकेन्द्रिक रचनाओं में तथा, दूसरी ओर, 'अन्तःकेन्द्रिक' के दोनों मुख्य प्रकारों (**समानाधिकरण** और **आश्रित**) में अन्तर उन पुनर्लेखन नियमों के रूप में स्पष्ट है, जो इन रचनाओं के रूपायण पर लागू होते हैं। वैसे यह अवधेय है कि पूर्वोक्त प्रकार के पुनर्लेखन-व्याकरण में **अन्तःकेन्द्रिकता** और **आश्रितता** जैसी धारणाओं का कोई प्रणालीगत महत्त्व नहीं है। अर्थात् इन धारणाओं का व्याकरण में कोई प्रयोजन नहीं होता। फिर, क्योंकि किसी अनिवार्य नियम (या उपनियम-विन्यास) का प्रभाव **'क'** को **'ख+ग'** के रूपमें लिखना बताता है, अतः इस नियम के बाद 'क' उपस्थित नहीं रहता। तब यह केवल एक उच्चतर ग्रंथि के **'नाम'**-मात्र के रूप में रह जाता है। उदाहरणार्थ, प्रथम नियम :

वा→नासं+क्रिसं

पुनर्लेखन घटक-संरचनी व्याकरण में पूर्णतः स्वैच्छिक निर्वाचन का विषय है : क्योंकि **'नासं'** और **'क्रिसं'** को अनिवार्यतः अन्यान्य तत्त्वों या रचनाओं के रूप में लिखा जाता है। (उन्हें **'क'** और **'ख'** के रूप में, या किसी अन्य रूप में भी, कहा जासकता है।) **नामसंघ**, **नाम** और **सर्वनाम** के बीच सम्बन्ध श्रेणियों के रूप में किएजाने वाले नामकरण से व्यक्त नहीं होता, बल्कि वह तो उनकी व्युत्पत्ति के मूल में स्थित 'ग्रन्थि' से सूचित होता है। अन्तःकेन्द्रिकता और बहिःकेन्द्रिकता, एवं समानाधिकरण और आश्रितता, की परिभाषाओं की दृष्टि से कोटिबद्ध व्याकरण को ब्लूमफ़ील्ड द्वारा प्रस्तावित और उनके अनुयायियों द्वारा विकसित सिद्धांतों का वास्तविक 'रूपायण' कहा जासकता है; और उसके उदाहरण बहुत सी भाषाओं से पर्याप्त संख्या में दिये जासकते हैं। हम यह देखचुके हैं कि कोटिबद्ध व्याकरण 'आश्रितता' की धारणा को

मौलिक या आधारगत मानता है; और अन्तःकेन्द्रिकता या बहिःकेन्द्रिकता का विभेद आश्रित कोटि के 'निरसन' की संरचना से स्पष्ट है। अर्थात्, यदि **गुणक** और **भाजक** एकरूप हैं, तब रचना अन्तःकेन्द्रिक कही जाएगी; और ऐसा न होने पर वह बहिः-केन्द्रिक कहीजाएगी (६. ३. २)।

६. ५ सन्दर्भ-संवेद्य व्याकरण

६. ५ १ 'सन्दर्भ-संवेद्य' का अर्थ

अब हमें '**संदर्भ-संवेद्य**' और '**सन्दर्भ-मुक्त**' नियमों के बीच विभेद प्रस्तुत करना चाहिए। ('संदर्भ-संवेद्य' के ही अर्थ में 'सन्दर्भाश्रित' और '**सन्दर्भ-बद्ध**' परिभाषाएँ भी प्रयुक्त होती हैं।)

अबतक दिएगए सब नियम '**सन्दर्भ-मुक्त**' रहे हैं। यह इस अर्थ में, कि पुनर्ले-खन 'बाण' के बाईं ओर के प्रतीक के स्थान पर दाईं ओर के प्रतीक या प्रतीकों की 'परिणति' या 'निर्गम' को स्थानापन्न कर दियाजाता है। उदाहरणार्थ,

ना → ना + *and* (और) + ना

इस नियम का अर्थ इस प्रकार लिया जासकता है कि '**ना**' को '**ना + *and* (और) + ना**' के रूप में उन सब स्थानों में, जहाँ भी यह नियम लागू होता है, स्वैच्छिक या अनिवार्य रूप में लिखना चाहिए। दूसरे शब्दों में, इस नियम के प्रचलन की एक-मात्र शर्त '**अन्तर्निवेश**' या '**ना**' का अनिवार्यतः सम्मिलित होना है। निदर्शनार्थ—

(१) क्ष + ना + त्र

(२) व + ना + ज्ञ

'निवेशन'-नियमों में '**ना**' को पूर्वोक्त नियम के अनुसार रखने पर क्रमशः 'निर्गम होंगे :

(१) क्ष + ना + *and* (और) + ना + त्र, तथा

(२) व + ना + *and* (और) + ना + ज्ञ

अवधेय बात यह है कि यहाँ इस नियम के प्रचलन केलिए कोई सन्दर्भात्मक प्रति-बन्ध नहीं होता।

पर अब मानलीजिए कि हम यह नियम बनाते :

'**क्ष + ... + त्र**' के सन्दर्भ में '**ना — + ना + *and* (और) + ना**' लागू होगा। तब इसका अर्थ यह होता कि '**ना**' के पुनर्लेखन की बात तभी उठेगी, यदि वः तत्काल बाईं ओर '**क्ष**' और तत्काल दाईं ओर '**त्र**' के रहने पर 'निवेशन सूत्र' ः उपस्थित हो। उस दशा में, पूर्वोक्त दोनों नियमों मेंसे यह **प्रथम** के सन्दर्भ में तं लागू होता, **द्वितीय** के सन्दर्भ में नहीं। ऊपर नियम में लगायागया सन्दर्भात्मः प्रतिबन्ध इसे **सन्दर्भ-संवेद्य** नियम बनादेता है।

६. ५. २ सन्दर्भ-संवेद्य व्याकरणों के विविध प्रकार

इसप्रकार के सन्दर्भ-संवेद्य नियमों के अनेक प्रकारान्तर बनाए जासकते हैं। यहाँ हम अपना ध्यान केवल उन प्रकारों तक ही सीमित रखेंगे, जो संघ-संरचनी व्याकरण की परिधि में गृहीत होते हैं। (अर्थात्, जो व्यवस्थित, या अव्यवस्थित, वैकल्पिक या अनिवार्य, पुनरावर्त्ती या अपुनरावर्त्ती सानुबन्धन नियमों के विन्यास में रूपायित होते हैं।) कोई भी ऐसा व्याकरण, जिसके एक या अधिक नियम संदर्भ-संवेद्य हों, **'सन्दर्भ-संवेद्य संघ-संरचनी व्याकरण'** कहलाता है।

व्याकरणों की इस श्रेणी में ऐसे व्याकरणों को विविक्त रूप में पहचाना जासकता है, जिनमें उक्त नियम की परिधि में ही **'क्ष'** और **'त्र'** क्रमशः एक-एक ही **प्रतीक** के भी प्रतिनिधि होसकते हैं, और वे किसी **प्रतीकसूत्र** के भी प्रतिनिधि होसकते हैं।

हम निहितार्थतः यह मानलेंगे कि जिसप्रकार के व्याकरण पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं, उसमें यह शर्त है कि निम्न नियम में **क्ष** और **त्र** अनाश्रित रूप में सानुबन्धित प्रतीकों की किसी भी सान्त संख्या की सूचना देसकते हैं :

क→ख/क्ष + ... + त्र के सन्दर्भ में

किन्तु उस दशा में **'क'** केवल एक ही प्रतीक का प्रतिनिधि होना चाहिए। हम यह भी मानलेंगे कि **'ख'** **'क'** के समरूप नहीं होसकता, और न ही वह **'शून्य'** होसकता है (१६. २. ११)। ये शर्तें उसी प्रणाली के अन्तर्गत निम्न नियमों को 'सुनिरूपित' सिद्धकरेंगी :

(क) **प→क/च + छ + ... + ज**, के सन्दर्भ में,

(ख) **प→क + र/च + ... + ज + झ + ट**, के सन्दर्भ में,

(ग) **प→र + स + त/ज + ... + झ** के सन्दर्भ में; **इत्यादि**।

किन्तु इनके द्वारा व्याकरण में निम्न नियमों का ग्रहण नहीं किया जाएगा :

(घ) **प→प/च + ... + छ** के सन्दर्भ में,

(ङ) **प→φ/च + ... + छ** के सन्दर्भ में; इत्यादि।

इनमें से **'घ'** नियम को इसलिए 'कुरचित' कहा जासकता है कि इसमें **'प'** को फिर से उसी रूप में लिख दियाजाता है (अर्थात् यह इस पूर्वोक्त नियम को तोड़ता है कि **'क'** और **'ख'** को समरूप नहीं होना चाहिए)। (ङ) नियम इसलिए कुरचित है कि बाण के तत्काल दाईं ओर φ(शून्य) का प्रतीक है : इसका अर्थ हुआ कि यह 'लोपनियम' होगया। (अर्थात् 'प' को निकाल दो या उसका 'लोप' कर दो। अतः (ङ) नियम को यदि व्याकरण में रहने दियाजाए, तब इसका परिणाम होगा **च + छ**, जिसे **'च + प + छ'** के प्रतीक वाले 'निवेशन' के परिणामरूप में पायाजाएगा।)

इस बात पर ध्यान जासकता है कि ऊपर के नियमों में कुछ प्रतीकों को भिन्न प्रकार के मुद्रण में व्यक्त किया गया है, जबकि अन्यों को सामान्य मुद्रण में। इन भिन्न मुद्रित-सकेतों को 'स्थिर' माना जासकता है, जबकि 'सामान्य' को **'परि-**

वर्त्ती' माना जासकता है। बाद में हम **'स्थिर'** और **'परिवर्त्ती'** के बीच विद्यमान भेद की चर्चा करेंगे (६. ६. ६)। इस खण्ड के प्रयोजन की दृष्टि से यह विभेद इस रूप में कहा जासकता है : यदि कोई प्रतीक किसी नियम में 'स्थिर' के रूप में प्रयुक्त हो, तब इसका अर्थ यह होता है कि वह नियम विशिष्ट रूप से उस प्रतीक की घटित अवस्था में ही लगता है। किन्तु यदि प्रतीक परिवर्त्ती हो, तब 'परिवर्त्ती' द्वारा सूचित श्रेणी की परिधि में आने वाला कोई भी **'स्थिर'** उस नियम के प्रयोग का विषय होसकता है।

इस खण्ड में, यह विभेद केवल उसी सीमा तक संगत है, जहाँ तक यह व्याकरण के वास्तविक नियमों को (हमारी समझ के अनुसार जिनमें कोई परिवर्त्ती नहीं होते) नियमों की रूपाकृति के निरपेक्ष निर्धारण से भिन्न सिद्धकरता है। दूसरे शब्दों में यह नियम

क → ख/क्ष + ... + त्र के सन्दर्भ में

केवल एक नियम ही नहीं है, बल्कि नियमों की एक सम्पूर्ण श्रेणी का संक्षेपक सूत्र है, जिसमें प्रयुक्त चारों परिवर्त्ती प्रतीकों के 'मूल्य' अनुमत रूप में परिभाषित हैं। ऊपर उन प्रतिबन्धों की चर्चा की जाचुकी है, जो परिवर्त्तियों के कार्यक्षेत्र को सीमित करते हैं।

६. ५. ३ संदर्भ-संवेद्य व्याकरण में सन्दर्भ-मुक्त व्याकरण भी अन्तर्हित

यदि हम एक शर्त्त और जोड़ दें, तब हम सन्दर्भ-मुक्त संघ-संरचनी व्याकरणों को भी सन्दर्भ-संवेद्य व्याकरणों की ही एक उपश्रेणी ही कहसकेंगे। शर्त्त यह है कि निम्न आकार वाले नियमों में **'क्ष'** और **'त्र'** का मूल्य अप्रतिहत रखा जा सकता है :

क → ख/ क्ष + ... + त्र के सन्दर्भ में।

पारिभाषिक संज्ञाओं की सुविधा की दृष्टि से हम प्रथमतः 'शून्य-मूल्य' और 'धनात्मक मूल्य' के बीच विभेद करेंगे ('धनात्मक' का अर्थ है कि 'ϕ' के अतिरिक्त कोई भी मूल्य, जो प्रतीक केलिए निश्चित कियागया हो)। अब यदि किसी विशिष्ट नियम केलिए निश्चित हो कि सन्दर्भात्मक परिवर्त्ती **'क्ष'** और **'त्र'** मूल्य की दृष्टि से अप्रतिहत हैं (अनाश्रित रूप में उनमें से प्रत्येक 'धनात्मक' अथवा 'शून्य' मूल्य का होसकता है); तब इस नियम को **'सन्दर्भ-मुक्त'** कहेंगे। किन्तु यदि **'क्ष'** या **'त्र'** का मूल्य सीमित या बद्ध हो, अर्थात् धनात्मक या शून्य के रूप में निश्चित हो, तब इसे **'सन्दर्भ-संवेद्य'** कहेंगे।

उदाहरण के रूप में निम्न सभी नियम सन्दर्भ-संवेद्य हैं :

(च) प → क/ ϕ + ... + ϕ के सन्दर्भ में,

(छ) प ← क/ ϕ + ... + **र + स** के सन्दर्भ में

(ज) प → क/ त + ... + ϕ के सन्दर्भ में।

वस्तुतः (च) नियम का अर्थ है कि 'प' को 'क' के रूप में तभी लिखना चाहिए, यदि 'निवेशन' सूत्र में उसके दाईं या बाईं ओर अन्य कुछ न हो। (इसप्रकार की सन्दर्भात्मक शर्त को पूरा करनेवाला एकमात्र प्रथम प्रतीक 'वा' ही है। किन्तु, ऐसी प्रणाली भी निर्मित की जासकती है, जिसमें प्रथम प्रतीक 'प' को मानाजाए।) नियम (छ) के अनुसार 'प' को 'क' के रूप में लिखने केलिए 'निवेश सूत्र' 'प+र+स' के रूप में होना आवश्यक है। और, (ज) के अनुसार 'प' का पुनर्लेखन तभी सम्भव है, जब 'प' ही निवेशसूत्र के अन्त में हो : त+प। ये नियम एक अन्य रूप में भी रखे जासकते हैं (जैसाकि कुछ प्रकाशित व्याकरणों में किया भी गया है) :

(च) ϕ+प+ϕ → ϕ+प+ϕ

(छ) ϕ+प+र+स → ϕ+क+र+स

(ज) त+प+ϕ → त+क+ϕ

क, ख, ग और घ—परिवर्त्तियों—के रूप में इस रूपाकृति को सामान्य रूप देते हुए कहसकते हैं कि किसी सन्दर्भसंवेद्य व्याकरण के किसी भी नियम में आकृति इस रूप में नहीं पाईजाती :

क्ष+क+त्र → क्ष+ख+त्र

क → ख

और,

का सन्दर्भ-मुक्त नियम किसी ऐसे सन्दर्भ-संवेद्य नियम को ही एक विशिष्ट स्थिति को सूचित करने वाला माना जासकता है, जिसमें 'क्ष' और 'त्र' का मूल्य अप्रतिहत हो।

संघ-संरचनी व्याकरण के सिद्धान्त को सामान्य बनाने का कारण यही है कि सन्दर्भ-संवेद्य और सन्दर्भ-मुक्त दोनों ही नियमों को एक ही रूपात्मक ढांचे में लाया जासके। अब हम सन्दर्भ-संवेद्यता के भाषा-सम्बद्ध निहितार्थों की कुछ कम-निरपेक्ष चर्चा करेंगे।

६. ५. ४ अन्विति और नियामन

'सन्दर्भसंवेद्यता' की धारणा के क्षेत्र में आनेवाली भाषा की एक स्थिति 'अन्विति' (या सहमति) कहलाती है। सर्वप्रथम हम इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में परम्परागत स्पष्टीकरण को लेंगे।

अनेक भाषाओं में, किसी विशिष्ट विन्यासात्मक रचना के घटकों को 'सहमति' या 'अन्विति' में स्थित कहाजाता है : **लिंग, वचन, विभक्ति, पुरुष**, आदि के सम्बन्ध में। (ये सभी विभिन्न परिभाषाएँ अध्याय ७ और ८ में चर्चित होंगी।) उदाहरणार्थ, फ्रेंच के नाम-संघों में 'आदिनिपात और 'विशेषण' के वचन एवं लिंग **नाम** के वचन एवं लिंग की अन्विति में होने चाहिएं : उदाहरणार्थ, *un livre inte'ressant* (एक रुचिकर पुस्तक) और *une piece inte'rssante* (एक रुचिकर नाटिका) एवं *des livres inte'ressants* (कुछ रुचिकर पुस्तकें) और *des pieces inte'ress-*

antes (कुछ रुचिकर नाटिकाएँ)। इनमें *livre* के अनुकरण पर *un* और *interessant* भी पुल्लिग-एकवचन में हैं, जबकि '*piece*' के अनुकरण पर *une* और *interssante* स्त्रीलिंग-एकवचन में है। यही बात बहुवचनात्मक प्रयोगों पर भी सही उतरती है। (यहाँ हमें फ्रेंच के लिखित रूपों का ही आश्रय लेकर इस विभेद को समझाना पड़ा है, अन्यथा हम कहचुके हैं कि **फ्रेंच के लिखित और बोलचाल के रूपों में अन्तर है**, तु० १. ४. २।) जर्मन, रूसी, इतालवी, स्पेनी, लैटिन, [संस्कृत] आदि अन्यान्य भाषाओं में भी, फ्रेंच के ही समान, **विशेषण** की अन्विति, पूर्वोक्त प्रयोगों जैसे उदाहरणों में, नाम के रूप केसाथ होनी ही चाहिए। **कुछ भाषाओं में क्रिया** की अन्विति, वचन-लिंग या पुरुष की दृष्टि से, कर्त्ता या कर्म के, अथवा दोनों के, साथ होती है। अगले अध्याय में हम **स्वाहिली** में लिंग और वचन की इस **अन्विति** का किंचित् प्रदर्शन करेंगे (७. ३. ५); **एस्किमो** की **'ससाधक'** (अर्गेटिव) **अन्विति** की चर्चा ८. १. ६ और ८. २. २ में करेंगे।

गत अनुच्छेद में जिन भाषाओं का उल्लेख हुआ है, उनकी अपेक्षा अंग्रेज़ी में कम 'अन्विति' पाईजाती है। नामसंघों में केवल **'निदर्शक सर्वनाम'** ही अपने विशेषित नाम की अन्विति में प्रयुक्त होता है: उदाहरणार्थ—**'दिस बुक्, दैट् बुक्'**, **'दीज़् बुक्स, दोज़् बुक्स'**, आदि। क्रिया के योग में भी कुछ लकारों में तो **'अन्विति'** की बात चलती है (यहाँ 'लकारों' के ही अन्तर्गत हम **भाव** और **पक्ष** की भी बात लेरहे हैं तु०-७. ५. १)। निम्न सरल वाक्य इस नियम को दिखाते हैं कि अंग्रेजी वाक्यों में **क्रिया** की कर्त्ता के साथ **अन्विति** होती है:

(*1*) *He goes* Vs *I/You/We/They go.*
(*2*) *He has gone* Vs *I/you/We/They have gone*
(*3*) *He is going* Vs *You/We/They are going* Vs *I am going.*
(*4*) *He/I was going* Vs *You/We/They were going.*

प्रथम दो वाक्यों में पुरुष और वचन की अन्विति इसप्रकार से है: यदि **कर्त्ता** 'प्रथम पुरुष-एकवचन' है, तब **क्रिया** भी 'प्रथम पुरुष-एकवचन' है; किन्तु यदि अन्यपुरुषों के एकवचन में या सभी पुरुषों के बहुवचन में **'कर्त्ता'** है, तब क्रिया अपने **'अचिन्हित'** रूप में विद्यमान रहती है। तीसरे और चौथे वाक्य में **'टु बी'** क्रिया में अन्विति कुछ भिन्न प्रकार से कार्यरत पाईजाती है। **तृतीय में, प्रथम पुरुष एकवचन और उत्तम पुरुष एकवचन** के साथ क्रिया की अन्विति है। **चतुर्थ में, प्रथम और उत्तम पुरुष के एकवचन** कर्त्ता-क्रिया अन्विति में एक साथ कार्य करते हैं। सामान्य भूतकाल के क्रिया-प्रयोग '*went*' के योग में इस प्रकार की कोई अन्विति नहीं मिलती: *He/I/You/We/They went*, आदि।

उक्त प्रकार से बताई अन्विति को प्रायः 'नियामन' से भिन्न रूप में पहचाना जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ भाषाओं में क्रिया 'कर्म' को नियन्त्रित करती मानी जाती है। ले०—**अमो ते** (सं०-**प्रीणामि ते**, हि०-**तुझे प्यार करता हूँ**); **सुआदेओ**

तिबि (मन्त्रये तुभ्यम्, तुझे सलाह देता हूँ) । इनमें 'ते' द्वितीया विभक्ति या कर्म का रूप हैं, जबकि '**तिबि**' (तुभ्यम्) चतुर्थी या सम्प्रदान का रूप है । ये दोनों क्रमशः अपनी क्रियाओं के कारण इन विभक्तियों में प्रयुक्त हुए हैं । **लैटिन, रूसी, जर्मन,** आदि में केवल क्रियाओं का ही नहीं '**कर्मप्रवचनीयों**' (या 'निपातों') का भी नाम, सर्वनाम या नामसंघ की विभक्तियों पर प्रभाव पड़ता है : ले०-**अद् उर्बेम्** (**सं०-अधि/ प्रति नगरम्**), **अब् उर्बे** (**अप नगरात्**), में '**अद्**' के साथ 'कर्म' या 'द्वितीया' और '**अब्**' के साथ 'अपादान पंचमी' का प्रयोग होता है । इस प्रयोग-वैविध्य के अधिक विचार केलिए, देखें-७. ४. १ ।

इन उदाहरणों से यह प्रतीत होगा कि 'अन्विति' और 'नियामन' में अंतर यह है कि 'अन्विति' में दो या अधिक शब्द उसी कोटि (पुरुष-वचन-आदि) में 'रूपान्वित' किये जाते हैं, जबकि 'नियामन' में किसी विन्यासात्मक रचना के 'मुख्य' और 'आश्रित' अवयव एक ही कोटि का प्रदर्शन नहीं करते; बल्कि '**आश्रित**' की कोटि (विभक्ति) का निर्णय '**मुख्य**' की कोटि के द्वारा निश्चित होता है ।

हमने अभी जो कुछ कहा है वह 'अन्विति' और 'नियामन' में परम्परागत प्रकार का अन्तर है । आधुनिकतर व्याकरण में इस विभेद को **अन्तःकेन्द्रिक** और **बहिःकेन्द्रिक** रचनाओं के पूर्वतर ज्ञान पर आधारित करके प्रदर्शित कियाजाता है (तु०-६. ४. १) । निदर्शनार्थ, **हौकेट** कहता है, "**नियामन** केवल विशिष्ट प्रकार की बहिःकेन्द्रिक रचनाओं में ही पायाजाता है : लैटिन के '**अद् उर्बेम्**' के दोनों घटकों का वितरण भिन्न-भिन्न होने से वह बहिःकेन्द्रिक है । दूसरी ओर, 'अन्तःकेन्द्रिक रचनाओं' में '**अन्विति**' पाईजाती है, तथा इसप्रकार के बन्धनों में भी जो सन्निहित-घटक-संरचना के नियमों को तोड़कर 'विधेय' के कुछ अंश को कर्त्ता से प्रत्यक्ष सम्बद्ध करदेते हैं ।" दूसरे शब्दों में, **अन्विति** अन्तःकेन्द्रिक और बहिःकेन्द्रिक दोनों ही रचनाओं में पाईजाती हैं । उदाहरणार्थ, फ्रेंच प्रयोग '*un livre intere'ssant*' (एक रुचिकर पुस्तक) अन्तःकेन्द्रिक है, क्योंकि इसका वितरण '*Un livre*' के वितरण के समरूप ही है; किन्तु '*le livre est intere'ssant*' में यद्यपि '*livre*' और '***inte'r-essant***' में अन्विति विद्यमान है, तब भी यह 'बहिःकेन्द्रिक' रचना है, क्योंकि इसका वितरण न तो *le livre* के ही समतुल्य ही है और न ही *est* '*intere'ssant* के (जहां तक वाक्यों के वितरण का प्रश्न है : ५. २. १) ।

यद्यपि इस विषय में हौकेट और दूसरे विद्वानों का कथन पर्याप्त दूरतक ठीक है, किन्तु यह अवधेय है कि अन्वितियुक्त रचनाओं में '**मुख्य**' और '**आश्रित**' दोनों अवयव विद्यमान होते हैं : यथा कुछ विद्वानों के अनुकरण में यह कहना भ्रामक ही होगा कि **कर्त्ता** के पुरुष-वचन **क्रिया** के पुरुष वचन द्वारा निर्धारित होते हैं । बहुधा व्यक्त यह मत भी उतना ही भ्रामक है कि इन दोनों मेंसे कोई भी दूसरे का निर्धारक नहीं होता; बल्कि दोनों ही उस रचना-कोटि को अभिव्यक्त करते हैं, **जिसके** कि अवयवरूप में वे दोनों प्रयुक्त होते हैं । जैसा कि हम बाद में देखेंगे कि वचन और

पुरुष नाममात्र की कोटियाँ हैं, अभिव्यक्त होने की दशा में जो किसी भाषा के क्रिया-संघ की बाह्य संरचना में प्रत्ययात्मक दृष्टि से **चिन्हित** भी रहसकती है और **अचिन्हित** भी (७. २. ६; ७. ३. १)। यह तथ्य इन बातों के परम्परागत निरूपण में भी अन्तर्हित रहता है : 'वचन और पुरुष की दृष्टि से क्रिया कर्त्ता के अनुरूप होती है।' अगले अनुच्छेदों में अंग्रेज़ी के सन्दर्भ-संवेद्य नियमों के अपने विमर्श में हम यह मानकर चलेंगे कि यह दृष्टि उचित है। **बाह्य-संरचना** और **अन्तःसंरचना** में विभेद बाद के एक अनुच्छेद में स्पष्ट किया जाएगा (१६. ६. १)। इस विभेद को स्पष्ट करते ही यह भी स्पष्ट होजाएगा कि '**अन्विति**' और '**नियामन**' के बीच केवल **बाह्यसंरचना** का ही अन्तर है (विशेष कर यदि इसे '**अन्तःकेन्द्रिक**' और '**बहिःकेन्द्रिक**' संज्ञाओं की धारणाओं के सन्दर्भ में पहचानाजाए)।

६. ५. ५ कर्त्ता-क्रिया-अन्विति की एक सन्दर्भमुक्त व्याख्या

अब हम यह विचार करेंगे कि हम अंग्रेज़ी के कर्त्ता-क्रिया-अन्विति-युक्त सरल वाक्यों का सृजन कैसे करसकते हैं। सरलता की दृष्टि से हम अपना ध्यान 'वर्त्तमान काल' (लट् लकार) के सकर्मक वाक्यों तक ही सीमित रखेंगे। उदाहरण इस प्रकार हैं : (१-क) *The dog bites the man*

(१-ख) *The dog bites the men*

(१-ग) *The dogs bite the man*

(१-घ) *The dogs bite the men*

(२-क) *The Chimpanzee eats the banana* आदि।

हम घटित शब्दों का एक कोषीय श्रेणीकरण मानकर चलेंगे; क्योंकि सरलता की दृष्टि से शब्दकोष को व्याकरण की संज्ञाक्रियादि पारिभाषिक श्रेणियों के अवयवों की वैसी सूचीमात्र ही कहा जासकता है, जैसी चतुर्थ अध्याय में (४. ३. २) दी गई है। निम्न सन्दर्भमुक्त व्याकरण-सूत्रों पर विचार करें :

(क) पा → { **नासं**$_{एक}$ + **क्रिसं**$_{एक}$ / **नासं**$_{बहु}$ + **क्रिसं**$_{बहु}$ }

(ख) **क्रिसं**$_{एक}$ → **क्रि**$_{एक}$ + **नासं**

(ग) **क्रिसं**$_{बहु}$ → **क्रि**$_{बहु}$ + **नासं**

(घ) **नासं** → { **नासं**$_{एक}$ / **नासं**$_{बहु}$ }

(ङ) **नासं**$_{एक}$ → **आ** + **ना**$_{एक}$

(च) **नासं**$_{बहु}$ → **आ** + **ना**$_{बहु}$

(छ) **ना**$_{एक}$ → **ना** + ϕ

(ज) **ना**$_{बहु}$ → **ना** + *s*

(झ) **क्रि**$_{एक}$ → **क्रि** + *s*

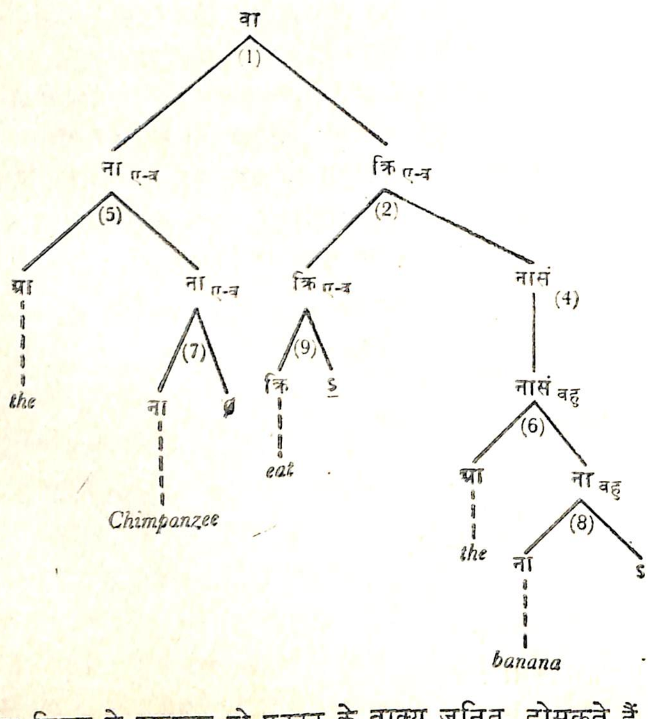
(ञ) क्रिबहु → क्रि + ϕ

सन्दर्भ-मुक्त नियमों के द्वारा वाक्यों के सृजन के अन्य भी उपाय हैं, किन्तु निदर्शन के रूप में इस नियम-विन्यास से ही काम चल जाएगा। यह मान लियागया है कि इसकी ध्वनिवैज्ञानिक उपलब्धि केलिए कुछ अन्य नियम भी बने हुए हैं; यथा— *man* + ϕ को /man/ के रूप में लिखना चाहिए, *man* + *s* को /*men*/ के रूप में, *hit* + ϕ को /*hit*/ के रूप में, तथा *hit* + *s* को /*hits*/ के रूप में, इत्यादि। प्रसंगतः यह देखा जासकता है कि इसप्रकार के ध्वनिवैज्ञानिक-उपलब्धि-नियम सरल संघ-संरचनी व्याकरण पर पहले लगाएगए एक अनुबन्ध को तोड़ते हैं : युगपत् ही वे एकाधिक प्रतीकों को पुनर्लिखित करते हैं (६. २. ११)। निस्सन्देह ध्वनि-वैज्ञानिक नियमों का कार्य शब्दकोषीय स्थानापादन नियमों के बाद ही आरम्भ होना चाहिए (४. ३. २)। इस सम्पूर्ण पुस्तक में हम यह मानकर चले हैं कि शब्दकोषीय स्थानापादन के नियम समुचित रूप में कहेजानेवाले व्याकरण के क्षेत्र से बाहर पड़ते हैं।

अब हम उन ऊपर गिनाए व्याकरण-नियमों की व्याख्या करेंगे। इनका एक निदर्शनात्मक वाक्य, अपने संरचनात्मक वर्णन के साथ, आरेख-१३ में दियागया है :

आरेख-१३

सन्दर्भ-मुक्त व्याकरण में अन्विति (संख्याएँ ऊपर दिये नियमों की हैं)



उक्त नियम के अनुसार दो प्रकार के वाक्य जनित होसकते हैं, जिन्हें 'एक-

वचनात्मक' और 'बहुवचनात्मक' कहसकते हैं। **'दि डॉग बाईट्स दि मैन'** एकवचनात्मक है, **'दि चिल्ड्रन ड्रिंक दि मिल्क'** बहुवचनात्मक है। दूसरे शब्दों में वचन का कथन कर्त्ता-क्रिया की अन्विति केलिए एवं वाक्य की कोटि बताने केलिए होता है। किन्तु **चतुर्थ** नियम के अनुसार 'कर्म' में भी वचन का सन्निवेश होता है। अतः कहा जासकता है कि व्याकरण की दृष्टि से **कर्त्ता** से सम्बद्ध एकवचन और बहुवचन का अर्थ, **कर्म** के एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा, बहुत भिन्न है। इस नियमावली से यह तथ्य स्पष्ट नहीं होता कि **वचन** 'नामसंघ' की (या नाम की) एक कोटि है, और यह कि **कर्त्ता** और **कर्म** के वचन का चुनाव एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप में होता है; तथा यह भी कि कर्त्ता के एकवचन या बहुवचन का निर्धारण होजाने पर ही पूर्वोक्त नियमों के अनुसार **क्रिया** के वचन का निर्धारण होता है (तु०-६. ५. ४)।

६. ५. ६ कर्त्ता-क्रिया-अन्विति की सन्दर्भ-संवेद्य व्याख्या

मानलीजिए, अब हम यह चाहते हैं कि संघ-संरचनी व्याकरण के ढाँचे के भीतर ही हम इस तथ्य को निरूपित करें कि **कर्त्ता** का वचन ही **क्रिया** के वचन को निर्धारित करता है। ऐसा करने का एक तरीका यह है (शोम्स्की ने 'विन्यासात्मक संरचनाएँ' में इसी को अपनाया है : वह अपने व्याकरण में निम्न नियमों मेंसे चतुर्थ के स्थानीय नियम का ग्रहण 'रचनान्तरक नियमों' के अन्तर्गत करलेते हैं; यद्यपि इसके कारणों की चर्चा में हम यहाँ नहीं जाएँगे; पर हमने अबतक रचनान्तरक नियमों का आश्रय नहीं लिया है) :

(१) **वा** → **नासं** + **क्रिसं**

(२) **क्रिसं** → **क्रिया** + **नासं**

(३) **नासं** → { **नासं**एक / **नासं**बहु }

(४) **क्रि** → { **क्रि** + s/**नासं**एक + ...के सन्दर्भ में, / **क्रि** + ϕ/**नासं**बहु + ...के सन्दर्भ में, }

(५) **नासं**एक → **आ** + **ना** + ϕ

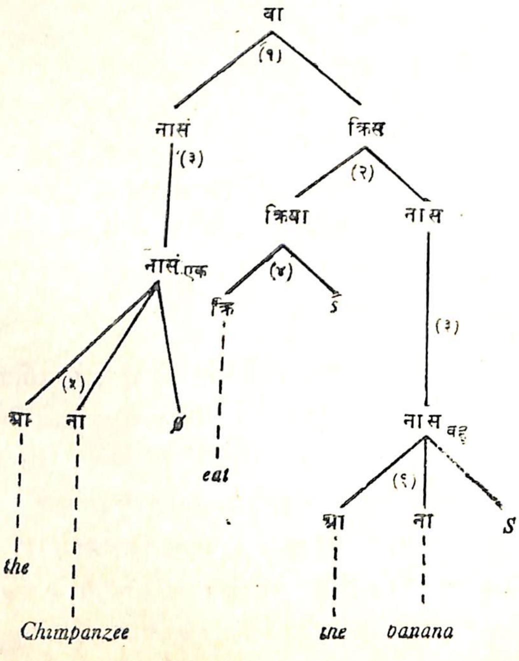
(६) **नासं**बहु → **आ** + **ना** + s

पिछले अनुच्छेद में दिएगए विन्यास और इस विन्यास में अनेक विभिन्नताएँ हैं। इसमें दस की जगह कुल छह नियम हैं। **पंचम** और **षष्ठ** नियम एकवचन और बहुवचन नामसंघों का विश्लेषण तीन घटकों में करते हैं, जिन्हें क्रमशः हम **आदि-निपात**, **नाम** और **वचन-प्रत्यय** के रूप में कहसकते हैं। किन्तु, यहीं पर यह भी अवधेय है कि इनसे ऐसी सूचना निरूपित नहीं होती कि **'नाम'** ही 'नामसंघ' का **'शीर्ष'** है। यद्यपि रचनान्तरक नियमों के समावेश के माध्यम से संघ-संरचनी व्याकरण द्वारा इन वाक्यों के विहित विश्लेषण की अनेक अन्य कमियों का समाधान होसकता

है, किन्तु हम देखेंगे कि इस कमी को दूर करने के लिए हमें या 'रूपात्मीकरण' सिद्धान्त का अधिक मौलिक पुनरालोचन करनाहोगा (तु०-७. ६. ८.) । प्रस्तुत प्रसंग में तो हम केवल सन्दर्भ-संवेद्यता के प्रश्न पर ही विचार कररहे हैं । मुख्य बात यह है कि **प्रथम** नियम अपने द्वारा जनित **सभी** वाक्यों को एक ही रचना का मानकर चलता है (**नासं + क्रिसं**); **तृतीय** नियम 'वचन' को 'नामसंघ' की ही एक कोटि मानता है, भले ही वह कर्त्ता हो या कर्म; और **चतुर्थ** नियम के अनुसार क्रिया का वचन पूर्वग नामसंघ के वचन के द्वारा निर्धारित होता है । चतुर्थ नियम इस आकार का सन्दर्भ-संवेद्य नियम है : '**क → ख/क्ष + त्र के सन्दर्भ में** ।' इसमें 'क्ष' का मूल्य निश्चित और धनात्मक है, जबकि 'त्र' को अप्रतिहत छोड़ दिया गया है (६. ५, ३) । (यह अवधेय है कि इस नियम को केवल सानुबन्ध सूत्रों की प्रणाली में ही सूत्रित किया जा सकता है : तु०-६. **१. १** । **बाईं ओर** का नामसंघ ही अन्विति को नियन्त्रित करता है, **दाईं ओर** का नहीं । क्योंकि बाईं ओर का 'नामसंघ' मूलसूत्र-१ में स्थित '**नासं**' से व्युत्पन्न होता है अतः इसे 'कर्म' न कहकर '**कर्त्ता**' कहा जासकता है : तु०-७. ६. २) । अतः जहाँतक **सम्भव है** उक्त सभी नियम अंग्रेजी में अन्विति के सिद्धांत को (इस सीमित वाक्य श्रेणी में) सही रूप में निरूपित करते हैं । आरेख-१ में इसी के निदर्शक पूर्वोक्त वाक्य का विश्लेषण दिया गया है ।

आरेख-१४

सन्दर्भ-संवेद्य व्याकरण में अन्विति—(संख्याएँ ६. ५. ६ के अनुसार)



इस तथ्य को अविगत करने में अधिक देर नहीं लगेगी कि ६. ५. ४ में कथित अन्विति के अन्य प्रकारों को सम्मिलित करने केलिए ज्योंही हम अधिकाधिक वाक्यों को प्रजनित करेंगे, सन्दर्भ-मुक्त व्याकरण में वांछित नियमों की भी उतनी ही अधिक संख्या में आवश्यकता पड़ेगी। होसकता है सन्दर्भ-संवेद्य व्याकरण में जोड़े जानेवाले नियमों की संख्या इससे कुछ कम हो। इसप्रकार इन दोनों व्याकरणों के नियमों की अल्पसंख्या की तुलना में बिना गए ही हम कहना चाहेंगे कि 'सन्दर्भ-संवेद्य' नियम अन्विति के तथ्यों को 'अधिक शुद्धता' के साथ निरूपित करते हैं। यह बात हमें सबल' और 'निर्बल' पर्याप्तता-विषयक विचार पर लेआती है।

६. ५. ७ सबल और निर्बल पर्याप्तता

हम सबल और निर्बल समतुल्यता का अर्थ पहले ही (६. २. १२) स्पष्ट कर चुके हैं। समान वाक्य-विन्यास को जन्म देनेवाले कोई दो व्याकरण **निर्बल समतुल्य** होते हैं; किन्तु यदि उस वाक्य-विन्यास के प्रत्येक वाक्य का संरचनात्मक वर्णन भी वे एक ही समान करें, तब उन व्याकरणों को **'सबल समतुल्य'** कहा जाएगा। सबल और निर्बल पर्याप्तता के बीच विभेद भी लगभग इसीप्रकार का है।

कोई भी व्याकरण तब **'निर्बल'** रूप में **अपर्याप्त** कहलाता है, यदि वह हमारे वांछित वाक्यों को ही जन्म देता है। किन्तु यदि वह उनके सृजन के साथ ही उनमें से प्रत्येक का **शुद्ध** संरचनात्मक वर्णन भी देता है, तब उसे **'सबल पर्याप्त'** कहाजाता है।

यहाँ 'शुद्ध' शब्द विवादास्पद है। पर यह स्मर्त्तव्य है कि **सबल** और **निर्बल** पर्याप्तता के बीच विभेद की यह परिभाषा 'शुद्ध' की व्याख्या का भार लेकर नहीं चली है: न ही यह परिभाषा इस पूर्वाग्रह को लेकर चली है कि 'शुद्धता' के कोई स्थापित प्रतिमान हैं या नहीं। फिर भी कम-से-कम कुछ मामलों में, हम यह मान कर चलेंगे कि किसी वाक्य की दो वैकल्पिक व्याख्याओं मेंसे एक केलिए यह कहना सम्भव है कि वह अन्य की अपेक्षा 'शुद्धतर' है, या वह किन्हीं विशिष्ट पक्षों में 'शुद्ध' है: भले ही हम यह न कहना चाहें कि कोई विवरण सर्वथा 'शुद्ध' है।

यह स्पष्ट है कि ६. ५. ५ और ६ में निर्दिष्ट नियमों के दो विन्यास कम-से-कम निर्बल रूप में तो समतुल्य हैं ही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम-से-कम जहाँ तक अंग्रेजी में कर्त्ता-क्रिया-अन्विति के नियमों के निरूपण का प्रश्न है, सन्दर्भ-मुक्त प्रणाली की अपेक्षा सन्दर्भ-संवेद्य प्रणाली अधिक सबलतः पर्याप्त (और शुद्धतर) है। केवल इसी कारण हमें यहाँ **'पर्याप्तता'** की **सबलता** और **निर्बलता** की धारणाओं की चर्चा करनी पड़ी। इन दोनों (संदर्भ-संवेद्य और सन्दर्भ-मुक्त) व्याकरणों की तुलना सहज ही होसकती है, क्योंकि वे दोनों ही निर्बल-समतुल्य हैं, और संघ-संरचनी व्याकरण के निरूपण में अन्तर्हित सामान्य शर्तों के अनुरूप हैं।

६. ६ रचनान्तरणी व्याकरण

६. ६. १ अन्तः और बाह्य संरचना

रचनान्तरणी व्याकरण पर प्रस्तुत विचार हम **हॉकेट** के इस कथन से आरम्भ करेंगे : 'अंग्रेज़ी के इन दो वाक्यों की तुलना करो : *Atoms are too small to see by any possible technique* और *They are too much in love to see clearly*. दोनों की बाह्य-संरचना अधिकाँशतः एक-सी है, यद्यपि वह एकरूप नहीं है। किन्तु इसके नीचे झांकते ही 'अन्तः-संरचना' में दोनों में **'टु सी'** का विभेद स्पष्ट होजाएगा। प्रथम निदर्शन में **'एटम्स'** और **'सी'** आपस में वैसे ही सम्बद्ध है, जैसे वे इस वाक्य में हैं : *You can't see atoms*; जबकि दूसरे में **'दे'** और **'सी'** का सम्बन्ध *They see you* में विद्यमान सम्बन्ध के समान है।' उसी अध्याय में **हॉकेट 'बाह्य-व्याकरण'** के 'नीचे' विद्यमान 'आन्तरिक **व्याकरण** की विविध तहों' के बारे में कहते हैं कि, 'यद्यपि उनका सम्बन्ध हमारे बोलने और समझने के साथ अत्यधिक है, तब भी वैयाकरणों ने प्रणालीबद्ध रूप में अबतक उनका अध्ययन अधिकांशतः नहीं किया है।'

किन्तु १९५८ में हॉकेट की पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व १९५६ और १९५७ में **शोम्स्की** और **हैरिस** की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं, जिनमें बाह्य संरचना और अन्तःसंरचना के प्रणालीबद्ध विश्लेषण केलिए **'रचनान्तरक नियमों'** को अपनाने का सुझाव दियागया था। यद्यपि **शोम्स्की** और **हैरिस** परस्पर सहयोग में ही काम कररहे थे, और उन्होंने परस्पर एक दूसरे का ऋणी होना भी स्वीकार किया है; इस पर भी आरम्भ से ही उन्होंने **'रचनान्तरक व्याकरण'** का विकास दो विविध सरणियों में किया था। और अभी हाल में (१९६५ में) सोवियत भाषाविद् **शौम्यान** ने **रचनान्तरक नियमों** के आधार पर व्याकरणात्मक विश्लेषण की एक **तीसरी प्रणाली** का प्रस्ताव किया है।

इन सिद्धान्तों के विभेदों की चर्चा यहाँ हमें नहीं करनी है। किन्तु यह अनुभव करलेना अत्यावश्यक है कि इस विषय में पारिभाषिक समस्या बहुत उग्र है कि 'वैधता' की दृष्टि से रचनान्तरक व्याकरण किसे कहा जाए ? यदि हम इसकी परिभाषा इस रूप में करना चाहें, जिससे यह उक्त तीनों विद्वानों के सिद्धान्तों पर पूरी तरह घटित हो, तब हम पाएंगे कि यह ऐसे बहुत से सिद्धान्तों पर भी लागू हो जाएगी, जिन्हें उनके उद्घोषक 'अरचनान्तरक' कहते हैं।

यह सब कहने का अभिप्राय महज़ इतना ही है कि पाठक यह समझ ले कि यद्यपि 'रचनान्तरक' संज्ञा की परिभाषा बहुत ही सुबद्ध रूप में कीगई है, किन्तु शोम्स्की आदि तीनों ने ही उस व्याकरण को भिन्न-भिन्न रूप में निबद्ध किया है।

दुर्भाग्य से इस संज्ञा ने आधुनिक भाषाविज्ञान के हाल के ग्रन्थों में पर्याप्त अनावश्यक विवाद और भ्रम को जन्म दिया है। यदि हम इस संज्ञा का प्रयोग,

किसी एक सिद्धान्त में विहित आधार पर न करके, सामान्य रूप में करें, तब हम पर्याप्त औचित्य के साथ कहसकेंगे कि वाक्यों के वे **आन्तरिक सम्बन्ध** 'रूपात्मक' कहे जासकते हैं, जो 'बाह्य-व्याकरण की सीमा काट देते हैं'। इस संज्ञा का यह पूर्ण और उचित प्रयोग है। वाक्यों के बीच इन 'रचनान्तरक' सम्बन्धों में से अनेक को परम्परागत व्याकरण में भी मान्यता मिली है। किन्तु यह अभी हाल ही में सम्भव होपाया है कि भाषाविद् इसकी व्याख्या व्यक्ततर प्रजनक ढाँचे के भीतर करपाने में समर्थ हुए हैं। जो भी व्याकरण प्रत्येक वाक्य की पृष्ठ संरचना और गहरी संरचना का विश्लेषण करता है, तथा उन दोनों विश्लेषणों के बीच प्रणालीबद्ध सम्बन्ध-स्थापन करता है, उसे 'रचनान्तरणी व्याकरण' कहा जासकता है (भले ही उसे यह नाम दियाजाए या नहीं)।

इस व्यापक भावना में इस नाम से कहे जासकने वाले अनेक सिद्धान्तों मेंसे अबतक का सर्वाधिक विकसित सिद्धान्त **शोम्स्की** ने प्रस्तुत किया है। अतः हम आगामी विमर्श में अपना ध्यान उस प्रजनक प्रणाली तक ही केन्द्रित रखेंगे, जिसे **शोम्स्की** और उसके साथियों ने विकसित किया है, और जिसे पिछले कुछ वर्षों में अनेक भाषाओं की व्याकरणात्मक संरचना के कुछ अंशों पर विनियुक्त कियागया है। अन्यत्र की भाँति इस प्रणाली में भी अनेक अपर्याप्तताएँ विद्यमान हैं। किन्तु, इस पर भी, अबतक यह वाक्यों के बीच उन आन्तरिक **सम्बन्धों** की व्याख्या करने में पर्याप्त समर्थ सिद्ध हुई है, जिन्हें हमने 'रचनान्तरक' कहा है।

६. ६. २ रचनान्तरणी अस्पष्टता

'कोष्ठन' (या घटक-संरचना) की धारणा को व्याकरण में अनुप्रविष्ट कराने का एक कारण यह है कि इसके द्वारा हम अनेक व्याकरणात्मक अस्पष्टताओं को दूर करने में समर्थ होते हैं (तु०-६. १. ३)। किन्तु, कुछ भाषाओं में ऐसी भी अनेक अस्पष्टताएँ हैं, जिनका आधार कोष्ठन के विभेद पर ही आश्रित न होकर उन 'आन्तरिक सम्बन्धों' पर स्थित होता है, जिन्हें हमने 'रचनान्तरणी' कहा है।

इस विमर्श का आरम्भ हम परम्परागत व्याकरण के एक प्रसिद्ध उदाहरण से करना चाहेंगे : लैटिन प्रयोग 'अमोर देई' (amor Dei=देवों का प्यार) संदर्भ-हीन दशा में 'अस्पष्ट' कहाजाएगा। लैटिन के रूढ़िवादी वैयाकरण कहेंगे कि 'देई' रूप कर्तृपरक या कर्मपरक 'जनक-षष्ठी' का प्रयोग होसकता है। किन्तु इस अस्पष्टता की एक 'रचनान्तरक' व्याख्या इसप्रकार की जासकती है : इसका अर्थ है कि **'अमोर देई'** प्रयोग दो वाक्यों से सम्बद्ध या व्युत्पन्न है : (१) ऐसे वाक्य से जिसमें **'देउस्'** शब्द (प्रथमान्त) **'अमोर'** (प्यार करना) क्रिया का **कर्त्ता** है; और (२) ऐसे वाक्य से, जिसमें (द्वितीयान्त) शब्द **'देउस्'** क्रिया **अमोर** का **कर्म** है। (पीछे ५. ४. ४. में हमने शब्द की 'प्रकृति' के विषय में जो परम्परागत धारणा व्यक्त की है, उसके अनुसार इन वक्तव्यों में 'देउस्' और 'अमोर' को 'प्रकृति' मानकर सुधार कियाजाना

चाहिए।) इसीप्रकार, अंग्रेज़ी प्रयोग **'दि लव ऑफ़ गॉड'** (*the love of God*) का सम्बन्ध भी दो वाक्यों के साथ माना जासकता है : (१) जिसमें **'गॉड' 'लव'** क्रिया का **कर्त्ता** हो; और (२) जिसमें **'गॉड' 'लव'** क्रिया का **कर्म** हो : यथा *God loves mankind* और *Mankind loves God*। अबभी यह प्रयोग किसी-किसी वाक्य में अस्पष्ट रह सकता है : यथा *It is the love of God which inspires men to work for their fellows.*

शोम्स्की द्वारा दिएगए उदाहरणों में एक सर्वप्रसिद्ध उदाहरण *flying planes* का है, जो पूर्वोक्त कारणों से ही अस्पष्ट है (यथा—*Flying planes can be dangerous* में)। प्रथम व्याख्या के अनुसार **'प्लेन'** और **'फ़्लाई'** में क्रमशः **कर्त्ता** और **क्रिया** का सम्बन्ध है, जबकि दूसरे के अनुसार उनमें **कर्म** और **क्रिया** का संबंध है (तु०-*Planes fly* Vs *John flies planes*)।

परम्परागत व्याकरण में **'पार्टिसिपल'** (कृदन्त) और **'जीरण्ड'** (क्रियार्थक या तुमर्थ) के बीच विभेद मानाजाता है। जहांतक अंग्रेज़ी का सम्बन्ध है, इसे इसप्रकार सूचित किया जासकता है : (क) **'पार्टिसिपल'** उस शब्द को कहते हैं, जिसकी व्युत्पत्ति **क्रिया** से होती है, और प्रयोग **विशेषण** के रूप में होता है; और (ख) **'जीरण्ड'** ऐसा शब्द है, जिसकी व्युत्पत्ति **क्रिया** से होती है और प्रयोग **संज्ञा** के रूप में। 'फ़्लाइङ् प्लेन्स' जैसे अस्पष्ट प्रयोग के विवेचन केलिए यह विभेद ही स्पष्टतः संगत ठहरता है। यदि कर्त्ता-क्रिया-अन्विति वाले निम्न दोनों अस्पष्ट वाक्यों की तुलना करें :

(क) *Flying planes are dangerous.*

(ख) *Flying planes is dangerous.*

तब कृदन्त और क्रियार्थक के बीच विभेद पर्याप्त रूप में स्पष्ट होजाएगा। (क) में *'are'* क्रिया बहुवचन में इसलिए है कि इसका कर्त्ता *'planes'* भी बहुवचन में है, और वह अन्तःकेन्द्रिक 'संघ'—*'flying planes'*— के 'शीर्ष' पर स्थित है। फिर, यहाँ **'फ़्लाइङ्'** का वितरण किसी भी अन्य विशेषण ('अतिध्वनिक' आदि) के समान है। किन्तु (ख) में **'शीर्ष'** और **'विशेषक'** का यह सम्बन्ध समस्या उपस्थित करदेता है : यहां **'फ्लाइङ्'** का प्रयोग 'नाम' के रूप में हुआ है और **'फ़्लाइङ् प्लेन्स'** के रूप में सम्पूर्ण संघ 'कर्त्ता' है (तु०-**'फ़्लाइङ् इज़ डेंजरस'**)। इसप्रकार, 'कृदन्त' और 'क्रियार्थक' (तुमर्थ) प्रयोगों के विषय में परम्परागत वैयाकरणों के वक्तव्य प्रकृतितः 'रचनान्तरणी' हैं। हम यूँ भी कहसकते हैं कि कोई विशिष्ट शब्द एक वाक्य में 'क्रिया' और 'रचनान्तरणी पदबन्ध' की स्थिति में 'विशेषक' बनकर रहसकता है, या वह एक वाक्य में 'क्रिया' और 'रचनान्तरण-सम्बद्ध संघ' में 'नाम' बनकर रहसकता है। इन सम्बन्धों की व्याख्या में समर्थ नियमों की प्रकृति पर बिना विचार किये, यहाँ हम इतना ही कहना चाहेंगे कि (क) में 'फ़्लाइङ् प्लेन्स' पदबन्ध एक ऐसे नियम से व्युत्पन्न किया जासकता है, जो *'Planes are flying'* जैसे वाक्य की 'रचना' करके उसे **'विशेषण + नाम'** के सूत्र में एक **'नाम-संघ'** में परिणत

करदेता है; और (ख) में इसकी व्युत्पत्ति एक ऐसे नियम से होती है, जो '*John flies planes*' जैसे वाक्य में निहित संरचना से रचनान्तरित करके इसे **'नाम+नाम'** प्रकार का संरचनात्मक वर्णन देता है। अगर अब हम यह मानलें कि व्याकरण के नियम (क) और(ख) जैसे वाक्यों को प्रजनित करते हैं, जिनकी व्याख्या 'अन्तर्हित' (आन्तरिक) और 'व्युत्पन्न' (बाह्य) दोनों प्रकार की संरचना के माध्यम से होसकती है, तब हम वास्तव में **'फ़्लाइङ् प्लेन्स'** जैसे प्रयोगों की कर्तृपरक और कर्मपरक व्याख्याओं का ही सिद्धान्ततः स्पष्टीकरण कर रहेहोते हैं।

अब '*eating apples*' (**ईटिङ् एप्पल्स**) जैसे उदाहरण पर विचार करें। यह भी अस्पष्ट है। एक व्याख्या (तु०-**टु ईट एप्पल्स टु : फ़्लाई प्लेन्स**) के अनुसार इसकी तुलना उक्त (ख) में प्रयुक्त '**फ़्लाइङ् प्लेन्स**' से की जा सकती है। किन्तु (ग) **'ईटिङ् एप्पल्स कॉस्ट मोर दैन कुकिङ् एप्पल्स'** में निदर्शित प्रयोग पर आश्रित व्याख्या के अनुसार इसका समाधान यह कहकर नहीं किया जासकता कि (ग) की आन्तरिक रचना में '**एप्पल्स**' का '**ईटिङ्**' के साथ प्रयोग 'कर्तृपरक' है। इसप्रकार का **'ईटिङ् एप्पल्स'** का 'कर्तृपरक' प्रयोग केवल ऐसी असाधारण या विचित्र परिस्थितियों में ही हो सकता है, जहाँ '**एप्पल्स**' को 'मानवीकरण' द्वारा प्रस्तुत कियागया हो। ऐसी स्थिति में (घ) *Apples eat with a heavy appetite* जैसे वाक्य भी स्वीकार्य ठहरेंगे। हम स्वीकार करलेते हैं कि (घ) 'असामान्य' है; और इस 'असामान्यता' का हम जो भी स्पष्टीकरण देंगे, वही **'ईटिङ् एप्पल्स'** की 'कर्तृपरक' व्याख्या के स्पष्टीकरण पर भी लागू होजाएगा।

'क्रि+इङ्+ना' के रूप में सूत्रित अनेक प्रयोग अंग्रेज़ी में ऐसे हैं, जो बहुगुण अस्पष्ट हैं। वस्तुतः कोई यह भी कहसकता हैं कि **'फ्लाइङ् प्लेन्स'** की एक व्याख्या इस परिभाषा के रूप में भी होसकती है : **'प्लेन्स फ़ॉर फ्लाइङ्'**। इस प्रयोग की यह तीसरी व्याख्या केवल पुनरुक्तिमूलक है। किन्तु जो व्याकरण **'ईटिङ् एप्पल्स'** की व्याख्या केलिए न्यूनतम **'दो संरचना'** वाले सिद्धान्त का विधान करेगा, उसे **'फ़्लाइङ् प्लेन्स'** के तीन विश्लेषण भी स्वीकार करने होंगे।

इन प्रयोगों को केवल व्याकरणात्मक दृष्टि से ही 'अस्पष्ट' क्यों कहाजाता है, अर्थात्मक दृष्टि से क्यों नहीं? इसका कारण सम्भवतः वही है, जो ६. १. ३ में दिया जाचुका है। शोम्स्की द्वारा दियेगए एक अन्य उदाहरण द्वारा हम इस बात को स्पष्ट करसकते हैं : **'द शूटिङ् ऑफ़ द हण्टर्स'** प्रयोग अस्पष्ट है (जब तक इस का प्रयोग किसी ऐसे ही सन्दर्भ में न हो, जो इसे 'अस्पष्टताहीन' करदे); क्योंकि (क) **'शूट'** का प्रयोग सकर्मक और अकर्मक दोनों रूप में होसकता है (अधिक शुद्ध रूप में **'सकर्मकता के साथ'** या **'अकर्मकताभास के साथ'** (तु०-८. २. ११); और (ख) **'शूट'** क्रिया वाले वाक्यों में **'द हण्टर्स'** का प्रयोग या तो 'अकर्मक' के **कर्त्ता के** रूप में, या 'सकर्मक' के कर्म के रूप में भी होसकता है : क्रमशः **'द हण्टर्स शूट'** और **'जोन शॉट् द हण्टर्स'** में। यहाँ यह बतादेना उचित ही है कि **'द शूटिङ् ऑफ़**

द हण्टर्स' का कर्मपरक प्रयोग इस 'कर्मवाच्य रचना' से निकट-सम्बद्ध है : '**द हण्टर्स वर शॉट् (बाइ जोन)**' । स्पष्ट और विशिष्ट 'कर्म' वाली पूर्णतः 'सकर्मक क्रिया' के साथ '**द क्रि+इङ् ऑफ़ नासं**' आकार के प्रयोगों की सामान्यतः 'कर्तृपरक व्याख्या' सम्भव नहीं है । अर्थात्, उनको **नासं** के 'कर्मपरक' प्रयोग के रूप में विस्तृत नहीं किया जा सकता ('**द शूटिङ् ऑफ़ द हण्टर्स ऑफ़ द डीयर**' के रूप में) । इसके स्थान पर, कर्तृपरक **नासं** 'स्वामिभाव' के सूचक 'प्रत्यय' से संयुक्त होता है, जबकि 'कर्मपरक '**नासं**' के साथ '**ऑफ़**' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग होता है : *'the hunters' shooting of the deer'* के रूप में । ८. २. ३ से आगे शेष अध्याय में हम देखेंगे कि यह उन तथ्यों मेंसे केवल एक है, जो यह ध्वनित करते हैं कि अन्य भाषाओं की भाँति अंग्रेज़ी में भी सकर्मक क्रिया के '**कर्म**' और अकर्मक क्रिया के अनुकारी '**कर्त्ता**' में एक विशिष्ट सम्बन्ध है । यहाँ पर हमें उन अनुबन्धों के ऊपर दिए अनौपचारिक विवरण पर ही सन्तोष करना पड़ेगा, जो '**द शूटिङ् ऑफ द हण्टर्स**' जैसे प्रयोग की अस्पष्टताओं का निर्देश करता है ।

अब हम 'रचनान्तरक' रूप में सम्बद्ध रचनाओं से अनुकारी रूप से स्थित शब्दों और प्रयोगों को विविक्त करने के लिए, बहुधा प्रयुक्त, अंकात्मक अधोलिपि के तदर्थ प्रचलन का विनियोग करेंगे । उदाहरणार्थ, हम कहेंगे कि '**जोन शूट्स द डीयर**' का आकार इसप्रकार है : **नासं**$_1$ क्रिसक **नासं**$_2$ (**नासं**$_1$=**जोन**; क्रिसक का प्रयोग सकर्मक क्रियाओं की श्रेणी के एक विशिष्ट **अवयव** '**शूट**' केलिए हुआ है, और **नासं**$_2$=हण्टर्स'); जबकि '**द हण्टर्स शूट**' प्रयोग का आकार इसप्रकार है : **नासं**$_1$ क्रिअक (**नासं**$_1$= **द हण्टर्स**; क्रिअक से अकर्मक क्रियाओं की श्रेणी के एक विशिष्ट अवयव—'**शूट**'—की सूचना मिलती है) । इस प्रचलन के रहते हम कहसकते हैं कि '**द क्रि+इङ् ऑफ़् नासं**' का सूत्र व्याकरणात्मक दृष्टि से अस्पष्ट कहाजाएगा (अर्थात्मक दृष्टि से ऐसा होना आवश्यक नहीं), यदि व्याकरण केवल निम्न वाक्यों को ही प्रजनित करता हो :

(५) **नासं**$_1$ क्रिसक **नासं**$_2$

और (६) **नासं**$_1$ क्रिअक

और यदि (क) 'क्रि+इङ्' में स्थित '**क्रि**' (५) की 'क्रिसक' और (६) की 'क्रिअक' के साथ एकरूप हो, और (ख) यदि '**क्रि+इङ् ऑफ़् नासं**' का '**नासं**' (५) के **नासं**$_1$ और (६) के **नासं**$_2$ के उभयरूपों में प्रयुक्त होसकता हो । ये शर्तें '**द शूटिङ् ऑफ़ द हण्टर्स**' में पूरी होजाती हैं । किन्तु क्या ये शर्तें '**द ईटिङ् ऑफ द एप्पल्स**' में भी पूरी घटती हैं ? सरलता केलिए यहाँ यह मान लेंगे कि '**ईट्**' क्रिया के **सकर्मक**, **अकर्मक** और **अकर्मकाभासी**—तीनों—रूप, सैद्धान्तिक रूप से सन्दिग्ध होते हुए भी, **एक ही क्रिया के तीन विविध रूप** हैं । यह रूप उक्त (५) और (६) में बनाए दोनों वाक्यों में प्रयुक्त होते हैं : यथा—'**जोन ईट्स द एप्पल**', और '**जोन इज़ ईटिङ्**' में । इसलिए '**द ईटिङ् ऑफ़ एप्पल्स्**' का प्रयोग 'सकर्मक रूप से' व्याख्येय है (अर्थात्

नाम$_2$ के रूप में **'द एप्पल्स'** एक कर्मपरक वाक्य में **'ईट्'** क्रिया के साथ प्रयुक्त हुआ है। विन्यासात्मक दृष्टि से इसका 'कर्तृपरक' प्रयोग भी होसकता है या नहीं, इसका उत्तर इस प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करता है कि **'द एप्पल्स आर ईटिङ्'** जैसे वाक्य के प्रजनन को विहित कहाजाए या निषिद्ध । विचार्य बात यह है कि **'द ईटिङ् ऑफ़् द एप्पल्स'** और **द एप्पल्स् आर ईटिङ्** केबीच 'अन्तःसम्बन्ध' एकसमान रूप में व्यक्त हैं। दूसरे शब्द में, या तो कर्तृपरक **पदबन्ध** 'द ईटिङ् आफ़ द एप्पल्स' और वाक्य 'द एप्पल्स् आर ईटिङ्' दोनों का प्रजनन व्याकरणात्मक दृष्टि से सम्भव हो (और **अन्तःरचना** की दृष्टि से उनका प्रणालीगत सम्बन्ध भी स्थापित हो), या फिर उन दोनों को 'व्याकरणविरुद्ध' कहकर बहिष्कृत कर दियाजाए : ये दोनों ही बातें इस तथ्य पर आश्रित हैं कि **'एप्पल्स'** नाम और 'ईट्' क्रिया का उपवर्गीकरण कोष में व्याकरणात्मक लक्षणों के साथ (४. ३. ३) इसप्रकार से हुआ है या नहीं कि व्याकरण-नियम 'अप्राणता' जैसे अभिलक्षण से युक्त किसी नाम का संघात किसी ऐसी क्रिया-श्रेणी के साथ कर्त्ता के रूप से अनुमत या निषिद्ध घोषित करते हैं या नहीं, कि जिसका एक अवयव 'ईट्' क्रिया है। (यह वही सिद्धान्त है, जिसका विवेचन ६. १.३ में **'फ्रेश फ्रूट मार्केट'** और **'न्यू फ्रूट मार्केट'** की घटक-संरचना के प्रसंग में हुआ है।)

६. ६. ३ वाक्यविन्यास में निष्प्रभावन और विपथन

५. २. २ में लैटिन के **'अप्रत्यक्ष वचन'** की रचना पर विचार होचुका है। वहां यह सुझायागया था कि **'दिको ते वेनिस्से'** (**'कहता हूँ तुझे आने को'**) वाक्य को दो चरणों में प्रजनित कियाजाना चाहिए : प्रथम तो प्रत्यक्ष रचना **'तू वेनिस्ति'** (**तू आ**) के रूप में, और तब **'दिको'** जैसी 'कथनात्मक' क्रिया के बाद प्रयोग होने पर इसे 'अप्रत्यक्ष' रूप **'ते वेनिस्से'** में परिवर्त्तित करके। सिद्धान्त-रचना का यह अपूर्ण तरीका है। शोम्स्की के 'रचनान्तरक' व्याकरण की प्रणाली में हम देखेंगे कि स्वयं वाक्य की अपेक्षा **'(तू) वेनिस्ति'** जैसी अन्तर्हित अन्तःसंरचना' यहाँ **'दिको'** क्रिया की **'कर्म'** बनकर **'अन्तर्निविष्ट'** है ('अन्तर्निवेशन' केलिए देखें ६. ६. ८)।

यह सुविदित ही है कि लैटिन में अप्रत्यक्ष वचन के निर्माण में किसी 'कर्म-परक वाक्य' का अन्तर्निवेशन अस्पष्टता का आधान करता है। उदाहरणार्थ, (क) **क्लोदिया अमात कैतुल्लम्**, और (ख) **क्लोदियम् अमात कैतुल्लस्**, में अन्तर **'प्रथमा'** और **'द्वितीया'** विभक्ति (७. ४. २) के प्रयोग के कारण स्पष्ट है; किन्तु **'दिको क्लोदियम् अमारे कैतुल्लम्'** की रचना **'दिको'** के 'कर्म' रूप में (क) या (ख) किसी को भी अन्तर्विष्ट करने पर सम्भव होसकती है; और जबतक किसी व्यापक सन्दर्भ में इसकी अस्पष्टता दूर न कीजाए इसका अर्थ किसी भी रूप में लिया जासकता है : **'कहता हूँ कि क्लोदिया कैतुल्लस को प्यार करती है'** या 'कहता हूँ कि **कैतुल्लस क्लोदिया को प्यार करता है'**। (लैटिन या संस्कृत में इन अस्पष्टताओं को सुलझाने में शब्दक्रम से कोई सहायता नहीं मिलती।) इसकी अस्पष्टता का कारण यह है

कि **कर्त्ता** और **कर्म** दोनों का ही प्रयोग द्वितीया में हुआ है, और विशेषकर इस उदाहरण में दोनों मेंसे कोई भी 'अमोरे' के कर्त्ता या कर्म के रूपमें प्रयुक्त होसकता है। इसके विपरीत, '**दिको होरातिउम् एदेरे ओलियाम्**' (कहता हूँ होरातुम् जैतून को खा रहा है) सम्भवतः अस्पष्ट नहीं है। यह केवल तभी अस्पष्ट कहा जासकता है, यदि इसकी अन्तर्हित-संरचना 'होरातिउम् एदेरे ओलियाम्' का सम्बन्ध '**होरातिउस् एदुन्त ओलियाए**' और '**होरातिउस् एदित् ओलियास्**' के साथ उभयात्मक रूप से हो।

अब हम 'ग्रीक' की 'अप्रत्यक्ष-वचन-रचना' पर विचार करेंगे। वैसी अनेक वैकल्पिक रचनाएँ सम्भव हैं। इनमें से हम केवल दो का ही उल्लेख करेंगे। उनमें से एक **लैटिन** रचना की अनुकारिणी है, जबकि दूसरी **अंग्रेज़ी** के '*that*' या **संस्कृत** के '**यत्**' से युक्त रचना जैसी है। कुछ क्रियाओं में इनमें से कोई एक ही रचना अधिक संगत बैठती है, दूसरी नहीं। किन्तु कथनार्थक क्रिया का प्रयोग दोनों के ही साथ होना सम्भव है। उदाहरणार्थ :

aggale'i { (*a*) *kûron poreúesthai.*
(*b*) *hoti kûros poreúetai.*

ये दोनों एक ही अन्तर्हित वक्तव्य की दो वैकल्पिक अभिव्यक्तियां हैं : '(**वह) घोषित करता है कि कूरोस प्रयाण करचुका है**'। (क) में '**कूरोन्**' द्वितीया में है, और '**पोरेउएस्थाई**' तुमर्थक है; जबकि (ख) में '**होति**' संस्कृत के '**यत्**' का समानार्थक अव्यय है, और '**कूरोस् पोरेउएताई**' प्रत्यक्ष-कथन के सामान्य रूप से अभिन्न है।

जैसा कि हम देखचुके हैं, **लैटिन प्रयोग** '**दिको क्लोदियम् अमारे कैतुल्लस्**' की पृष्ठ संरचना में '**दिको + क्लोदिया अमात् कैतुल्लम्**' और '**दिको + क्लोदियम् अमात् कैतुल्लस्**' के बीच का विभेद निष्प्रभावित होचुका है (तु०-३. ३. ५)। **ग्रीक उदाहरण** इससे विपरीत स्थिति को प्रदर्शित करता है; जिसे हम (लैम्ब के अनुकरण पर) **विपथन** या **बहुलीकरण** कहसकते हैं : कुछ वाक्य आकारतः (बाह्य-संरचना में) भिन्न होकर भी अन्तःरचना में एकरूप होसकते हैं। (हिन्दी में इसतरह के उदाहरण इसप्रकार होसकते हैं : '**उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को अमान्य किया**' और '**उन्होंने अमान्य किया कि ईश्वर का अस्तित्व है**', इत्यादि।

यद्यपि अबतक हमने **निष्प्रभावन** और **विपथन** के रूप में '**रचनान्तरणी सम्बन्धों**' पर विचार किया है, पर यह स्पष्ट करदेना उचित है कि 'बाह्य' और 'अन्तः'-संरचना का अस्तित्व स्वतन्त्र रूप में भी उचित ही कहा जासकता है। परम्परागत वैयाकरण कहेंगे कि अंग्रेज़ी के (हिन्दी-संस्कृत के भी) कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य विन्यासात्मक दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं, क्योंकि **प्रथम** का 'कर्म' **द्वितीय** में 'कर्त्ता' बन जाता है। यह वक्तव्य 'रचनान्तरणी' भी है, क्योंकि इसका अर्थ है कि उनकी 'अन्तःसंरचना' एकरूप या 'समरूप' है। कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य वाक्यों के बीच सम्बन्ध का विवरण देना ही चाहिए, भले ही यह विषय 'विपथन' का है या नहीं (इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं)। इससे बढ़कर, केवल तर्क की

दृष्टि से हम मानलेते हैं कि **'द शूटिङ् ऑफ़् द हण्टर्स'** (या इसी **'द क्रि+इङ् ऑफ़् नासं'** सूत्रवाली अन्य रचनाओं) का प्रयोग अस्पष्ट नहीं है, बल्कि यह कर्मपरक या वस्तुनिष्ठ है; और यह कि **'द हण्टर्स शूटिङ्'** (एवं अन्य **'नासं'स् क्रि+इङ्'** वाले रूप) जैसे प्रयोग अनिवार्यतः आत्मनिष्ठ या 'कर्तृपरक' हैं। हम अबभी चाहेंगे कि व्याकरण **'द शूटिङ् ऑफ़् द हण्टर्स'** को 'सकर्मक' वाक्य के रूप में (**नासं, शूट द हण्टर्स**—के रूप में) वर्णित करें, और **'द हण्टर्स शूटिङ्'** को 'अकर्मक वाक्य' (**द हण्टर्स शूट**) के रूप में।

विन्यासात्मक निष्प्रभावन और विपथन भाषा में बहुल रूप में मिलते हैं तथा 'बाह्यसंरचना' और 'अन्तःसंरचना' के बीच विभेद को अधिक स्पष्ट करते हैं।

६. ६. ४ पब-नियम और रच-नियम

'रचनान्तरणी व्याकरण' के विषय में हमारा अबतक का विमर्श बहुत ही अनौपचारिक रहा है। यह उन विविध नियम-प्रणालियों की दृष्टि से तो लगभग तटस्थ ही रहा है, जो अन्तःसंरचना और बाह्यसंरचना के बीच सम्बन्धों को रूपायित करना चाहती हैं: यहाँ हम शोम्स्की द्वारा **'सिण्टैक्टिक स्ट्रक्चर्स'** (विन्यासात्मक संरचनाएं) में प्रस्तावित और विकसित व्याकरणात्मक संरचना के सिद्धांत पर विचार करेंगे। बाद में इसी खण्ड में हम उन संशोधनों पर भी विचार करेंगे, जो इस विषय में पिछले कुछ वर्षों के भीतर सुझाएगए हैं।

अनेक कारणों से शोम्स्की इस परिणाम पर पहुँचे कि **'पदबन्ध संरचना'** की धारणा भाषा के केवल एक भाग केलिए ही पर्याप्त ठहरती है, जबकि शेष भाषा को संघ-संरचना द्वारा प्रदत्त सूत्रों पर रचनान्तरण के एक सामान्य विन्यास के पुनः-पुनः प्रयोग के द्वारा व्युत्पन्न किया जासकता है। यदि हम पदबन्ध-संरचनी-व्याकरण को इतना व्यापक बनाना चाहें कि वह सम्पूर्ण भाषा पर लागू होसके, तब एक ओर तो हम उस व्याकरण की सीमितता और सरलता से हाथ धोबैठेंगे और दूसरी ओर इस रचनान्तरक विकास की सरलता से भी वंचित होजाएँगे।'

अतः शोम्स्की ने भाषा की वाक्यरचना को दो भागों में विभक्त करने का प्रस्ताव किया: (१) **पदबन्ध-संरचना-घटक** (या आधारी घटक), जिसमें इस आकार के नियम हों: क्ष+क+त्र → क्ष+ख+त्र (तु०-६. ५. २), और (२) **रचनान्तरणी**-घटक, जिसमें ऐसे 'पूरक' नियम हों, जिनका पदबन्ध-रचना-नियमों के आकार से प्रतिबद्ध होना अनिवार्य न हो। यहां से आगे हम इन दोनों घटकों के नियमों के लिए क्रमशः **पब-नियम** और **रच-नियम** जैसे 'संक्षेपों' का प्रयोग करेंगे। शोम्स्की की पुस्तक में दिए **'पब-नियम'** निम्न हैं:

(१) **वा → नासं + क्रिसं**

(२) **क्रिसं → क्रिया + नासं**

(३) नासं → { नासं$_{\text{एक}}$ / नासं$_{\text{वहु}}$ }

(४) नासं$_{\text{एक}}$ → आ + ना + ϕ

(५) नासं$_{\text{वहु}}$ → आ + ना + स (s)

(६) क्रिया → सहाक्रि + क्रि

(७) सहाक्रि → अ (शो) (हैव + अन्) (बी + इङ्)

यहां हमने 'पब-नियमों' मेंसे 'शब्दकोषीय स्थानापादन' के नियमों को छोड़ दिया है (तु०-४.३.२)। उनके स्थान पर शोम्स्की का सरल कोष इस रूप में दिया जासकता है :

आ = {*the*}

ना = {*man, ball,...*}

क्रि = {*hit, take, walk, read,....*}

शो = {*will, can, may, shall, must*}

इनमें से इस स्थिति में केवल नियम-७ की ही व्याख्या की आवश्यकता है। शेष सब पहले खण्डों में कथित प्रचलनों से मेलखाते हैं। यह नियम 'सहाक्रि' को, जिसका सम्बन्ध सहायक क्रिया के साथ स्मृतिगत है, चार अवयवों के एक सूत्र के रूप में विकसित करता है : इनमें से 'अ' अनिवार्य है (और रचनान्तरक नियमों के द्वारा 'अन्विति' के विचार केलिए प्रयोग कियाजाएगा); इस नियम के दाईं ओर के शेष सभी नियम ऐच्छिक (याहच्छिक) हैं, और उनमें से प्रत्येक एक-दूसरे, या अन्य दोनों, से स्वतन्त्र है। अतः इस नियम का निर्गम इससे पहले नियम में 'सहाक्रि' के स्थान पर निम्न में से किसी एक सूत्र को स्थापित करेगा :

(१) अ

(२) अ + शो

(३) अ + हैव + अन्

(४) अ + बी + इङ्

(५) अ + शो + हैव + अन्

(६) अ + शो + बी + इङ्

(७) अ + हैव + अन् + बी + इङ्

(८) अ + शो + हैव + अन् + बी + इङ्

इस नियम के अन्य लक्षण बाद में समझाए जाएंगे।

पब-नियमों का निर्गम एक 'बीज-सूत्र' के रूप में होता है। इसे 'बीजवाक्य' शब्द से भ्रान्त नहीं करना चाहिए। शोम्स्की के अनुसार : उस किसी भी वाक्य को 'बीजवाक्य' कहा जासकता है, जिसे एक ही 'बीज-सूत्र' से, बिना किसी वैकल्पिक रचनान्तरणों के, प्रजनित किया जासकता है। वैसे जबतक अनिवार्य रच-नियमों मेंसे कुछ-न-कुछ का प्रयोग न कियाजाए, कोई वाक्य प्रजनित नहीं किए जासकते।

यह बात महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि बहुधा यह मान लियाजाता है कि (सरल, कर्तृवाचक, घोषणात्मक, आदि अंग्रेज़ी के) 'बीज-वाक्य' रचनान्तरक-व्याकरण के केवल पब-संरचनी नियमों से ही प्रजनित किए जासकते हैं।

६. ६. ५ कर्मवाच्य रचनान्तरण

शोम्स्की की पुस्तक में दिएगए **रच-नियमों** की प्रकृति का निदर्शन हम अंग्रेज़ी के कर्मवाच्यात्मक वाक्यों के प्रजनन से देंगे। (शोम्स्की ने अपने आधुनिकतर ग्रन्थ में कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य के बीच सम्बन्ध के विषय में अपनी जो धारणाएँ बदली हैं, उनका यहाँ प्रयोजन नहीं है।) ये सम्बद्ध रच-नियम इसप्रकार हैं :

कर्मवाच्य (ऐच्छिक)
संरचनात्मक विश्लेषण : **नासं—सहाक्रि—क्रि—नासं**
संरचनात्मक परिवर्तन : **$क्ष_1$—$क्ष_2$—$क्ष_3$—$क्ष_4$→$क्ष_4$—$क्ष_2$+बी +अन्+$क्ष_3$—बाइ+$क्ष_1$**

(इसकी एक वैकल्पिक समतुल्य, किन्तु कम रूपात्मक, रचना इस प्रकार होसकती है : **$नासं_1$—सहाक्रि—क्रि—$नासं_2$→$नासं_2$—सहाक्रि+बी+अन्–क्रि—बाई+$नासं_1$** इनमें धनात्मक और अन्तरक चिन्हों के बीच शृंखलन-प्रतीकों की दृष्टि से अन्तर है; पर हमें इस पर अधिक विचार में नहीं जाना है।)

प्रथम अवधेय बात तो यह है कि उक्त नियम के दो **भाग** हैं : **संरचनात्मक विश्लेषण** और **संरचनात्मक परिवर्तन** के (अबसे हम इन्हें क्रमशः **संवि** और **संप** कहेंगे)। **पब-नियम** ऐच्छिक या अनिवार्य, पुनरावर्त्ती या अपुनरावर्त्ती, अथवा सन्दर्भ-निर्दिष्ट या सन्दर्भमुक्त किन्हीं पूर्वतर प्रयुक्त नियमों के **निर्गम** पर लागू होते हैं, जबकि **रच-नियम** केवल उन्हीं सूत्रों पर कार्य करने केलिए परिभाषित किएजाते हैं, जो **संवि** में बताए अवयवों की दृष्टि से विश्लेष्य होते हैं। प्रस्तुत निदर्शन में **संप** के रूप में रचनान्तरण उन सूत्रों तक ही सीमित रहता है, जिनका विश्लेषण **नासं, सहाक्रि, क्रि,** और **नासं** के रूप में सम्भव है। इनमें चारों अवयव संप के बाई ओर **क्ष : $क्ष_1$** आदि के रूप में अंकित हैं। **$क्ष_1$** का अर्थ **संवि** के प्रथम अवयव **'नासं'** से है; **$क्ष_2$** **'सहाक्रि'** को सूचित करता है; इत्यादि। संप में बताया रचनान्तरण निम्न प्रभाव प्रदर्शित करता है : (क) प्रथम और चतुर्थ अवयवों का अवकलन होता है; (ख) अन्तिम **नासं** के साथ **बाई** (by) का प्रयोग जुड़ जाता है; और (ग) **'बी+अन्'** **सहाक्रि** के साथ संयुक्त होजाता है। वास्तव में इसका परिणाम बाद में बताए सरलतर वक्तव्य के रूप में होता है : **$नासं_1$—सहाक्रि—क्रि—$नासं_2$→$नासं_2$—सहाक्रि+बी+अन्—क्रि—बाई+$नासं_1$**।

अब हमें यह देखना चाहिए कि इस वक्तव्य का क्या अर्थ है कि 'कोई सूत्र **नासं, सहाक्रि, आदि चार अवयवों की दृष्टि से विश्लेष्य है**'। इससे पहले हमें पब-

नियमों की सूची मेंसे सरसरी तौर पर गुज़रना होगा और उन सूत्रों का उल्लेख करना होगा, जो पहले नियमों के परिणाम में नए सूत्र के विनियोग से प्राप्त होते हैं (तु०-६. ६. ४)।

इन नियमों से क्रमश:

(१) : नासं + क्रिसं
(२) : नासं + क्रिया + नासं
(३) : नासंएक + क्रिया + नासंएक
(४) : आ + ना + ϕ + क्रिया + आ + ना + ϕ
(५) : आ + ना + ϕ + सहाक्रि + क्रि + आ + ना + ϕ
(६) : आ + ना + ϕ + अ + शो + हैव + अन् + क्रि + आ + ना + ϕ

यह अवधेय है कि इनमें नियम-३ का दोबार विनियोग हुआ है। क्योंकि **नासं** को '**नासंएक**' के रूप में दोनों जगह रखा गया है, अतः चतुर्थ नियम को भी दो बार विनियुक्त कियागया है। किन्तु पाँचवाँ नियम प्रयोज्य ही नहीं रहा। सातवें नियम में '**सहाक्रि**' को '**अ + शो + हैव + अन्**' के रूप में पुनर्लिखित कियागया है (ऊपर ६. ६. ५ में गिनाए आठ वैकल्पिक प्रयोगों मेंसे पाँचवां विकल्प)। सातवें नियम का **निर्गम** अब एक 'बीजसूत्र' कहा जासकता है, जो इसप्रकार के समनुकारी **कर्तृ**-परक और कर्म-वाच्यात्मक वाक्यों में अन्तर्हित है : '**द मॅन् विल् हैव रॅड् द बुक्**' और '**द बुक् विल् हैव बीन् रॅड् बाइ द मॅन्**'।

अब हम इस सूत्र पर कर्मवाच्यात्मक रचनान्तरण को विनियुक्त करना चाहेंगे, यदि यह इस नियम के **संवि** भाग में निर्दिष्ट अनुबन्धों की दृष्टि से विश्लेष्य हो। सर्वप्रथम यह अवधेय है कि '**कर्मवाच्यात्मक**' रचना में रचनान्तरण केलिए **संवि** में कथित कोई भी अवयव '**बीज-सूत्र**' में निहित नहीं है। फिर, **पब-नियमों** के द्वारा बीज-सूत्र की व्युत्पत्ति के मध्य हम कहीं भी '**नासं + सहाक्रि + क्रि + नासं**' के सूत्र को निहित नहीं पाते। अतः एकबार फिर हम नियमों में से गुज़रते हैं। किन्तु, इस बार हम वांछित बीजसूत्र की पब-संरचना को प्रजनित करलेंगे।

इन नियमों से :

(१) : वा (नासं + क्रिसं)
(२) : वा (नासं + क्रिसं (क्रिया + नासं))
(३) : वा [नासं (नासंएक) + क्रिसं {(क्रिया + नासं (नासंएक)}]
(४) : वा [नासं (नासंएक (आ + ना + ϕ)) + क्रिसं (क्रिया + नासं (नासंएक (आ + ना + ϕ)))]
(६) : वा [नासं {नासंएक (आ + ना + ϕ)} + क्रिसं {क्रिया (सहाक्रि + क्रि) + नासं (नासंएक (आ + ना + ϕ))}]

(७) : वा [नासं {नासंएक (आ+ना+ϕ)}+क्रिसं {क्रिया (सहाक्रि (अ+शो+हैव+अन्)+क्रि)+नासं {नासंएक (आ+ना+ϕ)}}]

ऊपर कहेगए दोनों निदर्शन-वाक्यों और उनजैसे सभी अन्य वाक्यों का यही **'बीज-सूत्र'** है ।

किसी सूत्र का नामांकित कोष्ठबन्धन प्राविधिक दृष्टिसे 'पद-बन्ध-अंकक' मानाजाता है । इन 'अंककों' को प्रशाखीय आरेख में ग्रन्थियों के माध्यम से भी प्रतिनिहित किया जासकता है : तु०-आरेख-१५ । अब हम दो अन्य धारणाओं को भी इसमें समाविष्ट करेंगे : **अवसूत्र और प्रभावन** ।

'अवसूत्र' सूत्र के उस किसी भी भाग को कहसकते हैं, जो स्वयं भी सूत्र होता है, पर जिसके अवयव एक या अधिक होसकते हैं । उदाहरणार्थ, **क+ख+ग** सूत्र का विश्लेषण अवसूत्रों में कई प्रकार से किया जासकता है : **'क'** और **'ख+ग'** के रूप में, या **'क+ख'** और **'ग'** के रूप में, **दो** अवसूत्रों में; या फिर **क, ख,** और **ग** के **तीन** अवसूत्रों में । जिस बीजसूत्र पर हम अब विचार कररहे हैं, उसका विश्लेषण अनेक प्रकार के अवसूत्रों के विन्यास के माध्यम से किया जासकता है । सूत्र इस प्रकार है :

आ+ना+ϕ+अ+शो+हैव+अन्+क्रि+आ+ना+ϕ

देखना हमें यह है कि क्या अवसूत्रों का कोई एक भी विन्यास कर्मवाच्य के रच-नियमों के संवि में निर्दिष्ट विश्लेष्यता के अनुबन्धों पर पूरा उतरता है या नहीं । यहाँ हमें 'प्रभावन' की धारणा का सहारा लेना होगा ।

कोई भी प्रतीक उस सबपर प्रभावी होता है, जो कुछ कि उसके सद्यःबाद के कोष्ठ में संनिहित होता है । (यही बात किसी ग्रन्थि के सूचक प्रतीक पर भी घटती है : वह अपने से नीचे के सभी चिन्हों पर प्रभावी होता है ।) इसप्रकार जिस **'पदबन्ध-अंकक'** पर हम विचार कररहे हैं, उसमें **'वा'** उस सब पर प्रभावी है, जो भी उसके बाद के कोष्ठकों में **वामान्त** से लेकर **दक्षिणान्त** तक समाहित है । इसी तरह **'क्रिसं'** इन पर प्रभावी है : **क्रिया (सहाक्रि (अ+शो+हैव+अन्)+ क्रि) +नासं,** इत्यादि ।

अब हम **'संरचना-विश्लेष्यता' (संवि)** की धारणा को रच-नियमों के विनियोग की एक शर्त के रूप में समझा सकते हैं । यदि कोई भी सूत्र बिना किसी अवशेष के ऐसे अवसूत्रों में विश्लेष्य है, जिनमें से प्रत्येक उस सूत्र के पदबन्ध-अंकक में एक ऐसे प्रतीक से प्रभावित रहता है, जिसे रच-नियमों के **संवि** में निर्दिष्ट किया गया है, तब वह सूत्र संवि में बताईगई शर्तों को पूराकरता है । यदि विचार्य रच-नियम अनिवार्य है, तब इसे निश्चय ही प्रयुक्त करना चाहिए; किन्तु ऐच्छिक होने की दशा में इस का प्रयोग प्रयोक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है । जिस नियम पर हम विचार कररहे हैं, उसमें कर्मवाच्य रचनान्तरण ऐच्छिक है ।

विचाराधीन 'बीज-सूत्र' कर्मवाच्यात्मक रचनान्तरण के विनियोग की शर्तों

को पूराकरता है। यह बात निम्न आरेख से स्पष्ट होजाएगी (जिसे प्रशाखीय आकृति-१५ के द्वारा भी बतायागया है) :

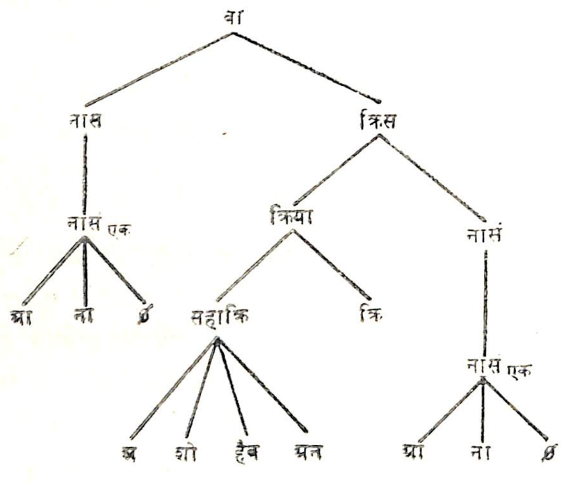
{आ + ना + φ} + {अ + शो + हैव + अन्} + {क्रि} + {आ + ना + φ}

नासं$_1$ — सहाक्रि — क्रि — नासं$_2$

संप में रच-नियम के ठीक प्रयोग से निर्गम के रूप में एक नया सूत्र मिलेगा (जो अब 'बीजसूत्र' नहीं रहा : ६. ६. ४), जोकि तब अपने सहचारी पब-अंकक के साथ रच-नियमों के अधिक विनियोग के लिए 'निवेशन' के रूप में कार्य करेगा। यदि सभी सम्बद्ध **अनिवार्य** रच-नियम प्रयुक्त किएजाएँ, **ऐच्छिक** नहीं, तब प्रजनक प्रणाली का निर्गम **'द बुक विल् हैव बीन रेंड् बाइ द मैन'** जैसे कर्मवाच्य वाक्य के रूप में उपलब्ध होगा।

प्रशा० आरेख-१५

किसी बीज-वाक्य का पब-अंकक



६. ६. ६. रच-नियमों की विषमजन्यता

विश्लेष्यता की धारणा के सम्बन्ध में विचार करतेहुए हम कुछ अधिक विस्तार में चलेगए हैं। किन्तु शोम्स्की द्वारा प्रस्तुत रचनान्तरक व्याकरण की धारणा के निरूपण को समझने केलिए ऐसा करना अनिवार्य भी है। तथ्यात्मक दृष्टि से अशुद्ध या भ्रामक न होतेहुए भी इस सिद्धान्त के बहुत से लोकप्रिय विवेचन इस बात का संकेत भी देने में असफल रहे हैं कि 'रचनान्तरक नियम' से क्या अभिप्रेत है ?

शोम्स्की के ग्रन्थ में इन रच-नियमों का सबसे प्रमुख लक्षण उनकी 'विषम-जन्यता' है। यह जानलेना बहुत जरूरी है कि किसी भी भाषा के रचनान्तरक व्याकरण का आंशिक निर्माण भी अत्यधिक जटिल कार्य है। पब-नियम के स्थान पर

रच-नियम द्वारा किसी विशिष्ट अभिलक्षण की व्याख्या करने के विषय में भाषाविद् के निर्णय को प्रभावित करने केलिए बहुत से भिन्न-भिन्न घटक विद्यमान हैं। हम देखेंगे कि सभी रच-नियम आन्तरिक रूप से 'रचनान्तरक' नहीं होते।

संरचनात्मक विश्लेष्यता के अपने विमर्श के आधार पर हम ऐसे **दो विभिन्न निकषों** को पहचानसकते हैं, जिनके आधार पर हम रचनान्तरक की 'आन्तरिकता' की परिभाषा कर सकते हैं। इनमें से **प्रथम** को इस रूप में संक्षिप्त किया जासकता है: 'कोई भी नियम, जो पदबन्ध-संरचना-नियम द्वारा अधिस्थापित प्रतिबन्धों से समाकृति नहीं है, **रचनान्तरक नियम** कहलाता है।' इनमें से कुछ प्रतिबन्धों की चर्चा पहले (६. २. ११ में) कीजाचुकी है। यदि इसप्रकार के विविध आकारात्मक प्रतिबन्ध रचनान्तरक व्याकरण के आधारी घटक के नियमों पर लगा दियेजाएं, तब कोई यह भी आश्वासन दे सकेगा कि रचनान्तरक नियमों के संवि में निर्दिष्ट प्रतिबन्धों के प्रकाश में कम-से-कम 'बीज-सूत्र' तो अद्वितीय रूप से विश्लेष्य होगा ही।

द्वितीय निकष कुछ भिन्न है: रचनान्तरक नियम वह है कि जिसमें पुनर्लेखन-बाण के बाईं ओर के प्रतीक-सूत्र में से कम से-कम एक प्रतीक ऐसा 'परिवर्त्ती' हो, जिसका मूल्य उस नियम के लिए 'निवेशन' रूप में स्थित सूत्र के सहचर पब-अंकक में स्थित उस प्रतीक द्वारा प्रभावित अवसूत्रों की समस्त श्रेणी में से किसी भी एक अवसूत्र के रूप में होसकता है। उदाहरणार्थ:

संवि : नासं—सहाक्रि—क्रि—नासं

कर्मवाच्यात्मक रचनान्तरण के इस पूर्वोक्त संवि में 'क्रि' को छोड़कर सभी प्रतीक इस दृष्टि से परिवर्त्ती हैं। इनके विरोध में '**क्रि**' **स्थिर** है: ६. ६. ४ में दिये पब-नियमों की प्रणाली का यह एक **अन्त्य प्रतीक** है, जो अपने अतिरिक्त अन्य किसी अवसूत्र को प्रभावित नहीं करता (इस अर्थ में 'स्वत:प्रभावन' इस प्रणाली की औपचारिक आवश्यकता है)। 'स्थिर' और 'परिवर्त्तियों' के बीच का यह विभेद (जोकि ६. ५. २ में दिखाये विभेद की अपेक्षा विशेष स्थिति का सूचक है) शोम्स्की की प्रणाली में 'रचनान्तरण' की परिभाषा केलिए अधिक आधारभूत है।

रचनान्तरक नियमों का पदबन्ध संरचनी-नियमों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होना इसी कारण सम्भव है कि उनसे केवल किसी एक निश्चित अवसूत्र का ही संकेत न मिलकर अवसूत्रों की एक श्रेणी का संकेत मिलता है। 'शक्तिशाली' शब्द को सामान्य शब्दावली में समझाना कुछ कठिन काम है। हमें केवल इसी बात पर सन्तोष करलेना चाहिए कि यदि कोई नियम अधिक 'तथ्यों' का विवरण देने में, या अधिक शुद्ध विवरण देने में, समर्थ होता है, तब उसे ही 'शक्तिशाली' कहा जाता है। (इस वक्तव्य के पीछे अन्य भी कई व्याख्याओं की छाया विद्यमान है: तु०-६. ५. ७)। विशिष्ट निदर्शनों में यही देखना पर्याप्त है कि 'शक्तिशाली' शब्द से क्या अभिप्रेत है? हम यहाँ एक ही उदाहरण देंगे।

ऊपर ६. ६. ४ में दिये पब-नियमों को प्रणाली में **नासं** द्वारा प्रभावित केवल

दो ही अवसूत्रों का प्रजनन अनुमत है : **आ+ना+ϕ** और **आ+ना+s** (स्) (उदाहरण : **द बॉय्** और **द बॉयज्**)। किन्तु यह स्पष्ट है कि अंग्रेज़ी के अधिक पूर्ण व्याकरण में कर्मवाच्यरचना में नाम-संघों के अन्य प्रकारों की भी आवश्यकता पड़ेगी : **'द मैन हू वाज़ हियर येस्टरडे रेंड् ए थाउज़ेन्ड बुक्स लास्ट ईयर'**, तथा इसीका कर्मवाच्य रूपान्तर—**'ए थाउज़ेन्ड बुक्स वर रेंड लास्ट ईयर बाइ द मैन हू वाज़ हियर येस्टरडे'**। यदि व्याकरण के सभी नियम प्रजनक प्रणाली में शुद्ध रूप में एकीकृत हों, तब **'द मैन हू वाज़ हियर येस्टरडे'** और **'ए थाउज़ेन्ड बुक्स'** इन दोनों को ही ऐसे स्थिरों के रूप में विश्लेषित करना होगा, जो **'नासं$_1$'** और **'नासं$_2$'** के **'परिवर्त्तियों'** के क्षेत्र में पड़ते हैं। तभी कर्मवाच्यीय रचनान्तरण ठीक प्रकार से कार्यान्वित होगा। **'लास्ट ईयर'** की विविध संभाव्य स्थितियों के एवं **'हू वाज़ हियर येस्टरडे'** के उस सूत्र के **'नासं'** में 'अन्तर्वेशन' के विश्लेषण या विवरण केलिए अन्य नियमों का विधान करना होगा; जोकि कर्मवाच्यीय रचनान्तरण केलिए 'निवेशन' का काम करता है। अन्य किसी विमर्श के अतिरिक्त, परिवर्त्तियों से युक्त कोई भी नियम ऐसे वाक्यों की एक पूरी श्रेणी का निर्माण करसकता है, जिसकेलिए अन्यथा अनेक असंबद्ध और पृथक् पदबन्ध-संरचनी नियमों की आवश्यकता अनुभव होती।

यदि व्याकरण इस अर्थ में रचनान्तरक है कि इसमें कुछ नियम अन्तर्हित रूप से रचनान्तरकारी हैं तथा पदबन्ध-संरचनी नियमों के निर्गम पर कार्य करते हैं, तब अन्य भी कई महत्त्वपूर्ण घटक विचारणीय हो उठते हैं। उनमें से केवल दो की ही चर्चा यहाँ कीजाएगी। उदाहरणार्थ, यह निर्णय किया जासकता है कि 'पुनरावृत्ति' और **'सन्दर्भ-संवेद्यता'** जैसी जटिलताओं को रचनान्तरक घटक में स्थानान्तरित कर दियाजाए; यद्यपि ये 'जटिलताएँ या विशेषताएँ' विश्लेष्यता के अनुबन्धों को स्वयं आहत नहीं करतीं। हम कारणों का उल्लेख बिनाकिए, यह बताना चाहेंगे कि शोम्स्की ने यह निर्णय सिद्धान्ततः उस प्रणाली केलिए किया, जिसे उन्होंने अपनी 'सिण्टैक्टिक स्ट्रक्चर्स' में प्रस्तावित किया है। दूसरे घटक का सम्बन्ध व्याकरण के नियमों के विनियोग-क्रम से है। एक पूर्ण 'सीधे-सादे' पदबन्ध-संरचनी नियम को अन्तर्हित रूप से रचनान्तरक नियम के निर्गम पर कार्य करना पड़सकता है। अब यदि प्रणाली को इस ढंग से रूपायित कियागया हो कि पब-नियमों के बाद ही रच-नियम आएँ, तब उस 'सीधे-सादे' पदबन्ध-संरचनी नियम को इसप्रकार से पुनः वर्गीकृत करना चाहिए कि व्याकरण में अपने स्थान के कारण वह 'रच-नियम' बनजाए। यह सम्भव भी है; क्योंकि 'स्थिर' को सदा **'एक ही मूल्य वाला परिवर्त्ती'** भी माना जासकता है।) ऐसे तथा अन्य विमर्श उन व्याकरणों के रचनान्तरक नियमों की विषमजन्यता का विवरण देते हैं, जिनका गठन शोम्स्की द्वारा निरूपित पूर्वतर सिद्धान्त के आधार पर कियागया है।

जैसा कि हम देखेंगे, रचनान्तरणी सिद्धान्त के आधार पर कार्य करते हुए शोम्स्की तथा अन्य विद्वानों ने हाल में ही इस प्रणाली में बहुतसे संशोधन सुझाए

हैं। शोम्स्की द्वारा हाल में प्रस्तावित प्रणाली में विश्लेष्यता की सुरक्षा कुछ भिन्न रूपात्मक युक्तियों से कीगई है : किन्तु उसके अपने शब्दों में, 'यह **अबभी एक** आधार-भूत 'विधेय' मात्र है, जिसके आधार पर रचनान्तरक व्याकरण का विकास होता है'।

६. ६. ७ रचनान्तरणी व्याकरण में कर्त्ता-क्रिया-अन्विति

अंग्रेजी के वर्णन में हमें कहीं-न-कहीं कर्त्ता-क्रिया-अन्विति के सिद्धान्त का विवरण भी देनाचाहिए। हम पहले ही सन्दर्भ-संवेद्यता की धारणा के प्रसंग में इसकी चर्चा करचुके हैं (६. ५. ७)। अब हम उस रचनान्तरक नियम पर ध्यान देंगे, जिसका प्रतिपादन वाक्य के कर्त्ता और क्रिया केवचन की अन्विति की व्याख्या के लिए शोम्स्की ने अपने ग्रन्थ में किया है। इससे कुछ मात्रा में उन सामान्य बातों पर भी प्रकाश पड़ेगा, जो ऊपर रच-नियमों की प्रकृति के सम्बन्ध में कहीगई हैं।

एक पक्ष में संशोधित यह नियम इसप्रकार है :

वचन रूपान्तरण (अनिवार्य)

संवि : क्ष—अ→त्र

$$\textbf{संप} \;:\; \text{अ} \rightarrow \begin{cases} s/\text{नास}_{\text{एक}} + \ldots \text{के सन्दर्भ में} \\ \phi/\text{अन्यथा} \end{cases}$$

अब हमें कर्मवाच्यीय रचनान्तरण में विद्यमान संवि से एक भिन्न ही प्रकार का संवि मिलता है। **क्ष** और **त्र** परिवर्त्तियों के द्वारा निवेशी सूत्र के किसी भी अवसूत्र की उसकी विश्लेष्यता के संकेत के बिना ही सूचना मिलती है। और ६. ६. ४ में दिये पब-नियमों का अन्त्य प्रतीक यहाँ 'अ' के रूप में है। यह सत्य है **कि अ**→पर लगा सन्दर्भात्मक प्रतिबन्ध **नास**एक की अन्त्यपूर्व स्थिति का संकेत करता है। किन्तु, हम इस संभावना पर भी विचार कर सकते हैं कि प्रस्तुत रचनान्तरक नियम को पब-नियमों में क्यों न अन्तर्गत करलें। ध्यानदें यदि ६. ६. ४ में दिये पब-नियम १-२-३-६-७-४-५ के क्रम से नियोजित किएजाएँ, और यदि वचन-अन्विति का नियम नियम संख्या-७ और ४ के बीच में लगायाजाए, तब भी प्रभाव वही होगा, जो इसे सब सूत्रों के लगाने के बाद प्रजनित **अन्त्य सूत्र** पर लगाने से होता। इस सत्य को पाठक स्वयं ही परीक्षा पर उतारकर देखसकते हैं।

फिर भी इसका एक बहुत ही साधार कारण है कि शोम्स्की ने वचनान्विति के इस नियम को अपने व्याकरण के रच-नियमों के मध्य एक विशेष स्थान पर ही क्यों रखा? अंग्रेजी में कर्त्ता-क्रिया-अन्विति के नियम कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य के वाक्यों पर समान रूप से लागू होते हैं : तु०-**द मॅन् सी द काऊज़्, द मैन् सीज़ द काऊज़, द काऊ इज़ सीन बाई द मैन्, द काऊ इज़ सीन बाइ द मॅन्, द काऊज़ आर सीन बाई द मैन्,** इत्यादि। 'आन्तरिक रूप से' रचनान्तरक नियम के रूप में यदि कर्मवाचक रचनान्तरण वचन-अन्विति से पहले ही होता है, तब वचन-

अन्विति-नियम को इसतरह निरूपित किया जासकता है, कि यह निवेशन-सूत्र में 'अ' (सहाक्रि का प्रथम अवयव) के बाईं ओर आनेवाले **नासं** के वचन पर भी लागू हो सके।

इसप्रकार, **नासं$_1$—सहाक्रि—क्रि—नासं$_2$** का निदर्शनभूत बीज-सूत्र :

(१) आ + ना + ϕ + अ + शो + हैव + अन् + क्रि + आ + ना + s (स्)

इसतरह रूपान्तरित होसकेगा :

(१-क) आ + ना + ϕ + s + शो + हैव + अन् + क्रि + आ + ना + s

और, **(२) आ + ना + s + अ + शो + हैव + अन् + बी + अन् + क्रि + बाइ + आ + ना + ϕ**

यह नियम (जो '**नासं$_2$—सहाक्रि + बी + अन्—क्रि—बाई + नासं$_1$**' का समनुकारी है, तथा ऐच्छिक कर्मवाचक रचनान्तरण के विनियोग से परिणत होता है) वचनान्विति के नियम द्वारा निम्न रूप में परिणत होगा :

(२-क) आ + ना + s + ϕ + शो + हैव + अन् + क्रि + बाइ + आ + ना + ϕ

ये वे सूत्र हैं, जो '**द मैन् विल् हैव रे॑ड् द बुक्स**' और उसके कर्मवाचक रूपान्तरण '**द बुक्स विल् हैव बीन रे॑ड् बाइ द मैन्**' जैसे वाक्यों में अन्तर्हित हैं। (१-क) और (२-क) नियमों में जोड़े जानेवाले अन्य अनिवार्य नियमों में क्रियाओं केसाथ जुड़ने वाले प्रत्ययों-सम्बन्धी नियम एवं शब्द-सीमाओं के अंकन का समावेश होता है। हम इन नियमों को यहाँ नहीं देंगे (देखें, सिण्टैक्टिक स्ट्रक्चर्स, पृ० ३९, ११३ : 'सहायक रचनान्तरण' का नियम 'अस्थायी' या 'तदर्थ' परिवर्त्तियों का प्रयोग करता है)। इन नियमों द्वारा (१—क) और (२—क) का परिवर्तन निम्न रूप में होजाता है :

(१—ख) ...शो + s + + हैव + + क्रि + अन् + + ...

(२—ख) ...शो + ϕ + + हैव + + बी + अन् + + क्रि + अन् + + ...

(यह रचनान्तरण सूत्र के केवल '**सहाक्रि—क्रि**' अंश का ही है। द्विगुण योग-चिन्ह का प्रयोग शोम्स्की के विशेष सीमाचिन्ह के स्थान पर कियागया है।)

अब हम शाब्दिक स्थानापादन के नियमों का प्रयोग करेंगे (तु०—४. ३. २ : शोम्स्की की प्रणाली से इसमें कुछ अन्तर है, जिसके अनुसार शब्द-द्रव्य पब-नियमों के अन्त्य प्रतीक होते हैं)। शब्द-सीमा के सूचन केलिए हम कुछ अवकाश (रिक्तस्थान) छोड़ेंगे :

(१—ग) द मैन् + ϕ विल् + स् हैव रीड् + अन् द बुक् + स्

(२—ग) द बुक् + स् विल् + ϕ हैव बी + अन् रीड् + अन् बाई द मैन् + ϕ

शोम्स्की के ग्रन्थ में दियेगए '**आकृतिवर्णवैज्ञानिक**' नियम इन सूत्रों को शुद्ध ध्वनिवैज्ञानिक रूप में इसतरह पलट देंगे : **मैन् + ϕ → /मैन्/, विल् + स् → /विल्/, रीड् + अन् → /रे॑ड्/**, आदि। लिखित भाषा केलिए '**आवृत्तिरेखीय**' नियम इन्हें इस रूप में परिवर्त्तित करदेंगे :

(१-घ) *The man will have read the books.*
(२-घ) *The books will have been read by the man.*

६. ६. ८ सामान्यीकृत रचनान्तरण

शोम्स्की द्वारा प्रस्तावित नियम-प्रणाली के सम्बन्ध में अबतक के अपने विमर्श में हम यह मानकर चले हैं कि केवल एक ही अन्त्य सूत्र रचनान्तरण घटक केलिए 'निवेशन' का कार्य करता है। किन्तु इस प्रणाली में दो या अधिक अन्त्यसूत्रों के संघात का भी विधान है (जिनके साथ इसीप्रकार के सूत्रयुग्मों का क्रमशः शृंखलन सम्भव है)। यह ऐच्छिक 'सामान्यीकृत (या द्विगुण-आधारी) रचनान्तरणों' के माध्यम से ही होता है। इसके विरोध में, केवल अन्त्य सूत्रों या इसके क्रमिक रूपान्तरों पर कार्य करनेवाले रच-नियमों को 'एकाधारी या एकीय' के रूप में कहाजाता है। जैसा कि हम देखचुके हैं, शोम्स्की के 'एकाधारी रचनान्तरणों' को **ऐच्छिक** (यथा कर्म-वाच्यात्मक) या **अनिवार्य** (यथा वचनान्विति-रचनान्तरण) रूप में निर्दिष्ट किया जाता है।

सामान्यीकृत रचनान्तरण दो श्रेणियों के होते हैं : **'अन्तर्वेशी'** और 'संयोजी' नियमों वाले। इन दोनों का अन्तर यदि हम परम्परागत भाषा में समझाना चाहें, तो **जटिल** और **समस्त** वाक्यों के रूप में समझासकते हैं; यद्यपि यह विभेद कई निदर्शनों में पूरी तरह घटित नहीं होगा (तु०—इसी अनुच्छेद का अन्तिम भाग)। **'अन्तर्वेशन-नियम'** के द्वारा जिन बहुत सी रचनाओं पर विचार होगा, उनमें विविध 'नामिकीकरण' भी सम्मिलित हैं। इस खण्ड में 'फ़्लाइङ् प्लेन्स आर डेंजरस्' जैसे वाक्यों की हम पहले ही चर्चा करआए हैं। हमने कहा था कि वाक्य की बाह्य-संरचना की दृष्टि से **'फ़्लाइङ् प्लेन्स'** एक **'नाम-संघ'** ही है, जिसकी आन्तरिक पृष्ठ संरचना **'विशेषण+नाम'** जैसी है : यथा **'सुपरसॉनिक प्लेन्स्'** की; किन्तु आन्तरिक रूप या 'रचनान्तरण' की दृष्टि से यह **'प्लेन्स फ्लाई'** या **'प्लेन्स आर फ्लाइङ्'** जैसी अन्तः-संरचना से सम्बद्ध है। अब हम कहसकते हैं कि व्याकरण एक ओर जालक-सूत्र का सृजन करता है (**नासं—बी—आ**, जैसा) और दूसरी ओर वह एक घटक-सूत्र का (**नासं—क्रिअक**, जैसे रूप में) सृजन करता है; तथा यह कि घटक सूत्र 'आ+ना' से बने एक 'नासं' में रचनान्तरित (या नामिकीकृत) हो जाता है, और तब **'नासं—बी—आ'** का **कर्ता** बनकर उसमें अन्तर्विष्ट होजाता है।

हम अन्तर्वेशन रचनान्तरणों के रूपायण के विस्तार में नहीं जाएँगे। इसका आरम्भ शोम्स्की के ग्रन्थ से हुआ था, किन्तु तब से होनेवाले कार्य ने अनेक समस्याओं को उभारा है। पहले अनुच्छेद में जो कुछ कहागया है, वह महज इसीलिए कि 'अन्तर्वेशन' का अर्थ स्पष्ट किया जासके। मुख्य बात यह है कि कोई अन्तर्विष्ट संरचना (भले ही वह परम्परागत दृष्टि में 'पदबन्ध' हो या 'वाक्यान्तर' : ५. १. १) उस सूत्र का रूपान्तर होती है, जो सम्पूर्ण वाक्य की अन्तर्हित संरचना जैसे कार्य भी

करसकता है, किन्तु जो किसी दूसरे वाक्य के घटक के समान भी कार्य या 'फलन' करता है। एक विशेष दृष्टि से इसे वाक्य के भीतर एक अन्य वाक्य कहा जासकता है। अतः इसप्रकार के जालक-वाक्य का पद-बन्ध-अंकक, जिसका प्रभावी अवयव **'वा'** है, **'वा'** के ही एक और निदर्शन से युक्त होगा, जिसका प्रभावी प्रतीक उस फलन को सूचित करेगा, जोकि उस घटक वाक्य द्वारा सम्पूर्ण वाक्य के ढाँचे में क्रियान्वित होता है।

किन्तु रचनान्तरणों का संयोजन भी वाक्यों (या वाक्य में अन्तर्हित संरचनाओं) को 'बृहत्तर' वाक्य के भीतर संहत करता है। अन्तर दोनों में यह है कि संयोजी रचनान्तरण किसी वाक्य या वाक्यांश को किसी वाक्य या वाक्यांश के 'जालक' के 'घटक' के रूप में अवघटित नहीं करता। दोनों संयोजित संरचनाएँ (यदि कुल दो ही अन्तर्हित संरचनाएँ संयोजित हैं) बृहत्तर वाक्य में अपनी वाक्यात्मक स्थिति को बनाए रखती हैं। अतः बृहत्तर वाक्य का पद-बन्ध-अंकक **'वा'** के दो या अधिक निदर्शनों से युक्त होगा, जो एक-दूसरे के समानाधिकरण होंगे। पर इन सबका प्रभावी प्रतीक 'वा' ही होगा जो शीर्षस्थ होगा। इस संयोजी रचनान्तरण का सर्वाधिक स्पष्ट और सरलतम उदाहरण वह वाक्य होगा, जिसके समानाधिकरण ऐसे वाक्यान्तर हों, जिनका संयोजन किसी संयोजी समुच्चय-निपात से हुआ हो : यथा—**'सीज़र बढ़ा और पौम्पेइ ने कदम पीछे हटाए।'**

६. ६. ९ रचनान्तरणी व्याकरण की वर्त्तमान स्थिति

हमने इस खण्ड का आरम्भ इन शब्दों केसाथ किया था कि जो भी व्याकरण अपने प्रजनित वाक्यों का, बाह्य-संरचना और अन्तःसंरचना की दृष्टि से, विश्लेषण प्रस्तुत करसकता है, वही **रचनान्तरक व्याकरण** कहलासकता है। और हमने देखा कि इस दृष्टि से परम्परागत व्याकरण भी 'रचनान्तरक व्याकरण' ही थे। **'प्रजनक'** के **उत्क्षेपण** और **व्यक्तीकरण**रूपी दो कार्यों मेंसे वे पहले के अर्थ मेंही **'प्रजनक व्याकरण'** थे (तु०–४. २. १३)।

इसी खण्ड में बादमें हमने अपना ध्यान आजतक विकसित सुविदिततम और उच्चतम रूपायित 'प्रजनक-रचनान्तरण-व्याकरण' की प्रणाली पर केन्द्रित किया है। यही वह प्रणाली है, जिसे शोम्स्की ने 'सिण्टैक्टिक स्ट्रक्चर्स' में प्रस्तावित किया था। (उनका यह ग्रन्थ उन्हीं के उस पहले विस्तृत ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप है, जो अप्रकाशित होते हुए भी अधिकांशतः उन भाषाविदों में पर्याप्त प्रसार पाचुका था, जिनकी अभिरुचि औपचारिकीकृत प्रजनक व्याकरण में थी।) शोम्स्की ने इस संक्षिप्त और खण्डात्मक विवरण में बहुतसे प्रमुख प्रश्नों को अछूता ही छोड़दिया है। अतः यह उचित ही है कि इसप्रकार की भाषाविज्ञान की प्रस्तुत परिचायिका पुस्तक में 'संरचनात्मक विश्लेष्यता' जैसी मौलिक धारणा और 'रचनान्तरक नियमों' की प्रकृति पर ध्यान केन्द्रित कियाजाए, और एक या दो नियमों के कार्य को पर्याप्त

विस्तार से प्रदर्शित कर दियाजाए, ताकि पाठक इस प्रणाली के आधारभूत सिद्धान्तों का महत्त्वांकन करसकें।

यह भी उचित प्रतीत हुआ कि इन नियमों का अवलोकन पूर्वतर 'रचनान्तरक व्याकरण-प्रणाली' के सन्दर्भ में कियाजाए, जिसे शोम्स्की ने अपने ग्रन्थ में प्रस्तावित किया था। इस निर्णय का एक कारण यह है कि अबतक प्रकाशित 'रचनान्तरक व्याकरण' के विस्तृततम उदाहरण विवरण सामान्यतः शोम्स्की की पूर्वतर प्रणाली के समरूप ही हैं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि आज शोम्स्की और उनके साथियों द्वारा प्रस्तावित अधुनातम प्रमुख संशोधन उस पूर्वतर प्रणाली को भाषा के विन्यासात्मक सम्बन्ध के अधिक व्यापक क्षेत्र पर, पिछले दस वर्षों में, नियोजित करने के परिणामरूप में सामने आए हैं। (इनमें से कुछ को तो अनौपचारिक रूपमें भी 'परम्परागत' व्याकरण में विचारा नहीं गया था।) इन संशोधनों के महत्त्व को समझने केलिए पूर्वप्रणाली का ज्ञान अधिक आवश्यक है।

फिर, एक ऐसी भी भावना है, जिसमें शोम्स्की के उस पूर्वतर ग्रन्थ का परवर्त्ती ग्रन्थों द्वारा अतिक्रमण नहीं होसका है। आधुनिक भाषाविज्ञान के इतिहास में यह ग्रन्थ क्रान्तिकारी महत्त्व का था। इसमें शोम्स्की ने अनेक भाषाओं की विस्तृत समृद्धि का संचय नहीं किया था, बल्कि उसने अत्यन्त परिचित अंग्रेज़ी भाषा की संरचना और सामान्य प्रकृति के ही कुछ अत्यन्त स्पष्ट एवं सुविज्ञात तथ्यों को विवेचनार्थ चुना था, और निर्णयात्मक ढंग से यह प्रदर्शित किया था कि इन तथ्यों की व्याख्या वर्त्तमान भाषाविज्ञान के द्वारा नहीं की जासकती। किन्तु ऐसा करते हुए उसने 'व्याख्या' के जो प्रतिमान स्थापित किये, वे भाषाविदों द्वारा अबतक ज्ञात प्रतिमानों से अधिक 'कठोर' थे। ये प्रतिमान अबतक भी विवादास्पद हैं (यद्यपि अधिकांशतः भ्रम के ही कारण)। किन्तु इन्हें अनेक भाषाविदों ने अपनालिया है, यद्यपि शोम्स्की द्वारा प्रस्तावित व्याकरण के रूपायण के विस्तारों को उन्होंने नहीं माना है; यही वह तथ्य है, जिसके कारण हमने 'सिण्टैक्टिक स्ट्रक्चर्स' को 'क्रान्तिकारी' कहा है।

इस ग्रन्थ में प्रस्तावित और विचारित 'रचनान्तरक व्याकरण' के सिद्धान्त पर्याप्त सरल हैं (यद्यपि रूपायण की विशिष्ट प्रणाली के निहितार्थों को समझने में कुछ श्रम करना पड़सकता है)। किसी भाषा की व्याकरणात्मक संरचना के एक अंशमात्र के वर्णन में इन सिद्धान्तों का विनियोग पर्याप्त कठिन रहेगा। सामान्य पदबन्ध-संरचनी आधारी घटक वाले प्रजनक व्याकरण में रच-नियमों का प्रयोग, उनके कार्य केलिए परस्पर सापेक्ष क्रम के निर्देश के विषय में, अत्यन्त गहन समस्याओं को जन्म देसकता है। (यह बात विशेषकर उस ग्रन्थ के सामान्यीकृत रचनान्तरणों पर भी लागू होती है।) हम देखचुके हैं कि पूर्वतर प्रणाली के रच-नियम अत्यधिक विषमता-जनक थे। बीज-सूत्रों की विश्लेष्यता की समस्या का समाधान आधारी घटक के पब-नियमों की प्रकृति पर कुछ प्रतिबन्ध लगाकर कियाजाता था। किन्तु,

व्याकरण केलिए फिरभी समस्या बनी रही। क्योंकि कोई भी रच-नियम पूर्ववर्त्ती रच-नियमों के कार्य (ग्रहण-त्याग समेत) के परिणाम रूप में प्राप्त सूत्र पर ही कार्य करसकता है, और क्योंकि (सिद्धान्ततः) प्रत्येक रच-नियम एक पब-अंकक को (केवल कोष्ठबद्ध सूत्र को नहीं) दूसरे पब-अंकक में रचनान्तरित करदेता है, अतः उन सिद्धान्तों को स्थापित करना आवश्यक होगया, जो विशिष्ट प्रकार के रच-नियमों द्वारा व्युत्पन्न पब-अंककों के नियत कार्य को नियमित करें। यद्यपि शोम्स्की और अन्यों का ध्यान आरम्भ से ही इस ओर रहा, तो भी न तो इसकी चर्चा शोम्स्की के 'स्ट्रक्चर्स' में हुई, और न ही कभी इसे सन्तोषजनक रूपमें सुलझाया ही गया।

पिछले कुछ वर्षों में कई विद्वानों ने यत्न किया है कि 'स्ट्रक्चर्स' में प्रस्तावित प्रणाली के अनुसार गठित व्याकरण में रच-नियमों के क्रम की समस्या को निर्दिशित किया जासके। हालही में शोम्स्की ने स्वयं इस सिद्धान्त को इस रूप में संशोधित किया है, जिससे यदि यह इन समस्याओं को निर्मूल न करसके तो उन्हें कम अवश्य करदे। संक्षेप में, शोम्स्की के प्रस्ताव का आशय यह है कि व्याकरण से सामान्यीकृत रचनान्तरणों का निष्कासन कर दियाजाए, जिसकेलिए उन्होंने आधारी घटक में ऐसे ऐच्छिक पुनरावर्त्ती नियमों का समावेश किया है, जिनमें पुनर्लेखन-बाण के दाईं ओर **'वा'** स्थित है। तब सब रचनान्तरणों को 'एकीय' या **'अनिवार्य'** (कुछ स्थलों में आधारी घटक के नियमों में ऐच्छिक अवयवों द्वारा उत्कृष्ट) बना दियाजाता है, और उन्हें इस रूप में व्यवस्थित कियाजाता है कि अन्तर्वेशन से पहले उनका विनियोग 'घटक वाक्यों' पर, और उसके बाद 'जालक वाक्यों' पर, होता है। (अन्तर्वेशन और संयोजन का नियन्त्रण 'आधारी-घटक नियमों' के द्वारा होता है।)

नियमों के क्रम-निर्धारण की समस्या से सम्बद्ध कारणों के अतिरिक्त, इस प्रणाली के संशोधन का एक प्रमुख हेतु 'ध्वनिविज्ञान' और 'अर्थविज्ञान' के साथ 'वाक्यरचना' को एकीकृत करना भी रहा है। मोटे रूप में यह सुझायागया है कि आधारी घटक से प्रजनित अन्तःसंरचनी पब-अंकक पर एकीय रूपान्तरण के विनियोग से परिणत **बाह्य-संरचना** की उपयोगिता वाक्यों की अर्थात्मक व्याख्या की दृष्टि से असंगत है। निश्चय ही यह एक आकर्षक प्राक्कल्पना है; किन्तु इसकी अनुभूतिपरक स्वीकृति या निषेध केलिए औरभी अधिक विस्तृत गवेषणा और विचार की आवश्यकता है। जबतक ऐसा कार्य निष्पन्न और परीक्षित न हो, तबतक इस प्राक्कल्पना के दोनों ही भागों को कुछ सन्दिग्ध दृष्टि से ही देखना चाहिए।

यद्यपि अर्थात्मक विश्लेषण के प्रति बाह्य-संरचना की संगति अभी तक सिद्ध या निषिद्ध नहीं कीगई है, अन्तःव्याकरणात्मक संरचना और बाह्य-व्याकरणात्मक संरचना में विश्वास रखने वाले अधिकांश भाषाविद् (शोम्स्की से कतई भिन्न विचार रखनेवाले भी) यह मानते हैं कि अन्तःवाक्यरचना और अर्थतत्त्व में कोई विशिष्ट आन्तरिक सम्बन्ध है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में हमभी यही धारणा लेकर चलेंगे।

अन्तमें, यह बात कहनी ही चाहिए : निरूपण या रूपायण की एक ही

किन्तु, प्रणाली के जो अनुरूप नहीं है (या अनिरूपित हैं), ऐसे व्याकरणों का मूल्यांकन उन व्याकरणों के मूल्यांकन से भिन्न तरह की समस्याओं को उपस्थित करता है, जो निर्बल रूप में समतुल्य और आकारात्मक दृष्टि से तुल्य हैं (तु०-६. २. १२)। अपने व्यापकतम अर्थों में 'रचनान्तरणी व्याकरणों' की जटिलता कुछ ऐसी है कि उसके विविध प्रकारों की तुलना करना अत्यन्त कठिन होजाता है। उन वाक्यों के अनेक विन्यासों के सम्बन्ध में निर्बल या सबल पर्याप्तता के परस्पर विरोधी दावों के बीच सन्तुलन करना भी कठिन है, जिनका प्रजनन हम एक विशिष्ट प्रकार के व्याकरण के माध्यम से करना चाहते हैं। बाद के एक अध्याय में हम ऐसे कुछ **आन्तरिक सम्बन्धों** की चर्चा करेंगे, जिनकी व्याख्या शोम्स्की के सिद्धान्त के द्वारा वर्त्तमान रूप में नहीं होसकती (शोम्स्की भी इसे मानते हैं)। किन्तु यह भी स्वीकार करलेना चाहिए कि समस्त पूर्वसंचित ज्ञान के बल पर बढ़नेवाले भाषाविद् के लिए वाक्यों के ऐसे विन्यास उत्पादन करना कठिन नहीं है, जिन्हें वह अनौपचारिक रूप से सच्चे अर्थों में 'रचनान्तरण की दृष्टि से संगत' कहसकेगा। समस्या है अन्य वाक्य-विन्यासों केलिए पूर्व-स्थापित सैद्धान्तिक ढाँचे के भीतर ही इन सम्बन्धों का प्रणालीबद्ध विवरणदेने की। यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तब उस ढाँचे को संशोधित करना उचित कहाजासकता है। पर, तब यहभी सम्भव है कि यह संशोधन उन सम्बन्धों की व्याख्या को असम्भव बनादे, जिनकी व्याख्या पहली प्रणाली से सन्तोष-जनक रूप में होरही थी। इस बात को आगामी विस्तृत अनौपचारिक विमर्श के समय ध्यान में रखनाचाहिए।

७

व्याकरणात्मक कोटियां

७. १ विषय-प्रवेश

७. १. १ परम्परागत व्याकरण में 'कोटि'

अबतक हमने व्याकरण-विश्लेषण के प्रति विशुद्ध 'रूपात्मक' दृष्टि अपनाई है। इस अध्याय में अब हम इस परम्परागत मान्यता पर विचारकरेंगे कि कुछ ऐसी धारणात्मक कोटियाँ हैं, जो समस्त विश्व भाषाओं में उपलब्ध होने के कारण 'सार्वभौम' कहलासकती हैं, (तु०-४. १. ३, ४. २. ६)। विशेष रूप में हम 'पदभेद' और उससे सम्बद्ध परम्परागत 'व्याकरणात्मक कोटियों'—**पुरुष**, **लकार**, **भाव**, **लिंग**, **वचन**, **विभक्ति** आदि— पर विचार करेंगे। सर्वप्रथम इस परिचायक खण्ड में **व्याकरणात्मक कोटियों** और उनके परम्परागत **निहितार्थों** के विषय में कुछ कहना आवश्यक है।

व्याकरण के आधुनिक विमर्श में 'कोटि' (कैटेगरी) शब्द के प्रयोग में बहुत कम संगतता या एकरूपता पाईजाती है। बहुधा इसे 'श्रेणी' या 'विन्यास' के अर्थ में प्रयोग कियाजाता है : किसी भाषा के वर्णन में पहचाने जानेवाले अवयवों के किसी समुदाय की सूचना केलिए। कुछ लेखक **पद-भेदों** को भी 'कोटि' के रूप में ही संकेतित करते हैं। किन्तु कुछ विद्वान् परम्परागत व्याकरण के पहले गिनाएगए पुरुषलिंगादि अभिलक्षणों तक ही इसका प्रयोग सीमित समझते हैं। इससे भी भिन्न कुछ संकुचित, कुछ व्यापक या कुछ नितान्त भिन्न भावनाएं हैं, जिनमें इस संज्ञा का प्रयोग हुआ है। यहाँ हम '**व्याकरणात्मक संज्ञा**' शब्द को कोई निश्चित पारिभाषिक अर्थ देने का यत्न नहीं करेंगे। यह नाम उस अध्याय को एक सुविधायुक्त शीर्षक देने केलिए चुनागया है, जिसमें हम परम्परागत व्याकरण के कुछ प्रमुख प्रश्नों पर सामान्य वाक्य-रचना-सिद्धान्त में हुए आधुनिकतर विकास के प्रकाश में विमर्श करेंगे।

'कैटेगरी' (कोटि) संज्ञा उन अनेक पारिभाषिक संज्ञाओं मेंसे एक है, जिनका उद्भव इस तथ्य से हुआ है कि पाश्चात्य व्याकरण का विकास दर्शन की उस विशिष्ट प्रणाली से हुआ, जिसे हम स्थूलत: 'अरस्तूवादी' कहसकते हैं। '**कैटेगरी**' शब्द का उद्भव ग्रीक के उस शब्द से हुआ है, जिसका अर्थ '**पूर्वकथन**' या '**गुणकथन**' है।

अरस्तूवादी और श्रेण्यवादी दर्शन में '**कोटि**' (कैटेगरी) उन विशिष्ट प्रकारों या विधाओं को कहाजाता था, जिनसे वस्तुओं का गुणकथन किया जासकता थ। और यह भी मानाजाता था कि पूर्वकथन के ये विविध द्वार वस्तुगत विश्व में विविधताओं या 'अस्तित्व' (सत्त्व=बीइङ्) के विविध प्रकारों के प्रतिनिधि थे। 'पूर्वकथन' और 'सत्त्व' की इन विधाओं के श्रेणीकरण के पीछे यह मान्यता स्थित थी कि भौतिक संसार 'वस्तुओं' (द्रव्यों) से निर्मित है, जिनके कुछ गुण-धर्म हैं, जो किन्हीं प्रक्रियाओं से परिचालित या उनकी जनक हैं, जो परस्पर एक विशिष्ट सम्बन्ध में आबद्ध हैं, या जिनका कुछ-न-कुछ प्रसार या स्थान '**काल**' या '**आकाश** (दिक्)' में रहता है। अरस्तूवादियों के 'कोटि-सिद्धान्त' के विस्तार में हम नहीं जाएंगे। किन्तु दो सामान्य बातें अवश्य कही जासकती हैं। **प्रथम** यह कि एक ओर '**द्रव्यात्मक कोटि**' में और दूसरी ओर '**सांयोगिक कोटि**' में आधारगत विभेद मानाजाता था। अपने 'सांयोगिक' गुण धर्मों से निरपेक्ष रहकर भी 'द्रव्य' एक व्यष्टि वस्तु मानागया था। **द्वितीय** यह कि अरस्तू और उसके अनुयायियों द्वारा यह मानागया था और मध्ययुगीन-प्राक्कथक वैयाकरणों द्वारा स्पष्टता के साथ यह कहागया था कि भाषा की संरचना विश्व की सरचना को प्रतिफलित करती है। शब्द वस्तुओं को उनके 'सत्त्व' की विधा के अनुसार ध्वनित या संकेतित करते हैं : 'द्रव्यों' के रूप में या 'आकस्मिक सयोगों' (गुणधर्मों) के रूप में। '**सत्त्व**' और '**संकेतन-दिशा**' के बीच इस अनुकारिता के कारण ही शब्दों का ज्ञान सम्भव होपाता है। '**सत्त्व**', '**द्योतन**' या '**संकेतन**' और '**समझ**' (अधिगमन) की कोटियाँ एक-दूसरे से संगत थीं। इन तीन के बीच के सगम ने ही **दर्शन**, **न्याय** और **व्याकरण** को एक-दूसरे का अन्तरतम और अविच्छेद्य सहचारी बनादिया।

७. १. २ पदार्थ और आकृति (आकार) : द्रव्य और संयोग

अरस्तूवादी दर्शन का एक और विभेद 'पद-भेद' और 'व्याकरणात्मक कोटियों' की परम्परागत मान्यता के विकास के साथ सम्बद्ध है : यह है 'पदार्थ' और 'आकार' के बीच विभेद। प्रत्येक व्यष्टि द्रव्य या वस्तु 'पदार्थ' (जिसे हम भौतिक रूप में स्वीकार करसकते हैं) और इस पर आरोपित एक 'आकृति' (व्यक्ति-विवेचक तत्त्व, जो परिणत वस्तु को विवेच्यता और आन्तरिक स्थायिता प्रदान करता है) से निर्मित मानी जाती थी। (यह अवधेय है कि 'पदार्थ' और 'आकृति' के बीच अरस्तूवादियों का यह अन्तर दे सौस्यूर द्वारा 'द्रव्य' और 'आकार' के बीच कियेगए विभेद के ही समान है : २. २. २.। हम देख हीचुके हैं कि 'द्रव्य' के विषय में परम्परागत दृष्टि नितान्त भिन्न थी।)

भाषा क्योंकि विश्लेषण का विषय भी थी और साधन भी, अतः 'कोटियों' की इस धारणा का परम्परागत व्याकरण पर दोहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। केवल भाषा के अवयवों का ही विश्लेषण 'पदार्थ' और '**रूप**' की भाषा में,

और 'संयोगिधर्मों' द्वारा श्रेणीकृत 'द्रव्यों' के रूप में, नहीं कियागया; बल्कि उन्हें वस्तुओं गुणधर्मों और सम्बन्धों की 'संकेतन-दिशा' के आधार पर विशिष्ट वर्गों (पदभेदों) में भी समूहित कियागया।

जैसा कि हम पहले ही देखचुके हैं (५.४.१) परम्परागत मान्यता में व्याकरण-विश्लेषण की आधारभूत इकाई '**शब्द**' रही। 'संकेत' के रूप में प्रत्येक शब्द '**ध्वनियों**' (वाक्) और '**अर्थ**' के एक विशिष्ट संघात से बना मानाजाता था। शब्द की भौतिक उपलब्धि को इसका अनिवार्य अंश नहीं मानाजाता था; बल्कि यह तो उच्चारण का एक उपायमात्र था, जिसे किसी भाषा में 'सांयोगिक' रूप में एवं 'रूढ़ि' और 'प्रयोग' के द्वारा अपनाया जाता था। भौतिक विषय के रूप में 'वाक्' (ध्वनि) का विश्लेषण कुछ अन्य अवयवों (तत्त्वों) के रूप में भी सम्भाव्य था : **ध्वनियों** या **अक्षरों** के रूप में! किन्तु व्याकरणात्मक विश्लेषण का आरम्भ 'वस्तु' या 'सत्य' के ग्रहण और वर्णन के साधन 'संकेत' रूप में शब्द के क्रियान्वयन के प्रकारों के विश्लेषण से, 'पदभेदों' के रूप में उनके 'वर्गीकरण' से और 'विभक्तियों' और 'लकारों' के रूप में 'रूपावलियों (शब्दरूपावली एवं धातुरूपावली) की स्थापना से हुआ था।

वैज्ञानिक जिज्ञासा के क्षेत्र में आनेवाली प्रत्येक वस्तु के समान शब्दों को भी अरस्तूवादी 'कोटियों' की परम्परागत किन्तु विनिश्चयात्मक सूची की दृष्टि से ही विवेचन करना पड़ा। शब्द के 'द्रव्य' को इसके 'सांयोगिक गुणधर्मों' से विविक्त रूप में देखना पड़ा : अपने वाक्यरचनात्मक प्रकार्य में ग्रहण कियेजाने वाले विविध रूपों और अपनी विशिष्ट 'संकेतन-विधा' रूपी 'संयोगों' से। विशिष्ट 'पदभेदों' केलिए कुछ 'संयोग-धर्म' सामान्य और निश्चायक थे : यथा—'नाम' का विभक्ति (प्रथमा-द्वितीयादि) और 'वचन' (एकद्विबहु) के द्वारा 'रूपान्तरण' होता था, और वे विशिष्ट 'लिंग' से सम्बद्ध भी होते थे; क्रियाओं का रूपान्तरण **काल** (लकार), **पुरुष**, **वचन**, आदि की दृष्टि से होता था; इत्यादि। जिन्हें हम सामान्यतः परम्परागत '**व्याकरणात्मक-कोटियां**' कहदेते हैं, वे वस्तुतः व्याकरण की '**सांयोगिक**' कोटियां हैं। इसीसे '**रूपात्मक अन्तरण**' केलिए प्रयुक्त प्राचीन शब्द '**एक्सिडेन्स**' (गुणवत्ता = सायोगिकता) के प्रयोग का भी समाधान होजाता है।

इन 'सांयोगिक' व्याकरण-कोटियों मेंसे कुछ, यथा **काल**, को बिना किसी कठिनाई के अरस्तूवादियों की 'पूर्वकथन' की 'कोटियों' से सम्बद्ध किया जासकता है। 'विभक्ति' जैसी अन्य कोटियाँ भाषा में ही विशेष रूप से घटितहोती हैं। हमारे प्रयोजन की दृष्टि से अरस्तूवादियों की 'कोटियों' और 'व्याकरणात्मक कोटियों' के बीच सम्बन्ध को विस्तार केसाथ समझना अभीष्ट नहीं है। बल्कि, उनके बीच सामान्य संबंधभावना को समझलेना ही पर्याप्त है। अरस्तूवादी कोटियों की सार्वभौमिकता की धारणा ने इस मान्यता को भी प्रचलित करदिया कि 'व्याकरणात्मक कोटियां' भी मानव-भाषा के सार्वभौम अभिलक्षण के रूप में होती हैं : अर्थात्, प्रत्येक भाषा अनिवार्यतः **काल**, **वचन**, **विभक्ति**, आदि को व्यक्त करती है, और ये

'कोटियां' विशिष्ट 'पदभेदों' के सम्बन्ध में अलग-अलग रूप में प्रत्यक्ष होती हैं।

७. १. ३ मुख्य और गौण पद-भेद

'पदभेदों' की परिभाषा भी अरस्तूवादियों की 'कोटियों' के सन्दर्भ में ही (विभक्त्यादि रूपात्मक कोटियों से स्वतन्त्र रूप में) कीगई : 'नाम' की परिभाषा उनकी 'संकेतन-सामर्थ्य' के अनुसार 'द्रव्यों के संकेतक' शब्दों के रूप में कीगई; 'विशेषणों' की 'गुणवाचक' शब्दों के रूप में; इत्यादि। पाठक निश्चय ही इन परम्परागत धारणात्मक परिभाषाओं से परिचित होंगे। इस अध्याय में बाद में हम ऐसी परिभाषाओं के औचित्य पर विचारकरेंगे।

'पदार्थ' और 'आकार' में विद्यमान वैषम्य के सहारे कुछ वैयाकरणों ने **'मुख्य** (मेजर)' और **'गौण** (माइनर)' पदभेदों में भी विभेद करनाचाहा। **'मुख्य'** के रूप में चार ही 'पद' मानने उचित थे (**नाम, आख्यात, विशेषण** और **अव्यय**= क्रियाविशेषण); क्योंकि वे ही उन विचारों के विषयों को **'संकेतित'** करते थे, जो प्रवचन के 'पदार्थ'-भूत होते हैं। **'संकेतन'** की यह सामर्थ्य अन्य पदभेदों (**प्रेपोजिशन्स, कंजक्शन्स**, आदि) में नहीं थी, बल्कि वे वाक्य के समग्र अर्थ में या उन्हें निश्चित आकार या सगठन प्रदान करके योगदान करते थे। यह विभेद एक ओर तो अरस्तू द्वारा 'शब्दों' और 'समुच्चयनिपातों' के बीच स्थापित विभेद की, और दूसरी ओर चीनी व्याकरण में 'पूर्ण' और 'रिक्त' शब्दों के बीच मानेगए विभेद की, याद दिलादेता है। इसे **'पोर् रॉयाल'** के वैयाकरणों द्वारा अधिक समृद्ध और प्रचलित कियागया (तु०-१. २. ८), तथा लेइब्नित्ज़ और उससे प्रभावित अनेक दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त किया गया। व्याकरण के आधुनिक ग्रन्थों में प्राय: 'कोषीय' और 'व्याकरणात्मक' अर्थ के बीच भी विभेद कियाजाता है (९. ५. १)।

७. १. ४ तर्कशास्त्र और व्याकरण

इस खण्ड के उपसंहार से पूर्व व्याकरण की परम्परागत मान्यता पर पड़े 'अरस्तूवादी तर्कशास्त्र' के सामान्य प्रभाव की यत्किंचित् करना चर्चा भी आवश्यक है। दार्शनिक बहुधा यह कहते पाएजाते हैं कि अरस्तू ने जो 'द्रव्य' और 'संयोग=गुण' में विभेद के आधार पर 'कोटियों' का वर्गीकरण किया, वह निश्चय ही ग्रीक भाषा की व्याकरणात्मक संरचना से प्रभावित था; अन्यथा यदि वह किसी ऐसी भाषा का प्रयोक्ता होता, जिसका व्याकरणात्मक ढाँचा ग्रीक से नितान्त ही भिन्न होता, तब सम्भवत: उसने सर्वथा भिन्न 'कोटियों', और सम्भवत: तर्क की भिन्न प्रणाली, का निर्माण कियाहोता। दूसरी ओर, वैयाकरणों का यह कथन भी औचित्यहीन नहीं है कि परम्परागत व्याकरण में प्रदर्शित कुछ विभेद केवल तर्कगत विभेदों पर आधारित हैं (यथा, **जाति** और **व्यक्ति नामों** में) और उन्हें ग्रीक या लैटिन की दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जासकता। इन दोनों ही पक्षों को पर्याप्त पुष्ट कियागया है, यही

तथ्य यह सिद्धकरता है कि अरस्तूवादी तर्कशास्त्र और परम्परागत व्याकरण के बीच सम्बन्ध उससे कहीं अधिक जटिल है, जितना कि वह मानाजाता है। वास्तविकता भी यही है। जैसा कि हम इसी अध्याय में बाद में देखेंगे, 'पृष्ठ' (बाह्य) और 'गहरी' (अन्तः) संरचना आदि के रूप में 'वाक्य-रचनाविज्ञान' में जो आधुनिकतर विकास हुए हैं, उनके द्वारा इस बात के विनिश्चय में सहायता मिलसकती है कि 'तर्कशास्त्र' और 'व्याकरण' की कोटियाँ कहाँ तक एक-दूसरे के साथ 'संगत' हैं।

७. १. ५ प्राथमिक (मुख्य), द्वैतीयक (गौण) और प्रकार्यात्मक कोटियां

पारिभाषिक सुविधा की दृष्टि से अगले खण्डों में हम 'पदभेदों' के रूप में प्रख्यात शब्दों को **'प्राथमिक व्याकरणात्मक कोटियां'** और काल, वचन, लिंग आदि सम्बन्धी धारणाओं को **'द्वैतीयक व्याकरणात्मक कोटियां'** कहेंगे। इनके अतिरिक्त कर्त्ता, विधेय और कर्म आदि की परम्परागत रचनात्मक धारणाओं को **प्रकार्यात्मक कोटियां** कहाजाएगा। कुछ कारणों से, जो अभी स्पष्ट होजाएंगे, हम पहले द्वैतीयक व्याकरणात्मक कोटियों पर ही विचार करेंगे।

इन कोटियों पर विचार करनेवाले अधिकांश ग्रन्थों में लैटिन और ग्रीक की परम्परागतरूपमें मान्य रूपात्मक कोटियों—'नाम' की **वचन-लिंग-विभक्त्यादि**, एवं 'क्रिया' की **पुरुष-काल-भावदशा-वाच्यादि**, कोटियों को ही गौरवास्पद स्थान प्राप्तहुआ है। यह स्मर्त्तव्य है कि 'नाम' और **'आख्यात'** की परम्परागत परिभाषा में क्रमशः **'विभक्ति'** और **'काल** (लकार)' को चरम महत्त्व का मानागया था (तु०—१. २. ५)। प्रस्तुत विमर्श में हमभी परम्परागत कोटियों तक ही विचार को सीमित करके सामान्य व्यवहार का अनुकरण करेंगे। हम देखेंगे कि यद्यपि ये कोटियाँ सामान्यतः व्यापक रूप में विनियोज्य हैं, किन्तु उस आधुनिकतम प्रजनक व्याकरण के ढाँचे में इनके पुनः निरूपण की आवश्यकता है, जो **'वाक्यरचना'** को प्राथमिक मानता है **और** 'विभक्तिरूपों' को वाक्य के विन्यासात्मक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति का एक उपायमात्र मानता है (तु०-५. ४. २)।

७. २. निर्देशक कोटियां

७. २. १ निर्देश एवं उक्ति की स्थिति

यहाँ पर हम निर्देशन (डेइक्सिस) की उस धारणा का स्पष्टीकरण करना चाहेंगे, जिसका उल्लेख व्याकरणात्मक कोटियों के प्रसंग में हमें बार-बार करना अभीष्ट होगा। प्रत्येक **उक्ति** का जन्म एक विशिष्ट स्थान एवं समय पर होता है। वह एक विशिष्ट दिक्कालिक स्थिति में जन्मलेती है। इसका निर्माण एक विशिष्ट व्यक्ति (**वक्ता**) करता है, और इसे अभिहित कियाजाता है किसी अन्य विशिष्ट व्यक्तिकेलिए

(श्रोता)। हम कहेंगे कि वक्ता और श्रोता एक-दूसरे से प्रकारात्मक रूप में भिन्न होते हैं (श्रोता अनेक भी होसकते हैं) और वे एकही दिक्कालिक स्थिति से सामान्यतः सम्बद्ध होते हैं। (उक्ति की अनेक सामान्य स्थितियाँ ऐसी हैं, जो कुछ अंशों में असामान्य हैं : यथा—स्वयं से भी 'बात' की जासकती है; फ़ोन के माध्यम से भी बात होसकती है, यद्यपि तब श्रोता उसी कालदिगात्मक स्थिति में नहीं होता; इत्यादि।) हम यह भी मानेंगे कि 'सामान्य उक्ति' में किसी 'वस्तु' या 'पुरुष' के प्रति संकेत भी रहता है (जो श्रोता-वक्ता से भिन्न या अभिन्न होसकता है : 'क्या तुमने खालिया ? क्या वह खाचुका ?', इत्यादि)। प्रस्तुत प्रसंग में हम इस निर्दिष्ट वस्तु या पुरुष को **'वार्तालाप का विषय'** के रूपमें कहेंगे। अतः किसी भी उक्ति में उतने ही 'वार्तालाप के विषय' होंगे, जितने उसमें **व्यक्ति या वस्तु के निर्देशक शब्द** उपस्थित होंगे।

'निर्देशन' शब्द के मूलभूत संस्कृत 'निर्दिश्' (और ग्रीक 'डेइक्सिस्') का अर्थ है : संकेत या निर्देश करना। ग्रीक व्याकरण में 'डेइक्सिस्' एक पारिभाषिक संज्ञा बनगई थी। इस धारणा का समावेश भाषा के दिग्विन्यासात्मक अभिलक्षणों की व्याख्या करने केलिए कियागया, जिनका सम्बन्ध उक्ति के **काल** और **दिक्** दोनों से होता है। तथाकथित व्यक्तिवाचक सर्वनाम (**मैं, तुम,** वह, आदि) भाषा के ऐसे अवयवों की मात्र एक श्रेणी हैं, जिनका अर्थ सामान्य स्थिति में उक्ति के दिग्विन्यासात्मक सह-घटकों के सन्दर्भ में कियाजाता है। निर्देशन की मात्रा से युक्त अन्य अवयवों में काल और दिक् की सूचना दनेवाले **यहां, वहां, हियर, देयर,** आदि शब्द हैं, जिनकी व्याख्या **'वक्ता की समीपता या असमीपता'** की दृष्टि से की जासकती है। इसी प्रकार **अब, तब, जब,** आदि की स्थिति है; जिनका अर्थ **'बोलने के समय'** की दृष्टि से कियाजाता है। ये रूप वे स्पष्टतम उदाहरण हैं, जिनके द्वारा यह पता चलता है कि किस प्रकार कोई भाषा उक्ति की विशिष्ट या सामान्य स्थितियों में **'दिक्कालात्मक सह-घटकों'** की अभिव्यंजना करती है।

उक्ति की सामान्य स्थिति **'अहं केन्द्रित'** होती है : अर्थात्, वक्ता के बदलने के साथ-साथ दिक्काल-निर्देशक शब्दों का 'केन्द्र' भी बदलजाता है (क्योंकि **'अहं'** तब वक्ता का प्रतीक होजाता है और **'त्वं'** श्रोता का)। वक्ता सदा ही उक्ति की सामान्य स्थिति में केन्द्र में होता है। यह अवधेय है कि किसी उक्ति की स्थिति में भागलेने वाले लोग केवल **वक्ता** और **श्रोता** के रूप में ही नहीं रहते, बल्कि वे एक-दूसरे के साथ भाषात्मक-दृष्टि से सम्बद्ध अन्य 'स्थितियों' में भी वर्त्तमान रहसकते हैं; यथा—**माता-पिता : शिशु; स्वामी : सेवक; गुरु : शिष्य;** आदि। ये स्थिति-सम्बन्ध वक्ता-श्रोता की भावना से मिलजुलकर, और कभी-कभी **उनको** दबाकर भी, काम करते हैं।

७. २. २. पुरुष

'पुरुष'-कोटि की व्याख्या निश्चय ही वक्ता-श्रोता या **'भागीदारों'** की दृष्टि

से की जासकती है : वक्ता द्वारा **'उत्तम पुरुष'** का प्रयोग अपनी सूचना केलिए वार्तालाप के **'कर्त्ता'** के रूप में कियाजाता है; **'मध्यम पुरुष'** का प्रयोग श्रोता की की सूचना केलिए, और **'प्रथम पुरुष'** का प्रयोग इन दोनों से व्यतिरिक्त पुरुषों या वस्तुओं की सूचना केलिए कियाजाता है। 'पुरुष'-सम्बन्धी परम्परागत विमर्श में ऐसी अनेक बातें हैं, जिनका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक है।

'उत्तम' और **'मध्यम'** पुरुष की तुलना में **'प्रथम पुरुष'** का विभेद कई दृष्टियों से कियाजाना नितान्त आवश्यक है। इनमें से प्रथम दोनों तो उक्ति की स्थिति में विद्यमान होते हैं, जबकि **'प्रथम पुरुष'** द्वारा संकेतित द्रव्य या व्यक्ति केवल अनुपस्थित ही नहीं रहसकते, बल्कि वे अप्रतीत रूप में छोड़े भी जासकते हैं। इसका अर्थ यह भी है कि 'प्रथम पुरुष' का संघात **निश्चित, अनिश्चित, समीप,** या **दूर** आदि 'कोटियों' के साथ होसकता है (हम देखेंगे कि **'समीपता'** की कोटि का निर्धारण उक्ति में भागीदारों की दृष्टि से होता है)। प्रथम पुरुष के सूचक (हि०)-**वह, यह, आदि**; (सं०)-सः, सा, तद्; (अं०)-ही, शी, इट् (He, She, It); आदि 'निश्चित' हैं, जबकि (हि०)-**कोई, कुछ**; (सं०)—**कश्चित्, काचित्, किंचित्,** या (अं०)-सम्-वन्, सम्-बडी, सम्-थिङ् (someone, somebody, something), आदि 'अनिश्चित' हैं। तुर्की में उत्तम और मध्यम पुरुष के **'निश्चित वाचक' सर्वनामों** की कोटि द्वितीया विभक्ति में उन्हीं अन्त्य-प्रत्ययों से अनिवार्यतः चिह्नित होती है, जिनसे **'नाम'** की कोटि यादृच्छिक रूप में अंकित रहती है : उदाहरणार्थ—**'बेन्-इ'** (मुझको), **'सेन्-इ'** (तुमको), **'किताब्-इ'** (पुस्तक को) (जबकि 'किताब्' का अर्थ 'एक' या 'कोई पुस्तक' होसकता है)। इसपर भी अंग्रेज़ी के उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनाम किसी भी भाँति तुर्की के तत्सम सर्वनामों से कम निश्चितार्थक नहीं हैं। व्याकरणात्मक दृष्टि से उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनाम निश्चय ही 'निश्चित' (+नि) होते हैं, जबकि इस विभेद को किसी भाषा में घटाकर देखने पर प्रथम पुरुष के सर्वनाम 'निश्चित' या 'अनिश्चित' (+नि) दोनों ही के वाचक सिद्ध होसकते हैं। फिर, यह भी निश्चित है कि **उत्तम** और **मध्यम** पुरुष **मानवों** का ही उल्लेख करते हैं, जबकि **प्रथम** पुरुष के सर्वनाम मनुष्य, प्राणी, या वस्तु मेंसे **किसी का भी** संकेत करसकते हैं। (कहानियों आदि में जानवर या वस्तुएँ भी उत्तम और मध्यम पुरुष का प्रयोग करती बताईजाती हैं, किन्तु केवल 'मानवीकरण' के बाद ही। अतः उनका पुनः वर्गीकरण 'सप्राण' के रूप में करके ही उन प्रयोगों का औचित्य ठहरता है।) किन्तु, इसका यह भी अर्थ नहीं कि ये विभेद विन्यासात्मक दृष्टि से हर भाषा पर (विशेषकर प्रथम पुरुष में) सर्वत्र ही घटितहोते हैं। बल्कि यह कि, यदि ऐसे विभेद किसी भाषा में खींचे ही जाएँ, तब उत्तम और मध्यम पुरुष के योग में वे 'तटस्थ' या निष्प्रभावित होजाएँगे। अन्ततः यह तर्कसंगत प्रतीत होता है कि, जबकि उत्तम और मध्यम पुरुष भावात्मक दृष्टि से **'पुरुष'** की ही कोटि के हैं, 'प्रथम पुरुष' इस दृष्टि से **'अभावात्मक**

धारणा' कहा जासकता है कि उत्तम और मध्यम की भाँति यह उक्ति में भागीदारों का प्रत्यक्ष संकेत नहीं करता। कुछ भाषाओं में 'प्रथम पुरुष' केलिए कोई पृथक् शब्द है ही नहीं : उत्तम और मध्यम पुरुष का अभाव ही उसका सूचक बनजाता है।

पुरुष और **वचन** के संयोग के सम्बन्ध में परम्परागत परिभाषाएँ पर्याप्त **भ्रम-जनक** हैं। '**हम**' को स्पष्ट ही '**मैं**' का उस रूप में बहुवचन नहीं कहसकते, जिसप्रकार '**बालकः**' का बहुवचन '**बालकाः**' होता है। कारण यह कि '**हम**' कहने पर '**मैं**' के किसी बहुवचन का संकेत नहीं मिलता, बल्कि '**मैं एवं एक या अधिक अन्य व्यक्ति**' का सकेत मिलता है। इस '**हम**' में '**श्रोता**' का ग्रहण हो भी सकता है और नहीं भी। दूसरे शब्दों में, '**हम**' शब्द '**मैं**' का बहुवचन नहीं है : बल्कि एक ऐसा शब्द है जो '**मैं**' का सूचक है, किन्तु '**बहुवचन**' रूप भी है। '**हम**' में श्रोता का ग्रहण है या नहीं, इस आधार पर '**अन्तर्ग्राही**' और '**बहिष्कारी**' प्रयोग के बीच विभेद करना प्रथा-सा बनगया है। यद्यपि यह विभेद **अंग्रेज़ी** पर लागू नहीं होता; परन्तु कुछ ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें 'उत्तम-पुरुष-बहुवचन' से सम्बद्ध यह विभेद प्रणालीबद्ध रूप में ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से विभिन्न दो असम्बद्ध शब्दों के माध्यम से हर प्रकार के वाक्यों में कियाजाता है। '**तुम**' आदि मध्यम-पुरुष-बहुवचन शब्दों के इन दोनों रूपों के बीच भी इसप्रकार का विभेद किया जासकता है, यद्यपि वहाँ 'अन्तर्ग्रहण' और 'बहिष्कार' का अर्थ कुछ भिन्न ही होगा। अंग्रेज़ी का '**यू**' (और हिन्दी का 'तुम') एकवचन और बहुवचन में समान रूप में ही प्रयुक्त होता है (यथा—'वाश् योर्-सैल्फ़' और 'वाश् योर्-सैल्व्स')। एक ओर इसके द्वारा केवल उपस्थित श्रोताओं को ही सामूहिक रूप से सम्बोधित कियाजाता है, जिस अर्थ में इसे वास्तव में '**तू**' का बहुवचन कहा जासकता है; जबकि, दूसरी ओर, सम्मुखस्थ श्रोता या श्रोताओं के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी उपस्थित या अनुपस्थित व्यक्ति या व्यक्तियों का संकेत इससे मिलता है; जिस अर्थ में यह 'तू' का बहुवचन नहीं रहता। इनमेंसे प्रथम स्थिति '**अन्तर्ग्राही**' कही जासकती है, जबकि दूसरी स्थिति को '**बहिष्कारी**' कहा जासकता है। अतः यह कहना साधार जँचता है कि '**उत्तम**' (**अहं**) और '**मध्यम**' (**त्वम्**) का विभेद 'पुरुष-तत्त्व' की भिन्नता को सूचित नहीं करता : '**उत्तम**' (+**अहं**) और '**अनुत्तम**' (—अहं) के बीच विभेद को '**प्राथमिक**' कहा जासकता है, जबकि '**प्रथम**' और '**मध्यम**' के विभेद को '**द्वैतीयक**' या गौण कहा जासकता है। अतः परम्परागत दृष्टि से अंग्रेज़ी के व्यक्तिवाचक एकवचन सर्वनामों का, उनके योजक निर्देश-लक्षणों की दृष्टि से, विन्यासात्मक विश्लेषण इसप्रकार होगा : '**आई**' =[+अहं]; '**यू**' (एकवचन)=[=अहं+त्वं];'**ही, शी, इट्**' [—अहं,—त्वं]। (इन अन्तिम तीनों 'प्रथमपुरुषात्मक' सर्वनामों में भी परस्पर अन्य अन्तर लिंग के अनि-र्देशक लक्षणों द्वारा होता है। 'लिंग' के ये अभिलक्षण '**अंग्रेज़ी**' में बहुवचन का विनि-योग होते ही निरस्त होजाते हैं : '**दे**' (they) में लिंग की भावना निरस्त होचुकी है। इस प्रकार का निष्प्रभावन या निरसन आम बात है। **रूसी** और **जर्मन** म भी

यही बात उपलब्ध होती है। इनके विरोध में, फ्रेंच और इतालवी भाषाओं में यह विभेद बहुवचन में भी कायम है। फ्रेंच में क्रमशः *'il'* (सः) और *'elle'* (सा) का विभेद उनके बहुवचनों में *'ils'* और *'elles'* के रूप में बचाहुआ है। किन्तु इन में भी एक भिन्न प्रकार का निष्प्रभावन काम करता है : *'elles'* उस स्थान पर प्रयोग होता है, जहाँ सभी सदस्य **'स्त्रीलिंग'** हों; जबकि *'ils'* का प्रयोग उस जगह होता है, जहाँ समूह का कम-से-कम एक सदस्य अवश्य **'पुंल्लिंग'** हो। दूसरे शब्दों में, यहाँ **'पुंस्त्व'** वह प्रमुख आधार है, जिसके द्वारा लिंग-प्रणाली का विनिश्चय होता है। यही तत्त्व 'पुरुष' के विभाजन का आधार है; अंग्रेज़ी की भाँति **'अहं'** नहीं।

७. २. ३ निर्देशक (=निदर्शक) सर्वनाम और क्रिया-विशेषण (अव्यय)

इस विषय में **निर्देशक सर्वनाम—यह, वह, ये, वे,** आदि—की एवं **'स्थानबद्ध अव्यय** (क्रिवि)'—**यहाँ, वहाँ, हियर, देयर** (here) (there), **यत्र, तत्र,** आदि—की चर्चा करनी हीचाहिए। यह तो स्पष्ट ही है कि इन आकारों में **'निर्देशन'** का तत्त्व एवं ('अनिश्चय' की अपेक्षा) **'निश्चिति'** की भावना विद्यमान है। (**'अनिश्चय'** के उदाहरण हैं : **कहीं, अन्य, इतरः, क्वापि, सम्** (some) **अदर** (other) आदि।) और, यह कि इनका विभेद 'सामीप्य'-कोटि की दृष्टि से ही समझा जासकता है। कदाचित्, अबतक यह बात स्पष्ट नहीं होपाई कि **'सामीप्य'** की कोटि का **'पुरुष'** की कोटि के साथ भी अतिनिकट का सम्बन्ध है। (सत्य तो यह है कि 'पुरुष' और 'सामीप्य' का निर्णय उक्ति की विशिष्ट स्थिति के द्वारा होता है।) **यह** और **यहाँ** को वक्ता की दृष्टि से ही **'सामीप्य-सूचक'** कहनाहोगा। यह अवधेय है कि अंग्रेज़ी में यद्यपि प्रथम और मध्यम पुरुष के बीच 'सामीप्य' की बात निष्प्रभावित होजाती है, किन्तु कई अन्य भाषाओं में यह भेद बनारहता है। लैटिन और तुर्की दोनों में **'निर्देशक'** सर्वनामों के तीन रूप मिलते हैं : लै०—**हिक्, इस्ते, इल्ले**; तुर्की—**बु, शु, ओ** ! लैटिन का **'हिक्'** और तुर्की का **'बु'** अंग्रेज़ी के **'दिस्'** के अनुकारी हैं : वे प्रथम पुरुष के निर्देशक हैं (जिनसे वक्ता के सामीप्य का संकेत मिलता है)। किन्तु, लै०-**इस्ते** (सं०-सः) और **इल्ले** (सं०-**असौ**) एवं तुर्की के **शु** और **ओ** (जिन्हें अंग्रेज़ी में **'दैट्'** के द्वारा कहाजाता है) क्रमशः 'मध्यम' और 'प्रथम-पुरुष-निर्देशक' के रूप में स्वीकार किये जाने चाहिएँ। **इस्ते, शु,** और **सः** से श्रोता के निकटस्थ व्यक्ति की सूचना मिलती है, जबकि **इल्ले, ओ** और **असौ** के द्वारा उससे **दूरी का** संकेत मिलता है।

अनेक भाषाओं में **'निर्देशक'** और **'प्रथम पुरुष'** सर्वनामों के बीच कोई भेद नहीं किया जासकता। यह बात तुर्की के **'ओ'** से स्पष्ट होगी, जिसके द्वारा अंग्रेज़ी के **ही, शी, इट्** की और संस्कृत के **सः, सा, तद्** की लिंगहीन अभिव्यक्ति कीजाती है। उधर, अंग्रेज़ी का **दे** (they) तुर्की शब्द के बहुवचन **'ओन्लर्'** के समान लिंग-हीन है। **ग्रीक** के समान ही **श्रेण्य लैटिन** में भी 'प्रथम-पुरुष-सर्वनाम' विद्यमान नहीं था। जब भी श्रोता और वक्ता के अतिरिक्त किसी अन्य वक्तव्यगत वस्तु केलिए

कोई 'सर्वनामात्मक' निर्देश कियाजाता था, तब उचित 'निर्देशक' शब्द—**हिक्, इस्ते, इल्ले**, के रूप में—प्रयोग किएजाते थे। (इन तीनों के स्थान पर 'निर्देशक सर्वनामों' की दृष्टि से तटस्थ 'इस्' शब्द का प्रयोग, व्याकरण-विषय की दृष्टि से तो नहीं, अन्यत्र विन्यासात्मक दृष्टि से अवश्य होता था। इसके साथ 'सामीप्य' का भी कोई सम्बन्ध नहीं था।) वास्तव में सभी 'रोमानी' भाषाओं के 'प्रथम-पुरुष-सर्वनामों' का जन्म इन 'निर्देशक सर्वनामों' से ही हुआ है। यही बात अंग्रेज़ी, जर्मन, (संस्कृत, हिन्दी) आदि केलिए भी कही जासकती है। सच तो यह है कि इन सब भाषाओं के **'निश्चितार्थक आदि-निपात'** (अं०—द, फ्रें०—लो, ला, आदि) का विकास भी मूलतः **'निर्देशक सर्वनाम'** से ही हुआ है। इससे हमें तीन विविध पदभेदों के बीच सम्बन्ध का एक सूत्र भी मिलजाता है। ये सभी **'निश्चतार्थक आदि-निपात'—'प्रथम पुरुष सर्वनाम'** और **निर्देशक सर्वनाम** (या अव्यय)—**'निश्चितता'** का एक तत्त्व लिएहुए हैं: **'ए मैन्'** की तुलना में **दि मैन्, दिस् मैन्, दैट् मैन्,** आदि, एवं **'सम्-वन्'** की तुलना में **'ही'** (He) आदि, निश्चितार्थ के ही वाहक हैं। किन्तु इनमें भी **द मैन्** और **ही** का प्रयोग **दिस् मैन्** और **दैट् मैन** की तुलना में क्रमशः **सामीप्य या दूरी** का संकेत नहीं देता। किन्तु, इनका यह पारस्परिक सम्बन्ध इन्हें परम्परागत रूप में **आदिनिपात, व्यक्तिवाचक सर्वनाम** और **निर्देशक सर्वनाम** के रूप में विभक्त करने के कारण अस्पष्ट ही रहजाता है।

७. २. ४ पुरुष और वचन का 'आकर्षण'

'पुरुष' कोटि के इस संक्षिप्त विवेचन में उन सब अतिरिक्त रुचिकर विभेदों का वर्णन प्रायः असम्भव है, जो कि किसी विशिष्ट भाषा में पाएजाते हैं। फिरभी, यहाँ **'व्यक्तिवाचक सर्वनामों'** के 'आकर्षण' और 'आदरार्थ आयाम' के सम्बन्ध में कुछ कहदेना उचित है। **'आकर्षण'** का अभिप्राय रूसी और फ्रेंच से स्पष्ट किया जा सकता है। **'जोन और मैं आए'** के भाव को रूसी में 'My s Ivanom priechali (हम साथ जोन के आए)' और फ्रेंच में 'Nous sommes arrive's avec Jean (हम आए हैं साथ जोन के)' के द्वारा व्यक्त कियाजाता है। इन दोनों ही उदाहरणों में यह अवलोकनीय है कि **'जोन के साथ'** का प्रयोग जिस पुरुष की ओर संकेत करता है, उसका पहले ही अन्तर्भाव **'हम'** के साथ होचुका है। इसप्रकार के 'आकर्षण' से यह तथ्य और पुष्ट होता है कि वाक्यों की 'बाह्य-संरचना' में व्यक्त होने वाले 'व्यक्तिवाचक सर्वनामों' का **वचन** और **निर्देशन** के आधार पर अधिक विश्लेषण कियाजाए।

७. २. ५ आदरार्थक विभेद

इस विभेद का प्रस्तुत प्रसंग में समावेश इसलिए आवश्यक होजाता है कि कुछ भाषाओं में व्यक्तिवाचक सर्वनामों के प्रयोग की समुचित व्याख्या की जासके।

ये प्रयोग उक्ति-स्थिति में भागीदारों के 'कार्य' का उतना संकेत नहीं देते, जितना कि संकेतित व्यक्ति की 'पद-स्थिति' और 'अन्तरतमता' का परिचयदेते हैं। इसके स्पष्ट उदाहरण फ्रेंच, जर्मन, रूसी, इतालवी, आदि अनेक यूरोपीय भाषाओं में पाए जाते हैं, जहाँ कि **'मध्यम पुरुष एकवचन'** का प्रयोग केवल बच्चों या आंतरिक मित्रों के लिए ही होता है (इस 'आंतरिकता' की अभिव्यक्ति भी भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न ढंग से ही होती है, और इनके प्रयोग में सामाजिक श्रेणी तथा अन्य कई घटकों का भी विचार अन्तर्हित रहता है); जबकि **'मध्यम पुरुष बहुवचन'** या उसके किसी अन्य स्थानी का प्रयोग श्रोता के प्रति अधिक 'उपचार' या 'आदर' दिखाने के लिए कियाजाता है। यह अवधेय है कि श्रोता केलिए इसप्रकार के 'बहुवचन' या 'प्रथम पुरुष' के प्रयोग 'मध्यम पुरुष' के अपने वचन-प्रयोग, अथवा प्रथम और मध्यम' के एकवचनात्मक प्रयोग, के विभेद को अशक्त नहीं करदेते। इन विभेदों का परिज्ञान केवल उन वाक्यों की अर्थात्मक व्याख्या केलिए ही आवश्यक नहीं है, जिनमें श्रोता केलिए 'आदरार्थक बहुवचन' का प्रयोग होता है, बल्कि लिंग और वचन की अन्विति के प्रसंग में भी विन्यासात्मक नियमों की व्याख्या केलिए इस विभेद की आवश्यकता रहती है।

७ २. ६ पुरुष और क्रिया

परम्परागत दृष्टि से 'पुरुष' को क्रिया की ही एक कोटि मानाजाता है; और बहुत-सी भाषाओं में यह पुरुष' क्रिया या क्रियासंघ के रूपात्मक विधान में स्पष्टतः अभिव्यक्त होता है। उदाहरणार्थ, लैटिन के आमो (प्यार करता है), **अमास** (तू प्यार करता है), **अमात्** (वह प्यार करता है); एवं संस्कृत के **करोति, करोषि, करोमि**, आदि को लिया जासकता है। सच तो यह है कि **लैटिन, संस्कृत**, आदि में अहं, त्वं, आदि का क्रिया के साथ प्रयोग तबतक नहीं होता, जबतक कि इनकी अभिव्यक्ति अन्य कई कारणों से ही अनिवार्य न हो; या ऐसी अभिव्यक्ति अन्य क्रियाओं से विरोध प्रदर्शन केलिए कीजारही हो। इसप्रकार के साक्ष्य के बल पर ही बहुधा यह कहाजाता है कि **जब भी सर्वनाम का प्रयोग होता है, तब वह क्रिया के रूप से ही नियन्त्रित होता है'** : अर्थात्, **'गच्छामि'** के साथ प्रयोग केलिए **'अहं'** का ही प्रयोग होता है, **'गच्छसि'** के द्वारा **'त्वम्'** का ही चुनाव होता है, इत्यादि। पर यह विचार भ्रामक है, क्योंकि इसमें 'पृष्ठ-संरचना' और 'अन्तःसंरचना' के विभेद का कोई विचार नहीं रखाजाता। अर्थात्मक दृष्टि से विवेच्य इस आतरिक संरचना की दृष्टि से **लैटिन** और **अंग्रेजी** में कम ही अन्तर है। दोनों में ही हमें ऐसे **निरपेक्ष** (पुरुष और वचन की दृष्टि से निर्धारित) **'सर्वनाम'** को कल्पित करना पड़ता है, जो क्रिया का कर्त्ता होता है, तथा उन ध्वनि-प्रक्रिया-नियमों को नियन्त्रित करता है, जिनके द्वारा क्रिया का बाह्य संरचनी रूप उपलब्ध होता है। यह 'सर्वनाम-तत्त्व' लैटिन में प्रायः उपलब्ध नहीं होता; क्योंकि अन्य अभिलक्षणों के

जुड़ने के बाद प्रायः इसका परित्याग कर दियाजाता है। किन्तु अंग्रेज़ी में ध्वनि-प्रक्रियात्मक पुनर्लेखन नियमों के अनुसार इसे 'व्यवितवाचक सर्वनाम' के रूप में पुनर्लिखित कर दियाजाता है। हम देख हीचुके हैं कि लैटिन आदि में भी व्यक्ति-सर्वनाम को किन्हीं विशिष्ट स्थितियों में अभिव्यक्ति मिलती ही है। अन्य स्थितियों में (मे, ते, आदि के रूप में) तो यह लैटिन और संस्कृत आदि में ध्वनि-प्रक्रियात्मक दृष्टि से भी उपलभ्य है ही। सामान्य वाक्यरचना-सिद्धांत में 'वचन' की तरह 'पुरुष' भी 'क्रिया' की एक 'द्वैतीयक' और व्युत्पन्न **कोटि** ही है; और वह भी केवल कुछ भाषाओं में ही।

७. ३ वचन और लिंग

७. ३. १ वचन और संख्येयता

'वचन' कोटि की अभिव्यक्ति की सर्वाधिक सामान्य अभिव्यंजना **एकवचन** और **बहुवचन** के प्रयोग के द्वारा (लड़का-लड़के के रूप में) होती है और यह विश्व की अनेक भाषाओं में पाईजाती है। यह विभेद उन सब व्यक्तियों, पशुओं, वस्तुओं, पर लागू होता है, जिन्हें 'नामों' के द्वारा **एक** और **एक से अधिक** के रूप में व्यक्तिशः या सामूहिक रूप में गिना जासकता है। अतः 'वचन' मूलतः 'नाम' की एक 'कोटि' है। हम यह देख ही चुके हैं कि 'पुरुष' कोटि के साथ इसका विशेष रूप में इसप्रकार संघात होता है कि यह 'व्यक्तिवाचक सर्वनाम' का रूप ग्रहणकरती है (जिसे विन्यासात्मक दृष्टि से 'नाम' के ही तुल्य माना जासकता है)।

आपाततः यह प्रतीत होगा कि 'एक' और 'एकाधिक' के बीच का विभेद पर्याप्त सीधा है। किन्तु इस बात को समझलेना बहुत ज़रूरी है कि 'एक' और 'अनेक', 'समूह', 'पदार्थ-पिण्ड' (निर्जीव जगत् में), या 'व्यक्ति-हीन', आदि के बीच का विभेद बहुत मात्रा तक किसी विशिष्ट भाषा के 'कोषीय गठन' से ही निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी शब्द **'ग्रेप'** (अंगूर) संख्येय द्रव्य है, क्योंकि इसको बहुवचनान्त (**ग्रेप्स**) के रूपमें भी प्रयुक्त किया जासकता है। इसके विपरीत जर्मन **त्राउबे** और रूसी **विनाग्राद्** शब्द 'पिण्डवाचक' या 'समूहवाचक' हैं। फ्रेंच शब्द **'रेज़ँ'** का प्रयोग 'पिण्डवाचक एकवचन' और समूहवाचक एकवचन दोनों रूपों में होता है। किन्तु, इसके विपरीत फ्रेंच '.फ्रबी' (.फ़ूट) और रूसी **'फ्रुक्त' संख्येय** हैं (उनका प्रयोग 'एक' या 'कुछ' आदि के वाचक शब्दों के साथ होता है)। यहाँ जितनी भाषाओं का उल्लेख कियागया है, उन सबमें ही कुछ-न-कुछ शब्द 'पिण्ड' या 'संख्येय' के रूप में प्रयुक्त होते हैं (यथा, अं०—**'हैव सम ग्रेप .फ़ूट'** और **'हैव ए ग्रेप .फ़ूट'**)। इसप्रकार के उदाहरण इससे कई गुणा किए जासकते हैं, ताकि यह दिखाया जासके कि भाषाभेद से **संख्येय, समूहात्मक, संघात या पिण्डात्मक,** आदि संज्ञाओं (नामों) के आधार

पर कोषीय कोटिबन्धन भिन्न-भिन्न होता है; फिर भले ही उन भाषाओं में इन तीनों श्रेणियों के लिए विभिन्न शब्दश्रेणियां उपस्थित ही हों।

७. ३. २ द्वैतीयक (गौण) पुनःकोटिबन्धन

नामों के **संख्येय, पिण्ड, समूह,** आदि प्राथमिक 'कोटिबन्धन' के अतिरिक्त एक 'द्वैतीयक कोटिबन्धन' की भी सम्भावना होसकती है। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी में अधिकांश **'पिण्डात्मक'** या संघातात्मक संज्ञाओं का पुनःकोटिबन्धन, कुछ सन्दर्भों में, 'संख्येय' के रूपमें किया जासकता है (उदाहरणार्थ, **'दे ड्रिंक थ्री ऑर फ़ोर डिफ़रेण्ट वाइन्स एट एव्री मील'**)। कुछ विशिष्ट 'विषमताएँ' भी होसकती हैं : यथा अंग्रेज़ी में **'व्हीट', 'बार्ले'**, आदि की तुलना में **'ओट्स'** का प्रयोग बहुवचनान्त ही होता है। इसपर भी यह ठीक है कि यह **'संघातात्मक नाम'** है, 'संख्येय' नहीं। (यहाँ केवल यही बात असंदिग्ध नहीं है कि 'ओट्स' का एकवचनात्मक प्रयोग **'ओट्'** के रूप में करके **'वन ओट्'** और **'टू ओट्स'** के बीच अन्तर किया भी जासकता है या नहीं, बल्कि इसकी यह बहुवचनान्त विरोधी स्थिति इसके द्वैतीयक (गौण) कोटिबन्धन के सम्बन्ध में भी कुछ कठिनाई पैदाकरती है। **'वन ओट्स इज़ वैरी लाइक अनदर'** जैसा प्रयोग सम्भाव्य भी है या नहीं, यह शंकास्पद ही है।) किन्तु, इस **'ओट्स'** से भिन्न श्रेणी के शब्द वे हैं, जिनका प्रयोग नित्य बहुवचनान्त ही होता है : यथा—**'सिज़र्स', 'ट्राउज़र्स,'** आदि; या फिर केवल 'समूहवाचक' एकवचनान्त : यथा—**'कमिटी', 'गवर्मेंट'** आदि। अन्ततः, वाक्-जाति में विभिन्न वर्गों में प्रयोग के शैलीगत भेद भी होसकते हैं। निदर्शनार्थ, शिकारी लोग **ऍलीफॅण्ट, लॉयन,** आदि का प्रयोग अर्धसमूहात्मक नाम के रूप में करते हैं : तु०-**'ऐन् ऐलिफॅण्ट'** और **'ए हर्ड ऑफ़ ऍलिफॅण्ट'**। अंग्रेज़ी की विविध शैलियों की तुलना की जासकती है : **फ़िश : ए शैल आफ़ फ़िश; ए काऊ : ए हर्ड ऑफ़ काऊज़; ए कैटल : ए हर्ड ऑफ़ कैटल,** आदि। कुछ विशिष्ट भाषाओं में 'वचन' की कोटि का विश्लेषण पर्याप्त जटिल ठहरता है।

'संख्येयता' की यह धारणा सभी विश्वभाषाओं के कोषीय गठन में निहित है; क्योंकि भाषा की प्रायः विश्वात्मक कोटि–**'नाम'**–का प्रत्यय व्यक्ति, प्राणी, वस्तु, या अनेक भावात्मक प्रत्यक्षगम्य वस्तुओं के **'व्यक्तिरूप'** एवं **'गणना'** या **'संख्यान'** को मानकर चलता है। किन्तु, सभी भाषाएँ वचन की 'कोटि' से युक्त नहीं होतीं (तु०–७. ६. १)। उदाहरणार्थ, **चीनी** और **वियतनामी** में (तथा अन्य अनेक कई भाषाओं में भी) बहुवचन की अभिव्यक्ति पृथक् से 'कई' के वाचक शब्द के प्रयोग द्वारा, अथवा बिना वैसे किसी प्रयोग के ही, कीजाती है। **संस्कृत, श्रेण्य ग्रीक** और कुछ **स्लेवोनिक** आदि ऐसी भी भाषाएँ हैं, जिनमें 'द्विवचन' की पृथक् अभिव्यक्ति भी होती है (यद्यपि ग्रीक में द्विवचन और बहुवचन के प्रयोग में पर्याप्त व्यामिश्रता विद्यमान थी)। कहाजाता है कि **फिजियन** तथा कुछ अन्य भाषाओं में **'त्रिवचन'** के

रूप में एक पृथक् ही वचन है, जबकि '**एक**', '**द्वि**' और '**बहुवचन**' तो हैं ही।

७. ३. ३ लिंग

श्रेण्य भारोपीय भाषाओं में पाएजाने वाले तीनों लिंगों—**पुंल्लिग, स्त्रीलिंग, नपुसंकलिंग** (या उदासीन लिंग)—के नाम स्पष्ट ही उस साहचर्य की ओर इंगित करते हैं, जिसे परम्परागत वैयाकरणों ने **सैक्स** और **जेण्डर** के बीच पहचाना **था** (हिन्दी और संस्कृत में दोनों केलिए ही '**लिंग**' शब्द का प्रयोग होता है) (तु०-१. २. ५)। किन्तु अंग्रेज़ी शब्द 'जैण्डर' का जन्म जिस सामान्यतम शब्द से हुआ है, उसका अर्थ है : '**प्रकार**' या '**श्रेणी**' (लै०-'जेनुस्')। ग्रीक और लैटिन (संस्कृत भी) के नामों को आरम्भ में तीन स्वतन्त्र श्रेणियों के रूपमें ही वर्गीकृत कियागया था। व्याकरणात्मक दृष्टि से इनका तीन लिंगों में विभाजन दो बातों के स्पष्टीकरण के लिए कियागया था : (१) **सर्वनामात्मक** निर्देश केलिए, और (२) **विशेषणात्मक** संगति केलिए। इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर **स्पेनी**, **इतालवी** और **फ्रेंच** में नामों का श्रेणीकरण **दो** ही '**लिंगों**' में कियागया है; **जर्मन** और **रूसी** में **तीन** में, और **स्वाहिली** में कम-से-कम **छह** में; इत्यादि। अन्य भाषाओं की तुलना में अंग्रेज़ी में '**लिंग**' का कार्य बहुत ही नगण्य है। वहाँ 'लिंग-अन्विति' जैसी कोई बात नहीं है; तथा **ही**, **शी** और **इट्** के बीचका अन्तर 'प्रकृतिगत' लिंग के द्वारा पहचानाजाता है : अर्थात्, अंग्रेज़ी में यह अन्तर **पुंस्त्व**, **स्त्रीत्व** और **निर्जीवता** या **अप्राणता** के आधार पर आश्रित है। लिंग-अन्विति की बात नीचे स्वाहिली के निदर्शन से प्रदर्शित की जाएगी।

७. ३. ४ लिंग का 'प्रकृतिगत' आधार

इस विषय में प्रथम सामान्य बात यह कथनीय है कि तर्कात्मक दृष्टि से व्याकरणात्मक कोटि के रूप में '**लिंग**' का संप्रत्यय उस 'अर्थात्मक साहचर्य' से सर्वथा विहीन होता है, जिसे किसी 'संज्ञा' के लिंग और व्यक्तियों या वस्तुओं के शारीरिक धर्मों से युक्त रूप में स्थापित कियाजाता है। किन्तु, दूसरी ओर यह भी सत्य है कि जिन भी भाषाओं में लिंग विद्यमान है (सर्वनाम-प्रयोग या अन्विति की दृष्टि से) उनमें उसके श्रेणीकरण का कुछ-न-कुछ आधार 'प्रकृतिगत' और 'अर्थात्मक' रूप में अवश्य पायाजाता है। निश्चय ही यह 'लैंगिक भेद' नहीं है। यह आधार आकार, रचना, रंग, भक्ष्याभक्ष्यता या प्रकृतिगत किन्हीं अन्य गुणों पर स्थापित होसकता है। एक ओर, व्याकरणात्मक लिंगों का विभाजन और दूसरी ओर प्रकृतिगत गुणों के आधार पर द्रव्यों का उनमें विभाजन भाषाभेद से भिन्न-भिन्न रूप में मिलता है। यह तो सुविदित ही है कि भारोपीय भाषाओं के अनेक 'पुंल्लिग' और 'स्त्रीलिंग' शब्द निर्जीव वस्तुओं को सूचित करते हैं। इस सीमातक **प्रकृतिगत और व्याकरणात्मक** लिंग में अनुकारिता व्यक्त नहीं होती।

७. ३. ५ स्वाहिली में लिंग

स्वाहिली और अन्य बन्तू भाषाओं में नामों का वर्गीकरण लिंगों में उनके एकवचनात्मक और बहुवचनात्मक उपसर्ग-प्रत्ययों के आधार पर होता है। स्वाहिली में कम-से-कम **छह लिंग** हैं (कुछ अन्य बन्तू भाषाओं में तो इससे भी अधिक हैं)। निम्न शब्दों के द्वारा उन्हें प्रदर्शित किया जासकता है :

१. **म्तु** (व्यक्ति)	**वतु** (लोग)
२. **किसु** (एक चाकू)	**विसु** (अनेक चाकू)
३. **म्ति** (वृक्ष)	**मिति** (अनेक वृक्ष)
४. **न्च** (देश)	**न्चि** (अनेक देश)
५. **जिवे** (पाषाण)	**मावे** (अनेक पाषाण)
६. **उदेवु** (दाढ़ी का एक बाल)	**न्देवु** (दाढ़ी)

यह अवधेय है कि इनमें केवल पाँच एकवचन उपसर्ग-प्रत्यय हैं, **और पाँच** ही बहुवचनात्मक : क्रमशः -म्, कि-, न्-,जि-, उ-(एकवचन) और व-, वि-, म्-, न्-, मा- (बहुवचन) इनके संघात की सम्भावनाएँ छह **नामश्रेणियों** को परिणत करती हैं। (प्रथम और तृतीय एवं चतुर्थ और षष्ठ की परस्पर तुलनाकरें।) यहां 'लिंग' की सम्बद्धता केवल एक या बहु के वाचक उचित प्रत्यय के चुनाव से ही नहीं है, अपितु अपने साथ रचना में आबद्ध 'लिंग' क्रिया, विशेषण तथा अन्य विशेषकों के निर्धारण में यह भी सहायक होता है :

म्तु आमेफ़िका (आदमी आगया है)	**वतु वामेफ़िका** (लोग आगये हैं)
किसु किमेअंगुका (चाकू गिरा)	**विसु विमेअंगुका** (चाकू गिरे)
म्ति उमेकाउका (वृक्ष मुरझाया)	**मिति इमेकाउका** (वृक्ष मुरझाए)
म्तु म्जूरी युले (वह सुन्दर पुरुष)	**वतु वज़ूरी वले** (वे सुन्दर मनुष्य)
मिति म्जूरी उले (वह सुन्दर वृक्ष)	**मिति मिज़ूरी इले** (वे सुन्दर वृक्ष)

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा कि वाक्य के **कर्त्ता** और **विधेय** में लिंगात्मक अन्विति विद्यमान है (पहले तीन वाक्य-युग्मों में क्रमशः यह अन्विति इसप्रकार विद्यमान है—**म्-आ- : व-वा-; कि-कि- : वि-वि-; म्-उ- : मि-इ-** के रूप में। यहाँ यह अवधेय है कि प्रथम श्रेणी के एकवचन में और तृतीय श्रेणी के एक और बहु—दोनों —वचनों में क्रिया का आदिप्रत्यय संज्ञा के आदिप्रत्यय से भिन्न है)। यही अन्विति किसी नाम, तदाश्रित विशेषण और उसी संघ में विद्यमान तथा नाम पर आश्रित अन्य किसी विशेषक शब्द के बीच विद्यमान होती है। यह बात चतुर्थ और पंचम युग्मों के आदि-प्रत्ययों की तुलना से स्पष्ट होजाएगी : **म्-म्-यु- : व-व-व-; म्-, म्-उ मि- : मि-इ-**। पदबन्ध में शब्दक्रम इसप्रकार है : **नाम-विशेषण-निर्देशक** (सर्वनाम)।

कर्त्ता का आदिप्रत्यय स्वाहिली क्रिया का अनिवार्य भाग होता है; फिर भले ही वाक्य के कर्त्ता के रूप में कोई नामशब्द उपस्थित हो या न हो : तु०-

आमेफिका, वामेफिका (वह आगया/आगई है, वे आगए हैं)। अतः कर्त्ता के आदि-प्रत्यय सर्वनाम-का-सा कार्य निभाते हैं; और वे उस शब्द के लिंग के द्वारा निर्धारित होते हैं, जिसकी सूचना वे देते हैं। उदाहरणार्थ, '**किमेअंगुका**' का प्रयोग द्वितीय श्रेणी के शब्द के सन्दर्भ में होता है, किन्तु '**उमेअंगुका**' का प्रयोग तृतीय श्रेणी के सन्दर्भ में होता है। क्रिया में 'कर्म' का आदिप्रत्यय होसकता है: यथा—**आमेवाओना, आमे-वियोना, आमेमिओना**, आदि में ('उसने उन्हें देखा'; इसमें **वा-,वि-,मि-**, क्रमशः **प्रथम, द्वितीय** और तृतीय श्रेणी के नामों की सूचनादेते हैं, इत्यादि)। **उत्तम और मध्यम पुरुष** के सर्वनाम भी ऐसी ही स्थिति में आते है, जिससे क्रिया का कर्त्ता या कर्म अंकित होसके: यथा–**निमेवाओना, उमेवाओना, तुमेवाओना**, आदि (मैंने/तुमने/हमने उन्हें देखा)। इसप्रकार क्रिया में कर्त्ता या कर्म के संकेतक आदिप्रत्यय सर्व-नाम का काम भी करते हैं (७. २. २), और वाक्य में उपस्थित संज्ञा और क्रिया के बीच अन्विति तो वे प्रदर्शित करते ही हैं। यद्यपि स्वाहिली की संज्ञाओं के श्रेणीकरण में पुल्लिग और स्त्रीलिंग का कोई भेद नहीं है; तब भी कुछ-न-कुछ 'प्राकृतिक' आधार लिंग-प्रणाली का वहाँ भी है ही। मानवप्राणियों को सूचित करनेवाले नाम अधि-कांशतः **प्रथम** श्रेणी में आते हैं, निर्जीव-वस्तु-सूचक शब्द **द्वितीय श्रेणी में**; वृक्ष-वनस्पतियों के शब्द **तृतीय** श्रेणी में, निरपेक्ष या भावात्मक संज्ञाएँ **चतुर्थ** श्रेणी में; इत्यादि। ऐसे भी अनेक शब्द हैं, जिनका श्रेणीकरण याद्दच्छिक या विसंगतिपूर्ण दिखाईदेता है। किन्तु इससे यह कथन गलत सिद्ध नहीं होता कि **संज्ञाओं की श्रेणी और लिंग के बीच, अर्थातमक दृष्टिकोण से भी, कुछ-न-कुछ अनुकारिता होती ही है।**

७. ३. ६ 'प्राकृतिक' और 'व्याकरणात्मक' लिंग में विरोध

किन्तु **सजीव** और **निर्जीव** वस्तुओं के बीच का विभेद स्वाहिली के लिंगों में व्यामिश्र मिलता है, और कुछ जगह वह इससे टकराता भी है। मानव-प्राणियों के सूचक इसतरह के अनेक नाम हैं, जिनका समावेश प्रथम श्रेणी में नहीं होता। 'सजीव' होने के नाते क्रिया का आदिप्रत्यय, उनके आधार पर ही, प्रथम श्रेणी की प्रकृति के अनुकूल निश्चित होता है (यद्यपि उस प्रयोग में स्वयं पर आश्रित विशेषणों और अन्य विशेषक शब्दों की लिंग-श्रेणी के अनुकूल ही स्वयं उनके अपने आदिप्रत्यय का निश्चय होता है)। यह बात बहुत से 'पशुवाचक' शब्दों पर भी लागू होती है (यद्यपि ऐसे अधिकांश शब्द चतुर्थ श्रेणी से सम्बद्ध होते हैं)। दूसरे शब्दों में, व्याकरणात्मक और प्राकृतिक 'लिंग' में कुछ-न-कुछ टकराव हो ही जाता है, जो कि भाषा की वाक्यरचना में व्यक्तहोता है। यहाँ यह कहदेना उचित ही होगा कि कुछ अतिप्रसिद्ध यूरोपीय भाषाओं में भी यह विरोध इसीतरह से उपलभ्य है। उदाहरणार्थ, फ्रेंच में '**प्रोफ़ेस्यूर**' शब्द **पुंल्लिग** है, यद्यपि इसका प्रयोग पुरुष और स्त्री दोनों के लिए होसकता है। इस शब्द के पुंल्लिग होने के कारण नाम-संघ की अन्विति इसके अनुसार ही होती है, फ़िर भले ही सूचित व्यक्ति स्त्री हो: *'le*

nouveau professeur' (ल नूवो प्रोफ़ेस्यूर—नया प्रोफेसर)। किन्तु, यदि इसी शब्द का प्रयोग किसी महिला केलिए हो, और उसका विशेषण 'विधेय' का अंग बनकर आए, तब संज्ञा के 'पुंल्लिग' और उससे सूचित व्यक्ति के 'स्त्रीत्व' में टकराव आता है। ऐसे समय 'सुन्दर' के वाचक पुंल्लिग 'बो' और स्त्रीलिंग रूप 'बैल्' मेंसे किसी का भी प्रयोग तबतक विहित नहीं कहा जासकता, जबतक 'प्राकृतिक' और 'व्याकरणात्मक' लिंग के बीच इस विरोध का परिहार न करदियाजाए। न तो यही कहा जासकता है कि **'ल नूवो प्रोफ़ेस्यूर ए बो'** (क्योंकि इससे व्यक्ति के पुरुष होने की सूचना मिलती है), और नहीं **'ल नूवो प्रोफ़ेस्यूर एबेल्'** (क्योंकि यह व्याकरण-विरुद्ध है)। इस विरोध का परिहार वाक्यरचना को परिवर्त्तित करके कियाजाता है: **'एल्लेबैंल्लनूवो प्रोफेस्यूर'** (वह सुन्दरी है, नयी अध्यापिका)। यह अवधेय है कि यह नई रचना स्वाहिली तथा कई अन्य भाषाओं के सामान्य रचनात्मक ढाँचे के समरूप है: अर्थात् 'कर्त्ता' को 'नाम' और 'सर्वनाम' दोनों के द्वारा व्यक्त किया जाता है। दोनों ही भाषाओं में व्याकरणात्मक लिंग 'नाम-संघ' में प्रमुख रहता है, जबकि विधेय की अन्विति और सर्वनामात्मक संकेत केलिए 'प्राकृतिक लिंग' का सहारा लियाजाता है। अनेक भाषाओं में पायाजानेवाला यह लक्षण इस बात को ध्वनित करता है कि व्याकरणात्मक आसंजन 'कर्त्ता और विधेय' के बीच की अपेक्षा 'नामसंघ' में अधिक दृढ़ होता है। इससे यहभी पताचलता है कि विचारणीय भाषाओं में लिंग-प्रणाली के आधार में 'प्राकृतिक' लक्षणों या 'लिंगों' का भी किसी मात्रातक हाथ होता है।

७. ३. ७ लिंग की अनावश्यकता

अर्थात्मक दृष्टि से 'नाम' में लिंग का विभेद प्रायः अनावश्यक है। निदर्शनार्थ, फ्रेंच शब्द '*table*' के लिंग के अनुसार '*la*' और '*ronde*' का प्रयोग (सभी स्त्रीलिंग) निर्धारित होता है (पुंल्लिग '*le*' और '*rond*' की जगह), और ये उसी की अन्विति में हैं: *la table ronde* (गोल मेज)। यह सत्य है कि फ्रेंच के कुछ अनेकार्थक शब्द ऐसे हैं, जिनका विभेद लिंग-भेद पर आधारित होता है: '*le mousse*' और '*la mousse*' (**'द कैबिन बॉय'** और 'द मौस' के अर्थ में)। यद्यपि **'मूस'** के योग में **'ल'** के स्थान पर **'ला'** का प्रयोग ही **'मौस'** के स्थान पर उसके **'कैबिन बॉय'** अर्थ के स्पष्टीकरण में पर्याप्त है, फिरभी यह स्पष्ट है कि दोनों के एक ही प्रयोग में आने की सम्भावना असम्भवप्राय ही है। अतः लिंगभेद का कार्यभार नगण्य ही है (२. ४. १)। यह बात उन अधिकांश अनेकार्थक शब्दों पर घटित होगी, जिनके लिंग फ्रेंच में भिन्न-भिन्न पाएजाते हैं। यही बात भारोपीय भाषाओं पर सामान्य रूप में भी लागूहोती है।

अर्थात्मक दृष्टि से 'लिंग' वहाँ अवश्य संगत बैठता है, जहां शब्दों को परम्परागत रूप से 'सामान्य (अनिर्दिष्ट) लिंग' का समझाजाता है। उदाहरणार्थ,

फ्रेंच शब्द 'आँफ़ाँ' *(enfant)* लिंग की दृष्टि से स्वतः अनिर्दिष्ट है; किन्तु इसका प्रयोग बच्चे के लिंग के अनुसार होता है। अर्थात्मक दृष्टि से 'लिंग' का प्रयोग वहाँ भी संगत ठहरता है, जहाँ एकही शब्द किसी युग्म की सूचनादेता है: यथा, **बिल्ला-बिल्ली** केलिए क्रमशः *le chat* और *la chatte*, एवं **कुत्ता-कुतिया** केलिए क्रमशः *le chien* और *la chienne* का प्रयोग। यहाँ अर्थ का विभेद लिंग के प्रयोग से ही ध्वनित होता है। इसीप्रकार के उदाहरण क्रमशः लड़का-लड़की के वाचक स्पेनी और इतालवी शब्दों से लिए जासकते हैं: स्पे० **मुकाको-मुकाका**; इ०-**रगात्सो-रगात्सा**। स्वाहिली में भी एक के स्थान पर दूसरे आदि-प्रत्यय का प्रयोग नाम के विशिष्ट अर्थ को ध्वनित करने में सहायक होता है। उदाहरणार्थ, 'तु' प्रातिपदिक का प्रयोग यदि प्रथम श्रेणी के आदिप्रत्यय (म्-, वा-) के साथ होता है, तब यह 'व्यक्ति' की सूचना देता है, जबकि द्वितीय श्रेणी के प्रत्ययों कि-, वि- के साथ प्रयोग होने पर इसका अर्थ 'वस्तु' होजाता है। दूसरे शब्दों में, 'तु' स्वतः 'व्यक्ति' और 'वस्तु' का संकेत देने में उदासीन है, किन्तु विशिष्ट सन्दर्भ में 'सजीव' या 'निर्जीव' लिंग का विधान करने पर यह उस अर्थ को ध्वनित करता है। (इस बात में यह इतालवी प्रातिपदिक '**रगात्स**' से अभिन्न है, जिससे लिंगात्मक प्रत्यय जुड़ने के बाद लड़का या लड़की की विशिष्ट सूचना उपलब्ध होसकती है।) किन्तु इसतरह के निदर्शन असामान्य ही मिलेंगे, क्योंकि अधिकांश भारोपीय और बान्तू नामों में 'लिंग' अन्तर्हित होता है। जहाँ 'व्याकरणात्मक' और 'प्रकृतिगत' लिंग में अनुकारिता पाईजाती है, वहाँ यह माननाचाहिए कि अर्थ ही लिंग के विनिश्चय का आधार है, न कि इसके विपरीत। इस अर्थ में ही 'नामों' में 'लिंग' के विभेद को अर्थात्मना असंगत कहा जासकता है (सिवाय 'सामान्य लिंग' और 'युग्मवाचक' शब्दों को छोड़ कर, जिन्हें कि ऊपर गिनाया जाचुका है)। और यह अवधेय है कि लिंग द्वारा विभेद्य किन्तु अर्थात्मना सम्बद्ध शब्दों मेंसे सामान्यतम शब्द ध्वनिप्रक्रियात्मक आकार की दृष्टि से सर्वथा भिन्न बैठते हैं। अंग्रेज़ी और फ्रेंच के **लड़का-लड़की** के वाचक शब्द-युग्मों—क्रमशः '**बॉय् : गर्ल**' और '**गार्सों : फील्**'—के बीच ध्वन्यात्मक अनुकारिता का सर्वथा अभाव उस सामान्यतम प्रवृत्ति का सूचक है, जिसके आधार पर प्रायः शब्दावलियों का गठन कियाजाता है। इतालवी की तरह वे एक ही शब्द के समानान्तर प्रयोग नहीं हैं। कुछ भाषाओं में लिंगान्विति बाह्य-संरचना का अंग बनकर रहती हैं (६. ६. १)। किन्तु व्यवहार की दृष्टि से प्राथमिक मुख्यता लिंग के सार्वनामिक अन्तर को प्राप्त रहती है।

७. ३. ८ श्रेणीविभाजक या वर्गक

लिंग की कोटि से मिलती-जुलती ही एक अन्य प्रवृत्ति दक्षिण-पूर्वी एशिया की बहुतसी भाषाओं में पाईजाती है: **व्यक्ति-करण** और **संख्यान** की दृष्टि से नामों का **वर्गीकरण**। उदाहरणार्थ, चीनी में जब तक 'नाम' स्वतः ही 'परिणाम' को

(उदाहरण—'न्यन्' वर्ष और 'न्यान्' दिन) व्यक्त न करें, निर्देशक (भे=यह) या संख्या के साथ प्रयोग होने पर इससे पूर्व 'श्रेणीविभाजक' या वर्गक का प्रयोग होना ही चाहिए। कुछ 'विभाजक' बहुत ही सामान्य होते हैं, और अर्थात्मक दृष्टि से '**रिक्त**' कहे जासकते हैं। कुछ अन्य विभाजक कुछ विशिष्ट नामश्रेणियों केसाथ ही प्रयुक्त होते हैं; बल्कि कुछ स्थानों पर वे स्वय भी 'नाम' की तरह प्रयुक्त होते हैं। अंग्रेज़ी में यदि इस तरह के उदाहरण रूपान्तरित करना चाहें, तब थिङ्, पर्सन्, **ऐनिमल्, ट्री, फ्रूट,** आदि को इसतरह प्रस्तुत किया जासकता है: ताकि हम '**दैट पोलिसमैन**' और '**थ्री बनाना ट्रीज़**' के स्थानपर) इसप्रकार कहसकें—'दैट पर्सन **पोलिसमैन', थ्री ट्री बनाना**; और '**तीन केले**' और '**तीन केले के पौधे**' में अन्तर '**तीन फल केले**' और '**तीन वृक्ष केले**' के रूप में होगा, जिसमें '**फल**' और '**वृक्ष**' विभाजक या वर्गक के रूप में प्रयुक्त होंगे।

७. ४ विभक्ति

७. ४. १ विभक्ति-संज्ञा

ग्रीक और लैटिन (एवं संस्कृत) के **नाम, सर्वनाम** और **विशेषणों** का श्रेणी-विभाजन वैयाकरणों ने उनके विभक्तिरूपों की वचनात्मक रूपावली के आधार पर किया था। इस सम्बन्ध में तीन शब्द अवधेय हैं: **विकरण** (इन्फ़्लैक्शन), **विभक्ति** (केस) और **वचन** (नम्बर)। '**रूपावली**' का अर्थ 'प्रतिमान' या 'आदर्श' से है (तु०-१. २. ३)। इन संज्ञाओं के प्रयोग से उस महत्त्व का आभास होता है, जो परम्परागत वैयाकरणों द्वारा नामों की परिभाषा और श्रेणीकरण के प्रसंग में विभक्ति को दियाजातारहा है। इसकेलिए प्रयुक्त ग्रीक और लैटिन शब्दों का अर्थ है: **अवपात** और **विचलन**। इस संज्ञा के व्याकरण में प्रचलन का आलंकारिक आधार भले ही कुछभी हो, यह स्पष्ट है कि वाक्यरचना के प्रसंग में शब्द के कोषीय या प्रातिपदिक रूप से उसके प्रयुक्त या पदरूप में जो अन्तर आजाता है, उसे ही मूल या 'सीधे' रूप से '**विचलन**' मानागया (दे०-१. २. ५, और ५. ४. ४)। **प्रत्यययोग** (विकरण) और **रूपावली** (विभक्त्यन्तरण) का प्रचलन भी उसी रूपक के द्वारा समझा जासकता है। व्याकरण में '**विभक्ति**' (केस) का जो अर्थ अब प्रचलित है, उसमें सर्वप्रथम श्रेण्यवादी विद्वानों ने इसे प्रयुक्त किया था (तु०-१. २. ४) 'नाम' के रूपान्तरण या विकरण की कोटियों में '**विभक्ति**' वैसी ही सबसे प्रमुख कोटि थी, जिसप्रकार धातु की प्रधान विकरणात्मक कोटि '**लकार**' थी। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि '**विकरण**' की केवल एक विशिष्ट कोटि को ही '**विभक्ति**' नाम दियागया (यद्यपि आरम्भ में 'विभक्ति' शब्द भी 'विकरण' का समानार्थक ही था)। इसका कारण यह रहा प्रतीतहोता है कि **लिंग, वचन, लकार पुरुष,** आदि,

अधिकांश अन्य कोटियां अर्थात्मक श्रेणीकरण के सिद्धान्त से सम्बद्ध थीं। यद्यपि प्रत्येक विभक्ति का नामकरण किसी एक सम्बद्ध अर्थभावना को लेकर कियागया था: यथा—'**देने**' के अर्थ में सम्प्रदान (चतुर्थी), '**अपसरण**' के अर्थ में 'अपादान' (पंचमी) आदि; तबभी उस कोटि की अर्थात्मक रूप में सामान्य व्याख्या करपाना असम्भव रहा। लैटिन, ग्रीक तथा अन्य भारोपीय भाषाओं में 'विभक्ति' की परम्परागत व्याख्याएँ वास्तव में इससे कुछही अधिक रही होंगी : **संज्ञा की दो विकरणात्मक कोटियों मेंसे एक** 'वचन' (अर्थात्मक दृष्टि से विवेच्य और अरस्तू की 'परिमाण' की कोटि से सम्बन्ध-योग्य) **और दूसरी 'विभक्ति' है**। परम्परागत व्याकरणात्मक कोटियों मेंसे सर्वाधिक 'व्याकरण-सम्बद्ध कोटि' 'विभक्ति' की ही थी; क्योंकि इसका सम्बन्ध तर्कशास्त्र, अध्यात्म और मीमांसा के साथ किसी भी रूप में नहीं था।

७. ४. २ लैटिन और तुर्की में 'विभक्ति'

इस विषय में लैटिन की तीन रूपावलियों की चर्चा करना उचित रहेगा, जो सर्वसामान्य विभक्ति-प्रतिमानों को निर्दशित करती हैं। तालिका-२ में इन रूपावलियों को परम्परागत रूप में प्रदर्शित कियागया है। हम इन विभक्तियों के लैटिन (या संस्कृत) नामों की उत्पत्ति या महत्त्व की चर्चा नहीं करेंगे। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है कि '**प्रथमा**' का सामान्यतम कार्य वाक्य के 'कर्त्ता' को अंकित करना है; '**सम्बोधन**' किसी के प्रति उन्मुख होकर कथन (अभिमुखीभाव) का सूचक है; '(कर्मणि) **द्वितीया**' का कार्य सकर्मक क्रिया के कर्म को अंकित करना है; '(सम्प्रदान) **चतुर्थी**' का कार्य अप्रत्यक्ष कर्म को अंकित करना है; '(सम्बन्ध) **षष्ठी**' का कार्य 'स्वस्वामिभाव' को बताना है; और '(अपादान) **पंचमी**' का कार्य विविध कार्यों को इंगित करना है, जिनमेंसे एक (संस्कृत की **तृतीया** के समान) करण या साधकतम को इंगित करना भी है। इसके अतिरिक्त यह भी अवधेय है कि कुछ क्रियाश्रेणियों के साथ कर्म का प्रयोग 'द्वितीया' के अतिरिक्त अन्य विभक्तियों में होता है; विशेष **कर्मप्रवचनीय** विशिष्ट विभक्तियों का वरण करते हैं; तथा इसके अतिरिक्त '**द्वितीया**' और '**पंचमी**' को अनेक काल और स्थान से सम्बद्ध 'अव्ययात्मक कार्य' भी निबाहने होते हैं। इन सब बातों का सामान्य विमर्श में काफ़ी महत्त्व है। हमने यह बात **लैटिन** से इसलिए आरम्भ की, क्योंकि इसके द्वारा भारोपीय भाषाओं के अधिकतर सामान्य और अधिकतर विशिष्ट विभक्ति-लक्षणों को उदाहृत किया जासकता है। जैसा कि हम देखेंगे कि व्याकरण में 'विभक्ति' की परिभाषा तय करने में सबसे बड़ी कठिनाई इस बात के विनिश्चय में है कि हम कुल कितने ऐसे लक्षणों का समावेश इस 'कोटि' में करनाचाहते हैं।

एक पूर्वतर अध्याय में यह पहले ही कहा जाचुका है कि लैटिन (संस्कृत, ग्रीक, आदि) में **विभक्ति** और **वचन** मिलकर एकरूप होचुके हैं। अर्थात्, अंग-प्रत्यय-विभाग में जहां प्रत्ययों की निर्धार्यता स्पष्ट है, रूपान्तर करनेवाले प्रत्यय

तालिका-९

तीन लैटिन शब्द रूप

('पुएल्ला' कन्या प्रातिपदिक स्त्रीलिंग है, 'लूपुस्' (वृक) पुंल्लिग, 'बेल्लुम्' (युद्ध) नपुंसक है।)

	पुएल्ला		लूपुस्		बेल्लुम्	
विभक्ति	एकवचन	बहुवचन	एक०	बहु०	एक०	बहु०
कर्त्ता (प्रथमा)	पुएल्ला	पुएल्लाए	लूपुस्	लूपी	बेल्लुम्	बेल्ला
सम्बन्धन	पुएल्ला	पुएल्लाए	लूपे	लूपी	बेल्लुम्	बेल्ला
कर्म (द्वितीया)	पुएल्लाम्	पुएल्लास्	लूपुम्	लूपोस्	बेल्लुम्	बेल्ला
सम्प्रदान (चतुर्थी)	पुएल्लाए	पुएल्लीस्	लूपो	लूपीस्	बेल्लो	बेल्लीस्
अपादान (पंचमी)	पुएल्ला	पुएल्लीस्	लूपो	लूपीस्	बेल्लो	बेल्लीस्
सम्बन्ध (षष्ठी)	पुएल्लाए	पुएल्लारुम्	लूपी	लूपोरुम्	बेल्ली	बेल्लोरुम्

संज्ञा के विभक्ति और वचन का निर्णय एकसाथ ही करते हैं। यह भी, कि विविध रूपावलियों में विशिष्ट विभक्ति और विशिष्ट वचन का अंकन विविध भिन्न प्रत्ययों से होता है। और यह भी, कि एकही प्रत्यय विविध विभक्तियों और विविध वचनों के संयोग को भी अंकित करसकता है। संक्षेप में, संज्ञा के रूपविधान की दृष्टि से लैटिन 'संलयात्मक' भाषा है (५. २. ८)। इस बात को विभक्ति-कोटि की पारिभाषिक शर्त्त बनाने की आवश्यकता नहीं है कि, 'वह अकेली या नाम की किसी अन्य कोटि के साथ लीन होकर नामों के विविध रूपावलियों को जन्मदेती है।' विभक्तियों के विन्यासात्मक कार्य की दृष्टि से तुर्की की विभक्तियां भी लैटिन के ही समान हैं; किन्तु उनके संकेतक प्रत्यय, स्वरसंनादिता के सामान्य सिद्धान्तों के अधीन, विभाज्य हैं एवं सभी रूपों में अपरिवर्त्ती रहते हैं। इसप्रकार तुर्की में 'रूपावली' का केवल एक ही प्रकार निश्चित है (देखें तालिका-१०; पृ० २६५)।

लैटिन के विवरण में छह विभक्तियां पहचानी गई हैं। किन्तु, एक भी ऐसा लैटिन नाम नहीं है, जिसमें छहों विभक्तियां आकृतिमूलक रूप में विवेच्य ठहरती हों। अधिकांश शब्दरूपों में कर्त्ता और सम्बोधन के एकवचन और बहुवचन रूप प्रायः एकसे ही हैं। इसका प्रमुख अपवाद 'लूपुस्' की सामान्यतर रूपावली के द्वारा दिखायागया है। कुछ शब्दरूपों में सम्बन्ध और सम्प्रदान के एकवचन के रूप में कोई अन्तर नहीं है (यथा-'पुएल्ला' में), जबकि लूपुस् और बेल्लुम् जैसे शब्दों के अपादान और सम्प्रदान के एकवचन रूपों में कोई अन्तर नहीं है; और अपादान और सम्प्रदान के किसी बहुवचन रूप में लैटिन में कोई अन्तर है ही नहीं (संस्कृत

तालिका-१०

तुर्की में लिंग और विभक्ति (एव्=घर)

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	एव्	एव्लेर्
कर्म	एवी	एव्लेरी
सम्प्रदान	एवे	एव्लेरे
अपादान	एव्देन्	एव्लेर्देन्
सम्बन्ध	एविन्	एव्लेरिन्
अधिकरण	एव्दे	एव्लेर्दे

और ग्रीक में भी यही बात है)। ये परम्परागत रूप इस सिद्धान्त पर स्थापित रहे दीखते हैं: विभक्तियां छह ही पहचाननी चाहिएं, क्योंकि यही वह न्यूनतम संख्या है जिसमें एक और बहु-वचन के आधार पर वाक्यरचना से सम्बद्ध विभेदों को विभक्तिरूपों के चुनाव-नियमानुसार बांटा जासकता है। यदि प्रत्येक नाम का रूप 'लूपुस्' की तरह चलता हो, तब **सम्प्रदान** और **अपादान** में भेद करना व्यर्थ है; यदि सब नाम 'बेल्लुम्' के समान हों, तब **कर्त्ता, सम्बोधन** और **कर्म** में विभेद करना व्यर्थ रहेगा; इत्यादि। परम्परागत श्रेणीकरण की प्रणाली में ऐसे वक्तव्य पाए जाने सम्भव हैं: यथा—'**सम्बन्ध षष्ठी का प्रयोग 'स्वस्वामिभाव' में होता है'** (**पुएल्लाए एॅत् लूपी**=कन्या और वृक का); '**सम्प्रदान का प्रयोग अप्रत्यक्ष कर्म के लिए होता है') पुएल्लाए एॅत् लूपो**=कन्या और वृक केलिए); '**आ**' कर्मप्रवचनीय **अपादान** को वरण करता है (**आ पुएल्ला एॅत् लूपो**=कन्या और वृक द्वारा); इत्यादि। किन्तु, इस सामान्य सिद्धान्त का विनियोग अधिकांश लैटिन व्याकरणों में दृढ़ता के साथ नहीं हुआ है। क्योंकि, कम से कम एक और विभक्ति ऐसी है, जिसका वाक्य की रचना में नामों के साथ विनियोग विवेचित होना चाहिए। इसे 'अधिकरण' या 'आधार-सूचिका' (सं०-सप्तमी) कहसकते हैं। लैटिन में इसकी अभिव्यक्ति प्रायः कर्मप्रवचनीय और अपादान के प्रयोग के द्वारा होती है (उदा०—'इन् रीपा'=तट पर; 'इन् ओप्पिदो'=नगर में)। कुछ विशिष्ट नामवर्गों के साथ किसी कर्मप्रवचनीय का प्रयोग नहीं होता; जबकि इस विभक्त्यर्थ में **सम्बन्ध-एकवचन** का ही रूप उन शब्दों में प्रयुक्त होता है, जिनके रूप **पुएल्ला, बेल्लुम्**, और **लूपस्** की तरह चलते हैं (यथा—**रोमाए**=रोम में; **दोमी**=घर में); किन्तु यहाँ अवर्णित कुछ अन्य शब्दरूपों में इसका रूप '**अपादान**' से मिलता है। 'अधिकरण' विभक्ति के चुनाव का नियम इसी तरह वर्णित कियाजाता है, जिसतरह हमने किया है। किन्तु उक्त छह विभक्तियों के निर्धारण में सिद्धान्तों की दृष्टि से यह स्पष्टतः

असंगत है; यद्यपि यह विशिष्ट असंगति अन्य अनेक असंगतियों मेंसे ही एक है। व्याकरण की दृष्टि से इसका महत्त्व इस बात में है कि इसके द्वारा यह स्पष्ट होजाता है कि 'पृष्ठ-संरचना' की दृष्टि से नितान्त भिन्न श्रेणी में रखेजाने योग्य शब्दों या संघों द्वारा भी 'विन्यासात्मक दृष्टि' से समतुल्य रचनाएँ उपलब्ध की जासकती हैं। किन्तु यदि हम यह मान भी लें कि लैटिन में 'अधिकरण' भी एक विभक्ति है, और इसका रूप विभक्ति और वचन के अनुसार सम्बन्ध या अपादान के समतुल्य चलता है, तबभी विन्यासात्मक दृष्टि से हमें 'रोमाए' और 'इन् ओप्पिदो' जैसे प्रयोगों को समरूप या एकाकार कहना ही होगा, जिनमें प्रथम में 'अधिकरण विभक्ति' है; जबकि दूसरे में 'कर्मप्रवचनीय' और 'अपादान' का संयुक्त प्रयोग है। 'विभक्ति'-सम्बन्धी किसी भी सिद्धान्त में दो तथ्यों को स्वीकार करना ही चाहिए : (१) वही विभक्ति एकाधिक विन्यासात्मक प्रकार्यों को करसकती है; और (२) किसी विशिष्ट विन्यासात्मक कार्य को एक ही भाषा में विविध माध्यमों से पाया जासकता है। विशेषकर यह तथ्य कि लैटिन में पदरूपों के द्वारा जितना ध्वनित होता है, उससे कहीं अधिक 'गहरा' (आन्तरिक) सम्बन्ध विभक्तियों और कर्मप्रवचनीय प्रयोगों के बीच विद्यमान है। ये दोनों ही तथ्य भारोपीय परिवार की अथवा बाहर की कई अन्य भाषाओं पर भी लागू होते हैं।

७. ४. ३ भारोपीय भाषाओं में विभक्ति और लिंग की अन्योन्याश्रितता

व्याकरण का परम्परागत वर्णन आरम्भ में सब शब्द-रूपावलियों को तालिकाबद्ध करने के बाद ही वाक्यरचना-नियमों के वर्णन में प्रवृत्त होता है। इससे यह विश्वास होना सम्भव है कि प्रत्येक विभक्ति का एक विशिष्ट कार्य है और भाषा के व्याकरण में प्रत्येक नाम-विभक्ति एक-सा ही महत्त्व रखती है। परम्परागत दृष्टि से जिसप्रकार विभक्ति-प्रणाली को सम-मित दिखायाजाता है, भारोपीय और अन्य भाषाओं में वह उससे कहीं कम सम-मित है। हम पहले ही देखचुके हैं कि लैटिन में किसी शब्दरूप में ऐसे विभक्ति-विभेद किएजाते हैं, जो दूसरे पर लागू नहीं होते; और यह कि छह विभक्तियों का परम्परागत विभाजन उस सिद्धान्त के विसंगत विनियोग पर आश्रित है, जो हर शब्दरूप पर लागू मानाजाता है; फिर भले ही किसी विभक्ति का विभेद कैसा ही हो। किन्तु कम-से-कम 'विभक्ति' की कोटि का भारोपीय तथा अन्य भाषाओं में एक प्रमुख लक्षण ऐसा भी है, जिसे इस सिद्धांत ने दृष्टि से ओझल करदिया है : वह यह कि नपुंसक लिंग में कर्त्ता और कर्म में विभेद किसी भी भारोपीय भाषा में होता ही नहीं। इस विषय में 'बेल्लुम्' का उदाहरण सामान्य और स्पष्ट है। यह इस दृष्टि से भी सामान्य है कि कर्त्ता/कर्म बहुवचन के अतिरिक्त (सम्बोधन की चर्चा हम यहाँ नहीं कररहे) शेष सब विभक्तियों में इसके रूप पुँल्लिग लूपुस् की तरह चलते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भारोपीय भाषाओं में विभक्ति की कोटि लिंग की कोटि पर आश्रित है। जहाँतक 'लिंग' का

विभेद सजीवता या मिथुन-जाति पर आधारित है, केवल दो ही विभेद सम्मिलित होते हैं : 'सजीव-निर्जीव' और 'स्त्री-अस्त्री'। पुंल्लिग और नपुंसक में कर्त्ता के विभेद को सजीव-सूचक नामों के कर्त्ता और कर्म के विभेद पर अधिक महत्त्व देने का परिणाम कहा जासकता है। क्योंकि अनेक निर्जीव नाम पुंल्लिग या स्त्रीलिंग में भी होसकते हैं, अतः उनकी दृष्टि से यह विभेद अनावश्यक रूप में ही कियाजाता है। किन्तु इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कमही 'सजीव' शब्द 'नपुंसक लिंग' मानेजाते हैं। जिन भाषाओं में विभक्ति-रूपान्तरण नहीं भी होता, उनमें भी सजीवता और कर्त्ता के स्थान में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतः इस सिद्धान्त का विनियोग बहुत सामान्य होता है। हम इसपर बादमें विचार करेंगे (८. २. ५)। यही सिद्धान्त रूसी भाषा पर भी लागू होता है (तथा दूसरी स्लैवोनिक भाषाओं पर भी), जिनमें लैटिन के समान ही नपुंसक और पुंल्लिग शब्दों में सम्बन्ध है, किन्तु जिनमें 'सजीव' और 'निर्जीव' का विभेद अधिक सशक्त है, तथा 'पुंल्लिग' होने के लिए 'सजीवता' की 'प्राकृतिक' शर्त्त अत्यधिक आवश्यक है। पुंल्लिग सजीव नामों की कर्तृविभक्ति और कर्मविभक्ति के बीच विभेद प्रायः 'कर्मणि द्वितीया' के स्थान पर 'सम्बन्धषष्ठी' के प्रयोग द्वारा कियाजाता है (रूसी के परम्परागत व्याकरणों में 'द्वितीया' को पुंल्लिग और नपुंसक लिंग में 'कर्त्तरि-प्रथमा' के साथ अभिन्न मान लियाजाता है)। वास्तव में पुल्लिग नामों में 'सजीव-निर्जीव' का यह विभेद इसलिए आवश्यक होजाता है कि कम-से-कम उन विशिष्ट वाक्यों में कर्त्ता और सकर्मक क्रिया के कर्म के बीच रूपात्मक विभेद दिखाया जासके, जहाँ वे दोनों ही सजीव हों : तु०-'इवान् विदेल् बोरिसा' अथवा 'बोरिसा विदेल् इवान्' (इवान् ने बोरिस को देखा) में 'आ' कर्म का वाचक है। इसके विपरीत, 'बोरिस विदेल् स्तोल्' और 'स्तोल् विदेल् बोरिस' (बोरिस ने मेज देखी) में 'स्तोल्' निर्जीव होने से 'विदेल्' क्रिया का 'कर्म' होने पर भी विभक्ति-चिन्ह से अनंकित है। सापेक्ष दृष्टि से दो निर्जीव वस्तुओं का एक ही सकर्मक क्रिया के कर्ता और कर्म के रूप में प्रयोग समप्रायिक रूप में होना असामान्य है। यदि ऐसा हो ही जाए, तब उनमें विभेद प्रकट करने के कई उपाय हैं। उनमें से एक है दोनों संज्ञाओं के बिनियोग का क्रम, जिसके द्वारा रूसी में (और लैटिन एवं ग्रीक में भी), अन्य कोई विभेद न होने पर, कर्त्ता और कर्म के बीच विभेद स्पष्ट कियाजाता है। अतः विभक्ति की कोटि के किसी भी विचार में हमें विभक्ति, और शब्दक्रम, एव विभक्ति और कर्मप्रवचनीयप्रयोग, के सापेक्ष सम्बन्धों पर भी विचार करनाचाहिए।

७. ४. ४ विभक्ति और निश्चितता

विभक्ति के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध में स्थित एक अन्य निर्देशात्मक कोटि निश्चितता की है, जो अनेक भाषाओं में उपलभ्य है और जिसे अंग्रेजी में आदिनिपात 'द' (The) के द्वारा व्यक्त कियाजाता है। तुर्की में 'कर्मणि द्वितीया' को

'प्रथमा' से तभी विविक्त कियाजाता है, जब संज्ञा 'निश्चितता' को लिए हुए हो (व्यक्तिसंज्ञाएं और व्यक्तिसर्वनाम आंतरिक रूप से 'निश्चित' होते हैं) : उदा०— **'एव् आल्दीम्'**='मैंने एक घर खरीदा'; **'एवी आल्दीम्'**=मैंने (वह) घर खरीदा'। **फिन्निश** भाषा में स्थिति विपरीत है : यदि 'नाम' 'निश्चित' है तब एकवचन नाम का प्रयोग 'प्रथमा' (कर्त्तृ रि) में होना चाहिए, किन्तु यदि वह अनिश्चित है तब वह वियोजिका (अपादान) या सम्बन्ध-**षष्ठी** में प्रयुक्त होगा। इस बात को कहतेसमय हमारा प्रयोजन केवल इस तथ्य को ही दोहरानामात्र नहीं है कि **नामों के परम्परागत प्रतीति वाले विभक्तिरूप** ही केवल एक मुख्य विन्यासात्मक कार्य नहीं करते, बल्कि **'सजीवता'** की भाँति **'निश्चितता'** भी अंग्रेज़ी जैसी उन भाषाओं में कर्त्ता और कर्म के विन्यासात्मक विभेद के साथ अन्योन्याश्रित होती है, जिनमें विभक्ति-भेद उपलब्ध ही नहीं होता।

७. ४. ५ व्याकरणात्मक कार्य

विभिन्न भाषाओं के व्याकरण-ग्रन्थों में विभक्ति-विचार के प्रसंग में 'व्याकरणात्मक' और 'स्थानीय' कार्य में विभेद कियाजाता है : यह विभेद प्राय: विशिष्ट प्रयोगों में अधिक **'निरपेक्ष'** (व्याकरणात्मक) और अधिक **'मूर्त्त'** (स्थानीय) कार्यों की दृष्टि से कियाजाता है। कई भाषाओं के वर्णन प्रसंग में जिन व्याकरणात्मक कार्यों की चर्चा कीगई है, प्रस्तुत विमर्श के सन्दर्भ में उनमें से मुख्य निम्न कहे जासकते हैं :

(१) कर्त्तृ परक (**कर्त्तरि प्रथमा**),
(२) कर्मपरक (**कर्मणि द्वितीया**),
(३) अप्रत्यक्ष कर्म (**सम्प्रदान चतुर्थी**),
(४) अधिनामिक 'स्वामिभाव' (**सम्बन्धषष्ठी**),
(५) करण,
(६) हेतु, ससाधक या सकर्तृक,
(७) साहचर्यात्मक।

इस खण्ड में हम इनमेंसे अधिकांश व्याकरणात्मक कार्यों का सामान्य औचित्य सिद्ध मानकर चलेंगे, यंद्यपि उनपर निकट से विचार का अवसर बाद में आएगा। यह जानलेना अत्यधिक आवश्यक है कि कार्य सभी भाषाओं में स्वत: ही विभक्ति-विभेदों द्वारा उपलभ्य नहीं होजाते। प्रथम चार संज्ञाओं के साथ कोष्ठकों में दीगई संज्ञाएँ इन व्यापारों को करनेवाली उन चार विभक्तियों की हैं, जो संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, जर्मन, रूसी, आदि सभी भाषाओं में पाईजाती हैं। अन्तिम तीन के बाद कोष्ठ में कोई नाम न देने का कारण यह है कि उनकी उपलब्धि विविध भारोपीय भाषाओं में विविध प्रकार से होती है। ऊपर गिनाए सातों

व्यापारों को निम्न संस्कृत-हिन्दी वाक्यों के द्वारा स्पष्ट किया जासकता है :

(१) बालिः अमरत् =बाली मर गया।
(२) रामो बालिं अहन्=रामने बाली को मारा।
(३) रामः मोहनाय पुस्तकं अददात्=राम ने मोहन को पुस्तक दी।
(३क) श्यामः पुस्तकं मोहनाय अददात्=श्याम ने पुस्तक मोहन को दी।
(४) इदं रामस्य गृहम्=यह राम का घर है।
(५) रामो बालिं शरेण हतवान्=राम ने बालि को शर से मारा।
(६) बालिः रामेण शरेण हतः=बालि राम द्वारा शर से मारा गया।
(७) रामः लक्ष्मणेन सह वनं गतः=राम लक्ष्मण के साथ वन गया।

प्रथम में 'बाली' **कर्त्ता** है; **द्वितीय** और **पंचम** में 'बाली' **प्रत्यक्ष 'कर्म'** है; **द्वितीय, तृतीय, पंचम** और **सप्तम** में 'राम' **कर्त्ता** है; एवं (३) और (३क) में 'मोहन' **अप्रत्यक्ष 'कर्म'** है (अंग्रेज़ी में 'टु' का योग 'नाम' के साथ इस अर्थ में अनिवार्य होता है, किन्तु सर्वनाम के साथ नहीं; साथ ही सजीव और निर्जीव नामों और सर्वनामों के सापेक्ष क्रम को निर्धारित करने में भी अनेक घटक भागलेते हैं, तथा बोलियों के अनुसार अनेक प्रयोगभेद भी होते हैं); **चतुर्थ** में 'राम' का 'गृह' के साथ '**अधिनामिक स्वामिभाव**' सम्बन्ध है; **पंचम** और षष्ठ में 'शरेण' का प्रयोग '**करण**' या '**साधन**' के रूप में हुआ है; और **सप्तम** में 'लक्ष्मणेन सह' का प्रयोग साहचर्यात्मक व्यापार केलिए हुआ है। रूपान्तरणसम्बन्धी कुछ विशिष्ट सम्बन्ध किन्हीं वाक्यों के बीच भी स्थित होते हैं : यथा, **पंचम** में कर्तृवाच्य का कर्म **षष्ठ** में कर्मवाच्य का 'कर्त्ता' बनगया है, जबकि **पंचम** का कर्ता **षष्ठ** में 'हेतु' या 'साधक' बनगया है; **प्रथम** में अकर्मक क्रिया का कर्त्ता, द्वितीय में सकर्मक क्रिया का कर्म बन गया है (यदि 'मरा' और 'मारा' का आपसी सम्बन्ध 'प्रेरणार्थक' या 'णिजन्त' का हो)। **चतुर्थ** वाक्य का रूपान्तरण सम्बन्ध भी '**घर राम का है**' और '**राम एक घर का स्वामी है**' जैसे वाक्यों के साथ है (अंग्रेज़ी में ऐसे वाक्यों में निश्चित-अनिश्चित' आदि विभेद भी निर्णायक होते हैं)। रूपान्तरण सम्बन्धी इन सम्बन्धों पर हम बाद में तब विचार करेंगे, जब कर्त्ता-कर्म, कर्तृवाच्य-कर्मवाच्य, अकर्मक-सकर्मक, और प्रेरणार्थक का प्रसंग आएगा। यहां '**अधिनामिक**' की व्याख्या अवश्य अपेक्षित है।

बहुत पहले से ही वैयाकरणों द्वारा यह स्वीकार किया जातारहा है कि '**सम्बन्ध षष्ठी** (जेनेटिव)' के सामान्यतम कार्य के लिए '**स्वामिभाव**' (पजेस्सिव) का प्रयोग अर्थात्मक दृष्टि से अत्यधिक विशिष्ट है। केवल भारोपीय ही नहीं, बल्कि जन्मना असम्बद्ध बहुत सी विश्वभाषाओं में भी, इन दो दृष्टियों से समानान्तर स्थिति पाईजाती है : (१) **एक ओर** 'विशेषण' और 'षष्ठी' में, तथा (२) **दूसरी ओर** 'षष्ठी' और क्रिया के कर्त्ता और/या कर्म में। 'षष्ठी' के 'स्वामिसम्बन्ध' का **सर्वाधिक सामान्य** कार्य है, किसी अन्तःकेन्द्रिक रचना में (६. ४. १) नामसंघ या

नाम को विशेषित करना। यही सर्वसामान्य कार्य विशेषण का भी है : यथा— **'राम का घर'**, **'विशाल घर'**। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए ही **'अधिनामिक'** (एड्नौमिनल) संज्ञा का प्रयोग कियागया है (इसकी तुलना में **'क्रियाविशेषक'** या 'अधिक्रिय' (एड्वर्बियल्) का प्रयोग क्रिया के विशेषक वाक्यांतर (क्लॉज़) आदि के लिए कियाजाता है, जिसके लिए परम्परागत व्याकरण में 'क्रियाविशेषण' संज्ञा का प्रयोग होता है)। **नाम** और **विशेषण** के बीच यह 'अधिनामिक' अन्तर **'अस्ति'** या **'है'** क्रिया के साथ उनके 'विधेयात्मक' सम्बन्ध पर आश्रित है : **'राम का घर'** या **'घर राम का है'**, **'घोड़ा काला है'** या **'काला घोड़ा'**। ठीक इसी प्रकार **'अधिनामिक +नामवत् क्रिया'** का रूपान्तरक सम्बन्ध भी **कर्त्ता विधेय** या **कर्म-क्रिया** रचना के साथ होता है। इनको ही परम्परागत भाषा में कर्तृनिष्ठ और **कर्मनिष्ठ** 'सम्बन्ध-षष्ठी' के रूप में कहाजाता है : यथा—**'श्याम की मृत्यु'**, **'जोन का बिल को मारना'** : **'श्याम मर गया'**, **'जोन ने बिल को मार डाला'** : **'श्याम का कत्ल (राम द्वारा)**, **'श्याम कत्ल किया गया था (राम द्वारा)'**। यहां फिर एकबार कर्तृवाच्य के कर्म और कर्मवाच्य के कर्त्ता के सम्बन्ध पर विचार किया जासकता है। लैटिन के विपरीत अंग्रेज़ी में **अधिनामिक** (या नामविशेषक) **कर्तृपरक** या **कर्मपरक** कार्यों की वैकल्पिक उपलब्धि होती है (ये कार्य 'अंशतः मुक्त विचरण में और अंशतः पूरक वितरण में होते हैं) : यथा जेनेटिव (षष्ठी) रूप 'बिल्'स' के रूप में, और 'कर्मप्रवचनीय प्रयोग 'ऑफ़ बिल' के रूप में। इनमेंसे प्रथम को ही परम्परागत दृष्टि से 'नाम' की 'विभक्ति' मानाजाता है। सच तो यह है कि अंग्रेज़ी का 'स् ('s) भी पूर्णतः षष्ठी विभक्ति का प्रतिनिधि नहीं है; क्योंकि यह अनिवार्यतः नामसंघ के शीर्ष-नाम के साथ संयुक्त नहीं होता : तु०—**'दि क्वीन ऑफ़ शेबा'ज़् ब्यूटी'**। अगले अध्याय में हम अधिक सामान्यतर ढाँचे में **नामविशेषक** या **अधिनामिक** के कार्य का **कर्तृपरक** और **कर्मपरक** कार्य के साथ सम्बन्ध बताएंगे।

इस षष्ठी के 'स् को छोड़कर अंग्रेज़ी में नाम के कोई अन्य विभक्तिरूप विद्यमान नहीं हैं। कुछ व्यक्ति-सर्वनामों के कर्त्ता और कर्म के सूचक रूपों में अवश्य विभेद मिलता है (**आई : मी, ही : हिम्**, आदि); जिसमें से कर्म-विभक्ति का प्रयोग कर्मप्रवचनीय के साथ होता भी पायाजाता है (**टु मी, विद् मी, ऑफ़ हिम्, फ़्रॉम हिम्**, आदि)। किन्तु यह विभेद निर्जीव या नपुंसक सर्वनाम **'इट्'** के सम्बन्ध में नहीं कियाजाता। अन्यथा, ऊपर गिनाएगए व्याकरणात्मक कार्य **अंग्रेज़ी** में सापेक्ष शब्दक्रम या कर्मप्रवचनीयों (प्रेपोज़िशन्स) के योग से सम्पन्न होते हैं। (हिन्दी में भी यही स्थिति है।) ऊपर के सातों उदाहरणों से यह सिद्ध होजाता है। **लैटिन** में करण-कारक में **'अपादान'** से काम लियाजाता है; जबकि **ग्रीक** में यह कार्य **'सम्प्रदान'** से चलजाता है; किन्तु **रूसी** और **संस्कृत** में 'करण' की अपनी अलग विभक्ति है (**रूसी** में यह 'सम्प्रदान' से भिन्न है और **संस्कृत** में यह 'सम्प्रदान' और 'अपादान' से भिन्न है)। **जर्मन** में इसके स्थान पर कर्मप्रवचनीय से काम चलजाता

है। लैटिन में 'हेतु' या 'कर्त्ता' का कार्य 'आ' कर्मप्रवचनीय के द्वारा सम्पन्न होता है : 'आ+अपादान' के प्रयोग के द्वारा। ग्रीक और जर्मन में भी ऐसा ही होता है। रूसी और संस्कृत में 'साधक' का कार्य भी 'करण' के ही द्वारा सम्पन्न होता है। लैटिन में 'साहचर्य' की उपलब्धि कर्मप्रवचनीय-प्रयोग के माध्यम से होती है (कम्+अपादान के द्वारा); ग्रीक, जर्मन, रूसी और संस्कृत में यही होता है (संस्कृत में 'करण+अव्यय' के योगद्वारा यह होता है)। इन भारोपीय भाषाओं में उक्त व्याकरणात्मक कार्यों की उपलब्धि के सम्बन्ध में दियागया यह सक्षिप्ततम और सरलतर वक्तव्य सर्वप्रथम यह स्पष्टकरता है कि विभक्ति और कर्मप्रवचनीय-प्रयोगों के बीच कार्यात्मक समरूपता विद्यमान होती है (जिसमें एक विशिष्ट कर्मप्रवचनीय किसी विशिष्ट विभक्ति का वरण करता है); तथा यहभी कि एक ओर तो 'करण' और 'कर्त्ता' (हेतु) की उपलब्धि में (तु०—संस्कृत और रूसी) तथा दूसरी ओर 'करण' और 'साहचर्य' की उपलब्धि में परस्पर अतिव्यापन दिखाई देता है (यथा—'चक्रेण' और 'रामेण सह' में); लैटिन में भी सामान्यतम रूप में इन दोनों की रचना दीखती है)। कार्यों के इस अतिव्यापन की प्रतिक्रिया दिखाने के दो स्पष्ट उपाय हैं : या तो यह कहाजाए कि इन विभक्तियों या कार्यों के बीच परस्पर विभेद सामान्य व्याकरण में पूर्णता के साथ स्पष्ट नहीं किया जासकता; और दूसरा यह कहकर कि कुछ भाषाओं में उपलभ्य इसप्रकार का 'लयन' या 'एकीभाव' विभेद के उस 'निष्प्रभावन' पर आश्रित होता है, जो व्याकरण के बाह्यतम स्तर पर दिखाईदेता है; या फिर 'सजीवता' की परिभाषा के आधार पर किए गए नए 'कोटिबन्धन' के द्वारा; या अन्य किसी विन्याससम्बद्ध धारणा के आधार पर। इस पुनःकोटिबन्धन की धारणा के स्पष्टीकरण केलिए ये दो उदाहरण लिए जासकते हैं : 'यही वह चाकू है, जिसने श्याम को मारा' और 'यही वह आदमी है, जिसने श्याम को मारा'। इनमें 'चाकू' और 'आदमी' एकही विन्यासात्मक कार्य को वहन करते दिखाईदेते हैं। इस उलझन को यह कहकर भी सुलझाया जासकता है कि यहाँ किसी अन्य 'हेतु' या 'कर्त्ता' के अभाव में 'चाकू' का 'करणात्मक' प्रयोग भी 'कर्त्ता' के रूप में ही हुआ है। (जो 'मानवीकरण' के रूप में भी कहाजासकता है), 'वस्तु' या 'साधन' के रूप में नहीं। इसप्रकार की धारणात्मक व्याख्याएं एकदम निरादृत नहीं कीजानीचाहिएं; यद्यपि अतीत में उनका दुरुपयोग अवश्य हुआ है। प्रस्तुत निदर्शन में भी यह विश्लेषण इस आधार पर सत्य कहा जासकता है कि इसके कर्मवाच्यीय रूपान्तरण में 'चाकू' और 'आदमी' क्रमशः करण (से) और कर्त्ता (केद्वारा) के रूप में प्रयुक्त होते हैं : 'यही वह चाकू है, जिससे श्याम मारागया' और 'यही वह आदमी है, जिसके द्वारा श्याम मारागया'। यदि 'चाकू के द्वारा' भी कहाजाना सम्भव हो, तब यह कहना सार्थक होगा कि 'चाकू' भी यहाँ 'कर्त्ता' बनकर आया है।

७. ४. ६ स्थानिक कार्य

अब हम विभक्ति की कोटि के स्थानिक कार्यों के विचार में प्रवृत्त होसकते हैं। 'स्थानिक' का अर्थ काल और दिक् के विभेदों को अन्तर्ग्रहण करतेहुए समझना चाहिए; क्योंकि विविध भाषाओं से सम्बद्ध अभिविन्यासात्मक प्रणालियों में इन दोनों को साथ-साथ समाविष्ट कियाजाता है (तु०—७. २. १)। यही कारण है कि कुछ भाषाविद् 'स्थानिक-विभक्ति-भेद' के स्थान पर 'मूर्त्त-विभक्ति-भेद' की चर्चा अधिक उचित समझते हैं। हम देखेंगे कि केवल विभक्ति की कोटि के सम्बन्ध में ही हमें वे प्रबलतम कारण दिखाईदेंगे, जिन के आधार पर हम यह बलदेना चाहेंगे कि वाक्यरचना को उस दिक्कालात्मक या 'दिग्विन्यासात्मक' ढांचे के साथ सम्बद्ध कियाजाए, जिसके भीतर भाषा कार्यरत होती है।

तालिका-११

फ़िन्नी भाषा की तथाकथित 'स्थानिक' विभक्तियां

आन्तरिक	इन्सैस्सिव	तालोस्सा	'घर में'
	ऍलेटिव	तालोस्ता	'घर में से'
	इल्लेटिव	तालून्	'घर के भीतर'
बाह्य	ऍडेस्सिव	तालोल्ला	'घर पर' या 'घर के पास'
	एब्लेटिव	तालोल्ता	'घर (के बाहर) से'
	एल्लेटिव	तालोल्ले	'घर को (की ओर)'
सामान्य	ऐस्सिव	तालोना	
	पार्टीटिव	तालोआ	
	ट्रांस्लेटिव	तालोक्सि	

इन स्थानिक विरोधों का एक सरलतम रूप तुर्की में पायाजाता है : **एवे** (घर को), **एव्दे** (घरमें), **एव्देन्** (घर से) (तु०-७, ४, २ तालिका—१०)। **'में/पर'**, **'को'**, और 'से' का यही त्रिप्रकारिक विभाजन फ़िन्नी भाषा के **'आन्तरिक'** और 'बाह्य' विभाजनों में भी लक्षित होता है (तु०—ता०११; दोनों में ही यह अवलोकनीय है कि 'इल्लेटिव' और **'एल्लेटिव'** को छोड़कर शेष दोनों विभेदों में क्रमशः **'स्'** और 'ल्' मध्यवर्ती प्रत्यय (आगम) के रूप में श्लिष्ट हैं; यहाँ हम 'सामान्य' विभक्तियों पर ही विचारकरेंगे)। अन्य भाषाओं में विभक्तियों के स्थानिक विभेदों का और भी जटिल संघात पायाजाता है, जिसमें या तो 'निरपेक्ष' या 'सापेक्ष' निर्देश-दृष्टि निहित होती है। 'निरपेक्ष' निर्देश-दृष्टि का अर्थ नदीपर्वतादि जैसे वातावरण के किसी ऐसे अभिलक्षण से है, जिससे स्थिति या दिशा का संकेत मिलसके (संस्कृत के **अनुगङ्गम्**,

प्रतीपम्, अनूपम्, आदि द्वारा व्यक्त अर्थों में)। इसप्रकार के विभक्ति-विभेद कुछ आस्ट्रेलियाई और अमरीकी आदिवासी भाषाओं में पाएजाते हैं। 'निरपेक्ष' के अंतर्गत ही **पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण**, आदि दिशा-विभेदों का भी ग्रहण होना चाहिए : एस्किमो—**आन्ना** = उत्तरीय, **कान्ना**=दाक्षिणात्य, आदि। 'सापेक्ष' निर्देश-बिन्दु का अभिप्राय उक्ति की सामान्य स्थिति के उस किसी योजक से है, जिससे स्थिति या दिशा का संकेत मिलता है। प्रमुख 'स्थानिक' विभेदों (**में/पर, को, से**) को 'निर्देशक' सर्वनामों के साथ मिलाकर संयुक्त रूप में इस तरह भी प्रयुक्त किया जासकता है, जिससे वक्ता या श्रोता का निर्देश मिलसके : (सं०) **अत्र, कुत्र, कुतः**, (हि०) **यहाँ, वहाँ**, (अं०) **हिदर, थिदर, व्हिदर, हियर, देयर**, आदि। यह अभिलक्षण अनेकानेक भाषाओं में उपलभ्य है। **दाएँ, बाएँ, सामने, पीछे**, आदि धारणाएँ वक्ता को निहित रूप में उक्ति का 'केन्द्र' मानकर चलती हैं; किन्तु विभक्ति-प्रत्ययों द्वारा व्यक्त होने पर वे 'बाह्य' रूप से भी किसी सापेक्ष स्थलविशेष का संकेतदेती है। यह अवधेय है कि कई भाषाओं में इस प्रकार के विशिष्ट 'स्थानों' के संकेतक शब्द मनुष्य के शरीर के ही विविध अंगों के नाम से घड़ेजाते हैं : **शीर्ष** (हेड्), **पाद** या **चरण** (फ़ूट), **पृष्ठ** (बैक), **मुख-सम्मुख** (फ़ेस), आदि। किन्तु जिन भाषाओं में ये विभेद विभक्तियों के माध्यम से व्यक्त कियेजाते हैं (जैसे फ़िन्नी के '**आन्तरिक : बाह्य** में), स्पष्ट है कि मूलतः वहाँ भी इनका प्रयोग उक्ति की परिस्थिति में भागीदार लोगों की दिग्विन्यासात्मक स्थिति की अपेक्षा उपयुक्त वर्गीकरण या कोटि-बन्धन के आधार पर ही कियाजाता है।

विभक्ति के 'स्थानिक' कार्यों में सामान्यतम विभेद **लोकेटिव** (अधिकरण= स्थानात्मक) और **दिशात्मक** ('**में/पर**' और '**को**' या '**से**') में किया जासकता है। अब यह परिणत रूप कालात्मक निर्देश से युक्त है या 'दिगात्मक' से, यह बात मुख्यतः रूपायित नाम के उपवर्गीकरण पर आश्रितरहती है : 'गृहे', '**गृहात्**' : 'बाल्ये', **बाल्यात्**', आदि में; जिनका अनुवाद अंग्रेज़ी आदि में कर्मप्रवचनीय-प्रयोग के द्वारा होता है। अतः '**अधिकरण**' और '**अवधिपरक**' (दिगात्मक) संज्ञाओं की व्याख्या भी दिक् और काल की दृष्टि से '**उदासीन**' या 'निष्प्रभावित' रूप में ही करनी पड़ेगी; और यह कि '**को**' और '**से**' का विभेद '**दिगात्मक**' के अन्तर्गत ही एक 'गौण' विभेद है।

'स्थानिक' (अधिकरण) और 'दिगात्मक' (अपादान) का विभेद एक अन्य सामान्यतर विभेद का विशिष्ट अभिव्यजन कहा जासकता है : **स्थितिक** और **गातिक** का। अगले ही खण्ड में '**पक्ष**' पर अपने विचार के प्रसंग में हम इस विषय पर फिर विचार करेंगे। यहां इतना कहदेना ही पर्याप्त है कि जो सम्बन्ध परस्पर **स्थान** और **गति** में है, वही सम्बन्ध **स्थिति** और **परिवर्तन** के बीच भी है। दूसरे शब्दों में, **स्थैतिक** अभिव्यक्तियों (यथा—**लन्दन में, मंगलवासरे, (टु बी) ए टीचर**, आदि) में, और इनके विपरीत '**लन्दन को (जाना)**', '**मंगलवासरम् (यावत्)**,

'(बिकम) ए टीचर', आदि की 'गतिमय अभिव्यक्तियों' में एक धारणात्मक समान्तरता विद्यमान है। ठीक इसीप्रकार, स्थान और गति के अन्तर की भाँति, स्वामित्व और उपलब्धि केबीच भी अन्तर है : (गो) टु लन्दन, वाराणसीं (याहि), पुस्तकमुपलभस्व, (गेट) दि बुक, आदि के रूप में।

यदि हम 'स्थिति' संज्ञा को सामान्य रूप से स्थान, गुण, दशा, और अधिकार (स्वामित्व), आदि केलिए प्रयुक्तकरें, तब हम उन स्थितियों के बीच भी विभेद करने में समर्थ होजाएँगे, जो उन व्यक्तियों या द्रव्यों के साथ स्थायी रूप से सम्बद्ध हैं तथा जो उनसे अस्थायी अथवा आकस्मिक रूप से सम्बन्ध हैं। उधर गतिक रूप का प्रयोग (गति, स्थितिपरिवर्त्तन, उपलब्धि या हानि का अभिव्यंजक) यह मानकर चलता है कि विचाराधीन स्थिति केवल संस्पर्शी (अनस्तित्वात्मक या आकस्मिक) है, आवश्यक नहीं। फिर, आवश्यक और संस्पर्शी के बीच का यह विभेद भी कुछ भाषाओं के विधेयात्मक नामों और विशेषणों की विभक्तियों में स्पष्ट होता है। निदर्शनार्थ, रूसी में 'करण' कारक का प्रयोग (वर्त्तमान काल के अतिरिक्त) गुण या दशा की संस्पर्शी स्थिति केलिए होता है : 'या ब्यूल्/स्ताल् सोल्दातोम् (मैं एक एक सिपाही था/होगया'); जबकि 'प्रथमा' का प्रयोग अधिक स्थायी या आवश्यक स्थिति केलिए होता है। फिन्नी भाषा में 'ऍस्सिव' का प्रयोग गुणों या दशाओं की संस्पर्शी, आवर्त्ती या अस्थायी स्थितियों की स्थैतिक अभिव्यक्ति केलिए होता है (जब वह एक अध्यापक था, या अध्यापक की अपनी हैसियत से, आदि अर्थों में), और ट्रांस्लेटिव का प्रयोग इन्हीं स्थितियों के 'गतिक' रूप केलिए होता है ('वह अध्यापक बनगया', 'वह लाल-पीला होगया', आदि अर्थों में)। संस्पर्शी और आवश्यक केबीच का भेद 'स्वामित्व'-वर्ग के सम्बन्धों पर भी लागूहोता है : यदि स्वामी का यह 'स्वामित्व' (द्रव्य पर) संस्पर्शी प्रकार का है, तब चीनी आदि भाषाओं में यह देय या दातव्य (वियोज्य) के रूप में अंकित होता है; अन्यथा आवश्यक प्रकार का होने पर इसकी अभिव्यक्ति 'अनंकित' रूप में, या 'अवियोज्य' (अदेय) के रूप में, कीजाती है। इन दोनों के सामान्य उदाहरण 'राम की पुस्तक' और 'राम के पिता' के अर्थ में दिये जासकते हैं।

सुदूर अतीत से ही वैयाकरणों ने विभक्ति को कोटि के व्याकरणात्मक और 'स्थानगत' कार्यों पर विचार किया है (यहाँ 'स्थानगत' का अर्थ 'काल और दिक् से सम्बद्ध' से है)। श्रेण्य तथा कई अन्य भाषाओं में विभक्ति के इन दोनों कार्यों के बीच विभेद करना कठिन होजाता है। परिणामतः यह कहने की प्रवृत्ति होती है कि एक से ही दूसरे का जन्म होता है; अथवा इन दोनों की ही व्युत्पत्ति किसी सामान्यतर मूल सिद्धान्त से होती है, जो काल और दिक् की एवं विन्यास की, भावना से अप्रभावित रहता है। अंग्रेज़ी-हिन्दी के कर्मप्रवचनीयों के 'स्थानगत' और 'व्याकरणात्मक' कार्यों के विषय में भी यह बात सत्य है (उन्हें नाम की 'विभक्ति' का भी अपर पर्याय माना जासकता है, यदि 'विभक्ति' का अर्थ 'रूपगत अन्तरण'

से ही न लियाजाए)। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी के फ्रॉम और टु के ही प्रयोग को लें: **'आई ऍम् फ्रॉम लन्दन'** या **'आई केम फ्रॉम स्कूल'** में प्रयुक्त **'फ्रॉम'**, **'आई गौट द बुक फ्रॉम जोन'** में प्रयुक्त उसी 'फ्रॉम' से, समकालिक दृष्टि से असम्बद्ध है। यही बात 'टु' के साथ भी है: **'आई वेण्ट टु लन्दन'** में दिशात्मक प्रयोग 'टु' और **'आई गेव द बुक टु जोन'** में अप्रत्यक्ष कर्म केलिए प्रयुक्त 'टु' में अन्तर है; और वे दोनों परस्पर असम्बद्ध हैं। अभी तक किसी भी भाषा का अध्ययन प्रजनक दृष्टि से इस सीमा तक नहीं हुआ है कि यह स्पष्टतर रूप में कहा जासके कि किसी भाषा की विभक्तियों और कर्मप्रवचनीयों के 'स्थानगत' और 'व्याकरणात्मक' कार्यों के बीच कितनी सहघटकता समकालिक रूप से संगत या सम्बद्ध कही जासकती है। दूसरी ओर, जन्मना असम्बद्ध कुछ भाषाओं में अन्योन्य-सहघटना की कुछ ऐसी ज्वलन्त बातें भी पाई जाती हैं कि सामान्य वाक्य-रचना-सिद्धान्त की दृष्टि से उनका अध्ययन किया ही जानाचाहिए। इसप्रकार की सहघटना-सम्बद्ध जिस एक बात पर हम बाद में विचार करेंगे, वह है बहुत सी भाषाओं में **अप्रत्यक्ष कर्म** और **'दिशात्मक'** प्रयोगों केबीच साम्य: यथा **'आई वेण्ट टु लन्दन'** और **'मैंने राम को पुस्तक दी'** में 'कर्म' की दिशात्मक और अप्रत्यक्ष कर्म की भावनाएँ स्पष्ट हैं, किन्तु **'मैंने राम को पुस्तक भेजी'** में यह विचार्य है कि **'को'** का प्रयोग दिशात्मक है या अप्रत्यक्ष कर्म केलिए।

७. ४. ७ कर्मप्रवचनीय (प्रेपोज़िशन्स)

यद्यपि परम्परागत रूप में 'विभक्ति' को 'रूपान्तरण' तक ही सीमित कर दियागया है, तब भी यह स्पष्ट है कि ऊपर के अनुच्छेदों में जिन **'व्याकरणात्मक'** और 'स्थानगत' कार्यों की चर्चा कीगई है, वे विशिष्ट भाषाओं में अपनी उपलब्धि के स्वरूप से भिन्न और स्वतन्त्र रूप में ही रहते हैं। फिर, एक ही भाषा में ये दोनों कार्य अंशत: विभक्तियों के द्वारा और अंशत: **पूर्वग-कर्मप्रवचनीयों** (प्रेपोज़िशन्स) या उत्तर **कर्मप्रवचनीयों** (पोस्टपोजिशन्स), अथवा **शब्दक्रम** आदि के माध्यम से निष्पन्न होते हैं। इसका अर्थ हुआ कि विभक्ति की कोटि पर विचार केवल आकृतिमूलक दृष्टि से ही नहीं किया जासकता।

पूर्वग और उत्तर कर्मप्रवचनीयों के बीच विभेद इतना तुच्छ है कि अनेक भाषाविद् इसे अनावश्यक कहेंगे। परम्परागत 'पद-भेद-सिद्धान्त' का विकास यूरोप की श्रेण्य भाषाओं के आधार पर ही होने के कारण 'प्रेपोज़िशन्स' नाम उन 'निपातों' या 'अव्ययों' को दे दियागया, जिनका कार्य 'स्थानगत' अथवा 'व्याकरणात्मक' था; तथा जो **लैटिन** और **ग्रीक** के प्रयोगों में अपने द्वारा विशेषित **नाम से पूर्व** ही प्रयुक्त होते हैं। **हिन्दी, तुर्की, जापानी**, आदि अनेक भाषाओं में ठीक इन्हीं कार्यों को करनेवाले 'निपात' या 'अव्यय' अपने द्वारा विशेषित **नाम के बाद** ही प्रयुक्त होते हैं (**अहमेत् इतिन् (तु०-अहमद केलिए)**, तोक्यो एँ (जा०-तोक्यो को), राम को (हि०) आदि)।

इसी कारण उन्हें 'पोस्टपोजिशन' या 'उत्तर कर्मप्रवचनीय' कह दियाजाता है। व्याकरण के सामान्य सिद्धान्त में यह बात नितान्त महत्त्वहीन है कि कोई कर्मप्रवचनीय विशेषित संज्ञा के पूर्व प्रयुक्त होता है या बाद में। अतः हम 'प्रेपोजिशन' या 'कर्मप्रवचनीय' के रूप में एक ही लोकप्रिय संज्ञा का प्रयोग 'पूर्वग' और 'उत्तर' दोनों केलिए करेंगे।

यह बात भी उतने महत्त्व की नहीं है कि 'विभक्ति' को अपनी परम्परागत सीमाओं से इस रूप में विस्तृत कियाजाए या नहीं, जिससे कर्मप्रवचनीयों और विभक्त्यर्थ अन्य प्रयोगों का भी उसमें समावेश होसके। वास्तव में इसप्रकार की प्रयोग-भिन्नता का सम्बन्ध भाषा की केवल बाह्य-संरचना (पृष्ठ-संरचना) से ही होता है। सामान्य व्याकरण सिद्धान्त की दृष्टि से मुख्य बात यह है कि परम्परागत 'विभक्ति' कोटि में अन्तर्हित समझे जानेवाले 'व्याकरणात्मक' और 'स्थानगत' कार्य न तो उन भाषाओं में ही अधिक स्पष्टता या उग्रता से उपलब्ध होते हैं, जिनमें विभक्तियां या रूपान्तरण घटित होते हैं; न ही उनमें जिनमें केवल कर्मप्रवचनीयों के द्वारा ही यह कथन होता है। इस खण्ड में भाषा के विन्यासात्मक और दिशात्मक ढाँचे की व्याख्या पर अधिक बल दियागया है।

अनेक या अधिकांश भाषाओं में 'व्याकरणात्मक' और 'स्थानगत' कार्यों की दृष्टि से विभक्त्यन्तरण और कर्मप्रवचनीयों को विभाजित नहीं किया जासकता। इस तथ्य का यह अर्थ नहीं कि इन दोनों प्रकार के कार्यों (भावात्मक और मूर्त्त, अथवा व्याकरणात्मक और स्थानागत) के पृथक् अस्तित्व का भी कोई औचित्य नहीं रहता। सर्वप्रथम तो यह अवधेय है कि किसी 'अमूर्त्त' (भावात्मक) विभक्ति-रूप या कर्मप्रवचनीय के स्थान पर किसी अन्य को अन्तरित करना सामान्यतः तबतक सम्भव नहीं होता, जबतक कि वाक्य में अन्यत्र कहीं कोई परिवर्त्तन न कियाजाए। उदाहरणार्थ, लैटिन में भी उसी तरह 'कर्मणि द्वितीया' या 'सम्बन्ध षष्ठी' के स्थान पर 'कर्त्तरि प्रथमा' का प्रयोग स्थानापन्न नहीं किया जा सकता, जैसे अंग्रेजी में 'हिम्' या 'हिज्' के स्थान पर 'ही' (*he*) का प्रयोग स्थापित नहीं किया जासकता। 'अमूर्त्त' (व्याकरणात्मक) का, इस प्रसंग में, अभिप्राय समझने केलिए इस तथ्य को सामान्यतम कहा जासकता है। इसके विपरीत, फिन्नी भाषा में 'बाह्य' के स्थान पर 'आन्तरिक' विभक्ति का वैसे आपादन करना सदा ही सरलतर होता है, जैसे अंग्रेजी में 'इन्' के स्थान पर 'ऐट्', या 'इन्टु' के स्थान पर 'टु' का आपादन (यथा—'आई विल् मीट् यू ऐट/इन् द चर्च', 'लेट अस् गो टु/इन्टु द चर्च', आदि में)। अतः 'बाह्य' और 'अन्तः' के बीच विभेद अधिक 'मूर्त्त' है : यह वाक्यस्थ अन्य परिवर्त्तियों द्वारा नियन्त्रित नहीं होता, और स्वयं ही अपने अर्थ को स्पष्ट करने में समर्थ होता है। इन 'स्थानगत' विभेदों के उदाहरण के रूप में, जोकि पूर्णतः 'अमूर्त्त' और पूर्णतः 'मूर्त्त' के बीच विद्यमान है, हम स्थानगत और दिशात्मक (अवधिमूलक) के मध्य विभेद का उदाहरण लेसकते हैं : यह

विभेद **कर्तृमूलक** और **कर्मसूलक** के बीच विद्यमान विभेद से कम **'अमूर्त्त'** है; किन्तु यह 'बाह्य' और 'आन्तरिक' के बीच विद्यमान विभेद की अपेक्षा कम 'मूर्त्त' भी है। अंग्रेजी कर्मप्रवचनीय 'ऐंट्' का प्रयोग 'टु' के स्थान पर ऐसी उक्ति में नहीं किया जासकता : 'ही वेंन्ट टु चर्च', जबतक कि 'वेंन्ट' के स्थान पर किसी 'स्थानगत' क्रिया का भी प्रयोग न कियाजाए। इस दृष्टि से विभेद 'अमूर्त्त' (निरपेक्ष) हैं। किन्तु, साथ ही, यह भी कहना उचित होगा कि 'वैन्ट' और 'टु' एवं 'वाज' और 'ऐंट्' का चुनाव 'दिशात्मक' के स्थान पर 'स्थानात्मक' 'विधेय' के पूर्वतर चुनाव द्वारा निर्दिष्ट होता है, जिसे उच्चतर या 'गहरे' (आन्तरिक) स्तर पर कियाजाता है। इसी विश्लेषण को हम आगे अपनाएँगे (८. ४. ७)। यदि यह ठीक है, तब इसका अर्थ हुआ कि **स्थानात्मक** और **दिशात्मक** के बीच का विभेद अन्तःसंरचना का मूर्त्त या 'अर्थात्मना सम्बद्ध' विभेद है; किन्तु 'ऐंट्' के स्थान पर 'टु' का प्रयोग व्याकरणात्मक दृष्टि से ही निर्दिष्ट होता है। केवल अस्तित्वमात्र से ही यह अर्थ में अन्तर नहीं लाता।

यद्यपि विभक्ति-रूप और कर्मप्रवचनीय के प्रयोग के बीचके विभेद को भाषा की पृष्ठ संरचना में महत्त्वहीन विभेद कहागया है, इसपर भी यह कहने का कुछ अनुभूतिगम्य आधार है कि यदि किसी भाषा में **विभक्ति-प्रत्यय** और **कर्मप्रवचनीय** दोनों का ही प्रयोग उपलभ्य है, तब उक्त आधारों पर 'प्रत्यय' को अधिक **'अमूर्त्त'** और कर्मप्रवचनीय को अधिक **'मूर्त्त'** कार्य का वाहक, या उस प्रवृत्ति से युक्त, मानना ठीक होगा। बात भारोपीय भाषाओं के विषय में तो ठीक ही है; अन्य कई विभक्ति-प्रत्यययुक्त भाषाओं के विषय में भी यह सत्य प्रतीत होती है। फिर, यह भी सत्य होसकता है कि किसी वाक्य में 'कर्त्ता' या 'कर्म', अथवा 'विशेषक' और 'विशेषित', के बीच 'प्रत्यय' कदाचित् ही उतना 'मूर्त्त' कार्य करते होंगे, जितना कि कर्मप्रवचनीयों केलिए सामान्यतः विहित है। इस विषय में, **कर्मप्रवचनीयों** की अपेक्षा **'विभक्तिरूपण'** को, और **'विभक्तिरूपण'** की अपेक्षा **'शब्द-क्रम'** को, अधिक 'व्याकरणात्मक' प्रयुक्ति कहा जासकता है।

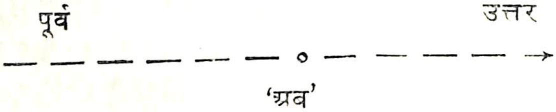
७. ५ लकार भाव और पद (पक्ष)

७. ५. १ लकार (टेंन्स)

'टेंन्स' शब्द की व्युत्पत्ति, काल के वाचक ग्रीक शब्द **'ख्रोनोस'** या लैटिन **'टैम्पुस'** से आरम्भ होकर, पुरानी फ्रेंच के एक शब्द के माध्यम से हुई है। इस कोटि का सम्बन्ध उन कालात्मक अभिव्यक्तियों से है, जिन्हें प्रणालीबद्ध व्याकरणात्मक वैषम्यों (जिन्हें संस्कृत में 'लकार' कहागया है) के माध्यम से अभिव्यक्ति मिलती है। ग्रीक और लैटिन के वैयाकरणों ने परम्परागत रूप में ऐसे तीन वैषम्य खोजे थे :

भूत, वर्त्तमान और भविष्य । और, प्रायः ही यह मान लियाजाता है कि यही त्रिधा विभाग विश्वात्मक रूप से घटित होता है । किन्तु, यह सत्य नहीं है । सत्य तो यह है कि स्वयं 'टेन्स' या 'लकार' की ही उपलब्धि सब भाषाओं में नहीं होती । सच यह भी है कि **भूत, वर्त्तमान और भविष्य** का विभेद ग्रीक और लैटिन (संस्कृतादि) में भी केवल 'लकार' के ही माध्यम से व्यक्त नहीं होता । इस कोटि का अनिवार्य अभिलक्षण यह है कि इसके माध्यम से वाक्य में कथित 'घटना के काल' का सम्बन्ध **'उक्ति के काल'** के साथ स्थापित कियाजाता है (जिसे हम **'अब'** के रूप में कह सकते हैं) । अतः 'लकार' को भी एक 'निर्देशक' कोटि कहसकते हैं, जो ('निर्देश पर आधारित अन्य सभी अभिलक्षणों की भाँति : तु० ७. २. १) साथ-ही-साथ उक्ति और वाक्य का 'गुणधर्म' भी है (५. २. ४) । 'लकार'-सम्बन्धी बहुत-सा विमर्श इस कारण दूषित होगया है कि उसमें यह मान लियागया है कि **'काल'** का **भूत, वर्त्तमान,** और **भविष्य में प्राकृतिक** विभाजन ही अनिवार्यतः भाषा में भी प्रतिफलित होता है । यहाँतक कि येस्पर्सन भी अपनी **'द फिलासफी ऑफ़ ग्रामर'** में इस भ्रान्ति के शिकार होगए हैं । **आरेख १६**-में दियेगए आरेख का निर्देश करके वे सर्वप्रथम **'वर्त्तमान'** को सैद्धान्तिक **'शून्यबिन्दु'** के रूप में स्थापित करते हैं (जिसे उक्ति की दृष्टि से **'अब'** कहा जासकता है), और तब 'भूत' को **'वर्त्तमानपूर्व'** के रूप में, और 'भविष्य' को **वर्त्तमानोत्तर** के रूप में मानते हैं । भूत और भविष्य के प्राथमिक विभेदों को

आरेख-१६



येस्पर्सन फिर से **पूर्व और उत्तर** की धारणा के 'द्वितीय विनियोग' के आधार पर पुनः-विभक्त करते हैं : **भूत-पूर्व, भूतोत्तर, भविष्यपूर्व, भविष्योत्तर,** आदि के रूप में (केवल सैद्धान्तिक 'शून्यबिन्दु' होने के कारण 'वर्त्तमान' का विभाजन नहीं किया गया) । परिणाम में मिली **सातसूत्री धारणात्मक 'लकार-प्रणाली'**, जिसे विविध भाषाओं में आंशिक या पूर्ण रूप में उपलब्ध किया जासकता है ।

किन्तु, 'लकार' का कोटिबन्धन विविध रूप में होता है । कोई यह स्वीकार करसकता है (जैसा कि बहुधा किया भी जाता है) कि काल की दिगात्मकता 'प्रकृतिमत' है (जैसा कि आरेख-१६ के तीर द्वारा सूचित होता है) । किन्तु यह बात किसी भाषाविशेष के 'लकार-विश्लेषण' के सम्बन्ध में सप्रसंग हो भी सकती है और नहीं भी । विविध वर्गीकरण सम्भाव्य हैं । जिसे हमने **'अब'** के रूप में सैद्धान्तिक **'शून्य-बिन्दु'** कहा है, वह भूत या भविष्य के साथ मिलकर क्रमशः **'भूत और अभूत' के बीच की** अथवा **'भविष्य और अभविष्य के बीच की'** स्थिति—द्वि-विभाजक स्थिति—की सूचना देसकता है । एक विभिन्न प्रकार का विभेद **अब** और **अब-भिन्न के** बीच की स्थिति का, **वर्त्तमान** और **अवर्त्तमान** के द्विभाजन में देखा

जासकता है। एक अन्य कोटिबन्धन बिना दिगात्मकता के आश्रय के 'सामीप्य' की धारणा के आधार पर किया जासकता है। यथा, उक्ति के काल की दृष्टि से सामीप्य और असामीप्य के रूप में द्विभाजन, अथवा 'अब-समीप-दूर' के रूप में त्रिभाजन, आदि। और, इन विभेदों को विविध रूप में संहत किया जासकता है; केवल उसी रूप में नहीं, जिसमें येस्पर्सन ने सुझाया है।

विविध भाषाओं में पाएजाने वाली विभिन्न लकार-प्रणालियों की चर्चा का यहाँ अवकाश नहीं है। यदि अवकाश होता भी, तबभी यह चर्चा सन्तोषजनक रूप में इसलिए न होपाती कि अंग्रेज़ी तक में 'लकार' का विचार पर्याप्त विवाद का विषय बनाहुआ है। निस्सन्देह अंग्रेज़ी में मुख्य लकार-विभेद भूत और वर्त्तमान के वैषम्य पर टिका हुआ है : यथा—दे जम्प : दे जम्प्ड। किन्तु, इसे सर्वाधिक उचित रूप में भूत और अभूत के बीच का वैषम्य कहा जासकता है। कारण यह कि जहाँ भूतकाल निश्चय ही 'अब-पूर्व' स्थिति की सूचना देता है, वहाँ 'अभूत' का सम्बन्ध केवल उक्ति के काल से ही नहीं है; बल्कि इसका प्रयोग 'कालहीनता' (कालातीतता) और 'नित्यता' पर आश्रित वक्तव्यों केलिए भी होता है (यथा—'सूर्य पूर्व में उदयहोता है', आदि)। और, कईबार तो यह 'भविष्य' या 'वर्त्तमानोत्तर' (अब के बाद)' की भी सूचनादेता है। दूसरे शब्दों में, 'जम्प्ड' जैसा रूप निश्चय ही 'भूत' से अंकित है; जबकि 'जम्प' या 'जम्प्स' को अनंकित कहा जा सकता है। अंग्रेज़ी के सम्बन्ध में यह विश्लेषण इस तथ्य से भी पुष्टहोता है कि भूत और अभूत के बीच विरोध प्रणालीबद्ध रूप से क्रिया के प्रथम अवयव के अंकन से ज्ञात होता है (हिन्दी में यह अंकन परवर्त्ती अवयव पर होता है) : 'जम्प : जम्प्ड'; 'विल् जम्प : वुड जम्प'; 'हैज़् जम्प्ड : 'हैड जम्प्ड'; आदि। सरल वाक्यों में यही एक विरोध अनिवार्य है।

अंग्रेज़ी में जिसे हम 'भविष्यत् काल' (लकार) कहते हैं, उसे पाने में 'विल्' और 'शैल्' जैसी सहायक क्रियाओं का आश्रय लेनापड़ता है (व्यवहारवादी वैयाकरणों ने इनके प्रयोग केलिए पूर्वाग्रहयुक्त विचारों पर आधारित नियम दिये हैं; उनका सम्बन्ध प्रयोक्ताओं के वर्ग-विशेष से नहीं है)। यद्यपि विल् और शैल् का अधिकतर प्रयोग 'भविष्य' की सूचना देने केलिए ही होता है, किन्तु इनका प्रयोग इससे अतिरिक्त वाक्यों में भी होता है। फिर, यहभी अनिवार्य नहीं कि भविष्य-काल के सूचक वाक्यों में वे अनिवार्यतः प्रयुक्त हों ही। उन्हें समुचिततम रूप में मोडल या भावात्मक कहा जासकता है (उदाहरणार्थ, (अं०)-कैन्, मे, मस्ट, आदि; (हि०)-सकना, पाना, करना, होना, आदि)। 'भावदशा' कोटि के अपने विचार-प्रसंग में हम देखेंगे कि 'भविष्यत्व' को जितना 'लकार' का विषय कहा जा सकता है, वह उतना ही 'भावदशा' या 'भाव' का भी विषय है। यहांतक कि ग्रीक और लैटिन (संस्कृत भी) जैसी जिनमें भाषाओं में रूपान्तर की दृष्टि से 'भविष्यत्' की उपलब्धि होती है वहाँ भी, 'भविष्यत्काल' को आंशिक रूप में 'भावात्मक' कहने का

आधार विद्यमान है।

७. ५. २ मूड या भावदशा (भाव)

'लकार' की ही भांति 'भावदशा' (या भाव) को भी रूपान्तरण के द्वारा, या सहायक क्रियाओं के संशोधन के द्वारा, अभिव्यक्ति मिलती है। यह बात उन **अनंकित** वाक्यों की श्रेणी के उदाहरण से स्पष्ट की जासकती है, जो केवल सरल तथ्यात्मक वक्तव्य को वहन करते हैं, और जिनमें अपने वक्तव्य के प्रति वक्ता के झुकाव का पता नहीं चलपाता। इसप्रकार के सरल घोषणात्मक वाक्य, समुचित रूप में, **'भावदशाहीन'** (भावदशा की दृष्टि से 'अनंकित') कहे जासकते हैं। किन्तु, यदि किसी भाषा में ऐसी एक या अधिक व्याकरणात्मक युक्तियाँ हैं, जिनसे वक्ता की स्ववक्तव्यगत निष्ठा की वास्तविक स्थिति व्यक्त होती है (उसकी सबल निश्चयात्मकता, अनिश्चयात्मकता, या संशय, आदि), तब उन अनंकित वाक्यों को भी, प्रथात्मक रूप में ही सही, किसी विशिष्ट 'भावदशा' से ही सम्बद्ध कह दियाजाता है। इस अनंकित भावदशा का ही परम्परागत नाम **'निर्देशिका या उद्घोषिका'** है।

दो वाक्यश्रेणियां अपनी 'भावदशात्मकता' के कारण अन्यों से भिन्न ठहरती हैं: **आज्ञार्थक और प्रश्नात्मक**। प्रथम श्रेणी **'आज्ञार्थक'** वाक्यों की है, जिनसे कोई वक्तव्य न कहाजाकर आज्ञा का विधान कियाजाता है: **कम् हियर, पुट् योर कोट ऑन्; इधर आओ, यह पढ़ो**; आदि। क्योंकि आज्ञा प्रायः श्रोता को ही दीजाती है, अतः कहा जासकता है कि 'आज्ञार्थक' वाक्यों की केन्द्रीय श्रेणी केवल 'मध्यम पुरुष' के योग में ही होसकती है। और यह कदाचित् एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि **पुरुष, वचन, लकार, भावदशा**, आदि से जनित रूपविकारों से युक्त भारोपीय-सहित अनेकानेकभाषाओं में **'मध्यमपुरुष-एकवचन-आज्ञार्थक'** (लोट्) में क्रिया-रूप इन सब दृष्टियों से अपरिवर्त्तित ही रहता है: **अनंकित** या मूलधातु के तुल्य। कई भाषाविदों ने इसी आधारपर यह कहा है कि **'वक्तव्यदेने'** की अपेक्षा **'आज्ञादेना'** भाषा का मूल कार्य कहा जासकता है। **अब क्योंकि** यहाँ 'मूल' का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है, अतः हम इस विमर्श में अधिक प्रवृत्त नहीं होंगे। कुछ भी हो, 'आज्ञादेने' और 'वक्तव्यदेने' के बीच इतना सूक्ष्म विभेद किया भी नहीं जासकता। **'मैं तुम्हें यहाँ देखना चाहता हूँ'**—यह वाक्य सामान्यतः 'घोषणात्मक' वाक्य मानाजाएगा; यद्यपि उचित सन्दर्भ में इसी की **'यहाँ आओ'** जैसी अनुकारी उक्ति अधिकारपूर्ण आज्ञा को व्यक्तकरती मानीजाएगी।

दूसरी श्रेणी 'प्रश्नात्मक' वाक्यों की है, जो अपनी 'भावदशात्मकता' के कारण 'उद्घोषक' वाक्यों के विरोध में व्यक्त होती है। परम्परागत रूप में उन्हें 'भावादशात्मक' इसलिए नहीं मानाजाता, क्योंकि लैटिन, ग्रीक, अंग्रेज़ी, आदि अधिकांश भाषाओं में **प्रश्नात्मक** और **उद्घोषक** वाक्यों केबीच अन्तर, क्रिया के

रूपान्तर या विशिष्ट सहायक क्रिया के चुनाव के आधार पर न होकर, भिन्न शब्द-क्रम वाले विविध प्रश्नात्मक अव्ययों या सर्वनामों के प्रयोग, अथवा काकु के विनियोग, के साथ **'निर्देशिका भावदशा'** के द्वारा होता है। **'प्रश्नात्मक भावदशा'** की चर्चा भाषाविद्, सामान्य भाषाओं के विषय में न करके, केवल उन्हीं भाषाओं में करते हैं, जहां सामान्य 'अनंकित' वाक्यों से प्रश्नों का अन्तर किसी ऐसी वाक्यरचना-युक्ति के द्वारा होता है, जिसका प्रयोग 'भावांकित' वाक्यों केलिए भी होता है। किन्तु, सामान्यतर दृष्टि से प्रश्नात्मक वाक्यों को स्पष्टतः **'भावात्मक'** कहा जासकता है। बल्कि उन्हें कुछ ऐसी अतिरिक्त भावात्मकताओं से भी अभिलक्षित किया जासकता है, जिनसे वक्ता की आकांक्षा का परिज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, 'लैटिन' के वर्णन में तीन प्रकार के **'हाँ-ना'** वाले वाक्यों को पहचानागया है : (१) **मुक्त प्रश्न** : जिनमें प्रश्नकर्त्ता की **'हाँ-ना'** सम्बन्धी आकांक्षा ध्वनित नहीं होती और प्रत्यय **'ने'** होता है; (२) **'नोन्ने'** अव्यय से आरम्भ होनेवाले वे वाक्य, जिनमें **'हाँ'** उत्तर की आकांक्षा निहित होती है; और (३) **'नुम्'** से आरम्भ होनेवाले वे वाक्य, जिनका उत्तर नकारात्मक आकांक्षित होता है। लगभग ऐसा ही विरोध अंग्रेजी के वाक्यों में भी मिलता है : (मुक्त प्रश्न)-**'इज़ ही हियर?'**; (स्वीकारात्मक)–**'ही इज़ हियर, इज़'ण्ट ही?'**; (नकारात्मक)=**'ही इज़'ण्ट हियर, इज़ ही ?'**, आदि। ('हाँ-ना' प्रश्नों से अभिप्राय उन प्रश्नों से है जिनका उत्तर 'हाँ' या 'ना' मेंसे किसी एक रूप में दियाजासकता है। उदाहरणार्थ–'**राम आया?**' को **हां-ना**-वाला (मुक्त) प्रश्न कहा जासकता है, '**कौन आया?**' को नहीं।)

इन दोनों को छोड़कर अन्य भावविकारों की ओर ध्यानदेने पर हम पाएंगे कि विविध भाषाओं में वक्ता की 'वृत्ति' विविध प्रकार से व्याकरण में अंकित होती है। **'भावात्मकता'** के कम-से-कम तीन 'माप' सम्बद्ध कहे जासकते हैं। प्रथम माप है : **'अभिलाषा'** या 'अभिप्राय' का (संस्कृत में इसे **'आशीः'** कहागया है)। इसका उदाहरण है, लै०-**'रैक्विएस्कात् इन् पाचे**=वह शान्ति से विश्राम करे' : लैटिन के 'सञ्जंक्टिव' या 'भावार्थक' (संस्कृत-'लेट्' : आशीः=इच्छाद्यर्थक) का रूप **'रेक्विएस्कात्'** उसके 'वर्त्तमान निर्देशात्मक' रूप **'रैक्विएश्चित्'** से विभिन्न है। (इस सब्जंक्टिव' या 'भावात्मक' (लेट्) से भिन्न ग्रीक की **'ऑप्टेटिव'** या विध्यर्थक (विधिलिङ्) भावदशा का नाम इस कारण पड़ा कि इसके प्रयोग से वक्ता अपनी अभिलाषा को व्यक्त करता था।) दूसरा माप है **'आवश्यकता'** या 'अनिवार्यता' का : **'मुझे अगले सप्ताह दिल्ली जाना ही चाहिए'**, आदि। तीसरा माप है—**'निश्चितता'** या 'सम्भाव्यता' का : **'वह यहां होसकता है'**, या **'उसे यहां होना चाहिए'**, आदि। इन भावात्मकताओं केलिए हमने 'माप' शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि इनके अभी अन्य भी कई बड़े या छोटे कोटि-विभेद सम्भव होसकते हैं : **निश्चितता, प्रायिकता, सम्भाव्यता, सबल-निर्बल** या विविध प्रकार की **अनिवार्यता** और **आवश्यकता**, आदि। फिर, विशिष्ट भाषाओं में भावात्मकता के इन दो या तीन मापों को मिलाया

भी जासकता है। और या उन्हें किसी भी प्रकार की व्याकरणात्मक मान्यता से रहित भी छोड़ा जासकता है। यह भी अवधेय है कि 'आज्ञार्थक' वाक्यों और इच्छात्मक या आवश्यकतात्मक भावात्मकता में कुछ आत्मीयता भी है। यही बात 'सम्भाव्यता' की भावात्मकता और 'प्रश्नात्मक' वाक्यों के बीच भी कही जासकती है। वास्तव में, बाहर से प्रश्नवाक्य प्रतीत होनेवाला अंग्रेज़ी का ऐसा वाक्य : 'विल यू कम् हियर ?', (यदि 'काकु' के अन्तर की बात को छोड़दें) अर्थात्मक दृष्टि से इस वाक्य के तुल्य ही है : 'कम् हियर, विल् यू ?', या केवल 'कम् हियर' के। और, इसे किसी एक ही भावात्मकता से सन्नद्ध करना कठिन भी है।

७. ५. ३ लकार और भावदशा का प्रतिच्छेदन

'भावदशा' और 'काल' (लकार) की कोटियाँ आपस में कईप्रकार से परस्पर प्रतिच्छेदन करसकती हैं। सर्वप्रथम, एक विशिष्ट 'भावभेद' किसी एक 'लकार' के साथ सम्बद्ध किया जासकता है, किन्तु दूसरे के प्रति वह निष्प्रभावित रहता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी के 'अ-भूतपरक' वाक्य में 'मस्ट' सहायक क्रिया के सहचारी 'आबन्धात्मक' और 'आनुमानिक' अर्थों के विभेद निष्प्रभावित या उदासीन होजाते हैं : 'ही मस्ट कम रेगुलरली' (जिसका अर्थ दोनों ही तरह से लिया जासकता है : 'उसे नियमित रूप से आना ही होता है', या 'मेरा अनुमान है कि वह नियमित रूप से आता है'); किन्तु 'भूत' में वे पूर्ण रूप से स्पष्ट किये जासकते हैं : 'ही हैड टु कम रैगुलरली' और 'ही मस्ट हैव कम रेगुलरली'। (यह अवधेय है कि आबन्धात्मक या आनुमानिक 'मस्ट' का विभेद केवल 'लकार' के आधार पर ही 'निष्प्रभावित' या 'उदासीन' नहीं होता। 'ही मस्ट कम रेगुलरली' की अस्पष्टता इस तथ्य पर आधारित है कि यह अपने 'पक्ष' (आस्पेॅक्ट) में 'रेगुलरली' के प्रयोग के कारण 'स्वभावगत' गिना जाता है, जबकि इसके विपरीत 'ही मस्ट कम नाउ' को 'अ-स्वभावगत' माना जासकता है और इसमें 'अनुमान' की सम्भावना भी नहीं रहती। 'पक्ष' पर हम आगे विचार करेंगे।) 'आबन्ध' के भीतर ही अंग्रेज़ी में एक अन्य 'विभेद' भी होता है; जिसका सम्बन्ध उस आबन्ध की स्वीकृति या पूर्णता के साथ होता है। इसका निर्णय 'मस्ट' या 'हैव टु' और 'औॅट्' मेंसे किसी एक के चुनाव पर निर्भर करता है। यह विभेद तब कतई स्पष्ट होजाता है, जब हम पूर्णतः स्वीकार्य वाक्यों की तुलना अस्वीकार्य वाक्यों के साथ करते हैं : (स्वीकार्य)—'आई औॅट् टु गो टु न्यूयार्क टुमॉरो, बट आई एम् नौॅट् गोइङ् टु', या 'ही औॅट् टु हैव गोन टु न्यूयार्क येॅस्टरडे, बट ही डिड् नौॅट्, और (अस्वीकार्य)—'*आई मस्ट गो टु न्यूयार्क टुमॉरो, बट आई एॅम नौॅट् गोइङ टु—)', या * 'ही हैड टु गो टु न्यूयार्क येॅस्टरडे, बट ही डिड नौॅट्'। दूसरे शब्दों में, 'मस्ट/हैव' और 'औॅट' के चुनाव के पीछे कुछ भावात्मक पूर्वकल्पनाएं संयुक्त हैं। यद्यपि ये पूर्वकल्पनाएं 'लकार' पर अश्रित नहीं

हैं; किन्तु उनका प्रभाव इसप्रकार का अवश्य होता है कि **'उसे जाना चाहिए था'** जैसे 'भूतात्मक वाक्य' से भी श्रोता यह अनुमान करलेता है कि वक्ता की जानकारी के अनुसार संकेतित व्यक्ति तथ्यतः **'गया नहीं है'**, और **'उसे जाना ही पड़ा'** से यह अनुमान होता है कि वह तथ्यतः **'चला गया है'**। **'आबन्ध'** में यह विभेद बहुधा उन विभेदों की 'शक्ति' के बीच अथवा 'कर्त्तव्य' और 'अनिवार्यता' के बीच अन्तर पर आश्रित मानाजाता है।

इस खण्ड में, पहले यह सुझाव दियागया है कि अंग्रेज़ी (और अन्य भाषाओं में) **'भविष्यत्'** की अभिव्यक्ति **'लकार'** और **'भावदशा'** पर समान रूप से आधारित है। सर्वप्रथम, यह अवधेय है कि 'विल्' और 'शैल्' से युक्त वाक्य अनिवार्यतः भविष्य को सूचित नहीं करते। **'विल्'** का भावात्मक प्रयोग **'कल्पनात्मक'** रूप में भी होसकता है (**कल्पनात्मक—'ही विल् बी क्वाइट् ए बिग् बॉय् नाऊ'** : तुलनीय **'अनुमानात्मक'**; 'ही **मस्ट बी क्वाइट् ए बिग बॉय** नाऊ' से); और **'आगमनात्मक'** रूप में भी, जिसे **पामर** 'सामान्य कालातीत सत्य केलिए प्रयुक्त' होता मानते हैं : यथा, **'ऑयल् विल् फ़्लोट ऑन् वाटर'**। 'शैल्' की **'भविष्यपरक'** अभिव्यक्ति के साथ उसकी एक भावात्मक अभिव्यक्ति **'प्रतिज्ञात्मक भावदशा'** के माध्यम से भी होती है : मानो वक्ता वक्तव्यगत तथ्य के वचनपालक के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करता हो : यथा—**'यू शैल् हैव योर मनी बाई दी एण्ड ऑफ़ द वीक्'**। **शैल्** और **विल्** के साथ कुछ अन्य भावात्मकताओं का भी सम्बन्ध है। फिर, ये दोनों 'क्रियाएं' न केवल भाषा के आरम्भिक चरणों में 'भावात्मक' समझे जानेवाले रूपों से विकसित हुई हैं, बल्कि रूपात्मक दृष्टि से इनका प्रतिमान **'मे'**, **'कैन्'**, आदि से युक्त वर्त्तमान अंग्रेज़ी वाक्य-रचना में खोजा जासकता है।

यह सत्य है कि **विल्** और **शैल्** का प्रयोग सामान्यतः भविष्य की सूचना के लिए ही होता है; किन्तु यह इस तथ्य का 'प्रकृतिसिद्ध' परिणाम भी होसकता है कि भविष्य की घटनाओं से सम्बद्ध वक्तव्य अनिवार्यतः वक्ता के **अभिप्राय, प्राक्कथन** और **विश्वास** पर आश्रित होते हैं; उसके 'तथ्य-सम्बन्धी ज्ञान' पर नहीं। यह अवधेय है कि जिन अनेकानेक भाषाओं में भविष्यत् की अभिव्यक्ति 'लकार' के रूप में होती है, उनमें उसका प्रयोग उन भावात्मक स्थितियों में भी होता है जिन्हें अंग्रेज़ी के **विल्** और **शैल्** प्रयोगों से सम्बद्ध बतायागया है। यहां हम कुछ उदाहरण देंगे। फ्रेंच प्रयोग **'सा सेरा ल फ़ाक्त्यूर'** में **'सेरा'** (भविष्यसूचक) का प्रयोग **'विल्'** के इस अंग्रेज़ी प्रयोग के ही अर्थ में हुआ है : **'दैट् विल् बी द पोस्टमैन्'**। रूसी का 'अपूर्ण भविष्य' (या अनिश्चित भविष्य) **अभिप्राय** और **निर्धारण** दोनों ही दृष्टि से प्रयुक्त होसकता है : **'या न्ये बुदु राबोताज्'** (मैं काम नहीं करूँगा)। ग्रीक और लैटिन (एवं संस्कृत) में भी 'लकार' का प्रयोग 'भावात्मक' रूप में भी अनेकधा होता है; और यह 'भावात्मकता' उन दो तथ्यों से सिद्ध होती है जिनके आधार पर **'लृट'** (भविष्यत्) का सम्बन्ध 'सब्जंक्टिव' (भावार्थक) या **'लेट्'** (आशीःपरक) 'भाव' के

साथ कर दियाजाता है (संस्कृत **'भविष्यत्'** जैसे रूपों में) : (१) कि कुछ सन्दर्भों में **'भविष्यत्'** का प्रयोग **'लेट्'** (आशी:) के स्थान पर किया जासकता है, और (२) कि इन दोनों भाषाओं में कोई **'भविष्यात्मक लेट्'** जैसा 'लकार' या 'भाव' नहीं है। इसप्रकार 'तीन लकारों (कालों)' और लैटिन की 'दो भावदशाओं', एवं ग्रीक की 'तीन भावदशाओं', वाली परम्परागत प्रणाली ('आज्ञात्मक' को दोनों जगह निकाल कर) पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं ठहरती। वाक्यरचना के सामान्य सिद्धान्त की दृष्टि से यह सूत्र अपनाया जासकता है : **'भविष्यत् एक ऐसी धारणा है, जो भाव और लकार के विभेद को काट गिराती है'**।

कोई भाषा 'लकार' और 'भाव' की इन दोनों कोटियों को अपनाती है या नहीं, यह अनुभूतिपरक अनुसन्धान का विषय है। हॉकेट के अनुसार, **'होपी भाषा में तीन लकार हैं : प्रथम**— सामान्य कालातीत सत्यों के कथन में प्रयुक्त (यथा—**पर्वत ऊँचे हैं**); **द्वितीय**—ज्ञात या सम्भवतः ज्ञात घटनाओं के वर्णन में प्रयुक्त (यथा—**'मैंने उसे कल देखा था'**, या **'इस क्षण मैं जा ही रहा हूँ'**, आदि में ; और तीसरा उन घटनाओं केलिए प्रयुक्त, जो अभी अनिश्चितता की गोद में है और जहाँ हम वक्ता की दृष्टि से 'भविष्य' कहसकते हैं (यथा—**वह कल आ रहा है**)'। इन तीनों **लकारों** के निहितार्थों के विषय में जो कुछ कहाजाता है, उससे कोई भी यह सोच सकता है कि इन्हें **'भाव'** कहना अधिक उचित है। किन्तु यहां सामान्य बात यह कही जारही है कि **काल** और **भाव** आपस में इसतरह काटते हैं कि उनमें से कोई भी एक नाम समुचित रह सकता है। यही सत्य **ब्लूमफील्ड** द्वारा वर्णित अमरीकी आदिवासी भाषा **'मेनोमिनी'** के सम्बन्ध में हॉकेट के कथन से भी सिद्ध होता है : "इस भाषा में **पाँच** प्रकार का **वैषम्य** है, जिसे **'भावात्मक'** कहा जासकता है; यद्यपि अर्थात्मना उनमें **'कालात्मक'** (लकारात्मक) अर्थ भी उपलब्ध होते हैं : /पि:व्/ **'वह आता है, आरहा है, आया'**, : /पि: वेन्/='**कहते हैं कि वह आरहा है/आया**', : /पि:/='**क्या वह आरहा है/आया ?**', : /पियास:/='**आखिर वह आ ही रहा है** (यद्यपि हमें आशा नहीं थी), : /पियाप:/='**लेकिन उसने तो आना था**' (**पर अब नहीं आ आरहा**)'। प्रसंगवश कोई भी पहचानसकता है कि यहां **'/पि/'** को **'प्रश्नात्मक भावदशा'** का रूप कहा जासकता है (तु०-७. ५. २.)।

एक और उपाय भी हमारी दृष्टि में आता है, जिसमें भाव और काल एक दूसरे को काटते हैं : अंग्रेजी में अनेक प्रयोग ऐसे हैं जहां **'वुड, शुड, कुड और माइट्'** को सही रूप में **विल्, शैल्, कैन्,** और **मे** के **'अ-भूत'** रूपों का **'भूतकालिक'** रूपान्तरण कहा जासकता है : तु०-**आई ऐम गोइङ्, आई विल् गो : ही सैंड दैट् ही वाज़ गोइङ्, ही सेंड दैट् ही वुड गो,** आदि। इसप्रकार के प्रयोगों में **भूत** और **अभूत** के बीच का लकार-विभेद विचाराधीन 'भावात्मक' को इसतरह कोटिबद्ध करता है कि **'भूत'** उसके साथ मिलकर 'अस्थायी', 'सुदूर' या 'विनम्र' भावना को व्यक्त करनेलगता है। दूसरे शब्दों में, 'लकार' यहां **द्वितीयक या गौण भावा-**

त्मकता में परिवर्त्तित होजाता है ।

७. ५. ४ अवघटित वाक्यान्तरों (आश्रित उपवाक्यों) की भाववाचकता

'भावदशा' का अबतक का हमारा सम्पूर्ण विमर्श सामान्य वाक्यों पर आश्रित हमारी मान्यताओं पर आधारित रहा है। अब जटिल वाक्यों में आए अवघटित या आश्रित वाक्यान्तरों (क्लॉज़ेज़) की 'भावात्मकता' के विषय में भी कुछ कहना चाहिए। परम्परागत संज्ञा **'सब्जंक्टिव'** (भावार्थक = लेट्) इस सम्बन्ध में उद्घाटक होसकती है: इसका उद्भव 'अवघटक' के समानार्थक ग्रीक शब्द के लैटिन अनुवाद-शब्द से हुआ है, जिसका अर्थ है कि परम्परागत वैयाकरणों केलिए **'सब्जंक्टिव' अवघटन** की एक सर्वोत्कृष्ट **'भावदशा'** रही। इस बात को फ्रेंच के निदर्शन से पुष्ट किया जासकता है, जिसमें ग्रीक और लैटिन की भांति तथाकथित 'सब्जक्टिव मूड' अनेक रचनाओं में 'अनिवार्य' बनकर प्रयुक्त होती है, जबकि अन्यत्र इसका प्रयोग **'निर्देशिका'** के रूप में भी होता है: उदा०-**'ज़श क्वा किल् वियाँ'** और 'ज़श नें क्वा पा किल् वियेन्' ('मैं सोचता हूँ, वह आरहा है' और 'मैं नहीं सोचता कि वह आरहा है')। यहां **वियाँ** (Vient) का प्रयोग 'निर्देशिका' में और **वियेन्** (Vienne) का **लेट्** में हुआ है। वास्तव में फ्रेंच में ऐसे सन्दर्भ बहुत ही कम हैं, जहां 'निर्देशिका' और 'सब्जंक्टिव' (लेट्मूलक) का प्रयोग अन्त:परिवर्त्तनीय होता है। लेट्मूलक प्रयोग प्राय: वाक्यान्तरों तक ही सीमित होता है, जहां इसकी उपस्थिति का निर्धारण या तो इसके आश्रित वाक्यान्तर से घटित वाक्य के प्रकार के द्वारा, विशिष्ट मुख्य क्रिया के द्वारा, निषेध के द्वारा, अथवा अन्य किन्हीं कारणों से होता है! दूसरे शब्दों में, क्रिया के **निर्देशक** और **लेट्मूलक** प्रयोग एक-दूसरे के पूरक वितरण में स्थित होते हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फ्रेंच 'लेट्' को 'मूड' या 'भावदशा' कहा भी जासकता है या नहीं? क्योंकि यह बात अन्य भाषाओं पर भी लागू होती है, अत: सामान्यतर रूप में प्रश्न इसतरह से कहा जासकता है: भावदशा और अवघटन के बीच क्या सम्बन्ध है? **सर्वप्रथम** यह ध्यान देनाचाहिए कि जिन सन्दर्भों में एक की जगह दूसरे क्रियारूप के प्रयोग का चुनाव वाक्य के अन्य विन्यासात्मक अभिलक्षणों पर आधारित होता है, वहां केवल रूपविशेष के प्रयोगमात्र से ही 'भावात्मकता' का विभेद स्पष्ट नहीं होजाता। निदर्शनार्थ, **'ज़श नें क्वा पा किल् वियेन्'** में **'वियां'** के स्थान पर **'वियेन्'** के प्रयोगमात्र से ही किसी अर्थविशेष को 'निर्देशक' प्रयोग की तुलना में 'लेट्मूलक' प्रयोग के चुनाव से सम्बद्ध नहीं माना जासकता: क्योंकि इस सन्दर्भ में वक्ता के पास यही एक राह बची थी। तब हम 'वियेन्' को 'लेट्मूलक **भावदशा**' ही क्यों कहते हैं? इसे 'लेट्मूलक **रूपमात्र**' क्यों नहीं कहते?

जिन भाषाओं में वाक्यान्तरों में मुख्यतः एक निश्चित प्रकार के ही क्रिया-रूप प्रयुक्त होते हैं, वहाँ तीन सम्बद्ध सम्भावनाएं विविक्त की जासकती हैं। (१) 'क' और 'ख' के रूप में दो प्रकार के रूपविन्यासों का वितरण **अंशतः पूरक** और **अंशतः अतिक्रामी** होसकता है; और उनमें वैषम्यगत सन्दर्भों के बीच पायाजाने वाला विभेद 'भावात्मक' होसकता है। यह स्थिति फ्रेंच में उपलभ्य है; भले ही न्यूनतम रूप में। उदाहरणार्थ, इन प्रयोगों में वैषम्य दिखाया जासकता है : 'दियू वू बेनी' (निर्देशिका—'भगवान् तुम्हें आशी: देता है') और 'दियू वू बेनिस्' (लेट्-मूलक—'भगवान् तुम्हें आशी: दे')। ग्रीक और लैटिन में इन दोनों भावदशाओं के बीच वैषम्य अधिक स्पष्ट था, किन्तु वहाँ भी फ्रेंच की भांति अधिकांश वाक्यान्तरों में किसी विशिष्ट रूप का चुनाव किन्हीं अन्य घटकों के द्वारा निर्धारित होता था। (२) वाक्यान्तरों में 'क' या 'ख' की उपस्थिति वाक्य में अन्यत्र प्रतिफलित 'भावात्मकता' के साथ सम्बद्ध होसकती है। निदर्शनार्थ, 'ज़श न क्वा पा किल् वियें'न्' इस निषेधात्मक वाक्य के द्वारा स्वीकृतिपरक 'ज़श क्वा किल् वियाँ' 'इस वाक्य की तुलना में वक्ता के संशय को अभिव्यक्ति मिली है। (वास्तव में दोनों वाक्यों की 'भावात्मकता' के इस अन्तर को **'सब्जंक्टिव'** या लेट् की जगह **'निर्देशिका'** (लट्) के प्रयोग द्वारा, कुछ सन्दर्भों में, स्पष्ट किया जासकता है। किन्तु निदर्शन की दृष्टि से यहाँ इस तथ्य को ओझल किया जासकता है।) अतः हम कहसकते हैं कि 'ज़श न क्वा पा किल् वियें'न्' और 'ज़श क्वा किल् वियाँ' इन दोनों वाक्यों में क्रिया का रूप उस भावात्मक सन्दर्भ से सात्मीकृत होता है, जिसमें उसका प्रयोग होता है। इसी तरह **'वह कल आया'** में **'आया'** को भी **'कल'** के कालात्मक सन्दर्भ पर आधारित कहा जासकता है। (३) निर्धारक सन्दर्भ और विशिष्ट क्रियारूप के चुनाव केबीच कोई 'सहसम्बन्ध' विद्यमान न होना भी सम्भव है। ऐसी स्थिति में **'क'** या **'ख'** में विभेद को 'भावात्मक' नहीं कहा जासकेगा; यद्यपि उन क्रियारूपों को तबभी 'सब्जंक्टिव' या 'लेट्मूलक' कहना उचित हीहोगा, जो सामान्यतः आश्रित वाक्यान्तरों में ही प्रयुक्त होते हैं। फ्रेंच की भांति ग्रीक और लैटिन में भी **'सब्जंक्टिव'** को **'भावदशा'** में इस कारण अन्तर्गृहीत कियागया, कि यह उक्त प्रथम दो शर्तें पूरी करता है। किन्तु, इस संज्ञा से स्वतः किसी 'भावात्मकता' का संकेत नहीं मिलता।

७. ५. ५ पक्ष

रूसी संज्ञा **'विद्'** के अनुवाद रूप में **'पक्ष'** (आस्पे'क्ट) का प्रयोग आरम्भ में रूसी और अन्य स्लैवोनी भाषाओं में **पूर्णतावाची** और **अपूर्णतावाची** क्रियारूपों के विभेद को संकेतित करने केलिए कियागया था। **'पूर्णतावाची'** (**पर्फ़क्टिव**) को उसी अर्थ में लिया जासकता है, जिसमें श्रेण्य वैयाकरणों ने ग्रीक में व्यक्त 'पूर्ति' की भावना को पहचाना था। हम देखचुके हैं कि ग्रीक के उन श्रेण्य वैयाकरणों ने यह अनुभव कर लिया था कि ग्रीक के क्रियारूपों के विश्लेषण में 'लकार' द्वारा सूचित 'कालसंकेत'

के अतिरिक्त कुछ और भी वर्णन के योग्य शेष था (१. २. ५)। किन्तु, इस **पक्ष** की तथाकथित धारणा पर सिकन्दरियावासी वैयाकरणों और उनके अनुयायियों ने अधिक ध्यान न दिया।

७. ५. ६ पूर्णतावाची और अपूर्णतावाची (पूर्ण और अपूर्ण)

रूसी में 'पूर्णतावाची' और 'अपूर्णतावाची' के बीच यह विभेद उसके दो वाक्यों के द्वारा दिखाया जासकता है (१) '**या प्रोछिताल् रोमान्**', और (२) '**या छिताल् रोमान्**'। यद्यपि इन दोनों का ही अनुवाद '**मैंने उपन्यास पढ़ा**' ('**कल रात तुमने क्या किया ?**' जैसे किसी प्रश्न का उत्तर) के रूप में किया जासकता है; किन्तु रूसी में ये दोनों समतुल्य नहीं हैं। प्रथम में 'पूर्णतावाची' '**प्रोछिताल्**,' और द्वितीय में 'अपूर्णतावाची' '**छिताल्**' का प्रयोग कियागया है। यह जानलेना महत्त्वपूर्ण है कि एक के स्थान पर दूसरे 'पक्ष' के चुनाव का निर्धारण केवल वर्ण्य स्थिति के तथ्यों से नहीं होता। रूसी भाषा की पक्ष प्रणाली में 'पूर्णतावाची' एक 'अंकित' संज्ञा है, जबकि 'अपूर्णतावाची' इसके मुकाबिले में 'अनंकित' है। (इन दोनों केबीच यह सम्बन्ध रूपों की आकृतिमूलक व्युत्पत्ति से स्वतन्त्र रूप में भी रहता है : अनेक 'पूर्णतात्मक' प्रयोग उन उपसर्गों केद्वारा व्युत्पन्न होते हैं, जो अन्यत्र 'अपूर्णतात्मकता' की सूचना केलिए प्रयुक्त होते हैं : उदा०—**प्रोछिताल् : छिताल्**। अन्य उदाहरणों में, 'अपूर्णतावाची' को 'पूर्णतावाची' प्रत्ययों के योग से बनता देखा जासकता है : उदा०—**त्सापिसाल्** (त्सा-पिस्-आल् = पूर्ण०) : **त्सापिस्युवाल्** (त्सा-पिस्-युव्-आल = अपूर्ण०) : स्मृत्यर्थ लिखागया। प्रथम वाक्य में 'पूर्णतावाची' का प्रयोग इस बात की सूचना केलिए हुआ है कि '**पढ़ने की क्रिया पूरी हो चुकी थी** (अर्थात्, पुस्तक समाप्त होगई थी)'। किन्तु, द्वितीय में यह बात निहित नहीं है कि क्रिया पूर्ण हुई थी या नहीं। इससे केवल इतनी ही सूचना मिलती है कि अध्येता ने उपन्यास कुछ समयतक अवश्य पढ़ा।

रूसी के समान ही ग्रीक में भी '**अपूर्ण**' (सं०-लङ्) की तुलना में '**पूर्ण**' (सं०-लिट्) अंकित होता है। परन्तु इन दोनों के अतिरिक्त ग्रीक में एक **तीसरा** 'पक्ष' है '**एओरिस्ट** (लुङ्)' का जो कुछ विन्यासात्मक स्थितियों में इन दोनों के विरोध में होता है। लगता है कि यह तीन-पक्ष-वाली प्रणाली भारोपीय 'मूलभाषा' का ही लक्षण रही होगी। इन तीनों मेंसे ही ग्रीक का 'पूर्ण (लिट्)' सर्वाधिक 'अंकित' है; अपूर्ण उसकी अपेक्षा कुछ '**अनंकित**' है; जबकि '**एओरिस्ट**' (लुङ्) को तुलना **में नितान्त अनंकित** कहा जासकता है। हम देखही चुके हैं कि ग्रीक 'पूर्ण' और '**अपूर्ण**' में भी विभेद 'पूर्णता' या 'समाप्ति' का है। इसे इस वाक्य से प्रदर्शित किया जासकता है : 'अब समय हमारे निर्णय करते रहने का नहीं है (बाउल्हेउएस्थाई = अपूर्ण), बल्कि पहले से ही निर्णय किये होने का है (**बेबाउल्हेउस्थाई = पूर्ण**)'। ग्रीक का '**पूर्ण**' उस **स्थिति** का सूचक है, जो क्रिया की 'पूर्ति' से उत्पन्नहोती

है। अतः उक्त वाक्य में प्रयुक्त **'बेबाउल्हेउस्थाइ'** का अनुवाद, कुछ अप्राकृतिक होतेहुए भी वर्त्तमान उद्देश्य के उद्घाटक रूप में, इसप्रकार किया जासकता है: **निर्णय की स्थिति में होना।** उधर, 'अपूर्ण' (लङ्) और 'एओरिस्ट' (लुङ्) के बीच भेद वर्णित क्रिया की 'कालमात्रा' पर आश्रित है। 'लुङ्मूलक' प्रयोग 'बाउ-ल्हेउसेआस्थाइ' (**निर्णय करना**—बिना इस संकेत के कि वह स्थायी है या क्षणिक) की तुलना में 'अपूर्ण' (लङ्) का प्रयोग **'बाउल्हेउएस्थाइ'** का अर्थ है: 'निश्चय करने की प्रक्रिया में होना'। इस प्रकार ग्रीक में इन तीनों के बीच विभेद दो द्विपक्षीय विभेदों पर आश्रित है: **'पूर्ण-अपूर्ण'** एवं **'कालात्ययात्मक-अकालात्य-यात्मक'**। 'पूर्त्ति (पूर्णता)' और 'कालात्यय' के पक्षों से सम्बद्ध ये धारणाएं कई भाषाओं में साथ-साथ या अकेले ही व्यक्त कीजाती हैं।

हम उन अन्य बहुत सी धारणाओं की चर्चा नहीं करेंगे, जिन्हें प्रायः ही 'पक्ष' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित कियाजाता है: यथा, **आवर्त्ती** (इटरेटिव), **सक्षण** (**पंक्च्वल या मूमेंण्टरी**), **स्वभावात्मक**, **असिद्धात्मक** (आरम्भात्मक), आदि। इन कुछ उदाहरणों को गिनादेना ही इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि इस कोटि में अनेक सम्भाव्य विभेदों का अन्तर्ग्रहण होसकता है। 'लकार' की भांति इन सबका भी 'काल' से ही सम्बन्ध है। किन्तु हॉकेट के शब्दों में कहा जासकता है कि यह अन्तर, 'काल में स्थिति' का न होकर, किसी क्रिया, घटना, या क्रिया-दशा के 'कालात्मक वितरण' से सम्बद्ध होता है। 'लकार' की भाँति 'पक्ष' कोई **'निर्देशक'** कोटि नहीं है; और न ही इससे 'उक्ति के काल' का कोई सम्बन्ध है।

७. ५. ७ अंग्रेज़ी में 'पक्ष'

अंग्रेज़ी में दो ही 'पक्ष' हैं। 'लकार' और 'भावदशा' के साथ इनका व्या मिश्रण उन्मुक्तता के साथ होता है: **'पूर्ण** (पर्फ़ेक्ट)'—यथा, **'आई हैव/हैड् रें ड् द बुक'**, **'आई विल्/वुड हैव रें ड् द बुक'**, और **'प्रगतिशील (प्रोग्रेसिव)'**—यथा, **'आई ऐम्/वाज़ रीडिङ् द बुक'**, **'आई विल्/वुड बी रीडिङ् द बुक'**। ये ग्रीक के पूर्वोक्त **'पूर्ण'** और **'अपूर्ण'** पक्षों से इस बात में भिन्न हैं कि इनमें आपस में भी बहुधा संघात हो जाता है: **'आई हैव/हैड बीन रीडिङ् द बुक'**। अंग्रेज़ी में अन्य भी कुछ पक्षात्मक विभेद हैं, जिनका वितरण सीमित है। इनमें से एक है **'स्वभावात्मक'**, जिसका प्रयोग केवल भूतकाल में ही होता है: **'आई यूज़्ड टु रीड'**; और दूसरा है **'परिवर्त्ती'** (म्यूटेटिव), जिसका प्रयोग केवल कर्मवाच्य या भाववाच्य में ही होता है: **'आई गौट् किल्ड'**। अंग्रेज़ी में पक्ष, 'भावदशा' और 'लकार' की कोटि के अधिक विस्तृत विवेचन केलिए अनेक आधुनिक ग्रन्थों का अवलोकन करनाचाहिए। इस सम्बन्ध में एक या दो सैद्धान्तिक बातें यहाँ भी कही जासकती हैं।

अंग्रेज़ी में कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनका प्रयोग उन सन्दर्भों में भी प्रायः 'प्रगतिशील (सत्) पक्ष' में नहीं होता, जिनमें अधिकांश क्रियाएँ अनिवार्यतः वैसा

रूप ग्रहण करती हैं। इस प्रकार की 'अप्रगतिशील (असत्)'-रूपोंवाली क्रियाएँ हैं : **थिंक, नो, अण्डरस्टैंड, हेट, लव, सी, टेस्ट, फ़ील, पर्ज़ेस्, ओन्**, इत्यादि। उनकी सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है कि वे 'दशा-कथन' करती हैं; **क्रिया, घटना** या **प्रक्रिया** का निर्देश नहीं। क्योंकि 'प्रगतिशील' का मुख्य कार्य 'कालात्यय' को बताना है, अतः यह कहा जासकता है कि 'दशावाचक' क्रियाओं द्वारा इस 'रूप' को ग्रहण न करना 'स्वाभाविक' ही है। इन क्रियाओं के सामान्य अर्थ में 'कालात्यय' या 'कालान्तर' की भावना स्वतः विद्यमान रहती है। अंग्रेज़ी के अधिकांश विधेयात्मक विशेषणों के विषय में भी यह सत्य है : '**दि बुक इज़ बीइंग वेरी हैवी**' जैसा प्रयोग असम्भव न होने पर भी असामान्य अवश्य है। किन्तु कुछ ऐसे भी विशेषण हैं, जिनका प्रयोग '**टु बी**' क्रिया के '**सत्**' या '**प्रगतिशील**' रूप '**बीइङ्**' के साथ होता है; यदि वे किसी 'दशा' की अपेक्षा किसी 'क्रियाशीलता' को निर्दिष्ट कररहे हों : '**जोन इज़ बीइङ् वैरी गुड् नाऊ**'। हम ७. ६. ४ में 'क्रिया और विशेषण' के भेद के सामान्य विचार के प्रसंग में '**दशा**' और 'सक्रियता' के विभेद पर फिर से विमर्श करेंगे। यहां इतना कहदेना ही पर्याप्त है कि सभी 'अ-सत्' या 'अप्रगतिक' धातुएँ 'प्रगति-पक्ष' को किसी-न-किसी विशिष्ट परिस्थिति में अपनालेती हैं। इसप्रकार के प्रयोग का एक अवसर तब आता है, जब इन 'दशात्मक' क्रियाओं को 'सक्रियता' की सूचिका क्रियाओं के रूप में '**अस्थायी**' तौर पर प्रयोग कियाजाता है। '**आई ऐम् हैविङ् ए हैडेक**' जैसा वाक्य असामान्य होते हुए भी उचित परिस्थितियों में 'सक्रियता' के रूप में व्याख्यात किया जासकता है। यह अवधेय है कि अंग्रेज़ी में 'अ-सत्' क्रियाएं तब अनिवार्यतः वैसी नहीं रहतीं, जब उनका प्रयोग या तो 'भूतकाल' के या 'संशोधकों' के साथ मिलकर होता है : उदा०—'**ऐज़् सून ऐज् आई सॉ हिम्, आई न्यू दैट् देयर वाज़् सम्थिङ् रौङ्**'; '**यू विल् फ़ील् ए स्लाइट् पेन्, व्हैन् आई इन्सर्ट ए नीडल्**'। इन दोनों में **न्यू** और **फ़ील्** किसी **क्रियारम्भ** या '**घटना**' का निर्देश करते हैं, किसी **स्थिति** या **दशा** का नहीं।

७. ५. ८ लकार और पक्ष द्वारा परस्पर काट

हम देखही चुके हैं कि अंग्रेज़ी के 'भविष्यत् काल' के सम्बन्ध में 'लकार' और 'भावदशा' केबीच तीक्ष्ण विभेद कियाजाना सम्भव नहीं है (न ही अन्य भाषाओं में यह सम्भव है)। 'पक्ष' भी 'लकार' और 'भाव' दोनों के साथ 'लीन' होजाता है। उदाहरणार्थ, '**जस्ट**' का प्रयोग 'पूर्णभूत' के साथ करके '**निकट अतीत**' की सूचना दीजाती है : '**आई हैव जस्ट सीन् हिम्**'। किसी उद्धृत वक्तव्य में यह 'भूताधिभूत' (भूत में भूत) के रूप में प्रयुक्त होता है : '**ही सैड ही हैड सीन हिम् द डे बिफ़ोर**' और '**आई सॉ हिम् येस्टरडे**' का वही अन्योन्यसम्बन्ध है, जो '**ही सैड ही वाज़ रीडिङ्**' का '**आई एम् रीडिङ्**' से है। **पामर** के अनुसार 'भूत' और '**अ-भूत**' पूर्णतावाची **रूप** काल के उन अन्तरों को सूचित करते हैं, जो पहले से

आरम्भ होकर उस क्षणतक चालू रहते हैं : 'वर्तमान' के सम्बन्ध में यह 'क्षण' 'वर्त्तमान क्षण' कहा जासकता है, जबकि 'भूतकाल' के सम्बन्ध में यह क्षण 'भूत' में स्थित कोई भी 'क्षण' होसकता है। अंग्रेज़ी 'पूर्ण' के ये सभी लक्षण इस परम्परागत दृष्टि का समर्थन करते हैं कि किन्हीं निश्चित स्थितियों में यह 'पक्षमात्र' न रहकर 'लकार' ही बनजाता है। 'सत्' या 'प्रगतिशील' भी केवल 'पक्षमात्र' नहीं है; उस में भी प्रकारात्मक या 'शोधक' निहितार्थ रहसकते हैं : विशेषकर यह 'वृत्ति' (इण्टेंशन) की सूचना देसकता है : यथा—'आई ऐम् गोइङ् टु लन्दन टुमॉरो'।

अंग्रेज़ी के अतिरिक्त अन्य कई भाषाओं में भी लकार, भावदशा, और पक्ष का परस्पर 'लय' होजाता है। अंशतः यह इस कारण कि जैसा हमने देखा है, कुछ धारणाएं युगपत् ही **भावात्मक, पक्षात्मक** और **कालात्मक** दृष्टि से श्रेणीबद्ध की जासकती हैं; तथा अंशतः इस कारण कि इन भाषाओं के अर्थात्मक विश्लेषण में इन पूर्वोक्त तीनों 'कोटियों' के रूप में प्रणालीबद्ध और विस्पष्ट आकृतिमूलक और विन्यासात्मक वैषम्यों के अतिरिक्त कुछ अधिक विभेद भी उपलभ्य हैं। इन तीनों कोटियों में एक भी मानवीय भाषा केलिए अनिवार्य नहीं है। भिन्न-भिन्न भाषाओं में इनका आपसी बन्धन या विभेद भी भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। किन्तु विभक्ति-रूप आदि के रूप में इनकी अभिव्यक्ति होने पर ही इन्हें भाषाविद् 'व्याकरणात्मक धारणाओं' के रूप में स्वीकारकरते हैं। उदाहरणार्थ, ऐसी अनेक भाषाएं हैं, जिनमें कालात्मक सूचना यदि अनिवार्य ही हो तो '(अतीत) कल', '(आनेवाला) **कल**', '**अब**', '**तब**', आदि स्वतन्त्र कोषशब्दों के द्वारा दीजाती है। किन्तु, सामान्यतः इसे 'काल' या 'लकार' नहीं कहाजाता। इसी प्रकार अनेक प्रकार की भावदशाओं को '**निश्चय से**', '**सम्भवतः**', '**कदाचित्**', आदि क्रियाविशेषकों के प्रयोग द्वारा, अथवा 'भावात्मक सहायिका क्रियाओं' के प्रयोग द्वारा, अभिव्यक्त किया जासकता है।

इस खण्ड के उपसंहार पर यह कहदेना उचित ही है कि लकार, भावदशा और पक्ष का जो विवरण ऊपर दियागया है, वह केवल रेखामात्र और अतिसरल रूप में ही है। विशेषकर हमने इस प्रमुख तथ्य के विषय में कुछ नहीं कहा कि किसी विशिष्ट सन्दर्भ में इन तीनों व्याकरणात्मक कोटियों मेंसे किसी का भी अर्थ वाक्य में विन्यासात्मक रूप में सम्बद्ध 'क्रियाविशेषण' या 'क्रियाविशेषक-संघ' के द्वारा विशिष्ट या निर्दिष्ट होसकता है।

७. ६ पद-भेद

७. ६. १ परम्परागत परिभाषाओं की तथाकथित 'वर्त्तुलता'

पदभेद की परम्परागत परिभाषाओं के सम्बन्ध में सामान्य रूप में एक

आलोचना यह कीजाती है कि वे 'गोलमाल' (वर्त्तुल) हैं। उदाहरणार्थ, यह कहा जाता है कि यदि धारणात्मक आधार पर 'नाम'-श्रेणी की परिभाषा इसरूप में की जाए, कि 'कोषीय घटकों' की वह श्रेणी, जिसके सदस्य पुरुष, स्थान, या वस्तु की सूचना देते हैं (और यह परम्परागत परिभाषाओं में से एक है) तब इस परिभाषा को सत्य, सुन्दरता, विद्युत्, जैसे शब्दों पर तबतक लागू नहीं किया जासकेगा, जब तक कि इसका अर्थ कुछ लचकीले ढंग से न कियाजाए। यह लचकीलापन या वर्त्तुलता इस रूप में कही जासकती है कि इन शब्दों केद्वारा सूचित पदार्थों को हम 'वस्तु' केवल इसी आधार पर कहसकते हैं कि उन्हें कहनेवाले 'शब्दों' को अंग्रेज़ी, हिन्दी, आदि में 'नाम' या 'संज्ञा' के रूप में कहाजाता है।

किन्तु ज्योंही हम 'रूपात्मक' और 'धारणात्मक' परिभाषाओं केबीच विभेद एवं पदभेदों की धारणात्मक परिभाषाओं के आधार पर अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं की प्रमुख विन्यासात्मक श्रेणियों के नामकरण की सम्भावना (उनके वर्गीकरण की नहीं) पर विचार करने लगते हैं, 'वर्त्तुलता' की आलोचना का महत्त्व जातारहता है। हम मानलेते हैं कि हमने अंग्रेज़ी केलिए विन्यासात्मक आधार पर तीन श्रेणियों को उनके 'रूपात्मक' वितरण के आधार पर, अन्य कई श्रेणियों के साथ, क्रमशः क्ष, त्र, ज्ञ, के रूप में पहचाना है (तु०-४. २. ९); और यह कि व्याकरण-संबद्ध कोष में इनके सदस्यों या अवयवों की सूची भी इसप्रकार दीहुई है :

क्ष = {बॉय, वूमैन्, ग्रास, ऐटम, ट्री, काऊ, ट्रुथ, ब्यूटी, इलेक्ट्रिसिटी,...}

त्र = {कम्, गो, डाइ, ईट्, लव्, ऐग्ज़िस्ट,...}

ज्ञ = {गुड, ब्युटीफुल, रेड, हार्ड, टॉल्,...}

'कोष' का हवाला लेकर हम हर शब्द के बारे में यह निश्चय करसकते हैं कि वह किस विन्यासात्मक या रचनात्मक श्रेणी, या श्रेणियों, से सम्बद्ध है। यह सत्य है कि 'क्ष' श्रेणी के सभी सदस्य व्यक्ति, स्थान या वस्तु की ही सूचना नहीं देते (यदि 'वस्तु' का अर्थ 'ठोस (मूर्त्त) भौतिक वस्तु' से ही लियाजाए)। फिर भी, यह सत्य हो सकता है कि इन तीनों वस्तुओं की ओर संकेतकरनेवाले शब्द इसी वर्ग में गृहीत हुए हों। यदि यह सत्य है, तब हम इस 'क्ष' श्रेणी को 'नाम' कहसकते हैं। इस प्रकार अब हम 'धारणात्मक दृष्टि' से 'क्ष'-श्रेणी और 'रूपात्मक दृष्टि' से 'क'-श्रेणी को जानते हैं। दोनों का क्षेत्र समान व्याप्त नहीं है। किन्तु यदि 'क' का समावेश अधिकांशतः या पूर्णतः 'क्ष' में होजाता है, तब 'क' की धारणात्मक परिभाषा द्वारा सूचित नाम ही 'क्ष' की श्रेणी को भी दिया जासकता है। इसी कारण अंग्रेज़ी में वह कोषीय श्रेणी उचित रूप में ही 'नाम' कही जाती है, जिसके सदस्यों में केवल बॉय्, वूमैन्, आदि ही नहीं है, बल्कि ट्रुथ, ब्यूटी, आदि भी हैं। यह अनुभूति का प्रश्न है कि क्या कोई ऐसी भाषा भी होसकती है, जिसमें 'नाम' की परिभाषा इस रूप में न की जासकती हो? बहुधा भाषाविदों का यह कथन, कि 'नाम' जैसी कोई श्रेणी 'विश्वात्मक श्रेणी' नहीं कही जासकती, अधिकांशतः इस दोष से

उत्पन्नहोता है कि वे श्रेणियों के 'नामकरण' और 'सदस्यता' की कसौटियों में अन्तर को पहचानने में असमर्थ रहे हैं। व्यवहार में तो भाषाविद् भी इस विषय में कदाचित् ही कठिनाई अनुभव करते हैं कि किसी विशिष्ट भाषा में एक की अपेक्षा दूसरी श्रेणी को 'नाम' के रूप में अधिक ठीक पहचानागया है। हम देखेंगे कि परम्परागत रूप में जिन शब्दों को अन्य पदभेदों के रूप में पहचानागया है, उनके विषय में स्थिति कुछ भिन्न है। किन्तु 'रूपात्मक' और 'धारणात्मक' परिभाषाओं के विभेद की बात उन पर भी लागू होती है।

इस आलोचना को कुछ अधिक गम्भीर कहा जासकता है कि परिभाषाओं में बताईगई कसौटियाँ भाषाभेद से भिन्न होती हैं: अर्थात् उनका दायरा ग्रीक और लैटिन-समेत (जिनके विषय में उन्हें पहले-पहल स्थापित कियागया) केवल कुछ ही भाषाओं तक सीमित है। इस बात को डायोनिसियस थ्रैक्स द्वारा कीगई नाम, क्रिया और कर्मप्रवचनीय (प्रेपोज़िशन्स) की परिभाषा पर घटाकर देखा जा सकता है (जिसे पाश्चात्य के अधिकांश परम्परागत वैयाकरणों ने अपना भी लिया है; तु०—१. २. ५): अर्थात् ' 'नाम' वह पदभेद है, जिसमें 'विभक्ति-रूप' संयुक्त होते हैं, तथा जो किसी वस्तु या व्यक्ति का संकेत देता है; 'क्रिया' वह पदभेद है, जिसमें, विभक्ति-रूप न होकर, लकार के रूप संयुक्त होते हैं और जो किसी क्रिया या क्रियमाण सत्ता का संकेत करता है; एवं कर्मप्रवचनीय (प्रेपो०) शब्दरचना और वाक्यरचना में अन्य सभी पदभेदों के आदि में स्थित रहनेवाला पदभेद है"। इनमें 'नाम' और 'क्रिया' को उनसे संकेतित अर्थ की सूचना देकर केवल 'धारणात्मक' दृष्टि से ही परिभाषित नहीं कियागया, बल्कि उनके विभक्ति-रूपांतरण की बात भी कहीगई है; जबकि इनके विपरीत 'कर्मप्रवचनीय' की परिभाषा में सापेक्ष स्थिति की एक नितान्त ही भिन्न प्रवृत्ति को व्यक्त कियागया है (यह बात आकारात्मक और विन्यासात्मक दोनों ही दृष्टियों से कहीगई है)। सर्वप्रथम तो, 'रूपरचना' को ही सार्वभौम या विश्वात्मक भाषा-लक्षण नहीं कहा जासकता। दूसरी बात यह कि जिन भाषाओं में रूपविधान है भी, उनमें अनिवार्यतः वचन, विभक्ति और लकार की अभिव्यक्ति नहीं होती; और न ही कर्मप्रवचनीयों और विभक्तियों के बीच परम्परागत व्याकरण में जो सूक्ष्म विभेद-रेखा खींची गई है, उसे सामान्य वाक्यरचनासिद्धान्त में स्थिर रखा जासकता है (तु०—१. २. ५, ७. ४. १, ७. ४.७)। डायोनीसियस थ्रैक्स की परिभाषाएं जिन प्रश्नों का उत्तर देने केलिए रचीगई थीं, वे इसप्रकार कहे जासकते हैं: "यदि किसी भाषा के वाक्यों को शब्दों में विभाजित करना ही हो, तब प्रत्येक शब्द को किस श्रेणी में रखना होगा, और वर्गीकरण का व्याकरणात्मक आधार शब्दों की पृष्ठ-संरचना के किन गुणधर्मों पर मुख्यतः आधारित होता है?'

इस बात को स्वीकार करना ही होगा कि पद-भेद-सम्बन्धी किसी भी सामान्य सिद्धान्त को यदि भाषाओं के एक विस्तृत दायरे केलिए उचित बनाना

है, तब हमें बाह्य (पृष्ठ) और अन्त:संरचना के बीच विभेद को स्पष्ट पहचानना होगा और पदभेदों को, पृष्ठ-संरचना में पाए जानेवाले भेद के रूप में न पहचान कर, वाक्यों की अन्त:संरचना के घटक के रूप में मानना होगा (तु०—६. ६. १)। इस खण्ड के शेष भाग में हम इसी प्रश्न पर विचार करेंगे कि, 'क्या कुछ या सभी पदभेदों की परिभाषा इस रूप में कीजानी सम्भव है ?'

७. ६. २ मुख्य पदभेदों का वाक्यरचनागत प्रकार्य

परम्परागत व्याकरण में अन्त: और बाह्य-संरचना में विभेद इतना स्पष्ट नहीं कियागया था। किन्तु, चाहे अंशत: ही सही, इसे इस मान्यता के निहितार्थ के रूप में अवश्य स्वीकार कियागया था कि सभी जटिलवाक्य, एवं सभी प्रकार के अघोषणात्मक वाक्य, वाक्यान्तर और पदबन्धों की व्युत्पत्ति मूलत: भावात्मक दृष्टि से 'अनंकित' सरल वाक्यों से ही होती है। फिर प्रमुख पदभेदों को सरल वाक्यों में कुछ विशिष्ट रचनात्मक कार्यों से सम्बद्ध मानागया है। और, इस सम्बन्ध को, पदभेदों की रूप-सम्बन्धी अन्य विविध 'सांयोगिक' विशेषताओं या विभेदों की अपेक्षा भी, कुछ वैयाकरणों द्वारा अधिक प्रमुख मानागया था (तु०—७ १. २)। यह स्थापना भी कीगई कि सरल वाक्य की रचना 'कर्त्ता' और 'विधेय' के द्वारा होती है। इनमें से 'कर्त्ता' केवल 'नाम' या तत्स्थानीय 'सर्वनाम' ही होसकता है। किन्तु, 'विधेय' तीन मेंसे किसी एक प्रकार का होसकता है: (१) अकर्मक क्रिया, (२) सकर्मक क्रिया और कर्म, अथवा (३) 'टु बी' क्रिया या किसी अन्य 'संयोजी' के साथ अन्य पूरक शब्द। कर्त्ता की भाँति 'कर्म' भी 'नाम' ही होसकता है। 'पूरक' नाम या विशेषण होसकता है।

'कर्त्ता', 'विधेय', 'कर्म' और 'पूरक' के वाचक 'नामों' की चर्चा अगले अध्याय में होगी। यहाँ तो हम उन्हें सिद्ध मानकर ही चलेंगे। हम यह भी मान लेंगे कि ऊपर के अनुच्छेद में विविध पदभेदों के साथ उनके सम्बन्ध के विषय में जो वक्तव्य दिएगए हैं, वे कम-से-कम अंग्रेजी (और हिन्दी) केलिए ठीक ही हैं। इन्हें निम्न वाक्यों के रूप में दिखाया जासकता है:

(१) मेरी डान्सेज़;

(२) मेरी कुक्स फ़िश;

(३ क) मेरी इज़ ब्यूटीफुल्;

(३ ख) मेरी इज़ ए चाइल्ड;

लकार, भाव, पक्ष, संख्येयता, और निश्चितता के विभेदों को छोड़कर भी हम इन वाक्यों को निम्न व्याकरण-सूत्रों द्वारा दिये समुचित संरचनात्मक वर्णन और उनके सहचारी कोष के आधार पर व्युत्पन्न करसकते हैं:

व्याकरण	शब्दकोष
(१) वा → क + क्ष	क = {मेरी, फ़िश, चाइल्ड,...}

(२) क्ष → { ख ; ग + क ; घ + य } ख = {डान्स, ...} ग = {कुक, ...} घ = {बी}

(३) य → { च ; क } च = {ब्यूटीफुल, ...}

इन वाक्यों की अन्तर्हित घटक-संरचना का आरेखीय प्रतिनिधित्व आरेख १७ में दिया गया है। यह अवधेय है कि **क्ष** और **य** ऐसे सहायक प्रतीक हैं, जिनका कार्य केवल ग्रन्थियों को अंकित करना है (६. १. ३); तथा यह दिखाना भी कि यद्यपि उच्च स्तर पर चारों वाक्य रचनात्मक दृष्टि से समतुल्य हैं, घटक-संरचना के स्तर पर केवल (३ क) और (३ ख) ही समतुल्य बैठते हैं। केवल इस सत्य के अतिरिक्त कि हमने उक्त सूत्रों में **क, ख, ग, घ,** आदि यादृच्छिक प्रतीकों को परम्परागत पद-भेदों के स्थान पर प्रयुक्त किया है, उक्त नियम विविध प्रकार के सरल, घोषणात्मक वाक्यों के सम्बन्ध में परम्परागत वक्तव्यों को रूपायित करने में समर्थ हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या उक्त चारों प्रकार के वाक्यों को परस्पर आबद्ध करनेवाले घटक संरचना के सम्बन्धोंमात्र के आधार पर ही परम्परागत पदभेदों का या उनके कार्यों का निर्धारण कियाजाना सम्भव है ?

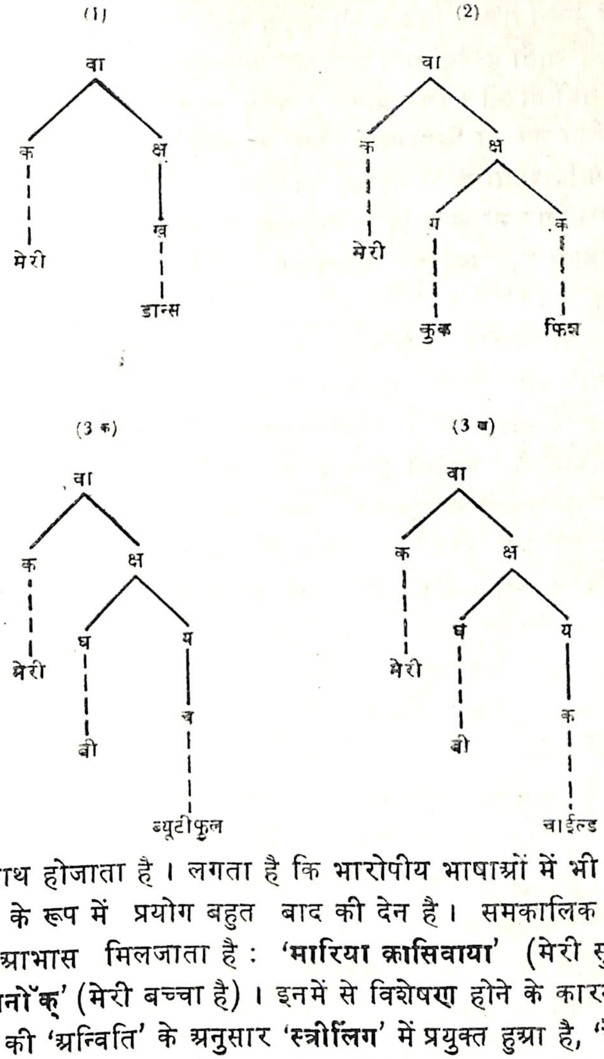
इस प्रश्न का उत्तर स्पष्टतः 'हाँ' में दिया जासकता है। **'क'** श्रेणी निश्चय ही **'नाम'** है, क्योंकि यही एकमात्र श्रेणी है, जो घटक-संरचना के उच्चतम स्तर पर भी हर वाक्य का अंग बनकर आई है; **'क्ष'** की ग्रन्थि के अधीन 'ख' ही एकमात्र ऐसी श्रेणी है, जो वाक्यरचना केलिए सीधे 'नाम' से संयुक्त होती है, और इसी-लिए यह **'अकर्मक क्रिया'** की श्रेणी कही जासकती है; क्योंकि **'ग'** श्रेणी विधेय (क्ष) की रचना केलिए केवल 'क' श्रेणी (**नाम**) से ही संयुक्त होती है, अतः इसे **'सकर्मक क्रिया'** कहसकते हैं; और **'घ'** को **'संयोजी'** इसलिए कहना चाहिए कि यह 'क' (**नाम**) और 'च' दोनों के साथ संयुक्त होता है; जबकि स्वभावतः **'च'** विशेषण श्रेणी का प्रतीक ठहरता है।

यह युक्ति परम्परागत दृष्टि में अन्तिहत पदभेदों के रचनागत कार्यों की विशिष्ट मान्यता पर आधारित है। पदभेदों के सम्बन्ध में सामान्यतर सिद्धान्त की स्थापना करते हुए कम-से-कम दो मान्यताओं का खण्डन आवश्यक होजाता है: पहली मान्यता का सम्बन्ध **'होना'** क्रिया-रूपी संयोजी के साथ है, और दूसरी का क्रियाओं और विशेषणों के बीच विभेद की सार्वभौमता से।

७. ४. ३ 'होना क्रिया' या 'टु-बी क्रिया'

यह एक सुविदित तथ्य है कि अनेक भाषाओं में उक्त (३ क) और (३ ख) वाक्यों की अभिव्यक्ति **'टु बी'** (होना) क्रिया के योग के बिना भी होजाती है: **'मेरी ब्युटीफुल'** (मेरी सुन्दर) और **'मेरी चाइल्ड'** (मेरी बालिका) के रूप में; अर्थात् विधेयगत नाम या विशेषण का संयोग किसी **'संयोजी'** की सहायता के बिना 'कर्त्ता'

आरेख-१७



के नाम के साथ होजाता है। लगता है कि भारोपीय भाषाओं में भी **'टु बी'** क्रिया का 'संयोजी' के रूप में प्रयोग बहुत बाद की देन है। समकालिक रूसी से मूल स्थिति का आभास मिलजाता है: **'मारिया क्रासिवाया'** (मेरी सुन्दर है) और **'मारिया रेब्येनोॅक्'** (मेरी बच्चा है)। इनमें से विशेषण होने के कारण **'क्रासिवाया'** विशेष्य नाम की 'अन्विति' के अनुसार **'स्त्रीलिंग'** में प्रयुक्त हुआ है, **'रेब्येनोॅक्'** नाम होने से अपने ही रूप में प्रयुक्त हुआ है। लैटिन और ग्रीक में (संस्कृत में भी) 'होना' क्रिया का प्रयोग ऐसे स्थानों पर ऐच्छिक रूप में ही विहित था। किन्तु यदि हम इन्हें 'भूत' या अन्य किसी लकार अथवा भाव में प्रयुक्त करें, तब रूसी में इसका प्रयोग अनिवार्यतः समुचित 'रूप' में होगा: **ब्यूला, बुदेत्,** आदि; एवं लैटिन (**एरात्,** आदि) तथा ग्रीक (**हेॅन्,** आदि) में भी यही स्थिति है।

इस तथ्य से पताचलता है कि **रूसी, लैटिन** और **ग्रीक** में संयोजी **'होना'** क्रिया का मुख्य कार्य लकार, भाव या पक्ष के अंकन केलिए बाह्य-संरचना में 'योग-वाह' का कामदेना है (अर्थात्, क्रिया के साथ संयुक्त होकर उसे कोई विन्यासात्मक

विभेद प्राप्त करने में सहायतादेना)। दूसरे शब्दों में, 'होना' क्रिया स्वतः अन्तः-संरचनी घटक नहीं है। बल्कि वह अर्थ-हीन '**क्रियाभासी क्रिया**' है, जो रूसी, लैटिन, ग्रीक, आदि में कुछ निश्चित विभेदों को स्पष्ट करने केलिए व्याकरणात्मक नियमों द्वारा प्रजनित कीजाती है; विशेषतः जहां कोई अन्य क्रिया उन विभेदों को स्पष्ट करने केलिए प्रयुक्त नहीं होरही। जिन वाक्यों में **काल**, **भाव** या **पक्ष** का 'अंकन' नहीं होता, उनमें '**होना**' जैसी मूक या **क्रियाभासी** क्रिया का कोई प्रयोजन नहीं रहता।

रूसी आदि भाषाओं से सम्बद्ध '**संयोजी**'-सम्बन्धी इस विवरण को अंग्रेज़ी आदि उन भाषाओं पर भी लागू किया जासकता है, जिनके अनंकित वाक्यों में '**होना**' क्रिया उपलब्ध होती है; तथा उन भाषाओं पर भी, जो लकार, भाव और पक्ष की दृष्टि से 'अंकित' हैं।

अंग्रेज़ी (या हिन्दी) जैसी भाषा में 'होना' जैसी क्रिया को व्याकरणात्मक दृष्टि से ('करना'=do आदि 'आभासी क्रियाओं' की भाँति) 'आभासी' समझलेने का अर्थ होगा कि '**द टॉल मैन**' या '**लम्बा आदमी**' जैसे नाम-संघों को, '**संयोजी**' को बिना बहिष्कृत किये ही, '**आदमी ऊँचा है**' या '**द मैन इज़ टॉल**' जैसे सरल वाक्यों में अन्तर्हित पदबन्ध-अंककों से व्युत्पन्न किया जासकेगा। अंग्रेज़ी-हिन्दी के जिन व्याकरणों में '**टु बी**' या '**होना**' को वाक्य की अन्तःसंरचना का अंग मानागया है (तु०-७. ६. २ में **क्ष→घ+य** नियम), उनमें बाह्य संरचना के विविध स्तरों से इस अवयव के बहिष्कार केलिए विविध रचनान्तरक नियमों का विधान करना पड़ेगा।

एक और मुख्य बात यह है कि '**श्यामा सुन्दर है**' जैसे वाक्यों में 'होना' क्रिया ('**श्यामा पकाती है**' में '**पकाना**' से भिन्न) केवल कुछ ही अन्य क्रियाओं के साथ ('होजाना' आदि के साथ) वैषम्य में स्थित रहती है (अंग्रेज़ी में '**बिकम**' के साथ)। '**होना**' के स्थान पर '**होजाना**' (या '**बी**' के स्थान पर '**बिकम**') का प्रयोग अन्य व्याकरणात्मक वैषम्य में '**अनंकित**' के स्थान पर किसी 'अंकित' पद के प्रयोग पर आश्रित रहता है (यथा, '**स्थितिक**' और '**अ-स्थितिक**' पक्षों में)। हम इस विषय पर ८. ४. ७ में विचारकरेंगे। यहाँ तो इतनी भूमिका बतादेना पर्याप्त है कि अंग्रेज़ी (या हिन्दी) की अन्तः-घटक-संरचना मेंसे 'टु बी' (या 'होना') क्रिया को बहिष्कृत कर दियाजाना चाहिए। निस्सन्देह अन्य भाषाओं में भी **संयोजी** '**होना**' केलिए ऐसी बात कही जासकती है। अब हम सामान्य रचना-सिद्धान्त में '**क्रिया**' और '**विशेषण**' के बीच अन्तर पर विचार करेंगे।

७. ६. ४ क्रिया और विशेषण

हम देख हीचुके हैं कि प्लेटो और अरस्तू ने '**विशेषणों**' को '**क्रिया**' का एक उपवर्ग मात्र माना था, जबकि सिकन्दरियाई और उनके अनुगामी विद्वानों ने इन्हें 'नाम' की उपश्रेणी माना था। किन्तु **नाम**, **विशेषण** और **क्रिया** के बीच त्रिकोणात्मक विभेद बाद में **मध्ययुग** में ही स्पष्ट होपाया (तु०-१. २. ५)। ग्रीक और लैटिन

में 'विशेषरण' के प्रति इस दृष्टिभेद की व्याख्या **अन्तः और बाह्य संरचना** में विभेद द्वारा समझाई जासकती है। इन दोनों भाषाओं में '**नाम**' और '**विशेषरण**' को एक ही 'वर्ग' में रखने का कारण यह है कि उन दोनों में ही **वचन** और **विभक्ति** का योग होता है। किन्तु 'विशेषरण' का रूप-विधान केवल 'पृष्ठ(बाह्य)संरचना' का ही विषय है : इसमें **लिंग, वचन** और **विभक्ति** का योग इसके द्वारा विशेषित 'नामों' से '**अन्विति**' बतानेवाले 'रचनान्तरक नियमों' से परिचालित होता है। अन्यथा, इन दोनों भाषाओं से भिन्न नहीं है, जिसके अनुसार '**नाम**' और '**विशेषरण**' के बीच कोई अन्विति नहीं होती। प्लेटो और अरस्तू का कथन था कि '**क्रिया**' और '**विशेषरण**' का सर्वाधिक सामान्य कार्य है '**विधेय-कथन**', जबकि '**नाम**' का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है 'विधेय' के '**कर्त्ता का नामोल्लेखन**'। इसी कारण उन्होंने विशेषरण को क्रिया के वर्ग में रखा। तर्कशास्त्रियों की भी यही दृष्टि है। किन्तु, मध्य-युग से ही वैयाकरणों की यह प्रवृत्ति रही है कि उन्होने **क्रिया और विशेषरण के बीच** उतना ही सुस्पष्ट विभेद किया है, जितना **क्रिया और नाम** के बीच। अतः प्रश्न उठता है कि सामान्य रचना-सिद्धान्त में क्रिया और विशेषरण के बीच भेद क्या अथवा किस रूप में स्वीकार कियाजाए? सरलता केलिए हम उदाहरण अंग्रेज़ी से लेंगे।

अंग्रेज़ी व्याकरण में परम्परागत रूप से क्रिया और विशेषरण के रूप में संकेतित दोनों कोषीय श्रेरिगयों के बीच दो विभेद अत्यधिक स्पष्ट हैं, और दोनों का ही सम्बन्ध रूपविधान की बाह्य घटना से है : (क) जब **विशेषरण** विधेय का अंग बनकर आता है, तब भी वह काल, भाव और पक्ष की सूचना देनेवाले क्रिया-प्रत्ययों को वहन नहीं करता; बलिक व्याकरण द्वारा इन विभक्त्यात्मक प्रत्ययों के कार्य-निर्वाह केलिए 'मूक' या 'सहायक क्रिया' (**टु बी, बिकम**, आदि) प्रजनित कीजाती हैं। इसप्रकार '**मेरी इज़ ब्यूटीफुल**', '**मेरी वुड हैव बीन ब्यूटीफुल्**' : '**मेरी डान्सेज़्**', '**मेरी वुड हैव डान्स्ड**', जैसे प्रयोग बनते हैं; किन्तु* '**मेरी ब्यूटीफुल्-स्**', *'**मेरी वुड हैव ब्यूटीफुल्ड**', * '**मेरी इज़ डान्स**', या * '**मेरी वुड हैव बीन डान्स**', जैसे वाक्य नहीं। नाम-संघ में क्रिया कम उन्मुक्तता के साथ 'विशेषक' या 'संशोधक' के रूप में रूपान्तरित होती है; किन्तु जब विन्यासात्मक दृष्टि से वह इसरूप में प्रयुक्त होती है, तब विशेषरण से भिन्न रूप में इसके साथ '**—इङ्**' प्रत्यय जुड़ता है। इसप्रकार '**दि ब्यूटीफुल गर्ल : दि सिंगिङ् गर्ल**' का प्रयोग तो विहित है, किन्तु * '**दि ब्यूटीफुलिङ् गर्ल**'; या * '**दि सिङ् गर्ल**' का प्रयोग विहित नहीं कहा जासकता।

पदभेदों पर धारणात्मक विचार के प्रसंग में **विशेषरण** को सामान्यतः 'गुरण-वचन' के रूप में कहाजाता है, जबकि **क्रिया** को '**एक्शन**' (कर्म) या '**स्थिति**' की वाचिका कहागया है। किन्तु 'गुरण' और 'स्थिति' के बीच विभेद, 'स्थिति' और कर्म (एक्शन) के बीच विभेद की अपेक्षा, कहीं कम तीव्र है। उदाहरणार्थ, किसी केलिए यह कहपाना कठिन ही होगा कि **नो** (know), **हैप्पी, एग्ज़िस्ट, यंग**, आदि शब्द '**स्थिति**' की सूचनादेते हैं या गुरण की। इसमें सन्देह नहीं कि व्याकरणात्मक दृष्टि

से **'नो'** और **'एग्ज़िस्ट'** एवं **'हैप्पी'** और **'यंग'** साथ-साथ रहकर भी पृथक् वर्गों से सम्बद्ध मानेजाते हैं। यह उलझन विगत अनुच्छेद में बताई हुई कसौटी के आधार पर सुलझाई जासकती है। किन्तु चीनी जैसी ऐसी भी अनेक भाषाएं है, जिनपर ये कसौटियां लागू ही नहीं होती; और भाषाविद् यह कहने लगते हैं कि इन भाषाओं में क्रिया और विशेषण के बीच कोई ऐसा विभेद विद्यमान ही नहीं है। बल्कि वहां **स्थितिक क्रिया और सक्रिय क्रिया** के बीच विभेद अवश्य विद्यमान है।

स्थितिक और सक्रिय क्रियाओं के बीच यह विभेद अंग्रेज़ी में भी विद्यमान है। हम देखही चुके हैं कि अंग्रेज़ी में कुछ ऐसी 'स्थितिक' क्रियाएं हैं, जो 'प्रगतिशील' (सत्) रूप को नहीं अपनातीं (तु०-७. ५. ७); इनके विरोध में 'सत्' रूप को अपनानेवाली अधिकांश अंग्रेज़ी क्रियाओं को **'सक्रिय'** या 'सकर्म' क्रियाएं कहा जा सकता है। इन दोनों क्रियाभेदों के बीचके अन्तर की तुलना अंग्रेज़ी विशेषणों के बीच उसी प्रकार के भेद से की जासकती है। अंग्रेज़ी के अधिकांश 'विशेषण' इस अर्थ में 'स्थितिक' हैं, कि विधेय-स्थिति में प्रयुक्त होने पर भी वे 'सत्' या 'प्रगति के पक्ष' को नहीं अपनाते (उदा०-**'मेरी इज़ ब्यूटीफुल'** तो ठीक है, किन्तु* **'मेरी इज़ बीइङ् ब्यूटीफुल्'** नहीं)। किन्तु ऐसे अनेकों विशेषण हैं, जिनका प्रयोग किसी **'सत्'** रूप के साथ रहकर विशिष्ट परिस्थितियों में अभीष्ट होता है : **'मेरी इज़ बीइङ् सिली नाऊ'**। दूसरे शब्दों में, 'स्थितिक' होना विशेषण केलिए सामान्य बात है, जबकि वैसा होना क्रिया केलिए 'असामान्य' बात है। इसके विपरीत, 'अ-स्थितिक' होना क्रिया केलिए सामान्य बात है, जबकि 'विशेषण' केलिए वह असामान्य है। 'सत्-पक्ष' के साथ उन्मुक्त संघात की सम्भावना अंग्रेज़ी वाक्य-रचना के अनेक अन्य प्रमुख अभिलक्षणों से सहसम्बद्ध है : विशेषकर इसप्रकार के प्रश्न के उत्तर में घटित होने की शक्यता के साथ—यथा, **'व्हट् डिड शी डू ?'**, **'व्हट् इज़ शी डूइङ् ?'** आदि। इन प्रश्नों के सम्भाव्य उत्तर ये दोनों ही होसकते हैं : **'मेरी डान्स्ड'** और **'मेरी इज़डान्सिङ्'**; किन्तु ये दोनों नहीं : * **'मेरी इज़ ब्यूटीफुल'**, या **'मेरी नोज़ ग्रीक'**।

हमने अंग्रेज़ी की **'स्थितिक क्रियाओं'** (विशेषण से भिन्न) और **'अ-स्थितिक विशेषणों'** (क्रियाओं से भिन्न) की चर्चा इसलिए की कि स्थितिक और अस्थितिक का 'पक्षात्मक' वैषम्य पदभेदो की परिभाषा में, अधिक महत्त्वपूर्ण माने जानेवाले रूपविधान-सम्बन्धी विभेदों केसाथ, सामान्यत: संगत बैठता है; जबकि कभी-कभी वह विशिष्ट स्थलों पर उसके साथ संघर्ष में भी रहता है। वास्तव में क्रमश: **'सक्रियता'** और **'गुण'** पर आश्रित **क्रिया** और **विशेषण** की परिभाषा केसाथ केवल 'पक्षात्मक वैषम्य' का ही कोई सहसम्बन्ध बैठसकता है।

७. ६. ५ क्रियाविशेषण

'क्रियाविशेषण' की सामान्यत: की जानेवाली परम्परागत परिभाषा कुछ इस प्रकार कही जासकती है : **क्रियाविशेषण**' ऐसा पदभेद है, जो क्रिया, विशेषण,

अन्य क्रियाविशेषण, या क्रियाविशेषण-संघ को विशेषित या संशोधित करता है।

इस परिभाषा के सम्बन्ध में प्रथम अवधेय बात परिभाषिक संज्ञाओं से सम्बद्ध है। लैटिन उपसर्ग 'अद्-' (ग्रीक 'एपि-', संस्कृत 'अधि') का अर्थ 'जुड़ा हुआ' या 'संशोधक' के रूप में किया जासकता है। यही भावना स्वयं **'एड्जैक्टिव'** और ग्रीक **'एपिथेटोस'** शब्दों की है। परम्परागत व्याकरण में 'विशेषण' को सर्वोत्तम 'संशोधक' मानाजाता है : यह मानाजाता है कि यह 'नाम' के साथ 'संयुक्त' होता है और उसको संशोधित या विशेषित भी करता है। (ऊपर वे कारण बताए ही जाचुके हैं, जिनके आधार पर अरस्तू से परवर्त्ती युग में इसे 'नाम' का ही एक 'प्रकार' माना जाता था)। इसप्रकार **'विशेषण'** को 'अधिनामिक' या **'नामविशेषक'** कहसकते हैं, जबकि 'क्रियाविशेषण' को 'क्रिया-विशेषक' या 'अधिक्रियिक' कहाजासकता है। किन्तु ऊपर दीगई परिभाषा में इसे क्रिया के साथ-साथ 'विशेषण' का भी 'विशेषक' या 'शोधक' मानागया है। वास्तविकता यह है कि 'क्रियाविशेषण' या 'एडवर्ब' जैसी संज्ञा का प्रयोग (डायोनीसियस थ्रैक्स और प्रिश्चियन की परिभाषाएँ भी) 'वर्ब' या 'क्रिया' की पूर्ववर्त्ती व्यापकतर परिभाषा पर आधारित होकर आरम्भ हुआ था। अर्थात्, यह मानकर प्रयुक्त होता था कि (परवर्त्ती संकुचित अर्थों में) 'विशेषण' और 'क्रिया' को एक ही बृहत्तर विन्यासात्मक श्रेणी का अंग कहा जा सकता है : अन्य विशेषक बृहत् श्रेणियों के साथ, उनके संघातात्मक गुणों की दृष्टि से। हम देख हीचुके हैं कि क्रिया और विशेषण में बहुत कुछ सामान्य है, और अंग्रेजी समेत कुछ भाषाओं में तो उन्हें एक ही श्रेणी के अन्दर लाना, अन्तःसंरचना की कोटि की दृष्टि से, समुचित भी कहा जासकता है।

ऊपर दीगई **'क्रियाविशेषण'** की परिभाषा के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि अन्य पदभेदों की अपेक्षा 'क्रियाविशेषण' अधिक 'पुनरावर्त्ती' कोटि का है; विशेषकर इसलिए कि एक क्रियाविशेषण दूसरे को भी विशेषित करसकता है। उदाहरणार्थ, **'एक्स्ट्रा-ऑर्डिनरिली'** और **'वैॅल्'** दोनों ही क्रियाविशेषण हैं (प्रथम 'मात्रा' और द्वितीय 'प्रकार' की दृष्टि से) : यथा—**'मेरी डान्सज़ एक्स्ट्राऑर्डिनरिली वैॅल्'**, या **'मेरी कुक्स फिश एक्स्ट्रा-ऑर्डिनरिली वैॅल्'**। यहाँ अन्तःकेन्द्रिक रचना **'एक्स्ट्राऑर्डिनरिली वैॅल्'** में 'एक्स्ट्राऑर्डिनरिली' शब्द 'वैॅल्' को विशेषित कररहा है। सरल वाक्यों में इन संघातात्मक सम्भावनाओं के आधार पर ही येस्पर्सन और ह्रेम्स्लेव ने करीब तीन दशक पहले 'पद-भेद' सम्बन्धी अपने सिद्धान्तों की स्वतन्त्र रूप में और कुछ भिन्नता के साथ स्थापना की थी। यहां हम उनके दृष्टिकोणों की रूपरेखा देंगे। किन्तु, इससे पूर्व क्रियाविशेषण के सम्बन्ध में कुछ और कहना अभी अभीष्ट है।

परम्परागत व्याकरण में 'क्रियाविशेषण' एक विषमजन्य श्रेणी मानीगई है। यह असम्भव ही दीखता है कि वाक्यरचना का कोई भी सिद्धान्त उस नाम से गृहीत सभी शब्दों को एक ही वर्ग में संगृहीत भी करसकेगा। यहाँ हम अपना ध्यान 'प्रकारवाचक' क्रियाविशेषणों तक ही सीमित रखेगे : यथा—**'मेरी कुक्स फ़िश वैॅल्'**

और **'मेरी डान्सेँज़् ब्यूटीफुली'** में **'वेल्'** और **'ब्यूटीफुली'** शब्द।

अंग्रेज़ी में 'प्रकारवाचक' (प्रकारवचन) अधिकांश क्रियाविशेषण स्वतः 'विशेषण' शब्दों से भिन्न होकर भी आकृतिमूलक दृष्टि से उनसे सम्बद्ध होते हैं : यथा—**ब्यूटीफुली : ब्यूटीफुल**। फिर, वे 'रचनान्तरण' की दृष्टि से अनेक समानान्तर रचनाओं में अनुकारी विशेषणों से सम्बद्ध होते हैं : तु०—**'मेरी इज़् ब्यूटीफुल डान्सॅर'** तथा **'मेरी डान्सेज़् ब्यूटीफुली'**। क्योंकि 'प्रकारवाचक क्रियाविशेषण' और 'विशेषण' **में किसी रूपक्रियात्मक** विरोध की सम्भावना नहीं है, उन्हें एक ही पदभेद के सन्दर्भ-**निर्दिष्ट विभेद या परिवर्त्ती** (स्थानी) स्वीकारकरना होगा। क्रियाविशेषणात्मक **प्रत्यय '-ली'** का अंग्रेजी में **'ब्युटीफुल'** आदि के साथ संयोग (एवं **'गुड'** का **'वॅल्'** **के रूप में पुनर्लेखन**) आदि को उन नियमों के द्वारा सिद्धकरना होगा, जिनसे अन्तः-**संरचनाजन्य** विश्लेषण को वाक्यों की बाह्य-संरचना के रूप में परिवर्त्तित किया जाता है। दूसरे शब्दों में, 'अधिक्रियिक' या 'क्रियाविशेषक' से एक क्रिया का दूसरी क्रिया के द्वारा ('क्रिया' के व्यापक अर्थों में) विशेषित होना सूचितहोता है, जबकि विशेषक क्रिया सामान्य रूप में, अनिवार्यतः नहीं, 'विशेषण' के रूप में हो (यथा—**'स्माइलिङ्ली'**, आदि में)। सभी 'विशेषण' इस 'क्रियाविशेषक' स्थिति में प्रयुक्त नहीं होते : तु०—***'दि लाइट शोन् ग्रीनली'**, आदि। इसके विपरीत, अन्य विशेषण 'नामों के विशेषक' के रूप में प्रयुक्त तो होते हैं; किन्तु केवल उन्हीं रचनाओं में, जो रचनान्तरण की दृष्टि से ऐसी संरचनाओं से व्युत्पन्न कीजाती हैं, जिनमें 'विशेषण' का प्रयोग 'क्रियाविशेषक' के रूप में हुआ हो : तु०—**'ए रैपिड मूवमेँण्ट'** ←**'मूव रैपिडली'**। किन्तु अन्तःसंरचना की दृष्टि से अंग्रेज़ी के अधिकांश 'विशेषण' नाम और क्रिया दोनों को विशेषित करते हैं।

७. ६. ६ पदभेदों की कोटिगत एक व्याख्या

'क्रियाविशेषण' के विमर्श के प्रसंग में हमने येस्पर्सन और भ्रेम्स्लेव द्वारा कई वर्ष पहले प्रस्तुत पदभेदसम्बन्धी सिद्धान्तों की चर्चा की है। आधुनिकतर समय में इन सिद्धान्तों को, 'धारणात्मक' व्याकरण में रुचिहीनता के कारण, अधिकांश भाषाविदों ने उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। रचनान्तरणी वाक्य-रचना-सिद्धान्त में अन्तःसंरचना और बाह्य-संरचना में विभेद को रूपायित करने की सम्भावना के साथ सामान्य वाक्यरचना-सिद्धान्त की दृष्टि से भी इन सिद्धान्तों ने नया महत्त्व ग्रहण कर लिया है। उनका मूल आधार परम्परागत व्याकरण पर है, और उनका साक्ष्य अनेक भाषाओं मेंसे लियागया है।

इनमें से हम येस्पर्सन के सूत्रण को ही विचारार्थ लेंगे, किन्तु उनके द्वारा अपनाई शब्दावली को नहीं अपनाएंगे; क्योंकि वह अर्थात्मक दृष्टि से इसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रयुक्त संज्ञाओं के साथ संघर्ष में आती है। येस्पर्सन की दृष्टि से 'नाम' **प्रथम मात्रा** की कोटि में आते हैं, जबकि विशेषणसमेत 'क्रियाएं' **द्वितीय मात्रा** की कोटि में

तथा 'क्रिया-विशेषण' **तृतीय मात्रा** की कोटि में आते हैं। 'मात्रा' की यह धारणा विचाराधीनकोटियों की संघातात्मक विशेषताओं के आधार पर परिभाषित कीगई है। सर्वाधिक सामान्य सरल रचनाओं में भी प्रत्येक कोटि का संशोधन उससे **उच्चतर** मात्रा की कोटि के द्वारा कियाजाता है। 'विशेषणों'-समेत 'नामों' को 'क्रियाएं' विशेषित करती हैं, अतः उन्हें 'अधिनामिक' या 'नामविशेषक' कोटि कहसकते हैं; 'क्रियाओं' को 'क्रियाविशेषण' विशेषित करते हैं, इसीलिए उन्हें 'अध्यधिनामिक' कोटि भी कह सकते हैं; और इनको भी अन्य क्रियाविशेषण विशेषित करसकते हैं। पदभेदों की व्याख्या केलिए इन तीन मात्राओं से अधिक की आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि इसप्रकार की कोई बड़ी कोटि नहीं बचती, जो तृतीय मात्रा की कोटि को भी विशेषित करे।

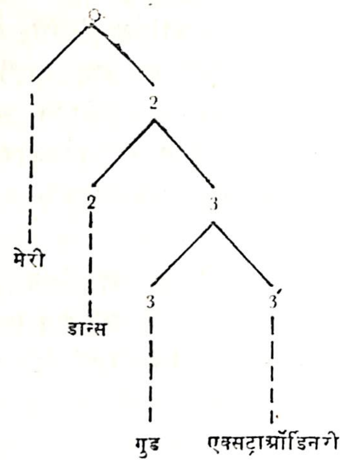
यहां यह कहदेना उचित ही है कि **'मात्रा'** के सिद्धान्त को **कोटिबद्ध व्याकरण** (तु०-६. ३. १) के शब्दों में बहुत सुव्यवस्थित रूप में रूपायित किया जा सकता है : वास्तव में यह बात **'कोटिबद्ध व्याकरण'** की धारणा के **लेज्निएव्स्की** एवं **आजुक्येविक्ज़** द्वारा आरम्भिक विकास में ही स्पष्ट थी। उनके अनुसार 'नाम' एक **आधारभूत कोटि** है, जबकि अन्य 'सभी पदभेद' **व्युत्पन्न** और **जटिल कोटियां** हैं। द्वितीय मात्रा की कोटियां 'वाक्य-रचना' के हेतु प्रथम मात्रा की कोटियों से संहत होती हैं। तृतीय मात्रा की कोटियां आपस में संघात करके भी 'तृतीय मात्रा की कोटियों' का ही सृजनकरती हैं।

प्रकारात्मक सुविधा की दृष्टि से हम मात्रा की इस कोटिगत धारणा को अंकों के द्वारा सूचित करेंगे। (इन अंकों को हम कोटिबद्ध व्याकरण की पूर्वतर चर्चा में प्रयुक्त 'कार्यात्मक' अभिव्यक्तियों के समतुल्य परिभाषित करसकते हैं।) हम '०' को 'वाक्य' केलिए, '१' को 'नाम' केलिए, '२' को क्रिया (विशेषणसहित) और '३' को 'क्रियाविशेषण' केलिए प्रयुक्त करेंगे। मूल तत्त्वों की पुनरावृत्ति केलिए हम (') इस चिन्ह का प्रयोग करेंगे: १', ३'', आदि के रुप में (एक—एकबार आवृत्त, तीन—द्वि-आवृत्त, आदि)। **'मेरी डान्सें ज़ एक्स्ट्रा-ऑर्डिनरिली वें ल्'** जैसे वाक्य की अन्तर्वर्तिनी घटक-संरचना को अंकीय प्रचलन में **आरेख-१८** में दिखाया गया है। इसे ही हम इसरूप में भी रखसकते हैं : ०(१ + २(२ + ३ ३ + ३'))) । पाठक देखेंगे कि यह प्रणाली 'अ-दिशात्मक' मानीगई है : मानलीजिए कि एक जटिल कोटि 'क्ष' दो आधारभूत या व्युत्पन्न कोटियों के मिलने से बनी है; तब हम 'क्ष' के 'भाजक' को भिन्न-विधि से एक अन्य **'य'** कोटि के द्वारा 'निष्प्रभावित' करसकते हैं, भले ही **'क्ष'** और **'य'** वाक्य की पृष्ठ-संरचना में एक-दूसरे से संलग्न हों या न हों। यह निष्प्रभावन पृष्ठ-संरचना में इन दोनों के सापेक्ष क्रम के अनाश्रित रहकर ही होता है। यदि इसे ही अंकों द्वारा अंकित करें, तब **३** के द्वारा **३'** निष्प्रभावित होजाता है, और परिणाम रहजाता है ३; तब **२** के द्वारा **३** निष्प्रभावित होजाता है, शेष रहता है **२**; और **तब १** के द्वारा **२** निष्प्रभावित होजाता है, परिणाम होता है **'०'** (अर्थात् **'वाक्य'**)।

आरेख-१८

अन्तर्वर्त्ती-घटक-संरचना का कोटीय प्रतिनिधित्व

वाक्य : 'मेरी डान्सेंज़ एक्स्ट्रा-ऑर्डिनरिली वैंल'



हम एक पहले खण्ड में कहआए हैं कि (उभयदिशात्मक) कोटिबद्ध व्याकरण सरल सन्दर्भ-मुक्त घटक-संरचनी व्याकरण के साथ निर्बल रूप में समतुल्य है (तु०-६. ३. ७)। किसी भी प्राकृतिक भाषा के वाक्य-विन्यास के वर्णन से नतो कोटिबद्ध व्याकरण और नही सरल घटक-संरचनी व्याकरण पूरी तरह समर्थ होपाते हैं। यह बात शोम्स्की तथा अन्यों द्वारा सिद्ध की जाचुकी है। अबतक किसी ने भी रचनान्तरक व्याकरण का विकास, घटक संरचना के स्थान पर, कोटिबद्ध आधारी-संरचना के द्वारा नहीं किया है। (यद्यपि शोम्याँ का सिद्धान्त इसके सर्वाधिक निकटतम पहुँचता है; किन्तु उसमें शोम्स्की के सिद्धान्त से कुछ अन्तर हैं, और अबतक उसका विस्तृत चित्रण नहीं हुआ है)। फिरभी 'मात्रा' का सिद्धान्त, पदभेद-सम्बन्धी परम्परागत मान्यता, एवं विश्व की अनेक भाषाओं के वर्णन में उसके विनियोग, केद्वारा समर्थित होता है। यह अवधेय है कि स्वयं शोम्स्की को छोड़कर लाकौफ़्, रोज़ेन्‌बौम्, आदि अनेक भाषाविदों द्वारा प्रकाशित नए विवेचनों में अंग्रेज़ी की अन्तःसंरचना में 'क्रिया' और 'विशेषण' की कोटिगत एकरूपता को मान लियागया है। भावी विकास की दृष्टि से यह अतर्क्य नहीं रहेगा कि कभी अंग्रज़ी के वर्त्तमान की अपेक्षा अधिक समर्थ 'रचनान्तरक व्याकरण' के **'आधारी योजक'** (बेस-कम्पोनेंण्ट) में एक ऐसा **'अवयोजक'** (सब-कम्पोनैंण्ट) भी सम्मिलित किया जासके, जिसके नियम 'कोटिगत व्याकरण' की भाषा में अधिक स्पष्टता केसाथ गठित किये जासकते हैं। किन्तु अन्तःसंरचना के कुछ ऐसे भी अभिलक्षण हैं, जिन्हें कोटिगत व्याकरण के द्वारा रूपायित नहीं किया जासकता। इसी अध्याय में किएगए 'पदभेदों' और **'गौण व्याकरणात्मक कोटियों'-सम्बन्धी**

अपने विमर्श की छाया में हमें इस विषय में फिर से बढ़नाचाहिए। किन्तु, इससे पहले हम कोटिपरक व्याकरणों की एक तथाकथित अपूर्णता पर विचार करलें।

७. ६. ७ कोटिगत व्याकरणों की तथाकथित एक अपूर्णता

यह कहाजाता है कि **'पदबंध-संरचनी व्याकरण'** की तुलना में **'कोटीय व्याकरणों'** में एक गम्भीर कमी विद्यमान है। यह आलोचना इस रूप में की जा सकती है : 'कोटिगत व्याकरण' में **विशेषण** और **अकर्मक क्रिया** को तो एक ही बृहत् कोटि के अवयव रूप में स्वीकार किया जाएगा : यथा—**'मेरी सुन्दर है'** और **'मेरी नाचती है'** में **'सुन्दर'** और **'नाचना'** को; किन्तु इसके अनुसार **सकर्मक** और **अकर्मक क्रियाओं** को एक ही कोटि में आबद्ध नहीं किया जासकेगा। आपाततः यह आलोचना **बड़ी हानिकर** प्रतीत होती है। किन्तु **सकर्मक** और **अकर्मक** क्रियाओं के बीच सम्बन्ध उतना सरल नहीं है, जितना कि वर्त्तमान रचनान्तरणी व्याकरण मानता है। हम इस प्रश्न को बाद में ८. २ खण्ड में विचारेंगे। यहां तो हम शोम्स्की द्वारा अपनी अधुनातम रचना में प्रदर्शित आधार पर रूपायित **'आधारी योजक'** के सम्बन्ध में एक समतुल्य गम्भीर अपूर्णता की ओर ध्यान खीचेंगे। वह है उनकी यह मान्यता कि **'पदबन्ध-संरचनी व्याकरण'** का सिद्धान्ततः सन्तोषजनक कोई भी समाधान 'कोटिगत व्याकरण' पर लागू किया जासकता है; तथा यह बात पूर्वोक्त अपूर्णता को स्वतः ही निरस्त करदेती है। अतः कुछ देर केलिए हम अपना ध्यान फिरसे पदबन्ध-संरचनी व्याकरण, एवं रचनान्तरक व्याकरण के 'आधारी योजक' के नियमों को रूपायित करने के उनके प्रकार, की ओर आकृष्ट करते हैं।

७. ६. ८ पदबन्ध-संरचनी व्याकरणों की अपूर्णता

निम्न नियमों (सूत्रों) पर विचारकरें :

(१) **वा→नासं+साहाक्रि+क्रिसं**

(२) **क्रिसं→क्रि+नासं**

(३) **क्रिसं→क्रि**

(४) **नासं→आ+ना**

इससे सम्बद्ध कोष को हम इस रूप में मानलेते हैं :

ना= { मैन्, डॉक्टर... आदि }

क्रि= { एग्ज़ामिन्, लीव... आदि }

आ= { द, ए...}

इसके साथ ही यदि 'सहाक्रि' के **विकास-नियम** (**काल, भाव** और **पक्ष** पर विचार केलिए), **नामों के स्थान पर अंकन-नियम**, तथा बाद में **नाम-क्रिया की अन्विति के व्यवस्थापक नियम** भी दिए हों, तब उक्त पदबन्ध-संरचनी नियम ऐसे वाक्यों को

प्रजनित करेंगे : '**दि डॉक्टर एग्ज़ामिन्स द मैन्** (**आ+ना+क्रि+स्+आ+ना**)' और '**द मैन् लीव्स (आ+ना+क्रि+स्)**'। पदबन्ध-संरचनी व्याकरण में '**सकर्मक**' और '**अकर्मक**' क्रियाओं के सम्बन्धों को व्यक्त करने के कई उपाय हैं। उक्त नियमों में उन दोनों को एक ही बृहत् कोटि (क्रि) का अवयव बतायागया है; तथा हम मानसकते हैं कि उन अवयवों में विभेद को व्यक्त करने केलिए (जो इन नियमों में अंकित नहीं है) किसी ऐसे अभिलक्षण को दिखासकते हैं, जिससे यह संकेत मिल जाए कि उनके बाद कोई '**नासं**' (यथा **नियम-२** में) प्रयुक्त होता है या नहीं। मूलतः यह विधि शोम्स्की ने अपने ग्रन्थ '**वाक्य-रचना-सिद्धान्त के पक्ष**' ('**आस्पेक्ट्स ऑफ़ द थ्योरी ऑफ़ सिण्टेक्स**') में प्रयुक्त की है। (उसके पूर्वतर ही '**सिण्टेक्टिक स्ट्रक्चर्स**' की प्रणाली **सकर्मक** और **अकर्मक** के बीच सम्बन्धों को नितान्त ही भिन्न ढंग से अपनाकर चली थी।)

हम यहां जो बात कहनाचाहते हैं, वह सरल रूप में इसप्रकार कही जा सकती है : **ऊपर दिए नियम यह बात रूपायित करने में असमर्थ हैं कि 'ना' और 'नासं' तथा 'क्रि' और 'क्रिसं' के बीच भाषा से अनाश्रित रहकर भी एक अनिवार्य सम्बन्ध है**। जहांतक संघ-संरचनी व्याकरण का सम्बन्ध है, यह एक 'सांयोगिक' सहघटना ही मानीजानीचाहिए कि कदाचित् भाषाविद् विभिन्न भाषाओं के व्याकरणों में ऐसे नियमों का समावेश करलें, जिनके द्वारा 'नासं' को ऐसे सूत्र के रूपमें फैलाया जासकेगा, जिसमें 'ना' का भी समावेश हो तथा 'क्रिसं' का भी; एवं जिसमें 'क्रि' भी समाविष्ट हो। दूसरे शब्दों में, पदबन्ध-संरचनी व्याकरण इस सत्य को रूपायित करने में असमर्थ रहते हैं कि '**नासं**' और '**क्रिसं**' केवल स्मृति की दृष्टि से सुविधाजनक प्रतीक मात्र नहीं होते; बल्कि उनके द्वारा ऐसे वाक्य-घटकों का संकेत भी मिलता है, जो क्रमशः अनिवार्य रूप से '**नामात्मक**' और '**क्रियात्मक**' होते हैं; क्योंकि उनके घटकों में 'ना' और 'क्रि' अनिवार्यतः बृहत् घटक होते हैं। (शोम्स्की ने स्वयं इस अपूर्णता को स्वीकार किया है। उन्होंने इसका हल भी सुझाया है। किन्तु न तो विस्तृत रूप में इस पर अबतक कार्य हुआ है, और न ही किसी प्रकाशित साहित्य में इसका हवाला दियागया है।)

जिस बात की आवश्यकता है, और जिसे परम्परागत व्याकरण में मानलिया गया था, वह है '**क्षसं**' और '**क्ष**' आकार के वाक्य-घटकों को परस्पर सम्बद्ध करने का कोई उपाय। (यहाँ '**क्ष**' के द्वारा **ना**, **क्रि**, आदि किसी भी बृहत् कोटि को समझा जासकता है।) यह न केवल अनुचित ही होगा, बल्कि सैद्धान्तिक दृष्टि से असम्भव भी होगा, कि कोई भाषाविद् अंग्रेज़ी या अन्य किसी भाषा के आधारी योजक केलिए निम्न प्रकार के नियमों का सुझाव दे :

(१ क) **वा → क्रि + सहाक्रि + नासं**

(२ क) **नासं → क्रि + क्रिसं**

(३ क) **नासं → क्रि**

(४ क) क्रिसं→आ+ना

रूपायरण की वर्त्तमान प्रणाली मेंसे इसप्रकार के नियमों को बहिष्कृत नहीं किया जासकता। और कदाचित् ये पूर्वोक्त नियमों से केवल निर्बल रूप में ही नहीं, सबल रूप में भी समतुल्य हैं। (विगत अध्याय में विचारे गए पदबन्ध-संरचनी व्याकरण के नियमों से यही निष्कर्ष निकलता है।) यदि यह समस्या **'पदबन्ध-संरचनी'** व्याकरणों की दृष्टि से सुलझजाती है, तब यह **'कोटिगत व्याकरणों'** के लिए भी सुलझजाएगी। 'सकर्मक' और **'अकर्मक'** क्रिया की ही बात को लें **'(वाना)/ना'** के रूप में कोटीय वर्गीकरण में आबद्ध कोई भी शब्द, यथा सकर्मक क्रिया, प्रणाली के सामान्य सिद्धान्तों केद्वारा उस 'पदबन्ध' का **'शीर्ष' माना जाएगा, जिसे** व्याकरण-विश्लेषण में **'वाना'** के द्वारा सूचित कियागया है। **यही बात 'वाना'-रूपी** कोटीय वर्गीकरणवाली **'अकर्मक क्रियाओं'** पर भी लागूहोती है। **किन्तु जैसाकि** हम पहले ही कहआए हैं, **'सकर्मकता'** का प्रश्न उससे कहीं अधिक **उलझनभरा है,** जितना हमने अबतक संकेतित किया है। रचनान्तरक व्याकरण की कोई भी वर्त्तमान प्रणाली सभी तथ्यों को शुद्धता से नहीं सुलझापाती। अगले अध्याय में हम इस बात पर अधिक विचारकरेंगे।

७. ६. ९ कोटियां और अभिलक्षण

कोटिबद्ध और पदबन्ध-संरचनी व्याकरणों के सम्बन्ध में उक्त विचार, एक ओर, बृहत् पद-भेदों की परस्पर सापेक्ष अन्तःसंरचनी संघातात्मक विशेषताओं एवं, दूसरी ओर, उनकी बाह्य विभक्तिपरक और रचनान्तरक विशेषताओं केबीच विद्यमान महत्त्वपूर्ण विभेद की ओर ध्यान खींचनेमात्र केलिए ही नहीं था।

हम पहले ही देखचुके हैं कि जिन पदों को हम अंग्रेज़ी में सामान्यतः 'क्रिया' और **'विशेषण'** के रूप में पहचानते हैं, उनके बीच विभेद बहुत ही जटिल है; जिसमें **पक्ष** (स्थितिक/सक्रिय) और **रूप-रचना** (विभक्त्यादि) का अन्तर भी सम्मिलित है। किन्तु हमने यहभी देखा है कि **'पक्षात्मक'** और **'रूपरचनात्मक'** विशेषताएं सदा ही सहघटित नहीं होतीं। 'क्रियाएं' और 'विशेषण' इस दृष्टि से समरूप हैं कि वे दोनों ही **'नाम'** के साथ मिलकर अन्तःसंरचनी घटकों के 'कोष्ठबद्ध सूत्रों' का निर्माण करते हैं। और इसे समुचित रूप में उनका 'कोटीय' कार्य माना जासकता है। इस 'द्वितीय मात्रा' की कोटि के विशिष्ट उपवर्गों से सम्बद्ध रचनान्तरक, पक्षात्मक और रूपात्मक विभेदों को कोष में उपवर्गों के विभेदक अभिलक्षणों के माध्यम से सन्तोषजनक रूप में निर्दिष्ट कियाजाता है।

शोम्स्की द्वारा हाल में ही प्रस्तावित प्रणाली के आधार पर गठित वर्त्तमान रचनान्तरक व्याकरणों में इन अभिलक्षणों का लाभ उठायागया है। किन्तु ऐसा घटक-संरचना के केवल निम्नतम स्तर तक ही हुआ है। **लघु पद-भेदों और गौण व्याकरणात्मक कोटियों** के सम्बन्ध में इस अध्याय में कियागया हमारा **विमर्श** यह

बताता है कि **लकार, भाव, पक्ष, वचन, निश्चितता,** आदि का सम्बन्ध विविध स्तर के घटकों केसाथ होता है।

ऐसी कोटियों को मानवी-भाषा की **विश्वात्मक कोटियाँ** नहीं माना जासकता (यद्यपि वाक्य-रचना के सामान्य सिद्धान्त में उनकी परिभाषा विश्वात्मक रूप में अवश्य की जासकती है)। सामान्य वाक्यरचना सिद्धान्त में विविक्त गौण व्याकरणात्मक कोटियों के समूचे विन्यास मेंसे 'चुनाव' के विषय में भाषाओं की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। और भाषा-भाषा में कोटियों के बीचका विभेद भी भिन्न-भिन्न उपाय से 'बाह्य-संरचना' में व्यक्त कियाजाता है। कदाचित् मानवी-भाषा में विश्वात्मक कोटि के रूप में केवल वे **संघातात्मक गुण** कहे जासकते हैं, जो बृहत् कोटियों में परस्पर सापेक्ष रूप में विद्यमान होते हैं (**येस्पर्सन** आदि का भी यही सुझाव है)। यदि यह सही है, तब हम कहसकते हैं कि किसी भी भाषा के रचनान्तरक व्याकरण का आधारी योजक दो 'उपयोजकों' से मिलकर बनता है। **इसमें से पहला,** चाहे उसे पुनर्लेखन नियमों द्वारा रूपायित कियाजाए या नहीं, सही रूप में **विश्वात्मक** होगा और शब्दों के कोटीय संघात का हेतु भी होगा। **द्वितीय में काल, पक्ष, भाव, वचन, निश्चितता,** आदि सहचारी अभिलक्षणों के विषय में कोटीय अवयोजक द्वारा प्रजनित घटक-संरचना के सभी स्तरों पर लागू होनेवाले नियम समाहित होंगे।

७. ६. १० एकमेव व्याकरणम्...

उक्त सुझाव को अत्यन्त अस्थायी ही मानना चाहिए : पारिभाषिक दृष्टि से यह सम्भाव्य नहीं होसकता और स्वानुभूति की दृष्टि से भी यह अपर्याप्त साक्ष्य पर आश्रित है। पर एक बात अवश्य कथनीय है। कुछ ही वर्ष पहले भाषाविद् व्याकरणात्मक कोटियों को स्थापित करनेवाले किसी भी विश्वात्मक सिद्धान्त की सम्भावना तक को निराकृत करदेते थे। किन्तु अब वह बात नहीं रही। शोम्स्की ने कहा भी है : **'आधुनिक अन्वेषण ने भाषाओं की पृष्ठ-संरचना में महती विविधता प्रदर्शित की है', किन्तु, यह सम्भव है कि विश्वात्मक कही जानेवाली वाक्यों की अन्तःसंरचना उनके वास्तविक रूप की पृष्ठीय या बाह्य-संरचना से नितान्त भिन्न हो।'** परिणामतः, **'आधुनिक भाषाविदों के निष्कर्ष विश्वात्मक वैयाकरणों की प्राक्कल्पनाओं से नितान्त भिन्न नहीं है।'** अब फिर भाषाविदों की सहमति के साथ 'विश्वात्मक व्याकरण' के सम्बन्ध में **रोजर बेकन** की उक्ति को दोहराया जारहा है : **'तात्त्विक रूप से सब भाषाओं का व्याकरण एक ही है, भले ही सांयोगिक दृष्टि से यह भिन्न-भिन्न हो** (तु०- १. २. ७)'। अन्तःसंरचना और बाह्य-संरचना केबीच विभेद के रूपायण की दृष्टि से 'सत्त्वमूलकता' और 'सविभक्तिकता' जैसी श्रेण्यवादी परिभाषाओं की स्वीकार्य विन्यासक्रमात्मक व्याख्या की जासकती है।

८

व्याकरणात्मक कार्य

८. १ कर्त्ता विधेय और अधियोजी (विशेषक)

८. १. १ नाभिकीय (केन्द्रकीय) और बहिर्नाभिक (बहि:केन्द्रकीय घटक)

परम्परागत व्याकरण तथा अत्याधुनिक वाक्य-विज्ञान का यह एक आधार-भूत नियम है कि प्रत्येक सरल घोषणात्मक वाक्य की रचना में अनिवार्यतः दो प्रमुख घटक होते हैं : **कर्त्ता** और **विधेय**। इनके साथ ही उसमें एक या अधिक **अधियोजी** या **विशेषक** होसकते हैं। **स्थान, समय, प्रकार** और **कारण** से सम्बद्ध ये अधियोजी वाक्य के स्वैच्छिक, या संरचनात्मक दृष्टि से परिहार्य, घटक होते हैं (इनके विविध प्रकारों की चर्चा हम बाद में करेंगे)। शेष वाक्य पर बिना प्रभाव डाले ही इन्हें हटाया भी जासकता है।

इन संज्ञाओं के प्रयोग का तरीका बताने केलिए हम इस अंग्रेज़ी-वाक्य को उदाहरणरूप में लेसकते हैं : **'जोन किल्ड बिल इन सैण्ट्रल पार्क ऑन् सण्डे'**। इसमें कर्त्ता है **'जोन'** और विधेय है **'किल्ड बिल'** ; **'इन सेण्ट्रल पार्क'** और **'ऑन् सण्डे'** ये दो क्रमशः **स्थान** और **समय** के अधियोजी हैं। वाक्य की व्याकरणात्मकता को विना हानि पहुँचाए ही इनमें से कोई एक या दोनों ही हटाए जासकते हैं : **'जोन् किल्ड बिल ऑन् सण्डे'**, **'जोन किल्ड बिल इन् सेण्ट्रल पार्क'** अथवा **'जोन किल्ड बिल'** के रूप में। इसके विपरीत यदि **'किल्ड बिल'** या **'जोन'** मेंसे किसी एक को त्याग दें, तो व्याकरणात्मक दृष्टि से न तो **'जोन इन सेण्ट्रल पार्क ऑन् सण्डे'**, और न ही **'किल्ड बिल इन् सेण्ट्रल पार्क ऑन् सण्डे'**, पूर्ण वाक्य ठहरते हैं ('अपूर्ण' की धारणा केलिए दे० ५. २. ३)। हम कहेंगे कि कर्त्ता और विधेय मिलकर वाक्य की 'नाभि' (केन्द्रक) बनाते हैं। अतः इन दोनों को हम **'नाभिक'** या **'नाभिकीय'** (केन्द्रकीय) और अधियोजियों को **'बहिर्नाभिक'** (बहि:केन्द्रकीय) कहेंगे।

८. १. २ विषय और टिप्पणी

यह पहले ही कहा जाचुका है कि **'प्लेटो'** के समय से ही **नाम** और **आख्यात** की व्याख्या 'कर्त्ता' और 'विधेय' के विभेद केसाथ निकट-सम्बद्ध रही है (तु०-१.

२. ५, ७. ६. ४)। **सैपिर** ने निम्न शब्दों में केवल परम्परागत दृष्टि को ही दोहराया है : "(कथन में) कुछ (विषय) होना चाहिए कि जिसके बारे में कुछ कहा जाए, और कथन के इस 'विषय' (कर्त्ता) के सम्बन्ध में कुछ कही जानेवाली (कथ्य) बात भी होनी चाहिए।...कथन का विषय **'नाम'** होता है...कोई भी भाषा **'नाम'** और **'क्रिया'** में विभेद करने में सर्वथा असफल नहीं रहती, यद्यपि स्थितिविशेष में इस विभेद की प्रकृति छलावा भी सिद्ध होसकती है।" इस अनुच्छेद में, सैपिर छद्मना **'कर्त्ता'** (विषय) की परिभाषा 'उस व्यक्ति या वस्तु' के रूप में करते हैं जिसके विषय में कुछ कहा जाता है, और **'विधेय'** की 'उस व्यक्ति या वस्तु के विषय में कहीगई बात' (कथ्य) के रूप में। परन्तु यह तो ऐसा एक तरीका है, जिसमें वैयाकरणों ने **कर्त्ता और विधेय** की परिभाषा की है। क्योंकि हम ऐसी कुछ अन्य परिभाषाओं पर भी विचार करेंगे, अतः उचित होगा कि हम भी सैपिर द्वारा गिनाई इन दोनों धारणाओं के लिए हॉकेट द्वारा सुझाईगई, और अब व्यापक रूप में मान्य, शब्दावली को अपनालें : हम वक्तव्य के केन्द्रभूत व्यक्ति या वस्तु को **'विषय'** और वक्तव्य को **'टिप्पणी'** के नाम से पुकारेंगे।

हॉकेट ने इन शब्दों का परिचय निम्न रूप में दिया है : 'विधेयक रचनाओं का सर्वाधिक सामान्य लक्षण **'विषय'** और **'टिप्पणी'** संज्ञाओं से ध्वनित होता है... वक्ता किसी **'विषय'** की घोषणा करके उसके विषय में कुछ कहता है। इस प्रकार **'जोन/रैन अवे'** और **'दैट् न्यू बुक् बाई थौमस/आई हैव'न्ट रैड् यट'** (के रूप में वाक्यों का विभाजन होता है, जिसमें तिर्यक् रेखा विभाजकचिन्ह के रूप में प्रयुक्त हुई है)। अंग्रेज़ी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में **'विषय'** ही **'कर्त्ता'** और **'टिप्पणी'** ही **'विधेय'** **के रूपमें पाईजाती है। 'जोन/रैन अवे'** में यही बात है। किन्तु यह समीकरण सार्थक नहीं ठहरता : बोलचाल की या **ग्रामीण अंग्रेज़ी** में बहुधा, औपचारिक अंग्रेज़ी में कुछ विशिष्ट स्थितियों में नियमतः, और कुछ अ-यूरोपीय भाषाओं में सामान्यतः।'

हॉकेट से उद्धृत इस कथन के सम्बन्ध में दो बातें कही जासकती हैं। **प्रथम** यह कि विन्यासात्मक धारणा के रूप में **'कर्त्ता'** और **'विधेय'** क्रमशः **'विषय'** और **'टिप्पणी'** से विभेद्य होते हैं (यद्यपि अंग्रेज़ी और अन्य परिचित यूरोपीय भाषाओं के बहुप्रयुक्त घोषणात्मक वाक्यों में ये दोनों 'विषय' और 'टिप्पणी' के साथ सहघटित होते मानेजाते हैं)। **द्वितीय**, हॉकेट यह मानते दीखते हैं कि **'विषय'** सदा ही **'टिप्पणी'** से पूर्व रहता है। वे अपने द्वितीय उदाहरण के सम्बन्ध में आगे कहते हैं, ''**दैट् न्यू बुक् बाई थौमस**' को पहले इसलिए बोलाजाता है, क्योंकि इससे निर्दिष्ट होता है कि वक्ता किसके विषय में कहनेवाला है : यह इस वाक्य का **विषय** है, यद्यपि यह इसका **कर्त्ता** नहीं है। यही विषय बाद में कहीगई क्रिया **'हैव'न्ट रैड् (यट्)'** का 'कर्म' है, उसी क्रिया का कर्त्ता **'आई'** (मैं) है, जोकि सम्पूर्ण वाक्य में टिप्पणी का अंश है।'

सन्दर्भात्मक परिहार्यता और पूर्वकथनीयता की दृष्टि से 'विषय-टिप्पणी' के

विभेद को लेकर बहुत कुछ लिखागया है (यद्यपि हॉकेट द्वारा नहीं)। 'विषय' या 'कथन के उद्देश्य (कर्त्ता)' को उस अवयव के रूप में कहाजाता है, जोकि या तो सामान्य स्थिति में, या वक्ता द्वारा उत्तर दिये जारहे किसी स्पष्ट प्रश्न में, 'प्रदत्त' होता है। तथा 'टिप्पणी' उक्ति के उस भाग को कहागया है, जो कुछ नवीन बात जोड़ता है (और इसप्रकार श्रोता को सूचना पहुँचाता है)। इस कसौटी के आधार पर तबतक हम यह नहीं कहसकते कि किसी उक्ति में कौनसा 'विषय' है, और कौनसी 'टिप्पणी' (या यह कि उसे इन दो भागों में विभक्त भी किया जासकता है या नहीं), जबतक हम यह न जानलें कि सन्दर्भ में 'दत्त' क्या है? उदाहरणार्थ, **'जोन दौड़गया'** में यदि **'कौन दौड़गया?'** के रूप में किसी स्पष्ट या अन्तर्हित प्रश्न का उत्तर विद्यमान है, तब **दत्त** और **नई सूचना** की कसौटी के आधार पर **'जोन'** को **'टिप्पणी'**, और **'दौड़गया'** को **'विषय'** कहना होगा। यदि यह व्यक्त या अव्यक्त प्रश्न **'क्या हुआ?'** तक ही सीमित है, तब केवल **'भूतकाल'** ही पूर्वकथित कहा जासकेगा, और शेष सारे अंश को **'नया'** कहा जासकेगा। **'जोन दौड़गया'** में **'जोन'** को केवल तभी **'विषय'** कहा जासकेगा, यदि व्यक्त या अव्यक्त प्रश्न निश्चित रूप से **'जोन ने क्या किया?'** हो; तब उक्त **'दत्त'** और **'नए'** की परिभाषा के अनुसार **'दौड़गया'** को 'टिप्पणी' कहा जासकेगा (वास्तव में तो **'दौड़गया'** में भी 'भूतकाल' को छोड़ कर शेष सारा अंश 'नया' ही है)। **विषय** और **टिप्पणी** में वाक्यों के विभाजन के प्रसंगों में **हैलिडे** ने जिन विविध धारणाओं का विवेचन किया है, **'दत्त'** और **'नया'** की परिभाषाएं उन्हीं से लीगई हैं।

सामान्यतः 'जोन दौड़गया' उक्ति उस प्रश्न के उत्तर में नहीं कही जाएगी, जिसमें **'जोन'** या **'दौड़गया'** मेंसे किसी एक का भी प्रयोग हुआहो। या वह **'दत्त'** हो। ऐसे किसी भी प्रश्न का उत्तर या तो **'वह दौड़गया'** या फिर **'जोन'** के रूप में होगा (क्रमशः **'जोन ने क्या किया?'** और **'कौन दौड़गया?'** के उत्तर के रूप में)। अंग्रेज़ी में तथा प्रायः सभी भाषाओं में, इस **'दत्त-नए'** के निकष का मुख्य विनियोग, वाक्यों की विन्यासात्मक संरचना के निर्धारण केलिए नहीं होता, बल्कि सम्बद्ध वार्त्तालाप की **'परिस्थिति-बद्ध दीर्घवृत्तीय'** उक्तियों में **शब्द-त्याग** एवं **सार्वनामिक स्थानापादन** की शर्तों की स्थापना केलिए होता है (**वाक्य** और **उक्ति** में विभेद केलिए देखें, ५. १. २)।

बहुत-सी भाषाओं में वक्ता किसी अन्य के स्थान पर एक विशिष्ट शब्दक्रम को अपनाकर, अथवा एक विशेष अव्यय के प्रयोग द्वारा, इस बात को स्पष्ट करसकता है कि वह **'विषय को घोषित कररहा है'**, और तब **'उसके विषय में कुछ कहरहा है'** ('विषय' यहाँ अनिवार्यतः 'दत्त' नहीं है)। अंग्रेज़ी (और हिन्दी) में यह बात किसी सीमा तक ही सम्भव है। **'कर्म या भाववाच्य'** के प्रयोग के अनेक हेतुओं में से यह भी एक है (तु०-८. ३. ३)। किन्तु यह बात **'जोन दौड़गया'** या **'जोन रैन अवे'** (अं०) जैसे वाक्यों की आकृति का निर्धारण नहीं करती। इसके अनेक विकल्प

होसकते हैं : **'जोन ने यह किया कि वह दौड़गया'**; **'यह जोन था, जो दौड़गया'**; **'जो दौड़ गया वह जोन था'**, तथा **'जो'न दौड़गया'**, और **'जोन दौड़गया'**, आदि। (अन्तिम दोनों विकल्पों में **'बल'** (स्वर) को अंकित कियागया है।) इन सबको किन्हीं अन्य जटिल विभेदों की दृष्टि से **'अंकित'** या 'चिह्नित' कहा जासकता है (इस बात के विस्तार में हम यहाँ नहीं जाएँगे)। वास्तव में **'जोन दौड़गया' या 'जोन रैन अवे'** संरचनात्मक दृष्टि से **'विषय'** और **'टिप्पणी'** में विभेद प्रदर्शित करने केलिए 'अंकित' नहीं है। यह तो अंग्रेज़ी या हिन्दी की सर्वाधिक 'तटस्थ' रचना का एक उदाहरण है।

इसपर भी यदि इस को ही प्रसंग से विच्छिन्न करके, या इसका अनुकारी कोई अन्य वाक्य, हमें दियाजाए, तब हमभी हॉकेट-समेत प्लेटो के परवर्त्ती सभी भाषाविदों के स्वर में स्वर मिलाकर यही कहेंगे कि यहाँ **'जोन'** के विषय में 'कुछ' कहा जारहा है, न कि **'दौड़ने'** के विषय में। इसप्रकार के अनंकित वाक्यों के चुनाव में हमारी प्रवृत्ति किस हेतु से होती है, यह एक रोचक प्रश्न है। यह प्रश्न हमें तर्कशास्त्र एवं परम्परागत व्याकरण द्वारा स्वीकृत 'कर्त्ता' और 'विधेय' की परिभाषाओं की ओर लेचलता है। हम देखेंगे कि यही वह दृष्टि है, जो **'नाम'** की इस धारणात्मक परम्परागत परिभाषा के आधार रूप में विद्यमान है कि, ' **'नाम' किसी व्यक्ति या वस्तु की संज्ञा होती है।'** **'नाम'** और **'कर्त्ता'** को परस्पराश्रित रूप में सार्वभौम प्रयोज्य की दृष्टि से परिभाषित करने का यही एक उपाय है। हम **'पद-भेद'** सम्बन्धी खण्ड में पहले ही इसप्रकार का संकेत देचुके हैं (तु०-७. ६. ६)।

८. १. ३ सार्वभौम और विशिष्ट

यहाँ हमें अरस्तूवादियों के **'विधेयकथन की कोटियों-वाले'** सिद्धान्त पर फिर से विचार करना चाहिए (तु०-७. १. २)। यह कहा जाचुका है कि 'सत्त्व' या 'द्रव्य' की प्रथम कोटि न्याय की दृष्टिसे, अन्य 'सांयोगिक गुणधर्मों' की अपेक्षा, अधिक मौलिक मानी जासकती है : **'सत्त्व'** या **'द्रव्य'** वह व्यक्ति या वस्तु है, जिसके सांयोगिक गुणधर्मों (**मात्रा, उत्कृष्टता, सम्बन्ध, क्रिया, स्थान, स्थिति**, आदि) का विधेयकथन न्याय की दृष्टि से सुगठित 'प्रस्तावों' (वाक्यों) में किया जासकता है। इस दृष्टि के अनुसार **'जोन दौड़गया'**, **'वह दिल्ली में है'**, **'मेरा मित्र लम्बा है'**, आदि वाक्य तार्किक दृष्टि से सुगठित हैं : इनमें **जोन**, वह और **मेरा मित्र** क्रमशः द्रव्य या **सत्त्व** का बोध कराते हैं; और **दौड़गया**, **दिल्ली में है** और **लम्बा है** आदि पद इन द्रव्यों के विषय में क्रमशः **विधेय-कथन** करते हैं। ये तीनों क्रमशः **'क्रिया'**, **'स्थान'** और **'गुण'** का कथन करते हैं।

अब, व्यक्तिवाचक संज्ञाओं एवं विशिष्ट व्यक्ति और वस्तु को सूचित करने वाले सर्वनाम या पदबंध (ऊपर के उदाहरणों **जोन, वह और मेरा मित्र**) को सर्वाधिक **'सत्त्वात्मक'** या **'द्रव्यात्मक'** मानना होगा, क्योंकि वे भाषा में सर्वाधिक

किसी एक ही द्रव्य की ओर **'नामात्मक'** रूप में संकेत करते हैं (इसीकारण उनका अन्य नाम 'सब्स्टैण्टिव'—भारतीय दृष्टि में 'सत्त्वशब्द या द्रव्यशब्द'—मानाजाता है)। ऐसे शब्द **'व्यष्टि'** (विशिष्ट) या 'एकवाचक' होते हैं, जिनसे किसी निश्चित, **व्यक्ति-रूप** द्रव्य का बोध होता है। दूसरे शब्द और पदबन्ध, अनिश्चित 'सामान्य नाम' (जातिनाम) और **'भावात्मक'** या 'अमूर्त्त' नाम तथा क्रिया, विशेषण और क्रिया-विशेषण, आदि को **'सार्वभौम'** (या 'सामान्य') कहा जासकता है : वे स्वतः व्यक्ति-द्रव्यों का बोध तबतक नहीं कराते, जबतक विन्यासात्मक दृष्टि से उनसे निर्दिष्ट व्यक्ति का ही विशिष्ट निर्देश न होता हो (यथा—**'वह जो आदमी वहाँ खड़ा है'** में **'आदमी'** एक व्यक्ति का ही बोधक है)। बल्कि, वे या तो व्यक्तियों की श्रेणी का या फिर उन गुणों, स्थितियों, क्रियाओं, आदि का बोध कराते हैं, जो व्यक्तियों के सहचारी होते हैं। (भारतीय दृष्टि से इन्हें **द्रव्य** या **व्यक्ति** एवं **जाति** या **समष्टि** के रूप में कहा जासकता है।)

कुछ तर्कशास्त्री सार्वभौम या जातिशब्दों में दो विभेदों को पहचानते हैं (हम भी इन्हीं विभिन्नतासूचक संज्ञाओं को अपनाएंगे) : (१) **समूहक** (सॉर्टल) **जातिशब्द**, जो व्यक्तियों को 'श्रेणियों' में समूहबद्ध करते हैं (भले ही इन श्रेणियों के व्यक्ति-सदस्यों की गुणों के आधार पर व्याख्या की जासके या नहीं), और (२) **लक्षण-वर्णनात्मक जातिशब्द**, जो गुण, स्थिति, क्रिया, आदि को सूचित करते हैं। परम्परागत व्याकरण में **'जातिवाचक'** कहेजानेवाले संज्ञाशब्दों को हम विशिष्ट **'समूहक** जातिशब्द' कहसकते हैं, जबकि विशिष्ट **'लक्षणात्मक** जातिशब्द' में भाववाचक संज्ञाशब्द, क्रिया, विशेषण और क्रियाविशेषण का समावेश होता है।

इन विभेदों के आधार पर हम परम्परागत तर्कशास्त्र का एक प्रमुख नियम इसप्रकार सूत्रित करसकते हैं : **सार्वभौम** या जातिशब्द कर्त्ता या विधेय की उभय स्थितियों में ही सुनिबद्ध वाक्यगत उपलब्ध होसकते हैं, **व्यष्टिशब्दों** का प्रयोग केवल 'कर्त्ता' की स्थिति में ही होता है। विशिष्ट जातिशब्द और विशिष्ट व्यष्टि-शब्द से निर्मित वाक्यों के उदाहरण इसप्रकार लिये जासकते हैं : **'सुकरात मनुष्य है'** (समूहक) और **'सुकरात बुद्धिमान् है'** (लाक्षणिक); दो जातिशब्दों से मिलकर बना वाक्य : **'मनुष्य बुद्धिमान् हैं'**। (दो जातिशब्दों के विषय में प्रचलित इस परम्परागत धारणा के सम्बन्ध में हम इससे अधिक कुछ नहीं कहेंगे कि उनमेंसे कम विशिष्ट शब्द अधिक विशिष्ट शब्द के 'विधेयकथन' केलिए प्रयुक्त होता है।)

'विशिष्ट' और **'सार्वभौम'** (अथवा व्यक्ति और जाति) केबीच परम्परागत विभेद को, अरस्तू एवं श्रेण्यवादियों की **'द्रव्य'** और **'घटना'**-सम्बन्धी धारणाओं से, स्वतन्त्र रूप में ही वर्णित किया जासकता है। प्रत्यक्षगम्य संसार में, यह विभेद अनेक विविक्त और कालसह 'व्यष्टियों' (पुरुष, पशु या वस्तु आदि) के आधार पर, वर्गी-करण या व्यक्तीकरण (पहचान) के उन सिद्धान्तों के आधार पर जिनके अनुसार किसी भाषा की कोषीय रूढ़ियों के द्वारा इन 'इकाइयों' का व्यक्तिरूप में नामकरण

या वर्गों में **'समूहन'** होता है, तथा व्यक्तियों के सहचारी पुनरावर्त्ती गुणधर्मों, स्थितियों और कार्यों के आधार पर, होता है। इस बात में सन्देह करने का कोई आधार नहीं है (दार्शनिक स्थिति चाहे कोई भी हो), कि 'इकाई' की यह दैनन्दिन धारणा विविध भाषाओं की शब्दावली एवं विन्यासात्मक संरचना के अनुसन्धान में अनेकानेक उदाहरणों में नियोजित की जासकती है; यदि केवल हम **'धारणात्मक'** और **'रूपात्मक'** निकषों केबीच विभेद को बनाए रखसकें (तु०-७. ६. १)।

८. १. ४ तार्किक और व्याकरणिक निकषों की अन्विति

अब यह स्पष्ट होजाना चाहिए कि परम्परागत व्याकरण में **नाम** और **कर्त्ता** को अविछिन्न सहचारी क्यों मानागया है। सर्वाधिक सामान्य नाम (जिन पर आदर्श 'धारणात्मक' परिभाषा असंदिग्ध रूप से लागू होती है : तु०–७. ६. १) वे हैं, जो **पुरुषों और वस्तुओं** को व्यक्तिगत रूप से संकेतित करते हैं। वाक्यों में उनकी वह सामान्य विन्यासात्मक स्थिति, जिसके अनुसार इस प्रकार का एक अवयव किसी नाम-भिन्न (अवयव व्यापकतम अर्थों में 'क्रिया') से संयुक्त होता है, **'जोन दौड़गया'** जैसे वाक्य से चित्रित होती है। 'कर्त्ता' (सब्जेक्ट) की सर्वप्रथम व्याख्या या परिभाषा ऐसे ही वाक्यों के आधार पर कीगई थी।

इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्य जन की भाँति परम्परागत वैयाकरण से भी जब **'जोन दौड़गया'** जैसा वाक्य कहकर यह प्रश्न पूछाजाता था, कि **'किसके विषय में क्या कहा जारहा है ?'**, तब वह किसी सन्दर्भ को न पाकर यह मानलेता था कि संम्भवतः 'वक्ता' की अभिरुचि का केन्द्र **'जोन'** है, न कि **'दौड़जाने'** की क्रिया। **'घोड़े बुरे पशु हैं'** या **'सच्चाई कम मिलती है'** जैसे वाक्यों के बारे में पूछे जाने पर वह कहेगा कि यहाँ **घोड़े** और **सच्चाई** विषय हैं, क्योंकि विन्यासात्मक दृष्टि से ये वाक्य भी एक 'विशिष्ट' और एक 'सार्वभौम' पद से मिलकर बने वाक्यों के ही सामानान्तर उस स्थिति के हैं, जिसके आधार पर स्पष्टतम रूप में 'कर्त्ता' और 'विधेय' के निर्धारण के परम्परागत सिद्धान्तों के विनियोग की शर्तें पूरी होजाती हैं। दूसरे शब्दों में, परम्परागत विषय-टिप्पणी-निकष का निर्धारण अव्यक्ततः **एक विशिष्ट और एक सार्वभौम** पद से बने साधारण वाक्यों में व्यक्त **द्रव्य और घटना** के विभेद के द्वारा होता है; और **दोनों सार्वभौम** या जातिशब्दों से बने वाक्यों में विषय-टिप्पणी-निकष का विनियोग उनकी बाह्य व्याकरणिक संरचना के द्वारा निर्धारित होता है।

अन्य कई विषयों की भाँति कर्त्ता और विधेय की परिभाषा के विषय में भी परम्परागत तर्कशास्त्र और व्याकरण परस्पर अत्यधिक आश्रित थे। वे दोनों ही अरस्तूवादी 'विधेयकथन की कोटियों' के सिद्धान्त का सहारा लेते थे, जिसके कारण इस दृष्टि को दार्शनिक आधार मिला कि, 'यह विश्व व्यष्टि मनुष्यों, पशुओं और वस्तुओं (**द्रव्यों**) से बसा हुआ है, और ये द्रव्य या तो विविध क्रियाओं या प्रक्रमों के

'आरम्भकर्त्ता' (कर्त्ता और हेतु) होते हैं या उनसे '**प्रभावित**' (साधन या सहिष्णु); इसकी कुछ निजी विशेषताएँ या गुण होते हैं; ये किसी विशिष्ट स्थान पर विशिष्ट समय में स्थित होते हैं; परिवर्त्तनीय होते हैं; इत्यादि। यह विश्वात्मक दृष्टिकोण किस मात्रा तक श्रेण्य भाषाओं की व्याकरणात्मक संरचना द्वारा निर्धारित हुआ है, यह बात विवादास्पद है। इस पर हमें यहां विचार करने की आवश्यकता नहीं है। सामान्य विन्यासात्मक सिद्धान्त में 'कर्त्ता' की धारणा के औचित्य केलिए इतना ही पर्याप्त है कि केवल एक ही नामात्मक अभिव्यक्तिवाले साधारण घोषणात्मक वाक्यों में न्याय (तर्क) और व्याकरण की कोटियों को अनिवार्यतः सहघटित रूप में ही स्वीकार करनाचाहिए।

यह माना जासकता है कि प्रत्येक भाषा में ही सामान्यतम वाक्य-प्ररूप की न्यूनतम विन्यासात्मक संरचना ऐसी वाक्यश्रेणी पर आधारित होती होगी, जिनके केन्द्र या 'नाभिक' के रूप में एक **नामिक** और एक **क्रिया** रहते होंगे (यहाँ '**नामिक**' के द्वारा **नाम**, **सर्वनाम**, **नामसंघ**, आदि का ग्रहण अभीष्ट है, और '**क्रिया**' में विशेषण को भी समवेत करते हुए लियागया है : तु०–८. १. १, ७. ६. ४)। हम देख हीचुके हैं कि **कर्त्ता** और **विधेय** की धारणाएं सर्वप्रथम ऐसे ही वाक्यों के आधार पर परिभाषित कीजाती हैं। तभी वे अधिक जटिल वाक्यों पर घटाईजाती हैं। इनके इस विस्तृत विनियोग के प्रसंग में ही 'कर्त्ता' के निरूपण के विषय में विविध प्रकार के तार्किक और व्याकरणिक निकषों के बीच संघर्ष पायाजाता है।

८. १. ५ कर्त्ता (साधक) और ईप्सित (कर्म)

अंग्रेज़ी वाक्य '**जोन किल्स बिल**' को विचारार्थ लें। इसकी नाभि दो नामों और एक क्रिया से बनी है। पिछले अध्यायों में हमने इस वाक्य के विश्लेषण में परम्परागत दृष्टि को अपनाकर '**जोन**' को 'कर्त्ता' (विषय) और '**किल्स बिल्**' को 'विधेय' माना है। इस विधेय की रचना '**किल्स**' रूपी सकर्मक क्रिया और '**बिल**' रूपी कर्म से मिलकर हुई है (तु०–६. २. ३, ७. ६. ४)। इस दृष्टि को अपनाने का प्रधान कारण यह है कि 'जोन किल्स बिल्' में '**जोन**' की व्याकरणात्मक स्थिति वही है, जो किसी 'अकर्मक' क्रिया से युक्त वाक्य के 'कर्त्ता' की होती है, जबकि '**किल्स बिल्**' की स्थिति 'अकर्मक वाक्य' के 'विधेय' के समतुल्य है (जैसा कि हम पहले देखचुके हैं कि 'कर्त्ता' और 'विधेय' की व्याख्या आरम्भ में सरल अकर्मक वाक्यों की दृष्टि से कीजाती है, जिनमें एक ही नाभि शब्द होता है)। '**जोन किल्स बिल**' और '**जोन रन्स(अवे)**' में इस बात में अन्विति है कि एकवचन '**जोन**' के साथ एकवचन क्रिया '**किल्स**' या '**रन्स**' का प्रयोग हुआ है; तथा 'कर्म' के रूप में '**बिल**' का वचन अन्विति की दृष्टि से अर्थहीन है। यदि नामों के स्थान पर सर्वनामों का प्रयोग कियाजाए, तब 'जोन' के स्थान पर प्रयोज्य सर्वनाम 'प्रथमा (कर्त्ता) एकवचन' में, 'जोन' के समान ही, प्रयुक्त होगा (तु०–७. ४. ५)। यह बात सकर्मक और अकर्मक दोनों जगह लागू होगी : '**ही**

किल्स बिल', '**ही रन्स अवे**'। सकर्मक वाक्य में 'बिल' का स्थानी सर्वनाम एक भिन्न रूप ग्रहण करेगा ('द्वितीया' का) : '**जोन किल्स हिम्**'। फिर, इन दोनों वाक्यों को किसी भी क्रम में जोड़ा जासकता है, और परिणत समस्त वाक्य मेंसे 'जोन' का एक स्थान पर प्रयोग त्यागा जासकता है : '**जोन किल्स बिल एण्ड रन्स अवे**', या '**जोन रन्स अवे एण्ड किल्स बिल**'। सहघटन के रचनान्तरण-नियमों के अनुसार '**जोन किल्स बिल**' की घटक संरचना '**जोन रन्स अवे**' से उस स्तर पर समरूप होनी चाहिए, जिसे इस प्रचलनात्मक रूपवाले सूत्र में दियागया है : **वा→नासं+क्रिसं** (तु०–६. ६. ४)। अंग्रेज़ी में अन्य भी कई रचनान्तरण-नियम हैं, जिनका आधार '**जोन किल्स बिल**' में **जोन** को कर्त्ता और '**किल्स बिल**' को विधेय के रूप में पहचानने पर निर्भर करता है : तु०-'**आई डिप्लोर जोन्स किलिङ् बिल**' : '**आई डिप्लोर जोन्स रनिङ् अवे**', आदि। और अन्तिम बात यह कि '**जोन किल्स बिल**' और '**जोन रन्स अवे**' दोनों को ही '**दैट्ज़् व्हट् ही डज़**' जोड़कर बढ़ाया जासकता है; जिसमें 'सर्वक्रिय' '**ड्**' या तो '**किल्स बिल्**' के स्थान पर प्रयुक्त होता है, या '**रन्स अवे**' के स्थान पर; केवल '**किल्स**' के स्थान पर नहीं।

यह अन्तिम तथ्य **कर्त्ता** और **विधेय** के परम्परागत सिद्धान्त के एक अन्य ही पक्ष से सम्बन्ध है, जिसकी चर्चा अबतक नहीं हुई है। सकर्मक और अकर्मक दोनों ही वाक्यों से 'अमुक क्या करता है?' प्रश्न का उत्तर मिलता प्रतीत होता है। यहां '**अमुक**' शब्द नाम का स्थानीय है, जबकि '**करना**' 'अकर्मक क्रिया' एवं 'सकर्मक क्रिया+कर्म' दोनों का प्रतिनिधित्व '**सर्वक्रिय**' (प्रो-वर्ब) के रूप में करता है (अंग्रेज़ी प्रश्न '**व्हट् डज़ एक्स डू**' में द्वितीय '**डू**' को 'सर्वक्रिय' कहाजाएगा)। जब भी ऐसी स्थिति होती है (और यह स्थिति अकर्मक या सकर्मक **स्थितिक** क्रियाओं में नहीं होती : ७. ६. ४.), 'सब्जेक्ट (विषय)-नाम' को वहां 'साधक' या 'कर्त्ता' कहाजासकता है। इसके विपरीत, सकर्मक वाक्यों में 'कर्म-नाम' को 'ईप्सित' या 'प्राप्य' कहा जासकता है। 'विषय' को धारणात्मक दृष्टि से 'कर्त्ता' (साधक) और 'कर्म' को 'ईप्सित' कहनेसे विगत अनुच्छेद में कही कुछ कसौटियों से विरोध उपस्थित होता है। उदाहरणार्थ, 'वैभव लुटेरों को लुभाता है' और 'सम्पदाएं लुटेरों को लुभाती हैं'—में, कर्त्ता-क्रिया-अन्विति के निकष के आधार पर, '**वैभव**' और '**सम्पदा**' को 'कर्त्ता' कहा जासकता है। किन्तु वास्तव में 'लुटेरा' नाम ही ऐसा है, जो 'कर्त्ता' के के कार्य को पूरा करसकता है। इस पर भी अंग्रेज़ी तथा लैटिन, और ग्रीक-समेत अन्य अनेक भाषाओं, के विषय में इस परम्परागत दृष्टि में कुछ तथ्य निहित है कि कर्तृवाच्य के सकर्मक वाक्य का 'कर्त्ता' वास्तव में क्रियाओं का आरम्भक होता है, और 'कर्म' उसका 'ईप्सित' या 'प्राप्य' होता है। शब्दराशि की संरचना इस बात को इस रूप में प्रतिध्वनित करती है कि अधिकांश सकर्मक क्रियाओं के कर्त्ता कर्तृवाच्य में सजीव नामों के रूप में होते हैं, जबकि अकर्मक क्रियाओं के '**कर्त्ता**' और सकर्मक क्रियाओं के '**कर्म**' सजीव-निर्जीव भेद के प्रति सापेक्षतया उदासीन होते हैं।

८. १. ६ निकषों में संघर्ष

भारोपीय परिवार से बाहर अनेक ऐसी भाषाएँ हैं (एस्किमो, बास्क, ज्यॉर्जियन, आदि), जिनमें सकर्मक क्रिया से युक्त कर्तृवाच्यवाले वाक्यों में कर्त्ता की पहचान के परम्परागत निकषों में प्रणालीबद्ध रूप में संघर्ष पायाजाता है। हम इस संघर्ष को एस्किमो के निदर्शन से दिखाएंगे। यदि नीचे दिये (१) और (२) वाक्यों की तुलना कीजाए (प्रत्ययों को 'अंग' से 'विभाजक-संकेत' से पृथक् करके दिखाया गया है; जिसमें 'अंग' हैं : **'किम्मी'**=कुत्ता, **'अग्ना'**='स्त्री, **'ताकु'**=देखना, आदि), तो यह देखने में आएगा कि प्रत्येक मेंसे एक नाम **'क्'** प्रत्यय से युक्त हैं, जबकि दूसरा 'प्' से (क्रिया-प्रत्ययों से यहां हमें प्रयोजन नहीं) :

(१) **किम्मी-प् अग्ना-क् ताकु-ब्-आ-आ='कुत्ता स्त्री को देखरहा है।'**

(२) **किम्मी-क् अग्ना-प् ताकु-ब्-आ-आ='स्त्री कुत्ते को देखरही है।'**

हम कहसकते हैं कि सकर्मक वाक्यों में '-प्' प्रत्यय 'कर्त्ता' (साधक) की सूचना देता है और '-क्' प्रत्यय क्रिया के 'ईप्सित' की। अतः इस निकष के आधार पर **'किम्मी-प्'** को वाक्य (१) का और **'अग्ना-प्'** को वाक्य (२) का **'कर्त्ता'** कहा जासकता है। किन्तु **'कुत्ता भागरहा है'** या **'स्त्री भागरही है'** जैसे वाक्यों में (जिनमें अकर्मक क्रिया विद्यमान है) **किम्मी और अग्ना** के साथ **'-क्'** प्रत्यय संयुक्त होता है। सकर्मक क्रिया के 'कर्म' और अकर्मक के 'कर्त्ता' में यह साम्य प्रायः **'साधकता'** का परिणाम कहाजाता है। हम इस विषय पर अधिक विचार 'सकर्मकता' के प्रसंग में करेंगे (८. २. ३), जिसे कि अभी हम सिद्ध मानकर चलरहे हैं।

यहां इतना संकेत देना ही पर्याप्त है कि सकर्मक वाक्यों के विषय में 'कर्त्ता' की मान्यता प्रायः ग्रीक और लैटिन एवं उन भारोपीय भाषाओं के व्याकरणात्मक ढाँचे पर आधारित है, जिनमें ये दो शर्तें पाईजाती हैं : (१) सकर्मक वाक्यों में प्रयुक्त दो नामों मेंसे एक (विशेषकर **'कर्तृधारणा'** पर आश्रित क्रिया का 'कर्त्ता' या साधक) उसी विभक्तिरूप से अंकित होता है, जिससे अकर्मक वाक्य का 'कर्त्ता' अंकित होता है ('प्रथमा' या 'निर्देशिका' विभक्ति से, तु०-७. ४. ५.); तथा (२) क्रिया के पुरुष और वचन का निर्धारण अकर्मक वाक्यों के 'कर्त्ता (विषय)-नाम' और सकर्मक वाक्यों के 'कर्त्ता (क्रिया का साधक)-नाम' के द्वारा होता है। इन दोनों शर्तों को हम अंग्रेजी में इसप्रकार दिखासकते हैं, यदि हम 'नाम' के स्थान पर 'सर्वनाम' का प्रयोग करें : **'ही सीज् देॅम्'**, **'दे सी हिम्'**, **'ही रन्स अवे'**, **'दे रन् अवे'**। (लैटिन, ग्रीक तथा कुछ अन्य भारोपीय भाषाओं में **'ही-हिम्'** का यह भेद 'नामों' के नपुंसकेतर रूपों में भी पायाजाता है; तु०—७. ४. ३।) जैसा कि हम देखहीचुके हैं कि 'ससाधक' रचनावाली एस्किमो जैसी भाषाओं में विभक्ति का विन्यासात्मक अभिलक्षण (और कभी-कभी 'अन्विति' भी, जिसे हमने दिखाया नहीं है) सकर्मक क्रिया के **'ईप्सित-नाम'** को 'कर्त्ता' निर्दिष्ट करता है। किन्तु यह संघर्ष 'कर्त्ता' को **'ईप्सित'** के स्थान पर 'साधक' मानने के विषय में हैं; और व्यावहारिक दृष्टि से अनेक भाषावि

'ससाधक' रचनावली 'एस्किमो' जैसी भाषाओं की दृष्टि से 'साधककर्त्ता'-'ईप्सित' के विभेद को प्रबल मानते हैं। वे इसे कहेंगे कि **'सकर्मक' क्रिया का 'कर्म' अकर्मक क्रिया का 'कर्त्ता' बनजाता है।**

लैटिन और ग्रीक के साथ-साथ अंग्रेज़ी में भी 'साधककर्त्ता' और 'ईप्सित' की, कर्मवाच्य-स्थित 'कर्त्ता' की व्याख्या करनेवाली, अन्य कसौटियों के साथ नितान्त प्रणाली-बद्ध संघर्ष में आती है। **'बिल इज़ किल्ड बाई जोन'** में करनेवाला (साधक) **'जोन'** है और ईप्सित **'बिल'**। इस दृष्टि से **'जोन किल्स बिल'** और **'बिल इज़ किल्ड बाई जोन'** ये दोनों समरूप हैं। किन्तु परम्परागत रूप में जहाँ प्रथम में **'जोन'** को 'कर्त्ता' मानाजाता है, वहाँ दूसरे में **'बिल'** को 'कर्त्ता' मानाजाता है। इसमें कारण निम्न हैं : (१) 'ईप्सित-नाम' की कर्मवाच्य में विभक्ति **प्रथमा या निर्देशिका** है (अंग्रेज़ी में 'ही' आदि सर्वनामों के द्वारा यह दिखाया जासकता है); (२) कर्तृवाच्य की भांति कर्मवाच्य का भी **'ईप्सित-नाम'** क्रिया के वचन का निर्धारण करता है (**बिल् हिट्स देॅम', 'दे हिट् बिल'; 'बिल रन्स अवे', 'दे रन् अवे'; 'बिल इज़ हिट्', 'दे आर हिट्'**); (३) कर्मवाच्य का **ईप्सित-नाम** भी सकर्मक या अकर्मक कर्तृवाच्य के **साधक-कर्त्ता** के समरूप ही, सहघटन में, कार्य करता है : **'बिल चैलेंज्ड जोन टु ए डयूअल् एण्ड वाज़् किल्ड', 'बिल फेॅल् डाउन-स्टेअर्स एण्ड वाज़् किल्ड'**। 'कर्मवाच्य में 'साधक' की जगह 'ईप्सित' 'कर्त्ता' होता है', यह कहने का एक अन्य कारण यह भी है कि 'साधक' एक वैकल्पिक और 'बहिर्नाभिक' घटक है (कम-से-कम पृष्ठ-संरचना में यह 'नाभि' से बाहर ही रहता है)। **'बिल वाज़् किल्ड'** स्वतः पूरा वाक्य है ('बिल मारा गया' भी पूर्ण वाक्य है); किन्तु **'जोन किल्ड'** को पूर्ण नहीं कहा जासकता। **'बिल वाज़ किल्ड बाई जोन'** में **'बाई जोन'** को परम्परा में 'कर्तृमय' अधियोजी मानाजाता है और उसे विन्यासात्मक दृष्टि से 'करण' के तुल्य स्थिति का कहा जासकता है : यथा, **'बिल् वाज़ किल्ड विद ए नाइफ़'** में **'विद ए नाईफ़'** की स्थिति 'करण' की है (तु०—७. ४. ५)।

८. १. ७ कर्त्ता (विषय) के विविध प्रकार

हम आगे चलकर कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य की चर्चा करेंगे (८. ३. ३.)। यहां पर यह कहदेना उचित ही होगा कि अनेक भाषाविदों ने कर्मवाच्य के 'व्याक-रणिक' और 'तर्काश्रित' कर्त्ताओं केबीच यह कहकर विभेद किया है कि **'बिल वाज़् किल्ड बाई जोन'** में **व्याकरणात्मक** 'कर्त्ता' 'बिल' है, जबकि **तर्काश्रित** 'कर्त्ता' **'जोन'** है। इसकी तुलना में कर्तृवाच्य **'जोन किल्ड बिल'** में व्याकरणात्मक और तर्काश्रित दोनों ही दृष्टियों से 'जोन' **कर्त्ता है (और बिल 'कर्म' है)**।

'व्याकरणात्मक' और 'तर्काश्रित' कर्त्ता केबीच इसप्रकार का संज्ञात्मक विभेद शोम्स्की ने अभी हाल ही में स्वीकारकिया है। उसने यह भी सुझाया है : 'अन्तःसंरचना के कर्त्ता (विषय)-विधेय' के लगभग संवादी रूप में ही पृष्ठ-संरचना

में **'विषय-टिप्पणी'** के बीच भी सम्बन्ध मौलिक व्याकरणात्मक ही होता है। इस प्रकार **वाक्य के 'विषय'** को सर्वाधिक बाएँ स्थित **'नाम'** के रूप में कहा जासकता है, जोकि पृष्ठ-संरचना में तात्कालिक रूप से **'संर'** से अभिभूत होता है; जबकि **वाक्य** के **'टिप्पणी-भाग'** को शेष सूत्र के रूप में कहा जासकता है। इस सुझाव में कुछ सत्यता है। किन्तु 'विषय' को केवल 'पृष्ठ-संरचना' के 'व्याकरणिक कर्त्ता' से ही एकरूप नहीं कहा जासकता। शोम्स्की के सुझावों के अनुसार, **'यह पुस्तक'** को निम्न दोनों ही वाक्यों में सहेतुक रूप से 'विषय' के रूप में घोषित किया जासकता है: **'यह पुस्तक लाखों लोग पढ़चुके हैं'** (कर्तृवाच्य) और **'यह पुस्तक लाखों लोगों द्वारा पढ़ीगई है'** (कर्मवाच्य); जबकि सत्य यह है कि इनमें से परवर्त्ती वाक्य में ही यह व्याकरणिक कर्त्ता है। फिर यह भी आश्चर्यकर ही होगा, यदि 'विषय' की धारणा को 'नाभिक अभिव्यक्ति' तक ही सीमित समझाजाए (जबतक कि इसे **'द्रव्य'** और **संयोग** के विभेद केसाथ ही संयुक्त न कर दियाजाए)। रूसी वाक्य 'बेझाल् इवान्' (इवान (जौन) दौड़गया) में **'बेझाल्'** की प्रथम स्थिति यह संकेत देसकती है कि इस क्रिया को ही **'विषय'** मानलेना चाहिए (**'वक्ता द्वारा उद्घोषित'**—८. १. २); यद्यपि तार्किक और व्याकरणिक आधार पर **'इवान'** ही इसका **'कर्त्ता'** ठहरता है। 'लैटिन' वाक्य **'इन्तेर्फेक्तुस् एस्त काएज़ार'** (हतोऽस्ति सीज़रः=सीज़र मारागया है) में 'विषय' के रूप में **'इन्तेर्फेक्तुस्** (एस्त)' को सिद्ध किया जासकता है, यद्यपि व्याकरणिक आधार पर **'काएज़ार'** को, और तार्किक आधार पर किसी अनुक्त **'कारक'** को, कर्त्ता कहा जासकता है।

उक्त उदाहरणों का विमर्श इस बात को स्पष्ट करता है कि इस विवेचन में 'कर्त्ता' के 'व्याकरणिक' और 'तार्किक'-रूपी द्विधा विभाजन से बढ़कर कुछ और भी विभेदों को पहचानने की आवश्यकता है। यदि हम 'टॉपिक' या 'विषय' के रूप में 'मनोवैज्ञानिक कर्त्ता' के एक अन्य विभेद को भी जोड़दें, तब भी उन सब विभेदों का अन्तर्ग्रहण सम्भव नहीं होपाता, जिन्हें कभी न कभी व्याकरण या तर्कशास्त्र में 'कर्त्ता' की धारणा के साथ सम्बद्ध मानाजाता है।

इस खण्ड का वास्तविक प्रयोजन यह दिखानामात्र था कि सार्वभौम रूप में कर्त्ता और विधेय की धारणा का विनियोग केवल उन वाक्यों में ही सम्भव है, जिनका 'नाभिक' एक नामिक अभिव्यक्ति और एक अकर्मक विधेय के मिलने से बनता है; और इस प्रकार के वाक्यों में 'कर्त्ता' की परिभाषा लगभग उन्हीं निकषों पर आधारित होती है, जो सामान्य वाक्य-रचना-विज्ञान में 'नाम' की परिभाषा निश्चित करते हैं। जैसा कि हम देखचुके हैं कि कर्मवाच्य में, और एकाधिक 'नामात्मक' प्रयोग से युक्त नाभिक वाले वाक्यों में, परम्परागत निकष विभिन्न भाषाओं में परस्पर संघर्षरत प्रतीत होते हैं। यहां यह कहदेना भी उचित ही है कि 'कर्त्ता' की पहचान के प्रायः जितने भी निकष 'शुद्ध रूपात्मक' दृष्टि से बताएगए हैं, उन सबमें विभक्ति, अन्विति, समन्वयन, आदि 'पृष्ठीय' स्थितियों को स्थान दियागया है। अगले

खण्ड में हम वाक्य के **कर्त्ता** और **कर्म** पर कुछ भिन्न दृष्टि से विचार करेंगे। उससे पहले हमें 'अधियोजी' की धारणा पर अवश्य विचार करलेना चाहिए।

८. १. ८ अधियोजी

परिभाषा के अनुसार 'अधियोजी' उस 'शीर्ष' के साथ सम्बद्ध एक 'संशोधक' (मोडिफ़ायर) है, जिसपर वह आश्रित होता है तथा जिससे वह वाक्य में बिना किसी विन्यासात्मक परिवर्त्तन के ही अलग भी किया जासकता है ('संशोधक' और 'शीर्ष' की परिभाषा केलिए, दे०-६. ४. २)। यहां हमारा प्रयोजन, निम्न स्तर के घटक 'अधियोजियों' (यथा 'नामसंघ' में विशेषक 'विशेषण' या क्रियासंघ में विशेषक 'क्रियाविशेषण' आदि) से न होकर, 'वाक्य-अधियोजियों' से है। इस खण्ड के आरम्भ में ही 'वाक्य-अधियोजियों' के उदाहरण दियेगए हैं (यथा, '**जोन किल्ड बिल इन सेंण्ट्रल पार्क ऑन् सण्डे**' में '**इन् सेंण्ट्रल पार्क**' और '**ऑन् सण्डे**')।

ये 'वाक्याधियोजी' पद, पदबन्ध या वाक्यान्तर आदि मेंसे किसी भी क्रम के होसकते हैं। उदाहरणार्थ, '**ज्यों ही वह आया**' (वाक्यान्तर), '**तीन घण्टे बाद**' (पदबन्ध), और '**तत्काल**' (पद) तीनों ही नाभिक वाक्य —'**श्याम कार्यालय चलागया**'— के साथ 'अधियोजी' के रूप में जोड़े जासकते हैं। अन्यथा, यह स्वयं में एक पूर्ण वाक्य है। फिर, अर्थात्मक दृष्टि से ये अधियोजी विविध श्रेणियों में स्थित होसकते हैं : **काल, स्थान, प्रयोजन, परिणाम, अनुबन्ध,** आदि मेंसे अधियोजी किसी भी प्रकार के होसकते हैं। सभी विभिन्न श्रेणियां सभी क्रमों में व्यक्त नहीं होतीं। किन्तु हम यहाँ इन विस्तारों में जाना नहीं चाहेंगे। इस खण्ड में हम अपना ध्यान केवल **समय** और **स्थान** के अधियोजियों तक ही सीमित रखेंगे; जिनका स्थान भाषा की संरचना में विशिष्ट रूप से रोचक है।

८. १. ९ अधियोजी और पूरक

कालात्मक और स्थानात्मक अधियोजियों के विषय में पहली अवधेय बात यह है कि पद और पदबन्ध के स्तर पर (वाक्यान्तर के स्तर पर नहीं) वे आन्तरिक संरचना में कालात्मक और स्थानात्मक 'पूरकों' से बहुधा एकरूप होते हैं (रैंक या क्रम (स्तर) के लिए देखें, ५. ५. १)। अबतक इस 'पूरक' संज्ञा का प्रयोग 'योजक' (कौपुला) के साथ संघात में आनेवाली नाभिक या विशेषणिक अभिव्यक्तियों केलिए ही किया गया है : '**मेरी इज़् ए ब्यूटीफुल गर्ल**' और '**मेरी इज़् ब्यूटीफुल**' (तु०-७. ६. २)। परम्परागत व्याकरण में 'पूरक' संज्ञा का प्रयोग उस किसी भी पद या पदबन्ध केलिए (क्रिया को छोड़कर) होसकता है, जो विधेय का अनिवार्य घटक हो : उदाहरणार्थ, सकर्मक क्रिया का 'कर्म' (यथा '**जोन कॉट् द बॉल्**' में '**द बॉल्**')। 'विधेय' का पूरक विन्यासात्मक दृष्टि से अपेक्षित होता है, ताकि वह उस विधेय की रचना को 'पूर्ण' करसके। अधिक विशिष्ट रूप में इस संज्ञा—'पूरक'—का प्रयोग

'**इन् सेॅण्ट्रल पार्क**' और '**ऑन सण्डे**' जैसी क्रियाविशेषणिक अभिव्यक्तियों केलिए होता है : यथा, '**द पैरेड वाज़् इन् सेॅण्ट्रल पार्क**' या '**द डिमौन्स्ट्रेशन वाज़ ऑन् सण्डे**' में। इन दोनों वाक्यों में स्थानात्मक और कालात्मक प्रयोग निश्चय ही 'अधियोजी' के रूप में नहीं हैं; क्योंकि इनके बिना शेष भाग विन्यासात्मक दृष्टि से अपूर्ण रहता है। सिद्धान्ततः, 'अधियोजी' और 'पूरक' केबीच का विभेद पर्याप्त स्पष्ट है : दोनों मेंसे प्रथम वाक्य का **बहिर्नाभिक और वैकल्पिक घटक** है, जबकि परवर्त्ती उसका '**नाभिकीय**' **और अनिवार्य घटक** है।

किन्तु व्यावहारिक रूप में वाक्याधियोजियों और विधेय-पूरकों में अन्तर इतना स्पष्ट नहीं है। जैसा कि अभी हमने देखा, वे ही शब्द एक जगह 'वाक्याधियोजी' के रूप में प्रयुक्त होसकते हैं, तो दूसरी जगह 'विधेय-पूरक' के रूप में। अकेला यही तथ्य विशिष्ट महत्त्व का नहीं है। अब हम अंग्रेज़ी के '**द डिमौन्स्ट्रेशन ऑकर्ड ऑन् सण्डे**' जैसे वाक्य को लेते हैं। अंग्रेज़ी के परम्परागत व्याकरणों में '**ऑकर**' को '**अकर्मक क्रिया**' के रूप में मानाजाता है (परिभाषा के अनुसार जो केवल 'नाभिक' प्रयोग के साथ मिलकर नाभिक-वाक्य बनाती है, और जिसे किसी 'पूरक' की आवश्यकता नहीं होती)। 'ऑकर' का यह श्रेणीकरण बताता है कि '**द डिमौन्स्ट्रेशन ऑकर्ड**' स्वतः पूरा वाक्य है (जबकि * '**दि डिमौन्स्ट्रेशन वाज़्**' पूर्ण नहीं हैं); इसलिए यहां '**ऑन् सण्डे**' को '**अधियोजी**' कहनाचाहिए। दूसरी ओर, '**द डिमौन्स्ट्रेशन वाज़् ऑन सण्डे**' और '**द डिमौन्स्ट्रेशन ऑकर्ड ऑन् सण्डे**' का अर्थात्मक सम्बन्ध इस बात को बताता है कि '**वाज़्**' और '**ऑकर्ड**' एक ही प्रकार के अवयव हैं, और इसीलिए '**ऑन् सण्डे**' को दोनों जगह '**विधेयात्मक पूरक**' के रूप में कहाजाना चाहिए।

यह पहले ही कहा जाचुका है कि '**मेरी इज़् ब्यूटीफ़ुल**' जैसे वाक्य में 'योजक' (कॉपुला) जैसा कोषीय अवयव नहीं है; बल्कि **काल, भाव और पक्ष** की सूचनामात्र देने केलिए प्रयुक्त एक व्याकरणिक 'स्थानीय'—इज़्—मात्र है (तु०-७. ६. ३)। अब हम इसी सिद्धान्त को उन वाक्यों के विश्लेषण पर भी लागू करसकते हैं, जिनमें '**बी**' (होना) की उपलब्धि कालात्मक और स्थानात्मक पूरक (यथा—'**ऑन् सण्डे**' या '**इन् सेॅण्ट्रल पार्क**') के साथ होती है; और इसीलिए इस बात में भी कोई तर्क नहीं दिखाईदेता कि **ऑकर, हैप्पन, टेक-प्लेस,** जैसी क्रियाओं को भी '**द डिमौन्स्ट्रेशन ऑकर्ड ऑन् सण्डे**' जैसे वाक्य में कालसूचक या स्थानात्मक (अधिकरण) '**योजक**' क्यों न स्वीकार कियाजाए ?

८. १. १० अधिकरण (स्थानात्मक) और कालसूचक पूरक

'**द डिमौन्स्ट्रेशन वाज़्/ऑकर्ड ऑन् सण्डे**' और '**द पैरेड वाज़्/टुक प्लेस इन् सेॅण्ट्रल पार्क**' जैसे वाक्यों की अन्तर्वर्त्तिनी घटक-संरचना के विवरण केलिए निम्न दो सूत्र क्रमशः अपेक्षित प्रतीत होंगे :

(१) **वा→नामिक+काल**

(२) **वा→नामिक+स्थान**

ये दोनों सूत्र उस तीसरे सूत्र के अतिरिक्त हैं, जो अ-कालात्मक और अ-स्थानात्मक वाक्यों के अकर्मक नाभिक ('विशेषणात्मक' नाभिक समेत) के आधार रूप में स्थित है :

(३) **वा→नामिक+क्रियात्मक**

इसप्रकार के विवरण में स्थित कुछ गूढार्थों की चर्चा हम बाद में करेंगे (८. ४. २)। किन्तु, इस स्थल पर 'अधियोजी' और 'पूरक' के विभेद के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न अवश्य उठते हैं।

इनमें से प्रथम नियम के अधीन कालसूचक पूरक के साथ प्रयुक्त नामिक-श्रेणी के विषय में एक महत्त्वपूर्ण प्रतिबन्ध अपेक्षित है। '***जोन वाज़् येस्टर्डे**' और '**द डॉग अॉकर्ड येस्टर्डे**' जैसे अ-व्याकरणिक वाक्यों को बहिष्कृत किया ही जाना चाहिए। अतः हमें अंग्रेज़ी के तथाकथित '**प्रथम व्यवस्था**' और '**द्वितीय व्यवस्था**' के नामिकों केबीच विभेद दिखाकर कहना चाहिए कि '**नामिक+काल**' सूत्रवाले वाक्यों में केवल द्वितीय कोटि के नामिक ही प्रयुक्त होनेचाहिएं।

प्रथम व्यवस्था के नामिकों को '**द्रव्यात्मक नामिक**' कहा जासकता है; क्योंकि अधिकांश स्पष्ट निदर्शनों में वे **व्यक्ति**, **पशु**, **वस्तु**, या **स्थान** का ही बोध कराते हैं। 'धारणात्मक' दृष्टि से वे सर्वाधिक 'नामवत्' नामिक हैं (तु०-७. ६. १)। इनके विपरीत, द्वितीय व्यवस्था के नामिक द्रव्यात्मक बोध नहीं कराते। उनमें कुछ शब्द (**घटना**, **संयोग**, आदि) कोषीय भी होसकते हैं (तु०-४. ३. १), जबकि अधिकांश की व्युत्पति सूत्र-(३) से जनित वाक्य-नाभिकों से रचनान्तरण की प्रक्रिया द्वारा होसकती है। उक्त '**द डिमौन्स्ट्रेशन**' इसी प्रकार का उदाहरण है।

द्वितीय व्यवस्था के नामिकों के इस लक्षण पर ध्यान जाते ही कालसूचक **अधियोजी** और कालसूचक **पूरक** के बीच रचनात्मक विभेद और भी असन्तोषजनक प्रतीत होनेलगता है। हम पूछ सकते हैं कि इन वाक्यों में अन्तःसंरचनी विभेद क्या है : '**द डिमौन्स्ट्रेशन टुक प्लेस ऑन् सण्डे**', '**दे डिमौन्स्ट्रेटेड ऑन् सण्डे**', या '**दे हेल्ड द डिमौन्स्ट्रेशन ऑन् सण्डे**', आदि। यदि इनमें कोई अन्तर है ही, तो वह अन्तःसंरचना में '**नामिक+काल**' जैसे घटक-संरचनी विभेद के निदर्शन से सिद्ध नहीं होता; ना ही वह '**नामिक+आख्यातिक+काल**' से स्पष्ट होता है। बल्कि, प्रतीत तो यह होता है कि ये सभी वाक्य एक सी ही अन्तर्हित घटक-संरचना से युक्त हैं, जिसके साथ ऐसे अतिरिक्त विन्यासात्मक अभिलक्षण अन्वित हो भी सकते हैं और नहीं भी, जो पृष्ठ-संरचना में एक अथवा दूसरी 'अभिव्यक्ति' का चुनाव निर्धारित करते हैं। इससे सूचित होता है कि हमें व्याकरण में एक ऐसे नियम का विधान करनाचाहिए, जो '**वा→नामिक+आख्यातिक**' सूत्र के परिणाम को इस रूप में परिणत करे कि कर्त्ता की स्थिति में '**वा→नामिक+काल**' की परिणति भी समवेत होसके।

रचनान्तरण से व्युत्पन्न द्वितीय व्यवस्था के नामिक अधिकरण पूरक वाले

वाक्यों में भी आसकते हैं और कालसूचक पूरकवाले वाक्यों में भी : 'द **डिमौन्स्ट्रेशन टुक् प्लेस इन् सेंट्रल पार्क**', 'द डे॑थ **ऑफ़ चर्चिल हैज़् ऑकर्ड इन् लन्दन**', आदि । किन्तु, यह भी अवधेय है कि केवल द्वितीय व्यवस्था के नामिक ही नहीं, अपितु प्रथम व्यवस्था के विशुद्ध द्रव्यात्मक नामिक भी, अधिकरण पूरक के साथ प्रयुक्त होते हैं : तु०-'**जोन वाज़् एट् होम्**' की तुलना में '**जोन् वाज़् ऑन् सण्डे**'।

प्रथम और द्वितीय व्यवस्था के नामिकों का यह विभेद '**बी**' (होना) को छोड़कर अन्य कालात्मक और स्थानात्मक योजकों (कॉपुला) के वितरण की असममितता की दृष्टि से भी प्रासंगिक है। न तो '**जोन ऑकर्ड ऑन् सण्डे**' ही सम्भव है, और न '**जोन टुक प्लेस एट् होम्**' ही (जबतक कि किसी असामान्य तर्क्य कोटिबन्धन के द्वारा ही '**जोन**' की कोटि ऐसे रूप में निर्धारित न कीजाए कि इससे '**जोन का जन्म**' इत्यादि भावना लीजाए; और यह कोटिबन्धन इस बात पर निर्भर करता है कि नामिकों कि जिन दो श्रेणियों के बीच विभेद पर हम विचार कररहे हैं, उनके आधार पर इसे '**तदर्थ**' रूप में ऐसा माना भी जासकता है या नहीं। यह 'असममितता' इस तथ्य में निहित है कि '**बी**' (भू=होना) का प्रयोग द्वितीय व्यवस्था के नामिकों के साथ, काल और स्थान के सूचक दोनों विधेयों के साथ प्रयोग की दशा में, होता है ; जबकि **ऑकर, टुक प्लेस, हैप्पन,** आदि का प्रयोग काल और स्थान के सूचक विधेयों वाले प्रथम व्यवस्था के नामिकों के साथ होता है। इन वितरणात्मक तथ्यों को निम्न रूप में संक्षिप्त किया जासकता है (जिसमें '**ऑकर**' की श्रेणी में ही '**टेक प्लेस**', '**हैप्पन**', आदि को भी समाहित किया जासकता है) :

	कालसूचक	**अधिकरण**
प्रथम व्यवस्था	*__जोन__ वाज़् ऑन् सण्डे *__जोन__ ऑकर्ड ऑन् सण्डे	**जोन** वाज़् इन् सेंट्रल पार्क **जोन** ऑकर्ड इन् सेंट्रल पार्क
द्वितीय व्यवस्था	'द डिमौन्स्ट्रेशन वाज़् ऑन सण्डे' 'द डिमौस्ट्रेशन ऑकर्ड ऑन् सण्डे'	द डैमोन्स्ट्रेशन् वाज़ इन् सेंट्रलपार्क 'द डिमौन्स्ट्रेशन ऑकर्ड इन् सेंट्रल पार्क

'**ऑकर, हैप्पन, टेक प्लेस**', आदि से युक्त विधेयों में विविध सन्दर्भों में अर्थात्मक विभेद होने सम्भव हैं। पर इन विधेयों में एक बात समान है: ये **अस्थितिक हैं** (तु०-७. ६. ४)। क्योंकि प्रथम व्यवस्था के नामिक, एक स्थान से दूसरे पर विचलित होसकने पर भी, कालसह होने के कारण, 'इकाइयों' को संकेतित करते हैं, और क्योंकि द्वितीय व्यवस्था के नामिक कालदिगात्मक दृष्टि से **तात्कालिक** 'घटनाओं' को सूचित करते हैं, अतः इस तथ्य का कारण, कि स्थान सूचक और कालसूचक वाक्यों की पृष्ठ-संरचना में '**ऑकर**', '**हैप्पन**', आदि का प्रयोग द्वितीय व्यवस्था के साथ होता है प्रथम के साथ नहीं, शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है। प्रथम

व्यवस्था के स्थानसूचक और कालसूचक विधेय अनिवार्यतः '**स्थितिक**' होते हैं।

किन्तु केवल प्रथम और द्वितीय व्यवस्था के नामिकों का विभेद ही '**जोन वाज़् ऑन् सण्डे**' जैसे वाक्यों के अ-घटन की व्याख्या में समर्थ नहीं है। ऐसा कालान्तर की न्यूनता के कारण नहीं है; क्योंकि कालान्तर की दीर्घता से युक्त '**सौक्रेट्स वाज़् इन् द फ़िफ़्थ सेंचुरी बी. सी.**' जैसा वाक्य भी असम्भव है। इसके स्थान पर हमें ऐसा कहनाचाहिए : '**सौक्रेट्स लिव्ड इन् द फ़िफ़्थ सेंचुरी बी. सी.**'। परम्परागत व्याकरण में सही रूप में इसमें '**इन् द फ़िफ़्थ सेंचुरी बी. सी.**' को 'विधेय' मानागया है। इसी तरह *'**दिस बिल्डिंग हैज़ बीन् फ़ौर थर्टी ईयर्स**' के स्थान पर हम कहेंगे '**दिस् बिल्डिंग हैज़् एग्ज़िस्टेड फ़ौर थर्टी ईयर्स**'। इससे पताचलता है कि '**रहना**', '**स्थित होना**', '**लिव**', '**एग्ज़िस्ट**', आदि का योग प्रथम व्यवस्था के नामिक कर्त्ताओं के साथ कालसूचक योजक के रूप में होता है (यद्यपि इनमें से 'रहना' और 'लिव' का सम्बन्ध सजीव प्राणियों केसाथ ही है)। स्थानात्मक वाक्यों में '**बी**' या '**होना**' की भांति वे केवल व्याकरणात्मक '**स्थानीय**' की भांति हैं। इस विषय से सम्बद्ध अन्य युक्ति ८. ४. ३ में विचारी जाएगी।

८. १. ११ लकार और कालसूचक अधियोजी

जितने भी निदर्शन यहां उन व्याकरणात्मक वाक्यों के दियेगए हैं, जिनमें परम्परागत रूप में मान्य कालसूचक अधियोजी अन्तर्हित हैं, उनमें व्यक्ततः वाक्य के लकार और अधियोजी के बीच सात्म्यता के अनुबन्ध का पालन कियागया है। इस अनुबन्ध को तोड़ते ही अधियोजी से युक्त होनेवाला वाक्य अव्याकरणात्मक बन जाता है : यथा—'**जोन किल्ड बिल लास्ट वीक्**', '***जोन किल्ड बिल नेंक्स्ट वीक्**' की तुलना में। इस बात पर अधिक श्रम करने की आवश्यकता नहीं। फिर भी, यह अवधेय है कि इससे कालात्मक अधियोजी को रचनात्मक दृष्टि से वाक्य से स्वतन्त्र मानने की परम्परागत धारणा अवश्य संदिग्ध होउठती है। यह सत्य है कि जिस वाक्य के साथ यह कालात्मक अधियोजी प्रयुक्तहोता है, उससे इसे पृथक् (वियोजित) किया जासकता है (८. १. १)। किन्तु इस पर भी प्रजनक नियमों द्वारा वाक्य केसाथ इसके '**संयोजन**' के नियमों में वाक्य के लकार और पक्ष के साथ इसकी सात्म्यता की बात तो स्पष्टतः विहित होनी ही चाहिए। अंग्रेज़ी (तथा अन्य लकारयुक्त भाषाओं) के सम्बन्ध में सर्वाधिक अधुनातम रचनान्तरक प्रयासों में नियम को इस क्रम में व्यवस्थित कियाजाता है कि विशिष्ट लकार के प्रयोग-नियम परवर्त्ती कालात्मक अधियोजी का चुनाव-क्षेत्र परिमित करदेते हैं। प्रजननात्मक नियमों की प्रणाली में सात्म्यता के अनिवार्य अनुबंधों को व्यवस्थित करने का सम्भवतः यही सर्वोत्तम तरीका है। मुख्य बात यह है कि कालात्मक अधियोजी अनिवार्य (नाभिकीय) लकार की कोटि के साथ सात्म्यता के अनुबन्धों से आबद्ध भी है।

अब हम कर्त्ता, कर्म के बीच विभेद तथा इसके साथ सम्बद्ध अन्य कई विषयों

को लेंगे। इस विषय में हमें कदाचित् सामान्य की अपेक्षा अधिक विस्तार में ही जाना होगा। कारण यह कि वर्त्तमान काल में **'सकर्मकता'** और **'वाच्य'** से सम्बद्ध समस्याएं प्रजनक व्याकरण में प्रमुख संशोधनों का हेतु बनरही हैं। सम्भाव्य विकास की एक दिशा की झलक हम ८. ३. ६ में देंगे। परन्तु इससे पहले हमें इस सम्बन्ध में 'प्राप्त सामग्री' एवं 'परम्परागत पहुँच' से परिचित होनाचाहिए।

८. २ सकर्मकता और साधकता

८. २. १ एकपदा और द्विपदा क्रियाएं

वाक्य-नाभिकों में जितने नामिकों के साथ क्रियाएं प्रयुक्त होती हैं, उस संख्या के आधार पर क्रियाओं के श्रेणीकरण से परिचय यहां सावसर होगा। इस श्रेणीकरण के आधार पर हम कहेंगे कि **'मरजाना'** जैसी क्रिया एक ही नाम या नामिक से संयुक्त होने के कारण **'एकपदा'** कहीजाती है; क्योंकि 'क्रिया' के साथ का 'पद' (स्थान) एक ही नामिक से भराजाता है और **'वाक्य-नाभिक'** का सृजन होता है: यथा—**'जोन मरगया'**। किन्तु, **'जाना'** (हि०) अथवा **'किल्'** (अं०) जैसी सकर्मक क्रिया कर्त्ता और कर्म द्वारा दोनों ओर से—दो स्थानों (पदों) पर—आबद्ध होने से **'द्विपदा'** कहलाती है: **'राम गाँव गया'** (हि०) या **'जोन किल्ड बिल'** (अं०)। किन्तु, **'देना'**, **'रखना'** जैसी क्रियाएँ **त्रिपदा** भी कहलाती हैं, जिनके साथ **कर्त्ता** और **कर्म** के अतिरिक्त **अप्रत्यक्ष कर्म** (दिशात्मक अधिकरण, सम्प्रदान, आदि : ७. ४. ६) का प्रयोग होता है: **'राम ने श्याम को पुस्तक दी'**, **'श्याम ने पुस्तक मेज पर रखी'**, आदि। इन त्रिपदा क्रियाओं, अप्रत्यक्ष कर्म और दिशात्मक अधिकरण के प्रश्न पर हम बाद में विचारकरेंगे (८. २. १४)।

८. २. २ सकर्मक संज्ञा

सकर्मकता का परम्परागत धारणात्मक दृष्टिकोण एवं स्वयं यह संज्ञा बताते हैं कि क्रियापद द्वारा अभिव्यक्त कार्य का प्रभाव 'कर्त्ता' से 'ईप्सित' (या प्राप्य) की ओर 'अन्तरित' होजाता है। अंग्रेज़ी के अनेक वाक्यों के सम्बन्ध में सकर्मकता की धारणात्मक परिभाषा की अनुपयुक्तता पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। **रोबिन** के शब्दों में : "अर्थात्मक परिभाषाओं की निर्बलता इन उदाहरणों से स्पष्ट चित्रित है : **'आई हिट् यू'** में 'हिट्' एक सकर्मक क्रिया है, जोकि 'मेरे मुक्के' से 'तुम्हारी' ओर 'अन्तरित होती' कहीजाती है, किन्तु **'आई हियर यू'** में **'हियर'** क्रिया यद्यपि पूर्ववत् उन्हीं दोनों सर्वनामों से उसी तरह सकर्मक रूप में सम्बद्ध है, फिर भी इसका **'अन्तरण'** सर्वथा विपरीत दिशा में होता कहा जासकता है। ठीक इसीप्रकार की विन्यासात्मक स्थिति में प्रयुक्त **'आई लव यू'** में प्रयुक्त 'लव' क्रिया के 'कार्य' के

सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि यह कार्य कौन किसके प्रति कररहा है। यहाँ तक तो सकर्मकता की परम्परागत धारणा की आलोचना ठीक है।

किन्तु 'रूपात्मक' और 'धारणात्मक' परिभाषा के बीच एकबार हमें फिर विभेद करलेना चाहिए। यही पर्याप्त है कि धारणात्मक परिभाषा 'द्विपदा' क्रियाओं पर पूरी तरह लागू होती है और उन्हें 'सकर्मक' सिद्ध करती है। इस नियम के प्रति मूक स्वीकृति (तु०–७. ६. १) का ही परिणाम है कि हमने 'अग्ना' (स्त्री) को 'साधक' और 'किम्मी' (कुत्ते) को 'उद्देश्य' के रूप में (एस्किमो वाक्य **'किम्मीक् अग्नाप् ताकुबाश्रा'** में) कहा था : ८. १. ६। फिर, यह भी कहा जासकता है कि **'मैं तुम्हें सुन रहा हूँ'** या **'मैं तुम्हें देखरहा हूँ'** वाक्यों से भी (तदर्थ अंग्रेज़ी आदि के वाक्यों से भी) लोग यह सोचसकते हैं कि **'देखने'** और **'सुनने'** की क्रिया उस व्यक्ति से ही आरम्भ हुई है, जो इन क्रियाओं को **'कररहा'** है। मनोविज्ञान या शरीर-क्रियाविज्ञान की दृष्टि से **'प्रत्यक्ष'** की यह व्याख्या ठीक है या नहीं, यह बात यहां असंगत है। यदि हिन्दी आदि उन भाषाओं के देशी वक्ता, जिनमें **देखना, सुनना, सूंघना,** आदि क्रियाएँ अंग्रेज़ी की **हिट्, किल,** आदि क्रियाओं के समानान्तर 'सकर्मक' ही हैं, 'प्रत्यक्ष' की व्याख्या इस रूप में करते हैं : **वह कर्त्ता से कर्म की ओर बढ़ने वाली एक 'सक्रियता' है;** तब यह अकेला तथ्य ही इस बात का संकेतक होगा कि सकर्मकता की परम्परागत धारणा का कुछ अर्थात्मक आधार भी है। (वास्तव में अंग्रेज़ी में इन क्रियाओं के समानार्थकों को सर्वथा समानान्तर नहीं कहा जासकता। वहाँ **सी, हीयर,** क्रियाएँ **स्थितिक** और **अप्रगतिक** हैं; और **'क्रियमाण (प्रगतिक) क्रियाओं'** की भांति वे **'अमुक क्या कररहा है ?'** प्रश्न के उत्तर देनेवाले वाक्य में सामान्यतः प्रयुक्त नहीं होतीं (तु०-७. ६. ४।) यद्यपि रचनात्मक दृष्टि से सकर्मक क्रियाओं की श्रेणी में, अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं में, ऐसी अनेक क्रियाएँ हैं, जिनके कार्यों के परिणाम को **'कर्त्ता से कर्म की ओर जाता'** नहीं कहाजासकता; फिर भी यह सत्य है कि परम्परागत सकर्मकता की धारणा यदि अधिकांशतः नहीं तो अनेकत्र विन्यासात्मक या रूपात्मक सकर्मक क्रियाओं पर अवश्य पूरीतरह लागू होती है।

८. २. ३ साधक संज्ञा

पिछले खण्ड में इस विषय में कई निकषों पर विचार कियागया था कि **'द्विपदा'** क्रियाओं के दोनों नाभिकों मेंसे **'कर्त्ता'** किसे कहाजासकता है। यह भी कहागया था कि **'कर्त्ता-कर्म'** निकष उन भाषाओं में 'विभक्ति' और 'अन्विति' के निकष के साथ टकराता है, जिनमें रचना, विशेषकर भाव-कर्मवाच्य में, 'साधकताश्रित' या 'ससाधक' होती है। कुछ देर केलिए हम भाव-कर्मवाच्य के वाक्यों पर विचार स्थगित रखेंगे और **'सकर्मकता'** और **'ससाधकता'** के परस्पर सम्बन्ध पर तनिक विस्तार में विचार करेंगे।

प्रथम बात तो यह है कि अंग्रेज़ी और हिन्दी में अनेक क्रियाएँ ऐसी हैं, जो

वाक्य-नाभिक में दो नामिकों के साथ प्रयुक्त होती हैं (यथा, अंग्रेजी में **मूव, ओपन, चेंज**, आदि)। निम्न वाक्यों को विचारार्थ लें :

अंग्रेजी		हिन्दी
(१) **द स्टोन मूव्ड**	:	**पाषाण हिला**
(२) **जोन मूव्ड**	:	**जोन हिला**
(३) **जोन मूव्ड द स्टोन**	:	**जोन ने पाषाण हिलाया।**

इनमेंसे (१) और (२) में 'मूव' या 'हिलना' क्रिया अकर्मक है, जबकि (३) में वही 'मूव' या 'हिलना' सकर्मक है। प्रथम और तृतीय के बीच एक सम्बन्ध भी है। प्रथम द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर हम पूछसकते हैं कि 'पत्थर को हिलाने का उत्तरदायी 'कर्त्ता' या साधक' कौन था?' और यदि यह प्रश्न व्यक्ततः पूछ ही लियाजाए, तब उत्तर होगा—'**जोन ने किया**' या '**जोन डिड**' (जोकि उक्त तीसरे वाक्य से ही व्युत्पन्न उक्ति है)। प्रथम और तृतीय के बीच सम्बन्धों को व्यक्त करने केलिए ही भाषाविद् '**अर्गेटिव**' या '**ससाधक**' संज्ञा का प्रयोग करते हैं : अकर्मक क्रिया का **कर्त्ता** अनुकारी सकर्मक क्रिया का **कर्म** बनजाता है, और एक नया 'साधक' कर्त्ता कार्य के 'हेतु' या 'कारण' के रूप में प्रस्तुत कियाजाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि **तृतीय** जैसा सकर्मक वाक्य **प्रथम** जैसे अकर्मक वाक्य से **ससाधक** या **प्रेरणार्थक** रूपान्तरण द्वारा व्युत्पन्न किया जासकता है। ('अर्गेटिव' संज्ञा का निर्माण एक ग्रीक धातु से कियागया है, जिसका अर्थ 'सृजन', 'करवाना' या 'प्रत्यक्ष करना' होता है।) यह भी अवधेय है कि (३) में 'प्रेरक' या साधक 'हेतु' (कर्त्ता) एक सजीव नाम है : हम पहले ही देखचुके हैं कि सकर्मक क्रियाओं के '**कर्त्ता**' सजीव ही होते हैं। हम इस बात पर बाद में फिर विचार करेंगे।

८ २. ४ प्रेरणार्थक (हेत्वर्थक)

'**मूव**' एवं '**हिलना-हिलाना**' क्रियाएँ बताती हैं कि किसप्रकार अकर्मक और सकर्मक वाक्य '**प्रेरणार्थकता**' (संस्कृत व्याकरण में **हेतुमत्ता**) की धारणा के द्वारा परस्पर आबद्ध होते हैं : वही क्रिया दोनों प्रकार के वाक्यों में, अंग्रेजी में प्रायः बिना किसी संशोधन के और हिन्दी-संस्कृत में यत्किंचित् अन्तर के साथ '**करना-कराना**', '**हिलना-हिलाना**', आदि रूप में, प्रयुक्त होती है। किन्तु यही नाता उन भिन्न क्रियाओं के युग्मों केबीच भी होता है, जो इसीप्रकार के अनुकारी अकर्मक-सकर्मक वाक्यों के बीच अर्थात्मक सम्बन्ध को व्यक्त करती हैं। निम्न दो वाक्यों पर विचार करें :

अंग्रेजी		हिन्दी
(४) **बिल डाइड**	:	**बिल मर गया**
(५) **जोन किल्ड बिल**	:	**जोन ने बिल को मारा**

यहाँ अंग्रेज़ी की दोनों क्रियाएं सर्वथा भिन्न हैं, जबकि हिन्दी की क्रियाओं में केवल प्रेरणार्थक अन्तरमात्र आया है। अंग्रेज़ी की ऐसी क्रियाओं (अथवा हिन्दी की 'जाना-लेजाना' आदि) में अकर्मकता और सकर्मकता के सम्बन्ध को 'कोषकृत' या 'कोषीय' रूप में कहा जासकता है। यह अंग्रेज़ी के 'कोषीय गठन' का ही परिणाम है कि हम **'जोन डाइड बिल'** की जगह **'जोन किल्ड बिल'** प्रयोग करते हैं। **'किल्'** और **'डाइ'** के बीच का सम्बन्ध नया सीखने वाला बालक तक पहचान सकता है; वैसे ही जैसे वह **'मूव'** जैसी एक ही क्रिया के अकर्मक और सकर्मक दोनों रूपों का प्रयोग करना पहचानता है। यहाँ पर हम **'किल'** और **'डाइ'** को 'दो क्रियाएँ' कह सकते हैं। बाद में हम उन्हें एक ही क्रिया की, रचनात्मकता-से-अनुबद्ध एवं वैकल्पिक, दो भिन्न ध्वनिप्रक्रियात्मक उपलब्धियों के रूप में मानने की सम्भावना एवं उसके निहितार्थों पर विचार करेंगे।

हिन्दी, संस्कृत, तुर्की, आदि सहित बहुत सी भाषाओं में 'प्रेरणार्थक' (हेत्वर्थक) क्रियारूपों के निर्माण के विशेष उत्पादक व्याकरण-नियम हैं। हम यहाँ फ्रेंच और तुर्की से उदाहरण लेंगे। अंग्रेज़ी के (४) और (५) वाक्यों को तुर्की में इस तरह अनूदित किया जासकता है :

(६) **बिल् योल्द्यू**

(७) **जोन बिल्ली योल्द्यूर्द्यू** ।

यहाँ **'द्यूर्'** प्रत्यय (जो स्वरसंवादिता के कारण रूप बदलता है, तु०-३. ३. १३) अकर्मक क्रिया **'योल्'** को सकर्मक क्रिया **'योल्द्यूर्'** में रूपान्तरित करदेता है, तब (७) जैसा वाक्य बनता है। (यहाँ **'द्यू'** प्रत्यय 'भूतकाल' का द्योतक है, तथा 'बिल्' के साथ संयुक्त **'ई'** 'कर्म-प्रत्यय' के रूप में हर 'निश्चित' नाम के साथ संयुक्त होता है। तुर्की में प्रायः सभी नाम 'निश्चित' ही हैं : तु०-७. ४. ४। स्वरसंवादिता के कारण काल और कर्म के वाचक दोनों ही प्रत्ययों का ध्वनिप्रक्रियात्मक रूप बदलता रहता है।) तुर्की भाषा का एक और उदाहरण हम इस रूप में लेसकते हैं :

(८) **पात्ल्यीकान् पिशियोर** (चुकन्दर पक रहा है)।

(९) **अहमेत् पात्ल्यीकानी पिशिरियोर** (अहमद चुकन्दर पका रहा है)।

फिरसे ये वाक्य उसी सम्बन्ध में आबद्ध हैं, जिसमें प्रथम और तृतीय तथा चतुर्थ और पंचम परस्पर आबद्ध थे। (यहाँ पूर्वोक्त **'द्यूर'** प्रत्यय के स्थान पर **'इर'** प्रत्यय का 'प्रेरणार्थक' प्रयोग है, यद्यपि सामान्यतः यह कम ही प्रयुक्त होता है। इन दोनों में से किस का प्रयोग किस धातु के साथ हो, यह बात इस उद्देश्य से कियेगए उस धातु के श्रेणीकरण पर आधारित रहती है। दूसरे शब्दों में, इन प्रेरणार्थक प्रत्ययों का वितरण 'उन्मुक्त विचरण' में स्थित न होकर 'कोषीय अनुबन्धन' पर आश्रित होता है : (तु०-५.३.५)। **'इयोर'** प्रत्यय 'सातत्य' या 'प्रगतिशीलता' के पक्ष का सूचक है। यदि कर्म-प्रत्यय 'ई' का प्रयोग न कियाजाए, तब 'पात्ल्यीकान्' के द्वारा चुकन्दर के किसी निश्चित पौधे की सूचना न मिलकर 'कर्म' के रूप में किसी अनिर्दिष्ट चुकन्दर के

पौधे की सूचना मिलेगी; क्योंकि 'ई' का प्रयोग निश्चितार्थक कर्म के साथ ही होता है। किन्तु, निर्दिष्ट-अनिर्दिष्ट नामिक का यह भेद तुर्की में 'कर्त्ता' केलिए 'अंकित' नहीं होता; (८) वाक्य में 'चुकन्दर' को 'अनिर्दिष्ट' पौधा ही समझना होगा।) यह अवलोकनीय है कि अंग्रेजी क्रिया **'कुक्'** अकर्मक भी है और सकर्मक भी (हिन्दी में 'पकना-पकाना' दो सान्तर रूप हैं)। अतः उक्त वाक्य का अंग्रेजी अनुवाद दो रूप में किया जासकता है : **द एग्प्लाण्ट इज़् बीइङ् कुक्ड'** और **'द एग्प्लाण्ट इज़् कुकिङ्'** (अर्थात्, **'चुकन्दर पकाया जारहा है'** और **'चुकन्दर पक रहा है'**)। **'अकर्मक' 'पकना'** और कर्मवाचक **'पकाना'** (अंग्रेजी में क्रमशः **'इज़् कुकिङ्'** और **'इज़् बीइङ् कुक्ड'**) **में अन्तर हम आगे ८. २. १३ में देखेंगे।**

अंग्रेज़ी की भांति फ्रेंच में भी **'मरना-मारना'** को दो क्रियाओं के द्वारा व्यक्त कियाजाता है : *maurir* और *tuer* (तु०—*Bill est mort*=बिल मर गया, और *John a tue Bill*=जोन ने बिल को मारा)। किन्तु उक्त (८) और (९) का अनुवाद क्रमशः (१०) और (११) के रूप में निम्न प्रकार से किया जासकता है, जिससे फ्रेंच की 'प्रेरणार्थक' या 'हेतुमत्' क्रिया के निर्माण की विधि प्रदर्शित होजाती है :

(10) Les aubergines cuisent.

(11) Ahmet fait curie les aubergines.

(वास्तव में सन्दर्भात्मक दृष्टि से उक्त (१०) के स्थान पर *Les aubergines sont en train de curie*—चुकन्दर पकने की क्रिया या अवस्था में है, अनुवाद की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है।) फ्रेंच में अकर्मक क्रिया *'curie'* को किसी आकृति-परिवर्त्तन के द्वारा 'सकर्मक' नहीं बनायाजाता, बल्कि *'faire'* जैसी सहायिका क्रिया के प्रयोग द्वारा ऐसा कियाजाता है (जिसका अर्थ **'करना'** या **'बनाना'** है)। इसे अंग्रेज़ी के **'मेक्'** का समकक्ष कहसकते हैं, जिसे हम निम्न रूप में देखसकते हैं :

(१२) **'जोन मेक्स दि ब्रास शाईन'**

यह भी (**१३**) **'जोन शाईन्स दि ब्रास'**की भांति रचनात्मक दृष्टि से (१४) **'दि ब्रास शाईन्स'** जैसे 'अकर्मक' वाक्य से ही व्युत्पन्न हुआ है। किन्तु अंग्रेज़ी में **'मेक्'** का प्रयोग बहुधा 'अनिवार्यता' या 'लाचारी' की भावना को भी लेआता है; जबकि फ्रेंच *'faire'* विषय में ऐसा नहीं कहाजासकता; और उसका प्रयोग भी अधिक व्यापक होता है।

इस प्रकार की **'प्रेरणार्थक'** रचनाएं विश्व की सभी भाषाओं में अत्यधिक सामान्य रूप में उपलब्ध होती हैं। उनके द्वारा हमें **'ससाधकता'** और **'सकर्मकता'** के विचार केलिए एक सुदृढ़ आधार मिलजाता है।

८. २. ५ भारोपीय भाषाओं में 'साधक'

अब हम अंग्रेज़ी की साधक रचनाओं पर 'विभक्ति' और 'अन्विति' की दृष्टि से विचार करेंगे। कुछ कारणों से (जो अभी स्पष्ट हो जाएंगे) हम 'नामों' के स्थान पर प्रतीकों का प्रयोग करेंगे, जिन्हें इस रूप में समझना होगा : 'क' सकर्मक क्रिया

का 'कर्त्ता' है (और हम मानेंगे कि वह सजीव ही है); एवं 'ख' अकर्मक का 'कर्त्ता' और सकर्मक का 'कर्म' बनकर दोनों रूप में रहसकता है। क्योंकि 'ख' सप्राण और अप्राण दोनों ही नामिकों के रूप में होसकता है, हम इन दोनों की सूचना केलिए क्रमशः 'खस' 'खअ' का प्रयोग करेंगे। इन प्रचलनों को पाकर पूर्वोक्त (८. २. ३) १ से ३ तक वाक्यों को निम्न प्रकार से रखा जासकता है :

(१-क) खअ मूव्ड (तु—इट् मूव्ड)

(२-क) खस मूव्ड (तु०—ही मूव्ड, शी मूव्ड)

(३-क) क मूव्ड खअ (तु०—ही मूव्ड इट्, शी मूव्ड इट्)

अप्राण और सप्राण कर्म के भेद के अनुसार एक चौथी सम्भावना भी होसकती है :

(३-ख) क मूव्ड खस (ही/शी मूव्ड हिम्/हर्)

हम यहां यह मानकर चलेंगे कि यह रचना (२-क) से उसीप्रकार सम्बद्ध है, जिस-प्रकार (३-क) रचना (१-क) रचना से।

अब यदि हम तीन लिंगवाली भारोपीय भाषाओं में 'नपुंसक' और 'अप्राण' के विषय पर विचार करें (तु०—७. ३. ३), तब हम कहेंगे कि अंग्रेज़ी अधिकांश भारोपीय भाषाओं की अपेक्षा दो विषयों में विशिष्ट है : (१) यद्यपि खअ का प्रयोग क्रमशः (१-क) और (३-क) में 'कर्त्ता' और 'कर्म' के रूप में हुआ है, किन्तु दोनों में से किसी भी स्थिति में इसमें कोई रूपात्मक अन्तर नहीं हुआ है। 'कर्त्ता' और 'कर्म' से सम्बद्ध रूपान्तर केवल सप्राण 'नाम' या 'सर्वनाम' के विषय में ही दृष्टिगोचर होता है (तु०-७. ४. ३ : यद्यपि अंग्रेज़ी में केवल सर्वनामों में ही रूपान्तर होता है)। यही कारण है 'इट् मूव्ड, क मूव्ड इट् : ही मूव्ड, क मूव्ड हिम्' आदि की उपलब्धि का। (२) २-क जैसे वाक्य में खस की विभक्ति 'क' की विभक्ति के समान है : तु०—'ही मूव्ड, ही मूव्ड इट्/हिम्', आदि। फिर, यदि क्रिया और एक नामिक में वचन या लिंग की अन्विति हो, तब २-क जैसे वाक्य में स्थित खस क्रिया के वचन या लिंग का निर्णय ठीक ३-क या ३-ख में प्रयुक्त 'क' की ही भांति होता है; किन्तु ३-ख में 'खस' का कोई ऐसा प्रभाव दिखाई नहीं देता : तु०—'ही मूव्स, ही मूव्स इट्/हिम् : दे मूव, दे मूव इट्/हिम्'।

इनमें से (२) में वर्णित विभक्ति और अन्विति के लक्षणों के कारण ही भारोपीय भाषाओं को सामान्यतः 'अर्गेटिव' या 'ससाधक' भाषाएं नहीं मानाजाता (तु०-८. १. ६)। किन्तु, एक बार (१) में वर्णित अप्राण-सप्राण विभेद पर विचार करते ही, विभक्ति और अन्विति के ये लक्षण भारोपीय भाषाओं में इन्हें प्राप्त महत्त्व की दृष्टि से पर्याप्त कम महत्त्व के रहजाते हैं।

इस दिशा के संकेतक कुछ प्रमाण हैं कि विभक्ति-विभेद की भारोपीय प्रणाली का जन्म एक ऐसी पूर्वतर प्रणाली से हुआ है, जिसमें 'निर्देशिका' विभक्ति

'कर्त्रर्थक' या 'साधिका' के रूप में हुआ करती थी, तथा जिसमें सामान्य प्रत्यय –'स्' का योग केवल सप्राण नामों के साथ ही होता था। हम यहां इस प्रश्न पर कालक्रमिक दृष्टि से विचार नहीं करेंगे। किन्तु, यह अवधेय है कि जहां तक कर्त्ता और कर्म में विभक्ति के विभेद का प्रश्न है, अंग्रेज़ी और एस्किमो के बीच विभेद इस रूप में क्षीण होजाता है : (२-क) में खस की विभक्ति अंग्रेज़ी में 'कर्त्रर्थक' है, जबकि एस्किमो में यह 'अकर्त्रर्थक' है। दूसरे शब्दों में, यदि हम अंग्रेज़ी और अन्य भारोपीय भाषाओं में **'निर्देशिका (प्रथमा)'** को 'कर्त्ता' या 'साधक' की विभक्ति स्वीकार करलें, (एस्किमों के प्रत्यय '-प्' की भांति), तब हमें अंग्रेज़ी आदि इन भाषाओं के व्याकरण में एक नियम समाविष्ट करना होगा, जिसके अनुसार इसका सम्बन्ध न केवल द्विपदा क्रिया के 'कर्म' की अपेक्षा 'कर्त्ता' के साथ स्थिर होगा, बल्कि एकपदा क्रियाओं के सप्राण नामिकों के साथ भी इसका सम्बन्ध स्थिर होगा। दूसरे शब्दों में, **'ही मूव्स'** को **'*हिम मूव'** जैसी रचना से अनिवार्य रूपान्तरण के द्वारा व्युत्पन्न किया जासकता है, जिसमें 'हिम्' को 'कर्त्ता' और 'कर्म' के विभेद के प्रति तटस्थ और 'इट्' के समान 'अनंकित' (असाधक या अकर्त्रर्थक) प्रयुक्त कियागया है।

८. २. ६ आदर्श 'ससाधक' प्रणाली

किन्तु एकपदा क्रियाओं के विषय में 'कर्त्रर्थक' और 'अकर्त्रर्थक' विभेद, भलेही 'धारणात्मक' दृष्टि से ही सही, खींचा अवश्य जासकता है। इस वाक्य पर विचार करें : **'जोन फ़्ल्यू थ्रू द एयर'**। यह इन दो मेंसे किसी भी अन्तर्हित प्रश्न का उत्तर होसकता है : (१) **'व्हट् डिड जोन डू ?'** या (२) **'व्हट् हैपन्ड टु जोन ?'** यदि इसे पहले का उत्तर मानें, तब **'जोन'** को 'कर्त्ता' कहाजासकता है (उदाहरणार्थ, 'वह वायुयान उड़ासकता है'); किन्तु यदि इसे (२) का उत्तर मानाजाए, तब **'जोन'** को 'कर्त्ता' नहीं कहा जाकसता; क्योंकि सम्भव है; उसे किसी अन्य ने फेंक दिया हो। अंग्रेज़ी की कुछ अकर्मक क्रियाओं के विषय में **'कर्तृत्व'** की बात कदाचित् ही उचित कही जासकती है : यथा—**'जोन डाइड'** में। कुछ अन्य क्रियाओं के साथ सप्राण प्राणी की 'अ-कर्तृक' स्थिति घटित नहीं होती : **'जोन जम्प्ड फ़्रॉम द रूफ़'**। इनके अतिरिक्त ऐसी भी क्रियाए हैं, जिनकी व्याख्या सप्राण प्राणियों के विषय में उभयात्मक रूप में की जासकती है; यद्यपि कुछ स्थलों पर कम सामान्य व्याख्या भी की जासकती है। उदाहरणार्थ, **'जोन फ़ॅल्'** को सामान्यतर रूप में 'अ-कर्तृक' ही मानाजाएगा; यद्यपि इसकी व्याख्या दूसरे ढंग से भी सम्भव है। किन्तु **'द चिमनी फ़ॅल्'** जैसी अप्राण-युक्त रचना अनिवार्यतः **'अ-कर्तृक'** ही है।

'सकर्तृक' और 'अकर्तृक' के बीच 'धारणात्मक' विभेद (केवल 'सप्राण प्राणियों' से सम्बद्ध) के आधार पर, हम निम्न वाक्यों में प्रदर्शित रीति से, एकपदा और द्विपदा क्रियाओं केलिए सिद्धान्ततः एक 'आदर्श' प्रणाली निर्मित करसकते हैं। इन वाक्यों में **'ही'** और **'हिम'** क्रमशः 'सकर्तृक' और 'अकर्तृक' सप्राण

प्राणियों के वाचक नामिकों केलिए प्रयुक्त हैं (अवधेय : ये अंग्रेज़ी के वास्तविक वाक्य नहीं हैं, बल्कि 'आदर्श' विभेद-विन्यास को प्रदर्शित करनेवाले कल्पित अंग्रेज़ी वाक्य हैं) :

(१-क) इट् मूव्ड
(२-ख) हिम् मूव्ड
(२-ग) ही मूव्ड
(३-क) ही मूव्ड इट्
(३-ख) ही मूव्ड हिम्

यदि इनकी तुलना ८. २. ५ में दियेगए वाक्यों के साथ कीजाए, तो देखने में आएगा कि, जहां तक विभक्ति के वितरण का प्रश्न है, इनमें विभेद केवल इतना ही है कि वहां का (२-क) अब (२-ख) और (२-ग) में विभाजित कर दियागया है। यह इसलिए, ताकि ८. २. ३ में दिखाए (२) वाक्य—'**जोन मूव्ड**'—की 'सकर्त्तृक' और 'अकर्त्तृक' उभयरूप में व्याख्या की सम्भावना को सिद्धान्ततः सत्य दिखाया जासके। यह सिद्धान्ततः आदर्श प्रणाली अंग्रेज़ी एवं भारोपीय भाषाओं में नहीं पाईजाती। न ही यह उन भाषाओं में पाईजाती है, जिन्हें परम्परागत दृष्टि से 'ससाधक' रचनावाली मानागया है। यह देखा जासकता है कि हम (२-क) और (२-ग) के परस्पर 'विलय' के द्वारा अंग्रेज़ी या एस्किमो में किसी एक की प्रणाली को प्राप्त करसकते हैं। यदि यह विलय ऐसी एक ही दिशा में हो :

(२-ख) हिम् मूव्ड }
(२-ग) ही मूव्ड } → ही मूव्ड

तब विभक्तिगत परिणाम वही होगा, जो अकर्मक क्रिया के पुँल्लिग या स्त्रीलिंग कर्त्ता के विषय में सामान्य भारोपीय प्रणाली में मिलता है। और, यदि यह विलय विपरीत दिशा में हो :

(२-ख) हिम् मूव्ड }
(२-ग) ही मूव्ड } → हिम् मूव्ड

तब परिणाम एक 'ससाधक' रचना के रूप में होगा, जो एस्किमो तथा कई अन्य भाषाओं में सामान्य रूप में पाईजाती है।

८. २. ७ सकर्मकता और सप्राणता (चेतनता)

एकपदा और द्विपदा क्रियाओं के साथ 'कर्त्तृवाचक' विभक्ति के वितरण की यह आदर्श प्रणाली एस्किमो और अंग्रेज़ी भाषाओं के व्याकरण केलिए अनिवार्य रूप में नहीं सुझाई जारही। बल्कि यह तो 'ससाधकता' और 'सकर्मकता' को समझने में सहायक प्रणाली के रूप में प्रस्तावित की जारही है। इन दो भाषाओं को हमने दो सर्वथा भिन्न रचना-प्रणालियों के प्रतिनिधि के रूप में लिया है।

ऊपर के विवेचन से सामान्य परिणाम यह निकलता है कि दोनों ही भाषाओं में अकर्मक क्रिया के कर्त्ता की विभक्ति के रूपान्तर का महत्त्व गौण है। दोनों ही भाषाओं में इस दृष्टि से समानता है : (१) वे दोनों ही सकर्मक क्रिया के कर्त्ता और कर्म को विभक्ति के अन्तर द्वारा सूचित करती हैं (क्रमशः सकर्तृक अकर्तृक के रूप में); (२) 'अकर्मक' क्रियाओं के कर्त्ता केलिए वे उसी 'अ-कर्तृक' रूप को प्रयुक्त करती हैं, जिसे वे सकर्मक के कर्म के लिए प्रयोग करती हैं; पर अनुबन्ध यह है कि अकर्मक का कर्त्ता अप्राण होनाचाहिए; (३) दोनों ही अकर्मक क्रियाओं के सकर्तृक और अकर्तृक कर्त्ताओं के विभक्तिरूप में कोई भेद व्यक्त नहीं करतीं। दोनों ही भाषाओं में कर्त्ता को—एस्किमो में 'ससाधक' और अंग्रेज़ी में 'निर्देशिका' के रूप में—'विभक्ति' की तुलना में 'अंकित' संज्ञामात्र माना जासकता है। दोनों में अन्तर यह है कि अंग्रेज़ी तो 'सकर्तृक' रूप का प्रयोग सप्राण प्राणियों केलिए बहुत अधिक सामान्य रूप में करती है, भले ही 'कर्तृत्व' की धारणा विद्यमान हो या न हो; जबकि एस्किमो 'अ-कर्तृक' रूप को अधिक सामान्य रूप में प्रयोगकरती है। अन्विति के सम्बन्ध में दोनों भाषाओं के अन्तर पर हमने विचार नहीं किया है। पर यह भी स्मर्तव्य है कि यह विभेद भी केवल बाह्यसंरचना का ही है, और **'विभक्ति-रूपण'** के वितरण के समान ही इस पर भी विचार किया जासकता है।

यद्यपि भारोपीय भाषाओं में 'प्रथमा' और 'द्वितीया' (**निर्देशिका और कर्म-द्वितीया**) विभक्ति के प्रयोग को उदाहृत करने केलिए हमने अंग्रेज़ी का आश्रय लिया है, तथापि यह बहुत दृष्टियों से असामान्य उदाहरण है। सर्वप्रथम तो यह कि इसमें नामों की दृष्टि से निर्देशिका और कर्म-द्वितीया का विभेद सगत नहीं है। इसका सम्बन्ध केवल 'सर्वनामों' के साथ ही है (ही-हिम्, शी-हर्, दे-देम्, हू-हूम्, आदि)। इससे अधिक मुख्य बात यह है कि अंग्रेज़ी में अन्य भारोपीय भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक व्याकरणात्मक और प्राकृतिक लिंगों में सहसम्बन्ध है (तु०-७. ३. ४)। लैटिन और ग्रीक जैसी भाषाओं में सकर्तृक और अकर्तृक का विभक्त्यात्मक विभेद अप्राण प्राणियों पर भी स्वतः ही लागू होजाता है, यदि उनका लिंग पुंल्लिग या स्त्रीलिंग हो। किन्तु इस तथ्य से सकर्तृक और अकर्तृक नामिकों के बीच सकर्मक-अकर्मक वाक्यों की 'अन्तःसंरचना' का विभेद असिद्ध नहीं ठहरता। **'लिथोई पिप्तोउसिन् अप्'औरानाऊ'** (**लोष्ठाः पतन्ति अप आकाशम्=आकाश से पाषाण** गिररहे हैं) जैसे ग्रीक वाक्य में **'लिथोई'** का प्रयोग 'निर्देशिका' (प्रथमा) में हुआ है। अप्राण होतेहुए भी यह 'पुंल्लिग' होने से कर्त्ता-स्थिति का रूप ग्रहणकरता है। किन्तु अंग्रेज़ी के **'स्टोन्स'** और हिन्दी के **'पाषाण'** की अपेक्षा यह **'लिथोई'** किसी प्रकार भी अधिक **'सकर्तृक'** नहीं है। इसके विपरीत, जर्मन वाक्य—**'डास् किण्ड ऑफ़नेट डी ट्यूर'** (बालक द्वार खोलता है)—में **'डास् किण्ड'** नपुंसक लिंग में है : अतः यह लाक्षणिक रूप से 'सकर्तृक' रूप को ग्रहण नहीं करता {तु०-**'डेर मान् ऑफ़नेट् डी ट्यूर'** (आदमी द्वार खोलता है), **'डास् किण्ड ज़ीट डेम् मान्'** : **'डेर् मान् ज़ीट**

डास् किण्ड' (बालक आदमीको देखता है' : 'आदमी बालक को देखता है) आदि में}। जर्मन के सप्राण नपुंसक नामों में भी अन्तःसंरचना की दृष्टि से उसी प्रकार 'सकर्त्तृक-अकर्त्तृक' विभेद सिद्ध ठहरता है, जिस प्रकार यह पुंल्लिग और स्त्रीलिंग और सप्राण संज्ञाओं के विषय में सिद्ध ठहरता है।

इसका अर्थ हुआ कि 'सकर्मकता' का प्रश्न सप्राण-अप्राण नामिकों के विभेद के साथ आबद्ध है। इनमें से प्रथम, आदर्श प्रणाली में, सकर्मक या अकर्मक दोनों ही दशाओं में 'सकर्त्तृक' या 'अकर्त्तृक' किसी भी रूप में रहसकता है; जबकि 'अप्राण' केवल 'अ-कर्त्तृक' रूप में ही रहसकता है। विशिष्ट भाषाओं के सम्बन्ध में इस उपस्थापना पर अधिक विमर्श हमें मुख्य युक्तिसरणि से बहुत दूर लेजाएगा। हम यह मानलेते हैं कि जो सामान्य बातें यहाँ कही गई हैं, वे सम्बद्ध भाषाओं के अधिकांश सकर्मक और अकर्मक वाक्यों पर घटितहोती हैं। किन्तु उसी समय हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि सकर्मकता की प्रणाली का तथाकथित 'धारणात्मक' आधार कुछ ऐसी 'सकर्मक' रचनाओं से भी अभिभूत हो गया है, जोकि 'आदर्श' प्रणाली के अनुबन्धों पर पूरी नहीं उतरतीं। उदाहरणार्थ, '**वैल्थ एट्रैक्ट्स रौबर्स**' (या 'सम्पत्ति लुटेरों को लुभाती है') को अंग्रेज़ी का पूर्णतः सकर्मक वाक्य कहाजासकता है, यद्यपि 'वैल्थ' अप्राण नाम है। इसका कारण यह होसकता है कि ग्रीक आदि की अपेक्षा अंग्रेज़ी में अधिकता से पाए जानेवाले इसप्रकार के वाक्य सम्भवतः 'पराश्रयी' हैं, जोकि अपने आधार केलिए सप्राण कर्त्ता से युक्त 'अधिक सामान्य' सकर्मक वाक्यों पर आश्रित रहते हैं। कुछ भी हो, हमें यहाँ केवल उन्हीं वाक्यों पर विचार करना है, जो 'सामान्य' शर्तों को पूराकरते हैं।

८. २. ८ अंग्रेज़ी में 'प्रेरणार्थक' क्रियाएँ

हमने देखा कि अंग्रेज़ी में ऐसी क्रियाओं की एक श्रेणी है (जिन्हें हमने 'ससाधक' कहा है, तु०-८. २. ३.), जो अकर्मक और सकर्मक उभयविध वाक्यों में प्रयुक्त होती हैं। और यह भी कि द्विपदा सकर्मक रचना एकपदा अकर्मक रचना से ऐसे प्रेरणात्मक प्रकार्य के द्वारा व्युत्पन्न की जासकती है, जिसके परिणामस्वरूप साधक या कर्त्तृक कर्त्ता का समावेश होता है। हमने '**मूव**' (अं०) क्रिया का उदाहरण प्रयुक्त किया था। इसी क्रियाश्रेणी के अन्य सदस्य ये कहे जासकते हैं : **चेंज, ग्रो, डेवलप, ओपन, क्लोज, स्टार्ट, स्टॉप, बिगिन्, ब्रेक्, क्रैक, स्प्लिट्, टीयर**, आदि। अपनी अकर्मक अवस्था में सकर्त्तृक-अकर्त्तृक कर्त्ता के चुनाव के अनुसार वे भिन्न होसकती हैं, परन्तु इस बात में वे 'सामान्य' हैं कि सकर्मक रचना में उनका कर्त्ता कोई सप्राण ही होता है। इसके अतिरिक्त, अंग्रेज़ी में कुछ ऐसी सकर्मक क्रियाएँ भी हैं, जो अनुकारी अकर्मक क्रियाओं के साथ रचनात्मक दृष्टि से **प्रेरणार्थक** के रूप में सम्बद्ध हैं; और कभी उनसे ही (ऐतिहासिक दृष्टि से) उत्पादक **आकृतिमूलक**

प्रक्रियाओं के द्वारा व्युत्पन्न भी हुई थीं (तु०-तुर्की की 'प्रेरणार्थक' क्रियाएँ—८. २. ४)। इनके उदाहरण 'ले' (लिटाना); 'फेल्' (गिराना), आदि दिये जासकते हैं (जो अपनी वरण-सम्भाव्यता में अनुकारी अकर्मकों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट हैं)। विशेष रूप से, ऐसी अनेक सकर्मक क्रियाएं हैं, जो आकृतिमूलक दृष्टि से अकर्मक 'विशेषणिक' क्रियाओं के साथ सम्बद्ध हैं : यथा—**एन्रिच्** (रिच्), **सौफ़न्** (सौफ़्ट), **स्ट्रैंग्थन्** (स्ट्रौंग), **एक्वलाइज़्** (एक्वल्), इत्यादि। इनमें से रूपायण के अनेक आकृतिमूलक प्रतिमान, जो उपसर्गयोग अथवा प्रत्यययोग के द्वारा बने हैं, अंग्रेज़ी में अब अपनी उत्पादकता खोचुके हैं (केवल—'आइज़' को छोड़कर, जोकि न केवल क्रियामूलों के साथ संयुक्त होता है, बल्कि नामिकों के साथ भी संयुक्त होता है : तु०-'कम्प्यूटराइज़', आदि। ये आकृतिमूलक 'प्रेरणार्थक' कोषीकरण के दो 'अन्तों' के बीच स्थित हैं : एक ओर ऊपर ८. २. ४ में वर्णित 'किल्-डाई' की तरह, एवं दूसरी ओर 'मूव' के उभयात्मक (सकर्मक-अकर्मक) प्रयोग की भांति। कोषीय और 'आकृतिमूलक' प्रेरणार्थक प्रयोगों के वैषम्य के आधार पर 'मूव', 'चेंज', 'ग्रो', आदि सकर्मक क्रियाओं को उनके समध्वनिक अनुकारी अकर्मक क्रियारूपों से व्युत्पन्न वर्णित किया जासकता है (तु०-वही क्रियाएँ : ८. २. ४)। ऐसा हम (पाणिनि की) आकृतिमूलक 'लोप'-विधि (ज़ीरो-मौडिफिकेशन) के द्वारा करसकते हैं। यह बात विशेष कथनीय है कि ऐसी अनेक क्रियाएँ, जिन्हें परम्परागत दृष्टि से 'विशेषण' और 'क्रिया' दोनों रूपों में घटित होता कहाजाता है, इसी श्रेणीकरण के दायरे में आती हैं : उदाहरणार्थ, '**ही वार्म्स द मिल्क**' वाक्य अकर्मक विशेषणिक '**वार्म**' क्रिया से युक्त '**द मिल्क इज़ वार्म**' से उसी रूप में सम्बद्ध कहा जासकता है, जिस तरह '**ही मूव्स द स्टोन**' को '**स्टोन मूव्स**' के साथ सम्बद्ध कहागया है। '**मूव**' और '**वार्म**' के सकर्मक रूप आकृतिमूलक दृष्टि से उन्हीं क्रियाओं के अकर्मक तत्सम रूपों से 'लोपविधि' (ज़ीरो-मौडिफिकेशन) के द्वारा व्युत्पन्न हैं।

८. २. ९ 'कर्म' का त्याग

'**मूव**' द्वारा प्रदर्शित क्रियाओं की श्रेणी के अतिरिक्त अंग्रेज़ी की अन्य भी ऐसी क्रिया-श्रेणियां हैं, जो सकर्मक या अकर्मक रूपमें प्रयुक्त होती दिखाईदेती हैं। इस वाक्य को विचारार्थ लें :

(१४) **वी नैवर ईट् ऐट् फ़ाइव ओ'क्लॉक**

यहाँ '**ईट्**' क्रिया बिना किसी 'कर्म' के प्रयुक्त होरही है। इसे 'अकर्मक' कहना चाहिए या नहीं, यह एक विवादास्पद बात है। बहुत से परम्परानुगामी वैयाकरण कहेंगे कि यह एक सकर्मक क्रिया है, जो 'कर्म' के साथ या 'निरपेक्ष' रूप में भी प्रयुक्त होसकती है। यह 'निरपेक्ष' प्रयोग ही (१५) में, बिना किसी व्यक्त 'कर्म' के, दिखाया है। यदि हम इस वाक्य का निम्न वाक्य से मिलान करें :

(१६) **वी नैवर ईट् कैवियार् ऐट फ़ाइव ओ'क्लॉक**

तो यह स्पष्ट होगा कि 'ईट्' के सकर्मक और निरपेक्ष प्रयोग के बीच का सम्बन्ध, 'मूव' के सकर्मक-अकर्मक प्रयोग में स्थित सम्बन्ध से, पर्याप्त भिन्न है। (१६) का कोई ऐसा वाक्य अनुकारी नहीं है : **'कैवियार नैवर ईट्स ऐट् फ़ाइव ओ' क्लॉक'**। किन्तु इसकी कर्मवाच्यीय रचना **'कैवियार इज़् नैवर ईटन ऐट् फ़ाइव ओ' क्लॉक'** अवश्य उपलब्ध होती है। यह कहना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि निहितार्थतः 'ईट' सकर्मक है, किन्तु अकर्मकाभासी 'निरपेक्ष' रचना में इसका 'कर्म' त्यागा जासकता है। विशिष्ट उक्तियों में कर्म का त्याग सन्दर्भ-निर्धारित होसकता है, जबकि अर्थात्मक व्याख्या की दृष्टि से वह पुनरुपलब्ध भी किया जासकता है। किन्तु, यह बात भाषा की कोषीय संरचना का लक्षण भी होसकती है। उदाहरणार्थ, **'आई स्पेॅण्ट द मौनिङ् पेण्टिङ्'** की कमसेकम दो विविक्त व्याख्याएँ होसकती हैं : '...पेंटिङ् द पिक्चर्स' या '...पेंटिङ् द हाउस' या '...द गार्डन फ़ेॅंस', आदि)। तथा, प्रत्येक स्थिति में 'कर्म' का परित्याग (इनमें से पहली व्याख्या में यह 'परिणाम का कर्म' है : तु०-८. ५. ३) अंग्रेज़ी की कोषीय संरचना द्वारा निर्दिष्ट होता है। सन्दर्भात्मक दृष्टि से 'पेण्ट' क्रिया के कर्म का संकेतहोना आवश्यक नहीं है। उसे श्रोता वाक्य को समझने केलिए स्वयं ही अनुमानित करलेगा। अनेक भाषाओं में 'कर्म के त्याग' की यह स्वतन्त्रता कम उपलब्ध है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी के 'निरपेक्ष' वाक्य **'ही इज़् राइटिङ्'** का तुर्की अनुवाद किसी कल्पित 'कर्म' को मानकर किया जाता है, जो कि आकृतिमूलक दृष्टि से उसी क्रिया 'टु राइट्' से सम्बद्ध होता है : **'याज़ी याज़्-इयोर'** (अंग्रेज़ी में **'ही इज़् राइटिङ् राइटिङ्'**); मानों यह **'मेक्तुप् याज़ियोर्'** (वह पत्र लिख रहा है) के समतुल्य हो।

८. २. १० प्रतिवर्त्ती या कर्त्तृगामी (प्रयोग)

एक अन्य क्रियाश्रेणी, जो अंग्रेज़ी में आपाततः सकर्मक और अकर्मक रूप में, उभयतः प्रयुक्त होती है, निम्न वाक्यों में 'शेव' के उदाहरण से देखी जासकती है :

(१७) **द बार्बर शेव्ड टेॅन् मेॅन् बिफ़ोर लंच**

(१८) **ही नैवर शेव्स बिफ़ोर लंच**

इनमें (१७) तो एक सीधा सकर्मक वाक्य है, जिसका 'सकर्त्तृक' कर्त्ता **'द बार्बर'** है, और 'अ-कर्त्तृक' कर्म या ईप्सित है **'टेॅन् मेॅन्'**। किन्तु (१८) अस्पष्ट है : इसका अर्थ यह भी होसकता है कि **'वह कभी किसी की शेव (मुण्डन) लंच से पहले नहीं करता'** और यह भी कि 'वह स्वयं अपनी शेव (मुण्डन) लंच से पहले नहीं करता'। इनमें से पहली व्याख्या को 'कर्म-त्याग' के द्वारा समझाया जासकता है, किन्तु दूसरी पर हमें विचारकरना होगा। इस व्याख्या के अनुसार हम (१८) को निहितार्थतः **'प्रतिवर्त्ती'** या **'कर्त्तृगामी'** कहसकते हैं।

'प्रतिवर्त्ती' या 'कर्त्तृगामी' रचना वह है, जिसमें कर्त्ता और कर्म एक ही व्यक्ति या वस्तु की सूचनादेते हैं (संस्कृत **'कर्मकर्त्तरि'**)। अंग्रेज़ी जैसी अनेक

भाषाओं में 'हिम्सेल्फ़', **'माईसेल्फ़'**, आदि जैसे 'प्रतिवर्त्ती' या आत्मार्थक **सर्वनाम हैं,** जिनमें पुरुष और वचन विविक्त हैं; जबकि फ्रेंच, जर्मन, लैटिन, आदि में 'प्रतिवर्त्ती' और 'अ-प्रतिवर्त्ती' कर्मों के बीच भेद केवल प्रथम पुरुष में ही पायाजाता है (तु०- फ्रेंच, **'मामाँ से लाव् : ज्श मे लाव्'** अर्थात्, 'माँ मुझे नहलाती है' : 'मैं स्वयं नहाता हूं'; तथा—**'मामाँ ला लाव् : मामाँ से लाव्'** अर्थात् **'माँ उसे नहलाती है : माँ स्वयं नहाती है'**)। कुछ ऐसी भी भाषाएं है, जिनमें एक ही प्रतिवर्त्ती सर्वनाम सभी पुरुषों और वचनों में प्रयुक्त होता है (उदाहरणार्थ, रूसी के सर्वनाम **'सेब्या'** या तत्सम प्रत्यय 'स्या' के प्रयोग की विशिष्ट स्थितियों को लिया जासकता है, जिनकी चर्चा यहां अपेक्षित नहीं है)। स्पष्टतर प्रतिवर्त्ती (कर्मकर्त्तरि या कर्त्तृगामी) वाक्य वह है, जिसमें कर्त्ता और कर्म में प्रत्यक्ष एकरूपता या तो कर्मवाचक सर्वनाम के रूप में होती है, या फिर वह व्यक्त 'अंकित' (अर्थात् विशिष्ट **प्रत्यय, उपसर्ग, मध्यप्रत्यय,** आदि के क्रिया केसाथ योग से) होती है। इसप्रकार **'ही किल्ड हिम्'** (उसने उसे मारा) की अपेक्षा 'ही किल्ड हिमसेल्फ़' (उसने स्वयं को मारा) स्पष्टतः प्रतिवर्त्ती है। यही बात **'ही वाश्ड हिम्सेल्फ़'** (वह स्वयं नहाया) में भी है। परन्तु अंग्रेज़ी (और हिन्दी) की यह विशेषता है कि उसकी अनेक क्रियाएं प्रतिवर्त्ती वाक्यों में बिना किसी कर्म-सर्वनाम के भी प्रयुक्त होती हैं। **'ही नैवर शेव्स बिफ़ोर लंच'** इसी प्रकृति का उदाहरण हैं। इसी कारण हमने इसे **अव्यक्त** 'प्रतिवर्त्ती' कहा है। तथ्यतः, 'शेव' का प्रयोग प्रति-वर्त्ती वाक्यों में कदाचित् ही होता है; सामान्यतम रूप में कदाचित् ऐसे वाक्यों में : **'आई डोन्ट माइण्ड शेविङ् अदर्स, बट् आई नैवर शेव माईसेल्फ़'**। यहां भी **'माई-सेल्फ़'** का प्रयोग 'अदर्स' के वैषम्य में हुआ है। (यहां प्रसंगतः यह भी अवधेय है कि सन्दर्भ से बाहर **'आई नैवर शेव माईसेल्फ़'** रचना की दृष्टि से अस्पष्ट कहा जासकता है : (१) **'ऐज़ फ़ॉर मी, आई नैवर डू ऐनी शेविङ्'** ('कर्म का त्याग'), (२) **'ऐज़ फ़ॉर मी आई नैवर शेव (माईसेल्फ़)'** (अव्यक्त प्रतिवर्त्ती), (३) **'आई आल्वेज़ गैट समवन् एल्स टु शेव मी'** (व्यक्त प्रतिवर्त्ती)। इनमें प्रथम और दूसरी व्याख्या के अनुसार 'माईसेल्फ़' का प्रयोग, 'प्रतिवर्त्ती सर्वनाम' के रूप में न होकर, वाक्यगत कर्त्ता के प्रभावी अधियोजी के रूप में हुआ है, जिसे कि वाक्य में विविध स्थलों पर प्रयुक्त किया जासकता है : **'आई माईसेल्फ़ नेवर शेव'**, **'आई नेवर माईसेल्फ़ शेव'**, आदि।

वाश् (धोना) क्रिया के योग में अव्यक्त 'प्रतिवर्त्ती' रचना सामान्य रूप में पाईजाती है, यद्यपि यह क्रिया व्यक्त 'प्रतिवर्त्ती' भी होसकती है; किन्तु 'ड्राई' (सुखाना) क्रिया के योग में नहीं। **'ही ड्राईड इन् दि सन्'** को या तो एक 'अकर्मक' वाक्य माना जासकता है, या फिर 'कर्म-त्याग' के उदाहरण केरूप में 'अकर्मकाभासी' रचना; किन्तु यह 'प्रतिवर्त्ती' किसी भी रूप में नहीं बनती (**'ही ड्राईड हिमसेल्फ़ इन् दि सन्'** के रूप में)। सामान्यतर प्रकार के 'कर्म-त्याग' से भिन्न, अव्यक्त प्रति-वर्त्तिता (जिसे निस्संन्देह एक विशेष प्रकार का 'कर्म-त्याग' कहा जासकता है)

अंग्रेज़ी की कुछ गिनी-चुनी क्रिया-श्रेणियों तक ही सीमित हैं। फिर, यह भी सदा स्पष्ट नहीं होता कि किसी विशिष्ट वाक्य में 'अव्यक्त प्रतिवर्त्तिता' उदाहृत है, या सामान्यतर 'कर्म-त्याग'। उदाहरणार्थ, **'चेंज'** को **'मूव'**, **'ग्रो'**, आदि क्रियाओं की भांति केवल सकर्मक या अकर्मक अनुकारी वाक्यों में ही **'साधक'** क्रिया के रूप में नहीं पायाजाता, बल्कि ऐसे वाक्यों में भी पायाजाता है :

(१९) **आइ'ल् जस्ट स्लिप् अप्स्टेयर्स ऐण्ड चेंज बिफ़ोर डिनर।**

हमारे सुझाव के अनुसार इसमें **'चेंज'** और **'बिफ़ोर डिनर'** के बीच **'माई ड्रेस'** या **'इन्टु ए मोर रेस्पेक्टेबल् सूट'** आदि जोड़ने की आवश्यकता है। (**'आई हैव चेंज्ड'** जैसा वाक्य निस्संदेह, इस व्याख्या और 'साधक' व्याख्या—**मैं किसी भौतिक, मानसिक या आध्यात्मिक रूपान्तरण में से गुजरा हूँ**—मेंसे किसे अपनाया जाए, इस विषय में नितान्त अस्पष्ट है।) प्रश्न यह है कि क्या (१९) का द्वितीय वाक्यान्तर अव्यक्त प्रतिवर्त्ती है? उदाहरणार्थ, ये तीन वाक्य **स्वीकार्य** (ग्राह्य) हैं :

(२०) **आई'ल् चेंज द बेबी**

(२१) **आई'ल् चेंज द बेबीज़ ड्रेस्**

(२२) **आई'ल् चेंज माई ड्रेस्**

किन्तु, निम्न वाक्य स्वीकार्य नहीं है (जो प्रत्यक्षतः प्रतिवर्त्ती है) :

(२३) * **आई'ल् चेंज माईसेल्फ़।**

एक ओर (२०) और (२१) में, तथा दूसरी ओर (२२) और **'आई'ल् चेंज'** में, अर्थात्मक समानान्तरता इस बात का संकेतदेती है कि **'आई'ल् चेंज'** एक अव्यक्त प्रतिवर्त्ती वाक्य है, जो **'आई'ल् चेंज माईसेल्फ़'** में से व्यक्ततर प्रतिवर्त्ती कर्म के त्याग द्वारा स्वतः रूपान्तरित हुआ है। या फिर, जैसे पहले (१५) को (१६) से सम्बद्ध कहागया है (तु०—८. २. ९), उसी प्रकार (२२) के साथ इसे सम्बद्ध मानकर 'कर्म-त्याग' का सामान्यतर उदाहरण कहाजासकता है। रचनात्मक दृष्टि से यह प्रश्न अनिर्णीत कहाजासकता है; और अर्थात्मक दृष्टि से इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

८. २. ११ अकर्मकाभासी

हमने अब तक अंग्रेज़ी क्रियाओं की ऐसी तीन श्रेणियों पर विचारकिया है, जो प्रत्यय-लोप की विधि (शून्य-विधि) से सकर्मक और अकर्मक या अकर्मकाभासी रचनाओं में प्रयुक्त होती हैं। **'मूव'**, **'ईट'** और **'शेव'** के रूप में ऊपर वर्णित तीन क्रियाओं के प्रमुख रचनात्मक अभिलक्षण, आगे वर्णित कीजानेवाली तीन अन्य श्रेणियों के लक्षणों के साथ, तालिका—१२ में प्रदर्शित कियेगए हैं। यह स्पष्ट होगा कि इस तालिका की २ और ३ श्रेणियां (**'ईट्'** और **'शेव'** श्रेणी) **'मूव'** से कईरूप में भिन्न हैं। तालिका के दाईं ओर उन दोनों के साथ 'कर्म' शीर्षक के नीचे प्रविष्टियां हैं, जो कि, कर्त्ता की स्थिति में 'ख' न होकर, **'क'** हैं। इससे २ और ३

श्रेणियां अकर्मकाभासी सिद्ध होती हैं; क्योंकि 'क' से अनुकारी सकर्मक रचना के 'कर्त्ता' का संकेत मिलता है, जबकि उसके दाईं ओर का 'समानता-चिह्न' सकर्मक के 'कर्म-त्याग' की सूचनादेता है। ३ और २ के बीच का अन्तर, जिसे विशिष्ट

तालिका-१२ : कुछ अंग्रेज़ी क्रियाएं

	सकर्मक			अकर्मक (आभासी)		
सं०	कर्त्ता	क्रिया	कर्म	कर्त्ता	क्रिया	(कर्म)
१.	कः +का	मूव	खः —का	खः +का	मूव	
२.	कः +का	ईट्	खः —का	कः +का	ईट्	('≠'क)
३.	कः +का	शेव	खः —का	कः +का	शेव	(=क)
४.	कः +का	वॉक्	खः +का	खः +का	वॉक्	
५.	कः +का	बिल्ड	खः —का	खः —का	बिल्ड	
६.	कः +का	सॆल्	खः —का	खः —का	सॆल्	

उदाहरणों में सदा ही चित्रित नहीं किया जासकता, इस बात में निहित है कि सकर्मक या अकर्मकाभासी दोनों ही रचनाओं में 'त्यक्त कर्म' और 'कर्त्ता' के बीच एकरूपता विद्यमान है (≠क) या नहीं (≠क)। इनके विपरीत प्रथम श्रेणी की क्रिया पूर्वोक्त 'साधक' विशेषताओं से युक्त दिखाईदेती है (तु०—८. २. ३)। '+का' (सकारक) और '—का' (अ-कारक) के बीच विभेद 'साधक' क्रियाओं और 'त्याज्य' कर्मवाली क्रियाओं में विभेद प्रदर्शित करने केलिए केन्द्रीय महत्त्व का नहीं है। यद्यपि एकपदा क्रिया के रूप में 'मूव' सकारक या अकारक कर्त्ता से युक्त होसकती है, यदि उसे सूचित करनेवाला नामिक 'सप्राण' हो (इसीलिए 'मूव' को '+का' के रूप में कोष में प्रदर्शित किया जाएगा : तु०—४. ३. ३, ८. २. ६)। यहां यह मानलिया जाता है कि **'जोन मूव्ड बिल'** (उदा०-**'टु अनदर डेस्क इन द ऑफ़िस'**) जैसा सकर्मक वाक्य 'बिल मूव्ड' के 'अकारक' व्याख्या वाले वाक्य से अधिक सम्बद्ध है, न कि 'सकारक' वाले से। यह प्रतीत होगा कि **'जोन: +का, मूव्ड, बिल : +का'** (जिसमें **'जोन'** प्रेरणार्थक कर्त्ता है और सकारक **'बिल मूव्ड'** इसका 'विधेय' है)। इसकी सामान्य उपलब्धि इन रूपों में सम्भव है :

'जोन मेड बिल मूव', 'जोन गॉट् बिल टु मूव', या 'जौन हैड बिल टु मूव'।

८. २. १२ कर्त्तृगामी कर्म

किन्तु कम से कम एक क्रिया-श्रेणी अंग्रेज़ी में ऐसी भी है, जिसका प्रयोग सकारक कर्म के साथ होता है (तालिका—१२ की चतुर्थ श्रेणी)। 'वॉक्' के द्वारा इसका उदाहरण इस रूप में दिया जासकता है :

(२४) **जोन वॉक्ड द हौर्स**

जो अन्य कई दृष्टियों से निम्न वाक्य से सम्बद्ध ठहरता है :

(२५) **द हौर्स वॉक्ड।**

यह सम्बन्ध उसी प्रकार का है, जैसा '**जोन मूव्ड बिल**' और '**बिल मूव्ड**' में है। इस अत्यन्त सीमित श्रेणी के अन्य सदस्य हैं : '**गैलप्**', '**रन्**', '**जम्प**', आदि। (२४) और सामान्यतर 'द्विगुण-कर्त्तृक' वाक्य '**जोन मेड द हौर्स वॉक्**' में यह अन्तर प्रतीत होगा कि (२४) में यह तथ्य निहित है कि 'जोन' प्रत्यक्ष कर्त्ता है (और वह या तो घोड़े को लेगया है, या उस पर चढ़कर गया है)। '**जोन मेड द हौर्स वॉक्**' में यह निहित नहीं है। किन्तु अधिकांश अंग्रेज़ी क्रियाओं के सम्बन्ध में इस प्रकार प्रत्यक्ष और 'अप्रत्यक्ष' कर्त्ता के बीच भेद नहीं किया जासकता (संस्कृत व्याकरण में इसे, 'अप्रत्यक्ष कर्त्ता' न कहकर, 'हेतु' कहा गया है : '**तत्प्रयोजको हेतुश्च**'=कर्त्ता का प्रयोजक हेतु कहलाता है)। '**जोन मेड द हौर्स वॉक्**' की भाँति न केवल '**जोन मेड् बिल मूव**' ही 'प्रत्यक्ष' और 'अप्रत्यक्ष' कर्त्ता की दृष्टि से तटस्थ है ('जोन' के सम्बन्ध में) बल्कि '**जोन मूव्ड बिल**' भी तटस्थ ही है। अंग्रेज़ी में 'अप्रत्यक्ष' कर्त्तृत्व (या हेतु) व्यक्त करने का सर्वाधिक सामान्य उदाहरण '**जोन हैड ए हाउस बिल्ट**' के रूप में दिया जासकता है, जिसमें 'जोन' 'अप्रत्यक्ष कर्त्ता' या 'हेतु' के रूप में अंकित है। (२४) में चित्रित रचना की उपयोगिता की केवल सीमाएँ ही अस्पष्ट नहीं हैं, बल्कि यह इस दृष्टि से भी अस्पष्ट है कि इससे यह नहीं पताचलता कि विशिष्ट निदर्शनों में परस्पर अनुकारी सकर्मक और अकर्मक वाक्यों के बीच सम्बन्ध (२४) और (२५) में उदाहृत सम्बन्ध के तुल्य है, या '**जोन मूव्ड बिल**' और '**बिल मूव्ड**' के बीच 'साधकता-सम्बन्ध' की भाँति। उदाहरणार्थ, निम्न दो वाक्यों के सम्बन्ध में कोई भी झिझक सकता है :

(२६) **द ऐरोप्लेन फ़्ल्यू फ़्रॉम लन्दन टु पैरिस**

(२७) **द पाइलट फ़्ल्यू द ऐरोप्लेन फ़्रॉम लन्दन टु पैरिस।**

'**द बर्ड फ़्ल्यू थ्रू द एयर**' में 'सकर्त्तृक' कर्त्ता है (जो कुछ करता है), जबकि '**द स्टोन फ़्ल्यू थ्रू द एयर**' में 'अ-कर्तृक' कर्त्ता है (क्या हुआ ?)। किन्तु (२६) के कर्त्ता के विषय में निश्चित नहीं कहा जासकता। स्पष्टतर उदाहरणों में उक्त तालिका प्रथम और चतुर्थ श्रेणी की क्रियाओं को 'सकर्त्तृक' और 'अकर्त्तृक' नामिकों के अन्तर के आधार पर देखा जासकता है, जो सकर्मक के '**कर्म**' और अकर्मक के 'कर्त्ता' के रूप में स्थित हैं। इस अन्तर के अतिरिक्त चतुर्थ श्रेणी की क्रियाएँ 'ससाधक' हैं।

८. २. १३ अन्य अकर्मकाभासी रचनाएं

तालिका-१२ की ५ और ६ श्रेणियां भी अपने विनियोग में कुछ सीमित हैं। इन रचनाओं का निदर्शन निम्न दो वाक्यों के रूप में देखा जा सकता है :

(२८) द हाऊस इज़् बिल्डिङ्

(२९) डे॑टर्ज़ेण्ट्स से॑ल् वे॑ल्

दोनों ही वाक्य 'अ-कर्तृक' हैं, तथा दोनों को ही सामान्यतम सकर्मक वाक्यों से सम्बद्ध सिद्ध किया जासकता है : **'दे आर बिल्डिङ् द हाउस', 'दे से॑ल् डे॑टर्जेण्ट्स'** । किन्तु वे अकर्मक 'ससाधक' वाक्यों से इन अर्थों में भिन्न हैं कि वे 'कर्त्ता की प्राक्कल्पना करके चलते हैं' : **'द हाउस इज़् मूविङ्', 'ग्रास ग्रोज़् वे॑ल्'**, आदि । इस दृष्टि से वे अंग्रेज़ी के कर्मवाचक वाक्यों के समतुल्य हैं। वास्तव में (२८) का वर्तमान अंग्रेज़ी में 'रचनान्तरण' इसप्रकार होगा : **'द हाउस इज़् बीइङ् बिल्ट'** । किन्तु (२९) के द्वारा कहीं अधिक सामान्य रचना का आभास मिलता है, जिसे इतनी सरलता से कर्मवाच्य में पलटा नहीं जासकता ।

हैलिडे के अनुसार : 'सामान्य वर्त्तमान काल में ('लट् लकार') में इस प्रकार की रचना बहुधा मिलती है : **'दिस् मैटीरियल् वाशे॑ज़्'**; विशेषकर 'निषेधात्मक' शक्यता में, जहाँ उसे 'कान्'ट' की अपेक्षा 'डौन्'ट' या 'वौन्'ट' के द्वारा सूचित किया जाए : **'दिस् मैटीरियल् डज़न्'ट्/वौन्'ट् वाश्'** । किन्तु इसका प्रयोग केवल इन्हीं क्रियारूपों तक ही सीमित नहीं है । इसका प्रयोग किसी भी लकार में होसकता है; विशेषकर **'ली'** वाले क्रियाविशेषणों के साथ : यथा—**'द क्लोथ्स वाश ईज़िली', 'दीज़् बुक्स आर नौट् गोइङ् टु से॑ल् क्विक्ली'**, आदि । इन सब में ही किसी प्रक्रिया का विशेषक लक्षण बताया जारहा है । यह इससे सम्बद्ध किसी विशेषता या सामान्यता का सूचक होसकता है । इसीलिए हम इस 'प्रकार' को **'कर्तृ-निर्दिष्ट'** (यथा —'दि क्लोथ्स वर वाश्ड') न कहकर **'प्रक्रिया-निर्दिष्ट'** कहसकते हैं ।'

हैलिडे के द्वारा पहचाना 'कर्तृ-निर्दिष्ट' और 'प्रक्रिया-निर्दिष्ट' के बीच का यह विभेद निम्न तीन उदाहरणों के माध्यम से अधिक स्पष्ट किया जासकता है :

(३०) **द बुक्स सोल्ड क्विक्ली**

(३१) **द बुक्स वर सोल्ड क्विक्ली**

(३२) **दे सोल्ड द बुक्स क्विक्ली**

इनमें से : (३०) निश्चय ही 'प्रक्रिया-निर्दिष्ट' है : इसका अर्थ यह है कि पुस्तकें अपनी किसी विशेषता के कारण ही शीघ्र बिकगईं । (मानो, **'पुस्तकें स्वयं बिक गई हों'** ! यह अवधेय है कि 'फ्रेंच' आदि कुछ भाषाओं में (३०) के समतुल्य वाक्य **'प्रतिवर्त्ती'** रूप भी ग्रहण करलेते हैं ।) इसके विपरीत, (३१) को 'कर्तृ-निर्दिष्ट' कहा जासकता है : इसमें निस्सन्देह यह भावना अन्तर्हित है कि ऐसा किसी (कर्त्ता) के ही कारण हुआ कि पुस्तकें शीघ्र ही बिकगईं । किन्तु इसी भावना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति (३२) में हुई है, जो स्वतः कर्तृवाच्य है । कहसकते हैं कि (३०) वाक्य 'प्रक्रिया-निर्दिष्ट' के रूप में 'अंकित' है, जबकि 'कर्मवाच्य' का प्रयोग इसप्रकार 'अंकित' नहीं है । इसप्रकार के 'प्रक्रिया-निर्दिष्ट' एवं 'कर्मवाच्य' के युगल-वाक्यों के अनेक उदाहरण मिलजाएँगे, जो अर्थात्मना समतुल्य होंगे : **'शी डज़न्'ट फ्राइ-**

टन् ईजिली/शी इज़न्'ट ईज़िली फ़्राइटन्ड'। 'कर्मवाचक प्रयोग' में भी 'सकर्मक' या 'करण' अधियोजी का प्रयोग उपलभ्य होसकता है (तु०—७. ४. ५) : '**शी इज़न्'ट् ईज़िली फ़्राईटन्ड बाई बर्गलर्स/थ्रे ट्स**'। परन्तु इसकी व्याख्या भी अधिकांशतः 'प्रक्रिया-निर्दिष्ट' के रूप में ही कीजाएगी। कारण यह है कि अंग्रेज़ी में 'अभूत' लकार यदि 'पक्ष' की दृष्टि से 'अनंकित' हो, तब उसे 'स्वभावपरक' रूप में ग्रहण कियाजाता है (तु०—७. ५. ७)। इस उदाहरण में '**बर्गलर्स**' या '**थ्रे ट्स**' अधियोजियों की 'अनिश्चितता' ('द' की अनुपस्थिति) इस व्याख्या का समर्थन करती है। इसके विपरीत, '**शी वाज़न्'ट् ईज़िली फ़्राइटन्ड बाइ द बर्गलर्स/थ्रे ट्स**' को तुरन्त ही '**कर्त्तृ-निर्दिष्ट**' स्वीकार किया जासकता है।

(३०) जैसे वाक्यों का विश्लेषण समस्याजनक होता है, जिनमें षष्ठ श्रेणी की क्रिया का प्रयोग हुआ है। यद्यपि 'प्रक्रिया-निर्दिष्ट' वाक्यों पर प्रतिबद्ध सीमाएँ पर्याप्त अस्पष्ट हैं, फिर भी अंग्रेज़ी में उनका प्रयोग बहुधा होता है। उनमें से अनेक प्रयोग अस्वीकार्य भी होसकते हैं : यथा '**द फ़र्स्ट ऐडिशन एग्झ़ास्टेड इन् थ्री डेज़्**', '***कैवियार नैवर ईट्स ऐट् फ़ाइव ओ'क्लॉक**', आदि; जबकि अनेक प्रयोग सन्देहास्पद भी होसकते हैं : यथा,*'**द म्यूज़िक हर्ड वे ल् ऐट् द बैक ऑफ़ द हॉल्**', आदि। इस खण्ड में बताए गए सामान्य ढाँचे के भीतर इन प्रयोगों को 'अकर्मकाभासी' कहा जासकता है। किन्तु द्वितीय और तृतीय श्रेणी की क्रियाओं से वे इस अर्थ में भिन्न हैं कि अकर्मकाभासी रचना में उनका 'कर्त्ता' वही है, जो सकर्मक रचनाओं में उनका 'कर्म' होता है। इस विषय में वे क्रियाओं के 'कर्मवाच्य' रूप दिखाईदेते हैं (तु०-८. ३. ३)।

तालिका-१२ की २, ३, ५ और ६ श्रेणी की क्रियाओं से बने सभी अकर्मकाभासी वाक्य सकर्मक वाक्यों से रचनान्तरण के द्वारा व्युत्पन्न किये जासकते हैं। दूसरी ओर, जैसा कि प्रेरणार्थक रचनाओं-सम्बन्धी हमारे पूर्व विमर्श से पता चलता है, १ और ४ श्रेणी के वास्तविक अकर्मक वाक्य सकर्मक वाक्यों की रचना के 'उद्गम स्रोत' हैं। अतः व्युत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है : अकर्मक→सकर्मक→अकर्मकाभासी। इसके औपचारिक परिणामों पर विचार करने से पूर्व हमें त्रिपदा रचनाओं पर भी संक्षेप में विचार करलेना चाहिए : अर्थात् कर्त्ता, प्रत्यक्ष कर्म और अप्रत्यक्ष कर्म (सम्प्रदान) से युक्त 'वाक्य-नाभिक' (तु०—८. २. १)।

८. २. १४ त्रिपदा रचनाएँ

यहाँ कथनीय सामान्य बात यह है कि जिस प्रकार एकपदा रचनाओं से 'प्रेरणार्थकता' की धारणा द्वारा 'द्विपदा' रचनाएँ व्युत्पन्न की जासकती हैं, उसी तरह उसी नियम के पुनः नियोग से द्विपदा से 'त्रिपदा' रचनाओं का विधान भी किया जासकता है। '**जोन मूव्स द स्टोन**' का जो विन्यासात्मक सम्बन्ध '**द स्टोन मूव्स**' केसाथ है, वही (३३) का (३४) केसाथ है :

(३३) **जोन गिव्स द बुक् टु मेरी**

(३४) **मेरी हैज़ द बुक्**

फिलहाल 'स्वामित्वयुक्त' वाक्य (३४) में **'द बुक्'** को 'हैव' क्रिया का 'कर्म' स्वीकार किया जासकता है। इस खण्ड में दीगई युक्ति पर इस तथ्य से कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, इस (३४) वाक्य को सकर्मक नहीं कहा जासकता (तु—८. ४. ४)।

इन त्रिपदा रचनाओं की बात उन भाषाओं के सम्बन्ध में विचार करने से अधिक स्पष्ट होगी, जिनमें सकर्मक और अकर्मक दोनों वाक्यनाभिकों पर प्रेरणात्मक रचना का उत्पादक प्रभाव देखाजाता है: उदाहरण के लिए हम फ्रेंच को प्रयुक्त करेंगे। उक्त (३३) और (३४) वाक्यों का फ्रेंच में अनुवाद इस प्रकार होगा:

(३५) *Jean donne le livre a' Marie*

(३६) *Marie a le livre*

ऊपर ८. २. ४ में फ्रेंच की जो प्रेरणार्थक रचना अकर्मक से सकर्मक के रूप में प्रदर्शित कीगई है, उसे ही सकर्मक नाभिकों पर लागू करके तीनपदवाली रचनाएँ व्युत्पन्न की जासकती हैं। उदाहरणार्थ:

(३७) *Jean fait manger les pommes aux enfants*

वाक्य का सम्बन्ध निम्न वाक्य से है:

(३८) *Les enfants mangents les pommes*

(इनमें से (३७) का अनुवाद है **'जोन मेक्स द चिल्ड्रन ईट् द एप्पल्स'** (**जोन बच्चों को सेब खिलाता है**) और (३८) का **'द चिल्ड्रन ईट् द एप्पल्स'** (बच्चे सेब खाते हैं)। (३७) को हम इस प्रकार के अर्ध-अंग्रेज़ी वाक्य के द्वारा स्पष्ट करसकते हैं: **'जोन मेक्स-ईट् द एप्पल्स टु द चिल्ड्रन्'**।) (३५) और (३७) के बीच संरचनात्मक समानान्तरता स्पष्ट है। जिस प्रकार ३५ में सामान्य त्रिपदा क्रिया **'दौन्'** का **'लॅ लीव्र'** प्रत्यक्ष कर्म है, और **'आ मारी'** अप्रत्यक्ष कर्म (सम्प्रदान) है, उसी प्रकार ३७ में 'जटिल' त्रिपदा क्रिया *'fait manger'* का *'les pommes'* प्रत्यक्ष कर्म है, और *'Les enfants'* अप्रत्यक्ष कर्म (द्वितीया)। यह समानान्तरता इस तथ्य से भी पुष्ट होती है कि फ्रेंच में बहुधा ही 'सरल' या 'जटिल' त्रिपदा क्रियाओं में से किसी को चुनने की सुविधा रहती है। उदाहरणार्थ निम्न दोनों ही वाक्य 'जोन मेरी को पुस्तक दिखाता है' के अनुवाद कहे जासकते हैं:

(३९) *Jean montre le livre a' marie*

(४०) *Jean fait voir le livre a' marie*

(इनमें से द्वितीय का अंग्रेज़ी अनुवाद इस प्रकार होगा: **'जोन मेक्स-सी द बुक् टु मेरी'**।) इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार **'डाइ'** (मरना) क्रिया का **'किल्'** (हनन) कोषीय द्विपद प्रेरणार्थक रूप है, उसी प्रकार *'voir'* (देखना) का प्रेरणार्थक कोषीय त्रिपद रूप *'montre'* (दिखाना) है। इसी तरह फ्रेंच में 'सरल' और

'**जटिल**' द्विपदा क्रियाओं का चुनाव भी बहुधा किया जासकता है : उदा०—'*Jean appelle le docteur*' (जोन डॉक्टर को बुलाता है) : '*Jean fait venir le docteur.* (जोन डॉक्टर को आयाहुआ करता है)। अतः (३५) में '*donner*' (युक्त करना =देना) और (३९) में '*montrer*' (देखता-बनाना+दिखाना) में अन्तर त्रिपदा रचनाओं में उनके अनिवार्य या वैकल्पिक 'कोषीकरण' से सम्बद्ध है।

तुर्की और हिन्दी के साथ-साथ फ्रेंच में 'प्रेरणार्थक' रचना की यह विशेषता है कि अन्तर्हित द्विपद नाभिक का कर्त्ता सरल या जटिल त्रिपदा प्रेरणार्थक क्रिया के अप्रत्यक्ष कर्म (सम्प्रदान) के रूप में रचनान्तरित होजाता है, जबकि अन्तर्हित द्विपद नाभिक का कर्म त्रिपदा प्रेरणार्थक रचना में भी 'प्रत्यक्ष कर्म' ही बनारहता है। त्रिपद-चक्र पूरे रूप में आरेख-१९ में दिखायागया है, जिसमें '**ख**' अन्तर्हित अकर्मक नाभिक का 'कर्त्ता' है (प्रथम चरण में), '**क**' द्विपद सकर्मक नाभिक का कर्त्ता है (द्वितीय चरण में), और '**ग**' त्रिपदा प्रेरणार्थक रचना का 'कर्त्ता' है (जिसे हम प्रस्तुत प्रसंग में चक्र की चरम परिणति मानरहे हैं)। 'क्रिया' के साथ हर आरेख में लिखी संख्या उसके साथ प्रयुक्त नामिकों की संख्या को सूचित करती है। (हम मध्यवर्त्ती ग्रंथियों के लिए 'चिह्नों' को भी यहीं प्रविष्ट करेंगे।) यह अवधेय है कि इस आरेख में '**ख**' को सभी स्थितियों में धनात्मक या ऋणात्मक कर्त्ता के रूप में दिखाया गया है, जिससे अंग्रेजी में प्रथम और चतुर्थ श्रेणी के सकर्मक वाक्य बनसकते हैं (तु—८. २. ११)। तीसरे चरण में '**क**' को 'धनात्मक कर्त्ता' के रूप में अंकित करना सन्देहास्पद कहा जासकता है; क्योंकि इससे यह भी सिद्ध होसकता है कि सभी अप्रत्यक्ष कर्म **सकर्त्तृक** होते हैं। निश्चय ही यह सत्य नहीं है। किन्तु, अबतक '**क हैव ख**' (यथा—**मेरी हैज द बुक**') जैसे वाक्यों को हम '**सकर्मक**' मानते आए हैं, जिसमें 'क' कर्त्ता है और 'ख' कर्म; तथा उक्त प्रणाली में विकसित सभी वाक्यों का एक-न-एक 'सकर्त्तृक' कर्त्ता है।

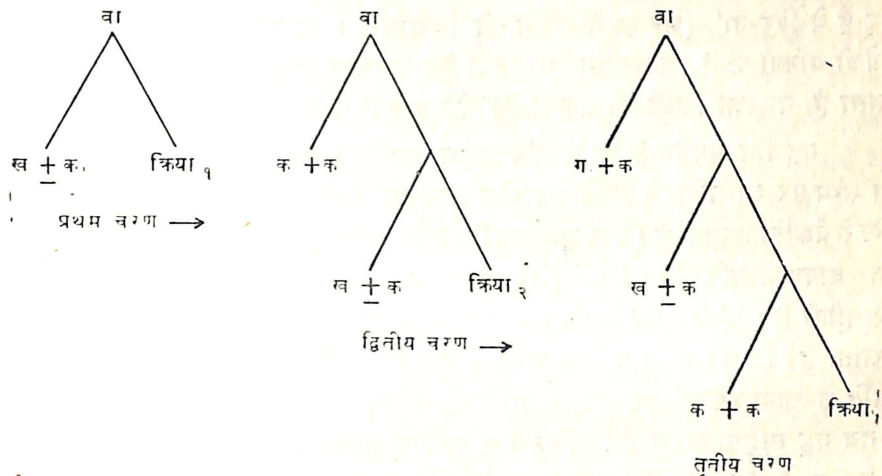
८. २. १५ अस्पष्ट विन्यास की रचनाएं

फ्रेंच में प्रेरणार्थक रचनाओं के विषय में एक और बात कथनीय है। निम्न प्रकार के वाक्य अस्पष्ट कहे जासकते हैं :

(*41*) *Jean fait manger les enfants.*

यद्यपि सामान्य परिस्थितियों में इसका अनुवाद '**जोन बच्चों को खाना करवाता है**' के रूप में होगा, किन्तु इसका अर्थ यह भी होसकता है कि '**जोन बच्चों को खायाजाता बनाता है।**' यह अस्पष्टता इस बात का परिणाम है कि *manger* (खिलाना) क्रिया 'कर्म' के 'त्याग' से भी युक्त होसकती है (तु०-८. २. ९)। (हिन्दी में 'राम बच्चों को खिलाता है' के भी दोनों अर्थ होसकते हैं, '**बच्चों को भोजन खिलाना**' और '**किसी नरभक्षी को बच्चे खिलाना**'।) 'भोजनादि खिलाने'-सम्बन्धी सामान्य अर्थ में (४१) वाक्य के पीछे छिपा यह अकर्मकाभासी वाक्य है :

आरेख-१९
[सकर्मकता और प्रेरणार्थकता]



'*Les enfants mangent*' (बच्चे खाते हैं) । यह तथ्य, कि (४१) में '*Les enfants*' (बच्चे) प्रत्यक्ष कर्म है, अप्रत्यक्ष नहीं, इस बात को बताता है कि प्रेरणार्थक रचनान्तरण के समय 'अकर्मकाभासी' वाक्य भी 'अकर्मक' की भाँति ही व्यवहार करते हैं । अतः (४१) में प्रदर्शित प्रेरणार्थक रचना में रचनान्तरण से पहले ही 'कर्म' के 'त्याग' का नियम लागू होना चाहिए । फिर, **'जोन बालकों को खाने में प्रवृत्त करता है'** के रूप में इसकी व्याक्या को चरण-२ के नाभिक से निकली चरण-३ की **रचना** के रूप में भी नहीं कहाजासकता । बल्कि यह तो स्वतः चरण-२ की ही रचना है, जो भिन्न व्याख्यावाली एक अन्य (द्वितीय चरण की) रचना से व्युत्पन्न हुई है ('कर्म' को छोड़ने पर जिसे हम 'प्रथम चरण' की रचना भी कहसकते हैं) । इसके विपरीत **'नरभक्षी'** को **'बच्चे खिलाने'** वाली व्याख्या तृतीय चरण में प्राप्य होसकती है, यदि आरेख-१९ में से **'क'** नाम से अंकित ग्रन्थि को निकाल दियाजाए । अतः इस (४१) वाक्य की अस्पष्टता भी वैसी ही है, जैसी अंग्रेज़ी के **'द शूटिङ् ऑफ़ द हण्टर्स'** प्रयोग की (शोम्स्की द्वारा 'विन्यासात्मक अस्पष्टता' के गिनाएगए उदाहरणों मेंसे) । **'ऐक्स शूट्स द हण्टर्स'** में **'शूट्'** सकर्मक है (**'एक्स'** को अनिर्दिष्ट कारक-कर्त्ता के रूप में प्रयोग कियागया है); किन्तु यही **'द हण्टर्स शूट्'** में अकर्मकाभासी है (तु०-**'द ईट्'** ८. २. ९ में) । क्योंकि **'द क्रि-इङ् ऑफ नार्स'** तरह के अंग्रेज़ी नामसघों की व्याख्या का सामान्य नियम यह प्रतीत होता है कि यदि विचाराधीन क्रिया (क्रि) अकर्मक है तब वे 'कर्तृपरक' होते हैं, किन्तु यदि क्रिया सकर्मक हो तब वे 'कर्मपरक' होते हैं । अतः परिणाम यह निकलता है कि अकर्मकाभासी क्रिया उन नियमों में सच्ची अकर्मक क्रियाओं की भांति व्यवहृत होती है, जिनके

अनुसार **'द शूटिङ ऑफ़ हण्टर्स'** जैसे **नाम-संघों** की रचना उनके पीछे स्थित **'द हण्टर्स शूट्'** जैसे नाभिकों से होती है। प्रसंगतः यह भी देखा जासकता है कि (४१) जैसी अस्पष्टता तुर्की वाक्यों में भी दृष्टिगोचर होती है: यथा, **'अहमें'त् शोचुक-लर्-ई ये-दिर्-दी'** (**अहमद ने बच्चों को खिलाया**)। **'द शूटिङ् ऑफ़ हण्टर्स'** जैसे अंग्रेज़ी वाक्यों जैसी अस्पष्टता एस्किमो के **'अग्नाक् ताकुबा-आ'** (**कोई स्त्री को देखता है**, या **स्त्री किसी को देखती है**) जैसे वाक्यों में विद्यमान है ही।

यह बात अवधेय है कि 'कर्त्तृपरक' या कर्मपरक अस्पष्टता के ये सभी निदर्शन इस तथ्य पर आधारित हैं कि विचाराधीन रचनाओं में 'सकर्त्तृक' नामिक संरचनात्मक दृष्टि से वैकल्पिक होता है (अर्थात् वह 'अधियोजी' होता है: तु०-८. १. १)। ऊपर कहे फ्रेंच वाक्य में यदि *'au lion'* (शेर द्वारा) का प्रयोग हो, तब उसकी 'कर्मपरकता' सिद्ध होती है: *'Jean fait manger les enfants au lion'* (जोन बच्चे शेर को खिलाता है)। अंग्रेज़ी के **'शूटिङ ऑफ़ द हण्टर्स'** में **'बाई द गेमकीपर'** की उप-स्थिति से 'कर्मपरकता' आती है। एस्किमो के उक्त वाक्य में यदि **'किम्मी-प्'** जोड़ दें, तब यह स्पष्टता आती है: **'किम्मी प् अग्नाक् ताकुबा-आ'** (कुत्ता स्त्री को देखता है, तु०-८. १. ६)। क्योंकि कर्मवाचक वाक्यों का एक प्रमुख लक्षण सकर्त्तृकता की वैकल्पिकता या उसका अभाव है, अतः इस दृष्टि में कुछ औचित्य होसकता है कि पहले अनुच्छेद में कथित सभी अस्पष्ट रचनाएं 'कर्त्तृपरक' या 'कर्मपरक' व्याख्या की दृष्टि से तटस्थ हैं (उदा०-**'द हण्टर्स वर शॉट्** (**बाइ द गेमकीपर**)', **'द चिल्ड्रन वर ईटन** (**बाई द लॉयन**)', **'द वूमॅन वाज़ सीन** (**बाई द डॉग**)' आदि। अब हमें इन 'कर्त्तृपरक' और 'कर्मपरक' वाक्यों (या कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य) पर परम्परागत व्याकरण की 'वाच्य'-कोटि के अधीन विचार करनाचाहिए।

८. ३ वाच्य

८. ३. १ 'वाच्य' संज्ञा:

'वॉयस' (ध्वनि या **'वाच्य'**) का प्रयोग रोमानी वैयाकरणों द्वारा दो विभिन्न किन्तु सम्बद्ध अर्थों में किया जाता था: (१) 'ध्वनि' (उच्चारण या उत्पन्न ध्वनि) के अर्थ में, और (२) शब्द के 'रूप' या **'आकृति'** के अर्थ में (विशेषतः **'अर्थ'** की तुलना में: तु०-७. १. २)। इनमें से प्रथम भावना अबतक भी भाषाविज्ञान में **'वॉयस्ड'** (सघोष=सध्वनिक) ध्वनियों आदि के अर्थ में विद्यमान है (चाहे वे 'ध्वनि-इकाई' हों या 'वर्ण-इकाई': तु०-३. २. ४)। 'आकृति'-सम्बन्धी दूसरी भावना में, वर्त्तमान भाषाविज्ञान से इसका प्रयोग मिटगया है। इसके स्थान पर इससे ही व्युत्पन्न एक तीसरे अर्थ में इस संज्ञा का प्रयोग होनेलगा है: जिसके अनुसार यह 'क्रिया' के **'कर्त्तृपरक'** और **'कर्मपरक'** आकारों का बोधकराती है।

(लैटिन की परम्परागत संज्ञा, जो इस तीसरी भावना में प्रयुक्त होती थी, **'जेनुस्'** या **'स्पेसीज़'** (जाति) के रूप में थी। कालान्तर में इसका प्रयोग **'लिंग'** के लिए होने लगा।) 'वाच्य' के वर्त्तमान अर्थ में परम्परागत ग्रीक संज्ञा **'दियाथेसिस'** (अंग्रेज़ी में 'डायाथीसिस') थी, जिसका शब्दानुवाद **'द्विस्थिति'** के रूप में किया जासकता है। अब भी कुछ भाषाविद् **'वॉयस्'** के स्थान पर इसी संज्ञा का प्रयोग विहित मानते और करते हैं। किन्तु ध्वनिवैज्ञानिक या ध्वनिप्रक्रियात्मक दृष्टि से किये जाने वाले 'वॉयस्' (**ध्वनि**) के अर्थ और व्याकरण के 'वॉयस्' (**वाच्य**) के अर्थ में किसी प्रकार के विभ्रम की सम्भावना बहुत ही कम है (संस्कृत शब्दावली में तो दोनों शब्द पृथक् ही हैं)। यहाँ हम इसके 'व्याकरणात्मक' पहलू पर ही विचार करेंगे।

'वाच्य' के विमर्श-प्रसंग में हम पाएँगे कि भ्रम का अवकाश केवल 'संज्ञाओं' तक ही सीमित नहीं है। ग्रीक वैयाकरणों ने **कर्त्तृ** (एक्टिव), **कर्म** (पैस्सिव) और **भाव** (मध्य=मिडल) के रूप में जो तीन 'स्थितिपरक' विभाग किये, वे उनमें क्रियारूपों के वास्तविक विभेद को पहचानने में समर्थ नहीं होसके। परिणाम यह कि हम ग्रीक आदि श्रेण्य भाषाओं और बोलचाल की अंग्रेज़ी आदि अन्य आधुनिक भाषाओं के विषय में भी 'वाच्य' की परस्पर-विरोधी व्याख्या पाते हैं। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी के विषय में **मैक्कैरो** कहता है: 'यदि हम, श्रेण्य भाषाओं के ज्ञान का हवाला न लेकर, नए सिरे से अंग्रेज़ी का व्याकरण लिखनेबैठें, तब हम निश्चय ही नहीं पहचान पाएंगे कि वहाँ 'कर्मवाच्य' जैसी कोई चीज भी विद्यमान है। मुझे बहुधा यह सन्देहास्पद लगता है कि आज की व्यवहृत अंग्रेज़ी में ऐसी कोई चीज़ है भी या नहीं; और यह कि केवल परम्परा-निर्वाह के अतिरिक्त उसको इतना महत्त्वपूर्ण स्थान अंग्रेज़ी व्याकरण में मिलना भी चाहिए या नहीं?' (अन्य वैयाकरणों के '**कर्म-वाच्य**'-सम्बन्धी वक्तव्यों के साथ ही यह वक्तव्य भी **स्वार्त्विक** ने इस प्रश्न के अपने हाल के व्यापक और उद्घाटक अध्ययन में उद्धृतकिया है।) ठीक इसके विरोध में यह भी कहा जासकता है कि ग्रीक वैयाकरणों ने 'कर्त्तृवाच्य' के मुका-बिले में 'कर्मवाच्य' के विषय में जो कुछ भी कहा है, वह श्रेण्य ग्रीक की अपेक्षा अंग्रेज़ी पर अधिक घटता है। यद्यपि इस बात के विस्तार में हम नहीं जाएंगे, किन्तु इस कथन से यह तो स्पष्ट ही है कि 'वाच्य' की व्याख्या आधुनिक समय में भी, और परम्परागत पाश्चात्य व्याकरण में भी, पर्याप्त विवादास्पद रही है।

८. ३. २. ग्रीक में कर्त्तृवाच्य और भाववाच्य

विगत अनुच्छेद में ग्रीक व्याकरण के **'कर्त्तृ'**, **'कर्म'** और **'भाव'** रूपी तीन वाच्यों की चर्चा कीगई है। नाम से ही पता चलता है कि 'भाव' को 'कर्त्तृ' और 'कर्म' के प्राथमिक विरोध के बीच की एक स्थिति के रूप में स्वीकार कियागया था। जिसके द्वारा **'कर्त्तृ'** की भांति 'कार्य होने' (क्रिया) की सूचना भी मिलती थी, और **'कर्म'** की भांति' **'स्थिति'** की भी: क्रिया के निहितार्थ या परिस्थितियों के कारण।

तथ्यतः ग्रीक क्रिया के अधिकांश रूपों में **'कर्मवाच्य'** **और** **'भाववाच्य'** के बीच कोई विभेद नहीं पायाजाता। बिल्कुल विविक्त 'कर्मवाचक' क्रियारूप तो 'भविष्यत्' या 'लुङ्' (एग्रोरिस्ट) में ही पाए जाते हैं (तु०-७. ५. ६)। इनमें से भी 'भविष्यत्' का विकास श्रेण्यकाल से पहले नहीं हुआ, जबकि 'लुङ्' को कम-से-कम कुछ क्रियाओं में 'भाव' के अर्थ में भी लियाजाता है (इसका अभिप्राय हम अभी स्पष्ट करेंगे)। अन्तिम बात यह कि जिन क्रियारूपों को हम 'भाव' या 'कर्म' में प्रयोग करसकते हैं, अधिकांशतः उन्हें 'भाव' या 'मध्य' ही कहा जासकता है, 'कर्मवाचक' नहीं। संक्षेप में, ग्रीक में 'वाच्य' का अन्तर 'कर्त्तृ' और 'भाव' में है। 'कर्म' को इस दृष्टि से परवर्त्ती विकास कहा जासकता है (समस्त भारोपीय भाषाओं के ही सदृश); और आरम्भ में इसका प्रयोग भी बहुत ही कम होता था।

'कर्त्तृ' के विरोध में स्थितहोने पर 'भाव' का निहितार्थ यह है कि 'कार्य' या 'स्थिति' का प्रभाव क्रिया के कर्त्ता अथवा उसके हितों पर पड़ता है। इस धारणा के परिवृत्त में आनेवाली वाक्यश्रेणी का एक उदाहरण 'प्रतिवर्त्ती वाक्यों' को लिया जासकता है (तु०-८. २. १०)। उदाहरणार्थ, **'मैं स्वयं नहारहा हूँ'** (या, इसका निहितार्थ-प्रयोग **'मैं नहारहा हूँ'**=**'आई ऐ`म् वाशिङ् माइसे`ल्फ़'** : **'आई ऐ`म् वाशिङ्ग)'** का ग्रीक में अनुवाद 'लाओमाई' (लॉओ='कर्त्तृ', नहाना, धोना) के रूप में किया जासकता है। ऐसे सकर्मक वाक्य में इसे एक मध्यम तरीके से भी प्रयोग किया जासकता है, जिसमें 'कर्त्ता' के अतिरिक्त 'कर्म' का भी विस्पष्ट प्रयोग रहता है : उदाहरणार्थ, **'लाओमाइ खितोना'** (मैं कमीज़ धोरहा हूँ)। यहाँ **'कर्त्तृ'** के स्थान पर 'मध्य' के प्रयोग का यह अभिप्राय है कि 'कार्य' को कर्त्ता अपने लिए या अपने स्वार्थ केलिए कर रहा है (संस्कृत में **'आत्मनेपद'** का यही प्रयोजन है)। यह बात ध्यानयोग्य है कि फ्रेंच में भी इससे मिलती-जुलती एक रचना है : न केवल **'मैं स्वयं धोरहा हूँ'** के अर्थ में, बल्कि **'मैं एक कमीज़ धोरहा हूँ'** के अर्थ में भी (**'ज़ मे` लाव्'** : **'ज़ मे` लाव् युन् शमीज़'**)। इस प्रकार के प्रतिवर्त्ती वाक्यों में **'फलवत्ता'** (कर्त्रभिप्राय क्रियाफल) को निहितार्थ के रूप में कहा जासकता है : तु०— **'आई गौट् माईसे`ल्फ़ ए न्यू सूट'**। अन्य कई निदर्शनों में ग्रीक के 'भाववाच्य' की भावना को अंग्रेज़ी के 'प्रेरणार्थक प्रतिवर्त्ती' प्रयोग के द्वारा व्यक्त किया जासकता है : **'मिस्थो'** (आई हायर) तु० **'मिस्थोमाई'** (**आई गे`ट् माईसे`ल्फ़ हायर्ड**); **'दिदास्को'** (**आई टीच्**) तु० **'दिदास्कोमाई'** (**आई गे`ट् माइसे`ल्फ़ टॉट्**)। (ऐसे 'प्रेरणात्मक प्रतिवर्त्ती' कदाचित् संस्कृत व्याकरण में णिजन्त प्रयोग कहलाते हैं।)

यद्यपि ग्रीक के 'भाववाच्य' की अन्य भी कई भावनाओं को विविक्त किया जासकता है, तबभी जो कुछ ऊपर कहागया है वही कर्त्तृपरक प्रयोगों के विरुद्ध प्रयुक्त होनेवाले 'भाववाच्य' की सामान्य विशेषता बताने केलिए पर्याप्त है। इस वाच्य के स्पष्टीकरण केलिए जितने भी निदर्शन दिएगए हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि इसके कर्त्ता का 'सकर्त्तृक' या 'अकर्त्तृक' होना क्रिया के अर्थ या सन्दर्भ पर

निर्भरकरता है; और यदि 'कर्त्ता' 'अ-कर्त्तृक' होता है, तब कुछ उदाहरणों में इसे कर्त्तृवाच्य में स्थित सकर्मक वाक्य के कर्म से समरूप भी कहाजासकता है। इन परिस्थितियों में 'मध्य' और 'भाव' के बीच का भेद उदासीन या निरस्त होजाता है।

इस बात को अंग्रेज़ी के उदाहरणों से स्पष्ट किया जासकता है (जिसमें 'हैव' और 'गेट्' सहायिका क्रियाओं से युक्त अनेक रचनाएँ इसी प्रकार की उभयात्मकता से युक्त होती हैं)।

(४२) **आई ऐम् गेटिङ् शेव्ड**

की तुलना नीचे के दोनों वाक्यों मेंसे प्रत्येक से करें :

(४३) **आई ऐम् शेविङ्**

(४४) **आई ऐम् बीइङ् शेव्ड**

यदि (४२) के कर्त्ता को 'अ-कर्त्तृक' स्वीकार किया जाए, यद्यपि वह क्रिया में फिर भी अभिरुचि रखता है, तब (४२) को अर्थात्मना (४४) से समतुल्य एक 'कर्म'-वाक्य है। यदि वाक्य में कोई 'कर्त्तृक' अधियोजी हो, (यथा, 'आई ऐम् गैटिङ् शेव्ड बाइ द बार्बर' में), तब निस्सन्देह इसकी 'भावकर्म-परक' व्याख्या ही होसकेगी (तु०—८. २. १५ में दिए **'द शूटिङ् ऑफ़् द हण्टर्स'** आदि में)। किन्तु यदि (४२) वाक्य के कर्ता को 'सकर्त्तृक' के रूप में स्वीकार कियाजाए, तब यह (४३) के लगभग समतुल्य होगा : अर्थात्, यह एक अकर्मकाभासी वाक्य होगा।

८. ३. ३ कर्मवाच्य

ऊपर यह बात कहने का प्रयत्न रहा है कि कर्त्ता के 'अकर्त्तृक' मानेजाने पर 'कर्मवाच्य' और 'भाववाच्य' एक होजाते हैं। यही बात भारोपीय भाषाओं में परवर्त्ती 'कर्मवाच्य' के विकास की भिन्नता भी सिद्धकरती है। लैटिन के व्याकरणों में 'कर्त्तृ' और 'कर्म' के रूप में दो ही वाच्य मानेगए हैं; किन्तु वहाँ 'कर्मवाच्य' के अनेक कार्य ऐसे भी हैं, जिन्हें ग्रीक 'कर्मवाच्य' के कार्य न कहकर 'भाववाच्य' के कार्य कहनाचाहिए। कर्त्तृवाच्य और कर्मवाच्य के विमर्श में अंग्रेज़ी क्रियाओं **'मूव'** और **'टर्न'** का उदाहरण विशेष रूप में लिया जासकता है। हम देख ही चुके हैं कि अंग्रेज़ी क्रिया 'मूव' ससाधक है : **'ख मूव्स'** तु० **'क मूव्स ख'** (तु०-८. २. ३)। अनुकारी लैटिन वाक्यों में हम इससे भिन्न स्थिति पाते हैं : **'ख मूवेतूर'** (भाव) तु० **'क मूवेत् ख'** (कर्त्तृ-सकर्मक)। किन्तु इनमें से प्रथम का अनुवाद दो तरह से कियाजाता है : **'ख मूव्स'** (जिसमें ख कर्त्तृक या अकर्त्तृक दोनों रूप में रह सकता है) और **'ख इज़ मूव्ड'** (जिसमें ख के अतिरिक्त एक अन्य 'कर्त्ता' अपेक्षित है)। इन मेंसे केवल द्वितीय व्याख्या 'भाव' न होकर 'कर्मवाचक' है। प्रथम को तो इस तरह समझाया जासकता है : **'कहीं हलचल है, ख उससे प्रभावित है'** (भले ही ख उस गति का 'हेतु' हो या कर्त्ता)।

हम पहले ही देखचुके हैं कि ग्रीक में 'भाववाच्य' का प्रयोग वहाँ होता है, जहाँ अंग्रेज़ी में 'प्रतिवर्त्ती' वाक्यों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रयोग होता है । इसके विपरीत फ्रेंच, जर्मन, इतालवी, आदि अनेक आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में उन वाक्यों में प्रतिवर्त्ती रचना ही प्रयुक्त की जाती है, जहाँ ग्रीक में 'भाववाच्य' का, लैटिन में 'कर्मवाच्य' का और अंग्रेज़ी में 'ससाधक' अकर्मक या अकर्मकाभासी वाक्य का प्रयोग मिलता है (तालिका—१२ में 'मूव', 'शेव' और 'सेॅल्' क्रियाओं को देखें) । इससे बढ़कर, 'पूर्णभूत' के अतिरिक्त रूसी का 'कर्मवाच्य' सम्भवतः व्युत्पन्न ही 'प्रतिवर्त्ती' रचनाओं से हुआ है; तथा कुछ मात्रातक उनसे एकीभूत भी है । यही बात स्पेनी भाषा में भी है । वहाँ भी अन्य रोमानी भाषाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में 'प्रतिवर्त्ती' रचना को 'कर्मवाच्य' के स्थान पर प्रयोग किया जासकता है । स्थान की कमी के कारण इस बात के विस्तार में जाने का अवकाश यहाँ नहीं है कि 'भाव', 'प्रतिवर्त्ती' और 'कर्म' के आपसी सम्बन्ध किस प्रकार के हैं ! यही बात विविध भाषाओं की अकर्मक और अकर्मकाभासी रचनाओं के परस्पर सम्बन्धों के विषय में भी है । इस स्थल पर यह सावसर ही होगा कि हम उस 'कर्मवाच्य' पर अधिक विमर्श करें, जिसके स्वरूप को अबतक हम सिद्ध मानकर चले हैं ।

निम्न चार वाक्यों के विषय में यह बात सामान्यतः मान्य ही होगी (यद्यपि कुछ मतभेद भी पायाजाता है : तु०—८. ३. १) कि उनमेंसे (४५-क) और (४६-क) 'कर्त्तृवाचक' हैं, जबकि (४५-ख) और (४६-ख) 'कर्मवाचक' हैं । यह भी कि किसी न किसी भावना के आधार पर कर्त्तृवाचकों को मौलिक कहा जासकता है, ताकि (४५-ख) को (४५-क) का, और (४६-ख) को (४६-क) का, 'कर्मवाचक' रूप स्वीकार कियाजाए ।

(४५-क) **जोन किल्ड बिल**
(४५-ख) **बिल वाज़् किल्ड बाइ जोन**
(४६-क) **बिल किल्ड जोन**
(४६-ख) **जोन वाज़् किल्ड बाई बिल**

कर्त्तृपरक और कर्मपरक इन अनुकारी वाक्यों के बीच सम्बन्ध-भावना को परम्परागत रूप में इन शब्दों में व्यक्त कियाजाता है :

(१) कर्त्तृपरक वाक्य का कर्म भाववाचक वाक्य का कर्त्ता बन जाता है : **'बिल'** (४५-क) का कर्म है, किन्तु वही (४५-ख) का कर्ता है; **'जोन'** क्रमशः (४६-क) और (४६-ख) में **कर्म** और **कर्त्ता** के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

(२) अपने अधिक मौलिक प्रयोग (कर्त्तृवाच्य) में क्रिया रूपतः 'कर्त्तृपरक' रहती है, और कम मौलिक प्रयोगों (भाववाच्य) में कर्मपरक रूप में रहती है : **'किल्ड'** (कर्त्तृ) : **'वाज़् किल्ड'** (कर्म), अथवा 'मरगया' : 'मारागया' ।

(३) कर्त्तृवाच्य का कर्त्ता अनिवार्यतः उसी वाक्य के कर्मवाचक प्रयोग में व्यक्त नहीं

रहता; किन्तु यदि व्यक्त हो ही, तब यह विभक्ति या कर्मप्रवचनीय द्वारा 'कर्त्ता'-रूप में अंकित अधियोजी के रूप में प्रयुक्तहोता है, (तु०–७. ४. ७)। इसप्रकार (४५-ख) और (४६-ख) में '**बाई जोन**' और '**बाई बिल**' ऐसे ही अधियोजी हैं। इन दोनों वाक्यों से मिलतेहुए 'कर्त्तृरहित' कर्मवाचक वाक्य हैं: '**बिल् वाज़् किल्ड**' और '**जोन वाज़् किल्ड**'। हम देखही चुके हैं कि अंग्रेज़ी के अनुकारी कर्त्तृवाचक और कर्मवाचक वाक्यों के बीच सम्बन्ध को एक ही अन्तर्वर्त्ती **बीजसूत्र** पर लागूहोनेवाले रूपान्तरक नियमों की सीमा में रूपायित किया जासकता है: तु०-६. ६. ४।

किन्तु, यह स्पष्ट होगा कि '**कर्त्तृ**' और '**कर्म**' के रूप में दो संज्ञाओं का **प्रयोग** वास्तव में उन तीनों कार्यों को निभाने केलिए होता है, जिन्हें ग्रीक के प्रसंग में ऊपर वर्णित कियागया है। इनमें से प्रथम और तृतीय में इनका **प्रयोग** वाक्य-निर्माण में हुआ है, जबकि द्वितीय में क्रिया के 'रूप' केलिए: इसीलिए वहाँ **उद्धरण**-चिह्नों में इन्हें प्रयुक्त किया गया है। अवधेय बात यह है कि अनुकारी कर्त्तृ-वाचक और कर्मवाचक विभेद के स्पष्ट उदाहरणों में यद्यपि ये तीनों स्थितियाँ सह-पतित होसकती हैं, इसपर भी वे तीनों एकदूसरे से किसी सीमातक स्वतन्त्र हैं। '**पत्थर हिला**' जैसे अकर्मक ससाधक वाक्य एवं '**घर बनरहा था**' और '**पुस्तकें शीघ्रता से बिकगईं**' जैसे अकर्मकाभासी वाक्यों को प्रथम शर्त पूरीकरते तो माना जासकता है ('**जोन ने पत्थर हिलाया**', '**जोन ने पुस्तकें शीघ्रता से बेचीं**', आदि के रूप में), किन्तु अंग्रेज़ी प्रयोगों में इनकी क्रिया '**मूव्ड**', '**सोल्ड**', आदि के रूप में '**कर्त्तृ-परक**' रहती है। उसे द्वितीय शर्त के अनुसार '**वाज़ मूव्ड**' या '**वाज़ सोल्ड**' आदि के रूप में नहीं पलटाजाता; और न ही तृतीय शर्त के अनुसार इसे सकर्त्तृक अधियोजी-रचना के रूप में परिणत करने की सम्भावना ही रहती है: *'**पत्थर जोन के द्वारा हिला**', आदि के रूप में।

कर्मवाच्य के 'रूप' और 'प्रकार्य' के बीच संघर्ष की सम्भावना को परम्परानुगामी वैयाकरणों ने सिद्धान्ततः और व्यवहारतः स्वीकार किया था। यहाँ 'प्रकार्य' का अर्थ उस रचनान्तरण से है, जिसके द्वारा एक स्थिति में जो वाक्य का 'सकर्त्तृक' कर्त्ता होता है, वही दूसरे रूप में 'क्रियमाण' या 'क्रियाभोगी' के रूप में बदल जाता है। ग्रीक और लैटिन में ऐसी अनेक क्रियाएँ हैं, जो आकारतः '**भाववाचक**' (या मध्यवाचक) हैं, किन्तु अर्थात्मना वे '**कर्तृवाचक**' हैं। (संस्कृत में 'दिवादिगण' की एवं कुछ अन्य धातुओं के रूप भी इसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न करसकते हैं, जहां वे '**आत्मनेपद**' में प्रयुक्त हों।) इन्हें **अंग्रेज़ी** में परम्परागत रूप में '**डेपोनेण्ट**' कहा **जाता है, क्योंकि वे** 'कर्मवाचक' रूप के साथ सहचारी अर्थ का त्याग करती हैं: '**परि-त्यागी**'। इसका एक उदाहरण लैटिन के '**सेक्वौर**' को लिया जासकता है, जिसका अर्थ है '**मैं पीछा करता हूँ**', और जिसका प्रयोग 'कर्मवाचक रूप' में होने पर भी 'कर्त्तृ-वाचक' अर्थ में होता है। इससे बिल्कुल विपरीत स्थिति में, यद्यपि ऐसा कदाचित्

ही होता है, आकारत: क्रिया 'कर्त्तृवाच्य' में होकर भी उसी वाक्य के 'कर्मवाचक' रूपान्तरण में भी प्रयुक्तहोती है। उदाहरणार्थ, इन दो ग्रीक वाक्यों पर विचार करें, जिनमें से (४७-क) मूलत: (४७-ख) का सामान्य कर्मवाचक रूपान्तर है :

(४७ क) **होइ अथेनैओइ अपोक्तेइनाउसी सोक्रातेन=एथेन्स के लोगों ने सुकरात को मारडाला।**

(४७ ख) **सोक्रातेस् अपोथ्नेइस्कै (हुपो तोन् अथेनाइओन्')**=सुकरात मारागया (एथेन्स के लोगों द्वारा)।

४७-ख में जिस क्रिया का अर्थ **'मारागया'** कियागया है, उसी का अर्थ अन्य संदर्भों में **'मरता है'** भी होता है। वास्तव में यह आकारत: 'कर्त्तृरि' प्रयोग है। यह अवधेय है कि अंग्रेज़ी के अकर्मक ससाधक एवं अकर्मकाभासी वाक्यों से भिन्न रूप में (४७-ख) पहले कही प्रथम और तृतीय शर्तों को तो पूराकरता है, द्वितीय को नहीं।

'रूप' और 'प्रकार्य' के बीच इस 'संघर्ष' की बात तबतक व्यर्थ है, जबतक 'संघर्षहीन' वाक्यों के सामान्य प्रकार के उदाहरण बहुतायत से न दिएजाएं। कर्त्तृवाच्य और भाववाच्य के बीच विभेद के सम्बन्ध में परम्परागत धारणा इस प्राक्कल्पना पर आधारित है कि पूर्वोक्त तीनों शर्तें प्राय: ही सहघटित होती हैं। उदाहरणार्थ, यदि अंग्रेज़ी में (४५-ख) और (४६-ख) का प्रयोग इस रूप में होसकता :

(४५ग) ***बिल किल्ड बाई जोन**

(४६ग, ***जोन किल्ड बाई बिल**

जिसमें 'बाई जोन' और 'बाई बिल' सकर्त्तृक अधियोजी होते; और यदि यह लक्षण केवल 'किल्' या तत्सम कुछ अन्य धातुओं के साथ ही संयुक्त न रहकर उन समस्त प्रयोगों केलिए सामान्य बनजाता, जिनमें एक वाक्य का 'कर्त्ता' दूसरे अनुकारी वाक्य में 'कर्म' बनजाता है, तब यह न कहकर, कि अंग्रेज़ी में कर्मवाच्य और कर्त्तृवाच्य हैं, यह कहना उचित होता कि अंग्रेजी क्रिया वाच्य-निरपेक्ष है, और वह 'कर्त्ता' और 'ईप्सित' (कर्म) के साथ एक ही 'रूप' में प्रयुक्त होती है। यह स्थिति एस्किमो समेत कई भाषाओं पर लागूहोती है (तु०-८. २. १५)।

८. ३. ४. कर्त्तृहीन वाक्य :

पूर्वोक्त तीसरी शर्त के सम्बन्ध में यह कहागया था कि कर्मवाचक स्थिति में कर्त्तृवाचक स्थिति के कर्त्ता (सकर्त्तृक) का व्यक्त रूप में प्रयोग अनिवार्य नहीं है। कर्मवाच्यवाली भाषाओं में अंग्रेज़ी इस बात में असामान्य है कि इसमें 'सकर्त्तृक अधियोजी' का प्रयोग प्राय: उन्मुक्तता से होता है। किन्तु अंग्रेज़ी में भी **'बिल वाज़् किल्ड बाई जोन'** की अपेक्षा **'बिल वाज़् किल्ड'** का ही अधिक प्रयोग होता है। कर्मवाच्य से युक्त भाषाओं में एकमात्र वह प्रकार्य, जो सर्वत्र समान है (और तुर्की में तो यह एकमात्र प्रकार्य है), यह है कि इसके द्वारा 'कर्त्तृहीन' वाक्यों की रचना सम्भव होती है : यथा—**'बिल वाज़ किल्ड'**, आदि।

पूर्वोक्त अकर्मकाभासी और उक्त प्रकार की रचनाओं को छोड़कर भी अंग्रेज़ी में एक और प्रकार है, जिसके द्वारा 'कर्तृहीन' वाक्यों का सृजन होसकता है। इसमें कर्तृवाच्य में उस स्थान पर अनिर्दिष्ट कर्त्ता का प्रयोग होता है, जहाँ सामान्यतः किसी निर्दिष्ट कर्त्ता का प्रयोग होना चाहिए, और जिसका रूपान्तरण एक 'सकर्तृक' नामसंघ के रूप में होता है : तु०-**'जोन किल्ड बिल'** और **'समवन् किल्ड बिल'**, : **'बिल वाज़ किल्ड बाई जोन'** और **'बिल वाज़ किल्ड (बाई समवन्)'**। अतः सम्भावना पाँच प्रकार की है : (१) निर्दिष्ट कर्त्ता के साथ कर्तृवाच्य, (२) अनिर्दिष्ट कर्त्ता के साथ कर्तृवाच्य, (३) निर्दिष्ट कर्त्ता के साथ कर्मवाच्य, (४) अनिर्दिष्ट कर्त्ता के साथ कर्मवाच्य, और (५) कर्त्ता के उल्लेख से रहित कर्मवाच्य (**'रावण मारा गया'** या **'बिल वाज़ किल्ड'** के रूप में)। इनमें से चौथी रचना अंग्रेज़ी में सामान्य नहीं है : किन्तु परिस्थितिविशेष में यह सम्भव होसकती है।

अन्य भाषाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें इन पाँच मेंसे तीन या दो ही सम्भावनाएँ पाईजाती हैं। उदाहरणतः **तुर्की** में केवल प्रथम, द्वितीय और पंचम की ही उपलब्धि होती है, तृतीय-चतुर्थ की नहीं। (यद्यपि यह सम्भव है कि **'जोन द्वारा'** का समानार्थक तुर्की अधियोजी कर्मवाच्य में जोड़दिया जाए, किन्तु वह पूरी तरह उसके तुल्य नहीं होगा।) कुछ ऐसी भी भाषाएँ हैं, जिनमें कर्मवाचक वाक्य होते ही नहीं; प्रत्युत 'निर्दिष्ट' और 'अनिर्दिष्ट' **कर्तृवाच्य** ही होते हैं।

सकर्तृक-स्थिति में विशिष्टभाषाओं में विविध प्रकार के अनिर्दिष्ट कर्त्ताओं के चुनाव की स्वतन्त्रता होसकती है। उदाहरणतः, लैटिन के **'क्विदम्'** और **'अलिक्विस्'** दोनों का ही प्रयोग 'कोई' केलिए होसकता है। पर, इनमें से प्रथम का प्रयोग वक्ता को परिज्ञात अनिर्दिष्ट व्यक्ति केलिए होता है, जबकि द्वितीय का प्रयोग उस केलिए अनिर्ज्ञात व्यक्ति केलिए होता है। कुछ ऐसा ही अन्तर रूसी के 'क्तो-तो' और 'क्तो-निबुज' के बीच भी विद्यमान है। बहुत सी भाषाओं में 'कठपुतली' कर्त्ता-सर्वनाम भी है। इनका कार्य 'अनिर्दिष्ट' सर्वनामों से सर्वथा भिन्न होता है (जो केवल कर्त्ता की स्थिति में ही प्रयुक्त नहीं होते)। यह बात फ्रेंच **'औं'** और जर्मन **'मान्'** के प्रयोग से स्पष्ट होसकती है : क्रमशः **'औं' पार्ल ऐंग्लैस'** और **'मान् स्प्रिख़्ट इंग्लिश'** में (जिसका अनुवाद **'वे अंग्रेजी बोलते हैं'** (जमैका में, आदि) में प्रयुक्त 'वे' के रूप में किया जासकता है)। परन्तु अंग्रेज़ी में इसे सामान्यतम रूप में व्यक्त करने का तरीका भाववाच्य में प्रयोग करने का है : **'इंग्लिश इज़् स्पोकन्'** कुछ ऐसी भी भाषाएँ हैं, जिनमें यह 'प्रतिवर्त्ती' प्रयुक्त होता है : **'से हाब्ला इंग्लिस्'** (स्पेनी)।

अन्ततः उस स्थिति की भी चर्चा करनी चाहिए, जिसे परम्परागत रूप में अकर्मक क्रिया से सम्पन्न कर्मवाच्य का निर्वैयक्तिक प्रयोग कहाजाता है। अबतक हम यह मानकर चले हैं कि कर्मवाच्य की रचना उन तीनों शर्तों की सहघटना से होती है, जिन्हें ८. ३. ३ में गिनाया गया है। किन्तु, इनमें से पहली भाववाच्य को

केवल सकर्मक क्रियाओं तक (कर्मवाच्य के रूप में) सीमित करदेती है। यद्यपि अंग्रेज़ी तथा अन्य बहुतसी भारोपीय भाषाओं पर यह बात पूरी तरह घटितहोती है, किन्तु कुछ अन्य भाषाओं में अकर्मक क्रियाओं से बनताहुआ 'कर्मवाच्य' भी उपलब्ध होता है (संस्कृत में इसे ही 'भाववाच्य' कहागया है)। उदाहरणार्थ, तुर्की के कर्त्तृवाचक वाक्य '(ओ) इस्ताम्बुला बु योल्दान् गिदेर्' (वह इस्ताम्बुल् को इस रास्ते से जाता है) का निर्वैयक्तिक कर्मवाचक रूपान्तर है : **'इस्ताम्बुला बु योल्दान् गिद्-इल्-इर्'** (इस्ताम्बुल को इस रास्ते से जायाजाता है)। तुर्की में यही **'इल्'** प्रत्यय सकर्मक और अकर्मक क्रियारूपों के कर्मवाचक रूप केलिए प्रयोग किया जाता है। एक इसी तरह की रचना कुछ कम मात्रा में जर्मन भाषा में मिलती है : **'एँस् विर्ड ऑयटे आबेण्ड गेटान्त्स्ट'** ('यह होगा आज की रात नाचा'=अर्थात्, 'यह आज की रात नाच होगा')। हिन्दी के ऐसे वाक्यों के उदाहरण के रूप में दोनों तुर्की वाक्यों के अनुवादों को लिया जासकता है।) लैटिन और संस्कृत में भी इस प्रकार की रचना पाईजाती है : **पुन्याबातूर्**='**अयुध्यत**' (हिन्दी में :**लड़ा गया**)। सम्भव है कि क्रिया के इन निर्वैयक्तिक रूपों को श्रेण्य लैटिन में 'भाववाच्य' के रूपों से मिलाकर 'कर्मवाच्य' बनादिया गया था (तु०-८. ३. ३)।

इस प्रकार की निर्वैयक्तिक रचनाएँ, जो यहां निदर्शन के रूप में दीगई हैं, 'भाववाचक' की परिभाषा ऊपरमें दीगई शर्तों को पूरा नहीं करतीं; क्योंकि ये शर्तें इस धारणा पर आश्रित हैं कि कर्मवाचक वाक्य प्रायः सकर्मक कर्त्तृवाचक वाक्यों से व्युत्पन्न होते हैं। दूसरी ओर, 'निर्वैयक्तिक' वाक्यों को दो दृष्टियों से हम वास्तविक 'कर्मवाचक' कहसकते हैं : प्रथम, वे कर्त्तृहीन हैं और हम देखचुके हैं कि 'अकर्त्तृक' वाक्यों की रचना को कर्मवाच्य का सर्वसामान्य कार्य बतायागया है; दूसरा, उनमें क्रिया विशिष्ट रूप से 'कर्मवाचक' रूप से अंकित होती है। जिन भाषाओं में ये वाक्य 'वास्तविक' कर्मवाचकों के साथ प्रयुक्त होते हैं, उनमें सम्भवतः इन्हें विन्यासात्मक दृष्टि से भी उनके साथ सम्बद्ध किया जासकता है।

८. ३. ५ सकर्मकता और वाच्य का रूपविधान

सकर्मकता, ससाधकता और **वाच्य** के विमर्श प्रसंग में यहाँ जिन विविध पक्षों पर विचार कियागया है, वे भाषाविद् के सामने कई सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक समस्याएँ उत्पन्न करते हैं। **व्यावहारिक** समस्याओं से हमारा अभिप्राय इस निर्णय से सम्बद्ध कठिनाइयों से है कि किसी भाषा के विश्लेषण में किन 'तथ्यों' को विचारार्थ लेनाचाहिए, एवं एक विशिष्ट रचना या व्याख्या के अपनाने का निहितार्थ क्या है ? ये समस्याएँ स्वतः पर्याप्त कठिन हैं (यद्यपि हमने विचारणीय विषयों के अपने अनिवार्यतः सरल विमर्श के कारण इनमेंसे कुछ व्याख्यागत कठिनाइयों को छुआ तक नहीं है)। किन्तु **सैद्धान्तिक** समस्याएं इससे कहीं बड़ी हैं।

वाक्यरचनासिद्धान्त के क्षेत्र में वर्त्तमान काल में एक बात स्पष्ट है। यद्यपि

विविध प्रकार के वाक्यों के बीच सम्बन्धों के रूप-विधान और समझने की दिशा में महान् प्रगति हुई है; रचनान्तरण वाक्य-विन्यास के शोम्स्की द्वारा अबतक प्रस्तावित प्रतिमानों मेंसे कोई एक भी ऐसा नहीं है, जिसके द्वारा इस अध्याय में प्रयुक्त अनेक प्रकार की रचनाओं में विद्यमान अन्योन्यसम्बन्धों की जटिलता को प्रणालीबद्ध एवं प्रतिभागत सन्तोषजनक रूप में सुलझाया जासके (तु०-६. ५. ७, 'सबल पर्याप्तता')। निस्सन्देह भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों का विकास इस मान्यता के आधार पर होता है कि सभी तथ्यों को एक सुसंगत सामान्य ढाँचे में सिद्धान्ततः रूपायित किया जासकता है। ऐसे कार्य अब प्रकाशित भी होनेलगे हैं, जिनमें उन तथ्यों के रूप-विधान का प्रयत्न कियागया है, जिन पर हमने अत्यधिक आरम्भिक और अनौपचारिक रूप में विचारकिया है।

इस सम्बन्ध में प्रस्तुत कियेगए प्रस्तावों को न तो हम संक्षिप्त रूप में देने का प्रयास करेंगे, और न ही उनके गुण और स्थायित्व पर विचारकरेंगे। प्रत्युत, इस खण्ड का समाहार हम 'प्रेरणार्थकता' के सम्बन्ध में अपने विगत विमर्श के कुछ सैद्धान्तिक निष्कर्षों के समाहार द्वारा करेंगे।

८. ३. ६ सकर्मक और प्रेरणार्थक का उदाहरणात्मक रचनान्तरणी विवरण

हम यह मानलेते हैं कि अन्य नियमों के अतिरिक्त अंग्रेज़ी व्याकरण के आधारी-योजक में निम्न नियमों का भी समावेश है :

(१) वा → {नामि + विधे

(२) विधे → {क्रिया
{वा

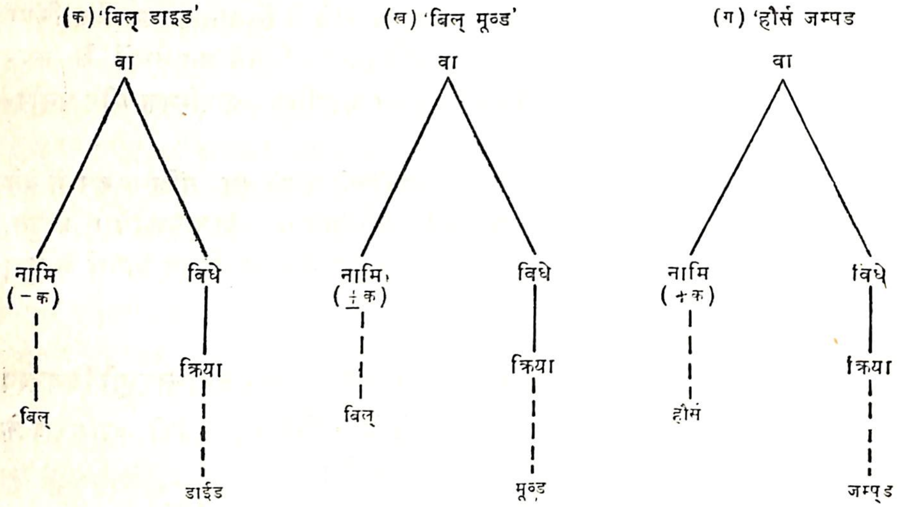
(**'नामि'** और **'विधे'** के प्रतीकों से क्रमशः **'नामिक'** और **'विधेय'** अभिप्रेत हैं।) ये दोनों ही नियम असंख्यातबार पुनः प्रयुक्त होसकते हैं (६. २. ६)।

यदि प्रथम नियम प्रयुक्त कियाजाए, जिसमें द्वितीय नियम के 'विधे→क्रिया' विकल्प को मानाजाए, तब परिणाम रूप में एक सरल अकर्मक वाक्य के नाभिक का घटक-संरचनी ढाँचा प्राप्त होगा; तथा **'नामि'** की जगह प्रयुक्त नामिक या नामसंघ वाक्य का कर्त्ता होगा। (तु०-८. १. ४)। जैसा कि हम ८. २. ६ में देखचुके हैं, अकर्मक क्रिया का कर्त्ता 'सकर्तृक' भी होसकता है और 'अकर्तृक' भी : इसीलिए उसे सूचित करनेवाला नामिक **'+क'** और **'—क'** के रूप में अंकित किया जासकता है। एकपदा अकर्मक क्रियाओं को कोष में उनकी संघात-योग्यता के अनुसार निम्न त्रिगुण विभेदों की दृष्टि से श्रेणीकृत कियाजाना चाहिए (१) 'सकर्तृक' या 'अकर्तृक' के रूप में, (२) केवल सकर्तृक रूप में, (३) केवल 'अकर्तृक' रूप में। हम यह मानलेते है कि **'मूव'**, **'जम्प'**, **'डाइ'**, क्रियाएँ क्रमशः इस श्रेणीकरण को उदाहृत करती हैं। अतः **'बिल् मूव्ड'** को **'+क'** या **'—क'** के रूप में सूचित किया जासकेगा, जबकि **'बिल डाइड'** को केवल **'—क'** के ही रूप

में दिखाया जासकेगा, तथा 'हौर्स जम्प्ड' को केवल' '+क' के ही रूप में दिखाया जासकेगा (तु०-८. २. ११)। उन वाक्यों के नाभिक में अन्तर्हित घटक-संरचना को आरेख-२० में दिखायागया है।

आरेख-२०

कुछ एकपदा रचनाएँ।



किन्तु, नियम (२) के प्रथम विनियोग में '**विधे→वा**' के विकल्प को भी लिया जासकता है। इस स्थिति में '**वा**' का स्थान फिर से प्रथम नियम के विनियोग के द्वारा '**नामि+विधे**' लेलेंगे। अब इस स्थिति में द्वितीय नियम के द्वितीय विनियोग की बारी आती है। यदि इस स्थान पर '**विधे→क्रिया**' के विकल्प को अपनाया जाए, तब परिणाम द्विपद-नाभिक के रूप में होगा।

जब हम किसी 'द्विपद' संरचना के रिक्त स्थानों की 'पूर्त्ति' में प्रवृत्त होते हैं, तब हमारे सामने दो विकल्प उपस्थित होते हैं। उनमें से **प्रथम** विकल्प यह है कि प्रथम नियम के प्रथम विनियोग के परिणाम से प्राप्त सूत्र में 'विधे' की व्याख्या में प्रथम नियम को ही दुबारा लागू कियाजाए और उसके प्रथम विनियोग से प्राप्त नाभिक को यथावत् स्थिर रखाजाए। इसका प्रभाव यह होगा कि द्विपद नाभिक का कर्त्ता भी वही होगा, जो एकपद नाभिक में था। दूसरे शब्दों में, प्रथम या द्वितीय नियम के द्विगुण विनियोग की इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप सकर्मक वाक्यों की घटक-संरचना भी वही होगी, जो निम्न नियमों में दीगई है :

(क) वा→नामि+विधे

(ख) विधे→ { क्रिया
            { नामि+क्रिया

अबतक के अधिकांश रचनान्तरक कार्य में सकर्मक रचनाओं के प्रजनन केलिए इसी मार्ग को अपनायागया है (तु०–७. ६. ८)। किन्तु, इसी खण्ड में सकर्मकता और ससाधकता के अपने विचार में हमने निश्चितकिया है कि जिस भावना में सकर्मक और अकर्मक रचनाओं का कर्त्ता विन्यासात्मक दृष्टि से समतुल्य होता है, उसका आधार विभक्ति और अन्विति जैसे पृष्ठीय या बाह्य अभिलक्षणों पर होता है : इसे परवर्त्ती रचनान्तरक नियमों के द्वारा विहित किया जासकता है (तु०-८. २. ७)।

यदि हम इस उक्त सामान्य सिद्धान्त को अधिगत करना चाहते हैं, कि द्विपदा रचनाओं का कर्म एकपदा रचना का कर्त्ता होता है, तब हमें ऊपर दिए दोनों विकल्पों में से दूसरे विकल्प को अपनाना होगा। तब हम द्विपद-नाभिक के विधेय के रूप में ही एकपद-नाभिक को अन्तर्हित करलेंगे। इस स्थल पर कुछ प्राविधिक समस्याएँ सामने आजाती हैं, जिनके विस्तार में हम यहाँ नहीं जाएँगे। हम यह मान कर चलेंगे कि उन्हें सन्तोषपूर्ण ढंग से सुलझाया जासकता है, और हम उनके अन्य प्रभावों की भी चर्चा करेंगे।

सरलता की दृष्टि से यहाँ हम एक तदर्थ युक्ति का प्रयोग करेंगे। जब सकर्मक रचना में एकपद नाभिक को 'विधेय' में निविष्ट कर लियाजाता है, तब हम यह मानलेते हैं कि क्रिया के साथ **'प्रेरणार्थकता'** का अभिलक्षण भी जुड़ाहुआ है : '+प्रे' के रूप में। यह अभिलक्षण विविध दशाओं के अनुसार विविध रूप में व्याख्यात किया जासकता है।

सर्वप्रथम हम उस दशा पर विचार करेंगे, जिसमें निविष्ट नाभिक में कोई 'सकर्तृक' नामिक होता है। इसमें दो सम्भावनाएँ हैं : **प्रथम** यह कि क्रिया अंग्रेज़ी की **'जम्प, वाक्, गैलप्'**, आदि की उस लघु श्रेणी की है (तु०८-. २. १२), जिनका कर्म 'सकर्तृक' होता है। इस स्थिति में, परिणति एक सकर्मक रचना के रूप में होगी : **'जोन जम्प्ड द हॉर्स'**, आदि के रूप में। इसका अर्थ यह हुआ कि **'जम्प: +प्रे'** को, कोषीय सूचना के आधार पर, **'जम्प'** मात्र के रूप में उपलब्ध करलिया गया है : इसे हम **'लोप-विधि'** (शून्य-विधि) के द्वारा पासकते हैं (मानों कोई विकरण-प्रत्यय आया हो और लुप्त होकर अपना प्रभाव छोड़गया हो : तु–८. २. ८)। किन्तु अधिकांश उदाहरणों में, जहाँ **'नामि:+का'** और **'क्रिया:+प्रे'** एकत्र ही निविष्ट नाभिक में सहघटित होते हैं, ऐसे नियमों का विनियोग अनिवार्य होजाएगा, जिनके द्वारा उत्पादक प्रेरणार्थक रचनाओं में **मेक्, गेट्, हैव**, आदि सहायिका क्रियाओं का उपयोग होता हो। परिणामत: ऐसी व्यक्त प्रेरणार्थक रचनाएँ प्रसूत होंगी : **'जोन मेड बिल सिङ्'**, **'जोन मेड बिल टु कम्'**, आदि।

किन्तु यदि निविष्ट नाभिक में 'अकर्तृक' नामिक विद्यमान है, तब यह सकर्मक वाक्य की अधिक सामान्य शर्तों को पूराकरता है। इस विषय में अनेक सम्बद्ध हेतु होते हैं : (१) कोष से चुनीहुई क्रिया 'ससाधक' होसकती है : यथा, **'मूव'** (तु०-८. २. ३)। इस स्थिति में, परिणत वाक्य की रचना में यह किसी

आकृतिमूलक परिवर्त्तन के बिना ही 'लोप-विधि' द्वारा निविष्ट करदिया जाता है। किन्तु, क्योंकि द्विपदा क्रिया '**क्रिया:+प्रे**' का निदर्शन है, अतः परिणत सकर्मक वाक्य को व्याकरण में अनुकारी अकर्मक (अ-कर्त्तृक) का प्रेरणार्थक रूप निर्धारित कियाजाएगा। इस प्रकार '**जोन मूव्ड बिल**' की विन्यासात्मक व्याख्या इस प्रकार के विश्लेषण के रूप में की जाएगी : '**जोन वह सकर्त्तृक (प्रत्यक्ष कर्त्ता) था, जिसने बिल (अकर्त्तृक) को गति दी**'। (२) चुनीहुई क्रिया दो विविक्त आकारों से सन्नद्ध होसकती है : यथा, '**सौफ़्ट**' (विशेष रूप में यहाँ '**क्रियाविशेषणिक क्रिया**' के रूप में : तु०-८. २. ८)। अतः कोष में 'सौफ़्ट' का प्रवेश इस तरह होनाचाहिए कि '**सौफ़्ट:+प्रे**' को 'सौफ़न' (soften) के रूप में उपलब्ध किया जासके। (३) क्रिया ऐसी होसकती है कि जिसके दो कोषीय रूप सहचारी रूप में स्थित हों : यथा '**डाइ**'। इसका द्विपद रूप '**क्रिया:+प्रे**' का स्थानीय बनादिया जाता है। उदाहरणार्थ, '**डाइ:+प्रे**' को पृष्ठ (बाह्य) संरचना में '**किल्**' के रूप में उपलब्ध किया जाएगा। (४) होसकता है कि निर्वाचित क्रिया का कोई अनुकारी आकृतिगत या कोषीय रूप न हो, और न ही 'लोप' या 'शून्य-विधि' की शर्त उसके द्वारा पूरी होनी सम्भव हो। ऐसी स्थिति में, '**क्रिया:+प्रे**' के द्वारा बाह्य रूप में स्पष्ट कोई उत्पादक प्रेरणात्मक रचना सामने आसकती है : '**जोन मेड बिल फॉल्**', '**जोन मेड बिल रें स्पॉन्सिबल...**',आदि।

अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं में सकर्मक वाक्यों के प्रजनन केलिए हमें ऐसा कोई मार्ग अपनाना ही होगा; यदि हम पूर्वनिर्दिष्ट वाक्यों के बीच स्थित सम्बन्धों को रूपायित करने में सफल होना चाहते हैं। (अन्तर्हित घटक-संरचनी विश्लेषण के प्रतिमान **आरेख-२१** में दिये हैं।) साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि अनेक सकर्मक क्रियाएँ ऐसी भी हैं, जिनकी उपलब्धि '**क्रिया: + प्रे**' के रूप में विश्लिष्ट करपानी सरल नहीं है। उन्हें 'मूलतः सकर्मक' क्रिया कहा जासकता है : उदाहरणार्थ, 'ईट्' और 'रीड्' आदि। इन्हें किन्हीं कल्पित एकपदा क्रियाओं के द्विपद रूप मानना भ्रमात्मक और व्यर्थ ही होगा : '**खायाजाना**', '**पढ़ाजाना**', आदि के रूप में। अकर्त्तृक एकपद रचनाएँ, यथा '**कैवियार इज़ ईटन्**' और '**द बुक इज़ रें ड**' आदि केवल आकारतः ही 'कर्मवाचक' नहीं हैं (तु०-८. ३. ३), अपितु वे निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट कर्त्ता की भी, कर्मवाचक अवस्था में, प्राक्कल्पना करके चलती हैं। अब क्योंकि 'मूलतः सकर्मक' वाक्यों पर वे प्रक्रियाएँ या शर्तें लागू करना न तो प्रतिभाजन्य होगा, न ही अर्थात्मक विश्लेषण में सहायक, जिन को 'व्युत्पन्न' सकर्मक वाक्यों केलिए वर्णित किया गया है, अतः उनके लिए पूर्वोक्त नियम (२) के अधीन एक तीसरे विकल्प को भी निविष्ट करना होगा :

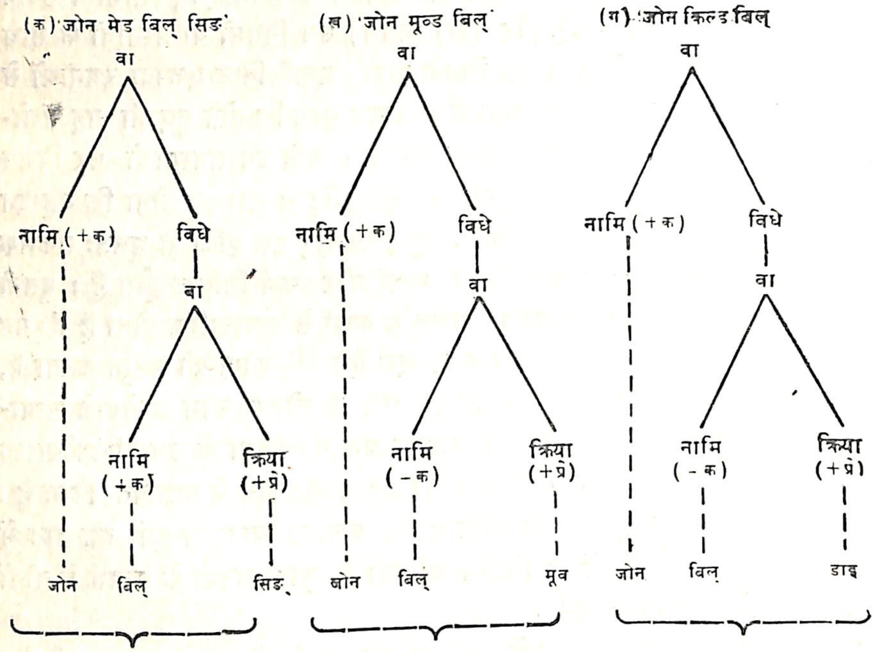
$$\text{विधे} \rightarrow \begin{cases} \text{क्रिया} \\ \text{नामि} + \text{क्रिया} \\ \text{वा} \end{cases}$$

यदि उक्त नियम को इस रूप में संशोधित करदिया जाए, तब दोनों विकल्पों का लाभ अधिगतकरना सम्भव होसकेगा। यह कहना अभीष्ट है कि इस संशोधन का प्रभाव यह होगा कि सकर्मक रचनाओं के प्रजनन में अपनाएगए सामान्य उपाय को (८. ३. ६ में दर्शित (क) और (ख) नियम) उन नियमों या प्रस्तावों के साथ मिलाकर एकाकार करदिया जाए, जिनके द्वारा अन्तर्निविष्ट एकपदा रचनाओं से द्विपद नाभिकों को व्युत्पन्न कियाजाता है। किन्तु आकर्षक होते हुए भी यह संशोधन प्राविधिक समस्याओं को पर्याप्त बढ़ादेता है। यदि इन समस्याओं पर विजय पाली जाए, तब दोनों मार्गों का एकीकरण इस दृष्टि से लाभप्रद होगा कि यह इन प्रस्तावों या प्रमेयों को रूपायित करेगा : **'कुछ रचनाएँ इस दृष्टि से मूलतः सकर्मक होती हैं कि उनकी अन्तः संरचना में ही कर्त्ता और कर्म निविष्ट होते हैं। दूसरी व्युत्पन्न होती हैं। उनका कर्म एकपद अकर्तृक कर्त्ता से रूपान्तरित होता है।'** यह प्रस्ताव, या विशेषकर इसका पिछला अंश, एक ऐसे दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है, जिसे परम्परागत व्याकरण के अनौपचारिक ढांचे के भीतर काम करनेवाले भाषाविदों ने समर्थितकिया है। इस प्रस्ताव का प्रथम अंश सकर्मकता के उस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे शोम्स्की ने अपने हाल के कार्य में रूपायित किया है। जैसा कि हम देखचुके हैं, यह वांछनीय है कि प्रजनक व्याकरण हमें इस बात में समर्थ करे कि हम कोषशब्दों की विविध श्रेणियों से युक्त वाक्यों के सन्दर्भ में दोनों दृष्टिकोणों को स्थापित करसकें।

त्रिपद नाभिकों के विषय में इससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। यदि (१) और (२) नियमों को पुनः-पुनः अनेक बार प्रयुक्त कियाजाए, तब उनसे कितनी ही संख्यावाले नाभिकों से युक्त वाक्यों के घटक-संरचनी ढांचे का सृजन होसकेगा। त्रिपद नाभिकों की स्थिति में, जिनमें 'व्युत्पन्न' या 'मौलिक' सकर्मक नाभिक निविष्ट होते हैं, हमें ऐसा विधान करनाचाहिए कि द्विपद नाभिक का 'कर्त्ता' त्रिपद रचना में 'अप्रत्यक्ष कर्म' का स्थान लेसके (तु०-८. २. १४)। पर द्विपद के कर्त्ता की 'अधियोजी' के रूप में यह अवनति केवल कोषबद्ध त्रिपदा प्रेरणार्थक क्रियाओं के प्रसंग में ही अनिवार्य ठहरती है (द्विपद रचना में इस प्रकार की अवनति केलिए देखें : ८. ३. ४) : यथा—**'गिव'**, **'शो'**, आदि क्रियाओं केसाथ। हम मानलेते हैं कि **'बिल सीज़ द बुक्'** एक मौलिक सकर्मक वाक्य है। कर्त्ता **'बिल'** और कर्म **'बुक्'** वाले उक्त वाक्य का अन्तःस्थित नाभिक इस त्रिपद प्रेरणार्थक वाक्य में निविष्ट है, जिसमें 'जोन' कर्त्ता है, और जिसमें **'सीः+प्रे'** की उपलब्धि 'शो' के रूप में होती है : **'जोन शोज़ द बुक् टु बिल'** (तु०- आरेख-२२)। किन्तु भाषा में इस प्रकार की त्रिपदा प्रेरणार्थक कोषबद्ध क्रियाएँ सापेक्ष रूप में कम ही होती हैं। (यदि हम **'पर्सुएड'** जैसी उन क्रियाओं को भी सम्मिलित करलें, जिन्हें कोषनिबद्ध द्विपदा प्रेरणार्थक **'बिलीव'** आदि की उस स्थिति से तुलित किया जा सकता है, जिसमें उनका कर्म एक नामवत् (नामीकृत) वाक्य हो, तब इनकी संख्या

आरेख-२१

कुछ द्विपदा रचनाएँ



पर्याप्त होजाएगी। उदाहरणार्थ : **'बिल बिलीव्ड दैट् द अर्थ वाज़ फ़्लैट'** : **'जोन पर्सुएडेड् बिल दैट् द अर्थ वाज़ फ़्लैट'**। किन्तु, ऐसी रचनाओं के विमर्श से उलझनें कुछ बढ़ जाएंगी)।

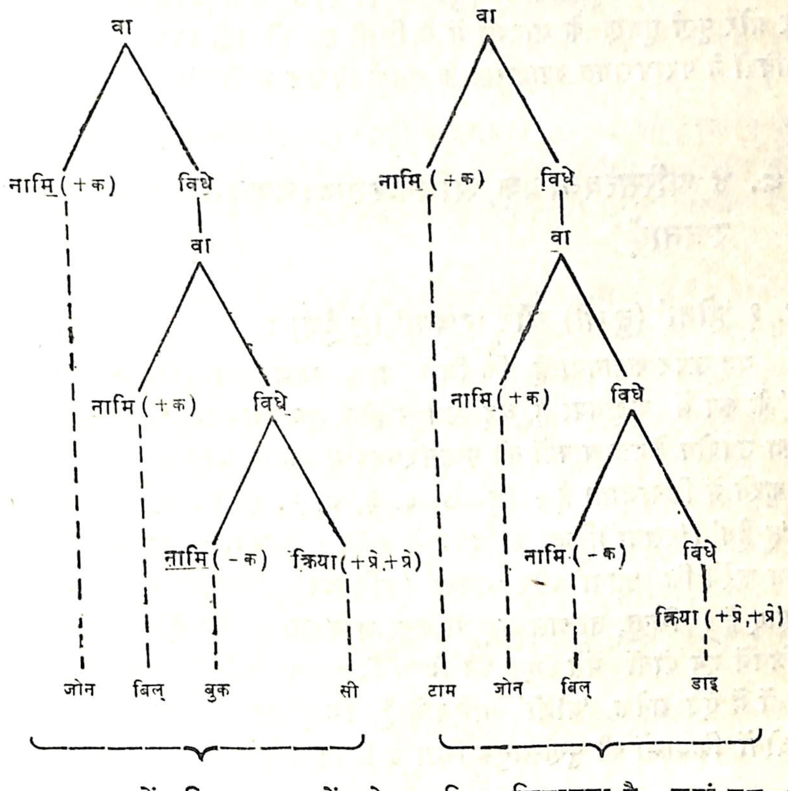
अधिकांश निदर्शनों में रचना-चक्र के इस तृतीय चरण में एक स्पष्ट प्रेरणार्थक रचना को विनियुक्त कियाजाता है। उदाहरणार्थ, मानलीजिए कि कोष से लीगई क्रिया **'डाइ'** है, जिसे निवेशन नियमों के द्वारा दो प्रेरणार्थक अभिलक्षण प्रदान किए गए हैं : **'क्रिया:+प्रे, +प्रे'**। अब आकार में या कोषरूप में ऐसी कोई त्रिपदा आकृति नहीं है, जिसका **'किल्'** से वही सम्बन्ध हो जो **'किल्'** का **'डाइ'** से है। अतः ऐसे समय, तृतीय चरण में, एक सहायक 'प्रेरणार्थक' क्रिया प्रविष्ट की जाती है। इसका एक उदाहरण वाक्य है : **'टॉम मेड जोन किल् बिल'**। यह अवधेय है कि **'गेट्'** और **'हैव'** जैसी प्रेरणार्थक सहायिका क्रियाओं के साथ ही निविष्ट द्विपद नाभिक का एक वैकल्पिक 'कर्तृवाचक' या 'कर्मवाचक' रूप भी है : तु०- **'टॉम् हैड जोन किल् बिल'** तु० **'टॉम् हैड बिल किल्ड (बाइ जोन)'**। कर्मवाचक रचना इस अर्थ में रूपतः कोषबद्ध त्रिपदा प्रेरणार्थक क्रियाओं से बने वाक्यों के ही समान रूपवाली है कि द्विपद नाभिक का कर्त्ता यहां एक अधियोजी की स्थिति ग्रहण करलेता है (तु०-८. २. १५, 'फ्रेंचकी प्रेरणार्थक रचनाएं')। अन्ततः, यह

अवधेय है कि अन्य कई भाषाओं के समान अंग्रेज़ी में भी व्यक्ततः प्रेरणार्थक रचनाएं अनिश्चित बार पुनरावर्त्ती होती हैं : तु०-'पीटर मेड हैरी मेक फ्रैंक'''मेक टॉम् मेक जोन किल् बिल'। इसी कारण (१) और (२) नियमों को अनिश्चित बार पुनरावर्त्ती बनायागया था।

आरेख-२२

कुछ त्रिपदा रचनाएं।

(क) 'जोन शोज़ द बुक् टु बिल्' (ख) 'टॉम् मेड जोन किल् बिल्'



इस खण्ड में जिन प्रस्तावों को उपस्थित कियागया है, जहां तक उनके रूपविधान और प्राविधिक विस्तारों का प्रश्न है, उन पर कुछ संयम के साथ ही विचार करनाचाहिए (तु०-८. ३. ५)। साथ ही, यह भी कहदेना आवश्यक है कि दो बातों में वे उन कुछ प्रस्तावों के समरूप हैं, जो कि वर्त्तमान भाषावैज्ञानिक पत्रों और सैद्धान्तिक वाक्य-रचना-सम्बन्धी पुस्तकों में प्रकाशित होरहे हैं। इनमेंसे **प्रथम** यह कि वे अन्तर्हित घटक-संरचना की धारणा को उससे कहीं अधिक निरपेक्ष रूप में प्राक्कलित करते हैं, जितनी कि आरम्भिकतम रचनान्तरक व्याकरण के ग्रन्थों में कल्पित कीगई थी : विशेषतः, उनमें '+क' और '+प्रे' जैसे अभिलक्षणों

का उन्मुक्त प्रयोग कियागया है, जो कि वस्तुतः उन्हीं अर्थों में 'घटक' नहीं कहे जा सकते, जिनमें सहायक अवयव 'विधे' या चरम अवयव 'क्रिया' 'घटक' कहेजाते हैं। बल्कि, वे तो ऐसे घटकों से इसलिए सम्बद्ध कर दियेजाते हैं, ताकि रचनान्तरण और कोषीय उपलब्धि के नियमों का कार्य ठीक प्रकार से होसके। द्वितीय, जो प्रस्ताव यहां प्रस्तुत कियेगए हैं, वे यह मानकर चले हैं कि भाषा की कोषीय और विन्यासात्मक संरचना—दोनों ही—अंशतः सकर्तृकता, प्रेरकता, स्थिति (गति या प्रक्रिया के विपरीत), आदि सिद्धान्तों के द्वारा निर्दिष्ट होती है। इस द्वितीय सन्दर्भ में, सैद्धान्तिक वाक्यरचना कुछ मात्रा तक 'धारणात्मक व्याकरण' की परम्परागत मान्यताओं की ओर झुकगई है (तु०-४. १. ३)। ऐसा करते हुए भी इसने अपने कठोर और पूर्ण सूत्रण के आदर्शों में से किसी को भी नहीं त्यागा है, जिन्हें मूलतः भाषाविदों ने परम्परागत व्याकरण के सतर्क विरोध में विकसितकिया था।

८. ४ अस्तित्ववाचक, अधिकरणवाचक और सम्बन्धवाचक रचनाएँ

८. ४. १ 'होना' (टु बी) और 'रखना' (टु हैव) :

यह ऊपर कहागया है कि जिसे प्रायः अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं में 'होना क्रिया' के रूप में कहागया है, वह अर्थ से हीन एक व्याकरणात्मक अवयवमात्र है, जिसका उपयोग केवल वाक्यों की पृष्ठसंरचना में काल, भाव और पक्ष का अंकनमात्र करने में कियाजाता है। (तु०-७. ६. ३, ८. २. १०)। इस खण्ड में हम वही बात 'टु हैव' ('रखना')क्रिया के विषय में कहेंगे। सरलता केलिए हम यह मानकर आरम्भ करेंगे कि 'होना' और 'रखना' (अधिकार) विश्वात्मक और सुपरिभाषित धारणाएं हैं। किन्तु, तत्काल यह भी कहा जासकता है कि ऐसी भी अनेक भाषाएं हैं, जिनमें इन दोनों मेंसे एक भी क्रिया विद्यमान नहीं है। दूसरी ओर, कुछ भाषाओं में ऐसे अनेक 'योजी' पाएजाते हैं, किन्तु उनमें से कोई भी अंग्रेज़ी की उक्त दोनों क्रियाओं की पूर्ण-अनुकारिता में स्थित नहीं कहा जासकता।

८. ४. २ 'होना क्रिया' का तर्काश्रित विश्लेषण

आजकल तर्कशास्त्री 'होना क्रिया' के 'अस्तित्वात्मक' और 'विधेयात्मक' अथवा 'योजी' के रूप में कार्य के परस्पर विभेद की सूक्ष्मता पर बलदेते हैं। इस विभेद का दार्शनिक महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि अधिकांश आधुनिक दार्शनिक यह कहेंगे कि वस्तुओं की सत्ता या अस्तित्व को उसी प्रकार प्राक्कथित नहीं किया जासकता, जिस प्रकार उनके अन्य गुणों या प्रवृत्तियों को किया जासकता है; बल्कि यह तो उन वस्तुओं के व्यक्तीकरण या उनके प्रति संकेत में अन्तर्हित रहता है। हम

यहां 'अस्तित्वात्मक' और 'विधेयात्मक' वक्तव्यों के बीच विभेद के दार्शनिक गूढ़ार्थों पर विचार नहीं कररहे। फिर भी यह अवधेय है कि **'होना क्रिया'** को अंग्रेज़ी में **'सत्तात्मक'** अर्थ में उतना अधिक प्रयुक्त नहीं कियाजाता, जितना इसे ग्रीक या संस्कृतादि में प्रयुक्त कियाजाना था। ग्रीक-संस्कृतादि के ऐसे वाक्य, यथा **'ईश्वर है'**, दार्शनिकों की रुचि का केन्द्र रहे हैं। अंग्रेज़ी में **'होना क्रिया'** का सत्तात्मक रूप कलात्मक या **अधिकरणात्मक** (स्थानात्मक) पूरक के बिना कम ही होता है (तु०-८. १. १०)। इस प्रकार के प्रयोग के उदाहरण निम्न हैं :

(१) **'देअर आर लॉयन्स इन् अफ्रीका'**, और (२ **'द ऐक्सीडेंण्ट वाज येस्टरडे'**।
हम ऐसे 'सत्तात्मक' वाक्यों पर इसी प्रसग में आगे विचारकरेंगे।

तर्कशास्त्री लोग 'होना' के 'विधेयात्मक' प्रयोगों में प्रथा के रूप में इस प्रकार के विभेद करते हैं : (अ) एक इकाई की दूसरी से एकरूपता (**क=ख : 'वह मनुष्य राम है'** या **'दैट् मैन् इज़ जोन'**); (इ) **श्रेणी-सदस्यता** (**ख∈ग : 'जोन इज़ ए कैथोलिक'**, या **'हम सब मनुष्य हैं'**, आदि); और (३) **श्रेणी-समावेश** (**ग⊂घ : 'कैथोलिक्स आर क्रिश्चियन्स'**, अर्थात्, **एक जाति के सदस्य किसी बृहत्तर जाति के भी सामूहिकरूप में सदस्य होते हैं'**)।

यद्यपि इनमें से (इ) और (उ) तर्कात्मक दृष्टि से भिन्न हैं, किन्तु अधिकांश भाषाओं मे रचनात्मक दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है। किन्तु **'लाक्षणिक'** (विशेषक) और **'प्रकारात्मक'** वाक्यों के बीच अन्तर (तु०-८. १. ३) पर्याप्त महत्त्व-पूर्ण है : तु०-**'सेव मीठे हैं'** और 'सेव फल हैं'। प्रथम का विधेय **विशेषणात्मक है**, जबकि दूसरे का **नामिक** है। नामिक विधेय से युक्त वाक्यों का विश्लेषण पर्याप्त जटिल विषय है (**'सेव फल हैं'**, **'जोन सिपाही हैं'**; **'मेरी कन्या अभी कनीयसी है'**, आदि)। इस प्रश्न के विस्तार में हम यहां नहीं जाएंगे। हम विविध नामिक-विधेयों के प्रकारात्मक विभेद की उपेक्षा करके उन सबको केवल 'विशेषणिक विधेय' के रूप में ही स्वीकारकरेंगे। पारिभाषिक सुविधा की दृष्टि से, हम उन दोनों को ही **'गुणवाचक'** कहेंगे।

इससे भिन्न 'होना क्रिया' का एक और प्रयोग **'अधिकरणात्मक'** पूरकों के साथ होता है। ८. १. १० में हमने इस प्रकार की रचना पर विस्तार से विचार कर ही लिया है। आगामी विमर्श में हम उसका आश्रय लेंगे।

८. ४. ३ अस्तित्वात्मक और अधिकरणात्मक वाक्य

इस प्रकार हमने **'होना क्रिया'** के चार कार्यों को विविक्त रूप में पहचाना है : **सत्तात्मक**, विवेचक या **व्यक्तीकारक**, **गुणवाचक**, और **स्थानात्मक**। इनमें से अन्तिम तीन को प्रायः भाषाविद् **'योजकात्मक'** के रूप में एक वर्ग में आबद्ध कर देते हैं; वे 'सत्तात्मक' प्रयोग को अन्य प्रयोगों से नितान्त भिन्न रूप में ही स्वीकार करते हैं।

यह पहले ही कहा जाचुका है कि 'सत्ता' के अर्थ में अंग्रेज़ी में 'टु बी क्रिया' (होना क्रिया) का प्रयोग काल या स्थान के सूचक पूरकों के बिना कदाचित ही होता है। यहां 'अधियोजी' न कहकर 'पूरक' कहना कदाचित् शंकास्पद होसकता है (तु०- ८. १. ६)। बात यह है कि 'सत्तात्मक' वाक्यों के विषय में विभेद करना कठिन ही है। निम्न दो उदाहरणों को लें :

(१) 'देअर आर लॉयन्स इन् अफ़्रीका'

(२) 'देअर इज़ ए बुक ऑन् द टेबल'

हम यह कहने को उद्यत होसकते हैं कि इनमेंसे प्रथम 'सत्तात्मक' है, जबकि दूसरा 'अधिकरणात्मक' है। यह इस आधार पर कि केवल प्रथम में ही 'आर' की जगह 'एक्ज़िस्ट' (विद्यमान हैं) का प्रयोग किया जासकता है : 'लॉयन्स एग्ज़िस्ट इन् अफ़्रीका'। यह भी कहा जासकता है कि इसमें से अधिकरणात्मक योजी 'इन् अफ़्रीका' को वियुक्त भी किया जासकता है : 'लॉयन्स एग्ज़िस्ट'! दूसरी ओर दोनों में स्पष्ट संरचनात्मक समानता विद्यमान है। फिर, अर्थात्मक विश्लेषण के आधार पर सत्तात्मक वाक्यों को निगूढ़ रूप में अधिकरणात्मक और कालात्मक कहा ही जा सकता है। 'कोई चीज़ विद्यमान है या थी' की भावना को किसी कालात्मक या अधिकरणात्मक अभिव्यक्ति के द्वारा, व्याख्या के प्रसंग में, 'पूरित' करना ही पड़ता है।

इनमें से अन्तिम बात को स्वीकार कियाजाए या नहीं, किन्तु यह सत्य है कि अंग्रेज़ी की भाँति अधिकांश भाषाओं में सत्तात्मक एवं अधिकरणात्मक वाक्यों में स्पष्ट समानताएँ विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ, इन दो वाक्यों के अर्थ में कदाचित् ही कोई अन्तर है : 'कौफ़ी विल् बी हियर इन् ए मूमेंट' और 'देयर विल् बी कौफ़ी हियर इन् ए मूमेंट' : कदाचित् इन दोनों की अन्तःरचना का विश्लेषण एकसा ही रहेगा।

और भी दो बातें अवधेय हैं। प्रथम, सत्तात्मक वाक्यों का कर्त्ता प्रायः निश्चित न होकर अनिश्चित होता है : यह इस सम्भावना को जन्मदेता है कि अपनी अन्तःसंरचना के विन्यासात्मक विश्लेषण में उन्हें 'अनिश्चित अधिकरणात्मक' के रूप में स्वीकार कियाजाना चाहिए (इसमें यहाँ 'कालात्मक' भी गृहीत है : 'अधिकरणात्मक विभक्ति' पर ७. ४. ६ में देखें)। द्वितीय, सत्तात्मक और अधिकरणात्मक वाक्यों के बीच सम्बन्ध होने का तथ्य इस बात से भी पुष्टहोता है कि अनेक यूरोपीय भाषाओं में मूलतः अधिकरणात्मक या निर्देशक अव्यय का सत्तात्मक वाक्यों में प्रयोग होता ही है : अंग्रेज़ी 'देअर', फ्रेंच 'ई', इतालवी 'चि', जर्मन 'डा', आदि का।

८. ४. ४ सम्बन्धवाचक वाक्य

'आधिकारिक' या सम्बन्धवाचक वाक्यों का अभिप्राय अंग्रेज़ी के इन वाक्यों से स्पष्ट किया जासकता है :

(३) 'द बुक इज़ जोन्'स'=पुस्तक जोन की है

(४) 'जोन हैज द बुक'=जोन के पास पुस्तक है

बाह्य-संरचना में ये दोनों वाक्य आमूल भिन्न हैं। (३) में कर्त्ता है 'द बुक' और विधेय है 'जोन्'स' (षष्ठी या सम्बन्ध में स्थित नाम, तु०-७. ४. ५)। (४) में 'जोन' कर्त्ता है, विधेय है 'हैज ए बुक' (जिसमें 'टु हैव' क्रिया का कर्म है 'बुक')। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि (३) और (४) रचनान्तरक दृष्टि से 'जोन्'स बुक्' प्रयोग से सम्बद्ध हैं, और इसीलिए वे परस्पर भी सम्बद्ध हैं। तब इस सम्बन्ध की प्रकृति क्या है ?

पिछले अध्याय में 'जननात्मक' के विचार-प्रसंग में, हमने उस विभक्ति का विशेषणात्मक कार्य अधिनामिक और विधेयात्मक -दोनों ही- स्थितयों में दिखाया था: यथा—'द बुक इज जोन्'स' : 'जोन्'स बुक'; 'द बुक इज हैवी' : 'द हैवी बुक'। (प्रसंगत: यह अवधेय है कि 'जोन'स बुक' और 'मैन्' स बुक' में 'बुक' किसी 'निश्चित पुस्तक' का संकेतक है, जबकि इसके विपरीत इस वाक्य में 'अनिश्चित' पुस्तक की सूचना है : 'ए बुक ऑफ़ जोन्'स' या 'वन ऑफ़ जोन्'स बुक्स' आदि ! ठीक इसी प्रकार की संरचनात्मक समानान्तरता अधिकरणात्मक और सम्बन्धवाचक रचनाओं के बीच में भी होती है : तु०-'द बुक इज जोन्'स' : 'जोन्'स बुक'; 'द बुक इज ऑन् द टेबल्' : 'द बुक् ऑन् द टेबल्'। अधिनामिक शब्द अपने द्वारा विशेषित नाम के आगे आता है या पीछे, यह बात गौण है)।

जबतक प्रकाशित अंग्रेज़ी वाक्यरचना के अधिकांश रचनान्तरक विवरणों में यह मानकर चलागया है कि 'जोन'स बुक्' जैसे प्रयोगों की व्युत्पत्ति एक ऐसी अन्तर्वर्त्ती संरचना से होती है, जिसमें सम्बन्धवाचक नाम 'टु हैव' क्रिया का 'कर्त्ता' होता है : दूसरे शब्दों में, यह मान लियाजाता है कि 'हैव क्रिया' भी 'रीड' आदि की भाँति अन्त:संरचनी है, जो सम्बन्धवाचक वाक्यों में प्रयुक्त अन्य सकर्मक क्रियाओं से इस अर्थ में भिन्न है कि इसका कर्मवाच्य में रूपान्तर नहीं होसकता (ए बुक इज हैड बाई जोन, आदि के रूप में)। इसबात पर विश्वास करने के अनेक कारण हैं कि इन दो प्रकार के वाक्यों के बीच इसप्रकार के सम्बन्ध की धारणा भ्रमपूर्ण है।

सर्वप्रथम, यह बात दृष्टि में आएगी कि विशेषणिक, अधिकरणात्मक और सम्बन्धवाचक वाक्यों के बीच जो समानान्तरता ऊपर बताई गई है, उससे यह ध्वनित होसकता है कि उन सभी में विधेय का 'विषय' अधिनामिक की स्थिति में पलटजाता है। तब आवश्यकता इस बात की रहजाती है कि ऐसे नियम स्थापित किएजाएँ, जिनसे 'जोन हैज ए बुक' जैसी रचना को एक ऐसी अन्त:-संरचना से व्युत्पन्न कियाजासके, जिसमें 'ए बुक' कर्त्ता हो, और 'जोन' का इससे विधेयात्मक सम्बन्ध हो। ऊपर दिये दोनों आधिकारिक वाक्यों में से बाह्यसंरचना में (४) की अपेक्षा (३) उससे अधिक साम्य रखता है, जिसे हम (४) की अन्त:संरचना कहसकते हैं।

द्वितीय, यह कि अपेक्षाकृत कम ही भाषाओं में 'रखना'-युक्त वाक्यों की रचना उपलभ्य है : जिसमें 'अधिकारी' (सम्बन्धवाचक) 'रखना क्रिया' का बाह्य

संरचना में कर्त्ता होता है, तथा **'अधिकृत कर्म'** ही पृष्ठसंरचना में इस क्रिया का **'कर्म'** होता है। भारोपीय भाषाओं में भी इस प्रकार के वाक्यों का विकास बहुत परवर्त्ती और सीमित रूप में हुआ है : समस्त स्लैवोनी और केल्टीय भाषाओं में वे उपलब्ध नहीं होते। फिर, जिन लैटिन, ग्रीक, जर्मन, आदि भारोपीय भाषाओं में इस प्रकार के 'हैव-युक्त' वाक्य उपलब्ध भी होते हैं, उनका विकास सर्वथा अनाश्रित या स्वतन्त्र हुआ लगता है। भारोपीय तथा इस प्रकार की रचनावाली अन्य भाषाओं में से अनेक में क्रिया का आधिकारिक (सम्बन्धवाचक) प्रयोग उन वाक्यों से विकसितहुआ प्रतीत होता है, जिनमें इनका अर्थ **'पकड़ना'** या **'कसना'** के रूप में होता था।

जैसा कि बेन्वेनिस्ते ने कहा है, लैटिन इसप्रकार के 'रखना'-अर्थवाले वाक्यों के विकास को भलीभाँति चित्रित करती है। निम्न तीन वाक्यों पर विचार करें :

(५) **योहान्नेस हाबेत् लीब्रम् (जोन-प्रथमा + हैज़ + पुस्तकद्वितीया),**

(६) **एस्त योहान्नी लिबेर (इज़ + जोन्-चतुर्थी + पुस्तक-प्रथमा)**

(७) **लिबेर एस्त योहान्नी (पुस्तक-प्रथमा + इज़ + जोन-चतुर्थी)।**

लैटिन में कोई **निश्चितार्थक निपात** नहीं होता; और न ही निश्चितता किसी अन्य रूप में अंकित ही की जाती है। वाक्य (६) और (७) में अन्तर केवल पृष्ठसंरचना के क्रम का है; और एक क्रम की अपेक्षा दूसरे क्रम का चुनाव लैटिन में वाक्य के विषय के चुनाव पर निर्भरकरता है, नकि 'टिप्पणी' के चुनाव पर (तु०-८. १. २)। वाक्य का 'विषय' निश्चय ही 'निश्चित' होता है, भले ही किसी भाषा में वह अंकित हो या अंकित न हो। इसलिए (७) का सामान्य अंग्रेज़ी अनुवाद होगा : **'द बुक इज़ जोन् स'** (यहाँ **'लिबेर'** विषय है); जबकि (६) का अनुवाद होता हैं : **'जोन हैज़ ए बुक'** ('द बुक्' नहीं)! (५) वाक्य (६) वाक्य का ही परवर्त्ती विकास है, जिसे **'हैव-वाक्य'** कहा जासकता है, और जिसका अनुवाद इन रूपों में किया जासकता है : **'जोन् हैज़ ए बुक'** या **'जोन हैज़ द बुक'**। अब हम यह मानलेते हैं कि (६) से (५) का विकास एक ऐच्छिक और शैलीपरक रचनान्तरण का परिणाम है। उसका प्रभाव 'जोन' को पृष्ठसंरचना में कर्त्ता-स्थिति में लाने के रूप में है। यही वह स्थिति है, जिसे कर्तृवाच्य या कर्मवाच्य में सप्राण नामशब्द सामान्यतः प्राप्तकरते हैं। और, सप्राण नाम ही शीर्षक बनते भी हैं, अप्राण नहीं।

आपाततः लैटिन के साथ यह तुलना और तत्सम्बद्ध विविधकालीन विमर्श आधुनिक अंग्रेज़ी के समकालिक विचार से उतने आबद्ध नहीं दीखते। किन्तु, यह अवधेय है कि अंग्रेज़ी के विन्यासात्मक विश्लेषण में (३) और (४) का परस्पर वही सम्बन्ध है, जो लैटिन में (६) और (७) का है। क्योंकि ***'ए बुक इज़् जोन्'स'** त्याज्य है, अतः अब एक ऐसा रचनान्तरण अनिवार्य होजाता है, जिसका परिणाम **'जोन हैज़ ए बुक'** हो।

अब हम इसी प्रस्ताव को अनिश्चित अधिकरणात्मक वाक्यों के हेतु इससे मिलतेजुलते प्रस्ताव से सम्बद्ध करसकते हैं। यद्यपि अंग्रेज़ी में **'ए बुक इज़् ऑन् द टेबल'**

स्वीकार्य वाक्य है; किन्तु **'देयर इज़ ए बुक ऑन् द टेबल'** की अपेक्षा यह कम सामान्य है। अतः हम कहसकते हैं कि अंग्रेज़ी में स्थानात्मक शब्दों का 'परिहार्य' प्रयोग वास्तव में इस बात का सूचक है कि अंग्रेज़ी की बाह्य-संरचना में उनका सामान्य प्रयोग होसकता है, या वैसा होने की कल्पना कीजासकती है। यह बात अवधेय है कि अंग्रेज़ी में भी यदि कर्त्ता 'निश्चित' है, तब **'देयर'** जैसे स्थानात्मक शब्द का इसप्रकार का परिहार्य प्रयोग सामान्यतः नहीं पायाजाता (यथा—**'द बुक इज़ ऑन् द टेबल'**); और यह उन 'सत्तात्मक' वाक्यों में भी व्यवहार्य है, जिन्हें हमने पहले ही अनिश्चित अधिकरणों से सम्बद्ध माना है। यदि हम एकबार भी निश्चित और अनिश्चित कर्त्ताओं के बीच इस विभेद को पहचान लें, तब हम यह भी पहचान लेंगे कि सत्तात्मक, अधिकरण और सम्बन्धवाचक या आधिकारिक वाक्यों के बीच कुछ समानान्तरता विद्यमान है। यह समानान्तरता कुछ अन्य भाषाओं में और भी अधिक ज्वलन्त है।

८. ४. ५ अन्य भाषाओं से उदाहरण

मन्दारिन चीनी के निम्न वाक्यों को विचारार्थ लें:

(८) **शू जाई ़भुओ-शाङ्** (पुस्तक + होना + मेज-पृष्ठ) = (वह) पुस्तक मेज पर है,

(९) **़भुओ-शाङ् योउ शू** (मेज-पृष्ठ + रखना + पुस्तक) = मेज पर (कोई) पुस्तक है,

(१०) **शू शि वो-दे** (पुस्तक + होना + मुझ-की) = '(वह) पुस्तक मेरी है'

(११) **वो योउ शू** (मुझ + रखना + पुस्तक) = 'मेरे पास पुस्तक है'

यह स्पष्ट होगा कि यहाँ **'होना'** अर्थ की दो क्रियाएँ **'जाई'** और **'शि'** हैं, और एक **'रखना'** अर्थ की: **'योउ'**। किन्तु, उनका वितरण अंग्रेज़ी की समानार्थ क्रियाओं—**'बी'** और **'हैव'** से भिन्न है। (**'शाङ्'** कर्मप्रवचनीय ऐसे अधिकरण रूपों मेंसे एक है: जो अन्तर्वर्त्ती रूप में अधिकरणात्मक नाम, देशनाम, आदि हैं, किन्तु (८) और (९) जैसे वाक्यों में बिना किसी स्थान या देश का बोध कराए प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार, 'अन्यसंक्राम्य' अधिकार को **'-दे'** निपात के द्वारा—(१०)की भाँति—व्यक्त कियाजाता है। किन्तु, यह बात **'अनन्यसंक्राम्य'** अधिकार के विषय में लागू नहीं होती: तु०-**'वोदे शू'** और **'वो जिया'** (मेरी पुस्तक और मेरा घर या परिवार)। 'अन्यसंक्राम्य' और 'अनन्यसंक्राम्य' धारणाओं के लिए देखें: ७. ४. ६।) बाह्य-संरचनी अन्तर के रहते भी अंग्रेज़ी और चीनी रचनाओं को निम्न रूप में सम्बद्ध किया जासकता है। अंग्रेज़ी के **'हैव रचनान्तरण'** का प्रयोग अनिश्चित सम्बन्धवाचक रचनाओं में 'अधिकारी' को पृष्ठसंरचना में लाने केलिए होता है। चीनी में भी इसी प्रकार का रचनान्तरण 'योउ' से सिद्ध होता है, जिसका प्रयोग सम्बन्ध और अधिकरण दोनों ही—(९) और (११)—वाक्यों में होता है। निश्चित सम्बन्ध और

अधिकरण वाक्यों में अंग्रेज़ी योजी 'बी' (होना) का प्रयोग होता है, जबकि चीनी में इनमें से एक स्थिति में 'शि' और दूसरी में 'ज़ाई' का प्रयोग होता है। जब हम एक भाषा से दूसरी में अनुवाद करते हैं, तब हमें अनुवादयोग्य वाक्यों में प्रयुक्त नामों के विन्यासात्मक उपवर्गीकरण का पूरा ध्यान रखनाचाहिए। हम (११) का अनुवाद हिन्दी में **'मेरे पास पुस्तक है'** के रूप में करते हैं; 'मुझ पर पुस्तक है' के रूप में नहीं। यह इसलिए कि 'वो' सप्राण है। इसके विपरीत, हम (९) का अनुवाद सत्तात्मक अधिकरण की सहायता से **'मेज़ पर पुस्तक है'** के रूप में करते हैं; क्योंकि '.झुओ' अप्राण है। चीनी के कुछ व्याकरणों में **'योउ'** क्रिया की 'सत्तात्मक' और 'आधिकारिक' (सम्बन्धात्मक) धारणा में अन्तर कियाजाता है। पर यह उसका गलत रूप हैं। यह अवधेय है कि (९) का अनुवाद अंग्रेज़ी में एक ऐसे **'हैव-वाक्य'** के रूप में भी किया जासकता है, जिसमें 'बाह्य कर्त्ता' की स्थिति में पहले किसी स्थानवाचक की कल्पना करली जाती है, तब उसे बाद में वाक्य में सर्वनाम के द्वारा दोहराया भी जाता है : **'द टेबल हैज़् ए बुक् ऑन् इट्'**। और, चीनी के (८) और (९) के बीचकी-सी रचनान्तरणी सम्बन्धभावना अंग्रेज़ी में भी पाईजाती है, यद्यपि कुछ कम सीमित क्षेत्र में ही। विशेषकर उन वाक्यों में जिनमें अधिकरण पूरक होता है, तथा उन अनुकारी वाक्यों में जिनमें स्थानवाचक संघ का शीर्ष-नाम 'कन्टेन' (contain) जैसी क्रियाओं का पृष्ठसंरचनी-कर्त्ता बनता है : यथा—**'देयर इज़ वाटर इन् द बौटल : द बौटल कन्टेन्स वाटर'**।

यद्यपि रूसी में भी 'रखना क्रिया' 'इमच्' (imetj) के रूप में है, किन्तु यह सामान्य नहीं है। उक्त चारों चीनी वाक्यों का सामान्यतम रूसी अनुवाद इस प्रकार होगा :

(८क) **क्निगा ना स्तोले** (पुस्तक+पर+मेज़)
(९क) **ना स्तोले क्निगा** (पर+मेज़+पुस्तक)
(१०क) **क्निगा मोया** पुस्तक+मेरी)
(११क) **उ मेन्या क्निगा** (पर+मुझ+पुस्तक)

यह अवलोकनीय है कि इन वाक्यों में, जो कि **लकार, पक्ष या भाव** की दृष्टि से अनंकित हैं, न तो 'होना' क्रिया का ही प्रयोग है और न 'रखना' का। (११क) में **'उ मेन्या'** संरचनात्मक दृष्टि से अधिकरण प्रयोगों के सदृश है। कर्मप्रवचनीय 'उ' का (षष्ठी) प्रयोग 'पर' या 'पास' के रूप में अनूदित किया जाएगा, यदि इस पर आश्रित नाम अप्राण हो। यद्यपि रूसी के उक्त वाक्यों के कालात्मक और प्रकारात्मक दृष्टि से अंकित रचनान्तरों में (यथा भूत और भविष्यत् में : ७. ६. ३) एक ही **'होना'** क्रिया (**ब्युच**) का प्रयोग होगा, पर आधिकारिक और अनिश्चित अधिकरणों के प्रश्नात्मक रूप इस दृष्टि से एक समान हैं कि उनमें अस्तित्ववाचक **'निषेधक'** का प्रयोग होता है (अपादान में **'न्येत्'** नहीं है)। ऐसी अनेक भाषाएँ हैं, जिनमें (११क) जैसी सम्बन्धवाचक रचना संरचनात्मक दृष्टि से अधिकरण के समान होती है (उदा०- **स्वाहिली, हिन्दी, गाएलिक,** आदि)।

'तुर्की' में सम्बन्धवाचक और अस्तित्ववाचक वाक्य ऐसे हैं, जो अपनी बाह्य संरचना के साम्यों की दृष्टि से स्पष्टतया सम्बद्ध नहीं हैं। उसमें (११-क) का सामान्य अनुवाद होगा :

(११-ख) किताब्-ईम् वार (पुस्तक-मेरी + 'अस्तित्ववाचक' इसमें 'वार' अस्तित्ववाचक क्रिया है। इसी की एक वैकल्पिक रचना होगी :

(११-क) बेन्-दे किताप् वार (मुझ-अधिकरण + पुस्तक + अस्तित्ववाचक)। (११-ख) और (११-ग) में अन्तर इसप्रकार के अनुवाद के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है : 'मेरी (मेरे पास) पुस्तक है' और 'मुझ पे पुस्तक है'। अनेक भाषाओं में इसी रूप में 'सामान्य सम्बन्धवाचक' और 'प्राप्यता-सम्बन्धवाचक' के बीच विभेद कियाजाता है : इनमें से परवर्त्ती के साथ प्राय: विभक्ति या कर्मप्रवचनीय के द्वारा 'अधिकरण-सप्तमी' का प्रयोग कियाजाता है।

इस बात को दिखाने केलिए पर्याप्त उदाहरण दियेगए हैं कि अधिकरणात्मक, सम्बन्धात्मक और अस्तित्वात्मक वाक्य अनेक भाषाओं में परस्पर सम्बद्ध होते हैं। अंग्रेज़ी के उन वाक्यों का क्षेत्र जानकर ही, जिनमें 'हैव' का प्रयोग मुख्य क्रिया के रूप में होता है, यह जाना जासकता है कि तथाकथित 'आधिकारिक' वाक्यों की समस्त श्रेणी ही सन्देहापन्न है। इन 'हैव-वाक्यों' के बीच जो एक बात समान है, वह यह कि 'हैव' के कर्त्ता को पृष्ठ-संरचना में महत्त्व की स्थिति में लायाजाता है। इस प्रकार के वाक्यों की रचना रचनान्तरण की दृष्टि से अत्यन्त जटिल होती है। किन्तु, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'हैव' (रखना) क्रिया 'बी' (होना) की अपेक्षा अधिक अन्त:संरचनी नहीं है।

८. ४. ६ अंग्रेज़ी पूर्णतावाचक

अंग्रेज़ी के अधिकांश समकालीन व्याकरणों में 'पूर्ण' क्रिया 'हैव' और 'सहायिका' क्रिया 'हैव' के बीच विभेद कियाजाता है : 'पूर्ण क्रिया' का प्रयोग 'सम्बन्धात्मक' वाक्यों में कियाजाता है, जबकि 'सहायिका' का प्रयोग 'पूर्णतात्मक पक्ष' की सिद्धि केलिए क्रिया के 'भूतात्मक कृदन्त' (निष्ठा) के साथ कियाजाता है (तु० ७. ५. ७)। 'आई हैव द बुक' और 'आई हैव डन् द वर्क' जैसे वाक्य व्याकरणात्मक दृष्टि से एक-दूसरे से पर्याप्त विविक्त समझे जासकते हैं : किन्तु कालक्रमिक दृष्टि से, और कुछ अंशों तक समकालिक रूप में भी, परस्पर सम्बद्ध हैं। कालक्रमिक विकास को स्पष्टतम रूप में लैटिन की 'सम्बन्धात्मक' और रोमानी भाषाओं की 'हैव-सहित' 'पूर्णता-सूचक' रचनाओं की सहायता से समझा जासकता है। (जर्मन-परिवार और रोमन परिवार की भाषाओं में 'हैव' के 'सहायिका क्रिया' के रूप में विकास को प्रत्येक भाषावर्ग की स्वतन्त्र विकास-प्रक्रिया का परिणाम कहा जा सकता है। किन्तु, इसकी व्याख्या एकसे ही सामान्य सिद्धान्तों से होसकती है।) जैसा कि हम देखचुके हैं, श्रेण्य और परवर्त्ती लैटिन में 'एस्त मिहि लिबेर' (अस्ति

मह्यं पुस्तकम्) का रूपान्तर **'हाबेश्रो लीब्रम्'** (**अधिकरोमि पुस्तकम्**) के रूप में हो चुका था। यहां 'मिहि' (मह्यम्) के चतुर्थ्यात्मक प्रयोग को 'लाभार्थक या रुच्यर्थक' सम्प्रदान आदि के रूप में व्याख्यात कियाजाता है। ये परिभाषाएँ अस्पष्ट हैं, फिर भी यहां विचाराधीन तथ्य को ये पूरी तरह स्पष्ट करसकेंगी। लैटिन के **'एस्त मिहि लिबेर'** की व्याख्या **'एक पुस्तक है, जिसके साथ मैं ग्रथित या सम्बद्ध हूँ'** के रूप में कीजाती है। लैटिन की परवर्त्ती स्थितियों में वह वैकल्पिक रूपान्तरण अनिवार्य बनगया, जिसके अनुसार **रुचिमय-व्यक्ति** (पुरुष) को पृष्ठसंरचनी स्थिति में निहित कियाजाता था (**'हाबेश्रो लीब्रम्'**—के रूप में) : **'हाबेरे'** क्रिया लैटिन की सकर्मक क्रियाओं से अनेक बातों में मिलती है, और किसी सकर्मक क्रिया का कर्त्ता प्रायः 'सकर्त्तृक' होता है (८. २. ७)।

'आई हैव डन् द वर्क' का श्रेण्य लैटिन में अनुवाद है **'फेचि ओपुस्'**। किन्तु, इसी को कर्मवाच्य में इस प्रकार कहा जासकता है : **'ओपुस् मिहि एस्त फाक्तुम्'**; या सामान्य लैटिन 'सकर्त्तृक अधियोजी' (**'अ मे'** : ७. ४. ५) के साथ अधिक सामान्य रूप में इस तरह : **'ओपुस् अ मे फ़ाक्तुम् एँस्त'**। किन्तु लैटिन में **'फेचि ओपुस्'** का परवर्त्ती रूपान्तर हुआ **'हाबेश्रो फाक्तुम् ओपुस्'** (तु०-**'हाबेश्रो लीब्रम्'**)। ठीक इसी प्रकार **'हैव'**-सहित अंग्रेज़ी **'पूर्ण'** के उद्गम की भी व्याख्या की जासकती है। आरम्भ में इसका प्रयोग केवल सकर्मक क्रियाओं तक ही सीमित था और इसप्रकार का इसका सम्बन्ध **'हैव-रहित पूर्णतात्मक कर्मवाच्य'** के साथ बनारहा, जिसका अबभी प्रयोग **'द वर्क इज़ डन्'** या **'द हाउस इज़ बिल्ट'** आदि के रूप में होता है। **'हैव-युक्त पूर्णभूत'** का परवर्त्ती प्रयोग-विस्तार जब अकर्मक वाक्यों पर भी हुआ, तब इसने 'कर्त्तृवाच्य' में सकर्मक के **'हैवयुक्त प्रयोग'** और उसी के कर्मवाच्य में **'हैव-रहित प्रयोग'** के बीच सम्बन्ध को कतई समाप्त तो नहीं किया, पर ढीला अवश्य करदिया। **'जोन हैज़ फिनिश्ड द हाउस'** जैसे वाक्यों का सम्बन्ध इन दोनों से युगपत् ही स्थापित कियाजाता है : **'जोन फिनिशेज़ द हाउस'** और **'द हाउस इज़ फिनिश्ड'**। वर्त्तमान अंग्रेज़ी का रचनान्तरक व्याकरण सकर्मक पूर्णतात्मक और कर्मवाच्य के बीच इस विशिष्ट सम्बन्ध को पूर्णतः उपेक्षा की दृष्टि से देखता है।

किन्तु, यहां मुख्य बात यह कही जारही है कि **'हैव-युक्त पूर्णभूत'** और **'स्वामित्वयुक्त हैव'** के क्रमागत विकास की व्याख्या एक ही सिद्धान्त से सम्भव है। दोनों ही जगह **'हैव-रचनान्तरण'** अनिवार्य बनगया है, यद्यपि इसका मूल कार्य **'रुचिवान् पुरुष'** (भले ही वह 'कर्त्ता' न हो) को बाह्यसंरचना में कर्त्ता की स्थिति में लाना था। अंग्रेज़ी में यह सिद्धान्त अबतक कार्यरत है। **'आई हैड ए बुक ऑन् द टेबल'** और **'देयर वाज़ ए बुक ऑन द टेबल'** के बीच वही सम्बन्ध है, जो **'आई हैड द वर्क डन्'** और 'द वर्क वाज़् डन्' के बीच है। **'आई हैड ए बुक स्टोलन्'** जैसे शोम्स्की द्वारा प्रयुक्त उदाहरण में **'रुचिवान् पुरुष'** या तो अप्रत्यक्ष कर्त्ता होसकता है या फिर 'लाभान्वित' (फलवान्) व्यक्ति (**'आई गौट् समुवन् टु स्टोल ए बुक'** या

'समवन् स्टोल ए बुक फ़ॉर मी')। 'आई विल् हैव डन् द वर्क बाई फ़ाइव ओ'-क्लौक' जैसे वाक्य में 'रुचिवान्' व्यक्ति प्रयक्ष या अप्रत्यक्ष (हेतु) कर्त्ता होसकता है ('द वर्क विल् बी डन् बाई मी' या 'आई विल् गेॅट् समवन् टु डू द वर्क')। यह बात विवादास्पद है कि ऐसे वाक्यों को रचनात्मक दृष्टि से अस्पष्ट कहाजाए या नहीं। यदि कहाजाए कि 'आई विल् हैव द वर्क डन्' ठीक उसी प्रकार दो अन्त:रचनाओं से व्युत्पन्न है, जिस प्रकार 'आई बिल्ट ए हाउस बाइ द सी', तब हमें इसमें असत्य का कोई आधार नहीं दीखता। 'आई बिल्ट ए हाउस' की भी व्याख्या दो प्रकार से की जासकती है ('आई डिड द बिल्डिङ् ऑफ़ द हाउस' और 'आई गौट् समवन् ऍल्स टु बिल्ड ए हाउस फ़ॉर मी')।

८. ४. ७ स्थितिक, गतिक और प्रेरणार्थक

अधिकरण (पुस्तक मेज़ पर है), सम्बन्ध (जोन के पास पुस्तक है) और गुणकथन (पुस्तक मूल्यवान् है) करनेवाले जो वाक्य अबतक इस खण्ड में विचारे गए हैं, वे सभी स्थितिपरक हैं (तु०- ७. ५. ७)। विगत अध्याय में 'अधिकरण' विभक्तियों के विमर्श के समय यह इंगित कियागया था कि 'स्थानात्मक' (अधिकरणात्मक) और 'दिशात्मक' के बीच विभेद 'स्थितिक' और 'गतिक' के पक्षात्मक विभेद का विशिष्ट उदाहरण है। वास्तव में 'स्थानगति' का जो सम्बन्ध 'स्थान' से है, वही 'प्राप्ति' का 'अधिकार' से और 'होजाने' का 'होने' से है (तु०-७. ४. ६; ७. ६. ३)।

यदि 'बी' (होना) और 'हैव' (रखना) क्रियाएं अन्त:संरचनी नहीं हैं, तब कहना होगा कि निम्न वाक्यों की अन्त:संरचना में कोई क्रिया है ही नहीं:

(१२) जोन केम/वेण्ट टु सान्फ्रान्सिस्को

(१३) जोन गौट ए बुक

(१४) द बुक बिकेम वैल्युएबल

जो सम्बन्ध 'बी' का 'कम्/गो' से है, वही 'हैव' का 'गेॅट्' से और 'बी' का 'बिकम' से है। प्रत्येक के सम्बन्ध में हम कहसकते हैं कि 'बी' या 'हैव' से युक्त 'स्थितिक' वाक्य, गतिक वाक्यों से विषम रूप में, अनंकित होता है। इसके विपरीत 'गतिक' इस विशिष्ट-पक्षात्मक विभेद का 'अंकित' पद है।

इसे 'पक्ष' के विरोध के रूप में ठीक ही स्वीकार कियाजाता है। यह बात आगामी विमर्श से सिद्ध होजाएगी। 'गतिक' क्रियाओं का 'पूर्णतात्मक' प्रयोग 'स्थितिक' के तदनुकारी अनंकित अपूर्णतात्मक प्रयोग को अन्तर्हित कियेरहता है। इसप्रकार, 'जोन हैज़ गोन टु सान्फ्रांसिस्को' में 'जोन इज़ इन् सान्फ्रांसिस्को' का भाव भी अन्तर्हित है। इसीप्रकार क्रमशः 'जोन हैज़ गौट् ए बुक' और 'द बुक हैज़ बिकम वैल्युएबल' में 'जोन हैज ए बुक' और द बुक इज़ वैल्युएबल' का भी अन्तर्भाव स्पष्ट ही है। (इस विशिष्ट सम्बन्ध के कारण ही अंग्रेजी की अनेक विभाषाओं में 'हैज़ गौट' और 'हैज़' को समतुल्य रूप में ही प्रयोग कियाजाता है।) यदि व्याकरण के आधारी योजक

के द्वारा इन वाक्यों पर विविध रूप में विचार कियाजाए, तब एक महत्त्वपूर्ण साधारणीकरण महत्त्वहीन होजाता है। उदाहरणार्थ, 'इन् द पार्क' या 'ऐट् चर्च' जैसे कुछ कर्मप्रवचनीयात्मक प्रयोगों को अधिकारणात्मक के रूप में विश्लिष्ट करना होगा, जबकि 'इन् टु द पार्क' या 'टु चर्च' जैसों को 'दिशात्मक' के रूप में कहना होगा। तब हमें नियमों की रचना इस रूप में करनीहोगी कि 'दिशात्मक' के साहचर्य में 'बी' (होना) का प्रयोग सम्भव न हो, और 'अधिकरण' के साथ 'गति की क्रियाओं' का। किन्तु, यदि इन रचनाओं की अन्तःसंरचना में भी ये विभेद पहचान लिएजाएं, तब ऐसे कुछ तथ्य अव्याख्यात ही रहजाएंगे (जबतक उनके लिए कुछ तदर्थ नियम न बना दिएजाएं : 'जोन वेण्ट टु सान्फ्रांसिस्को एण्ड इज़् स्टिल देयर' वाक्य स्वीकार्य है, जबकि *'जोन वेण्ट टु सान्फ्रांसिस्को एण्ड इज़् स्टिल हियर' अस्वीकार्य है। 'हियर' और 'देयर्' के बीच (वक्तृ-सम्बद्ध) दिशात्मक विरोध (तु०-७. २. १) का 'जोन इज़ इन सान्फ्रांसिस्को' की व्याकरणात्मकता से सम्बन्ध नहीं है : इस विरोध का सम्बन्ध 'जोन…टु सान्फ्रांसिस्को' की 'क्रिया' या 'वेण्ट' के चुनाव पर निर्भर करता है, तथा इसका आधार ऊपर निदर्शित वाक्यों में कथित 'दिशात्मक' या 'अधिकरणात्मक' समुच्चयनिपातों के प्रयोग पर निर्भर करता है। इन विरोधों का समाधान तब हम विधिवत् करसकते हैं, यदि हम यह कहें कि 'जोन इज़ इन् सान्फ्रांसिस्को' की अन्तःसंरचना 'जोन केम/गोज़ टु सान्फ्रांसिस्को' की अन्तःसंरचना के साथ, केवल 'गतिकता' या 'स्थैतिकता' के 'विरोध' को छोड़कर, अन्यथा समरूप है। वे दोनों ही अन्तःसंरचना में वक्ता से 'सामीप्य' और 'दूरी' की दृष्टि से अंकित हैं (हियर : देयर; कुछ उलझनभरी बातों पर हम यहां विचार नहीं करेंगे)। 'गतिक' अभिलक्षण के साथ मिलकर सामीप्य 'कम' या 'आना क्रिया' को जन्मदेता है, जबकि 'दूरी' के साथ मिलकर वही 'गो' को जन्मदेता है।

ऊपर कहीगई—अधिकरण, सम्बन्ध और गुणवाचक—तीनों वाक्य-श्रेणियों केलिए एक-एक विशिष्ट त्रिपदा प्रेरणार्थक रचना नियत है (तु०-८. ३. ६)। (१२)-(१४) वाक्यों के अनुकारी निम्न वाक्य हमें प्राप्त हैं :

(१२-क) 'बिल ब्रॉट् टुक जोन टु सान्फ्रांसिस्को'

(१३-क) 'बिल गेव जोन ए बुक'

(१४-क) 'बिल मेड द बुक् वैल्युएबल्'

(इनमें से अन्तिम कुछ अखरता है, किन्तु यह निस्सन्देह उक्त प्रकार से (१४) का अनुकारी है।) प्रेरणार्थक रचना 'गतिक' है : और 'बिल हैज़ गिवन जोन ए बुक' में 'जोन हैज़ ए बुक' का अन्तर्ग्रहण ठीक वैसे होता है, जैसे 'जोन हैज़ गौट् ए बुक' में।

किसी विशिष्ट क्षण में 'द्विपदा' अधिकरणात्मक गतिक रचना का प्रयोग होता है या 'त्रिपदा' का, इसका निर्णय इस तथ्य पर निर्भर रहता है कि 'स्थानगति' में प्रवर्त्तित व्यक्ति या वस्तु 'सकर्त्तृक' है या नहीं। अव्याकरणात्मक न होतेहुए भी 'द बुक हैज़ गोन टु लण्डन' को 'जोन हैज़ गोन टु लण्डन' की अपेक्षा कम सामान्य

स्वीकार कियाजाता है। इसके लिए हमें 'द बुक' को 'अप्राण' के रूप में फिर से श्रेणीबद्ध करनाहोगा (तु०-७. ४. ५)। **'जोन वेँण्ट टु सान् फ्रांसिस्को'** या **'बिल वेण्ट विद जोन टु सान् फ्रांसिस्को'** के विरोध में **'बिल टुक जोन् टु सान् फ्रांसिस्को'** में **'बिल'** 'सकर्तृक' के रूप में और **'जोन'** 'अकर्तृक' के रूप में अंकित है।

अन्ततः, यह कहा जासकता है कि त्रिपदा रचनाओं में 'सम्बन्ध' और 'अधिकरण' को सदा ही स्पष्ट रूप में विविक्त नहीं किया जासकता। यह कहना अनावश्यक भी है और असम्भव भी कि **'ब्रिङ् मी द बुक'** सम्बन्धवाचक है या अधिकरणात्मक (**'मी'** को 'अप्रत्यक्ष कर्म' (सम्प्रदान) कहनाचाहिए या **'दिशात्मक'**)। हम यह पहले ही दिखाचुके हैं कि अनेक भाषाओं में एक ही कर्मप्रवचनीय **अप्रत्यक्ष** और **'की ओर गति'** (अभिप्रयाण) केलिए प्रयुक्त होता है (तु०-७. ४. ६)। एक बार फिर हम **'सम्बन्धात्मक'** और **'अधिकरणात्मक (स्थानात्मक)'** के बीच समता या चरम समरूपता पाते हैं। साधारण रूप में, इस खण्ड में हमने देखा कि परम्परागत रूप में, **'पूर्ण क्रिया'** मानी जानेवाली अनेक क्रियाओं को 'बाह्य-संरचनी क्रिया' माना जासकता है, जिनमें से प्रत्येक को व्याकरण द्वारा लकार, भाव या पक्ष को वहन करने केलिए प्रजनित कियाजाता है; भले ही उनमें 'प्रेरणार्थक' या 'गतिक' के अतिरिक्त अन्य अभिलक्षण विद्यमान हों या न हों।

९

अर्थविज्ञान : सामान्य सिद्धान्त

९. १ विषय-प्रवेश

९. १. १. 'अर्थविज्ञान' परिभाषा

आरम्भिक और अस्थाई रूप में हम 'अर्थविज्ञान' को 'अर्थ का अध्ययन' कहसकते हैं। 'सेमेण्टिक्स' (अर्थविज्ञान) शब्द का आविर्भाव अभी हाल में ही हुआ है। उन्नीसवीं शती के अन्तपर ही इसे एक ग्रीक धातु से घड़ागया, जिसका अर्थ 'संकेतित करना' है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि शब्द के अर्थ की ओर विद्वानों का ध्यान सर्वप्रथम लगभग एक सौ वर्ष पूर्व ही गया। इसके विपरीत, बहुत आरम्भिक काल से ही वैयाकरण शब्दों के अर्थों के प्रति रुचिवान् रहे हैं। उनका ध्यान विशेष रूप में शब्दों के अर्थ की ओर ही रहा; उनके विन्यासात्मक या वाक्यगत प्रकार्य की ओर नहीं। इस अभिरुचि का निदर्शन उन असंख्य शब्दकोषों में स्पष्ट रूप से मिलता है, जोकि इन सब युगों में केवल पश्चिम में ही नहीं; बल्कि विश्वभर में, जहाँ भी कहीं भाषा का अध्ययन हुआ है, रचे जातेरहे हैं। हम देख ही चुके हैं कि व्याकरण की परम्परागत कोटियों का निर्धारण एक बड़ी मात्रा तक उनके विशिष्ट 'संकेतनप्रकार' पर आधारित रहा है (तु०-१. २. ७)।

९. १. २ आधुनिक भाषाविज्ञान में अर्थविज्ञान की उपेक्षा

पिछले तीस वर्षों में भाषाविज्ञान पर जितनी भी पुस्तकें लिखी गई हैं, उनमें या तो अर्थविज्ञान पर ध्यान ही नहीं दियागया, या फिर बहुत कम दिया गया है। इसका कारण यह है कि बहुत से भाषाविद् यह सन्देह करनेलगे हैं कि व्याकरण और ध्वनि प्रक्रिया की भाँति अर्थविज्ञान का अध्ययन भी कमसेकम वर्त्तमान समय में उतनी वस्तुपरकता एवं दृढ़निष्ठा के साथ होपाना सम्भव है भी या नहीं। फिर, जहाँ 'ध्वनिप्रक्रिया' और 'व्याकरण' का समावेश 'भाषाविज्ञान' के अन्तर्गत होजाता है (यद्यपि बालक द्वारा अपनी भाषा की ध्वनिप्रक्रियात्मक और व्याकरणात्मक संरचना को सीखने का तरीका मनोवैज्ञानिकों केलिए भी महती रुचि का विषय है), जिसे हम सामान्यत: 'अर्थ की समस्या' कहते हैं, उसका अध्ययन दर्शन, न्याय, मनोविज्ञान, नृवंशशास्त्र, समाजशास्त्र, आदि विविध विज्ञानों केलिए भी, कमसेकम

समान रूप में तो, आवश्यक है ही। विशेषकर दार्शनिकों की रुचि अर्थ की ओर सदा से ही रही है, क्योंकि अनिवार्यतः इसका समावेश ऐसे विवादास्पद एवं मार्मिक विषयों के साथ होतारहा है : यथा—सत्य की प्रकृति, विश्वात्मक या सार्वभौम धारणाओं की स्थिति, ज्ञान की समस्या एवं वास्तविकता का विश्लेषण।

९. १. ३ अर्थ में दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक अभिरुचि

यह बताना कठिन नहीं है कि दर्शन और मनोविज्ञान के अध्येताओं केलिए अर्थ क्यों रुचिकर है, और इसे विवादास्पद 'समस्या' क्यों माना जाता है? इस सरल से प्रश्न को ही लें : **'गौ का अर्थ क्या है?'** निश्चय ही **'गौ'** कोई विशिष्ट या व्यक्ति प्राणी नहीं है। तब क्या प्राणियों की किसी सम्पूर्ण श्रेणी या जाति को हम 'गौ' कहें? सभी गायें एक-दूसरे से किसी-न-किसी मात्रा तक भिन्न हैं। और किसी भी स्थिति में कोई भी व्यक्ति 'गाय जाति' के प्रत्येक सदस्य (व्यक्ति) से परिचित नहीं होसकता। इस पर भी हम यह कहना चाहेंगे कि हम **'गौ'** का अर्थ जानते हैं, और पहले से अपरिचित विशिष्ट पशुओं की सूचना केलिए इसे शुद्ध रूप में प्रयोग करने में समर्थ हैं। क्या कोई ऐसा गुण या गुणसमुदाय है, जो 'गौ' को अन्य नामों से पुकारे जानेवाले पशुओं से भिन्न सिद्धकरता है? इस पर विचार-प्रसंग हम पाएंगे कि हम भी 'नाममात्रवदी' और 'वस्तुवादी' विचारकों के बीच प्लेटो के समय से एक या दूसरे रूप में चले आरहे विवाद में उलझगए हैं। क्या **वस्तुवादियों** के अनुसार एक ही संज्ञा को वहन करने वाले सभी द्रव्य कुछ 'अनिवार्य' सामान्य लक्षणों से युक्त होते हैं, या **नाममात्रवादियों** के अनुसार उनमें उस संज्ञा के अतिरिक्त अन्य कोई समानता नहीं होती, जिसे कि हमने रूढ़ि के कारण उनकेलिए प्रयुक्त करना सीखलिया है?' और, 'गौ' का उदाहरण कोई विशेष कठिन नहीं है। हम यह मानने को तैयार हैं कि 'गायों' की परिभाषा जीवविज्ञान की भाषा में, सन्तति और जाति की दृष्टि से, की जासकती है। किन्तु **'मेज'** के विषय में क्या कहेंगे? 'मेजें' भी विविध आयाम और आकार की होती हैं, विविध द्रव्य या सामग्री से निर्मित होती हैं, एवं विविध प्रयोजनों से प्रयुक्त भी होती हैं। हम कहसकते हैं कि 'मेजें' कम से कम **दृष्टि और स्पर्श** में आनेवाली वस्तु हैं। हम उनके विभेदक लक्षणों को परिभाषित करने की बात सोच सकते हैं। तब हम **'सत्य'**, **'सौन्दर्य'**, **'साधुता'**, आदि शब्दों के विषय में क्या कहेंगे? जिन भी वस्तुओं को हम **'सुन्दर'** या **'अच्छी'** कहते हैं, क्या उनसब में कोई समानधर्म होता है? यदि **'हाँ'**, तब हम इसे कैसे पहचान और व्यक्त करसकते हैं? क्या हम यह कहेंगे कि सत्य, सौन्दर्य, साधुता जैसे शब्दों का अर्थ उनसे सम्बद्ध उस **'संप्रत्यय'** या **'विचार'** के रूप में होता है, जो इन शब्दों से सम्बद्ध भाषा के वक्ताओं के मनमें इन शब्दों के सहचारी रूप में स्थित रहते हैं। और इसप्रकार क्या सामान्यतः **'अर्थों'** को **'संप्रत्यय'** या 'विचार' ही कहा जासकता है? यदि हम ऐसा कहेंगे, तब हम फिर

से स्वयं को दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विवादों में उलझता पाएंगे; क्योंकि अनेक दर्शनशास्त्री और मनोविज्ञानी **'संप्रत्यय'** अथवा **'मन'** की सत्ता के प्रति ही शंकालु हैं। यदि हम इन कठिनाइयों को छोड़ भी दें, या उनकी ओर ध्यान न भी दें, तब भी अन्य 'दार्शनिक प्रकृति' की अनेक कठिनाइयाँ किसी न किसी मात्रा में रह जाएँगी। सचमुच ही क्या इस कथन का कोई अर्थ है कि, 'किसी ने किसी शब्द का प्रयोग उससे भिन्न 'अर्थ' में किया है, जोकि उसका वास्तविक अर्थ है?' क्या सत्य ही **'वास्तविक'** या **'शुद्ध'** अर्थ जैसी कोई चीज़ होती है ?

६. १. ४ 'अर्थ' के अर्थ

अब तक हमने **शब्द के अर्थ** की ही चर्चा की है। हम यह भी कहते हैं कि **'वाक्यों का अर्थ होता है'**। क्या यहाँ भी 'अर्थ' का प्रयोग उसी भावना में होरहा है ? यह अवधेय है कि हम प्रायः ही कहते हैं कि **वाक्य और पदबन्ध अर्थवान्** हैं, अथवा **नहीं** हैं; किन्तु ऐसा कभी नहीं कहते कि **'शब्द अर्थवान् नहीं हैं।'** तब क्या **'सार्थक होने'** और **'अर्थवान् होने'** के बीच विभेद या अनेक विभेदकरने सम्भव हैं ? इन सब, और इनसे सम्बद्ध अन्य प्रश्नों पर, दार्शनिकों और भाषाविदों ने पर्याप्त विचार किया है। अब तो अर्थ-विज्ञान के लिए **'अर्थ'** के विभिन्न **अर्थों** की ओर ध्यान आकृष्ट करना सामान्य बात होगई है।

दार्शनिक रुचि के प्रश्नों के अतिरिक्त, भाषाविद् के लिए विशिष्टतर अवधेय प्रश्न भी हैं। सामान्य जनों की भाँति दार्शनिक भी प्रायः 'शब्दों' और 'वाक्यों' को सिद्ध मानकर ही चलते हैं। भाषाविद् केलिए ऐसा सम्भव नहीं है। शब्द और वाक्य व्याकरण-वर्णन की सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख इकाइयाँ हैं। किन्तु भाषाविद् उन्हीं इकाइयों की पहचान तक ही नहीं रुकजाता। उसे इस सामान्य प्रश्न से भी सुलझना होता है कि किस प्रकार विविध प्रकार की व्याकरणात्मक इकाइयाँ अर्थात्मक विश्लेषण की इकाइयों से सम्बद्ध होती हैं। विशेषकर, उसे यह देखना चाहिए कि **कोषीय और व्याकरणात्मक** अर्थ में कोई अन्तर है या नहीं ?

६. १. ५ अर्थविज्ञान के वर्त्तमान वादों की अपर्याप्तता

आजतक किसी ने अर्थविज्ञान के सन्तोषजनक और व्यापक सिद्धान्त की रूप-रेखा तक प्रस्तुत नहीं की है। यह बात इस विषय पर किसी भी विचार के प्रसंग में स्पष्ट करनी आवश्यक है। किन्तु, अर्थविज्ञान के विषय में किसी प्रणाली-बद्ध सिद्धान्त के अबतक विकसित न किए जासकने का यह अर्थ नहीं कि अबतक इस विषय के सैद्धान्तिक अनुसन्धान में कोई प्रगति ही नहीं हुई। हाल के वर्षों में दार्शनिकों और भाषाविदों ने जो मुख्यतर योगदान इस विषय में दिया है, आगे हम उस का संक्षिप्त परिचय देंगे।

हम पहले ही अर्थविज्ञान की अस्थायी परिभाषा **'अर्थ के अध्ययन'** के रूप में

देचुके हैं। यह परिभाषा अर्थविज्ञानियों के बीच एक 'सहमति' को सूचित करती है। पर ज्यों ही हम इस विषय की विशिष्ट विवेचना और विचार में प्रवृत्त होते हैं, अर्थ की परिभाषा और निर्धारण के सम्बन्ध में अपनाईगई भिन्न-भिन्न भ्रान्त कर देने वाली दिशाएँ हमारे सामने स्पष्ट होती हैं। हम देखते हैं कि 'भावकार्थ' और 'ज्ञेयार्थ', 'सार्थकता' और 'संकेतन', 'निष्पादनात्मक अर्थ' और 'वर्णनात्मक अर्थ', 'आशय' और 'निर्देश', 'वाच्यार्थ' और 'गुणार्थ', 'संकेत' और 'प्रतीक', 'बाह्यार्थ' और 'अभिप्राय', 'निहितार्थ', 'अनुलग्नता' और 'प्राक्-कल्पना', 'विश्लेषणिक' और 'संश्लेषणिक', इत्यादि अर्थ-विधाओं के बीच विभेद कियाजाता है। इस विषय की पारिभाषिक संज्ञाएँ जहाँ समृद्ध हैं, वहाँ भ्रामक भी हैं। क्योंकि विभिन्न लेखकों ने असंगति और असमरूपता के साथ इन संज्ञाओं का प्रयोगकिया है। अतः यह अनिवार्य ही है कि इस अध्याय में प्रयुक्त परिभाषाओं का पूर्णतः वही अर्थ नहीं होगा, जिस में उन्हें अर्थविज्ञान की अन्य पुस्तकों में प्रयोग कियागया है।

इस विषय का आरम्भ हम 'अर्थ' की परिभाषा के प्रति परम्परागत दृष्टि के स्पष्टीकरण एवं समीक्षण से करेंगे।

९. २ परम्परागत अर्थ-विज्ञान

९. २. १ वस्तुओं का संज्ञाकरण

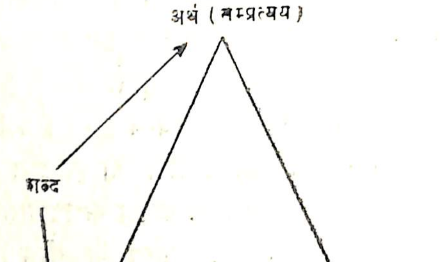
परम्परागत व्याकरण की नींव इस मान्यता पर खड़ी थी कि '(कोषस्थ) शब्द' (तु०-५. ४. ४) 'वाक्यविन्यास' एवं 'अर्थविज्ञान' की आधारभूत इकाई है (तु०-१. २. ७ और ७. १. २)। शब्द एक 'संकेत' है, जिसके दो भाग हैं (जिन्हें हम विचारार्थ दो 'घटक' कहेंगे): शब्द का 'आकार' और 'अर्थ'। (यह स्मर्त्तव्य है कि भाषाविज्ञान में 'फ़ॉर्म' के विविध अर्थों में से यह एक है। शब्द के 'आकार' और विभक्त्यादिजन्य 'रूप' के बीच अन्तर पहचानना चाहिए तु०-४. १. ५)। परम्परागत व्याकरण के अत्यधिक आरम्भिक काल में ही 'शब्दों' और उनके द्वारा संकेतित 'द्रव्यों' के परस्पर सम्बन्ध के विषय में प्रश्न उठखड़ाहुआ था। सुकरात के समकालीन दार्शनिकों और प्लेटो ने जिस तरह से इस प्रश्न पर विचारकिया, उसी पद्धति पर अबतक भी इस प्रश्न पर विचारहोता आरहा है। उनकी दृष्टि में, शब्दों और द्रव्यों के बीच 'संज्ञाकरण' का सम्बन्ध होता है। फिर यह प्रश्न भी उठा कि जो संज्ञा हम द्रव्यों को देते हैं, वह उत्पत्ति की दृष्टि से 'स्वाभाविक' होती है या 'रूढ़ि' (तु०-१. २. २)? परम्परागत व्याकरण के विकासक्रम में प्रायः यह प्रथा ही बनगई है कि शब्द के 'अर्थ' और उस 'द्रव्य' के बीच विभेद कियाजाए, जिस की 'संज्ञा' उस शब्द केद्वारा पड़ती है। मध्ययुगीन वैयाकरणों द्वारा सूचित विभेद के अनुसार: वाचिक शब्द का आकार किसी भाषा के बोलनेवालों के मन में उसके

'सहचारी सम्प्रत्यय' के कारण 'द्रव्यों' को संकेतित करता है। और इस दृष्टि से विचार करने पर 'सम्प्रत्यय' ही शब्द का अर्थ ठहरता है (इसका 'संकेतार्थ')। इस मान्यता को हम शब्द और द्रव्य के सम्बन्ध के विषय में परम्परागत मान्यता के रूप में स्वीकारकरेंगे। यह हम पहले ही देखचुके हैं कि किस तरह इस दृष्टि को 'पद-भेदों' (पार्ट्स ऑफ़ स्पीच) की दार्शनिक परिभाषा का, उनकी संकेतन-दिशाओं के अनुसार, सिद्धान्ततः आधार बनायागया (तु०-१. २. ७)। 'संकेतन' के परम्परागत सिद्धान्त के अधिक विस्तार में बिनागए, हमें इस तथ्य का उल्लेख करना चाहिए कि 'संकेतन' संज्ञा के विनियोग ने प्रयुक्त परिभाषाओं से समवाचिकता या भ्रांति की सम्भाव्यता को सर्वथामिटा नहीं दिया : शब्द का बाह्याकार दोनों को ही 'संके-तित' करता कहा जासकता है : उस 'सम्प्रत्यय' को भी, जिसके अधीन 'द्रव्य' को (गुणव्यतिरिक्त अवस्था में) अवकल्पित कियाजाता है, एवं स्वयं 'द्रव्यों' को भी। निस्सन्देह 'द्रव्य' और 'सम्प्रत्यय' के सम्बन्ध में पर्याप्त दार्शनिक मतभेद रहा (विशेष-कर 'नामवादियों' और 'वस्तुवादियों' के बीच : तु०-९. १. ३)। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हम इन मतभेदों की उपेक्षा करसकते हैं।

९. २. २ निर्देश

जहांतक शब्दों के द्वारा उनके 'नामांकित' या 'संकेतित' होने का सम्बन्ध है, **'द्रव्यों'** के विषय मे हम एक आधुनिक परिभाषा को इस स्थल पर समाहित करना चाहेंगे। **यह** पारिभाषिक संज्ञा है—**'निर्दिष्ट'**। हम कहसकते हैं कि शब्दों और (उनभद्वारा निर्दिष्ट) वस्तुओं के बीच **'निर्देश'** का सम्बन्ध है : शब्द वस्तुओं का **'निर्देश'** करते हैं। **बाह्याकार, अर्थ** और **निर्दिष्ट** के बीच विभेद स्वीकार करलेने पर, हम उनके बीच परम्परागत सम्बन्ध-दृष्टि की 'संकेतन त्रिकोण' का रूप (आरेख-२३ के रूप में) प्रदान करसकते हैं। 'आकार' और 'निर्दिष्ट' के बीच बिन्दु-रेखा यह सूचित करने केलिए है कि उनके बीच सम्बन्ध अप्रत्यक्ष है : आकार का निर्दिष्ट

आरेख-२३



के साथ सम्बन्ध (सम्प्रत्ययात्मक) अर्थ के माध्यम से है, जो दोनों के साथ स्वतन्त्र रूप में सहचारी है। यह आरेख इस बात को पर्याप्त स्पष्ट करदेता है कि परम्परागत व्याकरण के अनुसार विशिष्ट आकार के साथ विशिष्ट अर्थ के संयोग से ही शब्द की परिणति होती है।

६. २. ३ पर्याय (समानार्थक) और समनाम (अनेकार्थक)

शब्द की प्रकृति के प्रति इस दृष्टि के आधार पर हम शब्दों के 'समानार्थक' और 'अनेकार्थक' के रूप में परम्परागत 'अर्थात्मक श्रेणीकरण' की पूरी व्याख्या कर सकते हैं। प्राचीन वैषम्यवादियों के अनुकरण पर (तु०-१. २. ३) कोई भी कह सकता है कि **'आदर्श' भाषा वही होगी, जिसमें एक आकार का एक ही अर्थ हो, अथवा एक अर्थ एक ही आकार से संगत हो'**। किन्तु यह आदर्श प्रायः किसी भी प्राकृतिक भाषा में उपलब्ध नहीं किया जासकता। एक अर्थ केसाथ दो या अधिक शब्दाकार सम्बद्ध होसकते हैं (उदा०—हाइड : कन्सील, बिग् : लार्ज, बड़ा : विशाल, लघु : छोटा, आदि),। इस स्थिति में विचारार्ह शब्द **'समानार्थक'** या 'पर्याय' कहे जाते हैं। उधर, दो या अधिक अर्थ एक ही शब्दाकार से सम्बद्ध होसकते है (यथा-बैंक: (क) नदीतट, (ख) रुपया जमा करने वाला; **कर** : (क) हाथ, (ख) टैक्स, आदि)। इस स्थिति में शब्दों को **'अनेकार्थक'** या **'समनाम'** कहाजाता है। यदि भाषा की शुद्ध लिपि और ध्वनि में परस्पर सम्बन्ध नहीं हैं, तब **'समलिपिक'** (यथा-अंग्रेज़ी 'lead', जिसे 'लीड' और 'लेॅड' दोनों ही रूप में समझा जासकता है) और **'समध्वनिक'** (यथा-अंग्रेजी 'मीट', जिसे 'meat (मांस) और 'meet' (मिलना) दोनों रूप में लिखा जाता है) के बीच भी विभेद का प्रश्न उठसकता है (तु०-१. ४. २)। यहां ध्यान देने योग्य मुख्य बात यह है कि परम्परागत दृष्टि के अनुसार **'अनेकार्थक'** शब्द परस्पर भिन्न होते हैं : **'समनामिकता'** या **'अनेकार्थकता'** वास्तव में एक ही नाम में अर्थ के विभेद को सूचित नहीं करती। सिद्धान्ततः एक ही आकार के साथ दो या अधिक अर्थों का साहचर्य (उसी आकार के) दो या अधिक शब्दों की स्वीकृति को उचित ठहराता है। शब्द के प्रति परम्परागत दृष्टि का यही निष्कर्ष है।

६. २. ४ बह्वर्थता

अर्थविचार के प्रसंग में अर्थ की **तद्रूपता** या **विविधता** के बीच विभेद की स्वीकृति हमें अधिक दूरतक सहायता नहीं पहुँचाती। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुछ अर्थ परस्पर ऐसे रूप में सम्बद्ध होते हैं, जिसमें दूसरे सम्बद्ध नहीं होते। यही तथ्य **पर्याय** और **समनाम** (अथवा **समानार्थक** और **अनेकार्थक**) के बीच प्रत्यक्ष विरोध की सममिति को गड़बड़ा देता है। किसी आकार को दो या अधिक भिन्न शब्दों के रूप में मानने केलिए एक ही आकार से सम्बद्ध अर्थों को किस मात्रा तक विभिन्न होना चाहिए, ताकि इस मान्यता को उचित कहा जासके? भाषा के

उद्गम को 'प्राकृतिक' दिखाने के अपने प्रयास में ग्रीक वैयाकरणों ने अनेक सिद्धान्तों को आविष्कृत किया, जिनसे शब्दों की 'अर्थसीमा' के, उसके 'सत्य' या 'मूल' अर्थ की अपेक्षा, अधिक विस्तार का उचित विवरण दिया जासके (तु०-१. २. २)। इनमें से सर्वप्रमुख सिद्धान्त 'रूपक' (मेटाफर) को कहा जासकता है, जिसे उस 'प्राकृतिक' सम्बन्ध पर आधारित मानाजाता है, जो कि विनियुक्त शब्द के 'मुख्य निर्दिष्ट' और 'गौण निर्दिष्ट' के बीच होता है। इस 'आरोपण' या 'रूपक' का ही विस्तार माउथ, आई, हैड, फुट और लेग आदि शब्दों के क्रमशः नदी, सुई, प्रमुख अधिकारी, पर्वत और मेज आदि के साथ, प्रयोग में भी देखा जासकता है। प्रत्येक निदर्शन में निर्दिष्टों के आकार या कार्य की कुछनकुछ समता पहचानी जासकती है। अर्थ के इस 'विस्तारण' या 'अन्तरण' के अन्य विविध प्रकार भी ग्रीक वैयाकरणों ने पहचाने थे, और उनका उपयोग अलंकार, न्याय और अर्थविज्ञान के परम्परागत ग्रन्थों में भी हुआ है। ऐसे सिद्धान्तों की दृष्टि से जो अर्थ किसी मात्रातक स्पष्टतः सम्बद्ध होते हैं, परम्परागत रूप में उन्हें परस्पर इतना भिन्न नहीं मानाजाता कि उनके आधार पर शब्दों की भिन्नता भी स्वीकार करलीजाए। परम्परानुगामी वैयाकरण यह स्वीकार नहीं करेगा कि 'नदी के मुख' और 'व्यक्ति के मुख' में 'मुख' को समनाम या 'अनेकार्थक' मानाजाए। इसकी अपेक्षा वह यह मानेगा कि इन दोनों को दो सम्बद्ध अर्थ मानलियाजाए। इसीलिए आधुनिकतर भाषाविज्ञान में उक्त दोनों संज्ञाओं के अतिरिक्त 'बह्वर्थता' की एक भिन्न परिभाषा भी स्वीकार कीगई है। 'अनेकार्थता' (समनामता) और 'बह्वर्थता' का यह अन्तर उन शब्दकोषों के संगठन में भी निहित देखा जासकता है, जिन्हें हम प्रथात्मक रूप में प्रयोग करते हैं: जिन्हें कोषकार 'समनाम' स्वीकार करता है, उन्हें वह अलग शब्दों के रूप में देता है, जबकि 'बहुविध अर्थों' को एक शब्द के साथ निविष्ट कियाजाता है।

वास्तव में अनेकार्थता (समनामता) और बह्वर्थता के बीच विभेद अनिर्धारित एवं यादृच्छिक प्रकार का है। ऐसा कोई विशिष्ट विस्तार हुआ भी है या नहीं अन्ततः यह बात या तो तथाकथित अर्थविस्तार को पहचानने के कोषकार के निर्णय या सामर्थ्य पर निर्भरकरती है, या किसी ऐतिहासिक प्रमाण पर। बह्वर्थता और अनेकार्थता के बीच विभेद की यह यादृच्छिकता (स्वेच्छाचारिता) विविध शब्दकोषों में प्रयुक्त वर्गीकरण की कमियों से सिद्ध होजाती हैं। उन्नीसवीं शती में निर्वचन विद्या के प्रबल विकास के साथ-साथ यह स्वेच्छाचारिता बढ़ती हीगई। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी के आधुनिकतम कोष 'ear' (ईयर) को दो भिन्न शब्दों के रूप में स्वीकार करते हैं: (१) कान के अर्थ में, (२) गेहूँ, जौं, आदि पौधों की बाली के अर्थ में। वास्तव में यह इसलिए कि इन दोनों का विकास मध्यकालीन अंग्रेज़ी के दो भिन्न-भिन्न शब्दों से हुआ है: (१) e'are, और (२) e'ar से। पर यह बात कितने अंग्रेज़ी भाषी जानते है। और यदि वे जानते भी हैं, तो यह ज्ञान उनके भाषा-प्रयोग पर क्या प्रभाव डालता है? यह मानना भी तबतक सर्वथा भ्रामक होगा कि इतिहास-

वेत्ताओं केलिए तो ये शब्द 'दो' ही हैं, जबकि अनजान लोग इन्हें 'एक' मानकर ही प्रयोग करते हैं; जबतक यह बात प्रमाणित न होजाए कि इतिहासवेत्ता लोग इस शब्द को उन लोगों की अपेक्षा भिन्न रूप में प्रयोग करते हैं, जो भाषा के इतिहास से अनभिज्ञ हैं। यदि कहीं हम इस तथ्य की सत्यता को जानपाने में समर्थ होजाएं, तब हमें यह कहनाहोगा कि वास्तव में प्रयोक्ताओं के ये दोनों वर्ग किसी सीमा तक दो भिन्न भाषाओं को बोलते हैं। हम अर्थों के विकास का इतिहास कितना ही जानलें, उसका भाषा के समकालिक प्रयोग और व्याख्या से सिद्धान्ततः कोई भी सम्बन्ध नहीं है (तु०-१. ४. ५)। तथापि, **अर्थविज्ञान** में भी 'समकालिक' और 'कालक्रमिक' के बीच विभेद उन्हीं सीमाओं में आबद्ध है, जिनमें **ध्वनिविज्ञान** और **व्याकरण** के क्षेत्र में।

६. २. ५ विरुद्धार्थता

अर्थों की 'सम्बद्धता' के प्रसंग में एक और परम्परागत कोटि है, जिसका उल्लेख यहां अनिवार्य है। इसे हम **विरुद्धार्थता**' या 'अर्थ की विरोधिता' कहसकते हैं। यूरोप की कुछ सुविदित भाषाओं में ऐसे शब्दकोष विद्यमान हैं, जिनमें '**पर्याय**' और '**विरुद्धार्थक**' शब्द संगृहीत हैं। इनका प्रयोग अधिकांशतः विद्यार्थियों और विद्वानों द्वारा अपने शब्दज्ञान की वृद्धि और शैली की विविधता की उपलब्धि केलिए किया जाता है। ऐसे शब्दकोषों की व्यवहारगत उपयोगिता इस बात को सूचितकरती है कि शब्दों को कम या अधिक सन्तोषजनक रूप में 'पर्यायों' और '**विरुद्धार्थकों**' के रूप में समूहबद्ध किया जासकता है। फिर भी दो बातें ऐसी हैं, जिनकी चर्चा इस सम्बन्ध में आवश्यक है। **प्रथम** यह कि **समानार्थकता** और **विरुद्धार्थकता** दोनों के बीच अर्थात्मक सम्बन्ध बिलकुल भिन्न प्रकार का है : 'अर्थ की विरोधिता' (यथा—घृणा : प्रेम, उष्ण : शीत, आदि में) को केवल अर्थविभेद का आत्यन्तिक उदाहरण ही नहीं कहा जासकता। द्वितीय यह कि 'विरुद्धार्थकता' के परम्परागत सम्प्रत्यय में भी हमें कई विभेद स्थापित करनेहोंगे। 'विरुद्धार्थकों' को गिनानेवाले कोष उसी सीमातक सार्थक कहे जासकते हैं, जहाँ तक उनके प्रयोक्ता इन विभेदों को पहचानने में समर्थ होपाते हैं। इन दोनों बातों पर हम बाद में १०. ४ में विचार करेंगे। 'विरुद्धार्थकता' के परम्परागत सैद्धान्तिक विमर्श से किसी महत्त्वपूर्ण बात को नहीं पाया जा सकता।

दार्शनिकों और भाषाविदों ने अभी हाल के वर्षों में परम्परागत अर्थ-सम्बन्धी विचार में निहित अनेक त्रुटियों की ओर संकेत किया है। इनमें से **प्रधानतम** आलोचना पर हम यहाँ विचारकरेंगे।

६. २. ६ सम्प्रत्ययवाद और मानसवाद

हमने पहले ही (तु०- ६. १. ३) 'मन' में **संप्रत्यय** और **विचार** की स्थिति

के सम्बन्ध में दार्शनिकों और मनोवैज्ञानिकों के बीच चलेआरहे विवादों कीचर्चा की है। परम्परागत 'अर्थविचार' में '**सम्प्रत्यय**' के अस्तित्व को समस्त सैद्धान्तिक ढाँचे का आधार बना दियागया है, और इसीलिए उसमें प्रायः अनिवार्यतः विषयिप्रधानता या अन्तःनिरीक्षण पर बल दियाजाता है। हास (Haas) के अनुसार : 'कोई भी अनुभूतिगम्य विज्ञान किसी भी ऐसी प्रक्रिया से सन्तुष्ट नहीं होसकता, जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने मन में देखने को बाध्य हो।' यह आलोचना इस बात को मानकर चलती है कि अर्थवैज्ञानिक एक अनुभूतिपरक विज्ञान है।' इसका अर्थ यह हुआ कि इस विचार-प्रसग में '**शरीर**', और '**मन**' के बीच विभेद और '**सम्प्रत्यय**' की स्थिति आदि के सम्बन्ध में दार्शनिक या मनोविज्ञान विवादों के प्रति पूर्वाग्रह की आवश्यकता नहीं रहती। इन अध्यायों में दियेगए अर्थविचार में इस दृष्टि को स्वीकार कियाजाएगा। वैसे यहाँ इस बात पर बलदेना भी आवश्यक है कि 'मानसवाद' के प्रणालीवैज्ञानिक परित्याग का यह अर्थ नहीं कि 'यान्त्रिकतावाद' को स्वतः स्वीकृति मिलजाती है। **सम्प्रत्यय**-सम्बन्धी परम्परागत अर्थात्मक परिभाषा की अपेक्षा ब्लूमफ़ील्ड की 'यान्त्रिकतावादी' और 'स्वीकृतिमूलक' यह परिभाषा अर्थविज्ञान की प्रगति केलिए अधिक घातक है, कि '**शब्द का अर्थ अपने 'निर्देश्य' का पूर्ण वैज्ञानिक विवरण देता है**'; क्योंकि इसमें प्राकृतिक भाषाओं की उस स्वल्पतम शब्दराशि पर अधिक ध्यान दियागया है, जो सिद्धान्ततः भौतिक विज्ञानों द्वारा वर्ण्य 'वस्तुओं' का निर्देश करती है। फिर, इसका आश्रय निहित और अनुचित दो धारणाओं पर है : (१) कि इन शब्दों के 'निर्देश्यों' का वैज्ञानिक वर्णन उस विधि से सम्बद्ध है, जिसमें उस भाषा के वे वक्ता इन्हें प्रयोग करते हैं, जिनमें से अधिकांश को 'वैज्ञानिक' विवरण का अर्थ तक नहीं पता, और (२) कि सब शब्दों का अर्थ अन्ततः एक ही शब्दावली में वर्ण्य ठहरता है। वस्तुतः यह कहा जासकता है कि ब्लूमफील्ड (तथा अन्यों) का यह प्रस्ताव 'भाषा' और 'संसार' के बीच सम्बन्ध की 'वस्तुवादी' दृष्टि पर आश्रित है, जो अनेक 'सम्प्रत्ययवादियों' की 'दृष्टि' से भिन्न नहीं है) : कमसेकम यह इस दृष्टि को अनुमोदित करता है कि, उदाहरणार्थ, जिस प्रकार एक शब्द 'प्रतिमा' है, तो कोई ऐसी 'वस्तु' भी होनीचाहिए जिसे यह शब्द निर्दिष्ट करता है (और इस 'कोई वस्तु' का सन्तोषजनक वर्णन सम्भवतः 'विज्ञान' के द्वारा किया जासकेगा); और क्योंकि एक शब्द 'प्रेम' है, अतः उससे 'निर्दिष्ट' कोई वस्तु भी होनी ही, चाहिए इत्यादि। किन्तु, भाषाविद् के लिए '**मानसवाद**' और '**यान्त्रिकतावाद**' के बीच की स्थिति अपनाना हीउचित है : यह स्थिति दोनों से संगत भी है और दोनों को अन्तर्हित भी नहीं करती।

६. २. ७ 'निदर्शनात्मक' परिभाषा

विगत अनुच्छेद में ही अन्तर्हित परम्परागत अर्थविचार की (कुछ आधुनिक सिद्धान्तों की भी) एक अन्य आलोचना भी हुई है। हम देख ही चुके हैं कि सामान्य प्रयोग में स्वयं 'अर्थ' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जब हम किसी से पूछते हैं कि

'अमुक शब्द का क्या अर्थ है ?', तब हम विशिष्ट परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न उत्तर पाकर आश्चर्यचकित नहीं होते। यदि हम किसी अन्य भाषा के 'शब्द' का अर्थ पूछरहे हैं, तब हमें उत्तर उसके 'अनुवाद' के द्वारा मिलेगा। (अनुवाद में अर्थात्मक अभिरुचि वाली समस्त समस्याएं समाविष्ट होती हैं। यहां हम उनकी उपेक्षा करसकते हैं : तु०-९. ४. ७।) प्रस्तुत प्रसंग में तो हमें उस स्थिति से ही अधिक प्रयोजन है, जिसमें हम अपनी ही भाषा के किसी शब्द का अर्थ पूछरहे होते हैं (या अपने द्वारा अर्थज्ञात किसी अन्य भाषा के किसी शब्द का)। मानलीजिए, हम ऐसी अशक्य स्थिति में **'गाय'** का अर्थ पूछते हैं, जबकि पास ही में अनेक गाएं विचर रही हों। सम्भव है हमें उत्तर मिले : 'उधर जो पशु चररहे हैं, क्या आप उन्हें देखरहे हैं ? वे ही गाएं हैं।' **'गाय'** शब्द के अर्थ को इसप्रकार व्यक्त करने में दार्शनिकों द्वारा कथित 'निदर्शनात्मक परिभाषा' का भी कुछ अंशतक समावेश होता है। (इसप्रकार की परिभाषा में वस्तु की सूचना उसकी ओर 'इंगित' या 'संकेत' करके कीजाती है।) किन्तु, स्वतः 'निदर्शनात्मक परिभाषा' कभी पर्याप्त नहीं होती; क्योंकि **सर्वप्रथम** तो उस परिभाषा की व्याख्या करनेवाले को ही इस संदर्भ में 'संकेतन' का महत्त्व पताहोना चाहिए, तथा इससे भी महत्त्वपूर्ण द्वितीय बात यह है कि उसे उस वस्तु को भी शुद्ध रूप में पहचाननाचाहिए, जिसको 'संकेतित' किया जारहा है। ऊपर के हमारे प्राक्कल्पित उदाहरण में **'जो पशु'** का प्रयोग भ्रमपूर्ण व्याख्या की सम्भावना को सीमित करदेता है। (यद्यपि यह सम्भावना सर्वथा दूर नहीं होती; फिर भी हम मानलेते हैं कि गाय की परिभाषा सन्तोषजनक रूप में कर दीगई है।) इस अवास्तविक किन्तु सरलतम उदाहरण का सैद्धान्तिक महत्त्व दोहरा है : **सर्वप्रथम** तो इससे यह स्पष्ट होजाता है कि किसी भी शब्द का अर्थ तबतक स्पष्ट करना कठिन रहता है, जबतक 'निदर्शन के क्षेत्र' को सीमित एवं स्पष्टतर करने केलिए कोई अन्य शब्द प्रयुक्त न कियाजाए (इससे पताचला कि किसी शब्द का अर्थ निर्धारितकरना या जानना तबतक असम्भव होसकता है, जबतक उससे 'सम्बद्ध' अन्य शब्दों का भी अर्थ पता न हो : यथा **'गाय'** से सम्बद्ध **'पशु'** शब्द का) ; **द्वितीय,** निदर्शनात्मक परिभाषा थोड़े ही शब्दों तक प्रयोज्य ठहरती है। **सत्य, सुन्दर,** आदि का अर्थ इस परिभाषा के द्वारा करपाने की व्यर्थता विचार्य है। ऐसे शब्दों का अर्थ सामान्यतः उन **'पर्यायों'** के द्वारा समझायाजाता है, (भले ही वह सदा पूर्ण सफल न हो, जिनका अर्थ प्रश्नकर्त्ता को पहले से ही ज्ञात होने की कल्पना कीजाती है; या फिर शब्दकोषों में दीगई लम्बी परिभाषाओं के द्वारा समझायाजाता है। इससे, एकबार फिर, अर्थविज्ञान की 'वर्त्तुलता' स्पष्ट होजाती है : शब्दराशि में कोई एक ऐसा बिन्दु नहीं है, जहाँ से आरम्भ करके हम अन्य सबके अर्थको जानसकते हैं। 'वर्त्तुलता' के इस प्रश्न पर हम बाद में विचार करेंगे (तु०-९. ४. ७)।

६. २. ८ सन्दर्भ

शब्दार्थविषयक हमारी जिज्ञासा की दैनन्दिन स्थिति का दूसरा अभिलक्षण यह है कि प्रायः हमें कहाजाता है कि **'यह तो सन्दर्भ पर आश्रित है'** । (**'आप मुझे इसके प्रयोग का प्रसंग सदर्भ बताइए, मैं आपको इसका अर्थ बता दूँगा ।'**) 'सन्दर्भ में रखे बिना' किसी भी शब्द का अर्थ बतापाना प्रायः असम्भव है; और शब्दकोषों की उपयोगिता भी वहीं तक ही होती है, जहांतक उनमें उस शब्द के विविध 'सन्दर्भ' दिये होते हैं। बहुधा, कदाचित् सामान्यतम रूप में, किसी शब्द का अर्थ बताने का तरीका है कि उसका पर्याय देकर उसके प्रयोग के सन्दर्भ की सीमा को बतादिया जाए (यथा, बूरा : चूर्ण (खाण्ड आदि का); बुरादा : चूर्ण (लकड़ी का); आदि) । शब्दकोष की 'वर्त्तुलता' एवं 'सन्दर्भ' की संगति, आदि विविध उपाय, जिनसे व्यवहारतः हम शब्दों का अर्थ बताते हैं, परम्परागत अर्थविज्ञान में सैद्धान्तिक रूप में पूर्ण मान्यता नहीं पासके ।

६. २. ९ 'अर्थ' और 'प्रयोग'

यहां पर **विट्गेन्स्टाइन के** प्रसिद्ध नारे का भी उल्लेखकरना प्रासंगिक ही होगा : **'शब्द के अर्थ पर नहीं, उसके प्रयोग पर ध्यान दो'** । 'प्रयोग' शब्द भी 'अर्थ' की अपेक्षा अधिक स्पष्ट नहीं है । किन्तु, 'अर्थ' और 'प्रयोग' में से एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग अर्थविज्ञानी को 'अर्थ' की परिभाषा 'अर्थसंकेतन' के रूप में करने की परम्परागत प्रवृत्ति से विमुख करता है । स्वयं विट्गेन्स्टाइन के द्वारा बाद में दिये उदाहरणों से यह प्रदर्शित होजाता है, कि भाषा में शब्दों के 'प्रयोग' भी भी विविध प्रकार के होते हैं। उन्होंने स्वतः 'प्रयोग' को 'अर्थविज्ञान' के किसी सिद्धान्त के रूप में न तो प्रस्तुत ही किया, न ऐसा दावा ही किया। किन्तु उसकी कार्यान्वियन-सम्बन्धी परिभाषा से हम निम्न निष्कर्षों को कदाचित् समुचित रूप में ही निकाल सकते हैं। **भाषा के अध्ययन पर हमारा एकमात्र अनुभवपरक नियन्त्रण भाषोक्तियों के उस प्रयोग के रूप में होता है, जिसे हम दैनन्दिन जीवन में बहुमुखी स्थितियों में करते हैं। 'शब्द का अर्थ' या 'वाक्य का अर्थ' जैसे प्रयोग इस दृष्टि से नितान्त भ्रमावह हैं कि हमें उनके सम्भव अर्थों की खोज की ओर लुभाते हैं और भौतिक इकाइयों, मन के सम्प्रत्यय और भौतिक संस्कार की कार्यस्थितियों जैसी इकाइयों को उनके अर्थों के रूप में पहचानने के लिए प्रवृत्त करते हैं।**

हमें उक्तियों के 'समझे जाने' का प्रत्यक्ष प्रमाण तो उपलभ्य नहीं है, किन्तु उन्हें 'न समझ पाने' के प्रमाण अवश्य उपलब्ध हैं—जब सम्प्रेषण की अवस्था में कहीं कुछ 'गड़बड़' हो जाती है। उदाहरणार्थ, यदि हम किसी से कहें कि 'ऊपर मेज पर पड़ी लाल पुस्तक मुझे लादो,' और वह किसी भिन्न रंग की पुस्तक या डिब्बा लादे, अथवा ऊपर जाने की बजाए नीचे की ओर चलाजाए, या कोई सर्वथा अप्रत्याशित काम करे, तब हम कदाचित् ठीक ही कहेंगे कि उसने या तो सारे

ही वक्तव्य को, या उसके एक अंश को, 'गलत समझलिया' है (यद्यपि कुछ अन्य भी कारण दिये जासकते हैं)। यदि वह आशा के अनुकूल कार्य करता है, तब हम कहसकते हैं कि उसने वक्तव्य को ठीक समझा है। हमारा अभिप्राय यही है कि ऐसे उदाहरणों में 'व्यावहारिक' प्रकार का 'प्रत्यक्ष' प्रमाण अत्यन्त स्पष्ट होता है, जिससे पता चल जाता है कि उसने उक्ति को गलत नहीं समझा है। यदि हम 'लाल', 'लाना' और 'पुस्तक' सम्बन्धी उसकी समझ की आगे छानबीन करें, तब हम उसकी कथनी या करनी से कदाचित् यह पासकते हैं कि इन शब्दों की उसकी 'समझ' हमारी 'समझ' से कुछ भिन्न है। अर्थात्, इन शब्दों से युक्त उक्तियों से वह कुछ ऐसे निहितार्थों को ग्रहण करता है, जिन्हें हम ग्रहण नहीं करते, या यह कि वह उन्हें कुछ भिन्न श्रेणी की वस्तुओं या कार्यों के निर्देश के लिए प्रयुक्तकरता है। सामान्यतः भाषात्मक व्यवहार इस धारणा पर टिकाहोता है कि हम सभी उन शब्दों को एक ही रूप में 'ग्रहण करते' हैं। समय-समय पर यह मान्यता टूटतीरहती है। किन्तु अन्यथा 'ग्रहण' या 'समझ' को स्वतः सिद्ध मानलिया जाता है। परस्पर बातचीत करते हुए हमारे 'मन' में एक से ही 'सम्प्रत्यय' होते हैं या नहीं—यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर उक्तियों में शब्दों के 'प्रयोग' के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में नहीं दिया जासकता। यह कहना प्रायः उचित होगा कि प्रत्येक व्यक्ति किसी विशिष्ट शब्द को महत्त्वहीन होनेपर भी किंचित् भिन्न प्रकार से 'ग्रहण' करता है। अर्थविज्ञान प्रयोग की उस 'एकरूपता' को पहचानने या वर्णित करने का प्रयत्न करता है, जो सामान्य सम्प्रेषण को सम्भव बनाती है। ज्यों ही हम इस धारणा को त्यागदेंगे कि "शब्द का 'अर्थ' वह है, जिसे यह 'संकेतित' करता है", हम सहज ही यह पहचानलेंगे कि 'प्रयोग' का विवरण देने केलिए विविध प्रकार के सम्बन्धों को बताना आवश्यक होजाएगा। ऐसे दो विशिष्ट घटक हैं, **निर्देश और आशय** जिनपर बाद में चर्चा की जाएगी।

६. २. १० अर्थ की अनिर्धार्यता

'अर्थ' की 'संकेतिकता' और वक्ता से श्रोता को उस संकेतित अर्थ की सम्प्रेष्यता के सिद्धान्त के परित्याग का एक अन्य परिणाम यह होगा कि हम यह मानने को अधिक उद्यत हो जाएंगे कि न तो यह आवश्यक है और न ही वांछनीय कि शब्दों का अर्थ पूर्ण निर्धारित होता है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि सामान्यतर स्थितियों में भाषा जिस प्रकार प्रयुक्त होती है, उसकी व्याख्या इससे कहीं अधिक निर्बल इस मान्यता के द्वारा भी होसकती है कि किसी भाषा के वक्ता उसके शब्दों के 'प्रयोग' के विषय में पर्याप्त 'सहमत' होते हैं, जिससे 'भ्रम' को रोकाजासके। 'शब्दार्थ' या 'वाक्यार्थ' की बात करते समय इस बात को मन में रखनाचाहिए। अर्थविज्ञान के इन अध्यायों के आगामी परिच्छेदों में हम इस बात को सिद्ध मान कर ही चलेंगे।

६. ३ सार्थकता

६. ३. १ 'अर्थवान् होना' और 'संकेतकता'

ऊपर ६. १. ४ में यह बताया जाचुका है कि, यद्यपि हम सामान्यतः यह कहते हैं कि **वाक्य** या **प्रयोग** 'अर्थवान्' हैं या नहीं हैं, हम सामान्यतः यह नहीं कहते कि **शब्द** 'अर्थवान्' नहीं हैं (अभी हम परम्परागत दृष्टि के अनुसार यह मानकर ही चलेंगे कि शब्द भाषा की न्यूनतम 'अर्थवान्' इकाई हैं; यहाँ 'शब्द' अर्थ 'प्रातिपादिक' या 'कोषशब्द' से है : तु०-५. ४. ४)। यही तथ्य स्वतः ध्वनितकरता है कि 'अर्थवान्' शब्द का प्रयोग दो विवक्त भावनाओं में कियाजाता है। हम इस बात को सही मानकर, सरलता और स्पष्टता केलिए, **अर्थवत्ता**' और 'संकेतकता' के बीच पारिभाषिक अन्तर को स्पष्ट करेंगे। इस विभेद की दृष्टि से हम कहेंगे कि शब्द तो '**अर्थवान्**' हैं, किन्तु वाक्य और प्रयोग 'संकेतक' हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते। यह अवधेय है कि इस वक्तव्य के बाद भी यह सम्भावना बनी रहती है कि शब्द के अतिरिक्त अन्य इकाइयाँ भी अर्थवान् होसकती हैं; और इससे यह अभिप्रेत नहीं कि '**अर्थवत्ता**' और '**संकेतकता**' में कोई सम्बन्ध नहीं है। परम्परागत अर्थविज्ञान और बहुत से आधुनिक मत भी दोनों स्थानों पर '**संकेतन**' शब्द का प्रयोग करके इस विभेद को भ्रामक बनादेते हैं।

इस सम्बन्ध में यह युक्ति दी जासकती है कि तर्क की दृष्टि से 'अर्थ की अपेक्षा '**अर्थवान् होना**' पूर्वतर स्थिति है : अर्थात् हमें किसी भी तत्त्व का '**अर्थ**' जानने से पहले यह तयकरना होता है कि वह विशिष्ट तत्त्व '**अर्थवान्**' भी है या नहीं। फिर, यद्यपि आपाततः यह विरोधाभास प्रतीत होता है, हमें यह भी करना चाहिए कि बिना कोई विशिष्ट अर्थ धारणकिये भी कोई अवयव (शब्द) '**अर्थवान्**' होसकता है।

६. ३. २ स्थितिगत सन्दर्भ

'सन्दर्भ' की प्रातिभ और अपरिभाषित धारणा से हम आरम्भ करेंगे। प्रत्येक उच्चरित उक्ति एक विशिष्ट दिक्कालात्मक स्थिति में जन्म लेती है, जिसमें वक्ता और श्रोता दोनों का, उस काल में कियेजानेवाले उनके कार्यों का तथा अन्य विविध बाह्य वस्तुओं और घटनाओं का समावेश होता है। हम पहले ही देख आए हैं कि किसी उक्ति में ऐसे '**दिशात्मक**' (निर्देशात्मक) अभिलक्षण पाएजाने सम्भव हैं, जिनसे इसके घटन की स्थिति का निर्देश मिलता हो (तु०-७. २. १.)। श्रोता उस उक्ति को समझने में तबतक असमर्थ रहेगा, जबतक वह इन निर्देशात्मक अवयवों को स्थिति के सम्बद्ध अभिलक्षणों की दृष्टि से पूरी तरह न समझ ले। किन्तु उक्ति के 'सन्दर्भ' को उसके घटन की दिक्कालात्मक स्थिति से महज़ एकरूप नहीं कहा जासकता : इसके अन्तर्गत केवल सम्बद्ध वस्तुओं और क्रियाओं का

ही अतिरिक्त समावेश नहीं होता, बल्कि जहां तक उक्ति को समझने का सम्बन्ध है, वक्ता और श्रोता को उससे सम्बद्ध पूर्व घटित वार्तालाप का भी ज्ञान होनाचाहिए। वक्ता और श्रोता जिस भाषाजाति के अंग हैं, उसके सदस्यों द्वारा स्वतःस्वीकृत रूप में गृहीत प्रचलनों, विश्वासों और प्राक्कल्पनाओं की उन दोनों द्वारा मूक स्वीकृति का भी 'सन्दर्भ' में समावेश होता है। इन सभी सन्दर्भात्मक अभिलक्षणों का व्यावहारिक रूप में और सम्भवतः सिद्धान्त रूप में भी विवरणदेना सदा सम्भव नहीं होता। इस तथ्य का, यह अर्थ नहीं कि उनकी सत्ता या सम्बद्धता से ही निषेध किया जाए। किन्तु, इस बात की व्याख्या उक्तियों के अर्थ के किसी पूर्ण सिद्धान्त की स्थापना के विरुद्ध युक्ति के रूप में अवश्य की जासकती है (यहाँ पाठक ने देखा होगा कि हम '**उक्तियों**' की चर्चा कररहे हैं, **वाक्यों** की नहीं : तु०-५. १. २)।

९. ३. ३ 'अर्थवत्ता' में विकल्प भी अभिप्रेत है

'सन्दर्भ' की इस प्रातिभ धारणा के आधार पर अब हम 'उक्तियों की अर्थवत्ता' की परिभाषा भी करसकते हैं। **इसे तभी अर्थवान् कहा जासकता है, यदि इसका घटन केवल सन्दर्भ के द्वारा ही पूर्णतः निर्धारित न हो!** यह परिभाषा इस बहुस्वीकृत सिद्धान्त पर आधारित है कि '**अर्थवत्ता में विकल्प भी अभिप्रेत रहता है।**' यदि वक्ता जानता है कि श्रोता ने उसके उत्तर में एक विशिष्ट सन्दर्भ में एक विशिष्ट उक्ति को ही कहना है, तब घटितहोने पर वह उक्ति उसे किसी प्रकार की 'सूचना देने में समर्थ नहीं होगी : अर्थात् किसी प्रकार का '**सम्प्रेषण**' नहीं होपाएगा। सामान्यतः पूर्ण उक्तियाँ अर्थवान् होंगी, क्योंकि अन्यथा चरम उपाय के रूप में वक्ता चुप ही रहता। किन्तु सामाजिक रूप में विहित ऐसी भी उक्तियाँ हैं, जो यदि पूर्णतः नहीं तो बहुत मात्रातक अपने सन्दर्भों से निर्धारित होती हैं। ऐसी उक्तियाँ अनेक दृष्टियों से सिद्धान्ततः रुचिकर होती हैं। उदाहरणार्थ, हम मानलेते है 'कहिए, क्या हालचाल है ?,' जैसी उक्ति सामाजिक विधान के अनुसार औपचारिक वार्त्तालाप कोआरम्भ करने केलिए एक विहित उक्ति है, और ऐसी स्थितियों में वह अनिवार्यतः प्रयोज्य है। यदि यह सही है, तब यह कहना उचित ही होगा कि ऐसी उक्ति का कोई अर्थ नहीं होता। ऐसी उक्ति के विषय में अधिक से अधिक यही कहा जासकता है कि ऐसी विशिष्ट स्थितियों में इसका ही 'प्रयोग' होता है। यह ज़िद व्यर्थ होगी कि '**प्रयोग**' से बढ़कर इसका कोई '**अर्थ**' भी होनाचाहिए। किन्तु, अब हम यह मान लेते हैं कि यद्यपि यह सामाजिक दृष्टि से विहित उक्ति है, तब भी व्यक्ति चाहे तो इसके स्थान पर चुप भी रहसकता है, सिर हिलासकता है, या मुसकरासकता है, आदि। यह इस अर्थ में कि उस व्यक्ति के सामने ये सब विकल्प उपस्थित हैं। तब उक्त परिभाषा के अनुसार हर 'विकल्प' के परिणाम का 'अर्थ' अवश्य होगा : अर्थात् यह अन्य व्यक्ति को कुछ न कुछ सम्प्रेषित अवश्य करसकता है। और उचित रूप में ही हम पूछसकते हैं कि प्रत्येक '**शक्य**' कार्य का अन्यों की तुलना में क्या अर्थ है?

६. ३. ४ भाषेतर व्यवहार की सम्बद्धता

इस सरल उदाहरण के आधार पर 'चुनाव' के इस सिद्धान्त के कुछ अन्य निहितार्थों पर विचार भी उचित होगा। सर्वप्रथम यह कि उक्तियाँ चुप्पी, हाव-भाव, आदि अभाषात्मक व्यवहारों से कार्यविनिमय भी करसकती हैं और अर्थात्मक वैषम्य में भी रह सकती हैं। 'कहिए, क्या हालचाल है ?', जैसी उक्ति सन्दर्भात्मक दृष्टि से अनिवार्य होती हुई भी, अनेक रूप में उच्चारित की जासकती है : **'नम्रता'**, **'सामान्यता'**, **'घृणापूर्णता'**, **'पराभवभावना'**, आदि के रूप में। उच्चारण की ये विविध 'भावात्मकताएँ' सहवर्त्ती काकु अथवा हाव-भाव के द्वारा अभिव्यक्ति पाती हैं। अब सभी उक्तियों के सम्बन्ध में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम क्रोध, **पराभव**, **नम्रता**, आदि हावभावों और **'काकु'** आदि को भी **'अर्थवान्'**स्वीकार करें या नहीं ? सिद्धान्ततः उत्तर स्पष्ट है। यदि वक्ता उन्हें अनियन्त्रित और अनिवार्यतः निर्दिष्ट रूप में बिना किसी विकल्प के बोलता है, तब इनका कोई अर्थ नहीं होता। किन्तु यदि वह जान-बूझकर क्रोध, अधीरता या सभ्यता आदि को व्यक्त करनाचाहता है, तब ये तथ्य निश्चय ही उसके द्वारा सम्प्रेषित कियेजाते हैं, और इस उद्देश्य को पूरा करनेवाले अभिलक्षण उक्त परिभाषा के अनुसार निश्चय ही अर्थवान् होते हैं। वक्ता के न चाहने पर भी, या उसके सम्प्रेरित न करने पर भी, ये भाव श्रोता द्वारा अनुमित करलिए जाते हैं—यह तथ्य भी इस प्रश्न पर तनिक प्रभाव नहीं डालता। यह पर्याप्त अनुचित है कि 'सम्प्रेषण' की धारणा में उस सब 'सूचना' को भी अन्तर्हित करलिया जाए, जो कि श्रोता द्वारा किसी उक्ति से अनुमित की जासकती है। 'चुनाव' का सिद्धान्त ही इस बात का निर्णय करता है कि किसी उक्ति या उसके अभिलक्षणों का 'अर्थ' है या नहीं।

६. ३. ५ 'अर्थवत्ता' की परिमाणवाच्यता

'अर्थवत्ता' के सम्बन्ध में दूसरी कथनीय बात यह है कि किसी सन्दर्भ में 'प्रत्याशितता' (या घटना की प्रायिकता) की दृष्टि से सिद्धान्ततः यह परिमाणवाच्य होती है। इस दृष्टि से 'अर्थहीनता' को 'प्राक्कथनीयता' का परिसीमक उदाहरणमात्र कहा जासकता है। कोई भी ऐसी उक्ति या उसका अभिलक्षण, जो पूर्णतः सन्दर्भ-निर्दिष्ट और प्राक्कथनीय नहीं है, सम्प्रेषणगत वैषम्य में स्थित चुप्पी, या अन्य उक्तियों (या उसी के अभिलक्षणों) की अपेक्षा कम या अधिक प्रायिक होसकता है। जिस सन्दर्भ में यह अवयव जितना ही **कम** प्रायिक होगा, उतना ही इस कथन को अधिक अर्थवान् कहाजाएगा ('अवयव' से यहाँ अभिप्राय उस हर उपलभ्य 'विकल्प' से है, जो उस सन्दर्भ में प्रयुक्त होसकता है)। फिर से 'कहिए, क्या हाल हैं ?' उसी सरल उदाहरण को लेने पर यदि हम यह पाते हैं कि 'चुप्पी' आदि की अपेक्षा परि-चय-प्रसंगों में वह कहीं अधिक प्रायिक है, तब उन सन्दर्भों में यह कम अर्थवान् कहा जाएगा। ऐसे स्थलों पर यह कहना कदाचित् उचित होगा कि सामाजिक दृष्टि से

विहित यह उक्ति 'अनंकित' है, और कदाचित् वैषम्य की दृष्टि से अभावात्मक अर्थ रखती है, जब कि 'चुप्पी' को ऐसी जगह 'अंकित' कहा जासकता है, और उससे कुछ सूचना या सम्प्रेषणकार्य भी सम्पन्न होता है। यदि तथ्य यही है, तब इन दो 'व्यावहारिक' सम्भावनाओं के बीच सम्बन्ध के विषय में यह वक्तव्य प्रातिभ रूप से सन्तोषजनक ही प्रतीत होगा। किसी भी स्थिति में, यह कहना साधारण और दैनन्दिन प्रयोग की दृष्टि से उचित ही होगा कि उक्तियों या उनके अंशों की 'अर्थवत्ता' किसी सन्दर्भ में उनके प्रयोग या घटने की 'प्रत्याशितता' के प्रतिलोम अनुपात में बदलती रहती है। इसी भावना में हम यहाँ 'अर्थवत्ता' को समझना चाहरहे हैं। यद्यपि यह कहना सम्भव है कि 'घटना की प्रायिकता' के आधार पर एक विशिष्ट सन्दर्भ अन्य की अपेक्षा कोई एक अवयव अधिक 'अर्थवान्' है, फिर भी यह स्पष्ट है कि अर्थवत्ता की सूक्ष्म परिमेयता उन सन्दर्भात्मक अभिलक्षणों को पहचानने की हमारी सामर्थ्य पर निर्भर करेगी, जिनके द्वारा 'घटना की प्रायिकता' निर्धारित होती है। (सच तो यह है कि जबतक हम सम्बद्ध अनुबन्धक घटकों को निर्धारित एवं संसूत्रित न करलें, तब तक हमें 'घटना की प्रायिकता' और 'प्रतिलोम समानुपात' में 'अन्तरण' की बात नहीं करनी चाहिए।) यह असम्भव दीखता है कि ठीक इन अर्थों में कभी 'सार्थकता' को 'परिमाणवाच्य' कहा जासकेगा। किन्तु हमारी आशा से यह कहीं कम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि किसी सन्दर्भ में अवयवों का क्या अर्थ है, यह बात इन प्रश्न से सर्वथा असम्बद्ध है कि उनके वैषम्य में स्थित अवयवों की अपेक्षा उनका अर्थ कितना अधिक है। यहाँ अवधेय बात यह है कि किसी अवयव का अर्थ क्या है? यह प्रश्न केवल उन्हीं अवयवों के सम्बन्ध में उठता है, जो अपनी उपस्थिति के सन्दर्भों में उसी भावना में 'अर्थ' को वहनकरते हैं, जिसमें हमने इस धारणा को परिभाषित किया है। यद्यपि अबतक इस बात को केवल 'रीतिपरक' (रिवाज़ी) पूर्ण उक्तियों के सम्बन्ध में ही निर्दशित कियागया है, बाद में इसे हम सामान्य रूप से 'वाक्य' और 'उक्ति' के बीच स्थित विभेद की दृष्टि से भी निर्दशित करेंगे (तु०-५. १. २)।

९. ३. ६ अर्थविज्ञान में 'व्यवहारवाद'

'कहिए, क्या हाल है?', जैसी सामाजिक उक्तियों के सम्बन्ध में दो बातें और कथनीय हैं। ऐसी उक्तियाँ इस दृष्टि से 'पूर्वनिर्मित' होती हैं कि उन्हें देशज वक्ता एक अविभक्त इकाई के रूप में सीखते हैं, और फ़र्थ के अनुसार 'सामाजिक प्रक्रिया की सामान्य पुनरावर्त्ती घटनाओं' के प्रत्येक अवसर पर हरबार जिन्हें नए सिरे से निर्मित नहीं कियाजाता। उनकी इस विशेषता के कारण उनका विवेचन 'व्यवहारवादी' ढाँचे के भीतर किया जासकता है: इन उक्तियों को उचित रूप में अपनी घटना-स्थिति की 'सानुबन्ध अनुक्रियाओं' के रूप में कहा जासकेगा। अर्थविज्ञानी को यह सत्य ओझल नहीं करदेना चाहिए। हमारे व्यवहार में आनेवाली दैनन्दिन

भाषा का बहुत सा भाग ऐसा है, जिसकी व्याख्या 'व्यवहारवादी' दृष्टि से समुचित रूप में की जासकती है, और उसे समाजविहित 'रीतिपरक' (रिवाज़ी) व्यवहारविधाओं के संधारण में हमारे द्वारा अभिनीत विशिष्ट 'अभिनयों' का परिणाम कहा जासकता है। भाषा के अपने प्रयोग के इस प्रकार की दृष्टि से मानवप्राणी भी उन अनेक पशुओं के समान व्यवहार करते हैं, जिनकी 'सम्प्रेषणप्रणाली' विशिष्ट परिस्थितियों में प्रयुक्त होनेवाली पूर्वनिर्मित उक्तियों से रचित होती हैं। किन्तु, मानवों के विशिष्टतर भाषा-व्यवहार के निर्देश और भावना के, जोकि भाषा के प्रजनक गुणों और अर्थवत्ता की अर्थ वैज्ञानिक धारणा पर आधारित हैं, दोनों पक्षों की व्याख्या 'उत्तेजन' और 'अनुक्रिया' की व्यवहारवादी धारणाओं के व्यापक प्रयोग द्वारा भी नहीं की जासकती। फिर भी यह सत्य है कि मानवभाषा में 'व्यावहारिक' घटक भी विद्यमान होता है। यद्यपि हम आगामी प्रसंग में इस विषय में कुछ नहीं कहेंगे, फिर भी यहाँ हम इसे सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार कररहे हैं।

६. ३. ७ सामाजिक सम्बोध

इस सम्बन्ध में भाषा-व्यवहार के उस पक्ष का भी उल्लेख करनाचाहिए, जिसे मालिनोव्स्की ने 'मानवीय सम्बोध' के नाम से कहा है। वे इस बात की ओर ध्यान खींच रहे थे कि हमारी अनेक उक्तियों का प्रमुख या एकमात्र उद्देश्य **सम्प्रेषण** अथवा **सूचनान्वेषण, आज्ञापन, आज्ञाभिव्यंजन, इच्छा या आशंसा की अभिव्यक्ति,** अथवा **भावनाओं का जागरण** ही नहीं होता, बल्कि उनके द्वारा एकमात्र सामाजिक एकता और स्वस्ति की भावनाओं की स्थापना एवं संधारण करना भीहोता है। 'कहिए, क्या हाल है ?', जैसी अनेक पूर्वनिर्मित उक्तियाँ, जिन्हें समाज ने विशिष्ट सन्दर्भों में विहितकिया है, 'मानवीय संबोध' के इस कार्य का निर्वाहकरती हैं। परन्तु ऐसी भी अनेक उक्तियाँ हैं, जिन्हें देशज लोग प्रायः ही घड़लेते हैं, और जिनके द्वारा 'सम्प्रेषण' और 'सम्बोध' के कार्य साथ-साथ ही सम्पन्न कियेजाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि बातचीत शुरूकरने केलिए कोई ग्राहक दूकानदार से यह कहे कि, 'क्या खूब मौसम है ?', तब उसका अर्थ दूकानदार को मौसम के सम्बन्ध में कोई सूचनादेना नहीं होता, बल्कि यह तो 'मानवीय संबोध' की भावना से व्यवहृत एक औपचारिक अभिव्यक्ति मात्र होती है। इस पर भी इसका अपना एक अर्थ है, जो इसी सन्दर्भ में कही जानेवाली अन्य कई उन उक्तियों से इसे भिन्न सिद्धकरता है, जिनका प्रयोग इसी तरह से 'मानवीय संबोध' की भावना से होता है। बातचीत का 'अगला कदम' इसके अर्थ से सम्बद्ध और इसपर ही आश्रित होगा। अतः हमें शब्दों के 'उपयोग' के उन दोनों पक्षों में विभेद को पहचाननाचाहिए, जो 'मानवीय सम्बोध' और 'अर्थवत्ता' से क्रमशः युक्त हैं (यदि हमारी पूर्वकथित परिभाषा के अनुसार उनका कोई अर्थ है)। यह कहतेहुए हम यह स्वीकारकरते हैं, कि जहाँ ये दोनों पक्ष उपस्थित भी होते हैं, वहाँ भी कहीं इनमेंसे एक या दूसरा प्रमुखता ग्रहण करजाता है।

मालिनोव्स्की का यह कथन कुछ अतिरंजित ही है कि 'सूचना का सम्प्रेषण भाषा का सर्वाधिक व्युत्पन्न एवं विशेषित कार्य होता है।'

६. ३. ८ सभी भाषात्मक इकाइयों में 'अर्थवत्ता' का विस्तार

अबतक हमने सम्पूर्ण उक्तियों को एक अविभाज्य इकाई के रूप में मानकर उनकी अर्थवत्ता की धारणा को निदर्शित किया है। अबभी हम वाक्यों के स्थान पर 'उक्तियों' की ही चर्चा जारी रखेंगे, और हम 'सन्दर्भ' की प्रतिभात्मक धारणा का ही आश्रय लेतेरहेंगे। किन्तु अब हम 'अर्थवत्ता' की धारणा को इस सिद्धान्त के अनुसार अधिक साधारण रूप में प्रस्तुत करेंगे : **'उक्ति में आनेवाला कोई भाषात्मक अवयव तभी अर्थवान् होता है, यदि यह सन्दर्भ के द्वारा पूर्णतः निर्दिष्ट न हो।'**

यह स्पष्ट ही है कि 'अर्थवत्ता' की भावना जिसरूप में यहाँ परिभाषित कीगई है, वह उक्ति-विश्लेषण के सभी स्तरोंपर, ध्वनिप्रक्रियात्मक स्तर पर भी, समान रूप से नियोज्य है। निदर्शनार्थ, ऐसे अनेक सन्दर्भ होंगे जहां '**भेड़**' और '**मेढ़े**' का प्रयोग अन्यथा समान उक्तियों में समान रूप में ही होसकता है। हम यह मानलेंगे कि क्योंकि ये उक्तियां भिन्न हैं ('भेड़' और 'मेढ़े' के 'निर्देश्य' भी भिन्न हैं, और उनसे युक्त उक्तियों के निहितार्थ भी भिन्न हैं), अतः इन उक्तियों में '**म**' और '**भ**' वर्णों को केवल अर्थवान् ही नहीं कहा जासकता, बल्कि यह भी कहा जासकता है कि इन उक्तियों में उनके अर्थ भिन्न भी हैं। ऐसी अन्य भी उक्तियां होसकती हैं, जिनमें इन दो शब्दों से भिन्न शब्द प्रयुक्त होने पर भी उनमें अर्थ की भिन्नता केवल '**भ**' और '**म**' के अन्तर पर ही आधारित हो। जैसाकि हमने ३. १. ३ में पहले भी देखा है, विशिष्ट भाषाओं की ध्वनि-प्रक्रियात्मक संरचना अन्ततः वर्णों की इस विभेदात्मक विशेषता पर ही निर्भरकरती है, यद्यपि ऐसा वर्त्तमानकालीन ध्वनिवैज्ञानिक-समता के सिद्धान्त के अनुसार कुछ सीमाओं के भीतर ही होता है। अतः अर्थवत्ता की धारणा को वर्णों के स्तर पर घटाने का पूर्ण आधार विद्यमान है। फिरभी, यह अवधेय है कि ध्वनि की दृष्टि से विभेद्य होने पर समरूप दीखनेवाली वाक्-ध्वनियों की 'अर्थवत्ता' का अर्थ यह है कि कमसेकम कुछ संदर्भों में उनके अर्थ में भिन्नता होती है। ऐसी बात विश्लेषण के उच्चतर स्तरों पर नहीं होती। जिन उक्तियों में '**भ**' और '**म**' ध्वनियों के विद्यमान होने पर भी उनमें विभेद नहीं खोजा जासकता, हम कहसकते हैं कि वे या तो पूरक वितरण में विद्यमान हैं, या उन्मुक्त विचरण में (अर्थात्, वे एक ही 'ध्वनिप्रक्रियात्मक-इकाई' की दो वैकल्पिक ध्वनिवैज्ञानिक उपलब्धियां है : तु०-३. ३. ४)। अन्यथा हम पर्याप्त औचित्य केसाथ कहसकते हैं कि विशिष्ट ध्वनिवैज्ञानिक इकाइयों के रूप में विभेद्य होने पर भी, जिन सन्दर्भों में कुछ वाक्-ध्वनियां एक ही अर्थ को प्रकट करती हैं, वहां वे '**समानार्थक**' या '**पर्याय**' होते हैं। उदाहरण के रूप में हम अंग्रेज़ी शब्द 'Economics' के दोनों उच्चा-

रणों—'एँकोनोमिक्स' और 'इकोनोमिक्स'—के आदिस्वरों की भिन्नता को, अथवा अन्य अंग्रेज़ी शब्द 'Controversy' के दो भिन्न बलवाले स्वरों के आधार पर उच्चारण भेद—'कौन्ट्रोवर्सी' या 'कन्ट्रोवर्सी'—को लेसकते हैं। हिन्दी में 'इन्तकाल' और 'अन्तकाल' अथवा 'इस्तरी : अस्तरी' के आदिस्वरों की आकारभिन्नता होने पर भी कार्यसमता को लेसकते हैं। वे एक ही इकाई के दो विकल्प हैं।

यद्यपि अर्थविज्ञानी को ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाइयों की अर्थवत्ता के सिद्धान्त को सैद्धान्तिक मान्यता देनीचाहिए, पर सामान्यतः इससे बढ़कर उन इकाइयों के 'अर्थ' से उसे वास्ता नहीं रखना चाहिए। क्योंकि न तो इनका कोई 'निर्देश्य' होता है, और न ही इनमें 'समता' या 'विषमता' से बढ़कर किसी अन्य अर्थात्मक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति होती है। फिर, इसप्रकार की वर्णात्मक समता यदा-कदा और अनियमित रूप में ही उपलब्ध होती है। विशिष्ट शब्दों केलिए वैकल्पिक उपलब्धिनियमों केद्वारा ही इसकी व्याख्या की जासकती है। इन नियमों की रचना के बाद और कुछ कहने को शेष नहीं रहजाता। सामान्य रूप में, 'ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाई' का 'अर्थ' उस विभेद को कहाजासकता है, जो प्रत्येक अन्य उस ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाई से इसका होता है, जो उसी सन्दर्भ में उपस्थित होसकती है।

९. ३. ९ प्रतिबद्ध या सीमित सन्दर्भ

हम अपने युक्तिक्रम में अब एक ऐसी स्थिति में पहुँचगए हैं, जहां **उक्ति** और **वाक्य** के बीच विभेदकरना अनिवार्य होगया है (तु०—५. १. २)। यहाँ हमें दो बातें स्मरण रखनीचाहिएँ। जब हम परस्पर सम्प्रेषण केलिए भाषा का प्रयोग करते हैं, तब हम, 'वाक्यों' का सृजन न करके, 'उक्तियों' का सृजनकरते हैं। ऐसी उक्तियां विशिष्ट सन्दर्भों में जन्मलेती हैं, जिसे जाने बिना उन्हें सीमिततम अर्थों में भी समझा नहीं जासकता (तु०—९. २. ९)। फिर, वार्तालाप के मध्य भी सन्दर्भ निरन्तर विकसित होतारहता है। यह इस अर्थ में कि इसमें 'जो कुछ कहाजाचुका है', उसके साथ-साथ 'जो कुछ कहाजाना है' उससबका भी ध्यान रखाजाता है। इस विकास को '**सीमित**' या 'प्रतिबद्ध' करनेवाले उदाहरण उन स्थितियों के रूप में लिये जासकते हैं, जिनमें वार्तालाप में भाग लेनेवाले लोग पूर्वकथित बातों या सूचनाओं पर आश्रित नहीं रहते; बल्कि वे उन साधारणतर आस्थाओं, रूढ़ियों और प्राक्कल्पनाओं से परिचालित रहते हैं, जो उनके अपने समाज में 'सार्वभौम वार्तालाप' का आधार बनाती हैं। ऐसे 'सीमित सन्दर्भ' तुलनात्मक रूप में कम ही होते हैं, क्योंकि अधिकांश उक्तियां 'समझेजाने' की दृष्टि से अपने से पूर्व की उक्तियों में निहित सूचना पर आश्रित रहती हैं। हमें उक्तियों और विशिष्ट सन्दर्भों के बीच सम्बन्ध को ओझल नहीं करनाचाहिए।

दूसरी कथनीय बात यह है : क्योंकि (व्याकरणात्मक 'सीमा'-मात्र होने के कारण) 'वाक्य' कभी भी 'वक्ता' द्वारा 'बोले' नहीं जाते; अतः वाक्यों और विशिष्ट

सन्दर्भ के बीच कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होसकता। उधर, 'उक्तियों' का एक व्याकरणात्मक ढाँचा होता है, जोकि वाक्यों से उनकी 'व्युत्पत्ति' पर आश्रितरहता है। और यह व्याकरणात्मक ढाँचा अर्थात्मना सम्बद्ध होसकता है, या होता है। यह बात 'विन्यासात्मक अस्पष्टता' के सम्बन्ध में विशेष रूप से स्पष्ट है (तु०-६. १. ३)। फिर, पूर्वकथित 'पूर्वनिर्मित' उक्तियों को छोड़कर सभी उक्तियां व्याकरण के नियमों द्वारा वाक्यों के निरूपण और रचनान्तरण केलिए निर्धारित नियमितताओं के आधार पर वक्ताओं द्वारा बोलीजाती हैं और श्रोताओं द्वारा समझीजाती हैं। वर्तमान समय में न तो भाषाविज्ञान ही, और न ही उक्तियों के प्रजनन में निहित 'यान्त्रिकता' से सम्बद्ध कोई अन्य विज्ञान, इस स्थिति में है कि वह कोई सुनिश्चित बात इस सम्बन्ध में बतासके कि किसप्रकार से वाक्यगत व्याकरणात्मक अवयवों के मध्य स्थित अमूर्त्त सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के सन्दर्भात्मक अभिलक्षणों के सम्पर्क में आते हैं, जिसका प्रभाव उन उक्तियोंके उत्पादन और ग्रहण परपड़ता है, जिनमें इन व्याकरणात्मक अवयवों के 'सहसम्बद्ध' तत्त्व घटित होते हैं। भाषा की व्याकरणात्मक संरचना सम्बद्ध सन्दर्भात्मक अभिलक्षणों के बीच कुछ क्रियाविनिमय होता है—यह बात तथ्य प्रतीतहोती है। और हमें इसे ध्यान में रखनाचाहिए।

क्योंकि सामान्यतः हम वक्ता द्वारा उक्तियों की उत्पत्ति में 'चुनेहुए' वास्तविक अवयवों या विशिष्ट सन्दर्भों के सभी सम्बद्ध अभिलक्षणों को पहचानने में असमर्थ रहते हैं, इसलिए हम भी भाषाविज्ञानियों का अनुकरण करके एक प्रणालीबद्ध रूप में उक्तियों केबीच अर्थात्मक सम्बन्धों पर उसी रूप में विचार करसकते हैं, जिस रूप में उन वाक्यों केबीच स्थित सम्बन्धों पर विचार कियाजाता है, जिनमें इन उक्तियों को देशज वक्ताओं द्वारा किसी सीमित सन्दर्भ में प्रयोग केलिए 'व्युत्पन्न' हुआ मानाजाता है। ('सीमित सन्दर्भ' की धारणा को अभी त्यागना नहीं चाहिए, क्योंकि हम देखेंगे कि वाक्यों के मध्यस्थित सम्बन्ध भी 'सन्दर्भमयता' की इस धारणा से सर्वथा हीन नहीं माने जासकते: तु०-१०. १. २।) तब विशिष्ट सन्दर्भों के अभिलक्षणों का सहारा उक्तियों के अर्थात्मना सम्बद्ध 'अवशिष्ट' पक्षों पर विचार केलिए लियाजाएगा। जिसे यहां सतर्क प्रणालीबद्ध-निर्णय के रूप में कहागया है, उससे यह न समझनाचाहिए कि उक्तियों के उत्पादन और ग्रहण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं में सन्दर्भात्मक की अपेक्षा व्याकरणात्मक तथ्यों को प्रधानता प्राप्त रहती है।

९. ३. १० अन्तःसंरचनी अवयव भी वाक्यों में 'अर्थ' रखते हैं

अब हम 'अर्थवत्ता' की धारणा उन व्याकरणात्मक अवयवों पर भी लागू करसकते हैं, जिनसे उन नियमों के आधार पर वाक्यों का निर्माण होता है, जो उनके आधार के निरूपण और रचनान्तरण का निर्धारणकरते हैं (तु०-६. ६. १)। क्योंकि 'अर्थवान्' होने में 'विकल्प' या 'चुनाव' का भी समावेश रहता है, अतः अनि-

वार्य नियमों केद्वारा वाक्य में आनेवाला तत्त्व, इस परिभाषा के अनुसार, अर्थवान् नहीं होता। ('डू यू वाण्ट टु गो' जैसे वाक्यों में 'डू' जैसे अवयव 'अवास्तविक' हैं, और उनका कोई अर्थ नहीं होता : तु०-७. ६. ३)। फिर, यदि हम यह मान भी लें कि जहांतक 'विकल्प' या 'चुनाव' का प्रश्न है, इसका सम्बन्ध अन्तःसंरचना के अवयवों के चयन के ही साथ है (यथा 'कोटियों' या 'अभिलक्षणों' आदि केसाथ, तु०-७. ६. ६), तबभी यह पर्याप्त स्पष्ट है कि 'अर्थवत्ता' की धारणा का सम्बन्ध मात्र किसी विशेष 'क्रम' या 'स्तर' की इकाइयों के साथ ही नहीं है। सर्वप्रथम **रूपतत्त्व, शब्द और पदबन्ध** जैसी इकाइयों के बीच विभेद कुछ अंश तक 'पृष्ठसंरचना' पर आधारित है; और द्वितीय **काल**, **भाव**, **पक्ष**, **लिंग**, **वचन**, आदि अनेक ऐसी व्याकरणात्मक कोटियाँ हैं (तु०–७. १. ५), जिनकी उपलब्धि रूपतत्त्व या शब्द के बिना नहीं होसकती; किन्तु इसपर भी वाक्य में 'चुनाव' की प्रणालियां उनकेद्वारा ही निर्मितहोती हैं। हम 'कोषगत' और 'व्याकरणात्मक' अर्थ के बीच विभेदकरने में **समर्थ** होपाते हैं या नहीं, विशेषकर इस अर्थ में कि अवयवों का अर्थ क्या है, इस प्रश्न पर हम बाद में विचारकरेंगे (तु०६-. ५. २)। हमारे प्रस्तुत प्रयोजन की दृष्टि से तो यह संकेतदेना ही पर्याप्त है कि 'अर्थवत्ता' की धारणा अन्तःसंरचना में दोनों ही अवयवों पर समान रूप से लागूहोती है। फिर, इस धारणा पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में आज के हर भाषाविषयक अध्ययन में ध्यान दियाजाता है। अवयवों की श्रेणियां (चाहे वे सहायक या अन्त्य प्रतीकों से सूचित कीजाएं : तु०-६. २. २) वाक्यों के प्रजनन में 'विकल्प' या 'चुनाव' के हर अवसर पर स्थापित रहती हैं।

ऊपर जो कुछ भी कहागया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वाक्यगत कोई भी अवयव तबतक 'अर्थवान्' नहीं होता, जबतक यह वाक्य की अन्तःसंरचना में स्थित विन्यास-निर्दिष्ट श्रेणियों मेंसे किसी का अवयव नहीं होता : और यही वह तथ्य है, जो भाषाविदों, तार्किकों और दार्शनिकों द्वारा लगभग सर्वमान्य इस मान्यता को उचितठहराता है कि **किसी विशिष्ट भाषा में अर्थवान् अवयवों का कोई विन्यास बहुत बड़ी सीमातक उस भाषा** के अन्तःसंरचकों और 'अभिलक्षणों' के साथ सम-**विस्तारी होता है**। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि जिस-किसी भी वाक्य में आने पर प्रत्येक '**संरचक**' और '**अभिलक्षण**' निश्चय से अर्थवान् होगा ही। इस महत्त्वपूर्ण बात को भाषाविदों ने प्रायः ही अनदेखा करदिया है। अतः इस पर कुछ अधिक विचार आवश्यक है।

सारे प्रश्न का आधार व्याकरणात्मक और अर्थात्मक स्वीकार्यता के विभेद पर स्थित है। जैसा कि हम पहले एक अध्याय में देखआए हैं (तु०-४. २. १२ से आगे) कि 'व्याकरणात्मकता' उक्तियों की 'स्वीकार्यता' का वह अंश होता है, जिसकी व्याख्या वाक्यों के निरूपण और रचनान्तरण के उन नियमों की दृष्टि से कीजासकती है, जो वाक्यों में अवयवों की वितरणात्मक श्रेणियों ('कोटियों' और 'अभिलक्षणों') के अनुमत

संघातों का विधान करते हैं। प्रायः ही यह स्वीकार कियाजाता है कि किसी भी भाषा के व्याकरण द्वारा ऐसे असंख्य वाक्यों को प्रजनित कियाजाता है, जो विविध रूप में अस्वीकार्य ठहरते हैं। ऐसी एक अस्वीकार्यता को परम्परागत रूप में यह कहकर व्यक्त कियाजाता है कि 'ये वाक्य 'अर्थहीन' या 'निरर्थक' हैं।' उदाहरणार्थ, हम कल्पित करते हैं कि निम्न वाक्यों का प्रजनन अंग्रेजी के व्याकरण के द्वारा होता है (और इसलिए ये व्याकरणविहित हैं) :

(क) **जोन ड्रिंक्स मिल्क** (बीयर, वाइन, वाटर, आदि)।

(ख) **जोन ईट्स चीज़** (फ़िश, मीट, ब्रे`ड्, आदि)।

(ग) **जोन ड्रिंक्स चीज़** (फ़िश, मीट, ब्रे`ड्, आदि)।

(घ) **जोन ईट्स मिल्क** (बीयर, वाईन, वाटर, आदि)।

हम यह भी मानलेते हैं कि ये सभी वाक्य एक ही संरचनात्मक विवरण से जन्म लेते हैं : **ड्रिंक, ईट,** आदि क्रियाएं और **मिल्क, बीयर, वाईन, वाटर, चीज़, फ़िश, मीट, ब्रे`ड्,** आदि नामों के बीच कोई सम्बद्ध विभेद किसी तत्सम्बद्ध विन्यासात्मक अभिलक्षण के द्वारा स्पष्ट नहीं कियागया है। यह स्पष्ट प्रतीतहोता है कि 'स्वीकार्य' और 'अस्वीकार्य' संज्ञाओं के एक भाव में तो (क) और (ख) उक्तियां **'स्वीकार्य'** बैठती हैं, जबकि (ग) और (घ) की उक्तियां सामान्य स्थितियों में **'अस्वीकार्य'** बैठती हैं। क्या इसप्रकार की स्वीकार्यता और अस्वीकार्यता को **'अर्थवत्ता'** (जिसे हम 'संकेतन' के भाव में कहना चाहते हैं) के निकष पर स्वीकार कियाजाए या नहीं? इस प्रश्न पर हम अभी विचारकरेंगे। यहां पर तो यह बात कहीजारही है कि इन वाक्यों में 'क्रिया' और 'कर्म' के रूप में प्रयोग होनेवाले शब्दों के विन्यास उन विन्यासों की अपेक्षा कहीं कम हैं, जिनकी उपस्थिति व्याकरण द्वारा अनुमत मानीगई है। एकबार फिर, यहां परिसीमक तत्त्व वह अवयव है, जिसकी उपस्थिति का निर्देशन पूर्णतः वाक्यगत अन्य अवयवों के सन्दर्भ में होता है। यथा इस वाक्य में 'दाँतों' की उपस्थिति को इस पूर्ण निर्धारण का उदाहरण कहाजासकता है : **'मैंने उसे अपने नकली दाँतों से काटा'**। जैसा कि हम बादमें देखेंगे (तु०-९. ५. ३.), यह वाक्य अर्थात्मक दृष्टि से विन्यासात्मक प्राक्कल्पना का एक रुचिकर उदाहरण है, जोकि प्रायः **'गर्भित'** या 'निहित' रहता है, किन्तु किसी 'संशोधक' केलिए 'रचनागत समर्थन' की आवश्यकता होतेही जो 'प्रत्यक्ष' होजाता है (यहां 'नकली' ऐसा ही 'संशोधक' या 'विशेषक' है)। अब यदि इस 'दाँत' का प्रयोग उन वाक्यों के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र न होता, जहां कि इसका पूर्ण निर्धारण सन्दर्भों के द्वारा ही होजाता है, तब इसका हिन्दी में कोई भी अर्थ न रहता; और कदाचित् अर्थविज्ञानी को इस विषय में कुछ भी कथ्य शेष न रहता।

इस युक्ति का प्रयोजन यह प्रदर्शितकरना था कि अर्थवत्ता की धारणा को किस प्रकार, एक ओर, व्याकरण की दृष्टि से असंरचित समग्र उक्तियों एवं, दूसरी ओर, ध्वनिप्रक्रिया की दृष्टि से न्यूनतम भिन्नतावाली उक्तियों के 'ठोसतर' निदर्शनों

से एक ऐसे **'निरपेक्षतर'** धरातल की ओर अन्तरित किया जासकता है, या किया जानाचाहिए, जिस तल पर यह धारणा व्याकरण द्वारा प्रजनित अधिक संख्यावाली और मुख्यतर वाक्यश्रेणी पर लागू होसकती है। अर्थवत्ता की धारणा का औचित्य इसबात से भी सिद्ध होता है कि यह इस प्रतिभात्मक सन्तोषजनक सिद्धान्त को प्रतिबिम्बित करता है कि विशिष्ट सन्दर्भों में **'सार्थकता में चुनाव या विकल्प का अन्तर्भाव रहता है'**। इस 'निरपेक्षतर' धरातल की ओर इस का स्थानान्तरण एक ऐसे प्रणालीबद्ध निर्णय पर आश्रितरहता है, जिसका अभिप्रेरण (मोटिवेशन) दोहरा होता है : **प्रथम** यह इस तथ्य को स्वीकारकरता है कि उक्तियों के प्रजनन और उनकी व्याख्या को प्रभावित करनेवाले विशिष्ट सन्दर्भात्मक अभिलक्षणों का विचार केवल 'तदर्थ' या अस्थायी रूप में ही होसकता है; और '**द्वितीय**, वाक्यों की अर्थात्मक व्याख्या को यह उनके रचनागत विवरण के साथ सन्तोषजनक रूप में सम्बद्ध करता है। यदि यह स्वीकार करलिया जाए कि कोई पद विशिष्ट वाक्य-परिसर में ही अर्थ-वान् होता है, तब हम यह पूछसकते हैं कि उसका अर्थ क्या है। हम अगले खण्ड में देखेंगे कि इस प्रश्न का उत्तर विविध रूप में दिया जासकता है।

६. ३. ११ संकेतन

अब हमें संक्षेप में 'संकेतन' (तु०-६.३.१) की धारणा पर भी संक्षेप में विचार करलेना चाहिए। आपाततः, कोई भी व्यक्ति 'संकेतकता' को पूर्ण स्वीकार्यता से एकरूप मानना चाहेगा : **उक्तियों** में उनके विशिष्ट सन्दर्भ की अपेक्षा में, और **वाक्यों में** उनके अधिक साधारणीकृत किन्तु प्रतिबद्ध सन्दर्भों की अपेक्षा में। किन्तु हम पहले ही देखचुके हैं कि **'स्वीकार्यता'** के भी ('व्याकरणात्मक' से ऊपर) अनेक 'स्तर' हैं, जिन्हें यद्यपि प्रायः 'वैज्ञानिक' कह दियाजाता है, किन्तु जिनका विभेद उस सबसे अवश्य किया जासकता है, जिसे सामान्यतः परम्परागत रूप में 'अर्थवत्ता' या 'संकेतन' के रूप में वर्णित कियाजाता है (तु०-४. २. ३)। कुछ उक्तियों को 'निन्दापूर्ण' या 'अशोभन' कहाजासकता है; कुछ का प्रयोग प्रार्थनादि कुछ विशिष्ट प्रयोजनों में 'स्वी-कार्य' मानाजाता है, जबकि दैनन्दिन व्यवहार में वे 'अस्वीकार्य' ठहरती हैं। 'संके-तन' की व्याख्या इसप्रकार करने से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध न होगा, जिससे कि इसकी स्वीकार्यता से सम्बद्ध अधिकांश पहलुओं का ग्रहण होजाए। उदाहरणार्थ, यदि कहीं ऐसा होता कि **'मरना'** क्रिया का प्रयोग व्यक्तिनामों के सहित सभी सजीव नामों के साथ सम्भव होने पर भी एक प्रथा के कारण **'मेरे पिता'**, **'मेरी माता'**, **'मेरी बहिन'** आदि के साथ न होसकता हो, तब कहना होगा कि **'उसके पिता कल रात मरगए'** आदि की तुलना में **'मेरे पिता कल रात मरगए'** वाक्य अस्वीकार्य मानाजाएगा। यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि **'मेरे पिता कल रात मरगए'** की 'अस्वीकार्यता' की सही व्याख्या वह होगी, जिसके अनुसार हमें यह कहने की छूट होगी, कि **प्रथमतः** यह 'सार्थक' है; क्योंकि यदि यह प्रथा के विपरीत भी प्रयोग

कर लियाजाए, तब भी इसे समझाजाएगा (बल्कि प्रथा पड़ी ही इसलिए है कि यह अन्यथा 'अर्थवान्' है); और, **द्वितीय,** यह कि **'मेरे पिता कल रात मरगए'** और **'उस के पिता कल रात मरगए'** के बीच अर्थात्मक सम्बन्ध वही है, जोकि **'मेरे पिता कल रात आए'** और **'उसके पिता कल रात आए'** के बीच है। परम्परागत रूप में, व्याकरणात्मक दृष्टि से सुगठित वाक्यों के 'संकेतन' (महत्त्व) का विवरण उनके घटक अवयवों के अर्थों के बीच सात्म्यता के कुछ सामान्य सिद्धान्तों की भाषा में दिया जा सकता है। निदर्शनार्थ, कोई कहसकता है कि **'राम रोटी पीता है'** और **'राम दूध खाता है'** वाक्य संकेतक नहीं हैं; क्योंकि 'खाना' क्रिया का प्रयोग ठोस वस्तुओं के संकेतक नामों और **'पीना'** का प्रयोग द्रव वस्तुओं के द्योतक नामों के **'कर्म'** रूप में रहने पर ही 'सात्म्य' होसकता है। (ध्यान दें कि **'राम दाल खाता है'** को अर्थात्मक दृष्टि से विरोधयुक्त कहा जासकता है; किन्तु ऐसे किसी विशेष प्रचलन के अनुसार इसे सामाजिक दृष्टि से स्वीकार्य भी कहा जासकता है, जो भले ही भाषा के वाक्यों के साधारणीकृत नियमों की दृष्टि से बाह्य होगा।) 'संकेतन' की भावना के साथ कई कठिनाइयाँ भी जुड़ी हैं (यथा, कोई कह सकता है कि **'राम दूध खाता है'** का प्रयोग 'सार्थक' है, यद्यपि इसके प्रयोग की परिस्थितियाँ असामान्य होसकती हैं)। इस पर भी, 'सात्म्यता' की परिभाषा में इस धारणा की परम्परागत व्याख्या मूलतः सुदृढ़ दिखाईदेती है। इस धारणा के कुछ अधिक आधुनिकतर सूत्रणों पर हम एक परवर्ती खण्ड में विचारकरेंगे (तु०-१०. ५. ४)।

६. ४ निर्देश और आशय

६. ४. १ निर्देश

'निर्देश' संज्ञा का प्रयोग पहले उस **'सम्बन्ध-भावना'** केलिए किया जाचुका है, जो **शब्दों** तथा उनसे संकेतित **वस्तुओं, घटनाओं, क्रियाओं** और **गुणों** के बीच उपस्थित होती है (६. २. २)। यह कहागया था कि कुछ परिस्थितियों में 'अमुक शब्द का अर्थ क्या है?', का उत्तर 'निदर्शनात्मक परिभाषा' के माध्यम से भी दिया जासकता है : अर्थात्, इंगित अथवा अन्य किसी उपाय से शब्द के 'निर्देश्य' की ओर संकेत करके (तु०-६. २. ७)। 'निर्देश' की पूर्ण परिभाषा के प्रश्न के साथ ऐसी अनेक दार्शनिक कठिनाइयाँ जुड़ीहुई हैं। उनकी चर्चा यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें यह मानलेना चाहिए कि अर्थविचार के किसी भी सन्तोषजनक सिद्धान्त की रचना केलिए 'निर्देश' की सम्बन्धभावना अनिवार्य होती है : अर्थात् यह कि एक ऐसी भावना भी है, जिसके अधीन सभी भाषाओं की शब्दराशियों के कुछ शब्द भौतिक जगत् के **'अभिलक्षणों'** की अनुकारिता या 'संवादिता' में रखे जासकते हैं।

इस मान्यता को मानलेने का अर्थ यह नहीं है कि यह दृष्टिकोण भी मान लियाजाए कि 'निर्देश' **वह अर्थात्मक सम्बन्ध भावना है, जिसमें अन्य सभी का समावेश या अन्तर्भाव होजाता है;** न ही इससे यह समझलेनाचाहिए कि **किसी भाषा की शब्दराशि के सभी शब्द 'निर्देश' से युक्त होते हैं।** यहाँ यह बात भलीप्रकार समझी जासकती है कि 'निर्देश' अनिवार्यतः 'अस्तित्व' या 'वास्तविकता' की प्राक्कल्पना को समाहित करके चलता है, जिसका जन्म भौतिक जगत् के साथ हमारे प्रत्यक्ष अनुभव से होता है। यह कहना कि कोई शब्द या अन्य सार्थक पदभेद '**किसी वस्तु का निर्देश करता है**', इस बात को मानकर चलता है कि '**निर्देश्य**' उसी अर्थ में एक सत्तावान् वस्तु है, जिसमें हम किसी व्यक्ति, पशु या वस्तु को 'सत्तावान्' कहते हैं। यह भी, कि विचाराधीन वस्तु के भौतिक गुणधर्मों का परिचय सिद्धान्ततः दिया जाना सम्भव है। 'निर्देश' की अर्थात्मक सम्बन्ध-भावना की परिभाषा केलिए '**भौतिक अस्तित्व**' की इस धारणा को आधारभूत माना जासकता है। तब हम '**अस्तित्व**' और '**निर्देश**' संज्ञाओं का प्रयोग विविध रूप में करसकते हैं। निदर्शनार्थ, यद्यपि '**एकशृङ्ग**', '**चतुःशृङ्ग**' या '**अलातचक्र**' जैसी कोई वस्तु 'सत्तावान्' नहीं होती, तब भी हम किसी विशिष्ट वार्तालाप के प्रसंग में उन्हें कथात्मक या पौराणिक 'अस्तित्व' से युक्त मान ही सकते हैं और कहसकते हैं कि संस्कृत या हिन्दी में इन शब्दों से एक विशिष्ट वार्त्तालाप में विशिष्ट 'निर्देश' मिलता है। '**अस्तित्व**' और '**निर्देश**' का ऐसा ही उपयोग विज्ञान के ऐसे सैद्धान्तिक तत्त्वों केलिए भी होसकता है, यथा **अणु, जीन**, (जनिसूत्र) आदि। साथ ही, यह प्रयोग नितान्त अमूर्त्त वस्तुओं के लिए भी होसकता है। किन्तु, यह प्रमुखतः अवधेय है कि '**अस्तित्व**' और '**निर्देश**' का यह 'सादृश्यमूलक' विस्तार दैनन्दिन भाषाव्यवहार में भौतिक वस्तुओं के प्रति उनके आधारभूत और प्राथमिक विनियोग से ही जन्मलेता है।

'**निर्देश**' की धारणा के इस विमर्श से यह सिद्ध होना है कि किसी भाषा की शब्दराशि में ऐसे भी शब्द होसकते हैं, जिनका 'निर्देश' उस भाषा के दायरे से बाहर किसी वस्तु में मिलपाना असम्भव हो। उदाहरणार्थ, यह कहा जासकता है कि 'प्रतिभा' या 'भलाई' जैसी कोई चीज़ नहीं है, जिसकी ओर '**प्रतिभावान्**' और '**भला**' जैसे शब्द 'निर्देश' करते हैं; यद्यपि किसी मनोविज्ञानी और दर्शनविद् केलिए यह सदा ही सम्भव होगा कि वह आचार या मनोविज्ञान के किसी विशिष्ट सिद्धान्त के ढाँचे के भीतर ऐसी इकाइयों के अस्तित्व को स्थापित करसके, और यह भी दावा करे कि उनकी 'वास्तविकता' किसी निदर्शनात्मक परिभाषा के द्वारा प्रदर्शित भी की जा सकती है। कुछ तथाकथित 'वस्तुओं' की 'वास्तविकता' के विषय में अधिक बुद्धि-गम्य स्तरों पर कुछ मतभेद भी सम्भव है—यह तथ्य इस सामान्य सिद्धान्त पर प्रभाव नहीं डालता कि 'निर्देश' अस्तित्व को मानकरचलता है। तब यह कहना व्यर्थ होगा कि कोषगत सभी इकाइयाँ किसी न किसी वस्तु कीओर इंगित करती हैं, यदि इसका अर्थ यह हो कि कुछ निदर्शनों में, उस 'किसी वस्तु' के अस्तित्व के सम्बन्ध में

इसके सिवाय कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जासकता कि उन्हें 'निर्दिष्ट' करने-वाला 'कोषीय शब्द' विद्यमान है।

निर्देश की धारणा के सम्बन्ध में दो और बातें कही जासकती हैं। कुछ कोषीय इकाइयाँ भाषा से बाहर की वस्तुओं या उनके गुणधर्मों को 'निर्दिष्ट' करती हैं, इस दृष्टि को स्वीकार करने पर भी हम तर्कात्मक दृष्टि से इस मान्यता के प्रति बाध्य नहीं होते कि किसी एक संज्ञा से संकेतित सभी वस्तुएँ इस अर्थ में एक ही **'प्राकृतिक श्रेणी'** बनाती हैं, कि वे उस भाषाजाति द्वारा एक सामान्य संज्ञा के 'अधीन' वर्गीकृत करने केलिए अप्रत्यक्षतः मान्य रूढ़ियों से स्वतन्त्र रहकर भी **'परस्पर-सम्बद्ध'** होती हैं। दूसरे शब्दों में, यहाँ स्वीकृत स्थिति दार्शनिक अर्थविज्ञान में अप-नाईगई 'वस्तुवाद' या 'नाममात्रवाद' की स्थिति के साथ सात्म्य है। द्वितीय, किसी शब्द का निर्देश इस अर्थ में पूर्ण और सर्वथा निर्धारित होना आवश्यक नहीं कि यह सदा स्पष्ट ही होता है कि कोई विशिष्ट वस्तु या गुणधर्म किसी कोषीय इकाई के वृत्त में गृहीतहोता है या नहीं। हम पहले ही देखचुके हैं कि सम्प्रेषण की सामान्य प्रक्रिया से उक्तियों के 'ग्रहण' के विवरण केलिए ऐसी कोई भी मान्यता वांछनीय नहीं है (तु०-९. २. ६)। प्रायः होता यह है कि 'कोषीय शब्दों' की 'निर्देशात्मक परिसीमाएँ' अनिर्धारित होती हैं। उदाहरणार्थ, **'पहाड़ी'** और **'पहाड़'**, **'हरा'** और **'नीला'**, **'चूज़ा'** और **'मुर्ग़ा'**, आदि के बीच कोई पूर्ण या सूक्ष्म विभाजक रेखा खींच पाना अशक्य है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि 'निर्देश' की धारणा ऐसे शब्दों पर लागू नहीं होती। भाषाओं की तो यह विशेषता है कि वे शब्दों पर किसी विशिष्ट 'कोषीय कोटिबन्धन' को आरोपित करदेती हैं और **यादृच्छिक** रूप में उन की सीमाएँ जहाँ-तहाँ खींचदेती हैं। हम देखेंगे कि यह भी एक कारण है जिससे विविध भाषाओं के बीच कोषीय समतुल्यताएँ स्थापितकरना असम्भव होजाता है। यह तथ्य, कि 'निर्देश-सीमाएँ' अनिर्धारित एवं 'यादृच्छिक' होती हैं, भ्रम का सृजन नहीं करता; क्योंकि किसी वस्तु का एक या दूसरे कोषीय शब्द के अधीन पूर्ण 'श्रेणीकरण' कदाचित् ही सम्बद्ध होता है। और जब यह सम्बद्ध होता भी है, तब हमारे पास इसकी पहचान और विशेषीकरण केलिए अन्य प्रणालियाँ होती हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम उन दो व्यक्तियों मेंसे एक का निर्देशकरना चाहें, जिनमें से किसी को भी उचित रूप में **'लड़की'** या **'स्त्री'** शब्द के द्वारा कहा जासकता है, तब हम उन्हें उनके नाम से, सापेक्ष आयु से, केशों के वर्ण से या धारित वस्त्र आदि से संकेतित करसकते हैं। यद्यपि **'लड़की'** का निर्देश **'स्त्री'** के निर्देश को अति-व्याप्त करजाता है, तबभी इन दोनों को 'पर्याय' नहीं कहा जासकता। आयु के आयाम की दृष्टि से उनकी सापेक्ष स्थिति स्थिर है, और ऐसे भी अनेक प्रयोग-स्थल होंगे, जिनमें उनमें से किसी एक का ही प्रयोग विहित कहाजाएगा। कुछ दार्शनिक इसे निर्देशात्मक 'अपूर्णता' कहते हैं, जबकि वास्तव में ऐसी अपूर्णता ही भाषा को सम्प्रेषण का एक योग्यतर साधन बनाती है। निरपेक्ष 'पूर्णता' दुर्लभ है; क्यों-

कि उन विभेदों की संख्या या प्रकृति की कोई सीमा नहीं, जिन्हें विविध वस्तुओं के बीच दिखाया जासकता है। यह बात सारहीन है कि प्रस्तुत प्रयोजन की दृष्टि से वांछनीय विभेदों से अधिक विभेद प्रदर्शित किएजाएँ।

६. ४. २ आशय

अब हमें 'आशय' की धारणा से भी परिचय करलेना चाहिए। किसी शब्द के 'आशय' से हमारा अभिप्राय किसी सम्बन्धप्रणाली में उसके उस स्थान से होता है जो किसी शब्दराशि में अन्य शब्दों के साथ वह शब्द अपनेलिए बनालेता है। यह अवधेय है कि, क्योंकि 'आशय' की परिभाषा उन सम्बन्धों की दृष्टि से कीजाती है जो शब्दराशि की इकाइयों के बीच स्थापित होते हैं, अतः इसके साथ विचाराधीन भाषा की शब्दराशि से बाहर विद्यमान किन्हीं वस्तुओं या गुणधर्मों की सत्ता से सम्बद्ध कोई प्राक्कल्पना नहीं जुड़ीहोती।

यदि एक ही सन्दर्भ में दो शब्द प्रयुक्त होसकते हैं, तब उस सन्दर्भ में वे दोनों ही **'अर्थवान्'** होते हैं; और तब हम यह पूछसकते हैं कि 'उनका क्या अर्थ है?' जैसा कि हम देखचुके हैं कि कुछ अवयवों के अर्थ के एक भाग या घटक की व्याख्या उनके 'निर्देश' की दृष्टि से की जासकती है। उन दोनों का कोई 'निर्देश' हो या न हो, हम यह अवश्य पूछसकते हैं कि जिस प्रसंग में वे दोनों साथ-साथ घटित हुए हैं। वहाँ उनका अर्थ एक ही है या नहीं। क्योंकि **'समानार्थता'** या अर्थ की **'समरूपिता'** एक ऐसा सम्बन्ध है, जो दो या अधिक शाब्दिक इकाइयों के बीच स्थित होता है। इसे 'आशय' से सम्बद्ध कहनाचाहिए, 'निर्देश' से नहीं। कुछ कारणों से, जिनकी विस्तृत चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं, हम यह कहना चाहसकते हैं कि यद्यपि किन्हीं दोनों इकाइयों का **'निर्देश'** एक ही है, किन्तु उनका 'आशय' भिन्न है। और हम यहभी निश्चय ही कहना चाहसकते हैं कि बिना किसी निर्देश के भी इकाइयाँ 'समानार्थक' होसकती हैं। यह माना जासकता है कि निर्देश-युक्त इकाइयों के विषय में **'समानार्थता'** की एक आवश्यक शर्त्त 'समनिर्देश' के रूप में होसकती है; किन्तु यही शर्त्त पर्याप्त नहीं है।

'समानार्थता'-सम्बन्धी सैद्धान्तिक विमर्श प्रायः दो अनुचित मान्यताओं के कारण दूषित होजाता है। **प्रथम** यह कि कोई भी दो इकाइयाँ तबतक किसी संदर्भ में **'पूर्ण समानार्थक'** नहीं होसकतीं, जबतक वे सभी सन्दर्भों में समानार्थक बनकर प्रयुक्त न हों। इस मान्यता के समर्थन में प्रायः 'ज्ञेयार्थ' और 'भावकार्थ' के बीच विभेद की बात कहीजाती है। परन्तु इनका विभेद स्वतःस्पष्ट नहीं कहा जासकता। इस बात से निषेध नहीं किया जासकता कि वक्ता द्वारा किसी अन्य की अपेक्षा किसी एक विशिष्ट शब्द का प्रयोग उनके 'भावात्मक साहचर्यों' में विभेद पर आश्रित रहता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उस भाषाजाति के अन्य सदस्यों द्वारा अपनाएजाने पर भी ये 'भावात्मक साहचर्य' सदा प्रसग-सापेक्ष ही होते हैं। और,

इस बात को मान्यता नहीं दी जासकती कि किन्हीं अन्य सन्दर्भों में स्थापित सभी साहचर्यों को कोई शब्द सर्वत्र ही वहनकरता है। अतः हम इस धारणा को अस्वीकृत करते हैं कि कोई शब्द तबतक किसी भी सन्दर्भ में समानार्थक नहीं हो-सकता, जबतक वह सभी सन्दर्भों में समानार्थक न हो।

अर्थविज्ञानियों द्वारा सामान्यतः स्थापित एक अन्य मान्यता यह है कि '**समानार्थता**' दो या अधिक अनाश्रित आशयों के बीच स्थित '**समरूपता सम्बन्ध**' है। दूसरे शब्दों में, 'क' और 'ख' के रूप में दो शब्द समानाथक हैं या नहीं, इस प्रश्न को इस प्रश्न के रूप में भी बदला जासकता है, कि वे दोनों एक ही एकरूपता—उन का आशय—को संकेतित करते हैं या नहीं। अर्थविज्ञान के प्रति जो पहुँच यहां त्यागी जारही है, उसमें स्वतन्त्र रूप में विविक्त आशयों की सत्ता कल्पित करने की कोई आवश्यकता नहीं। समानार्थता की परिभाषा इसप्रकार करनी होगी : कोई भी दो या अधिक शब्द तब समानार्थक मानेजाएंगे, यदि उनसे परिणत वाक्यों में उनमें से एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग करने पर भी उस वाक्य का अर्थ वही रहता हो। यह परिभाषा स्पष्ट ही 'अर्थ की एकता' की पूर्वधारणा पर आश्रित है। हम अभी फिर इस प्रश्न पर विचारकरेंगे। यहां कथ्य यह है कि 'समानार्थकता' का सम्बन्ध **कोषीय शब्दों** के बीच कहाजाता है, उनके आशयों के बीच नहीं। ऐसे शब्दों की समानार्थता उनके 'आशय' का ही एक भाग होती है। इसीबात को अधिक सामान्य रूप में यूँ कहा जासकता है : हम जिसे किसी 'कोषीय शब्द का आशय' कहते हैं, वास्तव में वह समानार्थकता-समेत सभी आशय-सम्बन्धों का एक पूर्ण विन्यास है, जो इस इकाई को कोषस्थ अन्य शब्दों से भिन्न सिद्धकरता है।

६. ४. ३ आशय के रूपक्रमात्मक और विन्यासक्रमात्मक सम्बन्ध

समानार्थकता के अतिरिक्त आशय के अन्य कई सम्बन्ध भी हैं। निदर्शनार्थं, '**पति**' और '**पत्नी**' समानार्थक नहीं हैं, किन्तु उनका आपसी सम्बन्ध कुछ इस रूप में है, जो '**पति**' और '**पनीर**' या 'वायु' में नहीं पायाजाता। '**भला**' और '**बुरा**' आशय की दृष्टि से भिन्न होकर भी उतने भिन्न नहीं हैं, जितने कि '**भला**' और '**लाल**'। **खटखटाना, मुक्कामारना, धक्कादेना, टपटपाना**, आदि एक दूसरे से भिन्न अवश्य हैं, किन्तु उतने नहीं जितने कि '**खटखटाना**' और '**खाना**' या '**प्रशंसा करना**' हैं। यहाँ दिखाएगए सम्बन्ध रूपक्रमात्मक हैं (अर्थात् अर्थात्मक दृष्टि से सम्बद्ध किसी विन्यास के सभी सदस्य एक ही सन्दर्भ में प्रयुक्त होसकते हैं)। शब्दों का आपसी सम्बन्ध विन्यासक्रमात्मक ढंग से भी होसकता है : तु०-'**श्वेत**' और '**केश**', '**भौंकना**' और '**कुत्ता**' '**ठुड्डा मारना**' और '**पाँव**' आदि (रूपक्रमात्मक और विन्यासक्रमात्मक सम्बन्धों के सामान्य वर्णन केलिए देखें : २. ३. ३)। इन दोनों प्रकार के आशयगत सम्बन्धों की परिभाषा समरूपता के एक ही मान के आधार पर, 'समानार्थता' से दूरी के अर्थ में और आशय की भिन्नता की दृष्टि से, की जासकती है या नहीं (जैसा कि कुछ

अर्थविदों का सुझाव है)। इस प्रश्न पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। अगले अध्याय में इस पर एक वैकल्पिक ढंग से विचार कियाजाएगा। यहाँ तो हम यही मानकर चलेंगे कि कमसेकम कुछ शाब्दिक इकाइयाँ 'कोषीय प्रणालियों' में गृहीत होजाती है, जबकि इन प्रणालियों के अर्थात्मक ढाँचे का वर्णन कोषीय इकाइयों के बीच स्थित आशय-सम्बन्धों के आधार पर कियाजासकता है। यह वक्तव्य इस सिद्धान्त को अधिक पूर्ण रूप में सूत्रित करने की दृष्टि से दियागया है, कि 'प्रत्येक शब्द का अर्थ उस स्थान का प्रकार्य होता है, जो उसे अपनी प्रणाली से प्राप्त होता है' (तु०-२. २. १ में अंग्रेज़ी और रूसी '**ज्ञातिवाचक**' शब्दों कीचर्चा)।

९. ४. ४ अर्थात्मक क्षेत्र

हाल के वर्षों में, विविध भाषाओं के शब्दकोषों में प्रणालियों के गवेषण पर पर्याप्त श्रम कियागया है; विशेषत: जिनका सम्बन्ध ज्ञाति-सम्बन्ध, वर्ण, जीवजन्तु एवं वनस्पति, भार-माप, सैन्य-पद, आचारात्मक और रसात्मक मूल्यांकन, तथा विविध ज्ञान, दक्षता और ग्रहण, आदि **क्षेत्रों** से है। उपलब्ध परिणामों ने अर्थविज्ञान के प्रति संरचनात्मक पहुँच के मूल्य को पूर्णत: सिद्ध किया है, और फ़ॉन हम्बोल्ट, दे सौस्यूर और सैपिर जैसे पूर्ववर्त्ती विद्वानों की इस विषय की उक्तियों को पुष्ट किया है कि कमसेकम कुछ क्षेत्रों में विविध भाषाओं की शब्दावलियां '**असमूरपी**' हैं: अर्थात् ऐसे भी अर्थात्मक विभेद होसकते हैं, जो एक भाषा में तो स्पष्ट होते हैं, दूसरी में नहीं। और इससे बढ़कर यह कि विशिष्ट क्षेत्रों का कोटिबन्धन विविध भाषाओं में विविध ढंग से किया जासकता है। दे सौस्यूर की भाषा में इस तथ्य को इस रूप में कहाजासकता है कि प्रत्येक भाषा वस्तु-धरातल के पहले से अविभिन्न '**द्रव्य**' पर एक विशिष्ट '**आकार**' को आरोपित करती है (तु०-२. २. २-३)। इस धारणा के एक निदर्शन के रूप में हम (द्रव्य के रूप में) 'वर्ण' के क्षेत्र को लेंगे और देखेंगे कि अंग्रेज़ी में यह किसप्रकार निर्धारित या 'सूचित' (निरूपित) कियाजाता है।

९. ४. ५ वर्ण शब्द

सरलता के लिए सर्वप्रथम हम इस क्षेत्र के उस भाग पर विचारकरेंगे, जो कि **लाल**, **नारगी**, **पीला**, **हरा**, और **नीला** शब्दों से गृहीत होता है। निर्देशात्मना इनमें से प्रत्येक शब्द अपूर्ण है, किन्तु इस कोषीय प्रणाली में उनकी सापेक्ष स्थिति स्थिर है (और एक विन्यास के रूप में वे दृश्य वर्णक्रम के एक बड़े भाग को व्यक्त करते हैं) : **नारंगी** वर्ण '**लाल**' और '**पीले**' के बीचका कहा जासकता है; **पीला** वर्ण **नारंगी** और **हरे** के बीचका इत्यादि। इनमें से प्रत्येककी भावना का एक अंश ही ऐसा है, जिसके कारण हिन्दी और अंग्रेज़ी के एतदर्थ शब्द इस कोषीय प्रणाली से आबद्ध होते हैं, और परस्पर सापेक्ष 'संस्पर्शिता' या 'मध्यस्थिति' को पाते हैं। यह अनुभव होसकता है कि '**आशय**' की धारणा यहाँ अनावश्यक है, और यह कि प्रत्येक वर्णशब्द के निर्देश

का विवरण ही उसके अर्थविज्ञान केलिए पर्याप्त रहेगा। किन्तु हम उन स्थितियों पर विचारकरें, जिनके अधीन कोई व्यक्ति इन शब्दों के 'निर्देश' को सीख या जानसकता है। हिन्दी सीखनेवाला बालक 'हरा' के निर्देश को पहले जानकर उत्तरोत्तर 'नीले' और 'पीले' के निर्देश को नहीं जाना करता। अतः यह नहीं कहा जासकता कि एक विशिष्ट क्षण में वह एक शब्द के निर्देश को तो पहचानता है, दूसरे के नहीं। (यह सत्य है कि वह, निदर्शनात्मक रूप में, यह जानसकता है कि 'हरा' के द्वारा घास, एक विशेष पेड़ के पत्ते या उसकी माँ की किसी विशेष पोशाक का रंग 'निर्दिष्ट' होता है: किन्तु 'हरा' का निर्देश ऐसे किसी विशिष्ट विनियोग की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है, और इसके निर्देश को जानने का अर्थ है, उस निर्देश की सीमाओं को जानना।) यह अवश्य है कि कुछ कालान्तर में बच्चा धीरे-धीरे 'नीले' और 'पीले' की, तथा 'हरे' और नारंगी की अपेक्षा 'पीले' की, स्थिति को पहचानने लगता है, जबतक कि वह कोष में साथ-साथ दिए प्रत्येक वर्ण-शब्द की स्थिति को, तथा प्रत्येक शब्द द्वारा व्याप्तसे लगते हुए क्षेत्र की सीमाओं की लगभग सही स्थिति को, नहीं जानलेता। अतः वर्ण-शब्दों के अर्थों को वक्ता द्वारा जानने का अर्थ है, उन शब्दों के आशय और निर्देश दोनों को जानलेना।

अबतक विचारीगई पाँचों वर्ण-संज्ञाओं द्वारा व्याप्त क्षेत्र को एक अविभक्त (प्रत्यक्षगम्य या भौतिक) द्रव्य के रूप में कहा जासकता है, जिस पर ये भाषा-शब्द विशिष्ट स्थानों पर विविध सीमाओं को खींचते हैं और इसप्रकार पहचानेगए पाँचों क्षेत्रों को पाँच कोषीय वर्गीकरण प्रदान करते हैं। प्रायः ही यह दिखाया गया है कि इसी वर्ण-द्रव्य पर दूसरी भाषाएँ भिन्न-सीमाओं को खींचकर इसे भिन्न संख्या वाले क्षेत्रों में विभक्त करती हैं। ऊपर कही बात का एक उदाहरण लें: **'नीले'** द्वारा व्याप्त क्षेत्र को ही रूसी के दो वर्ण-नाम व्यक्त करते हैं: **'सिनीय'** और **'गोलूबोँय'** में वे दोनों दो संस्पर्शी किन्तु भिन्न रंगों का वर्णन करते हैं, और वर्ण-नाम-प्रणाली में **'ज़ेलेन्यूय्'** और **'ज़ेल्त्यूय्'** (**'हरा'** और **'पीला'**) के सहघटक हैं। उन्हें एक ही वर्ण के विविध आभासों के निर्देशक शब्द कहना ठीक नहीं, जैसा कि अन्य नामों के अतिरिक्त **'क्रिमसन'** और **'स्कार्लेट'** शब्द अंग्रेज़ी के **'रेँड'** के ही क्षेत्र को विभक्तकरते हैं (तु०-२. २. ३)।

वर्णशब्दों और उनके अर्थों के बीच सम्बन्धभावना उतनी सीधी नहीं है, जितनी कि हमने अबतक दिखाई है। **पीला, नारंगी, लाल,** आदि के निर्देशों के बीच विभेद को उनके 'प्रतिक्षेप' के अन्तर के रूप में समझाया जासकता है। भौतिक-शास्त्रियों ने **'भासिता'** और **'घनत्व'** के रूप में वर्ण के विश्लेषण की दो अन्य स्थितियों को भी स्वीकारकिया है। **'कृष्ण'**, **'सलेटी'**, और **'श्वेत'** का अन्तर भासिता के आधार पर मानागया है। अन्य भी ऐसे वर्णशब्द हैं, जिनका निर्देश उनके इन तीनों आयामों की परिभाषा में विशेष रूप में कियाजाना चाहिए। उदाहरणार्थ, **'बभ्रू'** या **'भूरा'** नाम ऐसे वर्ण-परिसर का निर्देश करता है, जो **'प्रतिक्षेप'** में **'लाल'** और

'पीले' के बीचका है, तथा भासिता और घनत्व में उनसे कुछ हीन है। 'गुलाबी' शब्द जिस वर्ण का निर्देशकरता है, वह 'प्रतिक्षेप' में रक्तवत् है, भासिता में पर्याप्त अधिक है, किन्तु घनत्व में पर्याप्त कम है। इन तथ्यों के विचार के बाद हम यह कहने को विवश होसकते हैं कि वर्णक्षेत्र का 'द्रव्य' तीन आयामी (त्रिम) नैरन्तर्य से बना है।

यह वक्तव्य भी कुछ अधिक सीधा-सा रहेगा। क्योंकि केवल ऐसी ही भाषाएँ नहीं हैं, जिनमें इन तीन आयामों को भिन्न-भिन्न महत्त्व दियागया है (यथा ग्रीक और लैटिन में 'आभासिता' को); बल्कि ऐसी भी हैं जिनमें वर्णों के विभेद इनसे कतई भिन्न आधारों पर स्थिर किएगए हैं। इस विषय पर अपने विशिष्ट लेख में कोंक्लिन ने दिखाया है कि फिलिपीन की 'हनूनू' भाषा के चार वर्ण-शब्द विरलता या 'हलकेपन' (अंग्रेज़ी-हिन्दी के श्वेत तथा अन्य हल्के रंगों केलिए), कालेपन या गहनता (काला, जामुनी, नीला, गहरा हरा, आदिसहित), गीलापन या क्लिन्नता (प्रायः हरा, पीला और हलका भूरा का सहसम्बन्धक) और 'शुष्कता' (प्रायः लाल, नारंगी, और गाढ़े लाल का व्यामिश्र रूप) के सहचारी मानेजाते हैं। 'क्लिन्नता' और 'शुष्कता' के बीच विभेद केवल 'प्रतिक्षेप' में अन्तर का ही विषय नहीं है : यह बात इस तथ्य से पुष्ट होती है कि 'हल्के हरे' को सूचित करने केलिए प्रयुक्त शब्द केद्वारा 'बाँस के चमकदार, गीले, और भूरे सद्यःछिन्न खण्ड' को सूचित कियाजाता है, इत्यादि। कोंक्लिन इस परिणाम पर पहुँचा है कि 'पाश्चात्य प्राविधिक परिभाषा में 'रंग' को सार्वभौम भाव नहीं कहा जासकता है' तथा जिन विरोधों के आधार पर विविध भाषाओं में वर्ण का द्रव्य निर्धारित कियाजाता है, वे मूलतः कोषीय इकाइयों और प्राकृतिक परिवेश में उपलभ्य वस्तुओं के प्रमुख सांस्कृतिक अभिलक्षणों के साहचर्य पर आश्रित रहते हैं। हनूनू भाषा के शब्दों में इस प्रणाली का एक अंश ताज़ा और कनीयस् (छोटी आयु के) पौधों के विशिष्ट आविर्भाव से व्युत्पन्न होता प्रतीत होगा। इस सम्बन्ध में यह अवधेय है कि अंग्रेज़ी के शब्दकोषों में मुख्य वर्णशब्दों की परिभाषा बहुधा परिवेश के प्रमुख अभिलक्षणों की अपेक्षा में कीजाती है (यथा 'नील' को आकाश का, और 'रक्त' या 'लाल' को 'खून या रक्त' का, रंग कहाजाता है, इत्यादि)।

६. ४. ६ अर्थात्मक 'सापेक्षता'

हमने वर्ण-क्षेत्र की चर्चा कुछ दूरतक इसलिए की है, क्योंकि प्रायः ही इसके उदाहरण द्वारा यह सिद्ध कियाजाता है कि किस प्रकार विविध भाषाएँ एक ही द्रव्य पर भिन्न-भिन्न आकारों का आरोप करते हैं। अब हमने देखलिया है कि वर्ण (रंग) तक के मामले में यह सन्दिग्ध है कि किसी युक्तियुक्त आधार पर इस रूप में किसी 'वस्तु-द्रव्य' की कल्पना की भी जासकती है या नहीं। कोंक्लिन द्वारा दिया गया हनूनू की वर्णकोटियों का विवरण हमें इस बात को मानलेने के विषय में साव-

धान करता है कि **वर्ण-द्रव्य के भाषा-सम्बद्ध आयाम अनिवार्यतः वही होते हैं, जिन्हें भौतिक विज्ञान के निकष पर 'वरण' कियाजाता है।** परिणामतः यह कहा जासकता है कि किसी भी समाज की भाषा उसकी संस्कृति का अभिन्न अंश होती है, और यह कि प्रत्येक भाषा द्वारा निर्धारित विभेद उस समाज की वस्तुओं, संस्थाओं और क्रियाओं के प्रमुख सांस्कृतिक अभिलक्षणों को प्रतिफलित करने की प्रवृत्ति रखते हैं, जिसमें वह भाषा व्यवहृत होती है। यह निष्कर्ष विविध क्षेत्रों में किएगए उन आधुनिक अध्ययनों से भी पुष्ट होता है, जो विविधभाषाओं की शब्दराशि के विषय में किएगए हैं। क्योंकि विविध समाजों के प्राकृतिक परिवेश, संस्थाएँ तथा व्यवहार-पद्धतियाँ भी, नितान्त भिन्न होती हैं, अतः यह नितान्त सन्दिग्ध है कि अर्थात्मक ढांचे के विषय में सभी भाषाओं में समान रूप से किसी अन्तर्हित द्रव्य पर 'आकार' के आरोप की बात उचित कही भी जासकती है या नहीं। जैसा कि **सैपिर** ने कहा है : 'विविध समाजों के अपने **विविध संसार** हैं; विविध चिन्हों या पताकाओं से अंकित वह संसार **एक** नहीं है।'

यदि यह स्वीकार भी कर लियाजाए कि विविध **समाज** अपने विविध **संसारों** में रहते हैं, तबभी यह कहा जासकता है कि प्रत्येक भाषा अपने आवासित **'संसार'** के द्रव्यों पर विशिष्ट **'आकारों'** को आरोपितकरती है। कुछ सीमातक यह बात सत्य भी है (जैसाकि हमने **वर्णशब्दों** के विषय में देखाभी है)। किन्तु यह जानलेना आवश्यक है कि कोषीय प्रणालियां अनिवार्यतः किसी 'अन्तर्भूत द्रव्य' की प्राक्कल्पना लेकर नहीं चलतीं। युक्ति केलिए हम मानलेते हैं कि ईमानदारी, निष्ठा, सौजन्य और श्रद्धामयता भी 'गुण' के साथ-साथ एक ही कोषीय प्रणाली के अंग हैं। इस प्रणाली की संरचना का वर्णन उन आशय सम्बन्धों के आधार पर किया जासकता है, जो इसके विविध अवयवों के बीच स्थितहोते हैं। इस दृष्टि से यह प्रश्न असम्बद्ध ठहरता है कि कोषीय शब्दों और चारित्रिक प्रवृत्तियों अथवा व्यवहार-विधाओं के बीच कोई 'आधारभूत' या 'मौलिक' सहसम्बन्ध है भी या नहीं। यदि ऐसे कोई सहसम्बन्ध हैं ही, तब उनकी चर्चा **'निर्देश'** की दृष्टि से की जानीचाहिए, **'आशय'** की दृष्टि से नहीं। संक्षेप में, अर्थविज्ञान में द्रव्य की धारणा की विनियोज्यता 'अस्तित्व' की उसी स्थापना केद्वारा निर्धारित होती है, जिससे 'निर्देश' की धारणा निर्धारित होती है (तु०-६. ४. १)।

'विविध समाजों के बसाये संसार भिन्न-भिन्न हैं' इस कथन की व्याख्या **प्रायः भाषात्मक 'नियतत्ववाद'** की घोषणा के रूप में कीजाती है। क्या फ़ॉन हम्बोल्ट, सैपिर और व्हार्फ़ यह मानते थे कि विश्व के सम्बन्ध में हमारा कोटिबन्धन हमारी देशभाषा की संरचना द्वारा पूर्णतः नियत होता है ? इन प्रश्न पर विस्तार से हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। इस बात पर प्रायः सब सहमत हैं कि इसप्रकार के सबल शब्दों में व्यक्त 'भाषात्मक नियतत्ववाद' एक ऐसी प्राक्कल्पना है, जिस का समर्थन नहीं किया जासकता। 'विशिष्ट भाषाएँ अपनी शब्दराशि में अपने समाज के प्रमुख

सांस्कृतिक विभेदों को प्रतिबिम्बित करती हैं,' इस दृष्टिकोण की हमारी पूर्वतर स्वीकृति हमें कुछ सीमा तक भाषात्मक और सांस्कृतिक 'सापेक्षिता' के प्रति आबद्ध करती है। अतः हमें इस अपरिहार्य तथ्य का विवेचन करनाचाहिए कि अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं की कोषीय प्रणालियों की संरचना का भी ज्ञान अधिगत किया जासकता है; फिर भले ही यह उनके व्यवहारार्थ केज्ञान केलिए हो, या उनकी शब्दराशियों की छानबीन केलिए। एक भाषा से दूसरी में अनुवाद स्पष्टतः इसी सम्भावना पर आश्रित रहता है।

६. ४. १ सांस्कृतिक अतिव्यापन

संस्कृतियाँ केवल भाषाओं की सीमा में ही आबद्ध नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, फ्रांस और जर्मनी में पाईजाने वाली बहुतसी संस्थाएँ, रिवाज, भूषा, सज्जा, प्रधान एवं भोजन आदि इंग्लैण्ड में भी उसी रूप में पाएजाते हैं; जबकि अन्य बहुत से किसी देशविशेष, या उसके भी प्रान्तविशेष या वर्गविशेष, तक ही परिसीमित मिलते हैं। (वास्तव में भाषा और संस्कृति के बीच का सम्बन्ध उससे कहीं अधिक जटिल है, जितना कि इस सरलीकृत वक्तव्य से ज्ञातहोता है। राजनैतिक सीमाएं भाषात्मक सीमाओं से मेल नहीं खातीं; यदि हम इन बातों को मान भी लें कि एकीभूत भाषा-समाज की धारणा में कुछ औचित्य है, तथा विविध देशों की विविध सामाजिक श्रेणियों के बीच सांस्कृतिक एकरूपताएँ पाईजासकती हैं; इत्यादि।) सामान्यतः यह मानाजासकता है कि किन्हीं दो समाजों के बीच कम या अधिक मात्रा में सांस्कृतिक अतिव्यापन होना सम्भव है। ऐसा भी सम्भव है कि सभी समाजों की संस्कृति में कुछ लक्षण समान रूप से खोजे जासकें। विदेशी भाषाओं को सीखने का व्यावहारिक अनुभव बताता है कि इस सांस्कृतिक व्यापन के दायरे में आनेवाले बहुत से द्रव्यों, स्थितियों और अभिलक्षणों को हम तुरन्त पहचानलेते हैं, और उनकी अभिव्यंजक उक्तियों और शब्दों को बिना किसी कठिनाई के तुरन्त सीखलेते हैं। अन्य शब्दों को कुछ कम शीघ्रता से सीखाजाता है। और उनका शुद्ध प्रयोग तो अत्यन्त सुदीर्घ प्रयोग के बाद भी कदाचित् ही आता है। अनुभव के इन तथ्यों को हम यह कहकर सैद्धान्तिक स्वीकृति देसकते हैं कि **सांस्कृतिक अतिव्यापन** के क्षेत्र में ही दूसरी भाषा की अर्थात्मक संरचना से परिचय होता है, और यदि हम एकबार भी इस क्षेत्र में इकाइयों की पहचान केद्वारा प्रवेशपाने में समर्थ होजाएं (तु०-६. ४. ३, अर्थ-विज्ञान की अनिवार्य 'वर्त्तुलता'), तब हम उसके भीतर से ही कोषीय शब्दों के निर्देश तथा प्रयोग-सन्दर्भों में उनको आपस में बांधनेवाले आशय-सम्बन्धों को सीखकर उस भाषा की अवशिष्ट शब्दराशि के अपने ज्ञान को विकसित और संशोधित कर सकते हैं। **सच्ची द्विभाषिता का अर्थ है : दो संस्कृतियों का सात्म्यीकरण।'**

९. ४. ८ विनियोग

जब विभिन्न भाषाओं के शब्दों को उन संस्कृतियों के सामान्य अभिलक्षणों और स्थितियों के साथ परस्पर अनुकारिका में रखाजाता है, जिनके परिवेश में उनका प्रयोग होता है, तबहम कहसकते हैं कि उन इकाइयों का 'विनियोग' एकसा ही है। **'निर्देश'** की अपेक्षा इस **'विनियोग'** शब्द के प्रयोग के दो कारण हैं: प्रथम तो, इसे उस सम्बन्ध केलिए प्रयोग कियागया है, जो स्थितियों और उनमें होनेवाली अभिव्यक्तियों के बीच स्थित होते हैं (यथा—**'क्षमा करें'**, **'धन्यवाद'**, आदि प्रयोगों तथा इनके प्रयोग की विविध व्यक्त स्थितियों के बीच); निश्चय ही यह सम्बन्ध 'निर्देश' का नहीं है। द्वितीय, हम उन शब्दों का भी अर्थात्मक अभिज्ञान चाहते हैं, जिनमें कोई 'निर्देश' निहित नहीं रहता: उदाहरणार्थ, कोई कहसकता है कि अंग्रेज़ी शब्द **'सिन्'** (sin) और फ्रेंच शब्द **'पेशे'** (peche) का विनियोग सम ही है, यद्यपि निर्देशात्मक दृष्टि से यह बात सिद्ध करपाना कठिन या असम्भव ही होगा। यह सम्भव है कि संस्कृति के सम्बन्ध में एक पूर्ण और व्यापक मत स्थापित होजाने के बाद 'विनियोग' की धारणा के समावेश के विषय में बताया दूसरा कारण महत्त्वहीन होजाएगा। वर्तमान समय में तो **अनुवाद** की प्रक्रिया की भाँति विनियोग की धारणा भी बहुत मात्रा में द्विभाषी लोगों की आन्तरिक प्रेरणा पर निर्भरकरती है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह धारणा किसी वस्तुवादी आधार से हीन है, क्योंकि द्विभाषी लोग आत्मप्रयुक्त भाषा के अधिकांश शब्दों एवं अभिव्यक्तियों के विनियोग के विषय में प्रायः सहमत होते हैं।

प्रस्तुत खण्ड में इस विषय में कुछ नहीं कहागया कि प्रतिमानात्मक और विन्यासात्मक भावना-सम्बन्ध किसप्रकार स्थापित होते हैं। इससे पहले कि हम इस प्रश्न पर विचारकरें, हमें **निर्देश'** और **आशय** की धारणाओं को व्याकरणात्मक और कोषीय इकाइयों पर विस्तार से घटाने की सम्भावना पर भी विचार करलेना चाहिए।

९. ५ कोषीय और व्याकरणात्मक अर्थ

९. ५. १ संरचनात्मक अर्थ

'व्याकरणात्मक कोटियों' के अपने विमर्श में हमने इस परम्परागामी अरस्तूवादी मत का निर्देशकिया है कि सही अर्थों में **नाम**, **क्रिया**, **विशेषण** और **क्रिया-विशेषण** के रूप में केवल चार मुख्य पदभेद ही **'सार्थक'** कहे जासकते हैं (वे उन 'भावों' को 'संकेतित' करते हैं, जो कि 'प्रवचन के पदार्थ' रूप में होते हैं), तथा यह कि शेष पदभेद वाक्यों के समग्र अर्थ में 'प्रवचन के पदार्थ' पर 'व्याकरणात्मक रूप' का आरोपकरने के रूप में अपना योगदान देते हैं (तु०-७. १. ३)। आश्चर्यजनक

रूप में ऐसे ही मत परम्परागामी व्याकरण के कुछ विरोधियों द्वारा भी सम्पुष्ट किये गए हैं।

उदाहरणार्थ, फ़्रेइस **'कोषीय'** और **'संरचनात्मक'** अर्थ में विभेद मानता है। उसका मत अरस्तूवादियों के 'पदार्थगत' और 'आकारात्मक' अर्थ के बीच विभेद को पूर्णतः प्रतिफलित करता है। प्रमुख पदभेदों के **'कोषीय अर्थ'** होते हैं, जोकि व्याकरण के सहचारी कोषों में दियेहोते हैं। इसके विपरीत, **'संरचनात्मक अर्थ'** के रूप में वाक्य के कर्त्ता-कर्म का विभेद, निश्चितता, लकार और वचन के परस्पर विभेद एवं वक्तव्य, प्रश्न और प्रार्थना आदि के बीच अन्तर, आदि विभेदों का ग्रहणहोता है। (किसी भी उक्ति का कुल भाषात्मक मूल्य **व्यक्तिगत** 'कोषीय' और **समूहजन्य** 'संरचनात्मक' अर्थों को मिलाकर ही होता है। किसी भाषा के व्याकरण का निर्माण करने वाली प्रयुक्तियाँ ही संरचनात्मक अर्थ को संकेतितकरती हैं।)

'संरचनात्मक अर्थ' के द्वारा फ़्रेइस कमसेकम तीन प्रकार के अर्थात्मक कार्यों को सम्पन्नहोता मानता है : अन्य भाषाविदों ने इसकेलिए **'व्याकरणात्मक अर्थ'** संज्ञा का प्रयोगकिया है। अर्थ के ये तीनों प्रकार हैं : (१) व्याकरणात्मक इकाइयों का अर्थ (विशेषकर छोटे पदभेदों और गौण व्याकरणात्मक कोटियों का); (२) ऐसे व्याकरणात्मक कार्यों का 'अर्थ' : यथा'—का कर्त्ता', '—का कर्म', या'—का शोधक', आदि; (३) 'उद्घोषक', 'प्रश्नात्मक', या 'आज्ञार्थक', आदि विविध वाक्यों के श्रेणीकरणों से सम्बद्ध धारणाओं का 'अर्थ'। इनमें से प्रत्येक 'प्रकार' के 'व्याकरणात्मक अर्थ' को जानना महत्त्वपूर्ण है। हम इन पर बारी-बारी से विचार करेंगे।

६.५.२ कोषीय और व्याकरणिक पद

कोषीय और व्याकरणात्मक इकाइयों की पहचान केलिए विविध निकष स्थापित किएगए हैं। सर्वाधिक सन्तोषपूर्ण और यहाँ एकमात्र चर्चित निकष **मार्टिने, हैलिडे,** आदि द्वारा विकल्पों के **संकुचित** या **व्यापक** विन्यासों के रूपक्रियात्मक **वैषम्य** के आधार पर सूत्रित कियागया है। किसी इकाई का 'संकुचित' (प्रतिबद्ध) विन्यास कुछ स्थिर एवं कम सदस्योंवाला होता है : यथा—**व्यक्तिसर्वनाम, लकार, लिंग,** आदि। इसके विपरीत, 'व्यापक' (अनावृत) विन्यास अप्रतिबद्ध और अनिश्चित रूप से विशाल सदस्यतावाला होता है। उदाहरणार्थ, किसी भी भाषा की **नाम** या **आख्यातश्रेणी**। इस विभेद की दृष्टि से हम कहसकते हैं कि किसी भी भाषा में व्याकरणात्मक इकाइयां 'आवृत (संकुचित) विन्यास' के अन्तर्गत आती हैं; जबकि कोषीय इकाइयों के विकास को 'अनावृत' (व्यापक) कहाजासकता है। यह परिभाषा उस परम्परागत दृष्टि से अधिकांशतः मेल खाती है, जिसके अनुसार एक ओर मुख्य व्याकरणात्मक पदभेदों और दूसरी ओर गौणपदभेदों एवं गौण व्याकरणात्मक कोटियों के बीच विभेद कियाजाता है। अन्य सुझाईगई परिभाषाओं की

भांति यह परिभाषा एक ही आकृतिमूलक 'प्रकार' तक सीमित नहीं है (तु०- ५. ३. ६)। प्रस्तुत प्रसंग में हम यह मानकर चलेंगे कि यह परिभाषा ठीक है, तथा 'आवृत' और 'अनावृत' विन्यासों के बीच विभेद के आधार पर वाक्यों की अन्तःसंरचना में समाविष्ट सभी अवयवों का अन्तर्ग्रहण **'व्याकरण'** या **'कोषीय'** श्रेणियों में किया जासकता है। प्रश्न अब यह उठता है कि क्या व्याकरणात्मक और कोषीय इकाइयों के अर्थ के बीच भी सिद्धान्ततः कोई अन्तर रहता है?

प्रथम अवधेय बात यह है कि परम्परागत रूप में कोषीय शब्दों को 'व्याकरणात्मक' और 'कोषीय' दोनों ही अर्थों से युक्त मानाजाता है (दे० **'तात्त्विक'** और **'रूपात्मक'** अर्थ, तु०-९. ५. १)। इसे ही हम पाण्डित्यवादियों के 'प्रावकल्पनात्मक व्याकरण' की परिभाषा में इसप्रकार कहसकते हैं: **'गौ'** जैसा **कोषीय शब्द** केवल किसी विशिष्ट 'भाव' को ही संकेतित नहीं करता, बल्कि वह ऐसा 'द्रव्य', 'गुण' या 'क्रिया' आदि किसी 'संकेतन-प्रकार' के माध्यम से करता है (तु०-१. २. ७; ७. १. १.)। यद्यपि आजकल भाषाविद् इन परिभाषाओं के माध्यम से कम ही वर्णन करते हैं, फिर भी शब्दों के 'कोषीय' और 'व्याकरणात्मक' अर्थ के बीच अन्तर अब उसी रूप में मान्य है। फिर, इसका कुछ औचित्य भी प्रतीत होता है।

उदाहरणार्थ, हम रूसी भाषा के प्रसिद्ध कवि लेर्मोन्तोफ़् की प्रसिद्ध कविता की इस प्रथम पंक्ति को लेसकते हैं: **'बेलीत् पारुस ओदिनोकीय्'**। इसका अंग्रेज़ी या हिन्दी में अनुवाद लगभग कठिन ही है। कारण यह है कि रूसी में 'बेलीय्' (Belyj) का अर्थ 'श्वेत होना' जैसी क्रिया के रूप में लियाजासकता है। बहुत हो तो हिन्दी-उर्दू के अनुकरण पर 'सफ़ेदियाना' की तरह का शब्द घड़ा जासकता है। किन्तु रूसी केलिए यह एक स्वाभाविक प्रयोग है। 'सफ़ेद होना' के अर्थ में 'Balyj' एक प्रक्रिया का संकेत देता है (तु०-७. ६. ३)। इसका निकटतम अनुवाद कुछ इस तरह होगा: 'एक अकेली पाल सफ़ेद चमकरही है'। एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करतेहुए इसप्रकार की समस्याएं सामने आती हैं। यहां हमारे सामने सैद्धान्तिक समस्या यह आती है: **'क्या यह कहा जासकता है कि प्रत्येक प्रमुख पदभेद केसाथ कोई विशिष्ट 'व्याकरणात्मक अर्थ' सहचारी होता है?'**

हम पहले ही देखचुके हैं कि 'क्रिया' और 'विशेषण' के बीच का अन्तर सामान्य वाक्यरचनासिद्धान्त की दृष्टि से जटिल प्रकृति का कहा जासकता है। कुछ भाषाओं में इस प्रकार का कोई अन्तर स्थापित ही नहीं कियाजासकता, जबकि कुछ अन्य में इस विभेद से सम्बद्ध अनेक वाक्य-संरचनात्मक अभिलक्षण पहचाने जासकते हैं, और विशिष्ट निदर्शनों में वे परस्पर संघर्ष में भी आसकते हैं (तु०-७. ६. ४)। किन्तु वह प्रमुख निकष, जो **'सक्रियता'** और **'गुण'** के बीच परम्परागत विभेदों को स्पष्ट करता है, 'गतिक' और 'स्थितिक' के बीच पक्षात्मक विभेद कहा जासकता है (तु०-८. ४. ७)। रूसी में 'बेलेच् (beletj)' के 'क्रिया' और 'विशेषण'-परक प्रयोगों में 'कोषीय अर्थ' पर 'व्याकरणात्मक अर्थ' का अध्यारोपण कियाजाता है। इस

अंश तक **अर्थसंकेतन** की विधाओं का सिद्धान्त ठीक है : निस्सन्देह 'वाक्य-संरचना' के अधिक सन्तोषप्रद सिद्धान्त के भीतर ही इसका पुनः-सूत्रण होनाचाहिए ।

किन्तु, इसके साथ ही हमें इस सामान्य सिद्धान्त को भी न भूलजाना चाहिए कि **'अर्थवत्ता में चुनाव या विकल्प का अवकाश विद्यमान रहता है'** । यदि वर्ण्य भाषा 'क्रियायुक्त' अथवा 'विशेषणात्मक' अभिव्यक्ति का अवसर देती है, तब उन दोनों मेंसे किसी का भी विनियोग भाषा के अर्थात्मक विशेषण के दायरे में गृहीत होजाता है । इस दशा में कोई भी यह पूछसकता है कि अभिव्यक्ति की ये दोनों 'विधाएं' एक ही अर्थ रखती हैं या नहीं; और यदि उनके अर्थों में कुछ अन्तर है ही, तो अर्थात्मक दृष्टि से वे किस रूप में परस्पर भिन्न हैं । यदि इस अन्तर को किसी भी प्रकार का अन्तःसंरचनी व्याकरण का अन्तर (यथा 'गतिक' और 'स्थितिक' में अन्तर) कहाजाए, तब इसे उचित रूप में ही 'व्याकरणात्मक अर्थ' कहा जासकेगा । परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि 'विशेषण' की जगह 'क्रिया' को प्रयोग करने पर 'व्याकरणात्मक अर्थ' का यह अन्तर सदा अन्वित रहता है । बहुत से निदर्शनों में 'व्याकरणार्थ' की अपेक्षा 'कोषार्थ' एक विशेष विधा से सम्बद्ध होता है । संक्षेप में, अन्य कई बातों की भाँति इस मामले में भी भाषाविज्ञान को व्याकरण के 'धारणात्मक' और 'रूपात्मक' पहलुओं के बीच संतुलन स्थापित करनाचाहिए (तु०-७. ६. १) । यह मानने की आवश्यकता नहीं रही है कि 'सक्रियता की सूचना' किसी भी 'क्रिया' के 'अर्थ' का अविभाज्य अंग है, और 'गुण' की सूचना 'विशेषण' के 'अर्थ' का अविभाज्य अंग है ।

परम्परागत रूप में यह कहाजाता है कि शब्दों के अर्थ 'कोषीय' (पादार्थिक) और 'व्याकरणात्मक' (रूपात्मक) दोनों ही प्रकार के होते हैं । 'व्याकरणात्मक इकाइयों' का अर्थ केवल व्याकरणात्मक ही स्वीकार कियाजाता है । गत अध्याय में हम देख आए हैं कि वाक्यों की पृष्ठ-संरचना में जो कई शब्द 'क्रिया' के रूप में प्रयोग होते हैं, उन्हें पक्षात्मक, प्रेरणार्थक या अन्य 'व्याकरणात्मक' विभेदों की 'कोषीय उपलब्धि' के रूप में कहा जासकता है । ये सुझाव ठीक हैं या नहीं, इस प्रश्न की हम उपेक्षा करसकते हैं । वाक्यरचनासिद्धान्त की वर्त्तमान स्थिति में 'व्याकरणात्मक' और 'कोषीय' इकाइयों के बीच विभेद कुछ अनिर्धार्य-सा है । कारण यह कि 'अनावृत' (व्यापक) और 'आवृत' (प्रतिबद्ध) विकल्पों के बीच का विभेद वाक्यों की अन्तःसंरचना में उपलभ्य 'चुनाव' या 'विकल्प' की स्थितियों पर ही लागू होसकता है । और हम देखचुके हैं कि इस विषय में पर्याप्त मतभेद की सम्भावना है कि 'विकल्प' की ये 'स्थितियां' कहां विद्यमान होती है ।

इस विषय में कहनेयोग्य मुख्य बात यह है कि जहां भी 'व्याकरणात्मक' और 'कोषीय' जैसा विभेद अन्तःसंरचना-अवयवों की दो श्रेणियों के रूप में पहचाना जासकता है, वहां भी इन दोनों के सहचारी 'अर्थ-प्रकारों' के बीच कोई वास्तविक अन्तर प्रतीत नहीं होता । जहांतक 'आशय' और 'निर्देश' का प्रश्न है, दोनों ही

धारणाओं का सम्बन्ध उक्त दोनों प्रकार की इकाइयों से है। यद्यपि सभी व्याकरणात्मक अवयव अर्थवान् नहीं होते (तु०-८. ४. १), तब भी उनकी अर्थवत्ता के विषय में यह सामान्य बात कही जासकती है कि 'व्याकरणात्मक चुनाव' का सम्बन्ध दिक्कालात्मक निर्देश, हेतुप्रेरण, प्रक्रिया, व्यष्टीकरण, आदि की उन सामान्य धारणाओं से होता है, जिनकी धारणाओं की चर्चा हम सातवें और आठवें अध्याय में कर आए हैं। फिर भी, हम पहले से ही यह नहीं मानसकते कि ऐसी धारणाएं विविक्त कर ही लीजाएंगी। विभेद करपाने पर भी ये निश्चय ही किसी विशिष्ट भाषा की संरचना में 'व्याकरणीकृत' ही कीजाएंगी, 'कोषीकृत' नहीं।

९. ५. ३ व्याकरणात्मक 'प्रकार्यों' का 'अर्थ'

फ़्रेइस तथा दूसरे विद्वानों ने अंग्रेज़ी की संरचना के विषय में जिस दूसरी घटना-श्रेणी को '**संरचनात्मक अर्थ**' (या व्याकरणात्मक अर्थ) के रूप में पहचाना है, उसे **कर्त्ता**, **कर्म**, **शोधक**, आदि के द्वारा उदाहृत किया जासकता है। फ़्रेइस की पुस्तक आधुनिक रचनान्तरक वाक्यरचना-विज्ञान के विकास से पूर्व ही लिखीगई थी, तथा उसका सम्बन्ध मुख्यतः 'बाह्य-संरचना' तक ही सीमित था। परिणामतः इन 'प्रकार्यात्मक' धारणाओं के विषय में उसका अधिकांश वक्तव्य, ठीक होते हुए भी, अर्थात्मक विश्लेषण के साथ कदाचित् ही सम्बद्ध कहा जासकता है। यह बात अत्याधुनिक भाषाविज्ञान के विषय में भी सत्य है।

यह पर्याप्त स्पष्ट है कि कोषीय अवयवों या उनके संघातों के बीच कुछ अन्तःसंरचनी व्याकरणात्मक सम्बन्ध वाक्यों के अर्थात्मक विश्लेषण के विषय में संगत बैठते हैं। शोम्स्की के अनुसार'—का कर्त्ता', '—का कर्म', '—का विधेय', '—की मुख्य क्रिया', आदि 'प्रकार्यात्मक' धारणाएं ही हैं, जो 'कोषीय अवयवों' के बीच मुख्य अन्तःसंरचनी सम्बन्ध को संधारित करती हैं। कात्ज़, फ़ोदोर, आदि अन्य वैयाकरणों ने हाल ही में वाक्यों में इसप्रकार से सम्बद्ध कोषीय अवयवों पर लागू होनेवाले 'उत्क्षेपण-नियमों' के एक विन्यास के आधार पर अर्थविज्ञान को निरूपित करने का प्रयास किया है (तु०-१०. ५. ४)। 'कर्त्ता', 'कर्म', 'विधेय', आदि की ये धारणाएं विगत अध्याय में वर्णित होचुकी हैं, और वहीं हमने यह देखा कि सामान्य वाक्यरचनासिद्धान्त में उनका निरूपण उतना विस्पष्ट नहीं है, जितना कि शोम्स्की ने माना था। परिणाम यह कि इन धारणाओं के आधार पर वाक्यों की व्याख्या करनेवाले 'उत्क्षेपण-नियमों' की स्थिति भी कुछ संदिग्ध होउठती है।

'सकर्मकता' और 'साधकता' के अपने विवेचन में हमने इंगितकिया है कि अंग्रेज़ी में अधिकांश 'कर्म' एकपदा रचनाओं को द्विपदा रचनाओं के 'विधेय' के रूप में परिणत करनेमात्र से बनसकते हैं, यदि साथ-साथ उनमें कोई 'ससाधक' कर्त्ता भी समाहित कर दियाजाए। पर हमने यह भी देखा था कि ऐसी भी अनेक द्विपदा रचनाएँ हैं, जिनका निर्माण इस रीति से सन्तोषजनक रूप में नहीं किया जासकता।

केवल यही तथ्य यह सिद्ध करने केलिए पर्याप्त है कि '—का कर्म' जैसे सम्बन्ध की व्याख्या वाक्यों के अर्थात्मक विश्लेषण में सर्वत्र एक ही रूप में नहीं की जासकती। यही कारण है कि परम्परागत व्याकरण में अनेक प्रकार के 'कर्म' स्वीकार कियेगए थे। इनमें एक की चर्चा यहाँ अभिप्रेत है; क्योंकि अर्थविचार के प्रसंग में निस्सन्देह उसका पर्याप्त महत्त्व है। यह है **'विकार्य कर्म'** (परिणाम या प्रभाव का उद्देश्य)।

'विकार्य कर्म' को निम्न दो वाक्यों के सन्दर्भ में प्रदर्शित किया जासकता है :

(१) वह पुस्तक पढ़रहा है : ही इज़् रीडिंग ए बुक्

(२) वह पुस्तक लिखरहा है : ही इज़् राइटिंग ए बुक्

प्रथम में **'पुस्तक'** का निर्देश **'पढ़ने'** से पहले और स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में किया जारहा है, जबकि दूसरे में वह अभी सत्ता में नहीं आई है; बल्कि वाक्य में वर्णित क्रिया के परिणामरूप अस्तित्व में आएगी। अतः इस विभेद के आधार पर, **प्रथम** में 'पुस्तक' को 'पढ़रहा है' क्रिया का **'सामान्य कर्म'** मान लियाजाता है, जबकि दूसरे में उसे **'विकार्य कर्म'** या 'परिणामी कर्म' के रूप में कहा जासकता है। अर्थात्मक दृष्टिकोण से ऐसी किसी भी क्रिया को, जिसका कर्म 'विकार्य' या 'परिणामी' हो, उचित रूप में 'अस्तित्ववाचक प्रेरणार्थक' कहा जासकता है। ऐसी सर्वसाधारण अंग्रेज़ी क्रिया है **'–मेक्'** और हिन्दी क्रिया है **'–बनाना'**। हम पहले ही कहचुके हैं कि इन्हें 'प्रेरणार्थक सहायिका' के रूप में भी कहाजाता है (तु०-८. ३. ६, ८. ४. ७)। प्रश्नात्मक वाक्यों में 'करना' के समान ही **'बनाना'** क्रिया भी **सर्वक्रिया (प्रो-वर्ब)** के रूप में प्रयुक्त होती है। **'आप क्या कररहे हैं ?'**, जैसे प्रश्न में विधेय के विषय में कुछ कम ही प्राक्कल्पनाएँ निहित होती हैं (क्रिया सकर्मक या अकर्मक होसकती है, किन्तु यह 'सक्रिय क्रिया' होनीचाहिए : तु०-७. ६. ४) इसके विपरीत, **'आप क्या बनारहे हैं ?'** जैसा प्रश्न यह मानकर चलता है कि विचाराधीन 'सक्रियता' **'परिणामात्मक'** है और इसके लक्ष्य के रूप में किसी 'कर्म' का **'अस्तित्व'** विद्यमान है। यह अवधेय है कि यह विभेद अंग्रेज़ी-हिन्दी की अपेक्षा अन्य भारोपीय भाषाओं में उतना स्पष्ट नहीं है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन भाषाओं में **'सामान्य'** (प्राप्य) और **'विकार्य'** कर्म के दोनों रूपों के बीच यह विभेद असंगत या सम्बद्ध ठहरता है।

इस 'अस्तित्ववाचक प्रेरणार्थक' की धारणा का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि **'विकार्य'** या 'परिणामी कर्म' की रचनावाले वाक्यों में बहुधा किसी विशिष्ट **क्रिया** या क्रियाश्रेणी और किसी विशिष्ट **नाम** या नामश्रेणी केबीच पर्याप्त मात्रा में **परस्पराश्रितता** पाईजाती है। उदाहरणार्थ, 'चित्र' शब्द (नाम) का कोई ऐसा सन्तोषजनक अर्थात्मक विश्लेषण नहीं किया जासकता, जो विन्यासात्मक दृष्टि से इसका सम्बन्ध 'खींचना' या 'चित्रित करना' जैसी क्रियाओं के साथ वर्णित न करता हो। इसके विपरीत, यह तथ्य उनके अर्थ का भाग कहा जासकता है कि ये क्रियाएँ

'चित्र' को एक 'विकार्य या परिणामी कर्म' के रूप में वहन करसकती हैं।

विन्यासक्रमात्मक परस्पराश्रितता की यह धारणा या प्राक्कल्पना किसी भी भाषा की शब्दराशि के विश्लेषण की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण ठहरती है (तु०- ९. ४. ३)। यहाँ प्रदर्शित विनियोग की अपेक्षा यह कहीं व्यापक विनियोगवाली है। कुछ ऐसी प्राक्कल्पनाएँ हैं जो नामों और क्रियाओं की विशिष्ट श्रेणियों को परस्पर आबद्ध करती हैं (**पक्षी : उड़ना, मछली : तैरना,** आदि); कुछ विशेषणों और नामों को परस्पर बाँधती हैं (श्याम : केश, फेंटना : अण्डा, आदि); कुछ 'क्रियाओं' और 'सामान्य' कर्मों को आबद्ध करती हैं (**हाँकना : बैलगाड़ी**); तथा कुछ प्राक्कल्पनाएँ 'क्रियाओं' और 'करणात्मक सम्बन्ध' को आबद्ध करती हैं (**काटना : दाँत, लतियाना : पांव**); इत्यादि। इनमें से श्रेणीविशेष के बहुत से अवयवों के बीच विद्यमान सम्बन्ध की व्याख्या शोम्स्की द्वारा प्रस्तावित रचनान्तरक वाक्यरचना के ढाँचे के भीतर 'उत्क्षेपण-नियमों' के एक तदर्थ विन्यास के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं की जासकती।

क्योंकि अबतक पूर्णतः सन्तोषजनक ऐसा कोई वाक्यरचनात्मक ढाँचा नहीं है, जिसके भीतर उन विविध आशय-सम्बन्धों को बताया जासके, जिनके आधार पर भाषाओं की शब्दावलियों का निर्माण होता है, अतः हम अन्तःसंरचनी व्याकरण के सम्बन्धों पर लागू होनेवाले किन्हीं 'उत्क्षेपण नियमों' के विन्यास को बनाने का प्रयत्न नहीं करेंगे। अगले अध्याय में हम ऐसे अनेक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण रूपक्रमात्मक सम्बन्धों पर विचारकरेंगे, जो कोषीय अवयवों की विविध श्रेणियों के बीच स्थित होते हैं और अधिकांशतः ऐसा हम अनौपचारिक रूप में ही करेंगे। यहाँ हम यह मानकर चलरहे हैं कि इन सम्बन्धों को अन्तःसंरचनी व्याकरणात्मक सम्बन्धों के अधिक सन्तोषपूर्ण विवरण के आधार पर अधिक उदारता केसाथ वर्णित किया जासकता है।

९. ५. ४ वाक्य-प्रकारों का 'अर्थ'

'व्याकरणात्मक' के रूप में वर्णित कियेजानेवाले 'अर्थों' की एक तीसरी श्रेणी को '**घोषणात्मक**', '**प्रश्नात्मक**' और '**विधेयात्मक**' वाक्यों में स्थित विभेद के निर्देश द्वारा उदाहृत किया जासकता है। आधुनिक रचनान्तरक सिद्धान्त में यह प्रवृत्ति पाईजाती है कि वाक्यों के अन्तःसंरचनी 'पदबन्ध-अंककों' में ऐसे व्याकरणात्मक अवयवों को समाहित कियाजाए, यथा '**प्रश्न-अकक**', '**विधेय-अंकक**', आदि; और तब रचनान्तरक योजकों के नियमों को इसतरह सूत्रित कियाजाए कि इनमें से एक भी 'अंकक' की उपस्थिति स्वतः ही समुचित रचनान्तरक नियम को 'प्रोत्सृष्ट' कर सके। यहाँ हमारा सम्बन्ध इन विविध वाक्य-प्रकारों में स्थित विभेद के सूत्रण के वाक्य-रचनात्मक लाभों से नहीं है; बल्कि हमारा सम्बन्ध इनके वैज्ञानिक निहितार्थों से है।

कात्ज़ और पोस्ताल् द्वारा यह सुझायागया है कि ये **'अंकक'** (चिह्नक) वाक्य-केन्द्रकों के घटकों के रूप में आनेवाले व्याकरणात्मक अवयवों के समरूप ही हैं। निदर्शनार्थ, **'विधि-(आज्ञा)-अंकक'** को शब्दकोष में इसप्रकार से ग्रथित कियाजाए, जिससे कुछ इसप्रकार का संकेत मिले कि **'वक्ता प्रार्थना करता है** (कहता है, **आज्ञादेता है, आदि) कि ···'**, इत्यादि। किन्तु, यह सुझाव 'अर्थ' शब्द के विषय में भ्रमात्मकता पर आधारित है। इसप्रकार की भ्रमात्मकता के निवारण केलिए ही अर्थविदों ने **आशय, निर्देश**, आदि **अर्थ के विविध प्रकारों** (अर्थविधाओं) केबीच विभेद प्रदर्शितकिया है। यदि हम इस पर भी हर प्रकार के विभेद्य अर्थात्मक प्रकार्य केलिए भी **'अर्थ'** शब्द का ही प्रयोग करते रहें, तब हम पर्याप्त औचित्य के साथ यह कहसकते हैं कि अनुकारी **वक्तव्यों, प्रश्नों** और **आज्ञाओं** के बीच 'अर्थ' का विभेद विद्यमान होता है (इन्हें ही **घोषणात्मक, प्रश्नात्मक** और **विधेयात्मक** आदि के रूप में कहागया है)। किन्तु, यह प्रश्न 'समानार्थता' की धारणा की अपेक्षा में ही सामान्यतः व्याख्यात कियाजाता है : कि कोई दो कोषीय अवयव **'एक ही अर्थ'** रखते हैं या नहीं : **भावना की एकरूपता**। यह एक रूपक्रमात्मक सम्बन्ध है : अर्थात्, उसी 'वाक्य-प्रकार' के बीच उसी सन्दर्भ में आनेवाले शब्दों के बीच यह स्थित हो भी सकता है, और नहीं भी होसकता। हम आगामी अध्याय में देखेंगे कि **'क्ष'** और **'त्र'** की समानार्थकता की धारणा को उन निहितार्थों के विन्यास के आधार पर व्याख्यात किया जासकता है, जो उन दो वाक्यों से प्रसृत होते हैं, जिनमें एकमात्र अन्तर यह है कि जहाँ पर एक वाक्य में **'क्ष'** का प्रयोग हुआ है, वहाँ दूसरे वाक्य में **'त्र'** विद्यमान है। किन्तु, ये विचार अनुकारी **घोषणात्मक प्रश्नात्मक** या **आज्ञात्मक** वाक्यों पर सामान्यतः लागू नहीं होते (यथा, 'आप पत्र लिखरहे हैं' और 'आप पत्र लिख रहे हैं ?', आदि में)। यद्यपि विविध वाक्यप्रकारों के अनुकारी अवयवों को 'अर्थ' की दृष्टि से भिन्न-भिन्न कहा जासकता है, किन्तु 'आशय' की दृष्टि से उन्हें विभिन्न नहीं कहा जासकता। वैज्ञानिक सिद्धान्तों को इस प्रकार निरूपित करने का प्रयत्न निरर्थक ही कहाजाएगा, जिसके द्वारा 'प्रश्न-अंकक' और 'आज्ञा-अंकक' आदि के 'अर्थ' को भी उसी रूप में समझाया जासके, जिसमें कोषीय इकाइयों के **'अर्थ'** को समझाया जाता है।

अर्थात्मक संरचना

१०. १ विषय-प्रवेश

१०. १. १ आशय-सम्बन्धों की प्राथमिकता

इस अध्याय में हम 'आशय' की धारणा पर ही विचार करेंगे (**'निर्देश'** और **'विनियोग'** दोनों से भिन्न रूप में, तु०-९. ४. ८)। हम पहले ही देखचुके हैं कि किसी भी भाषा की शब्दराशि में ऐसी अनेक कोषीय प्रणालियाँ विद्यमान होती हैं, जिनकी संरचना को रूपक्रमात्मक और विन्यासक्रमात्मक 'भावना-सम्बन्धों' के माध्यम से वर्णित किया जासकता है। हमने इस बात पर भी बलदिया है कि इन सम्बन्धों की व्याख्या कोषीय पदों के बीच स्थित सम्बन्धों के रूप में ही की जा सकती है, परस्पर स्वतन्त्रतया निर्धारित भावनाओं के बीच स्थित सम्बन्धों के रूप में नहीं है (तु०-९. ४. २)।

सैद्धान्तिक और प्रणालीविज्ञान की दृष्टि से इस अन्तिम बात का अत्यधिक महत्त्व है : **'संरचनावाद'** का यह एक केन्द्रीय सिद्धान्त है, जिसे दे सौस्यूर और उनके अनुयायियों ने विकसित किया था, कि किसी भी प्रणाली में प्रत्येक भाषात्मक अवयव का अपना 'स्थान' होता है, और इसका 'प्रकार्य' या 'मूल्य' उन सम्बन्धों से प्रसूत होता है, जो उसी प्रणाली में स्थित अन्य अवयवों के साथ इसे आबद्ध करते हैं (तु०-२. २. २—२. २. ९)। अर्थविज्ञान में संरचनात्मक उपगम को अपनाने का लाभ यह है कि इससे भाषाविद् **'भावों'** या **'विचारों'** की दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक स्थिति जैसे विवादास्पद प्रश्न पर प्रतिबद्ध होने से बचने में समर्थ हो जाता है (तु०-९. २. ६)। जहाँतक भाषा की संरचना के अनुभूतिपरक गवेषण का सम्बन्ध है, किसी कोषीय पद के 'आशय' को उस सम्बन्ध-विन्यास पर आश्रित और उससे समरूप कहा जासकता है, जो उसी कोषीय प्रणाली में स्थित किसी अन्य पद के साथ प्रस्तुत पद को आबद्ध करता है। इन्हीं आशय-सम्बन्धों की प्रकृति पर इस अध्याय में विचार कियाजाएगा।

'भावना' की परिभाषा के प्रति संरचनात्मक उपगम का प्रणालीवैज्ञानिक महत्त्व रसेल तथा अन्य आधुनिक तर्कशास्त्रियों के उस प्रस्ताव के साथ तुलना के द्वारा दिखाया जासकता है, जिसके द्वारा **दीर्घता, भार, आकार,** आदि धारणाओं की परि-

भाषा कीगई है। परम्परागत तर्कशास्त्र की दृष्टि से, क्या 'क्ष' की उतनी ही दीर्घता है जितनी 'त्र' की ?, जैसे प्रश्न की व्याख्या कुछ इस रूप में कीजाती है, मानो यह किन्हीं भिन्न तर्काश्रित संरचनावाले प्रश्नों पर आश्रित हो एवं उनकी अपेक्षा गौण हो : यथा ''क्ष' की दीर्घता क्या है ?' या 'त्र' की दीर्घता क्या है ?', इत्यादि (यदि 'दीर्घता' को ऐसे गुण के रूप में स्वीकार कियाजाए, जिसे वस्तुएँ कम या अधिक मात्रा में धारण करसकती हैं)। व्यवहार में किसी भी वस्तु की दीर्घता का निर्धारण किसी प्रचलित मानक के साथ इसकी तुलना करके होता है। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि **''क्ष' की लम्बाई एक मीटर है'**, तब हमारे कहने का तात्पर्य यह होता है कि 'क्ष' की दीर्घता 'भार और मान के अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय' द्वारा सुरक्षित एक विशेष धातुछड़ पर अंकित दो चिन्हों के बीच की दूरी के ठीक बराबर है (यह तथ्य कि १९६० के बाद से **'मीटर'** की परिभाषा कुछ जटिल मान के रूप में की जानेलगी है, उक्त बात पर कोई प्रभाव नहीं डालता)। दूसरे शब्दों में, **''क्ष' की दीर्घता क्या है ?'**, इस प्रश्न का उत्तर एक ऐसी प्रक्रिया के द्वारा दियाजाता है, जिससे इस प्रश्न का भी उत्तर मिलजाता है कि **'क्या 'क्ष' की उतनी ही दीर्घता है, जितनी ज्ञ की?'** (यहाँ **'ज्ञ'** मानक है)। 'क्ष' और 'त्र' के रूप में दो 'दत्त' उपलब्ध होने पर हम उन दोनों की परस्पर तुलना करसकते हैं, जबकि उन दोनों की तुलना **'ज्ञ'** जैसे किसी तीसरे द्रव्य से भी की जासकती है। किसी भी स्थिति में, **''क्ष' की दीर्घता क्या है ?'** जैसे प्रश्न को **'क्या 'क्ष' की दीर्घता 'त्र' जितनी है ?'**, जैसे प्रश्नों के विन्यास पर आश्रित या उस रूप में परिणत कहा जासकता है। अनुभूति की दृष्टि से इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है, जिससे 'क्ष' की दीर्घता को निर्धारित किया जासके। ऐसी स्थिति में ही रसेॅल ने प्रस्ताव किया था कि **'दीर्घता'** की परिभाषा **अपेक्षा** या **तुलना** के रूप में की जाए : '...की उतनी ही दीर्घता है, जितनी...की ?' (हमें यहाँ इस परिभाषा के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। सामान्य सिद्धान्त इससे स्वतन्त्र है।)

जिसप्रकार 'उतनी ही दीर्घता रखना' एक सम्बन्ध है, जो वस्तुओं को परस्पर आबद्ध करता है (उनमें अन्तर्हित 'दीर्घताओं' को नहीं), ठीक उसीतरह 'वही आशय रखना' या 'समानार्थकता' भी एकप्रकार का सम्बन्ध है, जो किन्हीं दो कोषीय पदों को परस्पर आबद्ध करता है (वक्ताओं के मन में स्थित दो आशयों को नहीं : तु०-९. २. ६)। **'आशय'** की परिभाषा **'दीर्घता'** (या **भार**) की परिभाषा की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल है, क्योंकि इसमें वस्तुगत साम्य या वैषम्य की अपेक्षा कुछ और अधिक भी समवेत है। किन्तु किसी प्रणाली के दो कोषीय पदों के सहचारी 'आशयों' के विन्यास की कल्पना उससे अधिक युक्तिसंगत नहीं है, जितनी कि किन्हीं भौतिक द्रव्यों में स्थित 'दीर्घता' के विन्यास की कल्पना। अतः **''क्ष' का आशय क्या है ?'** (और यह स्मर्त्तव्य है कि इस प्रश्न का उत्तर **''क्ष' का अर्थ क्या है ?'** इस प्रश्न के उत्तर का एक भाग ही है), यह प्रश्न प्रणालीबद्ध रूप में आपस में सापेक्ष एक प्रश्न-विन्यास के रूप में परिणत किया जासकता है : यथा—'$स_{ड}$ का आशय सम्बन्ध 'क्ष'

और 'त्र' को आपस में आबद्ध करता है ?'

१०. १. २ विश्लेषणिक और संश्लेषणिक निहितार्थ

दार्शनिक लोग 'आशय' की धारणा पर 'विश्लेषणिक' और 'संश्लेषणिक' वक्तव्यों के बिभेद-प्रसंग में ही बहुधा विचारकरते हैं। इस विभेद को इस रूप में कहा जासकता है : **संश्लेषणात्मक वक्तव्य** वह है जो 'आपातिक रूप में' सत्य होता है, जबकि अनुभूतिगम्य तथ्य की दृष्टि से वह अन्यथा भी होसकता है; तथा **विश्लेषणात्मक वक्तव्य** वह है जो 'अनिवार्यतः' सत्य होता है, और जिसकी सत्यता (१) उसके घटक अवयवों के आशय, और (२) भाषा के वाक्यरचना-नियमों द्वारा सम्पुष्ट होती है। इसके आदर्श उदाहरण के रूप में : **'सभी ब्रह्मचारी अविवाहित होते हैं'**, यह वाक्य **विश्लेषणात्मक** कहा जासकता है, क्योंकि 'ब्रह्मचारी' और 'अविवाहित' शब्द परस्पर अर्थात्मना इसतरह सम्बद्ध हैं कि वाक्यगत सत्य सम्पुष्ट सिद्धहोता है।

विश्लेषणीयता की धारणा का औचित्य विवादास्पद होसकता है। और यह सम्भव है कि जिस रूप में इस पर सामान्यतः विचार कियाजाता है, उस रूप में इसे दार्शनिक दृष्टि से उचित या विहित सिद्ध नहीं किया जासकता। सौभाग्यवश, दैनन्दिन व्यवहार में आनेवाली भाषा के अर्थात्मक विश्लेषण केलिए 'आपातिक' अथवा 'अनिवार्य' सत्य के बीच विभेद से सम्बद्ध दार्शनिक समस्याओं के समाधान की अपेक्षा वांछनीय नहीं है। भाषाविद् को तो विश्लेषणीयता के उस अर्थक्रियात्मक भावबोध की आवश्यकता है, जो किसी भाषा-जाति की निहित कल्पनाओं और प्राक्कल्पनाओं को सैद्धान्तिक मान्यता प्रदान करता है, और जिसमें किसी ऐसे अन्य निर्देश ढाँचे के भीतर उनके औचित्य पर कोई ध्यान नहीं दियाजाता, जिन्हें निरपेक्ष तथा भाषात्मक और सांस्कृतिक दृष्टि से **तटस्थ** समझाजाता हो। इसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर हमने पहले **'प्रतिबद्ध सन्दर्भ'** की धारणा को समाविष्टकिया था। इस अध्याय में दियेगए ऐसे किसी भी वक्तव्य की व्याख्या इसी धारणा के प्रकाश में करनी होगी, जोकि उनमें प्रयुक्त कोषीय पदों के आशय के आधार पर किन्हीं वाक्यों के बीच विद्यमान अर्थात्मक सम्बन्धों के विषय में दियागया है।

आशय-सम्बन्धों को एक ऐसे ढाँचे के भीतर भी वर्णित किया जासकता है, जिसमें **'निहितार्थ'** की धारणा का भी समावेश हो। इस धारणा को यहाँ स्पष्टतर **स्थापना** (अभिवचन) और **निषेध** के पूर्ववर्त्ती भावों के माध्यम से समाविष्ट किया जासकता है। हम मानलेते हैं कि सभी भाषाओं में **स्वीकृतिमूलक** और **निषेधात्मक** वाक्यों के बीच संवादिता के नियम स्थापित करना सम्भव है; और यह भी कि किसी विशिष्ट स्वीकृतिमूलक और किसी विशिष्ट निषेधात्मक वाक्य के बीच स्थित संवादिता का विवरण उस भाषा के व्याकरण द्वारा दियाजाता है। इसप्रकार **'राम बिवाहित नहीं है'** जैसा निषेधात्मक वाक्य **'राम विवाहित है'** जैसे स्वीकृतिमूलक वाक्य का 'संवादी' है। अब हम कहेंगे कि निषेधात्मक वाक्य उस बात का

'स्पष्टतर रूप में निषेध' करता है, जिसे कि उसके संवादी स्वीकृतिमूलक वाक्य द्वारा 'स्पष्टतर रूप में स्थापित' कियाजाता है। और इस अभिव्यक्ततर स्वीकृति और निषेध की धारणा के आधार पर हम अर्थात्मक दृष्टि से अधिक सगत 'निहित' स्वीकृति या निषेध अथवा **'निहितार्थता'** की अधिक आकर्षक धारणा को निर्मित कर सकते हैं। यदि भाषा के प्रयोक्ता सहमत हों कि $व_1$ को स्पष्टतः **स्थापित** करना, और $व_2$ का स्पष्टतः **निषेध** करना, सम्भव नहीं है, तब कहा जासकता है कि $व_1$ वाक्य में $व_2$ वाक्य भी निहित होता है : प्रतीकात्मक रूप में $व_1 \supset व_2$। और यदि इस बात पर सहमति हो कि $व_1$ की स्पष्टतर स्थापना बिना प्रतिवाद के $व_2$ की स्पष्टतर स्थापना को असम्भव बनादेती है, तब कहना होगा कि $व_1$ निहितार्थ रूप में $व_2$ का निषेध करता है—$व_1$ में $व_2$ निहित नहीं है : $व_1 \supset \neg व_2$।

इस बात पर बल देनाचाहिए कि जिस रूप में यहाँ 'निहितार्थ' की परिभाषा कीगई है, सिद्धान्ततः उसकी वस्तुपरक दृष्टि से परीक्षा की जासकती है। निस्सन्देह इसका यह अर्थ नहीं कि सभी प्रयोक्ता इस बात पर अनिवार्यतः सहमत होंगे कि कोई एक वाक्य दूसरे को स्वयं में निहितरखता है। जैसा कि हम पहले ही देखचुके हैं कि जिसे हम सामान्यतः उक्तियों का 'समझना' कहते हैं, उसका विवरण बिना यह कल्पना किये ही दिया जासकता है कि किसी भाषा के सभी वक्ता किसी एक उक्ति से एक ही प्रकार के निहितार्थों को ग्रहण करेंगे (तु०-९. २. ९)। यह अवश्य माना जासकता है कि उन निहितार्थों में पर्याप्त बड़ी मात्रा में अतिव्यापन होता है, जिनके कारण विविध वक्ताओं में परस्पर संवाद के अधिकांश निदर्शनों के सम्बन्ध में भ्रांति को रोका जासकता है। अर्थविज्ञान में किसी भाषा के वाक्यों में स्थित निहितार्थों की प्रकृति और संख्या के विषय में कुछ मात्रातक अनिर्धार्यता अनुमत होनी चाहिए।

१०. २ समानार्थता

१०. २. १ समानार्थता के सुश्लिष्ट और शिथिल आशय

'समानार्थता' की सुश्लिष्ट और शिथिल व्याख्या के बीच विभेद किया जा सकता है। आधुनिक अर्थवैज्ञानिक सिद्धान्त में प्रायः उपलभ्य सुश्लिष्ट व्याख्या के अनुसार यदि उनकी भावना एक है, तब किन्हीं दो शब्दों को समानार्थक कहा जा सकता है। समानार्थता की इसी व्याख्या पर हम प्रस्तुत खण्ड में विचारकरेंगे।

इसके विपरीत एक शिथिल व्याख्या को रोजेट के 'थेसौरस' (शब्दकोष) के एक उद्धरण से प्रदर्शित किया जासकता है : 'मानलीजिए हम 'नाइस' (nice) शब्द को लेते हैं।...इसके अधीन हम ('सूची' में) देखेंगे....कि इस शब्द की विविध अर्थ-भावनाओं के प्रतिनिधि विविध शब्द 'पर्याय' के रूप में देरखे हैं। ये पर्याय हैं—

'सेवरी', 'डिस्क्रिमिनेटिव', 'एग्ज़ैक्ट', 'गुड', 'प्लीजिङ्', 'ऑनरेबल', आदि । अब इनमें से प्रत्येक शब्द स्वतः उसी ग्रन्थ में 'पर्यायों' की अन्य एक विशिष्ट सूची में समाविष्ट दिखाईदेगा । निदर्शनार्थ, 'प्लीज़िङ्' के प्रकरण को लेते ही उसमें उसके दर्जनों समतुल्य शब्द दिखाई देंगे...जो उसकी हर सम्भव अर्थ-भावना को व्यक्त करेंगे ।' यही बात 'गुड्' 'एग्ज़ैक्ट', आदि शब्दों के विषय में भी है । इसलिए शब्दकोष हमें 'ऐसे सैंकड़ों शब्दों और अभिव्यक्तियों से सम्पन्न करता है, जो हमारे आरम्भिक शब्द 'नाइस' के बदले प्रयोग केलिए हमें उपलब्ध होते हैं ।' समानार्थता की धारणा की इस शिथिल व्याख्या के अनुसार ये सब शब्द और अभिव्यक्तियां 'नाइस' की 'समानार्थक' हैं ।

१०. २. २ समानार्थता के परिमाणन के प्रस्ताव

कईबार यह कहाजाता है कि समानार्थता मात्राभेद का विषय है । अर्थात्, शब्दों के किसी भी विन्यास को समानता या भिन्नता की मात्रा के आधार पर इस प्रकार व्यवस्थित किया जासकता है, जिससे, उदाहरणार्थ, 'क' और 'ख' को भावना में एकरूप (**पूर्ण समानार्थक**) दिखाया जासके, 'क' और 'ग' को भावना में सापेक्ष रूप में समान दिखाया जासके (**शिथिल समानार्थक**), और 'क' और 'घ' को आशय की दृष्टि से कुछ कम समान दिखाया जासके, इत्यादि । हाल के वर्षों में विविध प्रस्ताव समानार्थता के इस परिमाणन के विषय में प्रस्तुत कियेगए हैं । हमें यहाँ इनमें से एक भी प्रस्ताव पर विचार नहीं करना है । यदि यह दिखा भी दियाजाता कि आशयगत समानता की कोई एक या दूसरी मात्रा अनुभूति की दृष्टि से अधिक विश्वसनीय है (जो विविध समयों में विविध विद्वानों द्वारा सुसम्बद्ध परिणामों के साथ विनियोज्य है), और वह उन शब्दों को अधिक या कम 'समानार्थक' के रूप में एकत्रित करने में समर्थ हुई है, जिन्हें कि देशी वक्ता 'परस्पर सम्बद्ध' अनुभव करते हैं, तब भी हमारे सामने यह समस्या तो बची ही रहती कि 'समानार्थकों' के बीच अन्तर का विवरण किसप्रकार दियाजाए । (यहाँ यह अवधेय है कि रोजेट के 'थेसौरस' (कोष) जैसे निर्देशग्रन्थ की उपयोगिता उन लोगों केलिए ही है, जो उसके प्रयोग से पूर्व उस भाषा का ज्ञान रखते हैं । जबतक प्रयोक्ता स्वयं ही उन सैंकड़ों 'समतुल्य' शब्दों के बीच अन्तर करने में समर्थ नहीं होता, जिन्हें 'नाइस' (nice) के समानार्थक के रूप में दियागया है, तबतक उन्हें उसकेलिए 'प्रयोगार्ह' नहीं कहा जासकता ।) इस बात पर विश्वास करने का भी कोई कारण नहीं है कि यदि भावना में 'ख' और 'ग' दोनों ही 'क' से समान दूरी पर हैं, तब वे दोनों परस्पर 'समानार्थक' होंगे और 'क' के साथ अर्थात्मना समान रूप में ही सम्बद्ध होंगे । मानलीजिए, उदाहरणार्थ, 'पिता' और 'माता' शब्द आशय के किसी प्रस्तावित मान के अनुसार एकसमान दूरी पर दिखाएजाते हैं । हम इस परिणाम की व्याख्या किस रूप में करेंगे ? स्पष्ट ही हम यह नहीं कहना चाहेंगे कि 'माता' और 'बच्चा', चाहे 'शिथिल' रूप में ही सही, परस्पर 'समानार्थक' हैं । निश्चय ही 'माता' और 'पिता'

के बीच का आशय-सम्बन्ध 'पिता' और 'बच्चा' के बीच स्थित आशय सम्बन्ध से सर्वथा भिन्न रूप में वर्ण्य है। संक्षेप में, ऐसा कोई व्यक्त उपाय नहीं है जिससे वे विविध आशय-सम्बन्ध व्युत्पन्न किये जासकें, जिन्हें सापेक्ष समानार्थकता के मात्रा की दृष्टि से शब्दराशि के गठन में महत्त्वपूर्ण स्वीकार कियाजाता है।

१०. २. ३ 'सर्वांश समानार्थता' और 'पूर्ण समानार्थता'

प्रायः व्यापक रूप में यह मानाजाता है कि प्राकृतिक भाषाओं में कदाचित् ही कोई 'वास्तविक' समानार्थक शब्द विद्यमान होते हैं। उल्मान् के अनुसार : 'यह लगभग स्वतःस्पष्ट सत्य है कि 'सर्वांश समानार्थता' कदाचित् ही घटित होसकती है। और यह एक ऐसा विलास है, जिसे भाषा सहन नहीं करसकती।' उनके अनुसार यह दृष्टि दो निकषों पर आधारित है : 'केवल वे शब्द ही **समानार्थक** कहे जासकते हैं, जो किसी दत्त सन्दर्भ में एक-दूसरे को इस रूप में **स्थानान्तरित** करसकते हैं कि जिससे उनके **संज्ञानात्मक** या **संवेगात्मक** अर्थ में तनिक भी अन्तर न आनेपाए। इसलिए '**सर्वांशी समानार्थता**' की दो शर्तें हुईं : (१) सभी सन्दर्भों में परस्पर विनिमेयता, और (२) संज्ञानात्मक और 'संवेगात्मक' अर्थ में एकरूपता ! हम इसी प्रसंग में 'संज्ञानात्मक' और 'संवेगात्मक' आशय के बीच विभेद के औचित्य पर विचार करेंगे। किन्तु यहाँ पर तो हम इसे स्वतःसिद्ध मानकर ही चलेंगे।

सभी सन्दर्भों में विनिमेय होने की शर्त्त इस सामान्य मान्यता को प्रतिबिम्बित करती है कि कोई भी शब्द तबतक किसी सन्दर्भ में समानार्थक नहीं कहे जासकते, जबतक कि वे सभी सन्दर्भों में प्रयोज्य न हों, और उनका आशय एक ही न हो। हमने पहले ही इस ओर इंगित किया है और इसे अस्वीकृत भी किया है (९. ४. २)। सभी आशय-सम्बन्धों की भांति 'समानार्थता' भी सन्दर्भाश्रित है : हम इस बात पर बाद में आएंगे। उल्मान् तथा अन्यों द्वारा प्रस्तावित समानार्थता की परिभाषा के विषय में मुख्य आपत्ति यह है कि इसमें दो नितान्त भिन्न निकषों को समाहित कियागया है और उनकी अन्यान्योश्रितता को पहले से ही निर्णीत मानलिया गया है। इस स्थल पर पारिभाषिक संज्ञाओं द्वारा विभेद को स्पष्टकरना सहायक रहेगा। 'संज्ञानात्मक' और 'संवेगात्मक' आशय के बीच विभेद के औचित्य को मान लेने के बाद, हम इन दोनों भावनाओं की समतुल्यता केलिए **'पूर्ण समानार्थता'** संज्ञा का प्रयोग करसकते हैं। '**सर्वांश समानार्थता**' का प्रयोग हम उन पर्यायों केलिए सीमित करसकते हैं (भले ही वे पूर्ण हों या अपूर्ण), जो कि हर सन्दर्भ में अन्तः-विनिमेय हैं। वर्गीकरण की इस योजना में समानार्थता के चार सम्भाव्य प्रकारों को ग्रहण किया जासकता है (यह मानतेहुए कि इनमें से प्रत्येक परिवर्त्ती के केवल दो ही मूल्य स्वीकार कियेजाते हैं) : (१) पूर्ण और सर्वांश समानार्थता, (२) पूर्ण किन्तु असर्वांश, (३) अपूर्ण किन्तु सर्वांश, तथा (४) अपूर्ण और असर्वांश। जब भाषाविद् 'वास्तविक या निरपेक्ष समानार्थता' की बात करते हैं, तब प्रायः

उनका अभिप्राय पूर्ण और सर्वांश समानार्थता से ही होता है। यह निस्सन्देह सत्य है कि इसप्रकार के पर्याय या समानार्थक शब्द किसी भी भाषा में बहुत कम होते हैं। 'निरपेक्ष समानार्थता' की धारणा को इस रूप में परिभाषित करना निष्प्रयोजन ही है, जिसमें उसका आधार पूर्ण समतुल्यता और सर्वांश विनिमेयता के अनिवार्यतः सम्बद्ध होने की कल्पना पर स्थित हो। यह स्वीकार करते ही कि ये दोनों बातें परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं, तथा इस परम्परागत धारणा को त्यागते ही कि 'समानार्थता दो परस्पर स्वतन्त्र रूप में निर्धारित आशयों में समरूपता का विषय है', यह प्रश्न एकदम सीधा होजाता है।

१०. २. ४ 'संज्ञानात्मक' और 'संवेगात्मक' अर्थ

अनेक अर्थविद् समानार्थता के विचार-प्रसंग में **'संवेगात्मक'** और **'संज्ञानात्मक'** अर्थों के बीच विभेद पर भी विचार करते हैं। ये दोनों संज्ञाएं स्वतः इस दृष्टि को प्रतिफलित करती हैं कि भाषा के प्रयोग में दो या अधिक मनोवैज्ञानिक 'विभागों' का योगदान रहता है: एक ओर **प्रतिभा** का तथा दूसरी ओर **कल्पना** और **संवेगों** का। अर्थविज्ञान के पारिभाषिक एवं जनप्रिय ग्रन्थों में जिस एक बात पर बहुत अधिक बल दियाजाता है, वह है भाषा-व्यवहार में 'संवेगात्मक' खण्डों का महत्त्व। प्रायः ही यह कहाजाता है कि वैज्ञानिक और प्राविधिक शब्दावली की तुलना में दैनन्दिन भाषा के शब्द अपने शुद्ध **'प्रतिभात्मक'** और **'प्राथमिक'** अर्थ की अपेक्षा संवेगात्मक 'साहचर्यों' या 'गुणार्थों' से आविष्ट होते हैं।

यहां उन मानसिक विभागों के बीच विभेद के मनोवैज्ञानिक औचित्य पर विचार की आवश्यकता नहीं है, जिनपर मूलतः **'संज्ञानात्मक'** या **'असंज्ञानात्मक अर्थ'** का अर्थात्मक विभेद आश्रित मानाजाता था। 'संज्ञानात्मक अर्थ' संज्ञा का प्रयोग उन बहुत से विद्वानों द्वारा कियाजाता है, जो अनिवार्यतः इस दृष्टि से सहमत नहीं हैं कि **'प्रातिभ'** अर्थ निश्चय ही सूक्ष्मता केसाथ **'प्रभावी'** (या संवेगात्मक) अर्थ से विविक्त होता है। जहांतक भाषा के वास्तविक प्रयोग का सम्बन्ध है, निस्सन्देह यह बात सत्य है कि किसी एक शब्द को दूसरे की अपेक्षा इसलिए प्रधानता दी जा सकती है, कि उसके संवेगात्मक या प्रबोधनात्मक साहचर्य भिन्न होते हैं। किन्तु इसका महत्त्व एक शैली या स्थिति से दूसरी शैली या स्थिति में पर्याप्त रूप में बदलता रहता है। उदाहरणार्थ, उल्मान् अंग्रेज़ी के कुछ ऐसे शब्दों का उल्लेख करते हैं, जो संज्ञानात्मक रूप में ही समानार्थक हैं, संवेगात्मक रूप में नहीं: **लिबर्टी : फ्रीडम, हाइड : कन्सील**। (हिन्दी में यही बात **स्वच्छन्द : स्वतन्त्र** एवं **व्यथा** : पीडा आदि युग्मों के विषय में कही जासकती है।) ऐसे अवसरों की कल्पना कठिन नहीं है, जिनमें कोई प्रयोक्ता इनमें से एक की अपेक्षा अन्य शब्द-विशेष को ही प्रयोग करता है। ऐसा वह उन 'गुणार्थों' के आधार पर करता है, जो कि शब्दों द्वारा प्रबुद्ध किये जाते हैं। किन्तु ऐसे भी अनेक सन्दर्भ हैं, जिनमें दोनों में से कोई भी प्रयोग किया

जासकता है, जबकि उनके प्रभाव में कोई अन्तर लक्षित नहीं होता। यह मानना भ्रामक ही होगा कि शब्द के संवेगात्मक गुणार्थ इसके विनियोग के साथ सदा ही सम्बद्ध होते हैं।

इससे भी अधिक प्रमुख बात यह है कि 'संज्ञानात्मक' और 'अ-संज्ञानात्मक' समानार्थता के बीच विभेद को भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न तरह से पहचाना है। किन्तु सभी जगह पहले 'संज्ञानात्मक' समानार्थता की ही परिभाषा कीजाती है। कोई भी कभी यह नहीं कहता कि शब्द 'संवेगात्मक रूप में समानार्थक' हैं, 'संज्ञानात्मक' रूप में नहीं। यही सत्य यह बताने में पर्याप्त है कि 'संवेगात्मक' या 'भावात्मक' संज्ञा का व्यवहार एक सर्वग्राही संज्ञा के रूप में होरहा है, जिसके द्वारा हम उन अनेक विभिन्न घटकों को निर्दिष्ट करते हैं, जो कि विशिष्ट अवसरों या सन्दर्भों में समानार्थकों के चुनाव पर प्रभाव डालते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इन घटकों का विवरण उचित शब्दावली के माध्यम से दियाजाए। 'संज्ञानात्मक' अर्थ की सीमा में न आसकनेवाली किसी भी बात केलिए 'संवेगात्मक' या 'भावात्मक' गुणार्थ की कोटि का प्रयोग निरुद्देश्य या निष्प्रयोजन ही रहेगा, क्योंकि वह असंदिग्ध रूप से सापेक्ष कोटि है। 'संज्ञानात्मक' रूप से समानार्थक शब्दों या अभिव्यक्तियों मेंसे चुनाव को निर्धारित करनेवाले कुछ हेतु भावना, निर्देश या अन्य किसी भी ऐसी वस्तु से किसी भी रूप में सम्बद्ध नहीं होते, जिसे उचित रूप में 'अर्थ' कहा जासकता है। अनेक व्यक्ति, सम्भव होनेपर, एक शब्द को उसी प्रसंग में दुबारा प्रयोग करने से जानबूझ कर बचना चाहते हैं। दूसरे लोग कुछ दूसरे प्रकार के 'चुनाव' करते हैं : 'दीर्घ' शब्द के स्थान पर 'छोटा', 'शिष्ट' शब्द के स्थान पर 'व्यावहारिक', 'अंग्रेज़ी' के शब्द की जगह 'हिन्दी' का शब्द, इत्यादि। पद्य-बन्धन के प्रसंग में छन्द या लय के कारण आनेवाली विशिष्ट ध्वनिप्रक्रियात्मक सीमाएँ भी आजाती हैं, जिनका सम्बन्ध अर्थविज्ञान से नहीं है।

ऐसे भी घटक हैं, जिन्हें समुचित रूप में यद्यपि 'अर्थात्मक' भी कहा जा सकता है, किन्तु जिनका सम्बन्ध शब्दों के अर्थ या निर्देश के साथ न होकर उनकी शैलीगत या स्थितिगत स्वीकार्यता से होता है। हम यह पहले ही देखचुके हैं कि स्वीकार्यता के ऐसे अनेक 'आयाम' हैं, भाषात्मक व्यवहार के पूर्ण वर्णन में जिनका विवरण वांछनीय होगा (तु०-४. २. ३)। पूर्ण स्वीकार्यता के इन निर्धारकों के विषय में हम यहाँ अधिक नहीं कहेंगे, क्योंकि यहाँ हमारा संबंध अर्थात्मक संरचना के सामान्यतर सिद्धान्तों से ही अधिक है। यह उचित प्रतीत होता है कि 'समानार्थता' शब्द का प्रयोग उस स्थिति तक ही सीमित कर दियाजाए, जिसे बहुत से भाषाविदों ने '**संज्ञानात्मक समानार्थता**' कहा है। इस अध्याय के शेष भाग में हम इसी रूढ़ि का अनुगमन करेंगे। इसीलिए 'पूर्ण' और 'अपूर्ण' के बीच अधिक विभेद करने से हमें अन्य कोई लाभ न होगा।

१०. २. ५ उभयपक्षीय निहितार्थ की दृष्टि से 'समानार्थता' की परिभाषा

समानार्थता की परिभाषा उभयपक्षीय निहितार्थता या समतुल्यता के रूप में भी की जासकती है। यदि $व_1$ स्वयं में $व_2$ को भी अन्तर्हित करता है, और यदि इसकी प्रतिलोम स्थिति भी विद्यमान है, तब $व_1$ और $व_2$ समतुल्य हैं : अर्थात्, यदि $व_1 \supset व_2$ और $व_2 \supset व_1$ है, तब $व_1 \equiv व_2$ ('$\equiv$' का अभिप्राय 'इसके समतुल्य है' के रूप में है)। अब यदि दो समतुल्य वाक्यों की विन्यासात्मक संरचना एक ही हो, और उनमें अन्तर केवल इतना ही हो, कि जहां एक में 'क्ष' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहां दूसरे में 'त्र' का, तब 'क्ष' और 'त्र' को समानार्थक कहाजाएगा। समतुल्यता की परिभाषा निश्चित करने का एक अन्य उपाय इस रूप में होगा: **यदि $व_1$ और $व_2$ के द्वारा एकसमान वाक्य-विन्यास का अन्तर्ग्रहण होता है, तब वे दोनों एक-दूसरे के समतुल्य होते हैं।** लेकिन इस प्रकार की परिभाषा के साथ कठिनाई यह है कि वह इस सिद्धान्त के विपरीत जाबैठती है कि किसी भी वाक्य में अन्तर्गृहीत होनेवाले वाक्यों का विन्यास अनिर्धारित होता है (तु०-९. २. १०)। यदि हम समतुल्यता को **उभयपक्षीय निहितार्थता** के रूप में वर्णन करें, तब हम यह मानसकते हैं कि जो दो वाक्य परस्पर एकदूसरे को निहित करते हैं; किसी अन्य वाक्यविन्यास को भी वे दोनों समान रूप से अन्तर्हित रखते हैं, कमसेकम तबतक जबतक यह मान्यता किसी विशेष निदर्शन में असत्य ही सिद्ध न हो।

१०. २. ६ समानार्थता और सामान्य विनिमेयता

परम्परागत अर्थविज्ञान में 'समानार्थता' को साधारणतः किन्हीं शब्दों के बीच स्थित सम्बन्ध के रूप में स्वीकार कियागया है। ऊपर दीगई परिभाषा में इस बात को ध्यान में रखागया है। निस्सन्देह 'समानार्थता' संज्ञा के प्रयोग का विस्तार इस रूप में सम्भव है, कि उन सब शब्दों का एकाकी या सामूहिक ग्रहण इसके द्वारा किया जासके, जोकि किसी विशिष्ट विन्यासात्मक रचना में सहबद्ध किये जाते हैं। यथा, कोई भी कहसकता है कि **'नर भेड़'** और **'मेष'** परस्पर पर्याय हैं। किन्तु, इसप्रकार की बात कहते हुए यह स्मर्त्तव्य है कि कहनेवाला यह मानलेता है कि इसप्रकार के पदबन्ध या शब्द भाषा के सामान्य प्रयोग में परस्पर विनिमेय होते हैं। इसके विपरीत **'नर गौ'** या **'मेल काऊ'** को क्रमशः **'बैल'** या **'बुल्'** के साथ (यह माना जासकता है कि) सामान्यतः विनिमेय नहीं कहा जासकता; यद्यपि यह भी माना जासकता है कि **'गाय'** और **'नर'** शब्दों से परिचित व्यक्ति को **'बैल'** का अर्थ समझाने का सरलतम उपाय इसप्रकार के अस्वीकार्य वाक्य के द्वारा ही होगा : **'बैल 'नर गाय' को कहते हैं'**। **'नर गाय'** या **'मेल काऊ'** जैसे शब्दों को अर्थात्मक दृष्टि से अस्वीकार्य मानने का कारण यह है कि **'बत्तख'** आदि की भाँति **'गाय'** और **'बैल'** शब्दों को लिंगभेद की दृष्टि से परस्पर 'अनंकित' नहीं कहा जासकता (तु०-२. ३. ७)। इस बात से कोई भी अर्थविद् असहमत नहीं होगा। किन्तु यहां 'सामान्य

विनिमेयता' की शर्त्त का अभिप्राय यह है कि अर्थात्मक दृष्टि से सात्म्य (अर्थवान्) बहुत से शब्द समूहों, और 'नर गाय' जैसे अर्थात्मना-असात्म्य प्रयोगों, को इस परिभाषा से बाहर ही रखाजाए। 'काऊ' की परिभाषा के रूप में 'गायजाति का प्रौढ़ मादा-पशु' जैसा व्याख्या-प्रयोग निस्सन्देह व्याकरणात्मक और अर्थात्मक दृष्टि से सुगठित कहा जासकता है। किन्तु यह प्रयोग अर्थात्मना कुगठित 'नर गाय' की अपेक्षा कहीं कम 'सामान्य' है। अंग्रेज़ी या हिन्दी का स्वदेशी प्रयोक्ता सामान्यत: इसप्रकार का प्रयोग न तो निर्मित ही करेगा, और न इसे भाषा के दैनिक व्यवहार में उपयोग ही करेगा। अत: 'गाय' जैसे कोष-शब्द एवं उक्त पदबन्ध में 'समानार्थता' का प्रश्न ही नहीं उठता। विकल्प में यह भी कहा जासकता है कि इस सम्बन्ध में उठनेवाला प्रमुख प्रश्न यह नहीं है कि इनके बीच 'समानार्थता' का सम्बन्ध है भी या नहीं, अथवा यदि है तो इसका विवरण कैसे दियाजाए, बल्कि यह है कि 'गाय' जैसा कोष-शब्द और उक्त परिभाषा जैसे 'पदबन्ध' उन्मुक्त रूप में परस्पर विनिमेय क्यों नहीं हैं? बहुत से अर्थविद् इस प्रश्न का महत्त्व समझने में असमर्थ रहे हैं। हम 'घटकीय विश्लेषण' के प्रसंग में इस प्रश्न पर फिर से विचार करेंगे (तु०-१०. ५. ५)।

१०. २. ७ सन्दर्भाश्रित समानार्थता

समानार्थता के विषय में अन्तिम बात और शेष रहती है: यह अन्य किसी भी भावना-सम्बन्ध की अपेक्षा अधिक 'सन्दर्भाश्रित' होती है, और वह भी सैद्धान्तिक अभिरुचि की दृष्टि से। यह स्पष्ट है कि स्वत: यह कोई संरचनात्मक सम्बन्ध नहीं है। समानार्थता के सभी निदर्शन बिना शेष कोषशब्दों को प्रभावितकिए शब्दावली से बहिष्कृत किये जासकते हैं। इसप्रकार से 'हीन'-बनी शब्दावली में शैलीगत वैविध्य के अवसर अवश्य कम रहेंगे; किन्तु जो बात उस भाषा में व्यापक शब्दावली के माध्यम से कही जासकती थी, वह अब भी इस पर्याय-हीन शब्दाव्वली के द्वारा भी कही जासकेगी।

यद्यपि भाषा के अर्थात्मक ढाँचे केलिए 'समानार्थता' अनिवार्य नहीं है, तथापि इसका जन्म न्यूनार्थता और असात्म्यतारूपी अन्य मौलिक संरचनात्मक सम्बन्धों के परिणामस्वरूप विशिष्ट सन्दर्भों में होता है। होता बहुधा यह है कि किन्हीं दो शब्दों के बीच विभेद सन्दर्भ की दृष्टि से उदासीन होजाता है। निदर्श-नार्थ, अंग्रेज़ी के 'अंकित' 'बिच्' (कुतिया) और अनंकित 'डॉग्' के बीच का विभेद ऐसे वाक्य में उदासीन होजाता है: 'माई...हैज़ जस्ट हैड पप्स' (हिन्दी में 'मेरी ...ने अभी पिल्ले दिए हैं'); इसमें स्वत: ही पशु के 'मादा' होने का संकेत है। सिद्धान्तत: सभी भावना-सम्बन्ध सन्दर्भाश्रित होते हैं; फिर भी सन्दर्भ-निर्धारित समा-नार्थता का अपना ही महत्त्व है। यह स्पष्ट है कि इसे इस सामान्य सिद्धान्त के भीतर लाया जासकता है कि भाषा में वही सूचना विन्यासात्मक दृष्टि से भी, और रूपक्रमात्मक दृष्टि से भी, वहन की जासकती है (तु०-२. ३. ८)। उदाहरणार्थ,

कोई कहसकता है : **'मैं आज श्रीनगर केलिए उड़रहा हूँ'**, जबकि दूसरा इसे ही यूँ कहेगा : **'मैं आज वायुयान से श्रीनगर जारहा हूँ'**। यही बात अंग्रेज़ी के **'आई ऐम् फ़्लाइङ् टु न्यूयॉर्क'** और **'आई ऐम् ड्राइविङ् टु न्यूयॉर्क'** पर भी घटती है। इन्हें क्रमशः **'आई ऐम् गोइङ् टु न्यूयॉर्क बाई एयर'** और **'आई ऐम् गोइङ् टु न्यूयॉर्क बाई कार'** के रूप में भी कहसकते हैं। इनमें **'फ़्लाइङ्'** और **'ड्राइविङ्'** का सम्बन्ध परस्पर रूपक्रमात्मक चयन का है, जबकि **'गोइङ् बाइ एयर'** और **'गोइङ् बाई कार'** का परस्पर सम्बन्ध **'गो'** क्रिया के विन्यासक्रमात्मक संशोधन से है। यदि कोई विशिष्ट कोष-शब्द विन्यासात्मक रूप में प्रायः एक विशिष्ट ढंग से ही विशेषित कियाजाता है, तब कालक्रमिक रूप में इसका प्रभाव यह होसकता है यह विभेद विन्यासक्रमात्मक से रूपक्रमात्मक में बदलजाए, और इसप्रकार विन्यासक्रमात्मक संशोधन (विशेषण) अवांछित होजाए। **'उपवास'** और **'भुखमरी'** जैसे शब्दों की भावना में विकास का कारण सम्भवतः इसी बात को कहा जासकता है। कभी 'उपवास' का अर्थ 'देवता के समीप बैठना' के रूप में लियाजाता था। फिर, इसका अर्थ 'एक विशेष रात में बिना अन्नादि खाए देवता के पास बैठने' से लियाजाने लगा। तब 'विशेष तिथि आदि में अन्न न खाने' को 'उपवास' कहा जाने लगा। और अब 'किसी भी कारण से न खाने' या 'खाना न मिलने' को भी इससे ही ग्रहण कियाजाता है। **'भुखमरी'** में कभी **'मरने की स्थिति'** का अभिप्राय अधिक लियाजाता था, जबकि आज इसका व्यापक प्रयोग 'भूख की व्यापकता' अर्थ में अधिक होता है; भलेही 'मृत्यु' हर जगह उसके साथ हो या न हो। (कुछ प्रयोगों में तो **'भुखमरी'** और **'महामारी'** आदि को **'बीमारी'** के रूप में ही प्रयुक्त कियाजाता है।) किसी भी भाषा का इतिहास इस प्रकार के 'अर्थ के विशिष्टीकरण' के उदाहरणों से भरापड़ा होता है।

यह जानलेना महत्त्वपूर्ण है कि किसी कोषशब्द का सन्दर्भगत निर्धारण निरपेक्ष न होकर प्रायिकतामय भी होसकता है। निदर्शनार्थ, निम्न निदर्शन में **'खरीदूँगा'** के स्थान पर 'लूँगा' के प्रयोग से कोई भी नया निहितार्थ आता न माना जाएगा : **'मैं दूकान पर जाकर कुछ खिलौने खरीदूँगा'**। यहाँ पर इस सन्दर्भ में इन दोनों शब्दों को 'समानार्थक' के रूप में ही ग्रहण कियाजाएगा। कारण यह है कि समाज की मान्य रूढ़ियाँ और प्राक्कल्पनाएँ ऐसी हैं कि उनके अनुसार दूकान से कुछ भी 'लेने' का अर्थ 'खरीदना' ही होता है, यदि स्थिति इसके विपरीत ही न हो। साथ ही, यह भी स्मरण रखनाचाहिए कि **'लेना'** और **'खरीदना'** अनिवार्यतः पर्याय नहीं हैं (भले ही **'दूकान से'** के रूप में उन्हें विन्यासात्मक समर्थन भी प्राप्त हो)। यह उदाहरण इस बात को भी स्पष्ट करता है कि उस उक्ति में स्थित अन्य शब्दों द्वारा समानार्थता के **प्रायिकतामय निर्धारण** अथवा उक्ति के घटित होने की परिस्थिति के अभिलक्षणों द्वारा समानार्थता के **निर्धारण** के बीच कोई सूक्ष्म विभेद नहीं है। यदि कोई दूकान में घुसतेहुए यह कहे कि 'मैं कुछ सामान खरीदने ही वाला हूँ', तब यहाँ भी 'लेने' और 'खरीदने' के बीच समानार्थता किसी भी रूप में

उस स्थिति से कम प्रबल नहीं होती, जिसमें इस वाक्य में 'दूकान से' शब्द और जुड़े होते। न तो यह समानार्थता कम प्रबल है; और न ही यह 'प्रकार' में किसी रूप में भिन्न है; क्योंकि दोनों स्थितियों में एक-सी सांस्कृतिक प्राक्कल्पनाएँ निहितार्थों को निर्धारित करती हैं।

१०. ३ न्यूनार्थता और असात्म्यता

१०. ३. १ न्यूनार्थता

शब्दावली की संरचना में हेतुभूत रूपक्रमात्मक भावना-सम्बन्धों में से 'न्यूनार्थता' और 'असात्म्यता' को सर्वाधिक मौलिक कहा जासकता है। यद्यपि ये दोनों अधिकांशतः परस्पराश्रित हैं, तब भी हम इनका वर्णन पृथक्-पृथक् ही करेंगे।

परम्परागत रूप में 'न्यूनार्थता' अर्थवादियों के विचार का विषय नहीं रहा है। 'समानार्थता' और 'विरुद्धार्थता' के सादृश्य पर यह भी एक हाल की ही प्रसूत संज्ञा है। यह संज्ञा स्वयं भले ही नई हो, इसकी भावना फिरभी परम्परागत ही है। इसे बहुत पहले से ही सभी भाषाओं के शब्दकोषों के गठन के संघटक सिद्धान्तों मेंसे एक मानाजाता रहा है। इसे प्रायः 'समावेश' के रूप में निर्दिष्ट कियाजाता है। उदाहरणार्थ, कहाजाता है 'लोहित' का अर्थ 'लाल' के अर्थ में 'समाविष्ट' है; 'गुलाब' का अर्थ 'फूल' के अर्थ में समाविष्ट है; इत्यादि।

विशिष्टतर संज्ञा के सामान्यतर संज्ञा में 'समावेश' के इस सम्बन्ध को अनेक अर्थविदों ने वर्गों की युक्ति के आधार पर निरूपित किया है : 'गुलाब' के द्वारा गृहीत वर्ग की अपेक्षा 'फूल' द्वारा गृहीत वर्ग अधिक व्यापक है, और वह पूर्वतर वर्ग को भी अपने में 'समाविष्ट' करता है; 'शोणित' या 'लोहित' के द्वारा गृहीत इकाइयों का वर्णन 'लाल' के द्वारा भी सही रूप में किया जासकता है; इत्यादि। यह देखा जासकता है कि 'समावेश' की सम्बन्ध-भावना का नियमन 'निर्देश' की धारणा पर आश्रित है (क्योंकि इसके द्वारा ही शब्दों द्वारा नामांकित इकाइयों के वर्गों के सम्बन्ध में विचार होता है)। 'न्यूनार्थता' के रूप में एक नए शब्द के प्रयोग का एक कारण यह है कि इससे 'समावेश' शब्द का प्रयोग 'निर्देश-सिद्धान्त' में अधिक खुलकर होसकता है, तथा उसका निरूपण वर्गाश्रित तर्क की दृष्टि से होसकता है। हम पहले ही देखचुके हैं कि भावना और निर्देश के बीच सैद्धान्तिक विभेद को स्थापित करना वांछनीय है। यह अनुभवकरना आवश्यक है कि शब्दों केबीच स्थित एक सम्बन्ध के रूप में 'न्यूनार्थता' अनिर्देश संज्ञाओं के विषय में भी ठीक उसी तरह लागूहोती है, जिस तरह यह सनिर्देश संज्ञाओं के विषय में लागूहोती है।

'समावेशन' की अपेक्षा अन्य वैकल्पिक संज्ञा को अपनाने का मुख्यतर कारण यह है कि 'समावेशन' संज्ञा अस्पष्ट है। एक दृष्टि से किसी विशिष्टतर

संज्ञा की अपेक्षा कोई सामान्यतर संज्ञा अधिक 'समावेशी' होती है : **'नीलकमल की'** अपेक्षा **'कमल'** को अधिक 'समावेशी' इसलिए कहा जासकता है, क्योंकि वह सूचना के अधिक अंशों को तथा अर्थ के अधिक 'घटकों' को वहन करता है (तु०-२. ४. ३ एवं १०. ५. १)। यही बात **'कमल'** की अपेक्षा **'फूल'** के प्रयोग के विषय में है। 'समावेशन' के सम्बन्ध में दृष्टिकोण का अन्तर परम्परागत तर्कशास्त्र और अर्थविज्ञान के कुछ सिद्धान्तों में स्वीकृत किसी पद के **'वाच्यार्थ'** और **'अभिप्राय'** के अन्तर पर आधारित कहाजासकता है। शब्द का 'वाच्यार्थ' या 'बाह्यार्थ' उस द्रव्य-वर्ग को कहसकते हैं जिस पर वह संज्ञा लागूहोती है या जिसका वह निर्देश करती है; जबकि 'अभिप्राय' या 'इष्टार्थ' किसी भी ऐसे द्रव्य की विशेषताओं को सूचित करता है, जिसकेलिए वह शब्द प्रयोग होता है। 'वाच्यार्थ' और 'अभिप्राय' परस्पर विलोम रूप में परिवर्त्तित होते हैं : जिस शब्द का 'वाच्यार्थ' जितना ही विशाल होगा, उसका 'अभिप्राय' उतना ही कम होगा। इससे विपरीत होने पर स्थिति उलट जाती है। उदाहरणार्थ, 'फूल' का वाच्यार्थ 'गुलाब' या 'कमल' की अपेक्षा अधिक विशाल है, क्योंकि वह अधिक वस्तुओं का निर्देश करता है, इसके विपरीत **'कमल'** का 'अभिप्राय' 'फूल' की अपेक्षा कहीं विशाल है, क्योंकि इससे गृहीत पुष्प के विशिष्ट गुण सामान्य 'फूल' के गुणों से कहीं अधिक होते हैं। प्रसंग-वशात् यह भी कहदेना उचित होगा कि **कैरनैप** जैसे कुछ अर्थविदों ने 'वाच्यार्थ' और 'अभिप्राय' केबीच स्थित तर्कसंगत विभेद के आधार पर शब्द की 'भावना' और 'निर्देश' के बीच भी विभेद स्थापितकिया है। हमारा पक्ष यह रहा है कि इन दोनों के बीच विभेद पर्याप्त भिन्न स्तर का है (तु०-९. २. २ ; ९. ४. १ ; ९. ४. २)। इस भ्रम को 'न्यूनार्थता' जैसी सामान्य संज्ञा अपनाकर दूर किया जासकता है। अब हम कहसकते हैं कि **'गुलाबी'**, **'लोहित'**, आदि शब्द 'लाल' के ही **सम-न्यूनार्थक** हैं। यही बात **'गेंदा'**, **'गुलाब'**, **'कमल'**, आदि के और **'फूल'** के सम्बन्ध में कही जासकती है। वे **'फूल'** के सम-न्यूनार्थक हैं। इसके विपरीत हम यह कहसकते हैं कि **'लाल'** शब्द अपने सम-न्यूनार्थकों की दृष्टि से **'अधिकोटीय'** (या 'अधिकार्थक') है।

'न्यूनार्थता' की परिभाषा एकपक्षीय निहितार्थता की दृष्टि से की जासकती है। (उदाहरणार्थ, **'क का वर्ण गुलाबी है'** का अर्थ यह लिया जासकता है कि **'क का वर्ण लाल है'** ; किन्तु इससे विपरीत सर्वत्र नहीं कहा जासकता।) सामान्यतम निदर्शनों में, इस प्रकार के 'अधिकोटीय' शब्द से युक्त वाक्य से या तो यह अभिप्रेत होगा कि, (१) वाक्यों को ऐसे विखण्डित कियाजाए कि उनमें से प्रत्येक 'सम-न्यूनार्थकों' के किसी एक विन्यास के एक भिन्न सदस्य से युक्त हो, या फिर (२) एक ऐसा वाक्य, जिसमें सम-न्यूनार्थक अर्थात्मना 'समानाधिकृत' या 'समन्वित' हों। इन दोनों ही सम्भावनाओं को इस वाक्य के द्वारा चित्रित किया जासकता है : **'मैंने कुछ फूल खरीदे हैं'**। इस वाक्य में निम्न वाक्यों को विखण्डित रूप में अन्तर्गृहीत समझा जा सकता है : **'मैंने कुछ गुलाब खरीदे हैं'**, **'मैंने कुछ कमल खरीदे हैं'**, **'मैंने कुछ**

नरगिस खरीदे हैं', आदि। (यहां 'विखण्डन' का अर्थ है विकल्प-विन्यास मेंसे किसी एक का चुनाव : अर्थात् यदि '**क**' से '**प**', '**य**' और '**स**' का ग्रहण किया जासकता है, तब '**क**' का अर्थ है '**प**' या '**य**' या '**स**'।) इससे ऐसे वाक्य का भी ग्रहण किया जासकता है : '**मैंने कुछ गुलाब और कुछ कमल खरीदे हैं**', आदि। निस्सन्देह 'न्यूनार्थता' के सिद्धान्त के सर्वाधिक सुविधामय अभिलक्षणों मेंसे एक यह है कि यह हमें परिस्थिति के अनुसार अधिक 'सामान्य' या अधिक 'विशिष्ट' कथन में समर्थ करता है। यह कहना पर्याप्त अनुचित होगा कि '**कुछ फूल**' का प्रयोग अस्पष्ट या अपूर्ण है (क्योंकि इससे एक ओर '**कुछ गुलाब**' या '**कुछ कमल**' का ग्रहण होसकता है, तो दूसरी ओर '**कुछ कमल और कुछ गुलाब**' या '**एक गुलाब और कुछ कमल**' का भी ग्रहण होसकता है)।

१०. ३. २ 'सममित न्यूनार्थता' के रूप में 'समानार्थता'

यद्यपि कोई अधिकोटीय या अधिकार्थक संज्ञा सामान्यत: किसी न्यूनार्थक को अन्तर्हित नहीं करती, फिरभी बहुधा ऐसा होता है कि या तो अधिकोटीय शब्द का स्थितिजन्य सन्दर्भ या विन्यसात्मक संशोधन इसके न्यूनार्थकों मेंसे किसी एक की भावना में इसको निर्धारित करदेते हैं। सन्दर्भाश्रित समानार्थता का उद्गम-स्रोत भी यही है (तु०-१०. २. ७)। इससे समानार्थता की परिभाषा सममितीय समानार्थता के रूप में कियेजाने की सम्भावना भी ध्वनितहोती है : यदि 'क' 'ख' का न्यूनार्थक है, और 'ख' भी 'क' का न्यूनार्थक है (अर्थात् यदि सम्बन्ध **उभयात्मक** या **सममित** है), तब 'क' और 'ख' समानार्थक हैं। विन्यास-सिद्धान्त एवं वर्गगत तर्क के पारिभाषिक विभेद का आश्रय लेकर 'फूल' और 'गुलाब' में विद्यमान **एक-पक्षीय** या **असममित निहितार्थ** का निर्देश हम '**उचित न्यूनार्थता**' के रूप में कर सकते हैं। समस्त न्यूनार्थता इस अर्थ में 'संक्रमणशील है कि **जो सम्बन्ध 'क' और 'ख' के बीच है यदि वही सम्बन्ध 'ख' और 'ग' के बीच भी है, तब वह सम्बन्ध 'क' और 'ग' के बीच भी होगा**। अत: 'न्यूनार्थता' की एक विशेष स्थिति के रूप में '**समानार्थता**' की यह एक अतिरिक्त विशेषता है कि यह एक **सममितीय सम्बन्ध** है (अर्थात् यह 'क' **और** 'ख' के बीच भी स्थित है तथा 'ख' **और** 'क' के बीच भी है)। विशुद्ध रूपात्मक आधार पर हम इसे 'प्रतिवर्त्ती' के रूप में भी कह-सकते हैं : प्रत्येक शब्द उसी सन्दर्भ में स्वयं अपने ही स्थान पर प्रयुक्त होसकता है और अपने साथ ही समानार्थक भी होता है। (अत: समानार्थता को गणित की दृष्टि से '**सममूल्यता-सम्बन्ध**' (**समतुल्यता-सम्बन्ध**) के रूप में कहा जासकता है।)

१०. ३. ३ अधिकोटीय (अधिकार्थक) संज्ञाओं का अभाव

प्राकृतिक भाषाओं में पाएजाने वाले न्यूनार्थता-सम्बन्ध के विषय में महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि उन भाषाओं में यह न तो उतनी व्यापकता के साथ और न उतने प्रणालीबद्ध रूप में घटता पायाजाता है, जिस रूप में यह वनस्पतिविज्ञान,

प्राणिविज्ञान, आदि विविध वैज्ञानिक प्रणालियों में घटता पायाजाता है। प्राकृतिक भाषाओं की शब्दावलियाँ स्वयं में कई रिक्तताओं, असममितताओं, और अनिर्धार्यताओं से युक्त होती हैं। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी में कोई भी ऐसी अधिकोटीय संज्ञा नहीं है, जिसके न्यूनार्थक के रूप में सभी वर्ण-शब्दों को समाहित किया जासकता हो। [प्रायः तर्कशास्त्री लोग विश्लेषणिक निहितार्थ के उदाहरण के रूप में यह कहते हैं : '**इफ़ इट् इज़् रॅ ड्, दॅन् इट् इज़् कलर्ड**' (यदि यह लाल है, तब यह **रंगीन** भी है)। परन्तु अंग्रेज़ी में सामान्यतः यह निहितार्थ (रंगीन) सभी वर्ण-शब्दों पर लागू नहीं होता। कुछ सन्दर्भों में '**कलर्ड**' (रंगीन) विशेषण को '**व्हाइट्**' (श्वेत) के वैषम्य में प्रयोग कियाजाता है—यथा धुलाई के कपड़ों के वर्गीकरण या मानवों के जातीय-वर्गीकरण आदि के प्रसंग में। कुछ जगह इसे 'पारदर्शी' (ट्रांस्पेरॅण्ट) की तुलना में भी प्रयोग कियाजाता है : उदाहरणार्थ, '**देयर वाज़् सम् कलर्ड लिक्विड इन् द बौटल**' में यह शंका होसकती है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में 'कलर्ड' का प्रयोग '**श्वेत**' के वैषम्य में हुआ है या '**पारदर्शी**' के ?] इसीतरह, ऐसा कोई सामान्य विशेषण नहीं है, जिसके सम-न्यूनार्थक के रूप में '**वर्ग**' और '**वृत्त**' दोनों को स्वीकार किया जासके। दूसरी ओर, ऐसे अनेक शब्द हैं, जिन्हें सामान्यतः कोषीय शब्द मानाजाता है, और जिनका विनियोग इतना सामान्य है कि उन्हें अन्ततः विन्यासात्मक विश्लेषण में व्याकरणात्मक 'स्थानिकों' के रूप में माना जासकता है : उदाहरणार्थ, आना/जाना, व्यक्ति, वस्तु, घटना, आदि। इस विषय में वाक्य-रचना और अर्थविज्ञान में हम बहुत अधिक मात्रा में अनुकारिता पाते हैं (तु-९. ५. २)।

१०. ३. ४ शब्दावली की सोपानी संरचना

बहुत से अर्थविद् किसी भाषा की शब्दावली के वर्णन में उस **आनुवंशिक और वैज्ञानिक वर्गीकरण** को अपनाने की ओर आकृष्ट हुए हैं, जिसमें सामान्य से विशिष्टतर कोटियों को खोजने में उनका प्रयास रहा है। हमने रोजेट के 'थेसौरस' (कोष) की चर्चा पहलेकी है, जिसे इस दृष्टि से अंग्रेज़ी की शब्दावली को विश्लिष्ट करने का प्रसिद्धतम प्रयास कहा जासकता है। शब्दावली की इस **आनुवंशिक संरचना** के प्रश्न पर हम '**घटकीय विश्लेषण**' वाले खण्ड में फिर से विचारकरेंगे (तु०-१०. ५. १, और ४. ३. ३)।

न्यूनार्थकता-सम्बन्ध के माध्यम से शब्दावली के सोपानी गठन में सर्वाधिक प्रमुख हेतु है उस संस्कृति की संरचना, जिसमें उस भाषा का प्रयोग होता है और जिसमें वह सम्प्रेषण या व्यवहार के प्रधान माध्यम का काम करती है। यह कहना सत्य है कि कलानिर्मित वस्तुओं के निर्देशक शब्दों की परिभाषा उनके द्वारा निर्दिष्ट वस्तु के प्रयोजन या सामान्य कार्य को ध्यान में रखे बिना नहीं की जासकती : उदाहरणार्थ, **विद्यालय** (एक भवन जिसमें बालक पढ़ाएजाते हैं), **मकान** (वह भवन जिसमें लोग रहते हैं), आदि। पर यह बात सम्पूर्ण शब्दावली के विषय में सत्य है।

वह केवल 'मानवकेन्द्रिक' ही नहीं होती, बल्कि 'संस्कृति-बद्ध' भी होती है। जिसे हमने पहले 'अर्थात्मक असमाकृतिता' कहा है (तु०-२. २. १), उसके कुछ अंश का विवेचन इस तथ्य से होजाता है कि व्यक्तिगत रूप में भाषाएँ 'स्थूलत: समतुल्य' शब्दों के बाह्यार्थ में पर्याप्त भिन्न होती हैं। प्राय: यह सम्भव है कि किसी भाषा के एक शब्द के न्यूनार्थ दूसरी किसी भाषा के शब्दों से समरूप (विनियोग की दृष्टि से, तु०-९. ४. ८) मान लियेजाएं; भले ही उनके अधिकोटीय शब्द का समतुल्य खोज पाना शक्य न हो। इसके निदर्शन के रूप में हम ग्रीक के एक शब्द **दैमिओरगोस** (हिन्दी में 'शिल्पी') को लेंगे।

इसके न्यूनार्थक के रूप में हम अनेक संज्ञाएँ पासकते हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख हैं : **तेक्तोन्**, **इयात्रोस्**, **स्कुतोतोमोस्**, **कुबेर्नेतेस्**, इत्यादि। अंग्रेज़ी और हिन्दी में इनमें से क्रमश: प्रत्येक केलिए शब्द हैं : **कारपेण्टर=बढ़ई**, **डॉक्टर=वैद्य**, **फ़्ल्यूट्-प्लेयर=वंशीवादक**, **'शू-मेकर'=मोची**, **हेॅल्म्समैन्=शीर्षनियन्त्रक**, आदि। परन्तु अंग्रेज़ी में कोई ऐसा अधिकोटीय शब्द नहीं हैं, जो 'शिल्पी' के अर्थवाहक इन अनुवाद-समतुल्यों को तो ध्वनित करे, किन्तु उससे किसी अन्य उस अर्थ या नाम का न्यूनार्थक के रूप में ग्रहण न हो, जो इस ग्रीक शब्द के द्वारा गृहीत नहीं होता। वास्तव में इस ग्रीक शब्द के अर्थ की दृष्टि से **कला**, **शिल्प**, **व्यवसाय** और **वृत्ति** इत्यादि में विभेद महत्त्व नहीं रखता। ऐसा कोई भी व्यक्ति, जो संस्कृति द्वारा मान्य और विशिष्ट ज्ञान या प्रशिक्षण की आवश्यकता से युक्त किसी व्यापार को अपनाता हो, '**देमिओरगोस**' कहलाता है। इस शब्द का अर्थ केवल इसके न्यूनार्थकों की दृष्टि से अथवा दूसरे ग्रीक शब्दों केसाथ इसके भावना-सम्बन्धों की दृष्टि से, विशेषकर 'जानने' के अर्थवाली '**एपिस्तस्थै**' (सं०—**अधितस्थै**) के साथ, वर्णित किया जासकता है। वास्तव में इसके अनेक न्यूनार्थकों का अनुवाद आन्तरिक रूप से इस बात पर आश्रित रहता है कि हम किन श्रेणी के लोगों और उनकी वृत्तिपरक गतिविधियों को सांस्कृतिक दृष्टि से समतुल्य मानते हैं। हम ग्रीक शब्द '**इयात्रोस्**' और अंग्रेज़ी शब्द '**डॉक्टर**' के विनियोग को इसलिए एकरूप मानलेते हैं, क्योंकि हम इन शब्दों से संकेतित व्यक्तियों के सामाजिक या सांस्कृतिक कार्यों को समतुल्य मानने का निर्णय करते हैं। यह निर्णय इस बात को अन्तर्हित मानकर चलता है कि '**डॉक्टर**' और '**इयात्रोस्**' की बहुत-सी अभिलाक्षणिक गतिविधियां संस्कृति से आबद्ध हैं, तथा उनके सांस्कृतिक दृष्टि से 'अपरिवर्त्ती' कार्य से असम्बद्ध हैं। एक भाषा से दूसरी भाषा में किया जानेवाला कोई भी अनुवाद इसप्रकार के निर्णयों की अपेक्षा रखता है। प्रणालीविज्ञान का यह एक सुपुष्ट सिद्धान्त है कि अनुवाद में 'भावना' को 'अपरिवर्त्ती' नहीं मानाजाता (इसीलिए विविध भाषाओं के शब्दों के बीच **समानार्थता** नहीं मानी जासकती)। इसकी अपेक्षा शब्दों के विनियोग में कम या अधिक मात्रा में **समतुल्यता** अवश्य स्वीकार कीजाती है। वर्त्तमान काल में अर्थविज्ञान द्विभाषी वक्ता से केवल यही माँग करसकता है कि वह 'सांस्कृतिक अतिव्यापन' के क्षेत्र में सम-

तुल्यता सम्बन्धी अपने प्रातिभ निर्णय पर अधिक आश्रित रहे (तु०-६. ४. ७)।

१०. ३. ५ असात्म्यता

'असात्म्यता' की परिभाषा वाक्यों के बीच 'विरोधात्मकता' के आधार पर की जासकती है। यदि $व_1$ वाक्य व्यक्त या अव्यक्त रूप में दूसरे वाक्य $व_2$ का निषेध करता है, तब उन दोनों को **'विरोधी'** (या अन्योन्यविरुद्ध) कहाजाएगा (वे तब **'व्यक्त-विरोधी'** कहेजाएंगे, यदि प्रथम दूसरे का विरोध विन्यासात्मक रूप में करता है; अन्यथा उन्हें 'निहितार्थतः विरोधी' कहाजाएगा : तु०-१०. १. २)। एक ही आन्तरिक रचना होने पर भी यदि $व_1$ और $व_2$ निहितार्थतःविरोधी वाक्य हैं, और यदि उनका विरोध महज़ इस अर्थ में है कि जहाँ $व_1$ में 'क' का प्रयोग है, वहां $व_2$ में 'ख' का प्रयोग है, तब 'क' और 'ख' को परस्पर 'असात्म्य' कहाजाएगा।

एक सरल और परिचित उदाहरण हम हिन्दी के वर्णवाचक शब्दों से लेंगे। यदि कोई कहता है कि **'दारासिंह ने लाल पगड़ी पहन रखी है'**, तब यह मानाजाएगा कि निहित रूप में यह इस वाक्य का निषेधकरता है कि **'दारासिंह ने हरी (या नीली, सफेद, पीली, आदि) पगड़ी पहन रखी है।'** और 'लाल' के स्थान पर 'हरी', **'पीली'**, आदि मेंसे किसी को प्रयोग करने का अर्थ होगा **'दारासिंह ने लाल पगड़ी पहनी है'** वाक्य का निहितार्थतः निषेध। अतः वर्णशब्दों को 'असात्म्य कोष-शब्दों का एक विन्यास' कहा जासकता है।

यह बात पर्याप्त स्पष्ट है। अर्थविदों को जो बात प्रायः सुस्पष्ट नहीं रही वह यह कि लाल, हरा, आदि की असात्म्यता उनमें से प्रत्येक की स्वतन्त्र भावना का गौणतर परिणाम नहीं है; बल्कि वह तो उस विन्यास के प्रत्येक शब्द की भावना के सीखने और जानने में अनिवार्यतः समाविष्ट है। जैसा कि हम देख ही चुके हैं, एकसाथ लेने पर वर्णवाचक शब्द एक व्यापक निर्देशात्मक सान्तत्य को अन्तर्विष्ट करलेते हैं, जबकि 'नीला' आदि विशिष्ट शब्दों से उस 'सान्तत्य' में कहां सीमाएं खींचनी हैं, इस बात को सीखना इस ज्ञान पर आश्रित है कि 'नीला' आदि की सीमाओं के दोनों ओर 'अ-नील' (या 'न-नीला') आदि विद्यमान हैं (तु०-६. ४. ५)। सिद्धान्ततः यह सम्भाव्य है कि किसी एक वर्ण के निर्देश को उन शब्दों को बिना जाने ही सीख लियाजाए, जिनके द्वारा 'नीला' की सीमाओं से परे के सान्तत्य-क्षेत्रों का निर्देश होता है (अर्थात् व्यक्ततर रूप में 'नीला' के वैषम्य में 'अ-नीला' या 'नीला-नहीं' कोरखकर)। भाषा को ऐसे वातावरण में सीखेजाने की भी कल्पना की जासकती है, जिसमें उस सान्तत्य के सभी 'बिन्दुओं' पर स्थित वर्णों के निदर्शन उपलभ्य न हों। किन्तु यह माना जासकता है कि व्यवहार में सामान्यतम वर्णशब्दों के निर्देश और आशय को लगभग साथ-ही-साथ सीखाजाता है, यद्यपि उनकी सीमाओं में तबतक निरन्तर समन्वय होतारहता है, जबतक कि वे उस भाषा-जाति के मानों के निकटतम नहीं पहुँचजातीं। तब कहीं न्यूनार्थता के आधार पर उनमें और अधिक

विभेद करपाना सम्भव होता है : यथा, 'लाल' को तब 'गुलाबी', 'रक्त', आदि के रूप में पुनर्विभाजित किया जासकता है। परन्तु इसप्रकार का **पुनर्विभाजन** बहुत मात्रा तक वक्ता-वक्ता पर आश्रित रहता है। जिनकी जीविका या अभिरुचि वर्ण के विभेदों को अधिक मानने पर निर्भर होती है, वे वर्णशब्दों का अत्यधिक समृद्ध विकास करसकते हैं। किन्तु ऐसा करतेहुए उन्हें समस्त जाति द्वारा अपनाईगई सामान्यतर शब्दावली के 'स्थूलतर' विभेदों का ही आश्रय लेनापड़ता है।

१०. ३ ६ असात्म्यता और आशय की भिन्नता

आशय की सामान्य भिन्नता से असात्म्यता के विभेद को स्पष्ट जानना चाहिए। विशेषकर यह बात किसी अधिकोटीय संज्ञा के असात्म्य समन्यूनार्थकों के विषय में अधिक स्पष्ट होती है, जोकि स्वतः आशय की समता के किसी 'आयाम' में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी के '**क्रिमसन**' और '**सौफ़्ट**' शब्द आशय की दृष्टि से भिन्न हैं, किन्तु 'असात्म्य' नहीं हैं : दोनों ही विशेषण एक ही वस्तु के विषय में बिना किसी विरोध के प्रयोज्य हैं। दूसरी ओर '**क्रिमसन**' और '**स्कार्लेट**' आशय में समान हैं ('लाल' के समन्यूनार्थकों के रूप में), जबकि परस्पर असात्म्य हैं। इनसे 'उच्चस्तर' की असात्म्य संज्ञाएं '**लाल**', '**हरा**', '**नीला**', आदि भी आशय में समरूप हैं, यद्यपि उन्हें किसी भी अधिकोटीय संज्ञा का समन्यूनार्थक नहीं कहा जासकता।

अन्य निदर्शनों में **असात्म्यता और आशय की भिन्नता** के बीच विभेद और भी कम व्यक्त है; विशेषकर भौतिक वस्तुओं को सूचित करनेवाले शब्दों में (भले ही वे 'प्राकृतिक' हों या 'निर्मित')। '**मेज़**' और '**कुर्सी**' शब्द असात्म्य हैं, फिरभी हम उचित रूप में कहसकते हैं कि इनमेंसे एक का अर्थ दूसरे से स्वतन्त्र रूप में भी सीखा जासकता है। निस्सन्देह हम उस व्यक्ति के विषय में यह नहीं कहेंगे कि वह 'मेज़' का अर्थ जानता है, जो 'मेज़' का प्रयोग उसी वस्तु के निर्देश केलिए करता है, जिसे अन्य प्रयोक्ता '**कुर्सी**' कहते हैं। प्रश्न यह है कि किन्हीं दो असात्म्य शब्दों के बीच विभेद से पूर्व उनमें किसी प्रकार की '**समता का आयाम**' भी पहले से स्थित है या नहीं। यही प्रश्न '**खिड़की**' और '**द्वार**' के विषय में भी दोहराया जासकता है। '**मेज़**' और '**कुर्सी**' के विषय में 'अधिकोटीय' शब्द '**फ़र्नीचर**' या 'सज्जा-सामग्री' विद्यमान है; किन्तु '**द्वार**' और 'खिड़की' के एकसाथ वर्णन केलिए ऐसा कोई शब्द नहीं है। किन्तु, यहां अधिकोटीय शब्द का होना या न होना महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता। किन्तु, जब हम '**मेज़**' और '**गौ**', '**जूता**' और '**जहाज़**', आदि शब्दयुग्मों पर विचार करते हैं, जिनमें अर्थ की दृष्टि से उनके भौतिक द्रव्य होने के अतिरिक्त अन्य कोई समानता नहीं है, तब '**असात्म्यता**' और '**आशय की भिन्नता**' के बीच विभेद का कोई महत्त्व नहीं रहजाता। भाषा को सीखने और उसके प्रयोग में असात्म्यता की बात तो वहीं केन्द्रीय महत्त्व रखती है, जहां कोई शब्द-विन्यास किसी सान्तत्य का

संरचित करता हो। और यह सोचना भ्रमपूर्ण ही होगा कि असात्म्यता और सामान्य भिन्नता के बीच का विभेद व्यक्तियों, पशुओं या भौतिक द्रव्यों को सूचित करनेवाले कोषीय शब्दों के वर्गीकरणों पर नितान्त लागू नहीं होता। यह बात **वृक्ष, पौधा, झाड़ी, लता, क्षुप,** आदि शब्दों को देखकर ही ज्ञात होजाएगी कि यह विभेद इस क्षेत्र में भी महत्त्व रखता है।

असात्म्यता और न्यूनार्थता की धारणाओं के विषय में एक अन्तिम बात और कहनी है। हमने इस सिद्धान्त पर बार-बार बल दिया है कि एक ही अर्थात्मक विभेद रूपक्रमात्मक आधार पर भी स्थापित किया जासकता है और विन्यासक्रमात्मक आधार पर भी। एक अन्य उदाहरण के रूप में हम 'भाई' और 'बहिन' के वाचक हिन्दी-अंग्रेजी-संस्कृत-ग्रीक आदि शब्दों को लेसकते हैं, जिनमें रूपक्रमात्मक विभेद स्थापित है। इसकी तुलना में तुर्की में '**कार्देश**' शब्द 'लिंगभेद' की दृष्टि से 'अचिह्नित' है। यदि इसमें कोई लिंगभेद को स्पष्ट करना ही चाहे तबवह विन्यासात्मक ढंग से ऐसा करसकता है: 'कीज़्-कार्देश' ('लड़की-भाई' के रूप में)। उधर, ऐसी भाषाएं भी हैं, जिनमें '**ज्येष्ठ पुत्र**' और '**कनीयस् या कनिष्ठ पुत्र**' आदि के वाचक शब्दों में रूपात्मक विभेद विद्यमान है।

१०. ४ विरुद्धार्थता, पूरकता और प्रतिलोमिता

१०. ४. १ अर्थ की प्रतियोगिता

'विरुद्धार्थता' या 'अर्थ की प्रतियोगिता' को बहुत पूर्व से ही एक प्रमुखतम अर्थात्मक-सम्बन्ध के रूप में मानाजाता रहा है। किन्तु, इस विषय में भ्रम भी पर्याप्त रहा है: कुछ इस कारण कि इसे 'समानार्थता' का 'पूरक' मानागया और अंशत: इसलिए कि अधिकांश अर्थविद् 'प्रतियोगिता' के विविध प्रकारों पर पूरा ध्यान न देसके। हम देखेंगे कि 'समानार्थता' और 'विरुद्धार्थता' नितान्त भिन्न आशय-सम्बन्ध हैं। सरलता की दृष्टि से, हम 'प्रतियोगिता' के तीन प्रकारों के बीच पारिभाषिक संज्ञाओं के द्वारा विभेद करेंगे; और 'विरुद्धार्थता' को संज्ञारूप में हम उनमें से एक प्रकार केलिए ही रूढ़ मानेंगे। 'प्रतियोगियों' पर पूरीतरह विचार के समय हम यहां प्राप्य स्थान की अपेक्षा उनके बीच अधिक विभेद प्रदर्शित करसकेंगे।

१०. ४. २ पूरकता

'प्रतियोगिता' का प्रथम विवेच्य सम्बन्ध वह है, जो **अकेला : विवाहित** या **पुरुष : स्त्री** आदि शब्द-युग्मों के बीच स्थित होता है। हम इसे 'पूरकता' कहेंगे; क्यों कि इन शब्द-युग्मों से सूचित व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे के पूरक होते हैं। कोष-शब्दों के ऐसे युग्मों का विशिष्ट लक्षण यह है कि इनमेंसे एक के निषेध का अभिप्राय दूसरे की स्वीकृति होता है, तथा एक के कथन का अभिप्राय दूसरे का निषेध: $\sim$क्ष $\supset$ त्र

और **त्र ⊃ ∼क्ष**। इसप्रकार **'श्याम विवाहित नहीं है'** का अर्थ बैठता है **'श्याम अकेला है'**। जिन शब्दयुग्मों केलिए हमने **'विरुद्धार्थक'** संज्ञा को सुरक्षित रखा है (यथा, **भला : बुरा, ऊँच : नीच,** आदि), उनके विषय में केवल दूसरा अभिप्राय ही ठीक बैठता है : **त्र ⊃ ∼क्ष**। **'राम भला है'** का निहितार्थ अवश्य यह है कि इससे **'राम बुरा है'** का निषेध होता है; किन्तु **'राम बुरा नहीं है'** में यह निहित नहीं है कि **'राम भला है'**।

'पूरकता' को दो शब्द-विन्यासों के बीच स्थित असात्म्यता की एक विशिष्ट स्थिति कहसकते हैं। किसी असात्म्य शब्दविन्यास के एक अवयव के प्रयोग का अर्थ होता है, उसी विन्यास के अन्य अवयवों के प्रयोग का व्यक्तिशः निषेध (यथा, **'लाल'** कहने से **'∼नीला', '∼पीला',** आदि के रूप में निषेध निहित है); असात्म्य शब्द-विन्यास के एक अवयव के निषेध का अर्थ है, अन्य सभी अवयवों के विखण्डन पर बल (**'∼लाल'** में या **'हरा'** या **'नीला'** आदि की स्वीकृति भी निहित है)। असात्म्य शब्दों के किसी द्विपद विन्यास में प्रयुक्त पद के अतिरिक्त केवल एक ही पद शेषरहता है। अतः ऐसे अवसर पर समुच्चय और विखण्डन एकसाथ ही प्रयोज्य होसकते हैं : यदि **'त्र'** और **'ज्ञ'** का एक ही मूल्य है, तब **'त्र और ज्ञ दोनों'** अथवा **'त्र या ज्ञ में से कोई'** का अर्थ एक ही है। इस तथ्य से ही उपरिवर्णित पूरकता की विशिष्ट शर्तें जन्म लेती हैं। किन्तु यह मानबैठना भी भ्रमात्मक होगा कि पूरकता उस दशा में असात्म्यता का ही एक परिसीमक निदर्शन होती है, जिसमें उसके वाचक शब्दों का विन्यास घटकर संयोगवश ही **दो** तक शेष रहजाता है। भाषा के अर्थात्मक ढाँचे में **'द्विभाजन'** (द्विधाविभाजन) को एक बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त कहाजासकता है। हम इसी बात को आगे लेंगे।

अबतक जो कुछ भी कहागया है, चाहे वह **पूरकता** के विषय में हो या इस के निर्धारक कोषशब्दों के बीच स्थित निहितार्थों के विषय में, उसमें पूरक शब्दों की विनियोज्यता को पहले से ही मानलिया गया है। **'विवाहित'** और **'अकेला'** जैसे द्विभाजित शब्दों का प्रयोग **'विवाहयोग्यता'** के सांस्कृतिक रूप में स्वीकार्य किन्हीं भी निकषों को पहले से ही मानकर चलता है। अर्थ की दृष्टि से **'राम विवाहित नहीं है', 'पाषाण विवाहित नहीं है'** की अपेक्षा, कम अनियमित या विसंगत नहीं कहा जा सकता, यदि 'राम' द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति वास्तव में ही (आयु या अन्य किसी आधार पर) 'विवाहयोग्य' नहीं है।

पूरक शब्दों के विषय में एक और बात भी अवधेय है। यद्यपि सामान्यतः यही होता है कि उनमें से एक का निषेध दूसरे की स्वीकृति को, या एक की स्वीकृति दूसरे के निषेध को, निहित मानकर चलती है, किन्तु यह भी साधारणतः सम्भव है कि ये एक या दोनों ही निहितार्थ निरस्त होजाएँ। परन्तु केवल इसी तथ्य के आधार पर पूरक शब्दों के सामान्य प्रयोग को अनुचित या असिद्ध नहीं कहदेना चाहिए। यदि यहां निदर्शन केलिए हम **'पुरुष'** और **'स्त्री'** पूरक शब्दों को लें, तब

'सामान्यता' की यह बात अधिक स्पष्ट होसकेगी। लिंग-विभेद की विनियोज्यता को स्वीकार करने के बाद 'स्त्री' और 'पुरुष' के बीच प्रथम कोटि का सामान्य द्विभाजन माना जासकता है और यह द्विभाजन इस बात को प्रतिबिम्बित करता है कि एक ही व्यक्ति या पशु में कई विभिन्न जीववैज्ञानिक या व्यवहारपरक विशेषताएँ सामान्यतः सम्बद्ध रहसकती हैं। ऐसे भी अनेक निदर्शन हैं, जिनमें यह द्विभाजन जीवविज्ञान या व्यवहार की दृष्टि से असन्तोषजनक ठहरता है, और तब 'उभयलिंगी' या 'समलिंगी' शब्दोंके द्वारा इन 'असामान्यताओं' का विवरण दियाजाता है। भाषा के दैनिक प्रयोग की शब्दावली में विद्यमान अधिकांश पूरक शब्द ठीक इसी रूप में संगत प्राक्कल्पनाओं, विश्वासों और प्रचलनों के उस ढाँचे के भीतर ही कार्य करते पाए जाएँगे, जिसे हम 'प्रतिबद्ध सन्दर्भ' की धारणा के अन्तर्हित ही मानते हैं (तु०-९. ३. ९)। जैसा कि 'संश्लेषक और विश्लेषक' के बीच दार्शनिक विभेद पर लिखेगए अपने प्रबन्ध में मोरावशिक ने संकेतदिया है, कि ऐसी परिस्थिति की कल्पना कठिन नहीं है, जिसमें कोई एक ही व्यक्ति के विषय में यह कहना चाहे कि वह 'ब्रह्मचारी' भी है और 'विवाहित' भी, अथवा न वह विवाहित है और न ही अकेला (छड़ा)! यह स्थिति तब उत्पन्न होसकती है, यदि व्यक्ति सामाजिक रीति या विधि से विवाहित न हो, किन्तु उसका रहन और व्यवहार उसीप्रकार का हो जोकि सामान्यतः 'विवाहित' लोगों की ही विशेषता मानाजाता है (अर्थात्, नियमित रूप से एक ही स्त्री के साथ रहना, उससे ही बच्चे प्रजनित करना और घर बसाना, आदि)। प्रथम स्तर के द्विभाजित श्रेणीकरण के कुछ निहितार्थों को 'निरस्त' किया जासकता है, इस तथ्य का यही अर्थ है कि ऐसे निदर्शनों में निहितार्थों को 'सामान्यतः' ही 'विश्लेषक' माना जासकता है, 'निरपेक्षतः' नहीं! परन्तु यह सिद्धान्त तो साधारण रूप में सभी भावना-सम्बन्धों पर भी लागूहोता है।

केवल उन स्थितियों की ही कल्पना सम्भव नहीं है जिनमें एक शब्द की स्थापनामात्र से ही उसके पूरक शब्द का निषेध अनिवार्यतः विहित नहीं होजाता; बल्कि किसी पूरक शब्द को 'असामान्य रूप में' 'कम' या 'अधिक' शब्दों के द्वारा विशेषित करना भी सम्भाव्य है। निदर्शनार्थ, कोई कहसकता है कि 'वह किसी अन्य की अपेक्षा अधिक विवाहित है' (इसका निहितार्थ यह कि उसका व्यवहार सामान्यतः विवाहित व्यक्ति की अपेक्षा अधिक विशिष्ट है)। यद्यपि यह असाधारण है, परन्तु यह एक ऐसी सम्भावना है, जिसकेलिए अर्थात्मक सिद्धान्त में अनुमति रहनीचाहिए। इसमें अन्तर्हित बात यह है कि विचाराधीन शब्द की 'सामान्य' व्याख्या की निर्धारक प्राक्कल्पनाओं में से एक या अधिक को विशेषित कियाजाता है। किन्तु, अपने 'सामान्य' प्रयोग में पूरक शब्द इस रूप में विशेषित या वर्गीकृत नहीं किये जासकते।

१०. ४. ३ विरुद्धार्थता

'प्रतियोगिता' के अन्य प्रकारों से पृथक् जिस सम्बन्ध को हम 'विरुद्धार्थता'

नाम देरहे हैं, उसे **'विशाल'** और **'लघु'** संज्ञाओं के द्वारा उदाहृत किया जासकता है। इस श्रेणी के विरुद्धार्थकों को **'अनुपम प्रतियोगी'** कहा जासकता है। उनकी यह विशेषता है कि वे नियमित रूप में कोटिबद्ध किये जासकते हैं। यह 'कोटिबन्धन' (सैपिर के अनुसार) तुलना-प्रक्रिया के साथ आबद्ध है। **'तुलना'** व्यक्त भी होसकती है और अव्यक्त भी। **व्यक्त तुलना** वाले वाक्य दो प्रकार के होसकते हैं : (१) किन्हीं दो वस्तुओं की तुलना किसी 'गुण' या 'सामान्य धर्म' की दृष्टि से होसकती है और वह गुण एक द्रव्य में दूसरे की अपेक्षा अधिक मात्रा में रहसकता है : **'हमारा घर तुम्हारे घर से बड़ा है'**; (२) एक ही वस्तु की दो दशाओं की तुलना किसी 'विशेषता' की दृष्टि से की जासकती है : **'हमारा घर अब पहले से बड़ा होगया है'**। सन्दर्भ से पृथक् करने पर वास्तविक उक्तियां तुलनात्मक उक्तियों के इन दोनों भेदों की दृष्टि से **'अस्पष्ट'** कही जासकती हैं : उदाहरणार्थ, **'हमारा घर बड़ा है'**, जिसे 'से' के तुलनात्मक प्रयोग से युक्त वाक्यान्तर को निकालने के बाद उक्त दोनों वाक्यों में किसी से भी व्युत्पन्न माना जासकता है। इस पर भी वे दोनों व्यक्त रूप से तुलनात्मक हैं, और उनकी व्याख्या केवल तभी होसकती है, यदि तुलनागत दूसरे शब्द को सन्दर्भ मेंसे उपलब्ध किया जासके।

व्यक्त तुलना के ये दोनों प्रकार एक ही वाक्य में भी संहत होसकते हैं : यथा **'हमारा घर उससे बड़ा है, जितना तुम्हारा होता था'**, **'वह उससे अधिक ऊँचा है, जितने उसके पिता होते थे'**। किन्तु इन जटिलतर तुलनात्मक वाक्यों की अर्थात्मक व्याख्या किन्हीं नई समस्याओं को साथ नहीं लाती। तथ्यत:, व्यक्त तुलना के उक्त दोनों सरलतर प्रकारों मेंसे प्रत्येक को ऐसे सामान्यतर सूत्र के अधीन अवकल्पित किया जासकता है, जो जटिलतर वाक्यों पर भी लागू होसकता है :

$$\text{जटि}\{([\text{नासं}_1, \text{क्ष}]\ \text{का}_{\text{क}} + \text{भा}_{\text{ग}} + \text{प}_{\text{च}})\ ([\text{नासं}_2, \text{क्ष}]\ \text{का}_{\text{ख}} + \text{भा}_{\text{घ}} + \text{प}_{\text{छ}})\}$$

इस सूत्र में **'नासं'** 'नामसंघ' केलिए, **'क्ष'** विशिष्ट वर्गीकृत कोष-शब्द केलिए ('तर', **'अधिक'**, आदि से सूचित), **'का'** का 'काल या लकार' केलिए, **'भा'** का भावदशा केलिए, और **'प'** का 'पक्ष' केलिए प्रयोग कियागया है। पादाक्षर उन विविध मूल्यों को सूचितकरते हैं, जो कि नामसंघ के द्वारा, अथवा काल, भावदशा और पक्ष के 'चिह्नकों' के द्वारा, अपनाएजाते हैं। इस सूत्र की दृष्टि से अंग्रेज़ी के इस वाक्य को निम्न रूप में विश्लिष्ट किया जासकता है : **'आॅवर हाउस इज़ बिगर दैन योर्स यूज़्ड टुबी'** :

$$\text{जटि}\ \{([\text{आॅवर हाउस, बिग}]\ \text{का}_{\text{अ-भूत}} + \text{भा}_{\phi} + \text{प}_{\phi})$$
$$([\text{योर हाउस, बिग}]\ \text{का}_{\text{भूत}} + \text{भा}_{\phi} + \text{प}_{\text{ स्वभावात्मक}})\}$$

[इसकी तुलना में उक्त हिन्दी के जटिल वाक्य का विश्लेषण इसप्रकार होगा : $\text{जटि}\ \{([\text{हमारा घर, बड़ा}]\ \text{का}_{\text{अ-भूत}} + \text{भा}_{\phi} + \text{प}_{\phi})\ ([\text{तुम्हारा घर, बड़ा}]\ \text{का}_{\text{भूत}} + \text{भा}_{\phi} + \text{प}_{\text{ स्वभावात्मक}})\}$ इस दृष्टि से दोनों समान हैं।]

यह विश्लेषण विनिश्चायक न होकर उन परिवर्त्ती घटकों का प्रदर्शक मात्र है, जो कि इसमें समाहित हैं। जैसा कि हम पहले ही देखचुके हैं, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं

में काल, भावदशा और पक्ष का विश्लेषण उलझा हुआ है (तु०-७. ५. ८)। अभिव्यक्ति की सरलता केलिए हमने काल, भाव और पक्ष को उक्त सूत्र में स्वतन्त्र परिवर्त्ती के रूप में दिखाया है : वाक्यरचना की दृष्टि से यह बात पर्याप्त असन्तोषजनक है, किन्तु इससे यहाँ कही जानेवाली बात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पादांक 'ϕ' (शून्य) किसी कोटि के 'अचिह्नित' अवयव को प्रदर्शित करता है; शेष पादाक्षर स्वतः स्पष्ट हैं। इनके अनुकारी तुलनाहीन वाक्य हैं : **'हमारा घर बड़ा है'** (भाव और पक्ष की दृष्टि से अचिह्नित एवं अ-भूत) और **'तुम्हारा घर बड़ा होता था'** (भाव में अचिह्नित, पक्ष में स्वभावात्मक, और काल में भूत)। **'हमारा घर उससे बड़ा है, जितना तुम्हारा होता था'** का अर्थात्मक विश्लेषण **'हमारा घर बड़ा है'** और **'तुम्हारा घर बड़ा है'** जैसे अन्तर्विष्ट वाक्यों के पूर्वतर अर्थात्मक विश्लेषण से क्यों नहीं आरम्भ होता, इसके कारण की चर्चा हम अभी करेंगे।

हमारे आदर्श वाक्य **'हमारा घर उससे बड़ा है, जितना तुम्हारा होता था'** में दोनों नामसंघ भिन्न हैं (नासं$_1$ नासं$_2$ के तुल्य नहीं है), तथा यही बात **'का'** और **'प'** के बारे में हैं (**का$_\text{क}$≠का$_\text{ख}$** और **प$_\text{च}$≠प$_\text{छ}$**)। व्यक्त तुलना के दो सरलतर प्रकार इस सूत्र से ही व्युत्पन्न किए जासकते हैं, यदि **नासं$_1$** और **नासं$_2$** अथवा **क** और **ख**, **ग** और **घ** एवं **च** और **छ**, के बीच एकरूपता की शर्त्त लगादीजाए। 'हमारा घर तुम्हारे घर से बड़ा है' में दूसरी शर्त्त घटती है, पहली नहीं (**क=ख, ग=घ, च=छ,** किन्तु **नासं$_1$≠नासं$_2$**)। **'हमारा घर उससे बड़ा है, जितना यह होता था'** में स्थिति विपरीत है (**नासं$_1$=नासं$_2$**, किन्तु **च≠छ**)। यदि कहीं दोनों एकरूपताएँ युगपत् ही उपस्थित हों, तब परिणामतः विरोध से युक्त एक वाक्य प्राप्त होगा : **'हमारा घर उससे बड़ा है, जितना यह है'**।

इस औपचारिक ढाँचे के रहते हम विरुद्धार्थतासम्बन्ध का सर्वप्रमुख विनिश्चायक लक्षण बतासकते हैं। यदि **'क्ष'** और **'त्र'** विरुद्धार्थक हैं, तब यहां दिया प्रथम वाक्य, जिसमें कि **'क्ष'** विद्यमान है, **'त्र'** वाले द्वितीय वाक्य को अपने में निहित करता भी कहा जासकता है, और उसमें निहित होता भी कहा जासकता है :

(१) जटि {([नासं$_1$, क्ष] का$_\text{क}$+भा$_\text{ग}$+प$_\text{च}$) ([नासं$_2$,क्ष] का$_\text{ख}$+भा$_\text{घ}$+प$_\text{छ}$)}
(२) जटि {[नासं$_2$, त्र] का$_\text{ख}$+भा$_\text{घ}$+प$_\text{छ}$) ([नासं$_1$, य] का$_\text{क}$+भा$_\text{ग}$+प$_\text{च}$)}

उदाहरण इस रूप में देखे जासकते हैं : **'हमारा घर उससे बड़ा है, जितना तुम्हारा होता था'** यह वाक्य **'तुम्हारा घर इससे छोटा होता था, जितना कि हमारा है'** में निहित भी है और इसे निहित भी करता है; यही बात **'हमारा घर तुम्हारे (घर) से बड़ा है'** और **'तुम्हारा घर हमारे (घर) से छोटा है'** के बीच भी है; तथा यही बात **'हमारा घर उससे बड़ा है, जितना यह होता था'** और **'हमारा घर इससे छोटा होता था, जितना कि यह (अब) है'** के विषय में भी है। अतः **'छोटा'** और **'बड़ा'** शब्दों को इन वाक्यों द्वारा प्रदर्शित सन्दर्भ में 'विरुद्धार्थक' कहा जासकता है।

१०. ४. ४ 'निहितार्थतः कोटिबद्ध' विरुद्धार्थक

अब हम उन वाक्यों पर विचार करसकते हैं, जिनमें विरुद्धार्थक व्यक्ततः कोटिबद्ध नहीं होते। आपाततः यह देखा जासकता है कि एक के स्थापन में दूसरे का निषेध निहित नहीं होता। **'हमारा घर बड़ा नहीं है'** से यह नहीं पता चलता कि **'वह छोटा है'** (यद्यपि इसमें यह अवश्य निहित है कि 'वह छोटा नहीं है')। तर्कवादियों केलिए यह तथ्य सुविदित है; और यही विरुद्धार्थकों को पूरकों से भिन्न भी सिद्ध करता है। किन्तु इससे भी प्रमुख तथ्य यह है कि विरुद्धार्थकों से युक्त वाक्य, चाहे व्यक्ततः न सही, आन्तरिक रूप से अवश्य ही तुलनात्मक होते हैं। यह बात **सैपिर** ने वर्षों पहले निम्न शब्दों में कही थी :

'लघु-विशाल, थोड़ा-बहुत, कुछ-अधिक (अनेक), आदि द्वारा ज्ञात वैषम्य, **'हरा-लाल'** जैसे वर्णोपलब्धि के गुणात्मक अन्तरों की तुलना में, परिणाम के क्षेत्र में निरपेक्ष मूल्यों का एक भ्रमात्मक आभास देता है। किन्तु यह आभास एक भ्रम-मात्र है, जो इस भाषावैज्ञानिक तथ्य से उद्भूत होता है कि इन संज्ञाओं में अन्तर्हित कोटिबन्धन रूपात्मक दृष्टि से सूचित नहीं कियाजाता, जबकि ऐसी निर्णयोक्तियों में यह व्यक्त रहता है : **'उसके पास मेरी अपेक्षा अधिक दूध है'** या **'यहां की अपेक्षा वहाँ कम लोग थे'**। दूसरे शब्दों में, **'लाल'** और **'हरा'** शब्द जिसप्रकार वर्ण की एक निश्चित अनुभूति केलिए विनियोज्य हैं, **'अनेक'** शब्द उसीप्रकार परिणाम की हर प्रकार की एक निश्चित अनुभूति पर आश्रित किसी विशिष्ट निर्णीत श्रेणी को सूचित नहीं करता। बल्कि उचित रूप में कहना हो तो इसे एक विशुद्ध **सापेक्ष संज्ञा** कहा जासकता है, जिसका महत्त्व **'–से कम'** या '–से अधिक' की ध्वनि को हटाते ही क्षीण होजाता है। **'कई'** शब्द का अभिप्राय किसी भी उस संख्या से है, जिसे **'अवधि'** माना जासकता है। (भारतीय दृष्टि से यह 'अवधि' **अपाय** का कारण मानीगई है, जो भाषा-प्रयोग में **'पंचमी'** विभक्ति के रूप में व्यक्तहोता है। —अनु०) यह अवधि-बिन्दु सन्दर्भ के अनुसार स्पष्ट ही बहुत अधिक परिवर्त्तित होतारहता है।' आगे चलकर उसी निबन्ध में सैपिर कहते हैं : 'तुलनात्मक गुणों को भी अपेक्षाकृत रूप में निरपेक्ष प्रकृति का मान लियाजाता है। निदर्शनार्थ, 'भला और बुरा', तथा 'दूर और पास' भी, 'हरा' और 'पीला' के समान ही स्पष्टतः एक मनोवैज्ञानिक विशिष्टता से युक्त हैं। इसीलिए उनके बीच की तर्कात्मक सीमा को सही सीमा अनुभव नहीं किया जाता, बल्कि उसे एक ऐसे व्यामिश्र क्षेत्र के रूप में स्वीकार कियाजाता है, जहां विरुद्ध दिशाओं में वर्गीकृत गुण परस्पर मिलते हैं। किसी अनजान केलिए हर व्यक्ति ही **भला अथवा बुरा** होता है। यदि उसे सरलता से ही किसी एक कोटि में नहीं रखा जासकता, तब उसे **'अंशतः भला'** और **'अंशतः बुरा'** मान लियाजाता है; मानवीय रूप में **सामान्य** अथवा **'न भला न बुरा'** के रूप में नहीं।"

विरुद्धार्थकों की प्रकृति के विषय में इस अन्तर्दृष्टि के महत्त्व को कम नहीं आंकना चाहिए। इस तथ्य को अनुभव न करपाने के कारण ही दर्शन और मनो-

विज्ञान के क्षेत्र में अनेक ऐसी असत्य समस्याएँ उठगई हैं : यथा '**बड़ा**' और '**छोटा**' अथवा '**भला**' और '**बुरा**' जैसे शब्द किन्हीं स्वतन्त्र 'विरोधी' गुणों का निर्देश नहीं करते, बल्कि वे किसी अन्तर्हित आदर्श की अपेक्षा 'कम' या 'अधिक' के रूप में कोटि-बन्धन करने की कोषीय युक्तियाँ मात्र हैं। निदर्शनार्थ, **प्लेटो** के सामने इस तथ्य के कारण उलझन आई कि जब हम एक ही व्यक्ति -'क्ष'- की दो व्यक्तियों से तुलना करते हुए उसे '**ञ से बड़ा**' और '**ज्ञ से छोटा**' बताते हैं, तब कदाचित् हम उसे ही '**छोटा**' और '**बड़ा**' साथ-साथ बतारहे होते हैं। ठीक इसीप्रकार का एक समस्याभास ऐसे वाक्य से भी उपस्थित होता है : '**एक छोटा हाथी भी एक बड़ा पशु होता है**'। यदि '**छोटा**' और '**बड़ा**' शब्दों को महज़ असात्म्य या पूरक शब्दों के रूप में मानाजाए, तो यह वाक्य विरोधपूर्ण होनाचाहिए (तु०-'**नर हाथी मादा पशु होता है**')। किंतु ऐसा है नहीं। तब भी हम अर्थात्मक व्याख्या के नियमों या सिद्धान्तों को निरूपित करना निश्चित करते हैं। और, नियमों से क्या निरूपित करना है, यह बात पर्याप्त स्पष्ट है। हाथियों के बारे में '**आकार-मर्यादा**' अनिवार्यतः वही नहीं होती, जो सारी पशु-श्रेणी केलिए, उसे समग्र रूप में लेने पर, सामान्यतः मानीजाती है। अतः '**एक छोटा हाथी भी एक बड़ा पशु होता है**' वाक्य की अर्थात्मक व्याख्या कुछ इस प्रकार होगी : '**कोई हाथी, जोकि हाथियों की मर्यादा की दृष्टि से** '**बड़े की अपेक्षा छोटा**' **है, सामान्य पशुओं की मर्यादा की दृष्टि से** '**छोटे की अपेक्षा बड़ा**' **होता है**'।

क्योंकि व्यक्त रूप में अकोटिबद्ध विरुद्धार्थकों को आन्तरिक रूप से किसी सम्बद्ध मर्यादा की अपेक्षा कोटिबद्ध मानाजाता है, इस कारण '**हमारा घर तुम्हारे (घर) से बड़ा है**' या '**हमारा घर उससे बड़ा है, जितना तुम्हारा होता था**' जैसे तुलनात्मक वाक्य को अर्थात्मक दृष्टि से, '**हमारा घर बड़ा है**' और '**तुम्हारा घर बड़ा है**' जैसे रचनात्मना निहित वाक्यों के विश्लेषण के आधार पर, सन्तोषजनक रूप में विश्लेषित नहीं किया जासकता। '**हमारा घर बड़ा है**' जैसा वाक्य भी अर्थात्मना तुलनात्मक ही है : '**हमारा घर सामान्य घर से बड़ा है**'।

विरुद्धार्थकों का निहित कोटिबन्धन इस तथ्य का भी हेतु-विवेचन करदेता है कि '**अचिह्नित**' **प्रश्नों में** किसी विशिष्ट युग्म के दोनों सदस्यों के बीच कोई वैषम्य नहीं होता (तथा अन्य भी कई रचनात्मक कार्यों में)। निदर्शनार्थ, '**यह कितना बड़ा है ?**' यह वाक्य इस बात की कल्पना पहले से करके नहीं चलता कि जिज्ञासाधीन वस्तु '**छोटी**' की अपेक्षा '**बड़ी**' के रूप में कोटिबद्ध कीजाएगी : बल्कि जिज्ञासु की आशा के अनुकूल यह पूर्णतः '**मुक्त**' या '**अचिह्नित**' वाक्य है। इसे '**यह बड़ा है या छोटा**' जैसे प्रश्न के समतुल्य माना जासकता है। यह प्रश्न विमर्श में एक ऐसे माप को सामने लेआता है, जिसे विमर्शरत लोग सम्बद्ध मानते हैं। मानो यह कहता है कि 'इस माप (पैमाने) के आधार पर अमुक वस्तु को मापाजाए।' प्रथम स्तर का मापना '**छोटे की अपेक्षा बड़ा**' या '**बड़े की अपेक्षा छोटा**' के रूप में द्विभाजन की दृष्टि से होता है (और यह किसी मर्यादा की तुलना में होता है)। यदि '**छोटे**' या

'बड़े' के रूप में प्रथम स्तर का वर्णन प्रयोजन के अनुकूल पर्याप्त सूक्ष्म न हो, तब इससे बढ़कर **'यह कितना बड़ा/छोटा है ?'**—जैसे काकु द्वारा 'अंकित' प्रश्न पूछे जा सकते हैं (जोकि ध्वनिहीन अनंकित प्रश्न—'यह कितना बड़ा है ?'—की अपेक्षा **'कितना'** पर दियेजानेवाले उस **'बल'** की दृष्टि से भिन्न है, जो 'अंकित' प्रश्नों में अनिवार्य होता है)। **'यह कितना बड़ा है'** या **'यह कितना छोटा है ?'** जैसे 'बल' द्वारा 'अंकित' प्रश्न इस पूर्वमान्यता को लेकर चलते हैं कि मानो विचाराधीन वस्तु को पहले से ही माप के एक सिरे की अपेक्षा दूसरे सिरे पर रखदिया गया हो, और उससे बढ़कर उस वस्तु के 'आकार-मर्यादा' से स्थान-विशेष के बारे में पूछा जारहा हो।

विरुद्धार्थकों के बीच विरोध केवल पूर्वप्रदर्शित 'अनंकित' प्रश्नों में ही 'निष्प्रभावित' नहीं होजाता, बल्कि वह विविध 'नामिकीकरणों' में भी निष्प्रभावित होजाता है: **'नदी की चौड़ाई कितनी है'** या **'सब कुछ ऊँचाई पर निर्भर करता है'**, आदि। ऐसे सन्दर्भों में 'संकुचितता' या 'नीचाई' जैसे नाम प्रयुक्त नहीं होते। सामान्यतः, विरुद्धार्थ-युग्म मेंसे केवल एक ही शब्द—**बड़ा, ऊँचा, चौड़ा, भला, लम्बा,** आदि—'अचिह्नित' सन्दर्भों में उपस्थित होता है। यह अवधेय है कि इन 'अचिह्नित' रूपों मेंसे बहुतों के 'नामवत्' प्रयोग अंग्रेजी, हिन्दी आदि में अनियमित होते हैं: तु०-(अं०) **बिग् : साईज़, वाइड : विड्थ, हाई : हाईट्,** आदि; (हि०) **चौड़ा : चौड़ाई, बड़ा : बड़ापन/बड़ाई,** आदि। इसके विपरीत कम प्रचलित 'चिह्नित' रूप अधिक नियमित होते हैं; तु०-(हि०) **लघु : लघुता, उच्च : उच्चता, स्थूल : स्थूलता, निम्न : निम्नता,** (अं०) **नैरो : नैरोनेॅस्, स्मॉल् : स्मॉल्नेॅस्, लो : लोनेॅस्,** आदि। कुछ रचनात्मक स्थितियों में विरुद्धार्थकों के विभेद बीच निष्प्रभावित होजाता है। यह तथ्य निस्सन्देह हमारी इस भावना को सम्पुष्टकरता है कि विरुद्धार्थकों मेंसे एक 'धनात्मक' तथा दूसरा 'ऋणात्मक' ध्रुवता को लिये रहता है। प्रायः हम यह कहते हैं कि **'छोटी चीजें 'आकार में क्षीण'** होती हैं', न कि यह कि 'बड़ी चीजें 'छोटेपन से हीन' होती हैं'। और साधारणतः 'अचिह्नित' विरुद्धार्थक का प्रयोग **'-की अपेक्षा कम'** के स्थान पर **'-की अपेक्षा अधिक'** की मर्यादा में अधिक होता है।

१०. ४. ५ प्रतिलोमिता

बहुधा एक तीसरा-भावना सम्बन्ध भी 'विरोधिता' की दृष्टिसे वर्णित कियाजाता है: यथा—**'क्रय-विक्रय'** और **'पति-पत्नी'** के बीच। इस सम्बन्ध को प्रदर्शित करने केलिए हम **'प्रतिलोमिता'** संज्ञा का प्रयोग करेंगे। **'क्रय'** शब्द **'विक्रय'** का प्रतिलोम है, एवं **'विक्रय'** शब्द **'क्रय'** का।

यद्यपि प्रतिलोमिता और विरुद्धार्थता के बीच विभेद वांछनीय है, फिर भी इन दोनों सम्बन्धों के बीच समान्तरता विद्यमान है। जिसतरह **'नासं$_1$ ने नासं$_2$** से **नासं$_3$ खरीदी'** वाक्य **'नासं$_2$ ने नासं$_1$ को नासं$_3$ बेची'** वाक्य को अपने में निहित भी करता

और स्वत: उसमें निहित भी है, उसी तरह 'नासं$_1$ नासं$_2$ की अपेक्षा बड़ा है' वाक्य में 'नासं$_2$ नासं$_1$ की अपेक्षा छोटा है' वाक्य अन्तर्हित भी है और उसे स्वयं में अन्तर्हित भी करता है। दोनों ही निदर्शनों में संवादी विरुद्धार्थक या प्रतिलोम शब्द का स्थानापादन एक ऐसे रचनान्तरण से अनुगत होता है, जिसमें नासं$_1$ और नासं$_2$ का व्यत्यय होने के अतिरिक्त कर्मप्रवचनीय के चुनाव या कुछ भाषाओं में विभक्ति-व्यत्यय आदि के रूप में कुछ अन्य भी स्वाभाविक परिवर्त्तन होते हैं। यह अवधेय है कि इसप्रकार का संवादी कर्त्तृवाच्य और कर्मवाच्य वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध का भी अभिलक्षण होता है। 'नासं$_1$ ने नासं$_2$ को मारा' में 'नासं$_1$ नासं$_2$ के द्वारा मारागया' निहित भी है और उसे स्वयं में निहित भी करता है। अंग्रेज़ी में ऐसे कर्मवाच्यात्मक वाक्य बनाने सम्भव हैं, जिनमें 'प्रत्यक्ष' कर्त्ता संवादी कर्त्तृवाच्यों के 'अप्रत्यक्ष कर्म (सम्प्रदान)' के समरूप होता है। 'जोन्'स फ़ादर गेव हिम् ए बुक्' का अर्थात्मक दृष्टि से इन दोनों ही वाक्यों से सम्बन्ध है: (१) 'जोन वाज़् गिवन् ए बुक बाई हिज़ फ़ादर', और (२) 'जोन रिसीव्ड ए बुक फ्रॉम् हिज् फ़ादर'। फ्रेंच, जर्मन, रूसी, लैटिन, आदि बहुत-सी भाषाओं में 'अप्रत्यक्ष कर्म' प्रत्यक्ष 'कर्त्ता' में रचनान्तरित नहीं होसकता। (हिन्दी में यह इस रूप में केवल द्वितीय वाक्य के रूप में ही रचनान्तरित होसकता है।) फ्रेंच में 'जोन के पिताने उसे एक पुस्तक दी' का अनुवाद दो रूप में होसकता है: 'ल पैर् द ज्शीन लुइ अ दोन् एँ लीव्र' (जोन के पिता ने उसे एक पुस्तक दी), अथवा 'ज्शीन अ रेँशु एँ लीव्र दे सौं पैर्' (जोन ने एक पुस्तक अपने पिता से पाई)।

विविध भारोपीय भाषाओं में 'विवाह करना' अर्थवाली क्रियाओं पर विचार इस प्रतिलोमिता सम्बन्ध की दृष्टि से बहुत उद्घाटकहोगा। (जब हम कहते हैं कि ये सब क्रियाएँ 'अर्थ में समतुल्य' हैं, तब हम निस्सन्देह 'विनियोग' और 'सांस्कृतिक अतिव्यापन' की धारणा का आश्रय लेरहे होते हैं: तु०-९.४.८। हम देखेंगे कि यह समतुल्यता अन्ततः 'स्थूल' ही कही जासकती है।) अंग्रेज़ी क्रिया 'मैरी' इस अर्थ में सममित या अन्योन्यगामी है कि 'नासं$_1$ मैरीड नासं$_2$' में 'नासं$_2$ मैरीड नासं$_1$' भी निहित है, और वह भी स्वयं उस में निहित रहता है। (यहां पर हम इस क्रिया के 'सकर्मक' या 'प्रेरणार्थक' प्रयोगों की बात नहीं कररहे: यथा,—'द प्रीस्ट मैरीड देॅम्' और 'दे वर् मैरीड बाई द प्रीस्ट' आदि। बल्कि हमारा इंगित यहां ऐसे सरल प्रयोगों की ओर है: 'जोन मैरीड जेन' और 'जेन मैरीड जोन'।) लैटिन और रूसी समेत अनेक भाषाओं में इस अभिव्यक्ति केलिए दो प्रतिलोम क्रियाएँ या क्रिया-संघ प्रयोग में आते हैं। निदर्शनार्थ, लैटिन में यदि स्त्री कर्त्तृवाच्यगत कर्त्ता है, तब 'नूबेरे' क्रिया का प्रयोग होते हैं; किन्तु पुरुष के कर्त्ता होने पर 'इन मात्रिमोनिउम् दूचेरे' (विवाह बन्धन में बाँधना) क्रियासंघ का प्रयोग होता है। ग्रीक में, पुरुष के कर्त्ता होने पर 'गामेईन्' का कर्त्तरि प्रयोग होता है, किन्तु स्त्री के कर्त्ता होने पर उसी क्रिया का भाववाच्य में (या कभी-कभी कर्मवाच्य में) प्रयोगहोता है। हिन्दी में इन्हें इसतरह कहाजाएगा: 'जोन ने जेन को ब्याहा' (कर्त्तृवाच्य), 'जेन ने स्वयं

को जोन से विवाहित करवाया' (भाववाच्य) और 'जेन जोन द्वारा ब्याही गई' (कर्म-वाच्य)। ये तीनों सम्भावनाएँ बताती हैं कि किसप्रकार दो वस्तुओं या व्यक्तियों के बीच स्थित 'एक ही सम्बन्ध' की अभिव्यक्ति की जासकती है: (१) एक सममित 'विधेयक' के द्वारा (यथा अंग्रेज़ी में 'मैरी'), (२) दो भिन्न 'विधेयकों' के द्वारा (यथा-लैटिन में 'नूबेरे' और 'इन् मात्रिमोनिउम् दूचेरे'), या भाषा के रचनागत साधनों के माध्यम से असममितता के 'व्याकरणीकरण' द्वारा (यथा ग्रीक की 'गामेईन्')।

ज्ञातिसम्बन्धों और सामाजिक स्थिति से सम्बद्ध शब्दावली में सममिति और प्रतिलोमिता के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अंग्रेज़ी में 'नासं$_1$ नासं$_2$ का कज़िन् है' को 'नासं$_2$ नासं$_1$ का कज़िन् है' के रूप में भी कहाजासकता है (क्योंकि वहाँ 'कज़िन' दोहरे सम्बन्ध का बोधक है), किन्तु 'नासं$_1$ नासं$_2$ का पति है' को 'नासं$_2$ नासं$_1$ की वाइफ़ है' के रूप में ही कहाजाएगा। प्रतिलोमिता 'लैंगिक पूरकता' को भी बाधित करती है: यथा—'नासं$_1$ नासं$_2$ का पिता है' में ये दोनों ही वाक्य निहित हैं: 'नासं$_2$ नासं$_1$ का बेटा/की बेटी है'; 'नासं$_1$ नासं$_2$ की भतीजी है' का अर्थ है: 'नासं$_2$ नासं$_1$ का चाचा/चाची (या ताया/ताई) है' इत्यादि। अन्य कोष-शब्द उसी प्रकार परिकलनात्मक या व्यत्यय रूप में सम्बद्ध हैं, जिसप्रकार प्रतिलोम शब्द; यद्यपि निहितार्थतः वे एक-दूसरे को अन्तर्हित नहीं करते। उदाहरणार्थ, 'नासं$_1$ ने (नासं$_2$ को) पूछा' वाक्य में 'नासं$_2$ ने (नासं$_1$ को) उत्तर दिया' वाक्य 'निहित' न होकर उसकी आशा रखता है। इसी प्रकार 'नासं$_2$ ने नासं$_1$ को उत्तर दिया' वाक्य 'नासं$_1$ ने नासं$_2$ को पूछा' वाक्य को प्राक्कलिपत करलेता है। इसी प्रकार, 'नासं$_1$ ने नासं$_2$ को नासं$_3$ भेंटदी' में 'पूरक' वाक्यों के इस रूप में विखण्डन की 'आशा' निहित है: 'नासं$_2$ ने नासं$_3$ को स्वीकारकिया' या 'नासं$_2$ ने नासं$_3$ को अस्वीकार किया'। इसप्रकार की 'आशावत्ता' और 'प्राक्कलपना' कालक्रम में व्यवस्थित होती है। यह अवधेय है कि यह बात 'देना' और 'पाना' जैसे प्रतिलोम शब्दों पर लागू नहीं होती।

१०.४.६ विरुद्धार्थता और पूरकता के बीच समान्तरता

हमने प्रतिलोम शब्दों और व्यक्ततः कोटिबद्ध विरुद्धार्थकों के बीच समान्तरता पर विचारकिया है (और उस शुद्ध व्याकरणात्मक रचनान्तरण पर भी, जिसके द्वारा कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य परस्पर सम्बद्ध हैं)। विरुद्धार्थता और पूरकता के बीच समान्तरता पर बलदेना भी कम महत्त्व नहीं रखता। वे इस बात में समान हैं कि एक विरुद्धार्थक या पूरक शब्दवाले वाक्य के अभिकथन का अर्थ है, दूसरे विरुद्धार्थक या पूरक शब्द से युक्त संवादी वाक्य का निराकरण। यदि ऐसा हो, तब शब्दावली से विरुद्धार्थकता और पूरकता के सभी निदर्शनों का निष्कासन सम्भाव्य सोचा जासकता है। 'राम अकेला है' की जगह कहा जासकता है कि 'राम विवाहित नहीं है'; और 'घर छोटा है' तथा 'घर बड़ा है' के स्थान पर यह कहा जासकता है

कि 'घर कम बड़ा है', और 'घर अधिक बड़ा है' (इसमें 'किससे' की अपेक्षा निहित है)। परन्तु सत्य यह है कि हम ऐसा नहीं कहते और, जैसा कि सैपिर के कथन में ऊपर कहागया है, यह तथ्य उनमें से एक है, जो वाणी के विशुद्ध तर्काश्रित विश्लेषण को प्रायः ही अपर्याप्त, और प्रायः भ्रामक भी, सिद्ध करदेते हैं।

प्राकृतिक भाषाओं की शब्दावलियों में बड़ी संख्या में विरुद्धार्थकों और पूरकों की विद्यमानता अनुभूति और निर्णय के ध्रुवीकरण की साधारण मानवीय प्रवृत्ति से सम्बद्ध प्रतीत होती है: 'विरोधियों की दृष्टि से सोचने की प्रवृत्ति'। यद्यपि हमने 'अकेला' और 'विवाहित' जैसे पूरकों और 'भला' और 'बुरा' जैसे विरुद्धार्थकों के बीच महत्वानुरूप ही विभेद किया है, फिर भी यह अवधेय है कि दैनिक वार्तालाप के 'तर्क' की दृष्टि से उनके बीच यह विभेद सर्वदा सुस्पष्ट नहीं होता। 'क्या यह फिल्म अच्छी थी?'—प्रश्न के उत्तर में यदि 'नहीं' कहाजाए, तब उसका अन्तर्हित अर्थ सम्भवतः तबतक यही समझाजाएगा कि 'यह फिल्म बुरी थी', जबतक कि उत्तर देनेवाला स्वयं ही विशेषणों के द्वारा अपने इस अभिप्राय को स्पष्ट न करदे कि वह अपने निर्णय को 'अच्छी' या 'बुरी' के ध्रुवीकृत वैषम्य के रूप में व्यक्त करने का इच्छुक नहीं है। अतः यह भी सम्भव है कि विरुद्धार्थकों की कोटिगम्यता (उनकी अन्तर्हित तुलनात्मक मर्यादा का निर्देश नहीं) 'मनोभाषात्मक' दृष्टि से गौण या द्वैतीयक है। अर्थात्, ऐसी कि जिसके प्रति वक्ता सचेत अवश्य रहते हैं, किन्तु वे जिसका प्रयोग तभी करते हैं जबकि 'हाँ' या 'ना' के रूप में प्रथम स्तर का द्विभाजन अपर्याप्त सिद्ध होता है।

१०. ५ घटकीय विश्लेषण और सार्वभौम अर्थविज्ञान

१०. ५. १ आरम्भिक विचार

'घटकीय विश्लेषण' संज्ञा के द्वारा अर्थविज्ञान में क्या अभिप्रेत है, यह बात ऐसे एक ही उदाहरण से स्पष्ट होजाती है, जिसे भाषाविदों ने इसी उद्देश्य से बहुधा प्रयोग किया है। निम्न शब्द-विन्यासों पर विचार उचित है:

(१)	पुरुष	स्त्री	बालक
(२)	साँड	गाय	बछड़ा
(३)	मुर्गा	मुर्गी	चूजा
(४)	भैंसा	भैंस	कटड़ा
(५)	मेढ़ा	मेड़	मेमना
(६)	बकरा	बकरी	मेमना

इन शब्दों की भावना के अपने प्रतिभात्मक ग्रहण के आधार पर हम निम्न रूप में आनुपातिक समीकरण बनासकते हैं:

पुरुष : स्त्री : बालक : : साँड : गाय : बछड़ा

यह समीकरण इस तथ्य को अभिव्यक्त करता है (और यहाँ हम इसे सत्य मानलेते हैं) कि अर्थात्मक दृष्टि से, एक ओर पुरुष, स्त्री और बालक तथा दूसरी ओर साँड, गाय और बछड़ा, इन सभी शब्दों में कुछ बात सामान्य है। यह भी कि 'साँड' और 'पुरुष' में कुछ ऐसा सामान्य है, जो 'गाय' और 'स्त्री' एवं 'बछड़ा' और 'बालक' में विद्यमान नहीं है। अथवा, 'गाय' और 'स्त्री' में कुछ ऐसा सामान्य है, जो साँड और पुरुष या बछड़ा और बालक में विद्यमान नहीं है। इसीप्रकार, बछड़ा और बालक में कुछ ऐसा सामान्य है, जो साँड और पुरुष अथवा गाय और स्त्री में उपलब्ध नहीं है। ये विविध शब्दवर्ग जिस बात में समान हैं, उसे ही हम 'अर्थात्मक घटक' कहेंगे। (इस विषयक साहित्य में इसी तत्त्व केलिए 'अर्थतत्त्व', 'अर्थ-अंकक', 'अर्थात्मक कोटि', आदि विविध अन्य संज्ञाएँ प्रयुक्त हुई हैं।)

अब हम कुछ आरम्भिक गणितीय विमर्श से भी परिचित होलें। यदि साधारण आकार का एक ऐसा संख्यात्मक अनुपात दियाहुआ हो (जिसे ग्रीक गणितविद् और वैयाकरण 'एनालौजी' या 'नियमितता' कहते थे : तु०-१. २. ३) :

क : ख : : ग : घ

जिसमें प्रथम का द्वितीय से विभाजन तृतीय के चतुर्थ से विभाजन के तुल्य या बराबर हो, वहां हम अनुपात को 'घटकों' में घटित करसकते हैं (प्रस्तुत प्रयोजन से उन्हें 'घटक' ही कहना चाहिए); और तब हम चारों अभिव्यक्तियों में से प्रत्येक को एक घटक-युग्म का 'उत्पाद' कहसकते हैं। (रूपतत्त्व की वितरणात्मक परिभाषा में हमने पहले ही इस समान्तर का उपयोग किया है : तु०-५. ३. ३)। उदाहरणार्थ,

२ : ६ : : १० : ३०

इस अनुपात से हम १, २, ३, और १० के रूप में घटक पालेते हैं। तब इसी अनुपात को इस रूप में भी पुनर्गठित किया जासकता है :

(२×१) : (२×३) : : (१०×१) : (१०×३)

इनमें से २ का विश्लेषण २ और १ के उत्पाद के रूप में किया जासकता है ; ६ का २ और ३ के उत्पाद के रूप में; इत्यादि। इस निदर्शन में तीन प्राथमिक अंक हैं १, २, ३ ; किन्तु चौथा अंक १० प्राथमिक नहीं है। किन्तु, अंकात्मक अनुपात में हम सदा जानलेंगे कि कोई अंक प्राथमिक है या नहीं। और यदि यह नहीं है, तब हम इसके चरम घटक (अर्थात्—प्राथमिक अंकों का वह विन्यास जिसके आधार पर इसका घटकीकरण होसकता है) निर्धारित करसकते हैं। वर्त्तमान प्रयोजन के लिए, हम यह मानसकते हैं कि घटकीकरण की यह प्रक्रिया सभी सम्बद्ध अनुपातों की उपलभ्यता पर आधारितहोती है। निदर्शनार्थ, यदि हमारे सामने एक अन्य अनुपात १ : २ : : ५ : १० के रूप में हो, तब हम १० को २ और ५ के प्राथमिक अंकों में घटित करसकेंगे ; और हम अपने मूल अनुपात की अभिव्यक्ति इसतरह करसकेंगे :

(२×१) : (२×३) : : ((२×५)×१) : ((२×५)×३)

इस प्रकार चारों ही अभिव्यक्तियों को इनके चरम घटकों के उत्पाद के रूप में कहा गया है।

अब हम इन विमर्शों को ऊपर दिए शब्दों पर घटा कर देखेंगे। **पुरुष : स्त्री : : साँड : गाय** के अनुपात से हम भावना के चार घटक निकाललेते हैं : हम इन्हें (पुंलिगी), (स्त्रीलिंगी), (युवा-मानवीय), और (युवा-गोत्वमय) के रूप में निर्दिष्ट करेंगे। विश्लेषण के इस चरण में, यदि हम सच ही समानुपातिक समीकरणों के आधार पर विश्लेषण कररहे हों, (युवा-मानवीय) और (युवा-गोत्वमय) को एकल घटकों के रूप में माना जाएगा। किन्तु ज्यों ही हम **पुरुष : स्त्री : बालक : : साँड : गाय : बछड़ा** के समानुपात को निम्न रूप में फिरसे कहते हैं :

(पुंलिगी) × (युवा-मानव) : (स्त्रीलिगी) × (युवामानव) : (न-युवामानव) : :
(पुंलिगी) × (युवा-गोत्वमय) : (स्त्रीलिगी) × (युवा-गोत्वमय) : (न-युवा-गोत्वमय)

तब हम **(युवा)** और **(न युवा)** के अन्य घटकों को भी निकालसकते हैं। यह अवधेय है कि इनमें से कोई भी घटक चरम या प्राथमिक नहीं है : यह भी सम्भव है कि अन्य शब्दों पर अधिक विचार के बाद, और अधिक समानुपातों को स्थापित करने के बाद, हम **(मानवीय)** या **(पुंलिगी)** जैसे घटकों को और भी 'छोटे' अर्थात्मक घटकों में ह्रसित करने में समर्थ होजाएँ, जैसेकि हमने १० को ५ और २ में ह्रसित किया है। इसी क्रम से शब्दावली के सभी शब्दों की भावना को हम उनके अर्थात्मक चरम घटकों की दृष्टि से वर्णित करने की आशा करसकते हैं। यह मानकर, कि ऊपर दिएगए कुछ शब्दों का प्रस्तावित विश्लेषण प्रदर्शित मात्रातक सही है ('सही, की इस बात पर हम अभी विचार करेंगे), हम कहसकते हैं कि **'मनुष्य'** की भावना इन घटकों का उत्पाद है : **(पुंलिगी)**, **(युवा)**, **(मानवीय** ; तथा **'गाय'** की भावना **(स्त्रीलिंगी)**, **(युवा)**, और **(गोत्वमय)** का उत्पाद है; इत्यादि।

भाषाविज्ञान, तर्कशास्त्र और दर्शन में अर्थविषयक विचार के प्रति यह घटकीय उपगम बहुत पहले से अपनाया जातारहा है। विनिश्चय की पुरानी प्रणाली में यह उपगम निहित ही है, जिसके अनुसार 'जाति' का विभाजन 'उपजाति' में, और उनका भी 'अवजाति' में, कियाजाता है ; और विनिश्चय की यह प्रणाली उन अधिकांश शब्दकोषों में प्रतिफलित हुई है, जो कभी भी किसी भी विशिष्ट भाषा में गठित हुए हैं। रोजेट के 'थेसौरस' जैसे ग्रन्थ के संगठन में भी यह प्रणाली प्रतिफलित हुई है (तु०-५. १०. २. १)। अर्थात्मक विश्लेषण के इन परम्परागत सिद्धान्तों को निरूपित करने के अनेक प्रयत्न हाल के वर्षों में किएगए हैं। हम इन पर विमर्श का आरम्भ इनमेंसे उन कुछ प्रमुख मान्यताओं से करसकते हैं, जिन पर अर्थविज्ञान के वर्तमान घटकीय सिद्धान्त आधारित हैं, या जिनके साथ बहुधा उन्हें संगत किया जाता है। इनमें से सर्वप्रथम धारणा यह है कि **ये अर्थात्मक घटक भाषा से स्वतन्त्र अथवा सार्वभौम प्रकृति के होते हैं।**

१०. ५. २ अर्थात्मक घटकों की तथाकथित सार्वभौमता

बहुधा यह कहाजाता है कि सभी मानवीय भाषाओं की शब्दावलियां पूर्णतः या आंशिक रूप में अर्थात्मक घटकों के एक सान्त विन्याम की दृष्टि से विश्लिष्ट की जासकती हैं। ये घटक स्वतः किसी भाषा के विशिष्ट अर्थात्मक ढाँचे पर आश्रित नहीं होते। सत्रहवीं शती से दर्शन और भाषाविज्ञान के क्षेत्र में चले आरहे इस दृष्टिकोण के अनुसार अर्थात्मक घटक विविध भाषाओं में विविध रूप में संयुक्त होते हैं (और इस प्रकार उन विशिष्ट भाषाओं केलिए अपने ही ढंग की 'भावनाओं' और 'संप्रत्ययों' को जन्मदेते हैं); किन्तु स्वतः उन्हें हर भाषा की शब्दावली के विश्लेषण में 'एकही' घटक के रूप में पहचानाजाता है। हाल में ही अनेक प्रकाशनों में इस दृष्टि को प्रस्तुत करनेवाले कात्ज़ के अनुसार, 'अर्थात्मक अंकक (घटक) को अर्थ-विज्ञान में समाहित सैद्धान्तिक निर्मिति के रूप में समझना चाहिए, जिससे मानव मन की संज्ञानात्मक संरचना की भागभूत किसी संप्रत्ययात्मक प्रणाली के भाषा-अपरिवर्त्ती, किन्तु भाषा-सम्बद्ध, घटकों को अभिहित कियाजाता है।'

अर्थात्मक घटकों की तथाकथित सार्वभौमता के विषय में इसके अतिरिक्त कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है, कि यह एक ऐसी धारणा है कि जिसे दार्शनिक और भाषाविद् समान रूप से विश्व की कुछ गिनीचुनी भाषाओं के सुनिर्वाचित उदाहरणों पर आश्रित अपने व्याख्यात्मक विमर्शों के आधार पर बनाते हैं।

शोम्स्की का सुझाव है : 'निस्सन्देह सम्बद्ध मनोवैज्ञानिक और शरीरवैज्ञानिक तथ्यों के प्रति हमारी अज्ञानता के कारण ही व्यापक रूप से मान्य यह विश्वास सम्भव होपाता है कि 'प्राप्य संप्रत्ययों की प्रणाली का या तो कोई अनुभवनिरपेक्ष ढाँचा है ही नहीं, या फिर वह नाममात्र को ही है।' इस टिप्पणी के प्रति **पहली बात** यह कथनीय है कि यह विश्वास कि 'अर्थात्मक अभिलक्षणों' (अर्थात्मक घटकों) पर सार्वभौम और भाषा से स्वतन्त्र बाध्यताएँ कदाचित् कम ही हैं, प्रायः उन भाषाविदों में बहुत व्यापक रूप में पायाजाता है, जिन्हें विभिन्न भाषाओं के अर्थात्मक ढांचे की प्रणालीबद्ध तुलना के प्रयत्न में सामने आनेवाली समस्याओं का कुछ अनुभव है : सार्वभौम घटकों के किसी विन्यास को खोज निकालने का यत्न अनेकों ने किया है, और वे असफल भी हुए हैं। **दूसरी बात** यह है कि, यद्यपि शोम्स्की के अपने ग्रन्थ में कोषशब्दों की कुछ श्रेणियों के विषय में अनेक रुचिकर और कदाचित् सत्य बातें भी विद्यमान हैं (यथा—'किसी भी भाषा में व्यक्तिनामों द्वारा ऐसी वस्तुओं का अभिधान होना चाहिए, जिनमें दिक्कालात्मक सम्पर्क की शर्त्त पूरी तरह लागू होती हो', या 'किसी भी भाषा के वर्णशब्दों द्वारा वर्णफलक का उपविभाजन 'सन्तत खण्डों' के रूप में अवश्य ही सम्भव होना चाहिए', आदि), पर इस तरह के निरीक्षण इस दृष्टि को सुपुष्ट करने में बहुत दूरतक सहायक नहीं होते कि '(अर्थात्मक घटकों की) ऐसी कोई सार्वभौम और स्थिर शब्दावली है, जिसके आधार पर (सम्भाव्य सम्प्रत्यय) अभिलक्षित कियेजाते हैं।'

यह सम्भाव्य है कि अर्थविज्ञान, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान, नृवंशविज्ञान तथा अन्य विज्ञानों में होनेवाला भावी विकास इस दृष्टि को उचित बताए, कि 'मानव-मन के संज्ञानात्मक ढाँचे की अंशभूत संप्रत्यय-प्रणाली के कुछ घटक भाषाभेद में भी अपरिवर्त्ती अवश्य रहते हैं, किन्तु इस पर भी भाषा-सम्बद्ध रूप में विद्यमान होते हैं'; जैसा कि कात्ज़ ने भी सुझाया है। वर्त्तमान काल में उपलब्ध प्रत्यक्ष अनुभूतिपरक सारा साक्ष्य इस प्राक्कल्पना को पुष्ट न करके इसका प्रत्याख्यान ही करता है।

१०. ५. ३ घटकीय विश्लेषण और संप्रत्ययवाद

यह स्पष्ट है कि विशिष्ट भाषाओं के वर्णन में घटकीय विश्लेषण का महत्त्व सार्वभौम संज्ञाओं में अर्थात्मक घटकों की स्थिति से अप्रभावित रहता है। यह भी अनुभव करना उचित है कि अर्थविज्ञान के घटकीय सिद्धान्त अनिवार्यतः **संप्रत्ययवादी** या **मानसवादी** नहीं होते। यह बात विशेष रूप से अवधेय है। क्योंकि न केवल कात्ज़ और शोम्स्की ने ही, बल्कि अर्थविज्ञान के प्रति घटकीय उपगम को अपनाने वाले झेम्स्लेव, जैकब्सन्, आदि विद्वानों ने भी दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक ढांचे के भीतर ही इस पहुँच को अपनाया है। इसमें यह मान लियाजाता है कि किसी भी शब्द का आशय वह 'संप्रत्यय' होता है, जोकि उस भाषा के प्रयोक्ताओं के मन में उस शब्द के सहचारी रूप में स्थित होता है। उदाहरणार्थ, कात्ज़ ने 'अर्थात्मक घटकों' (अंककों) की बात का निम्न रूप में परिचय दिया है : उस भाव पर ध्यान दें, जिसे हममें से प्रत्येक **'मेज़'**, **'पाषाण'**, **'मनुष्य'**, **'भवन'**, **'ग्रह'**, आदि के अर्थ का भाग मानता है, किन्तु जिसे **'सत्य'**, **'सहवर्त्तिता'**, **'अनुभूति'**, **'छाया'**, आदि के अर्थ का भाग नहीं मानाजाता—वह विचार जिसे हम पूर्वतर शब्दों के अर्थ में स्थित सामान्य बात को अभिव्यक्त करतापाते हैं, तथा जिसका उपयोग संप्रत्यय की दृष्टि से उस वर्ग के शब्दों को द्वितीय वर्ग के शब्दों से भिन्न रूप में पहचानने में सहायता देता है। स्थूलतः अपने व्यक्तिगत विचारों में स्थित इस सामान्य बात को हम दिगात्मक और संस्पर्शी पादार्थिक वस्तु की धारणा के रूप में अभिलक्षित करसकते हैं। इसी धारणा का अभिधान करने केलिए अर्थात्मक अंकक (**भौतिक वस्तु**) का प्रयोग कियाजाता है।

हमने पहले ही सुझाया है कि अर्थविज्ञान के सिद्धान्तों में **'संप्रत्यय'**, **'विचार'** और **'मन'** की दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक स्थिति के प्रति किसी भी प्रतिबद्धता से बचनाचाहिए (तु०-९. २. ६)। यहां यह कहना ही पर्याप्त है कि कात्ज़ ने शब्दों के पूर्वोक्त दो वर्गों के बीच विभेद के विषय में जो कहा है, उसे **'संप्रत्यय'** या **'विचार'** शब्दों के प्रयोग के बिना भी कहा जासकता है। **प्रथम वर्ग** के शब्द उन वस्तुओं को सूचित करते हैं, जिन्हें **'भौतिक वस्तुओं'** के रूप में या तो कहाजाता है, अथवा वैसे कहा जासकता है। **द्वितीय वर्ग** के शब्दों के साथ ऐसी बात नहीं है। प्रथम वर्ग के शब्दों का अपने निर्देश्यों के प्रति शुद्ध विनियोग पहले से ही यह मानकर बढ़ता है या नहीं

कि प्रयोक्ता के 'मन' में 'भौतिक वस्तु' का कुछ-न-कुछ 'विचार' होता है—यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है, जिसे हम एक ओर छोड़सकते हैं। भाषाविद् केलिए प्रमुख प्रश्न यह है कि वाक्यों की स्वीकार्यता या अस्वीकार्यता, अथवा वाक्यों के बीच स्थित निहितार्थों के सम्बन्धों, से सम्बद्ध क्या कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिन्हें प्रथम वर्ग के शब्दों के प्रति एक विविक्त अर्थात्मक योजक अर्पित करके वर्णित किया जासकता है, और जिन्हें हम 'भौतिक वस्तु' कहने केलिए सहमत है। इस प्रश्न का उत्तर 'मानसिक संप्रत्यय' की स्थिति के विषय में दर्शन और मनोविज्ञान के विविध मतों के बीच विद्यमान विवादों से सम्बद्ध किसी भी प्रकार के निहितार्थों को वहन नहीं करता।

१०. ५. ४ घटकीय उपगम के स्पष्ट लाभ

प्रथम दृष्टि में अर्थविज्ञान के प्रति घटकीय उपगम (पहुँच) में, अन्य उपगमों की अपेक्षा, एक स्पष्ट लाभ दिखाईदेता है: इनमें घटकों के एक ही विन्यास के आधार पर दो भिन्न प्रश्नों का उत्तर दिया जासकता है। इनमें से **प्रथम प्रश्न** का सम्बन्ध शब्दों और पदबन्धों के विन्यासात्मक संयोगों की अर्थात्मक स्वीकार्यता के साथ है: अर्थात्, कोई दत्त संयोग अर्थपूर्ण ढंग से प्रजनित कियाजाना है, या अर्थ-हीन रूप में बहिष्कृत कियाजाना है? **दूसरा प्रश्न** यह है: किन्हीं शब्दों के विशिष्ट संघात का अर्थ क्या है? इन प्रश्नों पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

हम कहचुके हैं कि व्याकरणात्मक दृष्टि से सुगठित वाक्यों और वाक्यांशों के महत्त्व का मूल्यांकन परम्परागत रूप में उनके घटक शब्दों के बीच 'सात्म्यता' के कुछ सामान्य सिद्धान्तों की दृष्टि से कियाजाता है (तु०-९. ३. ११)। अर्थात्मक 'सात्म्यता' की इस धारणा के कथन का एक तरीका यह कहना है कि वाक्यरचना द्वारा प्रजनित विन्यासक्रमात्मक संयोग में स्थित शब्दों के सम्बद्ध अर्थात्मक घटक परस्पर 'व्याघाती' (विरोधपूर्ण) नहीं होनेचाहिएं। उदाहरणार्थ, हम मानलेते हैं कि 'गर्भिणी' शब्द में एक ऐसा घटक है जो केवल (स्त्रीलिंगी) घटक से युक्त शब्दों के संशोधन में ही प्रयुक्त होता है। इस तथ्य के आधार पर, कि 'संशोधन' की व्याख्या भाषा के वाक्यरचनात्मक नियमों केद्वारा होती है, **'गर्भिणी नारी'** या **'गाभिन घोड़ी'** जैसे प्रयोग तो अर्थवान् रूप में प्रजनित होंगे; जबकि **'गर्भी पुरुष'** या **'गाभी घोड़ा'** जैसे प्रयोग अर्थहीन या 'अव्याख्येय' कहकर बहिष्कृत ही रखे जाएँगे। **'गर्भमय बत्तख'** आदि प्रयोगों की अर्थपूर्णता का निर्णय सम्भवतः **'बत्तख'** शब्द से सम्बद्ध अर्थ के अन्य घटकों के आधार पर होगा, और उन अन्य सीमाओं के आधार पर भी कि जो **'गर्भवान्'** (या **'गर्भिणी'**) शब्द की नामों के साथ सात्म्यता के विषय में स्थिर की गई हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि विशिष्ट व्याकरणात्मक रचनाओं में शब्दों के बीच स्थित संयोगात्मक प्रतिबन्धों के विवरण का यह एक भव्य तरीका है। किन्तु, यह अवधेय है कि इसप्रकार की संज्ञाओं के द्वारा वाक्यों की अर्थवत्ता का कोई भी व्यापक विवेचन वाक्यों के एक समर्थ रचनात्मक विश्लेषण की, तथा सम्बद्ध व्याक-

रणात्मक सम्बन्धों की अर्थात्मक व्याख्या के सन्तोषजनक नियमों की प्राक्कल्पना करके चलता है। ऊपर जिस उदाहरण में '**विशेषण**' द्वारा '**नाम**' के '**संशोधन**' की बात दिखाईगई है, उसे अर्थविज्ञानियों ने कभी भी कोई विशेष बाधा उपस्थित करनेवाला नहीं माना है। वर्त्तमान वाक्यरचना-सिद्धान्त के ढाँचे में ही इसका निरूपण अर्थात्मक 'सात्म्यता' के उन अधिकांश सम्बन्धों के निरूपण की समस्या से कम महत्त्वपूर्ण है, जोकि किसी भाषा के वाक्यों में स्थित होते हैं। विगत कुछ वर्षों में अर्थात्मक 'सात्म्यता' के विविध सम्बन्धों के निरूपण से जुड़ी समस्याओं पर आश्चर्यजनक रूप से रुचि केन्द्रित हुई है (विशेषकर कात्ज़, वाइनराइख़ और बीरविश आदि की)। अबतक के परिणाम आकर्षक नहीं हैं, यद्यपि अबतक विकसित औपचारिक उपादान (उपकरण) पर्याप्त सूझभरे हैं; और ऐसा प्रतीत होगा कि इस क्षेत्र में प्रगति अबतक उपलभ्य सिद्धान्त की अपेक्षा उपयुक्ततर वाक्यरचना-सिद्धान्त के निर्माण पर आश्रित है।

घटकीय विश्लेषण जिस दूसरे प्रश्न का उत्तर देने में प्रवृत्त होता है, वह यह है कि '**किसी दत्त वाक्य या पदबंध का अर्थ क्या है ?**' इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यह है कि किसी वाक्य या प्रयोग का अर्थ उसके घटक शब्दों के आशयों का 'उत्पाद' होता है; और प्रत्येक शब्द का आशय अपने अर्थात्मक घटकों का 'उत्पाद' होता है। अतः किसी वाक्य या प्रयोग का अर्थ उन स्थिर 'प्रक्षेप-नियमों' के अनुसार, शब्दों के सभी अर्थात्मक घटकों के 'व्यामिश्रण' द्वारा निर्धारित होता है, जोकि अन्तःसंरचनी व्याकरणात्मक सम्बन्धों से सम्बद्ध होते हैं। विगत अनुच्छेद में यह सुझायागया था कि वर्त्तमान वाक्यरचना सिद्धान्त हमें अनेक सम्बद्ध अन्तःसंरचनी व्याकरणात्मक सम्बन्धों का सन्तोषजनक विवरण अबतक प्रदान नहीं करपाया है। और यही बात आठवें अध्याय में 'व्याकरणात्मक कार्य' सम्बन्धी हमारे विमर्श का मुख्य विषय भी रही है। निष्कर्ष यह कि वर्त्तमान में हम वाक्य या प्रयोग के अर्थ की प्रस्तावित परिभाषा में '**उत्पाद**' (या अधिक वैज्ञानिक रूप में 'प्रबन्धात्मक प्रकार्य') की व्याख्या '**अपने घटक कोषशब्दों की भावनाओं के उत्पाद**' के रूप में करने में असमर्थ हैं।

साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि विगत अध्याय में विचारेगए अर्थात्मक सम्बन्धों में से अनेक को फिर से अर्थविज्ञान के किसी 'घटकीय सिद्धान्त' के अधीन सूत्रित किया जासकता है। **समानार्थता, न्यूनार्थता, असात्म्यता और पूरकता** की व्याख्या निश्चय ही विचाराधीन शब्दों के अर्थात्मक घटकों के आधार पर की जासकती हैं। किन्तु इस तथ्य पर बलदेना आवश्यक है कि शब्दों का घटकीय विश्लेषण वाक्यों के अभिकथन या प्रत्याख्यान से सम्बद्ध 'निहितार्थों' की पहले से बनी धारणा पर आश्रित होता है। घटकीय विश्लेषण वह विधा है, जिसके द्वारा शब्दों और उनसे युक्त वाक्यों के बीच स्थित किन्हीं अर्थात्मक सम्बन्धों के विषय में लघुतम वक्तव्य दिया जासकता है : '**समझ**' और '**विश्लेषणिक निहितार्थ**' के सम्बन्ध में पहले विचारी गई अनिर्धार्यता की समस्याओं मेंसे किसी को भी यह वक्तव्य परिगृहीत नहीं

करसकता (तु०-१०. १. २)।

१०. ५. ५ अर्थात्मक घटकों की संज्ञानात्मक वास्तविकता

घटकीय अर्थविज्ञान के क्षेत्र में अबतक का सबसे रोचक ग्रन्थ भाषाविदों या दार्शनिकों की ओर से न आकर नृवंशविज्ञानियों की ओर से आया है; और उन्होंने हाल ही में उस तत्त्व की ओर काफ़ी ध्यान दिया है, जिसे वे अर्थात्मक घटकों का 'संप्रत्ययात्मक औचित्य' या 'वास्तविकता' के रूप में कहते हैं। यही वह प्रश्न था जिसे लेकर हमनेपहले कहा था कि हमें इस बात को 'घटकीय विश्लेषण' के सन्दर्भ में मन में जाँचना चाहिए कि 'साधु' (या शुद्ध) शब्द का क्या अभिप्राय है (तु०-१०.५.१)।

नृवंशविज्ञानीय विमर्श का एक बड़ा भाग विविध भाषाओं में 'ज्ञातिसम्बन्धों' की शब्दावली के विशेषण से सम्बद्ध है। उदाहरणार्थ, यह दिखायागया है कि अंग्रेज़ी के सामान्यतम 'ज्ञातिशब्दों' का विश्लेषण अनेक तरह से किया जासकता है। (विशेष कर **'ब्रदर'** और **'सिस्टर'** भी, **'मदर'** और **'फादर'** एवं **'सन्'** और **'डॉटर'** के समान, **'सीधी अवतरणरेखा'** के रूप में एक ही घटक से युक्त कहे जासकते हैं, जबकि इनकी तुलना में **'कज़िन'** का घटक, 'अंकल' और 'आँण्ट' एवं 'नेफ्यू' और 'नीस' की भांति, **'संपार्श्विक'** ठहरता है। वैकल्पिक रूप में, 'ब्रदर' और 'सिस्टर' को **'समरेखीय'** सम्बन्ध से युक्त, और 'कज़िन' आदि को **'अपरेखीय'** सम्बन्ध से युक्त, भी कहा जासकता है।) प्रश्न यह है कि इनमें से कौन-सा विश्लेषण 'साधु' कहा जासकता है। इनमें से प्रत्येक स्वतःसंगत है; प्रत्येक कोषीय प्रणाली के प्रत्येक सदस्य को उस प्रणाली के हर दूसरे सदस्य से विविक्त करता है; और इनमें से प्रत्येक ही इस अर्थ में प्राक्कथक भी है कि यह नृवंशविज्ञानी को ऐसा साधन प्रदान करता है, जिसके द्वारा वह परिवार के किसी भी एक सदस्य का उस परिवार के अन्य सदस्यों के साथ, शब्दों की दृष्टि से, सम्बन्ध-निर्णय करता है। किन्तु दोनों ही वैकल्पिक विश्लेषण भिन्न-भिन्न समानुपातिक समीकरणों के विन्यास पर आश्रित हैं:

या तो, **पिता : माता : : पुत्र : पुत्री : : भाई : बहिन**

अथवा, **चाचा : चाची : : भतीजा : भतीजी : : भाई : बहिन**

अतः यदि 'साधुत्व' का निर्णय ही करना हो, तब उनमें से किसी एक की अपेक्षा दूसरे समानुपातिक विन्यास के 'संप्रत्ययात्मक औचित्य' के आधार पर ही उसका निर्णय करनाचाहिए। जहाँ तक ज्ञातिसम्बन्धों के नृवंशविज्ञानीय विश्लेषण का सम्बन्ध है, किसी विशिष्ट समानुपात के 'संप्रत्ययात्मक औचित्य' का निर्धारण सम्भवतः सम्बन्धियों की विविध श्रेणियों को समाज में दीगई स्थिति और कार्यभाग के आधार पर होता है। और यह बात उस जाति के सदस्यों के भाषात्मक 'प्रातिभ ज्ञान' में भी प्रतिफलित होती है।

परन्तु 'साधुत्व' या 'शुद्धता' के इस प्रश्न पर हम विशुद्ध भाषात्मक दृष्टि से भी विचार करसकते हैं। इस उद्देश्य से हम फिर से घटकीय विश्लेषण के उसी

सरल निदर्शन की ओर लौटते हैं, जिससे कि हमने इस खण्ड को आरम्भकिया था। हमने निम्न समानुपातों के औचित्य को मानलिया था :

पुरुष : स्त्री : बालक : : साँड : गाय : बछड़ा

साँड : गाय : बछड़ा : : मुर्गा : मुर्गी : चूजा

आदि ।

इन समानुपातों के आधार पर हमने इन अर्थात्मक योजकों को 'निकाला' था : **(पुंलिगी)** अथवा **(स्त्रीलिंगी)**, **(युवा)** अथवा **(अ-युवा)**, **(मानव)** अथवा **(गोत्वमय)** अथवा **(आश्विक)...**आदि । अब हम पूछ सकते हैं कि इन घटकों की भाषावैज्ञानिक स्थिति क्या है ?

आपाततः (पुंलिगी) और (स्त्रीलिंगी) जैसे विरोधपूर्ण (बाधक) घटकों का वैषम्य पर्याप्त सन्तोषजनक प्रतीतहोता है। यदि हम जानते हैं कि कोई व्यक्ति **युवा-पुंलिगी-मानव** है, तबहम यह भी जानते हैं कि उसके निर्देश केलिए **'पुरुष'** शब्द ही उपयुक्त है, न कि **'स्त्री'** या **'बालक'**। यदि हम जानते हैं कि कोई घरेलू **मुर्गप्राणी** विशिष्ट जाति की युवा **स्त्री** है, तब हम जानजाते हैं कि वह, **'मुर्गा'** या **'चूजा'** न होकर, **'मुर्गी'** शब्द के द्वारा ही उचित रूप में निर्दिष्ट की जाएगी; इत्यादि। कोई कहसकता है कि **'पुरुष'** और **'स्त्री'** अथवा **'मुर्गा'** और **'मुर्गी'** में उनके निर्देश्यों के लिंग की दृष्टि से अन्तर करने का अर्थ है, उन्हें विविक्त करनेवाले अनेक भावात्मक अभिलक्षणों मेंसे एक को प्राथमिकता देना। यदि किसी व्यक्तभाषी और समझनेवाले बालक से **'पुरुष'** और **'स्त्री'** के बीच अन्तर पूछाजाए, तब वह उनकी उन समस्त विशेषताओं को वर्णित करके बतासकता है, जो उनके परिधान, केश-विन्यास, दैनिक कार्यक्रम, व्यवसाय, बालकों की देखभाल, आदि से सम्बन्ध रखती हैं। इसके विपरीत वह **'मुर्गा'** और **'मुर्गी'** अथवा **'साँड'** और **'गाय'** में विभेद प्रदर्शित करने केलिए एक सर्वथा ही विभिन्न और असम्बद्ध निकष-वर्ग को अपना सकता है। यही क्यों मानाजाए कि प्रौढ़-भाषा में लिंग ही एकमात्र निकष है ? और ऐसा कहना कहाँ तक ठीक है कि **स्त्री : बालक : : गाय : बछड़ा : : मुर्गी : चूजा,** इत्यादि ?

स्पष्ट ही एक विशिष्ट वाक्य-श्रेणी की अर्थात्मक स्वीकार्यता या अस्वीकार्यता का विवरण समानुपातिक समीकरण की दृष्टि से दिया जासकता है : **'वह स्त्री बालक की माँ है'**, **'वह मुर्गी इस चूजे की माँ है'**; आदि की तुलना में **'वह पुरुष इस बच्चे की माँ है'**, **'वह स्त्री इस बालक का पिता है'**, आदि (अस्वीकार्य हैं)। 'लिंग' का व्याकरणात्मक निर्धारण हिन्दी-अंग्रेजी आदि में अंशतः निर्देश्य के 'मैथुन लक्षण' से होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि (स्त्रीलिंगी) और (पुंलिगी) ही ऐसे अर्थात्मक अभिलक्षण हैं, जो 'पुरुष' अथवा 'स्त्री' जैसे पूरक शब्दों के बीच विभेद करते हैं। **(प्रौढ़)** **और (अ-प्रौढ़)** जैसे योजकों की स्थिति तो और भी सन्देहजनक है : ऐसे संयोग भी

हैं, जिन्हें इन विरोधों की दृष्टि से अर्थात्मना स्वीकार्य या अस्वीकार्य कहा जासकता है; जबकि अनेक संयोगों की व्याख्या इन घटकों के माध्यम से नहीं की जासकती।

निस्सन्देह इस समस्या का सम्बन्ध नृवंशविज्ञानी की 'संज्ञानात्मक वास्तविकता' की समस्या के साथ है। उदाहरणार्थ, उस समाज पर विचार करें जिसमें पुरुष और स्त्री के व्यापारों में इतना अन्तर है कि वे दोनों बहुत कम व्यापारों में ही समान प्रवृत्त पाएजाएगे। अब यह मानलीजिए कि उस भाषा की शब्दावली में 'पुरुष' और 'स्त्री' के रूप में अनूदित किये जासकनेवाले दो शब्द हैं, जिनका निर्देश क्रमशः **'पुंलिगी प्रौढ़ मानव प्राणी'** और **'स्त्रीलिंगी प्रौढ़ मानव प्राणी'** के रूप में किया जा सकता है। उन दो शब्दों के निर्देशसम्बन्धी इस तथ्य को जानकर भाषाविद् इन शब्दों को पुरुषों और स्त्रियों केलिए उचित रूप में प्रयोग करसकता है। वह इस बात में सुनिश्चित रहेगा कि **'पुरुष ने बालक को जन्मदिया'** जैसे हिन्दी वाक्य का उस भाषा में अनुवाद (यदि **'जन्मदेना'** अर्थ में क्रिया का सही अनुवाद सम्भव हो) वहां भी अर्थात्मना अस्वीकार्य ही रहेगा। किन्तु अन्य अनेक वाक्य ऐसे भी होसकते हैं, जो समान रूप में ही अस्वीकार्य होंगे: यथा—**'मनुष्य ने भोजन पकाया'**, **'स्त्री ने आग जलाई'**, आदि! हमें अपने सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों और भौतिक जगत् के वर्गीकरण को ही दूसरे समाजों की संस्कृति अथवा भाषा के विश्लेषण केलिए उचित नहीं मानबैठना चाहिए। बल्कि किसी भी तथाकथित **'मानव मन की संज्ञानात्मक संरचना की अंशभूत संप्रत्ययात्मक प्रणाली'** के विश्लेषण केलिए तो उन्हें और भी कम आधार मानना चाहिए।

एक और बात कथनीय है। घटकीय विश्लेषण में एक सहजात भय यह भी है कि इसमें शब्दों की आवृत्ति में अन्तर तथा कोषशब्दों एवं अर्थात्मक योजकों के बीच अन्तर की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति रहती है। उदाहरणार्थ, यह बहुधा सुझाया गया है कि **'भाई'** और **'बहिन'** शब्दों की तुलना में **'पुंलिंग सहोदर'** और **'स्त्रीलिंग सहोदर'** शब्दों को 'पर्याय' कहा जासकता है। किन्तु यह बात नृवंशीय या अर्धनृवंशविज्ञानीय चर्चा के विषय में ही सत्य कही जासकती है। हिन्दी-अंग्रेज़ी में **'भाई'** और **'बहिन'** के वाचक शब्द अत्यधिक सामान्य और सर्वविदित हैं, जबकि **'सहोदर'** या **'सिब्लिङ्'** आदि शब्द नृवंशशास्त्रियों द्वारा अपनी सुविधा केलिए घड़ेगए हैं। होसकता है कि अधिकांश अंग्रेज़ी भाषी **'सिब्लिङ्'** का अर्थ जानते भी न हों। यह तथ्य, कि अंग्रेज़ी में **'ब्रदर'** और **'सिस्टर'** जैसे पूरक शब्दों केलिए कोई भी समान अधिकोटीय शब्द नहीं हैं, इस बात का प्रत्यक्ष साक्ष्य है कि किसी समानता की अपेक्षा उन दोनों शब्दों के बीच विरोध अर्थ की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीप्रकार, यह तथ्य, कि **'हौर्स'** एक संज्ञा है, जिसके न्यूनार्थक के रूप में उसके पूरक शब्द हैं **'स्टैलियन'** और **'मेअर'**, अंग्रेज़ी शब्दावली की संरचना के विश्लेषण से सम्बद्ध है। अर्थविज्ञान का ऐसा कोई भी सिद्धान्त, जो हममें इस विश्वास को दृढ़ करता है कि **'प्रौढ़ पुंलिगी हाथी'** का **'हाथी'** के साथ वही सम्बन्ध है, जो अंग्रेज़ी शब्द **'स्टैलियन'**

और 'हौर्स' के बीच है, नितान्त असन्तोषजनक होगा।

अर्थविज्ञान के घटकीय सिद्धान्त अनिवार्यतः इसप्रकार की अपूर्णताओं से युक्त नहीं हैं। किन्तु **'मेल'** (पुरुष) और **'एडल्ट'** (प्रौढ़) जैसे शब्दों के **(पुँलिगी)** और **(प्रौढ़)** जैसे अर्थात्मक घटकों के साथ सम्बन्ध पर विमर्श कीओर बहुत कम ध्यान दियागया है। इस सन्देह का निवारण करना कठिन ही है कि अर्थात्मक घटकों की व्याख्या उन शब्दों के विषय में भाषाविद् की प्रातिभ समझ के आधार पर कीजाती है, जिनका प्रयोग वह उन घटकों को नामांकित करने केलिए करता है।

१०. ५. ६ उपसंहार

स्थान की कमी के कारण हम अभी हाल के अर्थविज्ञान के घटकीय कार्य पर विस्तार से विचार नहीं करसकते। यदि इस विषय में हमारा विमर्श निषेधात्मक (ऋणात्मक) रहा है, तब यह समझ लेनाचाहिए कि ऐसा जानबूझकर ही किया गया है। हमने उन कुछ मान्यताओं की ओर ध्यान खींचने का प्रयास किया है जिन पर बहुधा ही अर्थात्मक घटकों से सम्बद्ध सिद्धान्त आधारित कियेजाते हैं; विशेषकर यह मान्यता कि **अर्थात्मक घटक सार्वभौम** हैं। हमने देखा कि घटकीय विश्लेषण की धारणा शब्दों के आशय से सम्बद्ध समानुपातिक समीकरणों की स्थापना पर आश्रित है। वह प्रमुख प्रश्न, जिसपर प्रायः सर्वदा विचार नहीं कियाजाता, उस मात्रा का है, जिसमें ये समानुपात **'संज्ञानात्मना उचित'** ठहरते हैं। बहुधा यह मान लियाजाता है कि ये समानुपात महज़ अन्तःनिरीक्षण के आधार पर ही स्थापित किये जासकते हैं।

फिर भी, घटकीय विश्लेषण ने अर्थविज्ञान के विकास में पर्याप्त योगदान दिया है। अन्य किसी भी बात की अपेक्षा इसने अतीत की वाक्यरचना को अर्थ-विज्ञान के निरूपण के अधिक निकट लादिया है। भाषाविद् एकबार फिरसे गम्भीरतापूर्वक **वाक्यविज्ञान** और **अर्थविज्ञान** के बीच सम्बन्धों के प्रति विचारमग्न हो उठा है। यह तथ्य बहुत अंश तक **कात्ज़** और **फ़ोदोर** के उन कार्यों का परिणाम है, जिन्हें कात्ज़ और पोस्ताल् द्वारा अधिक प्रणालीबद्ध रूप में **'भाषात्मक वर्णन के एकीकृत सिद्धान्त'** के ढाँचे के भीतर उठायागया है, तथा जिसे कात्ज़ द्वारा अनेक परवर्त्ती प्रकाशनों में अधिक विकसित कियागया है। यद्यपि कात्ज़ और पोस्ताल् ने घटकीय विश्लेषण के सम्बन्ध में पूर्वतर कार्य के मूल्य को न्यूनतम दिखाने का प्रयत्न किया है, वे इस बात में अवश्य सही हैं कि उन्होंने **'प्रक्षेप-नियमों'** के विशिष्ट निरूपण के महत्त्व पर, और **'व्यक्त प्रजनक भाषात्मक विवरणों के सन्दर्भ के भीतर ही'** उनके कार्य के प्रकार पर, बलदिया है। यह बात उनसे पहले नहीं कीगई थी।

पहले एक अध्याय में हमने **'रूपात्मक'** और **'धारणात्मक'** व्याकरण के बीच **'समझौते'** की सम्भावना की बात उठाई है (तु०-४. ३. ४)। तथा **'व्याकरणात्मक कोटियों'** और **'व्याकरणात्मक प्रकार्यों'** के सम्बन्ध में हमारा अधिकांश परवर्त्ती विचार (सातवें और आठवें अध्याय में) इस बात का संकेत देता है कि वाक्यविज्ञान के

निरूपण की दिशा में अधिक प्रगति इसी '**समझौते**' पर आश्रित है। हम प्रस्तुत ग्रन्थ को इस आशा के साथ समाप्त करसकते हैं कि आगामी वर्षों में इस लक्ष्य की दिशा में अन्य अनेक ग्रन्थ और लेख प्रकाश में आएँगे।

यह भी असम्भव नहीं कि अर्थविज्ञान के सिद्धान्त की ओर रुचि के अधिकाधिक संकेन्द्रण से भाषाविद् फिर से इस परम्परागत दृष्टि पर पहुँचें कि भाषाओं का विन्यासात्मक ढाँचा उनके अर्थात्मक ढाँचे से बहुत अधिक मात्रा में निर्धारित होता है : विशेषकर, अर्थाधारित व्याकरणात्मक कोटियों के '**अर्थसूचन के प्रकारों**' में (तु०-७. ६. १०)। यदि यह विकास सचमुच होपाता है, तब यह न मानबैठना चाहिए कि (इसके परिणामस्वरूप) भाषाविज्ञान के सिद्धान्त फिर से परम्परागत वैयाकरणों द्वारा अपनाईगई स्थिति में पहुँचजाएंगे। भविष्य के सभी '**व्याकरणात्मक**' और '**अर्थविज्ञानात्मक**' सिद्धान्तों को बीसवीं शती के '**संरचनात्मक भाषाविज्ञान**' की कठोर माँगों का उत्तर देना ही होगा, फिर भले ही उन सिद्धान्तों के लक्ष्य कितने ही परम्परानुगामी हों। क्रान्तियों के बाद प्रतिक्रान्तियां होसकती हैं; किन्तु विगत की फिर से हूबहू उसी रूप में स्थापनाकरना सहज नहीं है।

१०. ५. ७ प्रास्थानिकम्

विरम त्वं कथितं बहु पुस्तिके,
अधिगतो रुचिवान् न हि वाचकः।
परिसमाप्तिमगाद् ग्रथनं हि नः,
'विरम त्वं' कथयत्यपि लेखकः॥

प्रयुक्त शब्दावली

ablative अपादान
absolute निरपेक्ष
abstract noun भाववाचक संज्ञा
abstractness अमूर्त्तता
accent स्वर, स्वराघात
acceptable स्वीकार्य
accidence सांयोगिकता
accidents संयोग
accusative कर्म (द्वितीया)
accoustic phonetics भौतिक ध्वनि-विज्ञान
acquisition उपलब्धि
active सक्रिय
actual वास्तविक
adequacy पर्याप्तता
—, strong/weak —, सबल/निर्बल
adjective विशेषण
adjunct अधियोजी
abnominal अधिनामिक
adverb अधिक्रिय, क्रियाविशेषण
affective प्रभावी
agent कर्त्ता, हेतु
agent-oriented कर्तृ-निर्दिष्ट
agentive सकर्तृक
agentless sentences कर्तृहीन वाक्य
agglutinating योगात्मक
agreement समझौता, अनुकारिता
Alexandrians सिकन्दरियावासी
alienable अन्यसंक्राम्य, वियोज्य
allomorph रूपकल्प
allophone ध्वनिकल्प
alphabetic writing अक्षरात्मक लेखन
alternative वैकल्पिक
alveolar वर्त्स्य
ambiguity अस्पष्टता
analogical creation सादृश्यपरक सृजन
analogy सादृश्य, नियमितता
analysable विश्लेष्य
analysis विश्लेषण
analytic विश्लेषणात्मक
anaphora सर्वनाम, सार्वनामिक
animal communication प्राणि-सम्प्रेषण
animate noun सप्राण संज्ञा (नाम)
anomaly विषमता, वैषम्य, अनियमितता
anthropocentric मानवकेन्द्रिक
anthropology नृवंशविज्ञान
antonymy विरुद्धार्थकता
aorist लुङ्, सामान्यभूत
apical जिह्वाग्र, अग्रीय
application विनियोग
arbitrariness स्वैच्छिकता, स्वच्छन्दता
archiphoneme वर्णकल्प
article आदिनिपात
articulation उच्चारण, सन्धान
articulatory उच्चारणात्मक
articulatory phonetics उच्चारणात्मक ध्वनिविज्ञान
aspect पक्ष

aspiration सप्राणता
assertion स्थापन, बलदेना
associations साहचर्य, सम्बन्ध
attraction आकर्षण
attributive गुणवाचक
auditory phonetics श्रवणिक ध्वनिविज्ञान
auxiliary symbol सहायक प्रतीक
auxiliary verb सहायक क्रिया (सहाक्रि)

back vowel पश्च स्वर
base-component आधारी योजक
base form मूलरूप (प्रकृति)
basic vocabulary मूल शब्दावली
behaviourism व्यवहारवाद
benefactive लाभार्थक (सम्प्रदान)
bilabial द्वयोष्ठ्य
bilingualism द्विभाषिता
binary systems द्विचर (द्विपद) प्रणालियाँ
bit (binary digit) द्विपदांक
blasphemy निन्दा
borrowing उधार, आगमन (तु० आगत शब्द)
bound forms आबद्ध रूप
bracketing कोष्ठन
broad transcription स्थूल (व्यापक) लिप्यन्तरण

cancellation निरसन, निष्प्रभावन
cardinal vowel मुख्यतम स्वर (अच्)
case विभक्ति
categorial grammar कोटिबद्ध (कोटिपरक) व्याकरण
category कोटि
causative हेत्वर्थक, प्रेरणार्थक
certainty निश्चितता
change अन्तर, परिवर्त्तन
channel सरणि
characterize अभिलक्षित करना
choice चुनाव, विकल्प
circularity वर्त्तुलता
class inclusion श्रेणी-समावेशन
class-logic श्रेणी-तर्क
classical fallacy श्रेण्य (आदर्श) भ्रान्ति
classicism श्रेण्यवाद
classification श्रेणीकरण, वर्गीकरण
clause वाक्यान्तर, उपवाक्य
clear lateral स्पष्ट पार्श्विक
close vowel संवृत स्वर
closed संवृत, आबद्ध
cognitive ज्ञेयार्थ (प्रतीतार्थ)
cohesion संसंजन
collective सामूहिक
colour-terms वर्णशब्द
combinatorial relations संघातात्मक सम्बन्ध
comitative साहचर्यात्मक
command आज्ञा
comment टिप्पणी
common core सामान्य (समान) तत्त्व
common gender सामान्य लिंग
common noun जातिवाचक संज्ञा (नाम)
communication theory सम्प्रेषण-सिद्धान्त

comparative grammar तुलनात्मक व्याकरण
comparative philology तुलनात्मक भाषाविज्ञान
comparision तुलना
competence सामर्थ्य
complement पूरक
complimentarity पूरकता
complementary distribution पूरक वितरण
completion of action क्रिया की पूर्णता
complex sentence जटिल वाक्य
component योजक
componential योजकीय
composition निबन्धन
compound sentence समस्त वाक्य (मिश्रवाक्य)
concatenation शृंखलन
concept संप्रत्यय
conceptualism संप्रत्ययवाद
concord अन्विति
conditional probabilities सानुबन्ध प्रायिकताएँ
congruence अन्विति; अनुकारिता
conjoining संयोजी
conjugation धातुरूपान्तरण, (धातुरूपविधान)
conjunction समुच्चय निपात
connotation गुणार्थ
consonant व्यंजन
constant स्थिर, स्थिरांक
constituent घटक
constituent string घटक-सूत्र
construction संरचना
content plane वस्तु-तल
content substance वस्तु-द्रव्य
context सन्दर्भ
context dependent सन्दर्भाश्रित
context-free सन्दर्भमुक्त
context-sensitive सन्दर्भ-संवेद्य
contingent संस्पर्शी (आकस्मिक)
continuum सान्तत्य
convention प्रचलन
converse प्रतिलोम
co-ordinating संयोजी, सहघटक, समानाधिकरण
co-ordination समानाधिकरण, सह-घटन
copula संयोजी
corpus संग्रह
correctness शुद्धता
correlation सहसम्बन्ध
correspondences अनुकारिताएँ
cost-effectiveness लागत-प्रभावकता
countable संख्येय
cultural overlap सांस्कृतिक अति-व्यापन
cultural words सांस्कृतिक शब्द

dark lateral अस्पष्ट पार्श्विक
dative सम्प्रदान
decidability विनिश्चेयता
decision procedure निर्णय-प्रक्रम
declarative घोषणात्मक, उद्घोषक
declension विभक्त्यन्तरण, रूपविधान
deep structure अन्त:संरचना
definite निश्चित

degree मात्रा
deictic, deixis निर्देशक, निर्देश (दिङ्-निर्देश)
deletion rule लोप-नियम
demonstrative pronoun निदर्शक सर्वनाम
denial निषेध
denominator भाजक
denotation वाच्यार्थ
dental दन्त्य
dependent आश्रित
deponent परित्यागी
derivation व्युत्पादन, व्युत्पत्ति
derived व्युत्पन्न
descriptive वर्णनात्मक
determinism नियतत्ववाद
diachronic कालक्रमिक
diacritics संकेत-चिह्न
dialect बोली
diathesis द्विस्थिति
dichotomization द्विभाजन
dictio शब्द
dictionary शब्दकोष
diminishing returns ह्रीयमान लाभ
directional दिशात्मक
discontinuous constituent असन्तत घटक
discovery आविष्कार
discreteness of elements अवयवों की विविक्तता
distinctive feature विभेदक लक्षण
distribution वितरण
diversification विपथन
domination प्रभावन
dorsum, dorsal जिह्वापृष्ठ, पृष्ठीय
double articulation द्विगुण संधान
double-base द्विगुण-आधार, द्विगुण-आधारी
doublets युग, द्वैध
dual number द्विवचन
dummy मूक, सहायक
durative कालात्ययात्मक
dynamic गतिक

element अवयव, तत्त्व
elliptical हीनशब्द, ऊनशब्द
embedding अन्तर्वेशन
emotive भावकार्थ
empirical अनुभूतिपरक
endocentric अन्तःकेन्द्रिक
entailment अनुलग्नता
epistemology मीमांसा, ज्ञानमीमांसा
equative विवेचक, व्यक्तीकारक
equivalence समतुल्यता
ergative ससाधक
etymology निरुक्ति-विज्ञान, निरुक्त
evolution of langauge भाषा-विकास
exclusive first person बहिष्कारी प्रथम पुरुष
existence अस्तित्व, सत्ता
existential अस्तित्त्ववाचक, सत्तात्मक, सत्तावाचक
exocentric बहिःकेन्द्रिक
explanation व्याख्या
explicit स्पष्टोदित
exponent व्यंजक
expression अभिव्यक्ति
expression element अभिव्यक्ति-अवयव

extension बाह्यार्थ
exterior case बाह्य विभक्ति
extranuclear बहिर्नाभिक

factorization घटकीकरण, घटकान्तरण
families of languages भाषा-परिवार
feature अभिलक्षण
feedback पृष्ठपोषण
feminine स्त्री, स्त्रैण, स्त्रीलिंगी
field theory क्षेत्र-सिद्धान्त
figures of speech अलंकार
first-order nominals प्रथम व्यवस्था के नामिक
form (v matter) आकृति/आकार
form (v meaning) रूप
form (v substance) आकृति
form (of words) रूप
formal (v informal) औपचारिक
formal (v intimate) बाह्य
formal (v notinal) रूपात्मक
formal (v semantic) रूपात्मक
formal (v substantial) आकृतिपरक, रूपात्मक
formal (v substantive) रूपात्मक
formalism रूपात्मवाद, उपचारवाद
formalisation रूपात्मीकरण
formant रूपविधायक
frame ढाँचा
free forms उन्मुक्त (स्वतन्त्र) रूप
free variation उन्मुक्त विचरण
frequency of occurence घटना (उपस्थिति) की आवृत्ति
frequentative आवृत्त्यात्मक
fricative घर्षी
front vowel अग्र स्वर
function प्रकार्य, कार्य
functional load प्रकार्यात्मक कार्य-भार
fusional श्लिष्टयोगात्मक
future भविष्यत्

gender लिंग
generalised transformation सामान्यीकृत रचनान्तरण
generative प्रजनक
genitive सम्बन्ध-षष्ठी
gerund कृदन्त, जीरण्ड
given प्रदत्त, सामग्री (दत्त)
glossocentric definitions भाषा-केन्द्रित परिभाषाएँ
glottal stop कण्ठ्य स्पर्श
goal ईप्सित (कर्म)
government अधिशासन, नियामन
grading वर्गीकरण
grammar व्याकरण
grammatical व्याकरणात्मक, व्याकरणिक
graphic substance आरेखीय द्रव्य
Grimm's law ग्रिम-नियम

habitual स्वभावगत
having meaning अर्थवत्ता
head शीर्ष
hearer श्रोता
hierarchial classification आनुवंशिक वर्गीकरण

high German उच्च जर्मन
high vowel उच्च स्वर
historical approach ऐतिहासिक उपगम
homeostatic systems समस्थैतिक प्रणालियाँ
homography समारेखन
homonymy समनामता, अनेकार्थता
homophony समध्वनिता
honorific आदरार्थक
humanism मानवतावाद
hyponymy उपनामता, न्यूनार्थता

idea भाव, मनोभाव
idealisation आदर्शीकरण
identification व्यक्तीकरण
ideographic writing भावचित्रारेखी लेखन
idioms मुहावरे
imitative sounds अनुकरणात्मक ध्वनियाँ
immediate constituents सन्निहित घटक
imperative आज्ञार्थक
imperfective अपूर्णतात्मक
impersonal निर्वैयक्तिक
implication निहितार्थ
implicit assertion/denial निहित स्थापन/निषेध
inalienable अवियोज्य
inanimate अप्राण
inceptive आरम्भात्मक
inchoative असिद्धात्मक
inclusion अन्तर्ग्रहण
inclusive first person अन्तर्ग्राही प्रथम पुरुष
incompatibility असात्म्यता
incomplete अपूर्ण
indefinite अनिश्चित
indeterminacy अनिर्धार्यता
indirect discourse अप्रत्यक्ष प्रवचन
indirect object अप्रत्यक्ष कर्म
individual व्यक्तिगत
Indo-European भारोपीय
Indo-Iranian भारत-ईरानी
infinitive तुमर्थक, क्रियार्थक
infix मध्य-प्रत्यय
inflecting श्लिष्टयोगात्मक, विकरणात्मक
inflexion विभक्तियोग, रूपविधान
inflexional रूपावलीयुक्त
informant सूचक
information content सूचनांश
information-retrieval सूचना की पुनरुपलब्धि
information theory सूचना-सिद्धान्त
inherently transformational आन्तरिक रूप से रचनान्तरक
initial symbol आदि प्रतीक
initiator of action क्रिया का आरम्भकर्त्ता
instrumental साधन, करण
intension अभिप्राय
intention अभिप्राय (इरादा)
interchangeability अन्त:परिवर्त्तनीयता
interior आन्तरिक
international phonetic alphabet अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिवैज्ञानिक लिपिमाला

interrogative प्रश्नात्मक
intimacy अन्तरंगता
intonation अनुतान
intransitive अकर्मक
introspection अन्तर्दर्शन
intuition प्रतिभा
I P A अ-रा-लि
isolating अयोगात्मक
isomorphic systems समरूपात्मक प्रणालियाँ
iterative आवर्त्ती

junggrammatiker युवा वैयाकरण

kernel sentence बीज वाक्य
kernel string बीजसूत्र
kinship vocabulary ज्ञातिवाचक शब्दावली

labelled brackets प्रत्यंकित कोष्ठ
labial ओष्ठ्य
labiodental दन्तौष्ठ्य
langue लाङ्, भाषा
larynx स्वरयन्त्र
law of sound-change ध्वनि-परिवर्तन के नियम
layers of conditioning अनुबंधन के स्तर
least effort न्यूनतम श्रम
length, syntagmatic विन्यासक्रमात्मक दैर्घ्य
level स्तर
lexeme कोष शब्द, प्रातिपदिक
lexical conditioning कोषीय अनुबन्धन
lexical selection कोषीय वरण
lexical substitution कोषीय स्थानापादन (शाब्दिक प्रतिनिधान)
lexical system कोषीय प्रणाली
lexicalisation कोषीयकरण
lexicon कोष
library classification पुस्तकालयीय वर्गीकरण
linear रैखिक, रेखीय
liquid sound तरल ध्वनि
literary language साहित्यिक भाषा
loan-words आगत (उधार) शब्द
local स्थानीय, स्थानगत
locative अधिकरण, अधिकरणात्मक
locative adjunct/complement अधिकरण अधियोजी/पूरक
locomotion स्थानगति
locus योगवाह
logarithm घातवर्धन
logic तर्क
logical subject तर्कसंगत विषय
long components दीर्घ योजक
low vowel निम्न स्वर

machine translation यान्त्रिक अनुवाद
macroscopic view स्थूल दृष्टि
major part of speech प्रमुख पदभेद
manner, adverb of प्रकारात्मक क्रियाविशेषण
marked अंकित
masculine पुमान्, पुंल्लिग
mass noun पिण्डवाचक संज्ञा
matrix string जालक-सूत्र

matter द्रव्य
meaning अर्थ
meaningful/meaningless सार्थक/(अर्थहीन) अनर्थक
mechanism यान्त्रिकता
medieval grammar मध्ययुगीन व्याकरण
membership of grammatical classes व्याकरणात्मक श्रेणियों की सदस्यता
mentalism मानसवाद
mention उल्लेख
metaphor रूपक
metaphysics अध्यात्म
microscopic सूक्ष्म
middle voice मध्यवाच्य, कर्मकर्त्तरि
mind मन
minimum free form न्यूनतम स्वतन्त्र रूप
minor parts of speech गौण पदभेद
misunderstanding भ्रम
modal प्रकारात्मक, भावात्मक
mode भावदशा, प्रकार
modes of signifying अर्थसंकेतन के प्रकार
modify विशेषित करना, संशोधित करना
mood भावदशा
morph रूप
morpheme रूपांश, रूपतत्त्व
morphographemic आकृतिरेखीय
morphology रूपप्रक्रिया
morphophonemics रूपवार्णिकी
motion गति
multidimensional बह्वायामी
multiple meaning बह्वर्थता

name नाम
naming नामकरण
narrow transcription संकुचित अनुलेखन
nasal अनुनासिक
nasalization अनुनासिकीकरण
natural gender प्राकृतिक लिंग
nature प्रकृति
neo-grammarians नव वैयाकरण
nesting of constructions संरचनाओं का अन्तर्वेशन
neuter नपुंसक, उदासीन
neutralization तटस्थीकरण, निर्विषमीकरण
noise रव, विक्षोभ
nominalization नामिकीकरण, नामवत्करण
nominative निर्देशिका, प्रथमा विभक्ति
notional grammar धारणात्मक व्याकरण
noun नाम/संज्ञा
noun-phrase नाम-संघ
nucleus/nuclear नाभिक/नाभिकीय
number वचन
numerator गुणक

object कर्म
object of result विकार्य/परिणामजन्य कर्म
object-deletion कर्म-त्याग
objective कर्मपरक, कर्मवाचक

obligatory rules अनिवार्य (आवश्य) नियम
obscenity अश्लीलता
one-place verbs एकपदा क्रियाएँ
onomatopoeia ध्वन्यनुकरणमूलकता
open set अनावृत (मुक्त) विन्यास
open vowel विवृत स्वर
opposite in meaning विपरीतार्थक
opposition विरोध
optative विध्यर्थक
optional rules वैकल्पिक नियम
oral मौखिक
ordering of rules नियमों का व्यवस्थापन
organs of speech उच्चारण के अवयव (अंग)
orientation दिग्विन्यास
orthographic word शुद्धलेखनात्मक शब्द
ostensive definition निदर्शनात्मक परिभाषा
overlapping distribution अतिव्यापी वितरण

paradigm प्रतिमान, रूपावली
paradigmatic relations प्रतिमानात्मक सम्बन्ध
parole पारोल् (बोली)
parsing (कर्त्तृविधेयात्मक) विश्लेषण
participant भागीदार
participle कृदन्त
particle निपात
particular व्यष्टि, विशिष्ट
parts of speech पदभेद
passive भावकर्मवाच्य
past tense भूतकाल
patient साध्य, प्राप्य
pause, potential शक्य विराम
perception प्रत्यक्ष
perfective पूर्णतावाचक, पूर्णतात्मक
performance निष्पादन
permutation अवकलन
person पुरुष
personal pronouns व्यक्तिवाचक सर्वनाम
personification मानवीकरण
phatic communion सामाजिक संबोध
philology भाषाविज्ञान
philosophy दर्शन
phonematic units वर्णाश्रित इकाइयाँ
phoneme वर्ण
phonetics ध्वनिविज्ञान
phonetic ध्वनिवैज्ञानिक
phonic substance ध्वनिक द्रव्य
phonological conditioning ध्वनिप्रक्रियात्मक अनुबन्धन
phonology ध्वनिप्रक्रिया
phrase पदबन्ध
phrase-marker पदबन्ध-अंकक
phrase-structure पदबन्ध-संरचना
pitch तारत्व, स्वर
place स्थान
place (point) of articulation उच्चारण स्थल
plane तल
plosive स्पष्ट (स्फोटात्मक)
plural बहुवचन

positivism प्रत्यक्षवाद
possession स्वामित्व, अधिकार
possibility सम्भाव्यता
postposition उत्तर कर्मवचनीय
postpositive article परवर्त्ती निपात
potential pause शक्य विराम
predicate विधेय
predication विधेयकथन, प्राक्कथन
predicative प्राक्कथक, विधेय कथनात्मक
prefix उपसर्ग, पूर्वसर्ग
preposition (पूर्वग) कर्मप्रवचनीय
presciiptive grammar अनुशासनात्मक/विधायक व्याकरण
present tense लट् लकार, वर्त्तमान काल
presupposition प्राक्कल्पना
primitive languages आदिम भाषाएँ
primitive terms आदिम (अविकसित) शब्दावली
probability of occurence उपस्थिति की प्रायिकता
procedural linguistics प्रक्रमात्मक भाषाविज्ञान
production grammar उत्पादक व्याकरण
process-oriented प्रक्रिया-निर्दिष्ट
progressive aspect सत्/प्रगतिशील पक्ष
progressive conditioning प्रगतिशील अनुबन्धन
projection rule उत्क्षेपण नियम
projective उत्क्षेपक
promissive प्रतिज्ञात्मक
pronoun सर्वनाम
proper inclusion उचित अन्तर्वेशन
proper noun व्यक्तिवाचक नाम
property, essential अनिवार्य लक्षण
proportion समानुपात, अनुपात
prosodic analysis ध्वनिगुणात्मक विश्लेषण
prosody ध्वनिगुणात्मकता
pro-verb सर्वक्रिया (सर्वनामिका क्रिया)
proverbs कहावतें
proximate सन्निकट
psuedo-intransitive अकर्मकाभासी
psycholinguistic मनोभाषिक/मनोभाषावैज्ञानिक
psychological subject मनोवैज्ञानिक विषय (कर्त्ता)
punctual सक्षण
punctuation विरामचिह्नांकन
purity of language भाषा की शुद्धता
putative कल्पनात्मक

quality गुण
question प्रश्न

race जाति
rank क्रम, श्रेणी
rational तर्कसंगत/तर्काश्रित
readymade utterances सद्योनिर्मित-उक्तियाँ
realism यथार्थवाद, वस्तुवाद,
realization प्रत्यक्षीकरण, अनुभूति, उपलब्धि
recategorisation पुन:कोटिबन्धन
received pronunciation गृहीत उच्चारण

recognition प्रतीति/प्रत्ययात्मक
reconstruction पुन:संरचना
reaction प्रतिक्रिया
recursive पुनरावर्ती
recycling पुनःचक्रण
redundancy अवांछनीयता
reference निर्देश, सन्दर्भ
reflexive प्रतिवर्ती
regressive conditioning ह्रासशील अनुबन्धन
regular नियमित
related languages सम्बद्ध भाषाएँ
relations, structural संरचनात्मक सम्बन्ध
relative point of reference निर्देश का सापेक्ष बिन्दु
relativity सापेक्षिकता
remote सुदूर, दूरवर्त्ती
renaissance पुनर्जागरण
representation प्रतिनिधान
resemblance समाकृतिता, समता
restricted context सीमित सन्दर्भ
rewriting rules पुनर्लेखन नियम
ritual utterances रिवाजी उक्तियाँ
romanticism स्वच्छन्दतावाद
root धातु, मूल, प्रकृति
rounded vowel वृत्तस्वर

safety-margin सुरक्षान्तर
schemata प्रयुक्ति
scholastic पाण्डित्यवादी/श्रेण्य
scientific study वैज्ञानिक अध्ययन
second-order nominals द्वितीय व्यवस्था के नामिक
segmentation विखण्डन
semantic category अर्थात्मक कोटि
semantic change अर्थात्मक परिवर्त्तन/अन्तरण
semantic component अर्थात्मक योजक
semantic marker अर्थात्मक अंकक
semantic structure अर्थात्मक संरचना
semantics अर्थविज्ञान
sememe अर्थतत्त्व
semitic सामी
sense आशय
sense-relations आशय-सम्बन्ध
sentence वाक्य
sentence-type वाक्य-प्ररूप
sequence शृंखला
set-theory विन्यास-सिद्धान्त
sex मिथुन, लिंग
short components लघु/ह्रस्व योजक
sign, linguistic भाषात्मक (भाषावैज्ञानिक) संकेत
significance सार्थकता
signification संकेतन
simple sentence सरल वाक्य
single-base एकाधारी
singular एकवचन
singularly transformation एकाधारी रचनान्तरण
situation of utterances उक्तियों की स्थिति
slang विभाषा
sophists बुद्धिवादी

sortal universal समूहात्मक जाति (सार्वभौम)-शब्द
sound ध्वनि
sound-change ध्वनि-परिवर्त्तन
sound-law ध्वनि-नियम
sound-symbolism ध्वनिप्रतीकवाद
spatiotemporal दिक्कालात्मक
speaker वक्ता
species जाति
specific विशिष्ट
spectrograph चित्ररेखी
speculative grammar प्राक्कल्पना व्याकरण
speech वाक्
speech-sound वाक्-ध्वनियाँ
speech-synthesis वाक्-विश्लेषण
spelling लेखन, वर्णांकन
spirant घर्षी
spoken language बोलचाल की भाषा
state स्थिति
statement वक्तव्य
statistical methods गणनात्मक प्रणालियाँ
stative दशाकथिक (अप्रगतिशील)
status स्थिति
stem अंग, मूलशब्द
stop स्पर्श
stratum स्तर
stress बल, बलाघात
string सूत्र
structural संरचनात्मक
structuralist संरचनावादी
structure संरचना
subcategorisation उपकोटिबन्धन
कालात्मकअधियोजी/पूरक

subclassification उपवर्गीकरण
subject विषय, कर्त्ता
subject of disclosure प्रवचन का विषय/कर्त्ता
subjective कर्तृपरक
subjectivism विषयिप्रधानता
subjunctive लेट्, भावार्थक
substantive noun द्रव्यात्मक नाम
substantive universal द्रव्यात्मक सार्वभौम
substring अवसूत्र
suffix अन्त्य प्रत्यय
supplementary rule पूरक नियम
surface structure पृष्ठ/बाह्य संरचना
syllabic writing वर्णात्मक/एकाच्-परक लेखन
syllable एकाच्
symbol प्रतीक
synchronic समकालिक/एककालिक
synonymy समानार्थता, पर्यायवत्ता
syntagm वाक्य-विन्यास
syntagmatic relations विन्यासात्मक सम्बन्ध
syntax वाक्य-रचना, वाक्य-विज्ञान
synthesis संश्लेषण
synthetic language-type संश्लेषणिक भाषा-प्ररूप
system प्रणाली
systematic correspondence प्रणालीबद्ध अनुकारिता

taxonomy पारिभाषिक शब्दावली/शब्दरचना
temporal abjunct/complement

tense काल, लकार
terminal string अन्त्य सूत्र
terminal symbol अन्त्य प्रतीक
terminology of linguistics भाषा-वैज्ञानिक शब्दावली
thing signified संकेतित वस्तु
thought विचार
three-place verb त्रिपदा क्रियाएं
time काल
tone तान
topic विषय
transformation रचनान्तरण
transitional probabilities संक्रमणी प्रायिकताएँ
transitive सकर्मक
translation अनुवाद
transubstantiation द्रव्यान्तरण
tree-diagram वृक्षीय आरेख
trial number त्रिवचन
two-place verbs द्विपदा क्रियाएं
types of languages भाषा-प्ररूप
typology प्ररूप-प्रक्रिया, प्ररूप-विज्ञान

underlying structure अन्त:संरचना/निहित संरचना
unidimensional phonology एकायामी ध्वनिप्रक्रिया
universal terms सार्वभौम संज्ञाएँ/शब्द
universal grammar सार्वभौम व्याकरण
universal semantics सार्वभौम अर्थ-विज्ञान
unrounded vowel अवृत्त/विवृत्त स्वर
usage/use प्रयोग
utterance उक्ति

variable परिवर्त्ती
vedic hymns वैदिक सूक्त/मन्त्र
velar वर्त्स्य
verb क्रिया/तिङन्त
verner's law वर्नर-नियम
vocabulary शब्दावली/शब्दराशि
vocative सम्बोधन
voice वाच्य
voiced सघोष
vowel स्वर
vowel-harmony स्वर-संनादिता/सवादिता
vox ध्वनि/आवाज़

word शब्द/पद
word-boundary शब्द-सीमा/पद-सीम
word-formation शब्द-रचना/पद-रचना
word-order पद-व्यवस्था
writing systems लेखन-प्रणालियाँ

zero-modification लोप-विधि

ग्रन्थ-सूची

(BIBLIOGRAPHY)

Abercrombie, David. *Elements of General Phonetics.* Edinburgh: Edinburgh University Press and Chicago: Aldine, 1966.

Abraham, S. and Kiefer, F. *A Theory of Structural Semantics.* (Janua Linguarum, 49.) The Hague: Mouton, 1965.

Ajdukiewicz, Kasimierz. 'Die syntaktische Konnexität.' *Studia Philosophica* (Warszawa), **I** (1935), 1-28.

Allen, W. Sidney. *Phonetics in Ancient India.* London, 1951.

On the Linguistic Study of Languages. (Inaugural lecture.) Cambridge: Cambridge University Press, 1957. (Reprinted in Strevens, *Five Inaugural Lectures*, pp. 3-26.)

'Structure and system in Abaza.' *TPhS* (1956), 127-76.

'Transitivity and possession.' *Lg.* 40 (1964), 337-43.

Anderson, John M. 'Ergative and nominative in English.' *JL*, 4 (1968).

André, J. *Étude sur les Termes de Couleur dans la Langue Latine.* Paris, 1949.

Apostel, L., Mandelbrot, B. and Morf, A. *Logique, Langage et Théorie d'Information.* Paris : Presses Universitaires de France, 1957.

Apresjan, Ju. D. *Eksperimental'noje Issledovanije Semantiki Russkogo Glagola.* Moskva : Izdatel'stvo 'Nauka', 1967.

Arens, H. *Sprachwissenschaft.* Freiburg and München: Karl Alber, 1955.

Ashton, E. O. *Swahili Grammar.* London, 1944.

Austin, J. L. *How To Do Things With Words.* Cambridge, Mass.: Harvard University Press, 1962.

Bach, A. *Deutsche Mundartforschung : Ihre Wege, Ergebnisse und Aufgaben.* 2nd ed. Heidelberg: Carl Winter Universitätsverlag, 1950.

Bach, Emmon. *An Introduction to Transformational Grammars.* New York: Holt, Rinehart and Winston, 1964.

Bally, Charles. *Linguistique Générale et Linguistique Française.* Paris : Ernest Leroux, 1932.

Bar-Hillel, Y. *Language and Information*: Reading, Mass.: Addison-Wesley and Jerusalem: Jerusalem Academic Press, 1964.

'Logical syntax and semantics.' Lg. **30** (1954), 230-7. (Reprinted in *Language and Information.*)

Barth, P. *Die Stoa*. Stuttgart, 1946.

Barwick, K. *Remmius Palaemon und die Römische Ars Crammatica*. Leipzig, 1922.

Probleme der Stoischen Sprachlehre und Rhetorik. (Abhandl. der Sächs. Akad. Wiss. zu Leipzig, Phil.-hist. Klasse. **49**, 3) Berlin: Akademie Verlag, 1957.

Bazell, Charles E. *Linguistic Form*. Istanbul: Istanbul Press, 1953.

Linguistic Typology. (Inaugural lecture.) London: School of Oriental and African Studies, 1958. (Reprinted in Strevens, *Five Inaugural Lectures*, pp. 29-49.)

'Logical and Linguistic syntax.' *Litera* (Istanbul), **2** (1955), 32-4.

'On the historical source of some structural units.' In *Miscelánea Homenaje I, A André Martinet*. La Laguna, 1957.

'Syntactic relations and linguistic typology.' CFS, **8** (1949), 5-20.

'On the neutralization of syntactic oppositions.' *TCLC*, **5** (1949), 77-86.

(Reprinted in Hamp *et al.*, *Readings.*)

'On the problem of the morpheme.' *ArchL*, **I** (1949), 1-15. (Reprinted in Hamp *et al.*, *Readings.*)

'The correspondence fallacy in structural linguistics.' *Studies... English Department, Istanbul University*, 3 (1952), 1-41. (Reprinted in Hamp *et al.*, *Readings.*)

'The Sememe.' *Litera* (Istanbul), I (1954), 17-31, (Reprinted in Hamp *et al.*, *Readings.*)

'Three misconceptions of grammaticalness.' *MSLL*, **17** (1964), 3-9.

Bazell, Charles E., Catford, J.C., Halliday. M. A. K. and Robins, R. H. (eds.). *In Memory of J. R. Firth*. London: Longmans, 1966.

Belvelkar, K. *Systems of Sanskrit Grammar*. Poona, 1915.

Bendix, E. H. *Componential Analysis of General Vocabulary: The Semantic Structure of a Set of Verbs in English, Hindi and Japanese.* (Part 2 of *IJAL*, 32.) Bloomington: Indiana University and The Hague : Mouton, 1966.

Benveniste, É. *Problèmes de Linguistique Générale*. Paris: Gallimard, 1966. ' "Étre" et "avoir" dans leurs fonctions linguistiques.' *BSL*, 55 (1960). (Reprinted in *Problèmes.*)

Bierwisch, M. 'Eine Hierarchie syntaktisch-semantischer Merkmale.' *StGram*, 5 (1965).

Black, Max. 'Linguistic relativity : The views of Benjamin Lee Whorf.' *Philosophical Review*, **68** (1959), 228-38.

Bloch, Bernard and Trager, G. *Outline of Linguistic Analysis*. Baltimore: Waverley Press, 1942.

Bloomfield, Leonard. *Language*. New York: Holt, Rinehart and Winston, 1933 and London: Allen and Unwin, 1935. (References are to the British edition.)

Review of Liebisch Konkordanz *Pāṇini-Candra* in *Lg*. **5** (1929), 267-76.

Boas, Franz. *Race, Language and Culture*. New York: Macmillan.

Bolinger, Dwight L. 'The atomization of meaning.' *Lg*. **41** (1965), 555-73.

'Linear modification.' *PMLA*, **67** (1952), 1117-44.

Bréal, Michel. *Essai de Sémantique*. Paris: Hachette, 1897. Translated as *Sémantics: Studies in the Science of Meaning*. New York: Dover, 1964.

Bright, William (ed.). *Sociolinguistics*. (Proceedings of the U.C.L.A. Sociolinguistics Conference, 1964.) The Hague: Mouton, 1966.

Brondal, Vigo. *Les Parties du Discours*. Copenhague: Munksgaard, 1948.

Brough, John. 'Theories of general linguistics in the Sanskrit grammarians.' *TPhS* (1951), 27-46.

Brower, Reuben A. (ed.). *On Translation*. Cambridge, Mass.: Harvard University Press, 1959.

Brown, Roger W. 'Language and categories.' Appendix to Bruner *et al.*, *Thinking*.

Words and Things. Glencoe, Ill.: Free Press, 1958.

Bruner, Jerome S., Goodnow, J. J. and Austin, G. A. *A Study of Thinking*. New York: Wiley, 1956.

Burger, A. 'Sur le passage du système des temps et des aspects de l'indicatif du latin au roman commun.' *CFS*, **8** (1949), 19-36.

Burling, Robbins. 'Cognition and componential analysis.' *AmA*, **66** (1964), 20-8.

Bursill-Hall, Geoffrey, 'Medieval grammatical theories.' *CJL*, **9** (1963), 39-54.

'Notes on the semantics of linguistic description.' In Bazell *et al.*, *In Memory*, pp. 40-51.

Capell, A. *Studies in Sociolinguistics.* The Hague: Mouton, 1966.

Carnap, Rudolph. *Meaning and Necessity*. 2nd ed. Chicago: University of Chicago Press, 1956.

Carroll, John B. *Language and Thought.* Englewood Cliffs, N.J.: Prentice-Hall, 1964.

Catford, J. C. *A Linguistic Theory of Translation.* London : Oxford University Press, 1965.

Caton, Charles E. (ed.). *Philosophy and Ordinary Language.* Urbana, Ill.: University of Illinois Press, 1963.

Chao, Y. R. *Mandarin Primer*. Cambridge, Mass. : Harvard University Press, 1948.

Cherry, Colin. *On Human Communication*. Cambridge, Mass.: M. I. T. Press, 1957. (Reprinted New York : Science Editions, 1959.)

Chomsky, Noam. *Syntactic Structures.* The Hague : Mouton, 1957.

Current Issues in Linguistic Theory. The Hague : Mouton, 1965.

Aspects of the Theory of Syntax. Cambridge, Mass.: M.I.T. Press, 1965.

Chomsky, Noam, *Topics in the Theory of Generative Grammar.* The Hague : Mouton, 1966. (Also in Sebeok, *Current Trends*, vol.3.)

Cartesian Linguistics. New York and London: Harper and Row, 1966.

'Three models for the description of a language.' 1956. Reprinted in Luce *et al.*, *Readings*.

'Remarks on nominalization.' To appear in Jacobs and Rosen baum (eds.), *Readings in English Transformational Grammar.*

Chomsky, N. and Halle, M. 'Some controversial questions in Phonological theory.' *JL*, I (1965), 97-138.

Cohen, L. Jonathan. *The Diversity of Meaning*. 1st ed. London: Methuen, 1962. (2nd ed. 1966.)

Collart, Jean. *Varron, Grammarien Latin.* Paris, 1954.

Conklin, H. C. 'Hanunòo color categories.' *SJA*, II (1955), 339—44. (Reprinted in Hymes, *Language in Culture*, pp. 189-92.)

'Lexicographical treatment of folk taxonomies.' In Householder and Saporta, *Problems*, pp. 119-41.

Copleston, Frederick *A History of Philosophy.* Volumes 2 and 3. London: Burns Oates, 1950 and 1953.

Crystal, David. 'Specification and English tenses.' *JL*,2 (1966), 1-34.

Curry, Haskell B. 'Some logical aspects of grammatical structure.' In Jakobson, *Structure of Language*, pp. 56-68.

Dauzat, A *La Géographie Linguistique*. Revised ed. Paris: Flammarion. 1943.

Deese, James. *The Structure of Associations in Language and Thought*. Baltimore: Johns Hopkins Press, 1965.

Diderichsen, P. 'Morpheme categories in modern Danish.' *TCLC*, **5** (1949), 134-55.

Dihle, A. 'Analogie und Attizismus.' *Hermes*, **85** (1957), 170-205.

Dinneen, Francis P. *An Introduction to General Linguistics*. New York: Holt, Rinehart and Winston, 1967.

Diver, William. 'The system of agency in the Latin noun.' Word, **20** (1964), 178-96.

Dover, K. J. *Greek Word Order*. Cambridge: Cambridge University Press, 1960.

Ebeling, C. L. *Linguistic Units*. (Janua Linguarum, Series Minor, 12.) The Hague: Mouton, 1960.

Ehrman, Madeline. *Tne Meaning of the Modals in Present-Day American English*. The Hague: Mouton, 1966.

Elson, Benjamin and Pickett, V. B. *An Introduction to Morphology and Syntax*. Santa Ana, Calif.: Summer Institute of Linguistics, 1962.

Emeneau, M. B. *Studies in Vietnamese (Annamese) Grammar*. (UCPL, 8.) Berkeley and Los Angeles: University of California Press, 1951.

'India and linguistics.' *JAOS*, **75** (1955), 145-53.

Engler, Rudolph. *Cours de Linguistique Générale de F. de Saussure: Édition Critique*. Wiesbaden: Otto Harrassowitz. (Appearing in fascicules, from 1967.)

Entwistle, William J. *Aspects of Language*. London, 1953.

Fant, Gunnar. *Acoustic Theory of Speech Production*. The Hague: Mouton, 1960.

Fehling, Detlef. 'Varro und die grammatische Lehre von der Analogie und der Flexion.' *Glotta*, **35** (1956), 214-70 and **36** (1957), 48-100.

Fillmore, Charles J. 'The position of embedding transformations in a grammar.' *Word*, **19** (1963), 208-31.

'Deictic categories in the semantics of "come" *FL*,2 (1966), 219-27. 'Towards a modern theory of case.' (Project on Linguistic Analysis, Report No. 13.) Ohio State University, 1966.

'The case for case.' (To be published in the Proceedings of the 1967 Texas Conference on Language Universals, edited by Bach, E. and Harms, R. J.)

Firbas, Jan. 'Thoughts on the communicative function of the verb in English, German and Czech.' *BSE*, I (1959), 39-63.

Firth, J. R. *Papers in Linguistics*, 1934-1951. London: Oxford University Press, 1951.

'Ethnographic analysis and language.' In Raymond Firth (ed.), *Man and Culture*. London, 1957, pp. 93-118.

Fleisch, H. 'Esquisse d'une histoire de la grammaire arabe.' *Arabica* (Leiden) 4 (1957), 1-22.

Fodor, J. A. and Katz, J. J. (eds.). *The Structure of Language: Readings in the Philosophy of Language*. Englewood Cliffs, N. J.: Prentice-Hall, 1964.

Forbes, P. B. R. 'Greek pioneers in philology and grammar.' *CR*, **47** (1933), 105-12.

Fourquet, J. *Les Mutations Consonantiques du Germanique*. Paris, 1948.

Frake, C. O. 'The diagnosis of disease among the Subanun.' *AmA*, **63** (1961), 113-32. (Reprinted in Hymes, *Language in Culture*.)

Frege, G. 'Über Sinn und Bedeutung' (1892). Translated as 'On sense and reference' in Peter Geach and Max Black, *Translations from the Philosophical Writings of Gottlob Frege*. Oxford, 1952.

Fries, C. C. *The Structure of English: An Introduction to the Construction of English Sentences*. New York: Harcourt Brace, 1952 and London: Longmans, 1957. (References are to the British edition.)

'Meaning and linguistic analysis.' *Lg.* **30** (1954), 57-68.

Fudge, E. C. 'The nature of phonological primes.' *JL*, 3 (1967), 1-36.

Gabelentz, Georg von der. *Die Sprachwissenschaft*. Leipzig, 1891.

Geach, Peter T. *Reference and Generality: An Examination of Some Medieval and Modern Theories*. Ithaca, N. Y.: Cornell University Press, 1962.

Ghizzetti, Aldo (ed.). *Automatic Translation of Languages*. (Papers presented at a NATO Summer School, Venice, July 1962.) Oxford, London, New York, etc.: Pergamon Press, 1966.

Gilliéron, Jules and Roques, Mario. *Études de Géographie Linguistique* Paris: Champion, 1912.

Gilson, Étienne. *History of Christian Philosophy in the Middle Ages*. London, 1955. (Translated from *La Philosophie au Moyen Âge*. Paris: Payot, 1922. Revised edition, 1962.)

Gleason, H. A. *An Introduction to Descriptive Linguistics*. 2nd revised edition. New York: Holt, Rinehart and Winston, 1961.

Godel, Robert. *Grammaire Turque*. Genéve; Librairie de l'Université, 1945.

Les Sources Manuscrites du Cours de Linguistique Générale de Ferdinand de Saussure. Genéve: Droz and Paris : Minard, 1957.

Goodenough, Ward H. 'Componential analysis and the study of meaning.' *Lg.* 32 (1956) 195-216.

Grabmann, *M. Mittelalterliches Geistesleben*, 3 vols. Munich, 1956.

Graham, A.C. '"Being" in Classical Chinese.' In Verhaar, *The Verb 'Be' and its synonyms*. Part I, pp. 1-39.

Gray, Louis H. *The Foundations of Language*. New York: Macmillan, 1939.

Greenberg, Joseph. *Essays in Linguistics*. Chicago: University of Chicago Press, 1957.

(ed). *Universals in Language*. Cambridge, Mass.: M.I.T. Press, 1963.

Language Universals. (Janua Linguarum, Series Minor, 59.) The Hague: Mouton, 1966.

Greimas, A.J. *Sémantique Structurale*. Paris: Larousse, 1966.

Gross, Maurice. 'On the equivalence of models of language used in the fields of mechanical translation and information retrieval.' In Ghizzetti, *Automatic Translation*, pp. 123-37.

Guiraud, Pierre *La Sémantique*. Paris: Presses Universitaires de France, 1955.

Haas, William. 'On defining linguistic units.' *TPhS* (1954), 54-84.

'Linguistic structures.' *Word*, 16 (1960), 251-76.

Hall, Barbara. *Mathematical Foundations for Language*. New York and London: Harper and Row, forthcoming.

Hall, Robert A. *Introductory Linguistics*. Philadelphia: Chilton 1964.

Idealism in Romance Linguistics. Ithaca, N.Y.: Cornell University Press, 1964.

Halle, M. 'Phonology in a generative grammar.' *Word*, **18** (1962), 54-72. (Reprinted in Fodor and Katz, *Structure of Language*, pp 324-33.)

Halliday, M.A.K. 'Categories of the theory of grammar.' *Word*, **17**, 241-92.

'Syntax and the consumer.' *MSLL*. **17** (1964), 11-24.

'Lexis as a linguistic level.' In Bazell *et al.*, *In Memory*, pp. 148-62.

'Notes on transitivity and theme in English.' *JL*, **3** (1967) and **4** (1968). (To be published in three parts.)

Halliday, M.A.K., McIntosh, A. and Strevens, P.D. *The Linguistic Sciences and Language Teaching*. London: Longmans, 1964.

Hallig, R. and Wartburg. W. von. *Begriffssystem als Grundlage für die Lexicographie*. (Abhandlungen der deutschen Akademie der Wissenschaften zu Berlin, 4.) Berlin, 1952.

Hamp, Eric P., Householder, F.W. and Austerlitz, R. *Readings in Linguistics II*. Chicago and London: Chicago Uhiversity Press, 1966.

Harris, Zelig S. *Methods in Structural Linguistics*. Chicago: University of Chicago Press, 1951. (Reprinted as *Structural Linguistics*, 1961.)

'Discourse analysis.' *Lg*. **28** (1952), 18-23 and 474-94.

'Distributional structure.' *Word*, **10** (1954), 146-94.

'Co-occurrence and transformation in linguistic structure.' *Lg*. 33 (1957), 283-340.

String Analysis of Sentence Structure. The Hague: Mouton, 1962.

'Transformational theory.' *Lg*. **41** (1965), 363-401.

Haugen, Einar. 'Linguistics and language-planning'. In Bright, *Sociolinguistics*.

Hays, David G. *Introduction to Computational Linguistics* (Mathematical Linguistics and Automatic Language Analysis, 2.) New York: American Elsevier, 1967.

'Dependency theory : A formalism and some observations.' *Lg*. **40** (1964), 511-25.

Heidegger, M. *Die Kategorienlehre und Bedeutungslehre des Duns Scotus*. Tübingen: Mohr, 1916.

Henle, Paul (ed.). *Language, Thought and Culture*. Ann Arbor, Mich.: University of Michigan Press, 1958.

Hill, Archibald A. *Introduction to Linguistic Structures: From Sound to Sentence in English*. New York: Harcourt, Brace and World, 1958.

Hjelmslev, Louis. *Principes de Grammaire Générale*. (Kng. Danske Videnskabernes Selskab., Hist-Filolog. Medd., 16, i.) Copenhague: Host & Son, 1928.

La Catégorie des Cas. Étude de Grammaire Générale. (Acta Jutlandica Aarsskrift for Aarhus Universitet, 9.) Aarhus; Universitetsforlaget, 1935.

Essais Linguistiques. (*TCLC*, **12**.) Copenhague: Nordisk Sprog- og Kulturforlag, 1959.

Prolegomena to a Theory of Language. (Translated from the Danish

1943, by Francis J. Whitfield.) Bloomington, Ind.: Indiana University, 1953.

Hockett, C.F. *A Course in Modern Linguistics*. New York: Macmillan, 1958.

A Manual of Phonology. Bloomington, Ind.: Indiana University Press, 1955.

'The quantification of functional load: a linguistic problem.' (Memorandum RM-5168-PR.) Santa Monica. Calif.: RAND Corporation, 1966.

'Two models of grammatical description.' *Word* 10 (1954), 210-33. (Reprinted in Joos, *Readings*.)

'Linguistic elements and their relations.' *Lg*. 37 (1961), 29-53.

'Grammar for the hearer.' In Jakobson, *Structure of Language*, pp. 220-36.

Hoenigswald, Henry M. *Language Change and Linguistic Reconstruction*. Chicago: University of Chicago Press, 1960.

'A proposal for the study of folk linguistics.' In Bright, *Sociolinguistics*.

Hoijer, Harry. *Language in Culture*. Chicago: University of Chicago Press, 1954.

Honey, P.J. 'Word classes in Vietnamese.' *BSOAS*, 18 (1956), 534-44.

'On linguistic terms.' In Saporta, *Psycholinguistics*, pp. 15-25.

'On some recent claims in phonological theory'. *JL*, 1 (1965), 13-34.

'On the uniqueness of semantic mapping.' *Word*, 18 (1962), 173-85.

'Descriptive analysis of Latin declension.' *Word*, 3 (1947), 48-58.

Householder, F.W. Forthcoming book. Englewood-Cliffs, N.J.: Prentice-Hall.

Householder, F.W. and Saporta, S. (eds.). *Problems in Lexicography*. (Publications of Indiana Research Center in Anthropology, Folklore and Linguistics, 21.) Baltimore, 1962.

Huddleston, R.D. 'Rank and depth.' *Lg*. 4I (1965), 586.

Hughes, John P. *The Science of Language : An Introduction to Linguistics*. New York: Random House, 1962.

Humboldt, Wilhelm von. *Über die Verschiedenheit des Menschlischen Sprachbaues*. Berlin, 1836. Republished, Darmstadt: Claasen and Roether, 1949.

Hymes, Dell (ed.). *Language in Culture and Society: A Reader in Linguistics and Anthropology*. New York: Harper and Row, 1964.

Jakobson, Roman. *Selected Writings I: Phonological Studies*. The Hague: Mouton, 1962.

'Beitrag zur allgemeinen Kasuslehre.' *TCLP*, 6 (1936), 240-88. (Reprinted in Hamp *et al.*, *Readings.*)

'Boas's view of grammatical meaning.' *AmA*, 61 (1959), 139-45.

'Linguistics and communication theory.' In Jakobson, *Structure of Language*, pp. 245-52.

'On linguistic aspects of translation.' In Brower, *Translation*, pp. 232-9.

'Implications of language universals for linguistics.' In Greenberg, *Universals.*

(ed.) *On the Structure of Language and its Mathematical Aspects.* (Proceedings of 12th Symposium on Applied Mathematics.) Providence R.I.: American Mathematical Society, 1961.

Jakobson, R. and Halle, M. *Fundamentals of Language*. The Hague: Mouton, 1956.

Jespersen, Otto. *The Philosophy of Grammar*. London: Allen and Unwin, 1929.

Language, Its Nature, Development, and Origin. London : Allen and Unwin, 1922.

Analytic Syntax. Copenhagen: Munksgaard, 1937.

Jones, Daniel, *An Outline of English Phonetics*. 8th ed. Cambridge: Heffer, 1956. (First edition 1918.)

The Phoneme: Its Nature and Use. Cambridge: Heffer, 1950.

Joos, Martin (ed.) *Readings in Linguistics*. Washington, D. C.: American Council of learned Societies, 1957. (Republished as *Readings in Linguistics I*. Chicago and London: Chicago University Press, 1966.)

The English Verb. Madison and Milwaukee: University of Wisconsin Press, 1964.

Kachru, Yamuna. *Introduction to Hindi Syntax*, Urbana, Ill.: University of Illinois, 1966.

Kahn, C. H. 'The Greek verb "to be" and the concept of being.' *FL*, 2 (1966), 245-65.

Katz, J. J. *The Philosophy of Language*. New York: Harper and Row, 1966.

'Recent issues in semantic theory.' *FL*, 3 (1967), 124-94.

'Mentalism and linguistics.' *Lg*. 40 (1964), 124-37.

Katz, J. J. and Fodor, J. A. 'The Structure of a semantic theory.' *Lg.* 39 (1963), 170-210. (Reprinted in Fodor and Katz, *Structure of Language.*)

Katz, J. J. and Postal, P.M. *An Integrated Theory of Linguistic Descriptions.* (Research Monographs, 26.) Cambridge, Mass.: M.I.T. Press, 1964.

Kiefer, F. 'Some semantic relations in natural languages.' *FL*,2 (1966), 228-40.

Kollar, H. 'Die Anfänge der griechischen Grammatik.' *Glotta*, 37 (1958), 5-40.

Koutsoudas, Andreas. *Writing Transformational Grammars.* New York: McGraw-Hill, 1967.

Kronasser, H. *Handbuch der Semasiologie.* Heidelberg: Carl Winter Universitätsverlag, 1952.

Kukenheim, L. *Esquisse Historique de la Linguistique Française et de ses Rapports avec la Linguistique Générale.* Leiden, 1962.

Kuroda, S.-Y. 'Causative forms in Japanese.' *FL*, I (1965). 30-50.

Kurylowicz, J. *Esquisses Linguistiques.* Wroclaw-Kraków: Polska Akademia Nauk, Komitet Jezykoznawczy, 1960.

The Inflectional Categories of Indo-European. Heidelberg: Carl Winter Universitätsverlag, 1964.

'Dérivation lexicale et dérivation syntaxique.' *BSL*, 37 (1936), 79-92. (Reprinted in *Esquisses*, pp. 41-50; also in Hamp *et al.*, *Readings II*, pp. 42-50.)

'Ergativnost' i stadial'nost' v jazyke.' *Izv. Akad. Nauk SSSR*, 5 (1946), 387-93. (Reprinted in *Esquisses*,pp. 95-103.)

'La notion de L'isomorphisme.' *TCLC*, 5 (1949), 48-60. (Reprinted in *Esquisses*, pp. 16-26.)

'Les temps composés du roman.' *PF*, 15 (1931), 448-53. (Reprinted in *Esquisses.*)

Ladefoged, Peter. *Elements of Acoustic Phonetics.* Chicago: University of Chicago Press and Edinburgh: University of Edinburgh Press, 1962.

Lakoff, G. *On the Nature of Syntactic Irregularity*, (Report No. NSF-16, Mathematical Linguistics and Automatic Translation.) Cambridge: Mass.: Harvard University Computation Laboratory, 1965.

Deep and Surface Grammar. Cambridge, Mass.: M. I. T. Press, forthcoming.

Lamb, Sydney M. *Outline of Stratificational Grammar.* Washington, D. C.: Georgetown University Press, 1966.

'On alternation, transformation, realization and stratification.' *MSFOu.* 17 (1964), 105-22.

'The sememic approach to structural semantics.' In Romney and D'Andrade, *Transcultural Studies*, pp. 57-78. (Special publication of *AmA*, **66** (1964), 57-78.)

Lambek, J. 'On the calculus of syntactic types.' In Jakobson, *Structure of Language*, pp. 166-78.

Lees, Robert B. *The Grammar of English Nominalizations.* Bloomington, Ind.: Research Center in Anthropology, Folklore and Linguistics, 1960.

The Phonology of Modern Standard Turkish. (Indiana University Publications: Uralic and Altaic Series, 6.) Bloomington, Ind., 1964.

Leisi, Ernst. *Der Wortinhalt : Seine Struktur in Deutschen und Englischen.* Heidelberg, 1953.

Lenneberg, Eric H. and Roberts, John M. *The Language of Experience: A Study in Methodology.* (Indiana University Publications in Anthropology and Linguistics.) (Memoir: 13 of *IJAL.*) Bloomington, Ind., 1956.

Lepschy, Giulio C. *La Linguistica Strutturale.* Torino: Einaudi, 1966.

Leroy, Maurice. *Les Grands Courants de la Linguistique Moderne.* Bruxelles: Presses Universitaires de Bruxelles and Paris: Presses Universitaires de France, 1964.

Linsky, Leonard (ed.).*Semantics and the Philosophy of Language.* Urbana, Ill.: University of Illinois Press, 1952.

Longacre, R. E. 'Some fundamental insights of tagmemics.' *Lg.* 41 (1965), 65-76.

Lounsbury, Floyd G. 'A semantic analysis of the Pawnee kinship usage.' *Lg.* 32 (1956), 158-94.

'The structural analysis of kinship semantics'. In *Proceedings of the Ninth International Congress of Linguists* (edited by H.G. Lunt) pp. 1073-93. The Hague: Mouton, 1964.

Luce, R. D., Bush, R.R. and Galanter, E. (eds). *Handbook of Mathematical Psychology.* Volume 2, chapters 9-14. New York and London: Wiley, 1963.

(eds.). *Readings in Mathematical Psychology.* Volume 2. New York and London: Wiley, 1965.

Lyons, John. *Structural Semantics.* (Publications of the Philological Society, 20.) Oxford: Blackwell, 1963.

'Firth's theory of "meaning".' In Bazell *et al.*, *In Memory*, pp. 288-302.

'Phonemic and non-phonemic phonology.' *IJAL*, 28 (1962), 127-33.

'Towards a "notional" theory of the "parts of speech".' *JL*, 2 (1966), 209-36.

'A note on possessive, existential and locative sentences.' *FL.*, 4 (1967).

McIntosh, Angus. *An Introduction to a Survey of Scottish Dialects.* Edinburgh : Nelson, 1952.

'Patterns and ranges.' *Lg.* 37 (1961) 325-37. (Reprinted in McIntosh and Halliday, *Patterns of Language*, pp. 183-99.)

'Predictive statements.' In Bazell *et al.*, *In Memory*, pp. 303-20.

McIntosh, Angus and Halliday M.A.K. *Patterns of Language: Papers in General, Descriptive and Applied Linguistics.* London: Longmans, 1966.

Magnusson, R. *Studies in the Theory of the Parts of Speech.* (Lund Studies in English, 24.) Lund: Gleerup and Copenhagen: Munksgaard, 1954.

Malinowski, B. 'The problem of meaning in primitive languages.' Supplement 1 to Ogden and Richards. *Meaning of Meaning*, pp. 296-346.

Malmberg, Bertil. *Structural Linguistics and Human Communication.* Heidelberg: Springer, 1963.

Les Nouvelles Tendances de la Linguistique. Paris: Presses Universitaires de France, 1966. (Translated from the Swedish, 1962.)

Mandelbrot, B. 'On the theory of word-frequencies and on related Markovian models of discourse.' In Jakobson, *Structure of Language*, pp. 190-219.

Martinet, André, *Eléments de Linguistique Générale.* Paris: Armand Colin, 1960. (English translation, *Elements of General Linguistics.* London: Faber, 1964.)

Economic des Changements Phonétiques. Berne: A. Francke, 1955.

A Functional View of Language. Oxford: Clarendon Press, 1962.

La Linguistique Synchronique : Études et Recherches. Paris : Presses Universitaires de France, 1965.

'Le genre féminin en indo-européen : examen fonctionnel du problème.' *BSL*, 52 (1956), 83-95.

'La construction ergative et les structures élémentaires de l'énoncé.' *Journal de Psychologie Normale et Pathologique* (1958), pp. 377-92. (Reprinted in *Linguistique Synchronique*, 206-22.)

Matoré, G. *La Méthode en Lexicologie. Domaine Français.* Paris: Didier, 1953.

Matthews, G.H. *Hidatsa Syntax*. (Papers in Formal Linguistics, 3). The Hague: Mouton, 1965.

Matthews, P.H. 'Transformational grammar.' *ArchL*, 13 (1961), 196-209.

'Problems of selection in transformational grammar.' *JL*, 1 (1965), 35-47.

'The inflexional component of a word-and-paradigm grammar.' *JL*, 1 (1965), 139-71.

'The concept of rank.' *JL*, 2 (1966), 101-10.

'Latin.' *Lingua*, 17 (1967), 163-81.

'Review of Chomsky, *Aspects* in *JL*, 3 (1967), 119-52.

Matthews, W.K. 'The ergative construction in modern Indo-Aryan', *Lingua*, 3 (1953), 391-406.

Meillet, Antoine. *Linguistique Historique et Linguistique Générale*. 2 vols. Paris: 1926 and 1938.

Miller, George A. *Language and Communication*. New York: McGraw-Hill, 1951.

Misra, Vidya Niwas. *The Descriptive Techniques of Pāṇini*. (Janua Linguarum, Series Practica, 18.) The Hague: Mouton, 1967.

Mohrmann, Ch., Sommerfelt, A. and Whatmough, J. *Trends in European and American Linguistics*. 1930-1960. Utrecht: Spectrum, 1961.

Mohrmann, Ch., Norman, F. and Sommerfelt, A. *Trends in Modern Linguistics*. Utrecht: Spectrum. 1963.

Moravcsik, J.M.E. 'The analytic and the nonempirical.' *Journal of Philosophy*, 62 (1965), 415-29.

Morris, Charles W. *Signs, Language, and Behavior*. Englewood Cliffs, N.J.: Prentice-Hall, 1955.

Signification and Significance. Cambridge, Mass.: M.I.T. Press, 1964.

Mounin, Georges. *Histoire de la Linguistique des Origines au XXe Siècle*. Paris : Presses Universitaires de France, 1967.

Needham, R.M. 'Automatic classification in linguistics.' *The Statistician*. 17 (1967), 45-53.

Nida, Eugene A. *Morphology: A Descriptive Analysis of Words*. 2nd ed. Ann Arbor, Mich.: University of Michigan Press, 1949.

A Synopsis of English Syntax. Norman, Okla: Summer Institute of Linguistics, 1960. (Republished, The Hague: Mouton, 1966.)

Towards a Science of Translating. Leiden: Brill, 1964.

Ogden, C.K. *Opposition*. London: Kegan Paul, 1932.

Ogden, C.K. and Richards, I.A. *The Meaning of Meaning*. 8th edition. London: Routledge and Kegan Paul, 1946. (First edition, 1923.)

Öhman, Suzanne. *Wortinhalt und Weltbild*. Stockholm, 1951.

'Theories of the "linguistic field".' *World*, 9 (1953), 123-34.

Olsson, Yngve. *On the Syntax of the English Verb: With Special Reference to 'Have a Look' and Similar Complex Structures*. (Gothenburg Studies in English, 12.) Gothenburg, Stockholm and Uppsala: Almqvist and Wiksell, 1961.

Orr, John. *Words and Sounds in English and French*. Oxford, 1953.

Ota, Akira, *Tense and Aspect of Present-Day American English*. Tokyo: Kenkyusha, 1963.

Palmer, F.R. 'Linguistic hierarchy.' *Lingua*, 7 (1958), 225-41.

"'Sequence' and "order".' *MSLL*, 17 (1964), 123-30.

A Linguistic Study of the English Verb. London: Longmans, 1965.

(ed.). ? *Prosodic Analysis*. London: Oxford University Press, forthcoming.

Pedersen, Holger. *Linguistic Science in the Nineteenth Century*, trans. J.W. Spargo. Cambridge, Mass.: Harvard University Press, 1931. (Republished as *The Discovery of Language*. Bloomington, Ind.: Indiana University Press, 1959.)

Pike, Kenneth L. *Language in Relation to a Unified Theory of Human Behavior*. (Janua Linguarum, Series Maior, 24.) 2nd revised edition. The Hague: Mouton, 1967.

Phonetics. Ann Arbor, Mich.: University of Michigan Press, 1943.

Pohlenz, M. *Die-Begründung der Abendländischen Sprachlehre durch die Stoa*. Göttingen : Vandenhoeck und Ruprecht, 1939.

Porzig, W. *Das Wunder der Sprache*. Berne, 1950.

Postal, Paul M. *Constituent Structure: A Study of Contemporary Models of Syntactic Descriptions*, Bloomington, Ind.: Indiana University Publications in Folklore and Linguistics, 1964.

Postal, P.M. and Rosenbaum, P.S. *English Sentence Formation: Recent Advances in Transformational Analysis*. Reading, Mass.: Addison Wesley, forthcoming.

Pulgram, E. 'Graphic and phonic systems: figurae and signs.' *Word*, 21 (1965), 208-24.

Quine, Willard V. *From a Logical Point of View*. Cambridge, Mass.: Harvard University Press, 1953. *Word and Object*. Cambridge, Mass.: M.I.T. Press, 1960.

Quirk, Randolph. *The Use of English*, (With supplements by A. C. Gimson and J. Warburg.) London: Longmans, 1962.

Read, A.W. 'An account of the word "semantics".' *Word*, 4 (1948), 78-97.

Reichenbach, Hans. *Elements of Symbolic Logic.* London and New York: Macmillan, 1947.

Roberts, A. Hood. *A Statistical Linguistic Analysis of American English.* (Janua Linguarum, Series Practica, 8.) The Hague: Mouton, 1965.

Robins, R.H. *General Linguistics: An Introductory Survey.* London: Longmans, 1964.

A Short History of Linguistics. London: Longmans, 1967.

'The development of the word class system of the European grammatical tradition' *FL*, 2 (1966), 3-19.

Roget, Peter M. *Roget's Thesaurus.* Abridged edition, with additions, by J. L. Roget and S. R. Roget. Harmondsworth, Middlesex: Penguin Books, 1953. (Original edition, 1952).

Romney, A. K. and D'Andrade, R. G. 'Cognitive aspects of English kin terms.' *AmA*, 66 (1964), 146-70.

Roos, H. 'Sprachdenken im Mittelalter.' *C & M*, 9 (1949)

Die Modi Significandi des Martinus von Dacia. Münster, 1952.

Rosengren, Inger. *Semantische Strukturen: Eine Quantitative Distributions-analyse einiger Mittelhochdeutscher Adjektive.* (Lunder Germanistische Forschungen, 38.) Lund: Gleerup und Copenhagen: Munksgaard, 1966.

Rosetti, A. *Linguistica.* (Janua Linguarum, Series Maior, 16.) The Hague: Mouton, 1965.

Russell, Bertrand. *An Inquiry into Meaning and Truth.* London 1940.

'On denoting.' *Mind*, 14 (1905), 479-93.

Ruwet, N. *Introduction à la Grammaire Générative.* (Recherches en Sciences Humaines, 22.) Paris: Plon, 1967.

Salomon, Louis B. *Semantics and Common Sense.* London and New York: Holt, Rinehart and Winston, 1964.

Sandmann, M. *Subject and Predicate.* (Edinburgh University Publications, Language and Literature, 5.) Edinburgh, 1954.

Sandys, J. E. *History of Classical Scholarship.* Cambridge, 1903.

Sapir, Edward. *Language : An Introduction to the Study of Speech.* New York: Harcourt, Brace and World, 1921.

Selected Writings in Language, Culture and Personality: (Edited by D. G. Mandelbaum.) Berkeley, Calif.:University of California Press, 1949.

Saporta, S. (ed.). *Psycholinguistics: A Book of Readings.* New York: Holt, Rinehart and Winston, 1961.

Saussure, F. de. *Cours de Linguistique Générale.* 5th edition. Paris: Payot, 1955. (First edition 1916.)(English translation, by Wade Baskin, *Course in General Linguistics.* New York: Philosophical Library, 1959.)

Sauvageot, Aurélien. *Esquisse de la Langue Finnoise.* Paris: Klincksieck, 1949.

Schuchardt, H. *Hugo Schuchardt Brevier*, 2nd ed. (Edited by L. Spitzer.) Halle a. S., 1928.

Sebeok, Thomas A. *Current Trends in Linguistics. Volume 3: Theoretical Foundations.* The Hague: Mouton, 1966.

Sechehaye, Albert. *Essai sur la Structure Logique de la Phrase.* Paris: Honoré Champion, 1926.

Shaumjan, S.K. *Strukturnaja Lingvistika* (Akademija Nauk S.S.S.R., Institut Russkogo Jazyka.) Moskva: Izdatel'stvo 'Nauka,' 1965. (An English edition is in preparation.)

Spang-Hanssen, H. 'Glossematics.' In Mohrmann, Sommerfelt and Whatmough, *Trends.*

Sparck Jones, K. *Synonymy and Semantic Classification.* Cambridge: Cambridge Language Research Unit, 1964.

Strang, Barbara M. H. *Modern English Structure.* London: Edward Arnold and New York: St Martin's Press, 1962.

Strawson, P. F. *Individuals: An Essay in Descriptive Metaphysics.* London: Methuen, 1959.

Strevens, P. D. (ed.). *Five Inaugural Lectures.* Oxford University Press, 1966.

Sturtevant, Edgar H. *An Introduction to Linguistic Science.* New Haven, Conn.: Yale University Press, 1949.

Linguistic Change. Chicago: University of Chicago Press, 1961.

Sturtevant, William C. 'Studies in ethnoscience.' *AmA*, **66** (1964), 99-124.

Svartvik, Jan. *On Voice in the English Verb.* (Janua Linguarum; Series Practica, 63.) The Hague: Mouton, 1966.

Swift, Lloyd B. *A Reference Grammar of Modern Turkish.* (Indiana University Publications, Uralic and Altaic Series, 19.) Bloomington: Indiana University and The Hague: Mouton, 1963.

Teeter, Karl V. 'Descriptive linguistics in America: Triviality vs. Irrelevance.' *Word*, 20(1964), 197-206.

Tesnière, L. *Éléments de Syntaxe Structurale.* Paris: Klincksieck, 1959.

Thompson, Laurence C. *A Vietnamese Grammar.* Seattle, Washington: University of Washington Press, 1965.

Thorndike, E. L. and Lorge, I. *The Teacher's Word Book of 30,000 Words*. New York: Columbia University Press, 1944.

Togeby, Knud. 'Qu'est-ce qu'un mot.' *TCLC*,5 (1949), 99-111.

Trier, Jost. *Der Deutsche Wortschatz im Sinnbezirk des Verstandes*. Heidelberg: Carl Winter, 1931

Trubetzkoy, N. S. *Grundzüge der Phonologie*. Prague: Cercle Linguistique de Prague, 1939. (French edition, Principes de Phonologie, trans. Jean Cantineau. Paris: Klincksieck, 1949.)

Uhlenbeck, C. C. 'Agens und Patiens im Kasussystem der indogermanischen Sprachen.' *IF*, 12 (1901), 170-2.

Uldall, H.J. *Outline of Glossematics* (=*TCLC*,10). Copenhagen, 1957.

'Speech and writing.' *Al*, 4 (1944), 11-16. Reprinted in Hamp *et al.*, *Readings*, pp. 147-51.)

Ullmann, Stephen. *The Principles of Semantics*. 2nd ed. Glasgow: Jackson and Oxford: Blackwell, 1957.

Semantics: *An Introduction to the Science of Meaning*. Oxford: Blackwell, 1962.

Vachek, Josef. *A Prague School Reader in Linguistics: Studies in the History and Theory of Linguistics*. Bloomington, Ind.: Indiana University Press, 1964.

'Some remarks on writing and phonetic transcription. *AL*, 5 (1945), 88-93. (Reprinted in Hamp *et al.*, *Readings*, pp. 152-7.)

Vaillant 'André. 'L'ergatif indo-européen.' *BSL*, 37 (1936),93-108.

Vendryès, Joseph. *Le Langage*. Paris: Albin Michel, 1923. English translation, *Language*, London: Kegan Paul and New York: Knopf, 1931.

Verhaar, John W. M. (ed.). *The Verb 'Be' and its Synonyms*. (Foundations of Language, Supplementary Series.) Volume 1. Dordrecht: D. Reidel,1967.

Vogt Hans. *Esquisse d'une Grammaire de Gèorgien Moderne*. In *NTS*, 9 (1938), 5-114 and 10 (1939), 5-188.

Wackernagel, J. *Vorlesungen über Syntax*. Basel: Emil Birkhäuser, 1920.

Wackernagel, J. and Debrunner, A. *Altindische Grammatik*. (With an Introduction by Renou.) 1957.

Wallace, F.C. and Atkins, J. 'The meaning of kinship terms.' *AmA*, 62 (1960), 58-80.

Ward, Dennis. *The Russian Language Today*. London: Hutchinson, 1965.

Warnock, G.J. *English Philosophy Since 1900*. Oxford, 1958. (Home

University Library of Modern Knowledge, no. 234.) Oxford, 1958.

Wartburge, Walther von. *Einführung in Problematik und Methodik der Sprachwissenschaft.* 2nd ed. Tübingen: Max Niemeyer, 1962. French translation, *Problèmes et Méthodes de la Linguistique.* Paris: Presses Universitaires, 1963.

Évolution et structure de la Langue Française. 5th ed. Berne: Francke, 1958.

Waterson, N. 'Some aspects of the phonology of the nominal forms of the Turkish word.' *BSOAS,* 18 (1956), 578-91. (Reprinted in Palmer, *Prosodic Analysis*).

'Numeratives in Uzbek.' In Bazell *et al., In Memory,* pp. 454-74.

Weinreich, U. 'Explorations in semantic theory.' In Sebeok, *Current Trends,* vol. 3.

Wells, Rulon S. 'Immediate constituents.' *Lg.* 23 (1947), 81-117, (Reprinted in Joos, *Readings,* pp. 186-207.)

'Meaning and use.' *Word,* 10 (1954), 235-50.

Whorf, Benjamin L. 'Grammatical categories.' *Lg.* 21 (1945), 1-11. (Reprinted in *Language, Thought and Reality,* pp. 87-101)

Language, Thought and Reality: Selected Papers. (Edited by John B. Carroll.) New York: Wiley, 1956.

Wittgenstein, L. *Philosophical Investigations.* Oxford: Blackwell and New York: Macmillan, 1953.

Ziff, Paul. *Semantic Analysis.* Ithaca, N.Y.: Cornell University Press, 1960.

Zipf, G.K. *Human Behavior and the Principle of Least Effort.* Cambridge, Mass.: Addison-Wesley, 1949.

अनुक्रमणिका